शिवपूजन-रचनावली

(साहित्यिक रचना-संग्रह)

[तीसरा खण्ड]

श्रीशिवपूजन सहाय

•

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना—३

नवीन संस्करण, वैशाख, १८७९ शकाब्द

विक्रमाब्द २०१४, खीष्टाब्द १९५७

मूल्य आठ रुपये, पचहत्तर नये पैसे : सजिल्द दस रुपये

मुद्रक

भुवनेश्वरी प्रसाद सिन्हा

तपन प्रिंटिंग प्रेस

पटना—४

जो संस्कृत के स्तोत्रों, हिन्दी-साहित्य के रस-छन्द-अलंकारों
और नायिका-भेद के मार्मिक रसिक थे
जिनके सम्पर्क-सत्सङ्ग से मेरा मन साहित्यानुराग-राग-रंजित हुआ
जो मेरी इन हल्की-फुल्की रचनाओं को सराहते अघाते न थे

अपने उन्हीं स्नेहशील बड़े बहनोई

मुन्शी कालिकाप्रसाद की दिवंगत आत्मा के प्रीत्यर्थ एवं तृप्त्यर्थ

शिव

वक्तव्य

'रचनावली' के पहले और दूसरे खण्डों में इसके प्रकाशन के कारणों का स्पष्टीकरण किया जा चुका है। यहाँ इतना ही संकेत पर्याप्त है कि हमारी दीर्घकालीन रुग्णता में बिहार-सरकार ने चिकित्सा के लिए आर्थिक सहायता देने के साथ ही हमारी समस्त रचनाओं को परिषद् द्वारा प्रकाशित कराने का भी आर्थिक प्रबन्ध कर दिया था। फलस्वरूप तीन खंड हिन्दी-संसार के सामने आ चुके और संभवतः चौथा खण्ड भी निकट भविष्य में उपस्थित होगा।

आज इन रचनाओं को अविकल रूप में प्रकाशित देखकर हमें बड़ा संकोच हो रहा है; क्योंकि वस्तुतः हमारी रचनाएँ अत्यन्त सामान्य कोटि की हैं, इसलिए अभी उपलब्ध श्रेय की अधिकारिणी नहीं थीं। तब, यही कहना पड़ता है कि जो प्रभु 'तृन ते कुलिस, कुलिस तृन करहीं' उन्हीं की कृपा से 'पंगु चढ़ा गिरिवर गहन'! यह बनावटी बात नहीं, प्रकट सत्य है। किन्तु, यही समझकर कुछ सन्तोष हो रहा है कि इस छोटे नमूने को देखकर महान् साहित्यकारों की लुप्तप्राय रचनाओं के उद्धार की प्रेरणा मिलेगी और यह अनुमान भी किया जा सकेगा कि विस्मृति के गर्भ में विलीन हुई रुचिर रचनाओं को लोक-लोचन के समक्ष लाने से साहित्यिक शोध-समीक्षा के काम में कितनी अमूल्य सहायता मिल सकती है।

इन रचनाओं से कोई और लाभ हो या न हो, यह तो पता लग ही जायगा कि हमारी मनोवृत्ति और प्रवृत्ति कब कैसी रही। हमारी रचना-शैली के विकास-क्रम का अध्ययन करने में भी सहायता मिलेगी। खेद है कि हमारी अनेक प्रारंभिक रचनाएँ मिली ही नहीं। प्रस्तुत रचनाओं में भी कुछ अधूरी ही हैं। कई तो ऐसी भी हैं जिनको आज पढ़कर हँसी तक आती है। कुछ में तो दो-तीन लेख, एक ही विषय के होने से, सम्मिलित कर दिये गये हैं। किन्तु, ऐसे स्थलों में भी कोई नवीन परिवर्त्तन नहीं किया गया है।

हाँ, कई जगह ऐसी बातें काटकर निकाल दी गई हैं, जिनकी अब कोई आवश्यकता या सार्थकता नहीं है। समयाभाव के कारण सबको हम दुबारा पढ़ नहीं सके, इसलिए जहाँ-तहाँ फालतू बातों का रह जाना संभव है। यों तो हमने पुरानी शैली को कहीं व्यर्थ नहीं छेड़ा है। अनेक स्थानों में भाषा-भाव-सम्बन्धी खटकनेवाले

दोष भी दृष्टिगत हुए; पर उन्हें भी हमने ज्यों-का-त्यों रहने दिया। जहाँ कुछ भी काट-छाँट या हेर-फेर हुआ है, वहाँ पाद-टिप्पणी में स्पष्ट सूचना दे दी गई है। फिर भी इन रचनाओं को दो-दो बार लिपिबद्ध और मुद्रित होना पड़ा है, इसलिए असली रूप कुछ विकृत हो गया हो तो आश्चर्य नहीं।

हम इनके निरीक्षण-परीक्षण के निमित्त पर्याप्त अवकाश नहीं पा सके। हमारे भागिनेय श्री सिद्धेश्वरी प्रसाद ने इनकी खोज और प्रतिलिपि तथा मूल से इनका मिलान करने में बहुत परिश्रम किया है। हमारे और उनके घरेलू संग्रहालय में जो कुछ मिल सका, वहीं छपा। कई लेख मिले ही नहीं। खोज का काम अभी जारी है। यदि कुछ सामग्री मिलेगी तो चौथे खण्ड के परिशिष्ट में खपा दी जायगी; क्योंकि उसमें विशेषतः साहित्यिक संस्मरण और सम्पादकीय लेखादि ही प्रकाशित होंगे।

यह विचार किया गया था कि प्रकाशन काल के क्रम से ये रचनाएँ सजाई जायँ; पर सबके एकत्रित होने में बहुत अधिक समय लगने की संभावना देख, सरकार से मिली निधि का सदुपयोग कर लेने के लिए, पुस्तक की छपाई का श्रीगणेश कर देना पड़ा। अतः ज्यों-ज्यों रचनाएँ मिलती गईं, त्यों-त्यों छपती गईं। इस प्रकार क्रमबद्धता रखना संभव न हुआ। आशा है कि स्थिति समझकर क्रमभंग-दोष से होनेवाली असुविधा के लिए पाठक क्षमा करेंगे।

श्री रामनवमी, शकाब्द १८७९
विक्रमाब्द २०१४; सन् १९५७ ई०

शिवपूजन सहाय
(सञ्चालक)

विषय-सूची

[सभी लेखों का रचनाकाल या प्रकाशनकाल उनके सामने अंकित है ।]

एक सम्मति

शिवपूजन-रचनावली (प्रथम खण्ड) हिन्दी के यशस्वी लेखक श्री शिवपूजन सहायजी की रचनाओं का संग्रह है। इस प्रथम खण्ड में तीन पुस्तकें सम्मिलित हैं जो पहले प्रकाशित हो चुकी हैं—(१) बिहार का बिहार, (२) विभूति तथा (३) देहाती दुनिया। 'बिहार का बिहार' में बिहार और उड़ीसा प्रान्त का प्रामाणिक ऐतिहासिक, प्राकृतिक तथा भौगोलिक परिचय है। नये संस्करण में, जबकि उड़ीसा एक अलग राज्य बन गया है, बिहार-राज्य के नूतन उपलब्ध आँकड़े भी दे दिये गये हैं, जो बिहार की सब प्रकार की आधुनिक जानकारी से पूर्ण है। द्वितीय पुस्तक 'विभूति' में सोलह ललित कथाओं का संग्रह है। ये सभी कथाएँ अत्यन्त रोचक, भावपूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों एवं रसों के परिपाक से समृद्ध हैं। भाषा और शैली इतनी प्रांजल तथा कलापूर्ण है कि उनकी तुलना में आज के सुप्रसिद्ध कलाकारों की कहानियों में नीरसता दिखाई पड़ने लगती है। तीसरी पुस्तक 'देहाती दुनिया' हमारे गाँवों की उज्ज्वल वृत्तियों का मनोमोहक चित्रण है। सीधे-सादे भावुक ग्रामीणों की भावनाओं एवं तरंगों का उन्हीं के योग्य सीधी-सादी, अलंकार और कृत्रिमता से विहीन, सरल भाषा में प्रस्तुत यह 'देहाती दुनिया' सहृदयों के लिए भी पढ़ने की चीज है। इसमें विविध समस्याओं के बीच भी कथा का रस अविच्छिन्न और प्रगाढ़ है। उदात्त भावनाओं की मधुरिमा पदे-पदे प्रवहमान है। इन तीनों अनवद्य रचनाओं का यह संग्रह बड़े काम का है।

—'सम्मेलन-पत्रिका' (प्रयाग)

परिषद्-प्रकाशनों पर कुछ सम्मतियाँ

थोड़े-से ही समय में 'परिषद्' ने आशातीत सफलता प्राप्त की है। विशेष महत्त्व की बात यह है कि परिषद् के उद्देश्य उसकी उदार वृत्ति और व्यापक दृष्टि के द्योतक हैं। इसके द्वारा हिन्दी-साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण होगा और सच्चे साहित्य को प्रोत्साहन मिलता रहेगा।

—आचार्य नरेन्द्रदेव

*

आपकी पुस्तकों को देखकर प्रसन्नता होती है और गर्व भी होता है। आप हिन्दी के भण्डार को सर्वाङ्ग-सम्पन्न बनाने का काम जिस सफलता से कर रहे हैं, उसको देखकर यह विश्वास होता है कि शीघ्र ही हमारा वाङ्मय ऐसे स्तर पर पहुँच जायगा कि किसी को उसपर आक्षेप करने का साहस न हो सकेगा।

—डाक्टर सम्पूर्णानन्द

*

परिषद् ने ग्रन्थ-प्रकाशन के जिस आयोजन का श्रीगणेश किया है, वह देश-भर में निस्सन्देह अनूठा है। देश की ज्ञान-गरिमा और उच्च शिक्षा की आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए, यह ज्ञानदान की शास्त्रीय विवेचनात्मक परम्परा का—टोटे का—धन्धा कोई अन्य प्रकाशक कर भी तो नहीं सकता। इन पुस्तकों के प्रकाशन से 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' एक विद्यापीठ बनती चली जा रही है। प्रभु करे, बिहार की ज्ञान-साधना तथा आपका सम्मिलित यश उत्तरोत्तर उन्नत, विस्तृत तथा सफल हो।

—('कर्मवीर'-सम्पादक) माखनलाल चतुर्वेदी

आजकल कुछ विरोधियों के द्वारा यह बात कही जाती है कि हिन्दी में ऊँचे साहित्य की न्यूनता है। ऐसी बातों का उत्तर हमें विवाद करके नहीं, विनय-पूर्वक ऐसे कार्य करके ही देना है, जैसा कार्य 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' कर रही है। ऐसे प्रकाशनों से कोई भी साहित्य गौरवान्वित हो सकता है।

—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

*

हिन्दी के प्रत्येक पुस्तकालय, शिक्षालय और अध्येता के पास परिषद् के प्रामाणिक, ठोस और उपयोगी सद्ग्रंथों का रहना अति आवश्यक है।

—मासिक 'नया समाज' (कलकत्ता)

*

आशा है कि परिषद् अपने प्रकाशनों से भारतीय वाङ्मय की प्रतिष्ठा बढ़ायगी।

—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

*

परिषद् का ग्रंथ-निधि देखकर चित्त गद्‌गद हो गया।

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

*

महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को प्रकाशित करके परिषद् ने हिन्दी के पाठकों और अनुसंधान-विद्यार्थियों के प्रति बड़ा उपकार किया है। इस समय हिन्दी की जो सेवा 'परिषद्' से हो रही है, वह अद्वितीय और मुक्तकण्ठ से सराहनीय है।

—डा० त्रिलोकीनाथ दीक्षित

*

बिहार राष्ट्रभाषा की ठोस सेवा कर रहा है।

—पं० रामनरेश त्रिपाठी

*

'परिषद्' राष्ट्रभाषा की जो सेवा कर रही है, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए हर्ष होता है।

—डा० अमरनाथ झा

*

'परिषद्' निश्चय ही देश की एक प्रधान संस्था बनेगी और उसके द्वारा उपयोगी कार्य होंगे। जहाँ हिन्दी की अन्य संस्थाएँ आपसी मतभेद से खिन्न हो रही हैं, वहाँ 'परिषद्' ने नया आदर्श और नया संदेश दिया है।

—डा० रामकुमार वर्मा

*

'परिषद्' के प्रकाशन अभूतपूर्व हैं। बिहार वर्त्तमान में राष्ट्रभारती की जो श्रीवृद्धि कर रहा है, वह औरों के लिए अनुकरणीय है।

—जैनाचार्य मुनि कान्तिसागर

शिवपूजन-रचनावली

[तीसरा खण्ड]

सुधा

[भंग की तरंग]

कलित कालिंदी-कूल, कमनीय कदंब-कुंज, सद्यःस्नाता सुन्दरी सीमंतिनी श्री राधा-रानी—

विहँसति सकुचति-सी हिए
कुच आँचर-बिच बाँहि।
भींजे पट तट को चली
फिर—
कच समेटि कर, भुज उलटि—

—मेचक-कुंचित केश-कलाप से नीर निचोड़ती हैं। पीछे के केलि-कुंज से 'जानु-पानि महि विचरत' आनन्द-कन्द व्रजचंद मंद-मंद आकर, मुँह बाकर, कुन्तल-राशि से रस-रस चूते हुए विमल वारि-विन्दु पान करते हैं—मानों मेघमाला से चातक की खुली चोंच में स्वाती-सलिल-विन्दु टपक रहा है—कमल के विकच-कोश में मोती झर रहे हैं। सुधा वहाँ टपक रही है।

रस-पान कर तृप्त तरुण त्रिभंगी झट वंशी के छोटे-छोटे छबीले छेदों पर वही सुधा-सिक्त अधर स्थापित करते हैं। अधर-सुधा-मधु मधुर कंपन के साथ चारों ओर बहने लगता है। नीरव प्रकृति एकाएक हिल जाती है—उसकी संजीवनी शक्ति अनायास खिल जाती है—वृन्दावन विप्लावित हो उठता है। सुधा वहाँ ढलक रही है।

द्रौपदी-दुकूल दलन दुःशासन के चूर्ण-विदीर्ण वक्ष पर वीरासनासीन वृकोदर अपने दोर्दंड भुजदंड से उसका गला चाँपे और रौद्र-विस्फारित लोहित लोचनों से उसे देखते हुए, अमर्ष-पूरित द्वीपि-दंतों से उसका रक्ताक्त हृत्पिंड पकड़कर खींचते हैं। दैन्य-दलित दुःशासन अतीव करुण-कातर दृष्टि से उनका प्रतिशोध-प्रदीप्त पराक्रम देख रहा है—मानों भीमकर्मा वृकोदर के अग्नि-स्फुलिंगमय नेत्रों की भीषण तृषा शांत करने के लिए प्रकृत करुणा का लबालब प्याला छलक रहा हो। दुर्दशाग्रस्त दुःशासन के नेत्रों से, अतृप्त भीम के लिए—वहाँ सुधा छलक रही है।

अमृत-तटी गोदावरी-नदी की भ्रू-भंगिमा से विलसित चित्रपटी-सी पंचवटी में प्रणय-पल्लवित पर्ण-कुटीर के ललित-लतावृत द्वार पर मैथिली और मैथिलीवल्लभ श्रीरामचन्द्र हिले-मिले बैठे हैं।

········चुनि कुसुम सुहाये
निज कर भूषन राम बनाये।
सीतहिं पहिराये अति सादर।

प्रेम-विभोर वैदेही—लटकती हुई लोनी लता की छबीली छहियाँ में—गलबहियाँ डालकर, अपने शुचिस्मित-विकसित कोमल कपोलों से राम के स्नेह-स्फीत वक्ष में धीरे-धीरे गुदगुदाकर, उनके पुलक-प्रफुल्लित वदनारविंद की ओर मुग्ध नयनों से निहार रही हैं। राम के निर्निमेष नेत्र नीरव भाषा में कुछ बतरा रहे हैं। उनके सामने ही, जनकनन्दिनी के नयनों में—वहाँ सुधा झलक रही है।

फिर तरुणी हरिणाक्षी हृदयेश्वरी के ताम्बूल-रंजित पल्लवाधर पर चूना चमक रहा था—नासा-मौक्तिक का स्फटिकोज्ज्वल प्रतिबिंब नहीं। हृदयाराध्य हृदयेश रसिकेश ने अरुणाधरों को प्यार से चूमकर चूना छुड़ा दिया। रसिकेश हृदयेशजी के अधरों पर—वहाँ भी 'सुधा' झलक रही है।

और देखिए! नंदिग्राम की एक कुश-कुटी में वह तेजस्वी तपस्वी—

राम-चरन-पंकज मन जासू
लुबुध मधुप इव तजइ न पासू—

ध्यानावस्थित है। साधना और शांति चँवर ढारती हैं, भक्ति आरती उतारती है। भानु-कुल-भानु की ध्यान-प्रभा से हृदय-शतदल विकसित है। चित्ताकाश में घनश्याम-घटा घिरी हुई है। वहाँ सुधा बरस रही है।

यौवन-वसंत का एक प्रथम कुसुम, दांपत्य-दीपक की स्नेह-सिक्त शिखा, किशोर दंपती के सरस विनोद का मृदु-अधर आधार, धूलि-धूसरित नग्न-जटिल योगी—जिसके दंतावली-किरण-विहीन मुखचन्द्र पर घुँघराली लटुरियाँ लोट रही हैं—नन्ही-नन्ही सुकुमार हथेलियों और सुडौल घुटनों के बल घुटुरुवन चाल चलकर किलकारियों की पिचकारियाँ छोड़ रहा है। युवा दंपती के नेत्रों में प्रसन्नता का लास्य-नृत्य हो रहा है। वहाँ सुधा छहरा रही है!

त्रिभुवनतारिणी गंगा का रमणीय तट, विश्वविस्मृत एकांत-सा शांत वन-प्रांत, शुभ्र शरद-राका-रजनी—चन्द्रिका-धवलित शिलाखण्ड पर आत्मविस्मृत-सा कोई सुन्दर युवक—नितांत मंत्र-मुग्ध—निष्कंप दीपशिखावत् निश्चल बैठा है। यह सुदूरागत कामिनी-कल-कंठ-ध्वनि उसके कर्ण-कुहर में गूँज रही है—

बड़ सुख-सार पाओल तुअ तीरे;
छोड़इत निकट नयन बह नीरे
कर जोरि बिनमओं विमल-तरंगे
पुन दरसन होए पुनमति गंगे।

अहा ! वह सुस्वर-लहरी-प्लावित पुण्य प्रदेश ! सुधा वहाँ लहरा रही है।
अच्छा, अब फिर कभी कल्पना-कल्लोलिनी लहरायगी।

—मासिक 'सुधा' (लखनऊ), वर्ष १, खण्ड १, संख्या १
श्रावण, १९८४ वि०, अगस्त, १९२७ ई०।

●

माधुरी

यह संसार असार है; ऐसा वेदांतियों का विचार है। उनके लिए ईश्वर भी निराकार है; किन्तु हमारे साहित्य-संसार का ईश्वर साकार है। ज्ञानियों का संसार माया का बाजार है; हम साहित्यिकों का संसार अमृत का भंडार है। उनके लिए संसार कारागार है; हमलोगों के लिए करुणावतार का लीलागार है। उनके लिए शृंगार दुराचार है; हमलोगों के लिए वह गले का हार है—अलंकार है। उधर ओंकार का आधार है; इधर नन्द-कुमार का अधिकार है। बड़ा ही विचित्र व्यापार है।

उनके ईश्वर के अकल, अनीह, अनामय, अखंड, ज्योतिस्वरूप, सच्चिदानन्द आदि नाना नाम हैं; हमलोगों के ईश्वर इंदीवर-दल-श्याम, लोक-ललाम, सकल-सुषमा धाम, लोक-लोचनाभिराम हैं। उनका हृदय आलोकमय शून्यलोक की तरह एक अजीब खुदाई नूर से भरपूर है; हमलोगों का हृदय सघन-स्निग्ध सजल-जलद-कांति घनश्याम का मयूर है। उनके लिए त्रिकुटी ही त्रिवेणी और तल्लीनता ही तीर्थ है; हमलोगों के लिए व्रजरज ही पारिजात-पराग और वंशीवट तथा कदम्ब-पुञ्ज का छायाकुञ्ज ही पुण्य-तीर्थ है। उनके लिए सांसारिक स्नेह-सम्बन्ध मकड़ी का जाला, जहर का प्याला और अग्नि की ज्वाला है; किन्तु हमलोगों के लिए सुख और सौभाग्य का निराला मसाला है।

हमलोगों के लिए दुनिया की माधुरी में सुर-पुर की झलक है; उनके लिए दुनिया की माधुरी में माहुर की छलक है। इसलिए हम दुनियादारों को उनकी बातें छोड़कर अपनी बातों की ओर देखना चाहिए।

हमलोग, जो साहित्यानुरागी हैं, दुनिया में हर जगह माधुरी ही पाते हैं। वह कैसी माधुरी है, यह कहने से कहा नहीं जा सकता। उस माधुरी की प्राप्ति से कभी कंठ गद्गद हो आता है, कभी पुलकावली छा जाती है, कभी स्नेह और कभी करुणा के आँसू छलछला उठते हैं, कभी मानस-स्थल दयार्द्र हो जाता है, कभी मंद मुसकान की रुचिर

रेखा खिंच जाने से वदनांबुज विकसित हो उठता है, कभी विस्मयानंदोत्फुल्ल निर्निमेष लोचन मुसकिराते ही रह जाते हैं, कभी सहृदयता और सहानुभूति से हृदय द्रवीभूत हो जाता है, कभी अंग-प्रत्यंग में शैथिल्य आ जाता है, कभी इन्द्रियाँ जड़ीभूत हो जाती हैं, कभी आत्मा तन्मय हो जाती है, कभी कल्पना-कानन में वसंत आ जाता है, कभी भव्य भावों की भागीरथी एकाएक तरंगित हो उठती है, कभी चोट खाकर चित्त चंचल हो जाता है, कभी लालायित मन व्यग्र होते-होते अधीर हो जाता है, कभी लालसा-लता लहलहा उठती है, कभी आशा का आकाश-चुम्बी महल भूमिसात् हो जाता है, कभी धैर्य-धराधर का उत्तुंग शृंग विना बादल के वज्रपात से चूर्ण हो जाता है, और कभी प्रेम-पयोधर की अजस्र वारिधारा तर्कशिलाओं को तोड़-फोड़कर निर्मल निर्झरिणी निकाल देती है।

माधुरी सब जगह है; पर सर्वसाधारण के इन चर्म-चक्षुओं से देख नहीं पड़ती। हिये की आँखें ही उसे देख सकती हैं। जिसका हृदय विशुद्ध साहित्य की सरसता से ओत-प्रोत है, जिसका अनुभव गहरा और बारीक है, जिसकी मानसिक शक्ति अमोघ है, जिसका मस्तिष्क-बल अक्लांत है, जिसके विवेक-त्रिलोचनों ने उस अपार सौंदर्य-सागर के एक-एक कण से बने हुए विविध रंगरंजित इन्द्र-चाप, भुवन-मोहन ऋतुराज, राका-रजनीश सुधाधर और जगदानन्दकर जलधर में उसी नारायण के रूप की माधुरी देखी है, वही—केवल वही—इस विलक्षण विश्व-संसार के प्रत्येक पदार्थ में माधुरी का पता पा सकता है। उसे चाहे कवि कहिए, ज्योतिर्विद् कहिए, साहित्यिक कहिए, अनुभवशील कहिए, तत्त्व-वेत्ता कहिए, या रसराजरसिक कहिए। उसके लिए तो अतसी-कुसुम-श्याम आकाश में भी माधुरी है और चिताग्नि-ज्वाला-प्रदीप्त मसान में भी माधुरी है। दोनों को देखकर वह एक-सा प्रसन्न होता है। उसके लिए गोधूलि-धूसर सन्ध्या और विहँग-दल-कलकूजित प्रभात में जो माधुरी है, वही माधुरी प्रचंड मार्तंड-तप्त ग्रीष्म और तडिल्लतावेष्टित घन-पटल-पूरित बरसात में भी है। वह प्रत्येक वस्तु को कल्पना के चूड़ांत शिखर पर ले जाकर मलय-मारुत से आंदोलित और आनन्दित करता है। उसके लिए हिमानी-संपात-सिक्त हेमन्त में जो माधुरी है, वही माधुरी रसाल-मंजरी-मंडित वसंत में भी है।

वह चराचरमात्र में माधुरी की कल्पना—तारीफ यह कि युक्तियुक्त और मनोमोहिनी कल्पना—कर सकता है। शिशिर के सीत्कार में, पावस की बौछार में, अमावस के अंधकार में, पूर्णिमा के सोलह शृंगार में, मलार पर छिड़े सितार में, युद्ध की ललकार में, वीर की तलवार में, जंगल के शिकार में, विनयी के उद्गार में, अभ्यागत के सत्कार में, सद्गृहस्थ के परिवार में, पराये के उपकार में, जातीयता के त्योहार में, ससुराल की ज्योनार में, प्रेमपात्र की यादगार में, हृदय-हारिणी के मुक्ता-हार में, मानिनी की फटकार में, माता के प्यार में, गरीब की पुकार में, समाज-सुधार के विचार में, यश के विस्तार में, प्रजारंजक राजा के दरबार में, साधुसंत के व्यवहार में, क्षमाशील के हथियार में, रसिकों की रार में, अधीनस्थ की जुहार में, श्रद्धा के आहार में, प्रेम के उपहार में, अन्यायी के अत्याचार में, परवरदिगार के एतबार में, दंतद्युति के उपमान अनार में, स्वच्छंद विहार में, स्वदेशी व्यापार

में, स्वतंत्र रोजगार में, ईमानदार दूकानदार में और उधार खरीदार में—जहाँ कहीं देखिए, सूक्ष्मदर्शी साहित्यज्ञ की पैनी दृष्टि के लिए सर्वत्र ही माधुरी है।

वह चाहे नैपाल में रहे, नैनीताल में रहे, भूपाल में रहे, बंगाल में रहे, पानीपत-करनाल में रहे या फिजी-ट्रांसवाल में रहे, हर जगह माधुरी को निरखकर निहाल रहता है। सारी खुदाई का जितना कुछ जलवा-जमाल है, उसकी टकसाल का वह पक्का दलाल है। उसका खयाल विशाल विश्वविटपी का आलवाल है, और संसार-कासार का मंजुल मराल है। वह जब रसाल के लाल-लाल पल्लवांतराल से सायंकाल के सूर्य को झाँकते हुए देखता है, तब उसके मानस-मंदिर में माधुरी की मनोमोहिनी मूर्ति प्रकट हो जाती है। जब वह गगनांगण-विहारी अंजन-वर्ण मेघों के सघन अंग में विक्षिप्त विद्युल्लता को देख लेता है, तब कादम्बिनी और सौदामिनी के गाढ़ालिंगन में माधुरी के दर्शन पाकर कल्पनाकूट के गगनारोही शिखर पर अनायास आरूढ़ हो जाता है। जब वह किसी धवल-धाम के गवाक्ष-रंध्र से कटाक्ष का विलास देख लेता है या किसी बिल्लौर-विजटित मिलन-मंदिर को मधुर-मधुर पाद-मंजीर-शिंजन से मुखरित होते सुन लेता है, तब उसका हृदय माधुरी की मदिरा पीकर अपनी सुध-बुध बिसार देता है।

तीनों लोक में ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ उसे माधुरी न मिले। जब संतानवत्सला माता के निष्कलंक चुंबन में और सती-साध्वी रमणी के पतिचितारोहण में उसे एक-सी माधुरी नजर आती है, तब भला उसे सर्वत्र पवित्र माधुरी क्यों न मिले? बाणविद्ध मृगशावक की करुण-कातर दृष्टि, असहाय रोगी की सेवा-शुश्रूषा, आदर्श स्वेच्छा-सेवक की सेवा-प्रणाली, देशभक्त की यंत्रणा, पापी की पीड़ा, क्षुधित भिक्षुक की दीनता, युवती सुन्दरी की विरह-वेदना, विजयी वीर की अंग-प्रफुल्लता, सुहृद्-सखाओं की पारस्परिक मैत्री और अभिमानी अधिकारी की भीति-जनक भर्त्सना, सब कुछ उसकी दृष्टि में माधुरी-मिश्रित है।

अहंकारी रावण ने विभीषण पर पाद-प्रहार किया—उस पाद-प्रहार में भी माधुरी है। ध्रुव की विमाता ने उन्हें अपनी गोद से उतार दिया—उस तिरस्कार में भी माधुरी है। मर्कटानन नारद का दिया हुआ शाप-संताप रमा-रमण ने अङ्गीकार किया—उस सहर्ष स्वीकृति में भी माधुरी है। माधुरी कहाँ नहीं है? लेकिन उसका मिलना ही मुश्किल है। आसान भी है, मगर सिर्फ उसी के लिए जो बड़ी खूबी के साथ इतना ही जानता है कि—

'या गोविंदरसप्रमोदमधुरा सा माधुरी माधुरी।"

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ), वर्ष १, खंड १, संख्या २,
सन् १९२१ ई०

चुम्बन

* 'Humid seal of soft affections,
Tenderest pledge of future bliss,
Dearest tie of young connections,
Love's first snow-drop, virgin bliss,
Speaking silence, dumb confession,
Passion's birth, and infant's play,
Dove-like fondness, chaste concession,
Glowing dawn of brighter day,
Sorrowing joy, adieu's last action,
When lingering lips no more must join,
What words can ever speak affection,
So thrilling and sincere as thine !"

—*Burns.*

प्राणप्रयाणौषधि !

भला, कहो तो, साढ़े तीन हाथ के मनुष्यों के लिए यह साढ़े तीन अक्षर का शब्द (चुम्बन) कितना सरस, कितना सुहावना, सुकोमल और कितना सुष्ठु सरल है। इसकी मर्मतल-स्पर्शिनी मधुरिमा का अविरल स्वादु जानते हुए भी तुम मानोन्नता होकर—हठ ठान कर—अड़ी हुई हो कि 'न दूँगी! न दूँगी!' अच्छा, बला से, यही सही, न दोगी, मत दो। यह तो मन मानने की बात है। इसमें किसी का बलात्कार थोड़े है? क्या दुनिया-ऊपर

* ऐ चुम्बन! तुम सु-स्निग्ध स्नेह के सुशीतल चित्र हो! भावी आनन्द के नाजुक जमानतदार हो। नित-नूतन प्रेमियों के हृदय बाँधनेवाले अदृश्य, पर मधुर बन्धन हो। प्रेम की नई पौध की एक-मात्र विकसित कलिका हो। तुम्हीं पवित्र प्रमोद की प्रतिमा हो। तुम्हीं सुमिष्ट-भाषिणी मौनता हो! मूक होते हुए भी स्नेह की स्वीकृति के समर्थक हो। प्रेमोत्कण्ठा के उत्तेजक हो। बाल्य-लीला की तरह स्नेह-संचारक हो! शान्तिमयी प्रीति की प्रतिमूर्त्ति हो! निष्कलंक प्रेमाज्ञा के रूप ही हो! तुम्हीं, बस, उज्ज्वल (सुख के) दिनों के समुज्ज्वल सुप्रभात हो! (अहा! मिलन-मन्दिर की पुष्प-शय्या पर तुम्हारा दिव्य स्वरूप कितना मंजुल-मृदुल, मनो-मुग्धकर और प्राणोन्मादी था। किन्तु समय के पलटा खाने से प्रेम-बन्धनबद्ध शुद्ध हृदयों में जब वियोग-व्यथा का संचार होने लगा, तब तुम्हारी भी काया-पलट हो गई। अब वही तुम; हाय!) शोक के पर्दे में आह्लाद की झलक बन गये। बिछुड़न की बेर—बिदाई (जुदाई?) के समय—के अन्तिम कृत्य तुम्हीं हो! अहा! संकोचवश शिथिल पड़नेवाले उत्सुक अधर जब यह समझकर मिलने लगते हैं कि न जाने फिर कब ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा तब कौन-से ऐसे उपयुक्त शब्द हैं, जो तुम्हारी तरह कभी प्रेम की वह दिल हिलानेवाली मीठी-मीठी और प्यारी-प्यारी वाणी का स्पष्टतया उच्चारण कर सकते हैं!—लेखक

तुम्हारा ही है ? देखता हूँ कि कबतक तुम्हारा हठ ठहरता है, देखूँगा कि भला कितने दिनों तक यह गुमान टिकेगा। मेरे हाथ क्या हैं, मानों साँप के बच्चे हैं। जहाँ इन्हें तनिक भी बढ़ाता हूँ, बस सहमकर सटक जाती हो। जबतक निगोड़ी आँखें एक-टक निहारती रहती हैं, तबतक तो तुम एक जगह चुपचाप खड़ी होकर संकोच-सागर की थाह लेती रहती हो। किन्तु जब मैं तुम्हारी स्वर्ण-शलाका-सी अँगुलियों को पकड़ना चाहता हूँ तब तो पवनान्दोलित कुसुमित लता की तरह तुम इषत् कम्पित होकर भूषणों का झणत्कार मात्र (पुष्पवत्) पृथ्वी पर झाड़ देती हो।

मुझे तो यह मालूम भी नहीं था कि तुम्हारा सारा अंग नव-विकसित पुष्पों से और निष्करुण हृदय वज्र के टुकड़ों से रचा गया है। यदि पहले से यह रहस्य जानता होता कि पवित्र मिलन-मंदिर में कुलिश-कर्कश पाषाण प्रतिमा स्थापित है तो कभी पत्थर पर तीर मारने नहीं आता। केवल मेरी जड़ीभूत (पथरीली) आँखों के ही लिए तुम उपल-गठिता मूर्ति हो, पर बेचारे स्पर्श-लोलुप हाथों के लिए तो लजौनी घास (छुई-मुई) से भी बढ़कर हो।

अहा ! एक दिन जब शैशव के अलौकिक सुख-स्वप्न में निमग्न होकर मैं पलने में पौढ़ा हुआ, झूलता-झूलता अपने नन्हे-नन्हे मुलायम हाथ-पैरों को हिलाता और उछालता हुआ, उजले चावल के चिकने दाने-से नये पनपे हुए दाँतों को दिखाता हुआ, अपनी मीठी-मीठी मुस्कराहट से माता के दिल की कली-कली खिला रहा था, तब उस दिन माता ने भी मेरे स्पर्श-सुखावह गुल-गुल गालों पर एक सरल शुद्ध स्फीत-चुम्बन जड़ दिया था ! अहा !! उस चोखी चाट-भरे चुम्बन ने निस्सन्देह अमृत की घूँट पिलाई—रोम-रोम में संजीवनी शक्ति की सत्ता जगाई—प्रेम की शिक्षास्थली दुनिया में लालसाभरी लगन लगाई—हृदय में मातृ-भक्ति की धवल धारा बहाई—मानस-क्षेत्र में श्रद्धा की कोंपल उगाई—अन्तरात्मा में स्नेहपूर्ण ज्योति जगाई—और इस तुच्छ मानव-जीवन को धन्य बनाने के लिए विश्वप्रेम की रोशनी जलाई। भला उस विशुद्ध चुम्बन के सामने तुम्हारे चटुल चुम्बन की क्या हकीकत है ? क्या उस चुम्बन की मधुरिमामयी स्मृति तुम्हारे पाषाण-हृदय पर अंकित नहीं है ?

बीसियों बार बिनती कर चुका कि कनक-कुण्डल-कलित कल-कपोलों पर अड़े हुए साँप के काले पोए (अलक) को अलग कर दो। किन्तु केवल मुझे उस लोलालकावृत गण्डस्थल के स्पर्श-सुखानुभव से वंचित रखने के लिए तुम कमल-कोश में काले नाग का पोआ पोसे हुई हो। तुम भी यह बात गाँठ दे कर याद रक्खो कि जबतक तुम-सी तन्वङ्गी तरुणी के तड़िद्विनिन्दक तरल-ताटङ्क-मण्डित कपोलों पर इन मेरे ताम्बूल-राग-रंजित अधरों से दो-दो गुलाबी लकीरें न खींची जायँगी तबतक लटकता हुआ भयंकर भुजंग, भ्रमरावली के रूप में नहीं बदल सकता। ईश्वर ने यह कञ्चन-कलश, अमृत भरकर, रखने के लिए दिया है—विष भरकर नहीं। यह सोने का प्याला मधुर मिसरी-मिश्रित दूध पिलाने के लिए है—जहरीली शरबत की घूँट पिलाने के लिए नहीं।

मैं भी जानता हूँ कि 'अधरमधुवधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति !'—किन्तु यह सपने में भी मत समझना कि सभी दिन मैं अभागा ही बना रहूँगा। तुम भी यह मेरी बात—बस एक ही बात

अपनी चित्तभित्ति पर चित्रित कर लो—

"बरस पन्दरह या कि सोलह का सिन,
मुरादों की रातें जवानी के दिन !
कहाँ यह जवानी कहाँ फिर यह सिन ?
मसल है कि है चाँदनी चार दिन ॥"

महाकवि ने सचमुच ठीक ही कहा है कि 'याञ्चामोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्ध-कामा ।' उसे ही चरितार्थ करने के अभिप्राय से मैं घण्टों से प्रेममयी याचना कर रहा हूँ। नहीं तो क्या ऐसे-ऐसे चुम्बन ही नहीं मिलेंगे ? मिलने को तो लाख गण्डे मिलेंगे। किन्तु चातक के चित्त की चाह स्वाती के सिवा जलधर-वृन्द भी नहीं पूरी कर सकते। केवल यही इतना समझकर कि तुम 'न च गन्धवहेन चुम्बिता न च पीता मधुपेन मल्लिका' हो, मैं रह-रहकर अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए इतनी उत्सुकता प्रकट कर रहा हूँ। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि जिस लावण्यवती लाड़ली ने अपने मानभञ्जन की गर्व-गञ्जन कथा भूलकर विना आगा-पीछा सोचे-विचारे कह डाला था कि "फूलन की माला मों सों कहत मुलायम-सी फूलन की माल मेलि राखत न क्यों गरै ; मेरे मुख चन्द सों बतावै ब्रजचन्द रोज कहौ ब्रजचन्द जू सो चन्द देखिबो करैं"—उस त्रिभुवनदुर्लभ सुन्दरी किशोरी को भी केवल एक बार 'केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डित गण्डयुगस्मितशाली' चूमने के लिए कई महीनों—बल्कि बरसों—तक इसी तरह तरस-तरस कर तड़पना पड़ा था ?

"काफ़िर तुझे अल्लाह ने सूरत तो परी दी !
पर हैफ़ ! तेरे दिल में मुहब्बत न ज़री दी !!"

मैं भी तो अच्छी तरह जानता हूँ कि—'यः कान्ताधरपल्लवे मधुरिमा नान्यत्र कुत्रापि सः'—पर तुम्हें भी इसकी पूरी जानकारी करा देना चाहता हूँ कि परम पावन हृदयोद्‌गार के इस एक विमल विन्दु में कितना और कैसा अलौकिक माधुर्य्य है। पुलक-पल्लवित अंग से आज इस प्रेमपीयूष का पहला प्याला पीकर अमर हो लो। नहीं तो, इस मनोज्ञ मिलन-मन्दिर में फिर कभी यह पुष्प शय्या नहीं बिछेगी—रजतमयी रजनी में राकेन्दु की रुचिर रश्मि ऐसी नहीं रुचेगी ! बला से मेरा तो 'कान्ताकोमल-पल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये' यह पश्चात्ताप अन्त काल तक बना ही रहेगा, पर तुम भी इस (साढ़े) तीन अक्षर के शब्द की रसज्ञता विना कौड़ी की तीन ही बनी रहोगी।

अच्छा, मन्मथनदि प्रणयिनि !! हुआ सो हुआ, 'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु '—यही सही। तरङ्गिता नदी की तरह हाव-भाव-लहरी दिखलाकर तुमने इस पुलक-प्रफुल्लित गात्र को, गद्‌गद कण्ठ को, प्रेमोच्छ्‌वास से उद्वेलित हृदय को और मुकुलित मन को भाव-सागर में—रससिंधु की उत्तुङ्ग तरंगों में—निमग्न कर दिया। 'यह हाँ ते भली नाहीं तू कहाँ ते सीख आई हो ?' आओ, हृदय जुड़ाओ, दाम्पत्य प्रेम को अमर बनाओ,

पतिपूजा में चित्त लगाओ, संसार-भर की ममता धो बहाओ, इस प्रेम-भिक्षुक को मत भरमाओ—'जान दे मान की औधि गई, अब प्रानप्रिया बस तू मेरे प्रान में'—

"साँ न दो तुम दो ही दो
'बोसे' वो लेकिन ढब के दो,
चश्म के दो, जुल्फ़ के दो
दस्त के दो, लब के दो ॥"

—मासिक 'लक्ष्मी' (गया), १६२० ई०

•

आलिंगन

आलिंगन, स्नेहालिंगन, गाढ़ालिंगन, दृढालिंगन, प्रेमालिंगन, स्वप्नालिंगन, हृदयालिंगन, नयनालिंगन, अधरालिंगन, कपोलालिंगन, करतलालिंगन, भुजालिंगन, अंकालिंगन, भावालिंगन, विचारालिंगन आदि अनेक आकार-प्रकार के आलिंगन हैं। आलिंगनों का क्या ठिकाना ? आलिंगनों ने ही तो मानव-जन्म को सार्थक बनाया है। जन्म से ही देखिए, पलने का सुकोमल और सुमधुर आलिंगन, माता का मातृ-ममत्वपूर्ण आलिंगन, लगोटिया यारों का आलिंगन, क्रीड़ाभूमि आँगन का आलिंगन, कोमल कपोलों की धूलि पोंछनेवाले माता के अंचल का आलिंगन, सहपाठियों का सरलालिंगन, लावण्यवती ललना का ललित लालसालिंगन, प्रसन्नानना-पत्नी की गोद में किलकारियाँ भरकर मुसकिराते हुए 'तोतले तोतें' का आलिंगन, दफ्तर जाते समय मिठाई के पैसे माँगनेवाले बच्चों का कोमलालिंगन, आफिसों से वापस आने पर मिठाई पाने की आशा रखनेवाले मगन-मन बालकों का हठालिंगन, अभिन्न-हृदय मित्रों का पुलक-प्रफुल्लित आलिंगन, शादियों में सहृदय समधियों का आलिंगन, परदेशी पति के प्रयाण-काल में प्रणयिनी का प्रेम-परिरंभण, मिलन-मन्दिर में मन्मथनदी मृगनयनी का मनोन्मादी आलिंगन, बिछुड़े हुए उत्कण्ठित हृदयों का हौसले से भरा आलिंगन, मृत्युकाल में बन्धु-बान्धवों का आलिंगन, कफन का आलिंगन, चिताग्नि-ज्वाला का आलिंगन, श्मशान के भस्म-कणों का आलिंगन[1], भागीरथी की शांति विधायिनी तरंगों का आलिंगन, अपने किये हुए पुण्य-पापों के फल का आलिंगन, आत्मा और परमात्मा का आलिंगन आदि आद्यन्त आलिंगन ही आलिंगन तो हैं। मानव-जीवन आलिंगनमय है, सारा संसार आलिंगनमय है।

---

१. क्यों न तुझसे लिपटकर सोएँ ऐ क़ब्र !
मैंने भी तो पाया है तुझे जान देकर !

योगियों की चिन्ता परब्रह्म के आलिंगन का सुखानुभव करती है। कवियों की कल्पना लोकोत्तरानन्द का आलिंगन करती है। चतुर चित्रकार का चित्त मौन सजीवता का आलिंगन करता है। देशभक्त का हृदय राजनीति का आलिंगन करता है। रणधीर वीर हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करता है। स्वदेशाभिमानी मनस्वी आपत्तियों का आलिंगन करता है। संन्यासी 'सोऽहमस्मि' की अखण्ड वृत्ति का आलिंगन करता है। पुण्यात्मा पुरुष कीर्ति का आलिंगन करता है। अपव्ययी दरिद्रता का आलिंगन करता है। वाणिज्य-व्यस्त व्यक्ति लक्ष्मी का आलिंगन करता है। परोपकार-परायण पुरुष दया का, तपस्वी क्षमा का, उद्योगी सफलता का, मनोयोगी विद्या का, साहसी सिद्धि का और ब्रह्मचर्य-व्रती तेजस्विता का आलिंगन करता है। किन्तु, प्रेम विश्व-ब्रह्माण्ड का आलिंगन करता है। प्रेम के लिए सब कुछ आलिंग्य है—ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो प्रेम से आलिंगित न हो सके।

'आलिंगन' कितना सुन्दर शब्द है? कैसा मधुर-भावद्योतक है? केवल सुन्दर या मधुर ही नहीं, व्यापक और प्रभावशाली भी है। पौराणिक कथाओं में भी बड़े मधुर-मधुर आलिंगन पाये जाते हैं। यदि उन आलिंगनों को चित्त-भित्ति पर अंकित कर लिया जाय, तो यह आलिंगनमय संसार सचमुच स्वर्ग-सहोदर बन जाय। कहिए न, ऋष्यमूक पर सती-सीमंतिनी सीता के अंचलखण्ड[१] का आलिंगन वियोग-विह्वल भगवान रामचन्द्र के लिए कितना शांति-प्रद था? रण-कर्कश कुम्भकर्ण के लिए, रण-यात्रा के समय, रावण का आलिंगन[२] कितना संतोषदायक था? संजीवनी बूटी लानेवाले हनुमान का आलिंगन[३] बंधु-वियोग-विह्वल रामचन्द्र के लिए कितना आनन्दवर्द्धक था? फिर, झटपट जी उठनेवाले लखन-लाल[४] के आलिंगन का तो कहना ही क्या है? क्षण-मात्र के अन्दर होनेवाले इन दोनों आलिंगनों का आलिंगन संगम—कितना माधुर्यमय है? सीतासंदेशवाही पवनपुत्र का आलिंगन[५] सीता-चिंतापरायण रामचन्द्र के लिए कैसा प्राण-दाता हुआ था? दूतों द्वारा प्राप्त जनकजी के विजय-संवाद-सूचक निमंत्रण-पत्र को अयोध्या में कौसल्यादि माताओं ने, कितनी बार, कितनी प्रसन्नता से, आलिंगित[६] किया था? फिर जनकपुर के जनवासे में प्राणाधिक प्रिय पुत्र का आलिंगन[७] अवधेश के लिए कितना आह्लादजनक हुआ था? पतितपावन रामचन्द्र के सखा निषाद-राज के लिए भ्रातृ-भक्त भरत का आलिंगन[८] कैसा तृप्तिकर हुआ था? इन्हीं अछूत-

१. माँगा राम तुरत तेइ दीन्हा, पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।
२. अब भरि अङ्क भेंटु मोहि भाई, लोचन सुफल करउँ मैं जाई।
३. हरषि राम भेंटेउ हनुमाना, अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना।
४. हृदय लाइ भेंटेउ प्रभु भ्राता, हरषे सकल भालु कपि ब्राता।
५. सुनत कृपानिधि मन अति भाए, पुनि हनुमान हरषि हिय लाए।
कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा, कर गहि परम निकट बैठावा।
६. लेहि परस्पर अति प्रिय पाती, हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती।
७. सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे, मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।
८. भेंटत भरत ताहि अति प्रीती, लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती।
तेहि भरि अङ्क राम लघु भ्राता; मिलत पुलक परिपूरित गाता।

उद्धारक राम और भरत का आलिंगन[1] चित्रकूट में चलकर देखिए। वहाँ तो आलिंगन का अगाध समुद्र ही उमड़ा हुआ दिखलाई पड़ेगा। दो अधीर एवं अतृप्त भ्रातृ-हृदयों का योगपूर्ण आलिंगन[2] देखकर चित्रकूट ने भी कुशांकुरों द्वारा अपना रोमांचित होना प्रकट करके निर्झरों के रूप में प्रेमाश्रु की धारा बहाई थी[3]। जब पाषाण-मय चित्रकूट का दिल पिघल गया, तब भला लंका से लौटे हुए रामचन्द्र को भी अधीर बनानेवाला वह अलौकिक 'भरत-मिलाप' वानरी सेना के मुखियों को क्यों न बेसुध बनाता? यद्यपि वे धन्य थे, तथापि रामचन्द्र के बार-बार के आलिंगनों ने उन्हें भी तो पारस[4] बना दिया था।

रामायण में आलिंगनों की बाढ़-सी आ गई है। उस आकूल-प्लाविनी बाढ़ का प्रशस्त प्रवाह-क्षेत्र मेरा कोई दूसरा ही लेख बनेगा। मैं उद्धरणों की बाढ़ में इस लेख को डूबने देना नहीं चाहता। खैर, रामायण तो आप देख ही चुके। अब जरा महाभारत भी देखिए! महाभारत में भी एक-से-एक अपूर्व आलिंगन हैं। सुभद्रा और अर्जुन का आलिंगन कैसा प्रेम-पीयूष-परिपूर्ण है? भीम की लौहमूर्ति का आलिंगन धृतराष्ट्र के लिए कैसा हीतल-शीतल-कारक है? फिर, मेनका और विश्वामित्र का, शकुंतला और दुष्यंत का! मत्स्योदरी और पराशर का तथा माद्री और पांडु का आलिंगन क्या कुछ कम जबरदस्त आलिंगन है? किन्तु, हाँ, इनसे भी बढ़े-चढ़े आलिंगन मौजूद हैं—जैसे द्रोणाचार्य अर्जुन का हस्तलाघव देखकर उन्हें गले से लगा लेते हैं और माथा सूँघकर आशीर्वाद देते हैं। अपने परम प्रिय भाई के सुपुत्र श्रीकृष्ण को देखकर कुन्ती फूले अंग नहीं समाती, और ललक कर, अद्भुत स्नेह की मूर्ति बनकर, श्रीकृष्ण को कलेजे से लगा लेती है। परंतु सबसे बढ़कर आलिंगन, महाभारत में, एक ही है। नहीं, भारतवर्ष के इतिहास में वह एक चिरस्मरणीय और समादरणीय आलिंगन है! वह है—उत्तरा और अभिमन्यु का आलिंगन। वही है ऐसे हृदयों

---

१. रामस्तमाकृष्य सुदीर्घबाहुर्दोर्भ्यां परिष्वज्य सिषिञ्च नेत्रजैः।
जलैरथाङ्कोपरि सन्यवेशयत्पुनः पुनः संपरिषस्वजे विभुः॥
—अध्यात्मरामायण (अयोध्याकाण्ड ६/१७)

२. बरबस लिये उठाय उर लाए कृपानिधान।
भरत-राम की मिलनि लखि बिसरा सबहिं अपान।

३. सानुज मिलि पल महँ सब काहू, कीन्ह दूरि दुख दारुन दाहू।
परे भूमि नहिं उठत उठाए; बल करि कृपासिन्धु उर लाए।
राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी;
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहिं मिले प्रभु त्रिभुवन धनी।
प्रभु मिलत अनुजहिं सोह, मो पहिं जात नहिं उपमा कही;
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिलत बर सुखमा लही।

४. पारस मों अरु संत मों, बड़ो अन्तरो जान।
वह लोहा कंचन करे, करें ये आपु समान॥

का आलिंगन, जिनका चित्र अङ्कित करना साहित्य की भाषा के लिए असम्भव है। अहा! रण-भेरी बज चुकी है। शत्रु के सैन्यसंगठन का संवाद सुनकर धर्मराज करतल पर कपोल धरे बैठे हैं। शक्ति की परीक्षा हो रही है। अपना नम्बर आते ही एक षोड़शवर्षीय नवयुवक उठकर धर्मराज की चकित आँखों को अपनी ओर खींच लेता है। और, घनघोर घोष के साथ, सूखती हुई खेती पर उमड़-घुमड़ कर जीवनदाता की तरह बरस जाता है। धर्मराज उसके कवच में न अँटनेवाले शरीर को छाती से लगाकर निहाल हो जाते हैं। (भगवन्! क्या वैसा आलिंगन अब किसी भारतीय नवयुवक को नसीब न होगा?) यह रण-रस-रसिक नवयुवक पहले वीर-भगिनी, वीर-पत्नी और वीर-माता सुभद्रा के पास जाता है, और उसकी फूली हुई छाती से लगकर विदा होता है। कुंती के कारुणिक स्नेह से सने हुए आलिंगन उसे कातर बना देते हैं, और फिर किसी प्रेममयी बिजली की कोमल गल-बहियों से आलिंगित होकर वह अपना रणरोषपूर्ण घन-घोष भूल जाता है—जसे अरविंद-मकरंद पीकर मलिंद गुंजन-ध्वनि भूल जाता है। कितना प्राणोन्मादी आलिंगन है! कैसा आबद्ध आलिंगन है? कितना आनन्द-सम्मोहित आलिंगन है? कैसा अगाध शिथिल आलिंगन है!

इस प्रकार, यदि सूक्ष्म विचार-दृष्टि से देखिए तो यह संसार आलिंगनों का अखाड़ा है। मेघ और बिजली का आलिंगन, कमल और भ्रमर का आलिंगन, वृक्ष और लता का आलिंगन, शैल-शृंग और नीलाम्बर का आलिंगन, नदी और समुद्र का आलिंगन, मलयाचल और मारुत का आलिंगन, चंदन और भुजंग का आलिंगन, विश्वास और श्रद्धा का आलिंगन, आत्मत्याग और सेवा का आलिंगन, ज्ञान और मुक्ति का आलिंगन, अभ्युदय और एकता का आलिंगन, असहयोग और कांग्रेस का आलिंगन—कहाँ तक कहूँ? आलिंगन का अड्डा कहाँ नहीं है? समुद्र में बड़े-बड़े जहाज उमंग-भरी तरंगों को छाती से लगाते रहते हैं, वन में मृग और मृगी अर्द्धोन्मीलित लोचनों से आलिंगन-जनित पुलक का अनुभव करते रहते हैं, संसार में घटनाओं का आलिंगन होता ही रहता है। विधाता ने आलिंगन को ही मानों सारे संसार का आलम्बन बनाया है। पंच-तत्त्वों का आलिंगन ही तो संसार का अवलम्बन है?

सात प्रकार की बहिर्रतियों में एक आलिंगन भी माना गया है—

"आलिंगन, चुम्बन, परस, मर्दन, नख-रद-दान,
अधर-पान सो जानिए बहिरति सात सुजान।" —केशवदास

आलिंगन को सबसे प्रथम स्थान मिला है; क्योंकि आलिंगी के लिए शेष छः विशेष सुलभ हैं!

मैं इस लेख के आरंभ में अनेक आकार-प्रकार के आलिंगनों के नाम ले चुका हूँ। स्नेहालिंगन[1], गाढ़ालिंगन[2], दृढ़ालिंगन[3] और प्रेमालिंगन[4] का दृश्य आप देख ही चुके। अब स्वप्नालिंगन भी देख लीजिए। 'द्विजदेवजी' कहते हैं—

"सोवत आजु सखी सपने 'द्विजदेवजू' आनि मिले बनमाली;
ज्योंही उठी मिलिबे कहँ धाय, सो हाय! भुजान भुजान पै घाली।
बोलि उठे ये पपीगन तौ लगि 'पीउ कहाँ?' कहि कूर कुचाली;
संपति-सी सपने की भई मिलिबों ब्रजराज को आज को आली।"

किसी अन्य कवि का कथन है—

"व्याकुल काम सतावत मोहि, पिया बिन नीक न लागत कोई;
प्रीतम से सपने भइ भेंट, भली बिधि सो लपटाय कै सोई।
नैन उघारि पसारिकै देखौं, तो चौंकि परी कतहूँ नहिं कोई;
एरी सखी! दुख कासों कहों? मुसुकाय हँसी, हँसि कै फिरि रोई।"

---

१. कौसल्यादि मातु सब धाईं, निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई।
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परवस गईं;
दिन-अंत पुर-रुख स्रवत थन, हुंकार करि धावत भईं।
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटीं, बचन मृदु बहु विधि कहे;
यह बिषम बिपति बियोग भव, तिन्ह हरष सुख अगनित लहे।

२. ननाम शिरसा भूमौ गुहोऽहमिति चाब्रवीत्।
शीघ्रमुत्थाप्य भरतो गाढमालिंग्य सादरम्॥ —अध्यात्मरामायण (अयो०)

३. आजु मिले बहुते दिन भावते भेंटत भेंट कछू मुख भाखौ;
ये भुज-भूषन मो भुज बाँधि, भुजा भरिकै अधरा रस चाखौ।
दीजिए मोहिं ओढ़ाय जरी-पट, कीजिए जू जिय जो अभिलाखौ;
'देव' हमैं-तुम्हैं अंतर पारत, हार उतारि इतै धरि राखौ।

४. दोऊ दुहूँ पहिरावत चूनरि, दोऊ दुहूँ सिर बाँधत पागैं;
दोऊ दुहूँ के सिंगारत अंग, गरे लगि दोऊ दुहूँ अनुरागैं।
'संभु' सनेह समाय रहे, रस ख्यालन में सिगरी निसि जागैं;
दोऊ दुहूँन सों मान करैं, पुनि दोऊ दुहूँन मनावन लागैं।

अब हृदयालिंगन[1] की परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं रह गई ; क्योंकि वह विशेष स्वाभाविक है। नयनालिंगन[2] को देखिए; कितना सुन्दर दृश्य है—

राधा हरि मुख रुख लखैं, हरि राधा की ओर;
दोऊ आनन इन्दु भे, चारो नयन चकोर।

बस इसी दोहे के वजन पर अधरालिंगन[3], कपोलालिंगन[4], करतलालिंगन[5], भुजालिंगन[6] (गलबहियाँ), अंकालिंगन[7] आदि समझ जाइए।

अब रह गये भावालिंगन और विचारालिंगन। भावालिंगन का तात्पर्य तो आप तभी समझेंगे जब शेक्सपियर और कालिदास तथा शेख सादी और तुलसीदास की कविताओं को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ेंगे। उनको पढ़ने से यह स्पष्ट दिखलाई पड़ेगा कि

---

१. अपूर्वो विद्यते वह्निः कामिन्याः स्तनमण्डले;
दूराद्धि दह्यते गात्रं हृदि लग्नस्तु शीतलः। —शृंगार-तिलक

"दोऊ चोर मिहींचनी खेल न खेलि अघात;
दूरत हिय लपटाइ कें, छुवत हिये लपटात।

२. "लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिं।" —बिहारी

३. चुम्बन

४. आलिंगन-काल में कपोलों का संघर्ष।

५. Shake hands. (हाथ मिलाना)

६. "मेलि गलबाहीं केलि कीन्हीं चितचाहीं;
यह हाँ ते भली नाहीं, सो कहाँ तें सीखि आई हो? —दूलह
मैं मिसहै सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाय
'हस्यौ, खिस्यानी, गल गह्यौ, रही गरे लिपटाय। —बिहारी
"भुज में कसी-सी सिंधु गंग ज्यों धँसी-सी,
जाके सी-सी करिबे में सुधा-सीसी-सी ढरकि जात।
फन्द में फँसी-सी भरि भुज में कसी-सी,
जाके सी-सी करिबे में सुधा-सीसो सी ढरकि जात।"

७. "अंक में बीति गई रतियाँ, पै
तऊ छतियाँ तिय छोड़ि न पावति।"

पुनः—
'बैठि परजंक पै निसंक ह्वै के अंक भरौं
करौंगी अधर-पान, मैन-मत्त मिलियो।" —प्रबीनराय
"बावरी जो पै कलंक लग्यो तौ
निसंक ह्वै क्यों नहीं अंक लगावति।"

दो दूरस्थ देशों के भिन्न-भिन्न भाषा और काल के कवियों के भाव किस खूबी से परस्परालिंगित हुए हैं। इसी प्रकार बुद्धदेव, मुहम्मद, ईसा और गांधी के विचारों का आलिंगन भी समझ लीजिए। दो विशाल एवं विशुद्ध हृदयों के भावों और विचारों का पारस्परिक आलिंगन वास्तव में गंगा-यमुना-सरस्वती के पवित्र आलिंगन की तरह माहात्म्य-मय है। अब लगे-हाथों दो महत्त्वपूर्ण घटनाओं का आलिंगन भी देख लीजिए—'एक ही अवस्था में, एक ही तरह के मामले में, लोकमान्य और महात्माजी, एक ही अवधि (छः वर्ष) के लिए दण्डित हुए।' घटनाओं के ऐसे-ऐसे आलिंगन नित्य ही संसार में होते रहते हैं, जिन्हें देखकर भी हम लोग नहीं देखते; किन्तु उक्त 'घटनालिंगन' तो भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में ऐसा महत्त्वपूर्ण है कि स्वर्णवर्णाङ्कित होकर रहेगा।

विरह की दशा में आलिंगनाभिलाष की विशेष वृद्धि होती है। विरहियों की आलिंगन-लालसा पर कवियों की अनेक अद्भुत उक्तियाँ हैं। उन्हें उद्धृत करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। महाकवि के मेघदूत का एक श्लोक है—

भित्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिंग्यंते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंगमेभिस्तवेति।[1]

फिर हनुमन्नाटक में सीता-वियोगी भगवान रामचन्द्रजी का वचन है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः।[2]

विरही यक्ष और वियोग-व्यथित श्री रामचन्द्रजी की उक्तियाँ आप सुन ही चुके। अब विरहविह्वला रमणियों की आलिंगनाकांक्षा के सम्बन्ध में महाकवि बिहारी लाल की कुछ उक्तियाँ भी सुन लीजिए—

एक आलिंगनाभिलाषिणी विरहिणी अपनी फड़कती हुई वाम भुजा से कहती है—

"बाम बाहु फरकत मिलैं जो हरि जीवन-मूरि,
तो तोही सों भेंटिहौं राखि दाहिनी दूरि।" —बिहारी

१. प्यारी! देवदारु वृक्षों के नये कोमल पल्लवों को भेदती हुई और उनके दूध की सुगन्ध से सिक्त दक्षिणी वायु जब आती है, तब मैं यही समझकर उसका आलिंगन कर लेता हूँ कि वह हिमाचल से आते समय तेरी देह से लगकर आई होगी।

२. हा! सीते! हम आलिंगनदान के समय, अपने और तुम्हारे हृदय में बाल-भर का अन्तर भी न सह सकने के भय से, तुम्हारे गले में पुष्प-हार नहीं पहनाते थे। किन्तु इस समय तो हमारे और तुम्हारे बीच में अनेक नदी, पर्वत और वृक्ष हो गये हैं।

एक विरहिणी अपने प्राणवल्लभ के प्रेमपत्र का किस प्रकार आलिंगन करती है, देखिए—

"कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि,
लहि पाती पिय की तिया, बाँचति धरति समेटि
रँगराती राते हिये, प्रीतम लिखी बनाय
पाती काती बिरह की, छाती रही लगाय।" —बिहारी

विरहिणी के लिए प्राणेश्वर की प्रत्येक वस्तु अत्यन्त प्रिय होती है। वह प्रत्येक पदार्थ में प्राणेश्वर की प्रतिमा देखती है। वह अपने पति की किसी चीज को भी बड़े प्यार से गले लगाती है। यथा—

भेंटत बनत न भावतो, चित तरसत अति प्यार
धरति लगाय लगाय उर, भूषन बसन हथ्यार। —बिहारी

अब विरहानल-दग्ध दंपती का, कुच-कंचुकी के समान गाढ़ालिंगन देखिए—

बिछुरे जिये सकोच यह, बोलत बनै न बैन;
दोऊ दौरि लगे हिये, किए निचौहैं नैन
ज्यों-ज्यों पावक लपट-सी तिय हिय सों लपटाति
त्यों-त्यों छुही गुलाब की छतियाँ अति सियराति। —बिहारी

इसी प्रकार संस्कृत, हिन्दी और उर्दू के कवियों ने इस विषय पर बड़ी-बड़ी चुटीली उक्तियाँ कही हैं। यदि तीनों भाषाओं का कोई अच्छा विद्वान् और अनुभवी अधिकारी इस विषय पर लेखनी-संचालन करे, तो एक पोथा तैयार हो जा सकता है। किन्तु ऐसे-ऐसे सरस साहित्यिक विषयों की ओर अब कोई ध्यान ही नहीं देता। क्योंकि अधिकांश सज्जन 'चुम्बनालिंगन' शब्द को ही 'अश्लील' मानते हैं। कितने लोग कह उठते हैं कि 'चुम्बनालिंगन' की चर्चा शृंगार रस के साथ शोभा देती है। शृंगार रस (आदि रस) से आजकल के बहुसंख्यक हिन्दी-प्रेमी घृणा करते हैं। यहाँ तक कि तत्परिणाम-स्वरूप व्रज-भाषा को शृंगार-रस-प्रचारिणी भाषा समझकर भूलते जाते हैं। किंतु सूक्ष्मदर्शी के लिए कुछ भी अश्लील नहीं है, और सब कुछ अश्लील ही है।

—**'माधुरी' (लखनऊ), वर्ष १, खंड १, सं० ५**
मार्गशीर्ष, २९९ तुलसी-संवत्, सन् १९२२ ई०

●

धैर्य्य

"आपत्समुद्धरणधीरधियः परेषां
जाता महत्यपि कुले न भवन्ति सर्वे
विन्ध्याटवीषु विरलाः खलु पादपास्ते
ये दन्तिदन्तमुसलोल्लिखनं सहन्ते ॥१॥"

धैर्य्य ही एक ऐसा उपास्यदेव है जिसके सामने प्रत्येक कर्मयोगी को सिर झुकाना पड़ता है। जिसको संसाररूपी कार्यक्षेत्र में वीर बनकर सुयश-रूपी फल की इच्छा हो उसे अवश्य धैर्य का अभ्यास करना चाहिए। धैर्य वह गुण है जिसके बल से मनुष्य पहाड़-सी आफत को भी फूँककर उड़ा देता है और नाना प्रकार के उद्दण्ड उपद्रवों से भी ह्रासित नहीं होता। कबीरदास की वाणी है—

पहिले दही जमाइए पीछे दुहिए गाय।
बछवा वाके पेट में गोरस हाट बिकाय॥
तन कौ दही जमाइये मन कौ दुहिए गाय।
धीरज बछवा पेट में कीरति हाट बिकाय॥

विना धैर्यरूपी धुरे के जीवन-रथ इस जगत-पथ पर कभी सुख से नहीं चल सकता। सभी विपत्तियाँ धैर्य-देव के हा पदतल पर दीन होकर लोटती रहती हैं। जिन्होंने धैर्य-धन प्राप्त किया है वे जो कुछ चाहें, प्राप्त कर सकते हैं। जो नौका मन्द वायु के झकोरे से भी डगमगा जाती है वह न बोझ ढो सकती है और न तूफान के बाद उसकी सूरत नजर आ सकती है। पर जो नौका भारमय होने पर भी पतवार तानकर दृढ़ रूप से सनसनाती निकली जाती है, शायद, वही ईश्वर की सहज दयालुता से, अपने लक्ष्य-स्थान पर बेखटके जा पहुँचती है। विद्वानों ने कहा है कि अपने लक्ष्यमार्ग पर उस चट्टान के समान पड़े रहिए जो बड़ी-से-बड़ी आँधी के हिलाने से भी नहीं हिलती। एक क्षण का धैर्य-धारण शायद कई वर्षों तक सुख देता रहता है। धैर्यरूपी वृक्ष काँटों से भरा है, लेकिन इसके फल बड़े मीठे होते हैं।

यदि हम धैर्य को विपत्तिरूपी विशिप-कराल से बचानेवाला कवच, विपत्ति-वृद्धता का सहायक लकुट, विपत्ति-श्रम से थके हुए का उपधान, शोकसागर का जहाज और सुखरूपी महल का सुदृढ़ स्तम्भ कहें तो शायद कुछ भी अत्युक्ति नहीं समझी जायगी। ऊँचे धौरहरे पर चढ़नेवाले को जैसे नीचे की चीजें अजहद छोटी दीख पड़ती हैं वैसे ही धैर्यरूपी बुलन्द धौरहरे पर चढ़ने से संसार भर में विचरती हुई सब विपत्तियाँ—चाहे पहाड़-सी क्यों न हों—राई और लाई सी-दीख पड़ती हैं।

देखिए, भर्तृहरिजी कहते हैं—"सिन्धुमंथन के समय रत्नसमुदाय निकलने से भी देवता सन्तुष्ट नहीं हुए और न भीषण विषोद्गार ही से उनकी दृढ़ कार्य-प्रवृत्ति में कुछ त्रुटि पहुँचने पाई। आखिर बिना अमृत निकाले उन लोगों ने दम नहीं मारा, सो ठीक ही था; क्योंकि बिना वांछित फल प्राप्त किये धीर पुरुष अपनी टेक नहीं छोड़ सकते।"

पुनः उन्हींका कथन है—"जो जन नीच हैं वे विघ्नभय से कार्यारम्भ ही नहीं करते, मध्यम जन कार्यारम्भ के बाद, विघ्न को देखते ही, कार्य को छोड़ बैठते हैं; पर उत्तम जन बार-बार विघ्न होने से भी अपनी चेष्टा का परित्याग नहीं करते।"

पुनरपि—"नीतिज्ञ लोग चाहे भला कहें या बुरा, लक्ष्मी रहे या चली जाय—जैसी उसकी इच्छा; आज ही मरें या दस-बीस साल बाद मरें; पर धीर पुरुष सत्पथ से कभी विचलित नहीं होते।"

मनुजी ने धर्म के दस लक्षण गिनाते हुए सर्वप्रथम धैर्य को ही गिनाया है। मन से चंचलता को बलात्कारपूर्वक खदेड़िए और सुस्थिरता को आसन दीजिए; क्योंकि मनुष्य का मन स्वाभाविक ही चाञ्चल्ययुक्त है—जैसे सोनार और बनिये की तराजू। पर धैर्य के बराबर भार पड़ने से चित्त अवश्य ही स्थिरता प्राप्त करने का अभ्यास कर लेगा। कहा गया है कि सज्जनों के हृदय विपत्ति में और सम्पत्ति में क्रमशः 'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि' होते हैं। यथा—

संपत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम्॥

सुख एक बड़ी ही नाजुक चीज है। विपत्तियों के भय से वह धैर्य की शरण में चला जाता है। आप चाहें तो धैर्य की पूजा करके फिर उसे ले सकते हैं। अहा! श्रीदशरथजी महाराज का प्रिय प्राण भी जब धैर्यधाम से निकल भागा, तब कहीं सुखाश्रय-ग्रहण नहीं कर सका। पाठकगण! क्या आपलोगों ने कभी डूबकर यह विचार किया है कि श्रीसीतादेवी लंकागढ़ में अशोकवृक्ष-तले रहती थीं या धैर्य-वृक्ष-तले? भला कहिए तो पांडवों ने किसके सहारे से दो-दो बार राजपद से च्युत होकर बारह-बारह वर्षतक वनवास के असह्य क्लेशों को सहन किया था?

महाभारत में तालध्वज और मयूरध्वज की जगत्प्रसिद्ध कथा देखिए। विस्तार-भय से नहीं लिख सके। उसमें बेशक धैर्य की अपरिमेय महिमा झलकती है। देखिए, श्रीगोसाईं-जी ने—'प्रसन्नतां या न गताऽभिषेकतः तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः' इस अमूल्य पद को लिखकर श्रीरामचन्द्रजी के धैर्यधुरन्धरत्व का कैसा दृढ़ परिचय दिया है। पुनः जगद्वन्द्या कौसल्या महारानी की वाणी सुनिए जिसे सुनकर 'धीरज हूँ कर धीरज भागा'—

'नाथ! समुझि मन करिय बिचारू, राम बियोग पयोधि अपारू।
करनधार तुम अवधि जहाजू, चढ़ेउ सकल प्रिय बनिक समाजू।
'धीरज' धरिय तो पाइय पारू, नाहिं त बूड़हिं सब परिवारू।
जनम मरन सब दुख सुख भोगा, हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा।
काल कर्मबस होहिं गुसाईं! बरबस रात दिवस की नाईं।
सुख हर्षहिं, दुख जड़ बिलखाहीं, दोउ सम 'धीर' धरहिं मन माहीं।

एक विद्वान् का अत्युत्तम कथन है कि मस्त हस्ती के पकड़नेवाले को हम कभी वीर नहीं कह सकते—हम उसी को वीर कहेंगे जो काम एवं क्रोध की आँधी में वृक्ष-स्थाणु-सा

तनिक भी न डिगे, बल्कि धीरतापूर्वक डटा रहे। असली धैर्यवान की पहचान में यह निम्नोद्धृत श्लोक तावीज में मढ़ लीजिए —

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य चित्तं न दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरि विषयांश्च न लोभपाशा लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥

कृपया अधोलिखित 'दत्त'-कवि-कृत कवित्त दत्तचित्त होकर हृदयंगम करते रहिए—

"कैसे काज ह्वैहैं? हाय! बात सब बूड़ि जैहैं, कादरता ऐसी कबौं भूलि हूँ न करिए।
करि कै विवेक सुसाज निज जो में, पचि रचि कै उपाय निज व्याकुलाई हरिए!
हारिये न हिम्मत, सुकीजै कोटि किम्मत को, 'दत्त' कहै काहू के न जाय पाँव परिए।
ईश्वर को याद कै, जनैये पुरुषारथ को आपति में पति राखि 'धीरज' को धरिए।"

—मासिक 'मनोरंजन' (आरा), वर्ष १, अंक १२, अक्टूबर १९१३ ई०

•

सन्तोष

पुरुषार्थ, श्रमशीलता एवं सदुद्योग द्वारा सद्धर्मयुक्त जो कुछ उपार्जन हो सके उसीको ईश्वरदत्त समझ, सहर्ष स्वीकार कर, सुखी रहना ही सन्तोष की सहज परिभाषा है।

सन्तोष वह गुण है जो मनुष्य की सब अभिलाषाओं को भली-भाँति पूरा करता है। संसार में सब लोग सुख की आकांक्षा से नाना प्रयत्न करते हैं; पर जितनी ही सुख की प्राप्ति होती है उतनी ही सुख की चाह अधिक बढ़ जाती है। विष्णुपुराण में लिखा है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

अर्थात्—"मनुष्य की अभिलाषा सुखभोग करते ही रहने से न्यूनता को प्राप्त नहीं होती, बल्कि घृताहुति पाकर धधकनेवाली अग्नि के सदृश बढ़ती ही जाती है।" क्योंकि ऐसा कहा हुआ है कि—

भोगेच्छा नोपभोगेन भोगिनां जातु शाम्यति।
लवणेनान्तरालेन तृष्णा प्रत्युत जायते॥

अर्थात्—"भोगियों की भोग-इच्छा कभी भोग करने से पूरी नहीं होती। जैसे खाते समय नमकीन चीजें बीच-बीच में खाते जाने से खाने की चाट बढ़ती जाती है।"

एक विद्वान क्या ही बढ़िया उक्ति कह गये हैं कि "जो मनुष्य असन्तोषी होते हैं उन्हें यदि धन में डुबो दिया जाय तोभी उन्हें पूर्ण तृप्ति नहीं हो सकती; जैसे आकण्ठ जलमग्न होने पर भी कुक्कुर जल को जीभ से चाटता ही रहता है।"

बिना सन्तोष के इस शुद्ध अन्तरात्मा की तुष्टि-पुष्टि कदापि स्वप्न में भी नहीं होती। एक कवि ने क्या ही यथार्थ बात कही है कि जो धन के समुद्र में तैरता है वह अवश्यमेव अश्रु

के समुद्र में डूबता है। क्या लक्ष्मी अत्यन्त प्रसन्न होकर सन्तोष से बढ़कर कोई अमूल्य धन दे सकती है? सन्तोष ही सात्त्विक सुख को देनेवाला है। बिना सन्तोष के मनुष्य के क्षुद्र मस्तिष्क में शान्तिशीलता नहीं आ सकती और बिना शान्तचित्त हुए लौकिक आनन्द एवं सच्चिदानन्द परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट कह दिया है कि 'अशांतस्य कुतः सुखम्?' अनुभवी महात्मा गोसाईंजी ने कहा है कि—

"कोउ बिस्राम कि पाव? तात सहज सन्तोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव? कोटि जतन पचि रचि मरे॥"

इस संसाररूपी अपार सागर में मानव-जीवनरूपी जहाज का कैवर्त सन्तोष ही है और प्रमोद-पोत की पतवार भी वास्तव में सन्तोष ही है। सन्तोष ही के बिना इस जीवात्मा को बारम्बार आवागमन के दुसह दुःख से पीड़ित होना पड़ता है; परन्तु निष्काम होकर तपस्वी लोग मोक्षपद को पाते हैं। यथा—

'तोष मोष का बीज'

सन्तोष-आशुतोष (शिव) के पास काम (मदन एवं कामना) जाते ही भस्म हो जाता है; इसलिए सन्तोष का आश्रय ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि सन्तोष-कोष के जो अध्यक्ष हैं उनके लिए इन्द्र-पद भी तुच्छ है। यथा—'निस्पृहस्य तृणं जगत्।'

पारस के स्पर्श से केवल लोहा सुवर्ण हो जाता है; परन्तु सन्तोषरूपी अनुपम एवं अद्भुत पारस के स्पर्श से सब वस्तुएँ कांचन से भी बहुमूल्य हो जाती हैं। सृष्टि भर में यही एक अद्वितीय कोष है जिसे पाकर मनुष्य सर्वथा अयाची हो जाता है अर्थात् कुछ भी अधिक पाने के लिए हाय-हाय नहीं करता।

भाषा-रामायण में विजय-रथ-वर्णन करते हुए गोसाईंजी ने सन्तोष को कृपाण निरूपण किया है अर्थात् सन्तोषरूपी चन्द्रहास से लोभ-महीपालरूपी प्रबल शत्रु का वध करके सुख-सिंहासनारूढ़ होना ही इस निस्सार संसार में विजय पाना है। थोड़े ही धन से संतोष करनेवाले पुरुषों को अधिकाधिक धन-प्राप्ति होती जाती है। जैसे मनुष्य भोजन के लिए बैठता है तो प्रथम पत्तल आगे पड़ती है। जो लोग पत्तल को (केवल पत्ता जानकर अधीर हो) छोड़कर उठ जाते हैं वे सर्वस्व से हाथ धो बैठते हैं; पर जो सन्तोष के सहारे बैठे ही रह जाते हैं वे अवश्य ही मोदक भी आगे देख लेते हैं। अहा! जब पत्ते पर सन्तोष करके मनुष्य स्वादिष्ट व्यंजनों तथा पक्व मिष्टान्नों का भागी हो जाता है, तब भला एक पैसे पर, एक सेर सत्तू-शाक पर सन्तुष्ट होकर, ईश्वर पर भरोसा किये हुए, सदुद्यम द्वारा यदि अतुल सम्पत्ति को प्राप्त कर लेवे, तो इसमें सन्देह क्या है?

एक विद्वान की सुसम्मति है कि "जो मनुष्य संतोष को अपना परम धन समझता है और अपने दुःख की निन्दा परमेश्वर से अथवा और किसी से नहीं करता और सन्तोष के प्रकाश से तृष्णा-तम का विनाश कर जीवात्मा को प्रकाशित करता है, वही पुरुष वास्तव में उस परमपिता का कृपापात्र बनता है।"

सन्तोष ही सुख का सहवासी है, सन्तोष ही सुख का कारण है, सन्तोष ही ईश

की सत्ता है और सकल सम्पदा तथा सुखों से सन्तोष ही में विशेष महत्ता है। सन्तोष ही के बिना मनुष्य को ईर्ष्या-द्वेष के विकट चक्र में पड़कर नाना कष्ट सहने पड़ते हैं। जिसे सन्तोष से भेंट नहीं, वह दूसरों की सम्पत्ति और उच्च पदवी देख-देखकर अशांत-चित्त हो कुढ़ता रहता है और जो सन्तोषी है वह दूसरों की भलाई चाहता और दूसरों की उन्नति देख-देखकर सदा प्रसन्न रहता है और अपनी दशा सुधारने के लिए चेष्टा करता और मन बढ़ाये रहता है। सन्तोष का यह अर्थ कभी नहीं जानना चाहिए कि हाथ-पाँव तोड़-मोड़कर बैठ रहना और जो भाग्यवश मिले उसीसे तुष्ट हो जाना; क्योंकि यह आलसी, मूर्ख और निरुद्यम पुरुषों का काम है। धर्म द्वारा यथाशक्ति भली-भाँति उद्योग करने से जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी पर सन्तोष करके सुखी रहना और उद्यम के लिए अपना साहस और उत्साह बढ़ाये रखना चाहिए; तथा अधिक के लिए हाय-हाय करना अथवा सिर धुनना उचित नहीं है; क्योंकि जो मेरा अपना होगा वह दूसरों के पास कदापि नहीं जायगा और यदि मेरा नहीं होगा तो दूसरे के पास तो है ही।

एक विद्वद्वर-शिरोमणि का अनूठा वचन ऐसा है कि "मनुष्य के हृदय के भीतर एक शतदल है। वह ईश्वररूपी सूर्य को देखकर विकसित होता है, अन्यथा नहीं; उसमें सन्तोष ही मधुर मकरन्द है जिससे इस जीवात्मारूपी भ्रमर की तुष्टि-पुष्टि होती है। जैसे सब नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती चली जाती हैं उसी तरह सन्तोषी पुरुषों के पास, जो रत्नाकर-सदृश हैं, सकल सद्गुण और ऋद्धि-सिद्धिरूपिणी नदियाँ दौड़कर जाती हैं।"

अल्पधनयुक्त होने पर भी सन्तोषी पुरुष परोपकारादि धर्म्माचरण का अभ्यास रखते हैं; पर लोभी धनिकों से कुछ भी नहीं सपरता, वे केवल भारवाही गर्दभ के समान हैं। सन्तोषरूपी तपस्या को धारण करके मुनिजन निर्जन वन में रहकर भी विशाल अट्टालिका एवं सुखद उद्यानों के भोगविलास से नाक सिकोड़ते हैं; भस्म एवं रुद्राक्ष-तुलसी-माला पर सन्तोष करके कनक-मणिरत्नों को तुच्छ तृणवत् समझते हैं एवं वन्य फल-फूल-कन्दों से तुष्ट होकर नाना स्निग्ध स्वादिष्ट भोगों का निरादर करते हैं। सन्तोषरूपी मुक्तादल को शिरोधार्य कर जंगली हाथी वन्य-जात शुष्क शष्प भाजन करके बलिष्ठ होते हैं। पुनः सन्तोषरूपीमणि को ही धारण कर सर्पगण केवल वायुमात्र ही के आधार पर जीवन अतिवाहित करते हैं। जिधर देखिए उधर सन्तोष ही सुख का संगी है। एक विद्वान् ने कहा है कि "ईश्वर के निकट सन्तोषरूपी मणिदीप प्रज्वलित हो रहा है। उसके द्वार पर पर्दा नहीं है—कहीं कुछ ओट-चोट नहीं है। अपने मुख पर से तृष्णा का घूँघट उठाओ और अपने सामने उसको (ईश्वर को) देख लो। अपने हृदय-सम्पुट में सन्तोषरूपी रत्न को यत्न से रखकर जौहरी बनो तब बेधड़क उस महाराजा के पास पहुँच जाओगे और हृदय खोलकर दिखाने से वह बहुत प्रसन्न होगा और वही उस रत्न का मोल जानता है। यदि तुम्हारा हृदय-सम्पुट सन्तोष-रत्न से शून्य है तो उसके द्वारपालों से धक्का खाओगे, यदि कष्टवश पहुँचोगे भी तो लज्जित और निन्दित होओगे।"

राजा को नीति द्वारा धनोपार्जन करने में और विद्यार्थी को विद्योपार्जन करने में सन्तोषी होकर बैठ जाना यथार्थ नहीं है। विद्यार्थी को उचित है कि सदा नूतन विद्या

को लूटने के लिए लालायित रहे और विद्या को प्राप्त करने में कभी स्वप्न में भी सन्तुष्ट न हो। राजा भी प्रजा-पालन करते हुए सदा धर्म द्वारा राज्यश्री की वृद्धि करे; पर उसी में उद्विग्न रहकर सात्त्विक सुख को गाँठ से न छोड़े। दूरदर्शी कवियों ने कहा है —

इच्छति शती सहस्रं ससहस्रः कोटिमीहते कर्तुं।
कोटियुतोऽपि नृपत्वं नृपोऽपि बत चक्रवर्त्तित्वम्॥
चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरोऽपि सुरराजमीहते कर्त्तुम्।
सुरराजोप्यूर्ध्वगतिं तथापि न निवर्त्तते तृष्णा॥

सवैया

जो दस बीस पचास भई सत होइ हजारन लाख मँगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य पृथीपति होन की चाह जगैगी।
स्वर्ग पताल को राज करौं तृस्ना अधिकी अति आग लगैगी।
'सुन्दर' एक सन्तोष बिना सठ तेरी तो भूख कबौं न भगैगी।

कहते हैं, किसी लोभी मनुष्य ने एक हंस पाला था। वह हंस नित्यप्रति एक अनमोल मोती उत्पन्न करता था। एक दिन उस दुष्ट लोभी ने विचार किया कि इस प्रकार एक-एक करके मोती पाने से हम धीरे-धीरे व्यय कर देंगे और द्रव्यसंचय न हो सकेगा; अच्छा होगा कि इसका वध करके एक ही बार मुक्ताभाण्डार लूट लूँ और शीघ्र ही धनी हो जाऊँ। बस, झट उसने उस हंस का हृदय फाड़ डाला। पर हा! हन्त!! उस असन्तोषी दुष्ट को नित्यप्रति मिलनेवाला एक मोती भी हाथ न लगा और उस कुबेरोपम हंस से भी हाथ धो बैठा। एक कवीश्वर ने कैसा अनुपम भाव दरसाया है—

गन्धाढ्यां नवमल्लिकां मधुकरस्त्यक्त्वा गतो यूथिकां
दैवात्ताञ्च विहाय चम्पकवनं पश्चात्सरोजं गतः।
बद्धस्तत्र निशाकरेण सहसा क्रन्दत्यसौ मूढधीः
सन्तोषेण विना पराभवपदं प्राप्नोति मूढो जनः॥

अर्थात्—एक मन्दबुद्धि भ्रमर सौरभान्वित एवम् नवविकसित चमेली के फूल को छोड़कर जूही पर गया तथापि तृप्त नहीं हुआ; उसे छोड़कर चम्पकारण्य में गया तब भी तृप्त नहीं हुआ; पुनः कमल-वन में गया। वहाँ दैवयोग से चन्द्रोदय के कारण कमल का मुख बन्द हो गया और वह आसन्न विपत्ति को जानकर विलाप करने लगा। सच है, सन्तोष के विना मूर्ख जन गाढ़े संकट में पड़कर दुख पाते हैं!!!

उसी कमलबद्ध भ्रमर पर एक कविवर यों बुद्धि लड़ाते हैं—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा! हन्त! हन्त!!! नलिनीं गज उज्जहार॥

वह भ्रमर अब सोचने लगा—"रात्रि बीत जायगी, सुभग प्रभात आवेगा, सूर्योदय होगा, तदुपरान्त वनज-वन विकसित होगा (तब हम बाहर विहार करेंगे)। वह कमल के

भीतर ही ऐसा विचारता था। तबतक एक हस्ती ने मृणाल का मूलोत्पाटन कर दिया।" हा! उसके सब मनोरथों पर पानी फिर गया। भावार्थ इसका यह है कि जब मनुष्य बालक रहता है तो यही चाहता है कि तारुण्य का सुस्वाद चखें, जब तरुण हुआ तो तरुणी रमणी की इच्छा हुई, जब विवाह हुआ तो पुत्र की इच्छा। पुत्र हुआ तो पुत्रवधू देखने की इच्छा और फिर पुत्र को दुलारने पढ़ाने-लिखाने की इच्छा; तदुपरान्त पौत्र-मुख-चुम्बन करने की अभिलाषा उपजी, तब धन बटोरने का विचार, अर्थात् इसी तरह क्रमशः तृष्णा का सत्वर स्रोत हृदय को झकझोरता रहता है, पर अन्तकाल कुछ सिद्ध नहीं होता, शीश पर काल नाचता रहता है, समय पाकर अपना कवल बना लेता है। इसी विषय पर हमें एक कवि की उक्ति अचानक स्मरण हो आई। यथा—

उच्चैरेष तरुः फलञ्च विपुलं दृष्ट्वैव हृष्टः शुकः
पक्वं शालिवनं विहाय जडधीस्तन्नारिकेलं गतः।
तत्रारुह्य बुभुक्षितेन मनसा यत्नः कृतो भेदने
आशा तस्य न केवलं विगलिता चञ्चुर्गता चूर्णताम्॥

भावार्थ यह है कि "एक शुक किसी फलान्वित उच्च वृक्ष को देखकर सहर्ष पके हुए धान के खेत छोड़कर, उस नारियल के वृक्ष पर गया। वहाँ जाकर फल खाने की इच्छा से फल को ठोर से फोड़ने के लिए प्रयत्न करने लगा; पर हाय! उसकी आशा ही नष्ट नहीं हुई में उसकी चोंच भी चूर-चूर हो गई।" इसी तरह जो पुरुष अपने जीवन को सुखमय व्यतीत करने के योग्य सामग्री पाकर भी कामना-कल्लोल में बह जाता है, वह अवश्यमेव शोक-सागर के अतल गर्भ में डूब जाता है।

भोजराज के शासनकालीन माघ नामक कवि का यथार्थ कथन है कि—

दारिद्र्यानलसंतापः शांतः सन्तोषवारिणा।
याचकाशांविघातान्तर्दाहः केनोपशाम्यति॥

अर्थात्—'दरिद्रता की अग्नि से उत्पन्न हुआ ताप, सन्तोष रूपी जल से शांत हो जाता है। परन्तु याचकों की आशा भङ्ग होने से आन्तरिक दाह किसी भाँति से शीतल नहीं होता है।"

प्रिय पाठकगण! अपने मनोरथ के चंग को (जो आकाश पर चढ़ गया है।) नीचे खींचिए और आशा-तृष्णा की तीव्र आँधी से इस देहद्रुम को बचाइए तथा सन्तोष-रूपी सुधा-धारा से तनु-तरु-मूल का सिंचन कीजिए।

—मासिक 'मनोरंजन' (आरा), भाग १, संख्या ३-४, जनवरी-फरवरी, १९१३ ई०

परोपकार

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः
परोपकारार्थमिदं शरीरम्॥

—(पञ्चतन्त्र)

प्राणपण से बद्धपरिकर होकर यथाशक्ति दूसरों की भलाई करना और साथ-ही-साथ स्वार्थशून्यता को धारण किये रहना ही परोपकार की सरल परिभाषा है। परोपकार ही सब धर्मशास्त्रों का सार, निखिल पुण्यकर्मों में सर्वोत्कृष्ट और लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति एवं आनन्द का बीज है। यदि इस तुच्छातितुच्छ मानव-जन्म को साफल्य प्रदान करनेवाला कोई उपास्यदेव है तो वह परोपकार ही है।

इसी व्रत को धारण कर श्रीकृष्ण भगवान ने गिरि-गोवर्द्धन को नख पर उठा लिया था, द्रोणाचार्य्य-कर्णादि महावीरों ने कुरुक्षेत्र के भयानक रणांगन में अपने प्राण तक त्याग दिये थे। इसी परोपकार का साधन करते-करते जटायु ने सीता को हरकर ले जाते समय लङ्कापति दुर्द्धर्ष रावण के साथ घोर युद्ध करते हुए अपनी जान दे डाली थी। इसी लिए मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र ने राज्य को तिलांजलि दे, वन-वन में अटन कर, प्राणाधिका प्रिया सीता का दुःसह विरह सहकर, रावणादि घोर राक्षसों की अत्याचाराग्नि से धधकती हुई वसुधा को शान्त किया था। पुनः परोपकार-व्रत में ही लीन होकर कामदेव ने अपने शरीर को त्याग दिया था और साथ ही यह अनुपम तथा अनुकरणीय उपदेश भी कह छोड़ा था कि—

परहित लागि तजहिं जे देही
सन्तत सन्त प्रसंसत तेही।

इसी प्रकार आप पृथ्वी के अनन्त इतिहास-पुराणों के पन्ने उलटते हुए चले जाइये—उन्हीं का नाम इतिहास में चमकता हुआ पावेंगे, जिन्होंने अपने स्वार्थ की चिन्ता में यह दुर्लभ नरजन्म न गँवाकर परोपकार में अपना मन लगाया था। अच्छा, यह भी जाने दीजिए, प्राकृतिक उपकारों की ही ओर लक्ष्य कीजिए—परमात्मा के सिरजे हुए इस जगत् भर के पदार्थ अकातर भाव से एवं निःस्वार्थ रूप से निरन्तर हमारी सेवा और रक्षा में दत्तचित्त हैं। इससे क्या प्रत्यक्ष होता है? क्या यह बात स्पष्ट ही नहीं झलकती कि उस विश्व-नियन्ता की यही इच्छा है कि उसकी सृष्टि का प्रत्येक सजीव या निर्जीव पदार्थ परोपकार करे। ऐसा नहीं होता तो पुण्य-सलिला सरिता सुरसरि पर्वत-पति हिमालय के उत्तुंग शिखर पर जन्म लेकर भी क्यों क्षुद्र नदियों से जा मिलती और नाना नगरों में भ्रमण करती, कितने अग्निबोटों और बड़ी-बड़ी नावों को अपनी पीठ पर लाद-लादकर दूर-दूर तक पहुँचाया करती? ये वृक्ष ही क्यों वर्षा, धूप और गर्मी सहते हुए छायाप्रार्थी मनुष्यों को विश्राम देते

और अन्त में उन्हीं के काम के लिए अपना सारा तन कटवा डालते ? क्यों वे दोनों वेला स्वार्थी मानव-कुल की भोज्यसामग्री प्रस्तुत करने के लिए अपनी देह आग में फुँकवाकर कोयला बन जाते ? यह मान्या पृथिवी-माता ही काहे को हल से जोती जाती और अशेष कष्ट सहती हुई भी जीवों को भोजन और मनोरंजन की सामग्रियाँ दिया करती ?

सुधा-वर्षी भगवान चन्द्रदेव की ओर आँख पसार कर देखो। निरन्तर किसके कल्याण के लिए वे अपनी उज्ज्वल किरणों को फैलाकर औषधियों में संजीवनी-शक्ति भरा करते हैं ? क्या उनका यह कार्य एकमात्र परोपकार के लिए नहीं है ? इसी प्रकार सूर्य भगवान, जो अपने सहस्र करों का विस्तार कर अखिल संसार के तम को दूर करते हैं, और, अयाचित भाव से उष्णता का उत्ताप दूर करनेवाले पवनदेव के उपकारों को ध्यान में ले आइये—क्या वे इस निखिल ब्रह्माण्ड को उपकृत कर यही शिक्षा सब सांसारिक जीवों को नहीं दे रहे हैं कि जिस दयासागर परमेश्वर ने हमलोगों की रचना की है उसका एकमात्र उद्देश्य है कि उसकी सृष्टि का प्रत्येक सजीव-निर्जीव पदार्थ एक दूसरे की सहायता करे ?

इसलिए जो पुरुष परोपकार का अवलंबन नहीं करते उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं है कि इन प्राकृतिक लाभों का वे उपभोग करें—यदि वे स्वयं किसी जीव की भलाई में श्रद्धावान और उद्योगशील नहीं हैं। इसलिए जो पुरुष स्वार्थत्यागी होता हुआ परमार्थ-साधन में तत्पर होता है वही परमात्मा के बतलाये हुए मार्ग का सच्चा पथिक है और इसी से उसे ही सत्पुरुष कहा जा सकता है। एक परोपकार-व्रत का व्रती नाना दुर्लभ सद्गुणों का स्वामी शीघ्र ही बन जाता है।

कितने ही 'श्रद्धासंबलरहित' जन कहा करते हैं कि हम तो स्वयं धनहीन हैं, क्या दूसरों की भलाई करेंगे ? लेकिन उन्हें यह जान रखना चाहिए कि केवल धन से परोपकार नहीं होता। विद्वान अपनी विद्या का फल दूसरों को चखा कर और बुद्धिमान अपनी बुद्धि के प्रभाव से दूसरों का उपकार कर सकता है। कितने धनवान हैं जो दीन-दुःखी-दरिद्रों को भोजनाच्छादन द्वारा सहायता पहुँचाते हैं ? हमने तो कितनों को कार्पण्यवश द्वार पर आये हुए भिक्षुक को बूढ़े बानर की-सी डरावनी घुड़की देते हुए अर्द्धचन्द्र दिलवा देते देखा है। ऐसे ही वैशाखनन्दनों के लिए एक दोहा मिल गया—

'रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मरे, जिन्ह मुख निकसत नाहिं ॥'

हम तो परोपकारशून्य मनुष्यों को तृण से भी गया-बीता समझते हैं; क्योंकि मृदुल शस्य भी पशुओं का पेट भरता, कृषकों और गाय चरानेवालों को शय्या का सुख देता, कीट-पतंगों का अपने सहारे पर जीवित रखता और निरवलम्ब डूबते हुए मनुष्यों का सहारा होता है। देखिए, कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

'परोपकारशून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम्।
जीवन्ति पशवो येषां चर्माप्युपकरिष्यति ॥
यस्मिञ् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्राः मित्राणि बान्धवाः ।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति ?'

इसका मतलब यह है कि अनुपकारी पुरुष को धिक्कार है ! उसकी अपेक्षा तो पशुओं के जीने से औरों का अधिक लाभ है। कारण, वे जीवन-भर तो यथासामर्थ्य टहल बजा लाते ही हैं, मरने के बाद भी उनकी हड्डी और चाम से कितनी ही उपयोगी वस्तुएँ बनती हैं। जिसके आश्रय से बहुतेरे जीते-खाते हैं उसी का जीना जीना है, नहीं तो कुत्ते और कौए भी अपना पेट पाल लेते हैं। अपना उदर भरने की धुन में मरते रहना कभी मनुष्यत्व नहीं कहा जा सकता। परोपकारी पुरुष की सम्पत्ति कभी घटती नहीं, बढ़ती ही जाती है, वह दिन-दिन लहलहाती जाती है; उसकी कीर्त्ति का भी दिन-दिन विकास होता जाता है। कृपण और खलगण अल्प समृद्धि पाकर भी अकड़ते फिरते हैं और परोपकारी पुरुष लक्षाधिपति होकर भी अपने औदार्य्य के सामने उसे तृणवत् समझकर अहंकार नहीं रखते, वे समुद्रवत् अशेष कोश पाकर भी ऊँचे नहीं चलते, नव जलधर-सदृश नम्र हो जाते हैं और फलभारनम्र विटप की समानता को प्राप्त होते हैं। जैसे विना याचना किये मेघ सृष्टि-मात्र को जीवन प्रदान करता है, चन्द्रमा जिस प्रकार विना प्रार्थना किये ही निष्काम भाव से कुमुदकुल को विकसित करता है—चकोरों को आनन्द के समुद्र में डुबो देता है—समुद्र को प्रेमानन्द से झकोरता है और भूतमात्र पर आनन्दामृत की सुवृष्टि करता है; उसी प्रकार परोपकारी पुरुष भी सर्वसाधारण का उपकार करते हैं और जीवमात्र को सुख देने का उपाय सोचते-विचारते हैं। उनका हृदय नवनीत के सदृश कोमल होता है। भेद इतना ही है कि वह अपने परिताप से पिघलता है और परोपकारी का कलेजा दूसरे के दुःख से दुखी होता है। परोपकारी पुरुष के पुण्य की थाह नहीं है; उसकी कीर्त्ति चिरस्थायिनी और उसका महत्त्व अवर्णनीय है। देखिए, गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सन्तन मिलि निर्णय कियो, मथि पुरान स्रुतिसार।
तुलसी सन्तन की मता, जुग-जुग पर-उपकार॥
परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई।

कविवर भर्त्तृहरि महाराज भी कहते हैं—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्नतु कङ्कणेन।
विभाति काया करुणापराणां परोपकारैर्नतु चन्दनेन॥

अर्थात्—'कान कुण्डल पहनने से नहीं सोहते, बल्कि शास्त्र-श्रवण करने से; कंकण से कर शोभित नहीं होते, प्रत्युत दान देने से; और करुण हृदयवालों की काया चन्दन से नहीं, वरन् परोपकार से ही शोभती है।'

इसलिए हे प्रिय पाठको ! आप लोग इस सिद्धान्त को स्थिर समझकर इस निरसार शरीर को परोपकार-यज्ञ में बलिदान कीजिए; अपने दुखी परिजन, कुटुम्ब, देश और देश-भाइयों को सुखी बनाने की चेष्टा कीजिए। भारत के अभ्युदय का एकमात्र द्वार मातृभाषा को ही समझ हिन्दीसेवा में आज ही से कमर कस तैयार हो जाइये और अपने काँचरूपी जीवन को हीरा बना डालिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत का उपकार करने की चेष्टा

में, मातृभाषा हिन्दी की समधिक समुन्नति के साधन में, कभी आपको मृदु शय्या छोड़ कठिन परिश्रम करना पड़ेगा, पट्रस भोजन त्यागकर सादी रोटी-दाल पर गुजर करनी होगी, खस, निवारी और गुलाब की टट्टियों से आते हुए शीतल मन्द-सुगन्ध समीरण को छोड़कर कभी-कभी धूप में दौड़ना पड़ेगा, ग्रीष्मकाल की रातों में बैठकर विचार के मैदान में मस्तिष्क को चक्कर खिलाना पड़ेगा, और सदैव यही चिन्ता करनी होगी कि किस प्रकार भारत, भारतीय भाषा और भारतीय भाइयों का उपकार होगा। तभी यह देश उन्नति-शैल के उत्तुङ्ग शिखर पर आसीन होगा और सौभाग्य-सूर्य उदित होगा। इस काम में आपको कितनी ही बार कितने लोगों के आक्षेप-प्रक्षेप और कोप में पड़ना होगा; कितने ही समय तो जिनके हित के लिए आप अपना अमूल्य समय, धन एवं जीवन तक खर्च करने को तैयार हों, वे ही आपको जली-कटी सुनावेंगे और भलाई करते बुराई करेंगे; पर देखिए, इनकी ओर ध्यान देने ही से आपको कर्त्तव्यच्युत होना पड़ेगा; क्योंकि परोपकारी पुरुष को औरों के व्यवहार भूल जाने पड़ते हैं। 'मंद करत जो करै भलाई, उमा सन्त की इहै बड़ाई'—परोपकारी की पूरी पहचान यही है।

तुलसी सन्त सुअम्ब तरु, फुलहिं फलहिं परहेत।
इतते सब पाहन हनैं, उतते वे फल देत॥

—मासिक 'मनोरंजन' (आरा), वर्ष १, संख्या १, नवम्बर १९१२ ई०

●

औदार्य्य

Let there be many windows to your soul
That all the glory of the universe
May beautify it.

—*Poems of Passions.*

औदार्य्य (उदारता) मानव-हृदय का वह सर्वश्रेष्ठ गुण है जो मनुष्यत्व को देवत्व में परिणत कर देता है। विचक्षण पुरुषों ने अनन्त विश्वप्रेम को ही औदार्य्य की संज्ञा से अभिहित किया है, जैसा कि इस जनश्रुत वाक्य से प्रकट है—

'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'

'वसुधैव कुटुम्बकम्' में जो उदात्त भाव है, उसकी आवृत्ति भारतीय साहित्य में सैकड़ों स्थानों में हुई है। आर्य्य-साहित्य में जितने अपूर्व आदर्श मिलते हैं उन सबके चारु चरित्र विश्व-प्रेम के उद्दाम उच्छ्वास से आकण्ठ परिपूर्ण हैं। आप जिस-किसी भारतीय आदर्श को लीजिए—प्राचीन अथवा अर्वाचीन—सबके चरित्र में आद्यन्त चूड़ान्त औदार्य्य का ज्वलन्त उदाहरण मौजूद है। राम, कृष्ण, शिवि, दधीचि, रन्तिदेव, रघु,

भीष्म, युधिष्ठिर, भोजराज आदि—चाहे जिस भारतीय आदर्श को देखिए, वह औदार्य्य का अवतार ही है। गगनाकार निस्सीम हृदयवाले ये देव-ऋषिकल्प महापुरुष ही नहीं, महामहिम भारतीय महिलाएँ भी औदार्य्य की स्वर्ण-प्रतिमाएँ ही थीं। आर्य्य-ललनाललाम सीता, महिलामौलिमणि सावित्री, राजमहिषी कौसल्या, बीरमाता सुमित्रा, कुन्ती, द्रौपदी, धात्री पन्ना आदि के पुण्य-चरित्रों का पाठ कीजिए, आपको फिर स्पष्ट यह बात मालूम हो जायगी कि उनके निष्कलंक चरित्र-चन्द्र में औदार्य्य अमृत बनकर बसा हुआ है।

आप तो जानते हैं कि जिस समय भारतमुखोज्ज्वलकारी महात्मा विवेकानन्द अमेरिका की एक महती सभा में उपस्थित नर-नारी-वृन्द को 'प्यारी बहनो और भाइयो' सम्बोधित कर पुकार उठे, उस समय भारतीय औदार्य्य की महिमा देखकर संसार के स्वदेशाभिमानियों के ललाट में सिकुड़न पड़ गई थी। वे केवल दाँतों अंगुली दबाकर ही नहीं रह गये, प्रत्युत स्वामीजी का लोहा मान गये। मनीषिमण्डली को चकित और मुग्ध करनेवाला वह उदार सम्बोधन क्या था? वही था औदार्य्य का असली सौन्दर्य्य! वही था औदार्य्य का प्रकृत माधुर्य्य! वही था औदार्य्य का अतल गाम्भीर्य्य! वही था भारतीय महत्ता की इयत्ता। वही सम्बोधन आधुनिक संसार का उद्‌बोधन-मन्त्र होने योग्य है। वही सम्बोधन—बहनो और भाइयो—विश्वप्रेम-रत्न का जालीदार सम्पुट है। वही रत्न की ज्योति—भीतर और बाहर—एक-सी, जगमगाती रहती है। उस दिव्य 'मणिदीप' को 'जीह देहरी द्वार' पर रखिए—'तुलसी भीतर बाहरो जो चाहसि उजियार'—हृदय का मोहान्धकार मिट जायगा।—

दलन मोह तम हंस प्रकासू।
बड़े भाग उर आवहिं जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥

औदार्य्य का किञ्चित् संकुचित अर्थ 'दानशीलता' में भी है। किन्तु केवल दानशीलता से ही विश्वप्रेम का भाव-भरण नहीं होता। दानशील 'उदार' अवश्य होता है; पर 'उदार' केवल दानशील ही नहीं होता। दानशील की वदान्यता, सम्भव है, किसी देश-विशेष या किसी खास समाज या जाति की सीमा में परिमित हो; पर उदार का उत्सर्ग तो विश्वकल्याण के निमित्त ही होता है। उसके दया-दाक्षिण्य का द्वार दुनिया भर के लिए खुला रहता है। जगजीवनदाता जलद के लिए ऊसर और उर्वर तथा स्वदेश और विदेश क्या! कहा भी है कि 'ज्योत्स्नों नोऽपसंहरते चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः।'

हाँ, किन्तु दानशीलता औदार्य्य का एक अनिवार्य्य अङ्ग अवश्य है। नीतिकारों का कहना है—

'कियती पञ्चसहस्री कियती लक्षापि कोटिरपि कियती।
औदार्य्योन्नतमनसां रत्नवती वसुमती कियती॥'

जो उदार हैं उनके लिए दानशीलता की पराकाष्ठा पर्य्यन्त पहुँचना बायें हाथ का

खेल है। धन-नाश की चिन्ता तो उनकी छाया भी नहीं छूती। वे तो विश्वहितैषणा की प्रेरणा से सानन्द आत्मोत्सर्ग तक कर डालते हैं। देखिए—

कर्णस्त्वचं शिविर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम्॥

जिसके लिए कुछ भी अदेय नहीं, उसी की दानशीलता चरम सीमा को भी पार कर जाती है। वह अवस्था मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाती है। तभी तो कहा गया है कि मनुष्यों में—

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवति वा न वा॥

जब लाख में कोई एक दाता होता है तब उदार की तो बात ही निराली है। उदार की दानशीलता का द्वार चराचर-मात्र के लिए उन्मुक्त रहता है। परमहंस-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने पम्पासर के वर्णन में लिखा है—

सन्त-हृदय जस निर्मल बारी।
बाँधे घाट मनोहर चारी॥
जहँ तहँ पियहिं बिबिध मृग नीरा।
जिमि उदार गृह जाचक भीरा॥

उक्त चौपाइयों का अर्थ देखने में तो बड़ा सहज है, पर समझने में बड़ा गूढ़ है। पम्पासर बिना भेदभाव के सभी जन्तुओं, पक्षियों, वनस्पतियों, पथिकों, ऋषि-मुनियों और अन्य जीवों की सेवा करता था। उसके तीर के वृक्ष शाखारूपी हाथ हिलाकर दूर-दूर से पथिकों और पक्षियों को बुलाते थे, श्रान्त पथिकों को अपनी शीतल छाया में आश्रय देते थे, अपनी डालियों पर बैठे हुए कलकूजनकारी सुन्दर पक्षियों की मीठी-मीठी बोली से स्वागत करते थे और कलहंसों की ध्वनि तथा भ्रमरों के गुञ्जार से पम्पासर भी उनका आतिथ्य—सत्कार—करता था। जड़ होते हुए भी पम्पासर यह बतलाता था कि उदारतापूर्वक अभ्यागतों का स्वागत करना ही सर्वोत्तम गार्हस्थ्य-धर्म है। पम्पासर की उदारता का चित्र अंकित करके गोस्वामीजी ने भी यही बतलाया है कि औदार्य्य ही ऐश्वर्य की शोभा है। बिना औदार्य्य के ऐश्वर्य—'लवन बिना बहु ब्यञ्जन जैसे'—निष्प्रयोजन है। जड़ प्रकृति अपने प्रत्येक ऐश्वर्य्य को, भेद-भाव-विहीन होकर, विश्वहितैषणा की प्रेरणा से, मुक्तहस्त हो, वितरण करके औदार्य्य की महिमा प्रकट कर रही है और प्राणियों को इस बात की शिक्षा दे रही है कि औदार्य ही ऐश्वर्य्य को स्थायी बनाता है तथा जिस ऐश्वर्य्यशाली में औदार्य्य नहीं है, वह स्वार्थान्ध है। सज्जन-हृदय-रूपी पम्पासर में भी चार घाट बँधे हैं—दया, क्षमा, धैर्य्य और शान्ति। जिस प्रकार पम्पासर का कोई घाट किसी जीव-विशेष के लिए ही नहीं था, वैसे ही उदार सज्जनों का हृदय भी किसी व्यक्ति-विशेष, जाति-विशेष, समाज-विशेष अथवा देश-विशेष के लिए ही अपने गुणों का प्रसाद नहीं वितरण करता; उसके लिए सारी वसुन्धरा अपनी ही जागीर है, समस्त ब्रह्माण्ड के जीवमात्र अपने ही सगे-सम्बन्धी हैं। उसके लिए अपने-पराये का भाव वन्ध्यापुत्र हो जाता है।

ऐसे उदार पुरुष भूमण्डल के अलङ्कार होते हैं। विरला ही भूखण्ड ऐसे उदाराशय सज्जनों से अलंकृत होकर धन्य होता है। भारतवर्ष की पुण्यभूमि ऐसे-ऐसे उदारचेता पुरुष-सत्तमों से सदैव अलंकृत, अतएव धन्य हो चुकी है। भारत में ही 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' का उदार-भाव सबसे पहले जाग्रत् हुआ था। भारत में ही 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' का सिद्धान्त माना जाता है। भारत में ही विश्वसेवा और विश्वप्रेम की भव्य भावना अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलद होती आई है। भारत में ही अहिंसा-भाव और निस्स्वार्थ जगद्धितैषणा की विजय-शङ्खध्वनि से दिग्दिगन्त परिव्याप्त हुआ है। भारत के सिवा औदार्य्य का ऐसा सरस एवं उर्वर विकास-क्षेत्र कहाँ मिलेगा? भारत के सिवा औदार्य्य के नाम पर आत्मोत्सर्ग करनेवाला देश कहाँ मिलेगा? भारत के सिवा सर्वस्व त्यागकर, यन्त्रणाएँ सहकर, भूखों मरकर, औदार्य्य-व्रत पालनेवाला देश क्या भूमण्डल में दूसरा भी कोई है?

आज भारत में असन्तोष की अग्नि धधक रही है। आसमुद्र-हिमालय अशान्ति का राज्य फैला हुआ है। विदेशी-शक्तियों और भावों से एक विकट पवित्र युद्ध ठन गया है, और विदेशी शासन के प्रति घोर घृणा का भाव चारों ओर फैल रहा है। पर, तोभी प्रत्येक विदेशी स्त्री-पुरुष भारतीयों के भ्रातृ-भाव का प्रशस्त परिचय पा रहा है, प्रत्येक विदेशी ललना—भाइयों के बीच में प्यारी भगिनी की तरह—स्वच्छन्द विचरण कर रही है, प्रत्येक विदेशी पुरुष भ्रातृत्व के पवित्र वायुमण्डल में सानन्द विचरण कर रहा है। यदि ऐसा भीषण क्रान्ति-युग किसी दूसरे देश में उत्पन्न हुआ होता तो लोगों के प्राण निश्चय ही सङ्कटापन्न होते। किन्तु भारत की यही अद्वितीय विशेषता है। कृतघ्न को भी आश्रय देना, अपकारी को भी प्यार करना, अहितैषी पर भी दया करना और शत्रु को भी क्षमा प्रदान करना—भारत की भूलोकदुर्लभ विशेषता है। इसी विशेषता ने आज सैकड़ों वर्षों से भारत को 'गजभुक्तकपित्थवत्' बना डाला है; पर इतने पर भी—मर-मिट जाने पर भी—भारत का औदार्यव्रत अखण्ड है और अखण्ड बना रहेगा। अपने-आप भूखों मरकर भी दूसरे को आप्यायित करना, अपने शरीर के मांस और रक्त से भी दूसरे का उपकार करना, अपनी हड्डी तक देकर दूसरे का कल्याण करना और सकल संसार के मङ्गल के लिए अपने सर्वस्व की उपेक्षा करना ही जिस देश की सभ्यता का प्राण है, वह देश—वह धर्मप्राण भारत—वह रन्तिदेव, शिवि, दधीचि, रघु और राम की जन्मभूमि—धन्य है, अनन्य है!

केवल भारत के साहित्य में ही औदार्य्य के आदर्श प्राप्य हैं, सो बात नहीं है। भारत-निवासियों के प्रतिदिन के जीवन पर औदार्य्य का गाढ़ा रङ्ग चढ़ा हुआ है। भारत में गृहस्थ का सर्वोत्तम धर्म है अभ्यागत-स्वागत। गृही के लिए अतिथि ही भगवान के समान पूज्य है। आतिथ्य ही गृहस्थ का शास्त्रोक्त कर्त्तव्य है। तब भला कौन कह सकता है कि आतिथ्य का सविधि सम्पादन किये बिना औदार्य्य की सार्थकता सम्भव है? कौन नहीं जानता कि भारतीयों के लिए नवागन्तुक प्राणाधिक प्रिय है? किसे नहीं मालूम कि अतिथि की आवभगत करने में ही भारतीयों की उदारता की मर्य्यादा है? चाहे वह आगन्तुक शत्रु हो या मित्र, भेदी हो या पथिक, देशी हो या विदेशी, क्रूर हो या कृतघाती—कुछ भी हो, किसी अनिष्ट कामना

से ही आश्रय क्यों न ग्रहण करता हो; पर अतिथि का—नारायण के रूप में आया जानकर—सत्कार करना ही भारतीय गृहस्थ का वेदविहित एवं नीतिकथित तथा शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है और यह सत्य-सन्ध के अमोघ प्रण की तरह अटल सिद्धान्त है। किसी कहनेवाले ने क्या खूब कहा है—

'तुलसी यहि जग आइके, सब सों मिलिए धाय
ना जानें केहि भेष में, नारायन मिलि जाय॥'

इतना ही नहीं, भारत का विश्वबन्धुत्व संसार के असंख्य हृदयों को पवित्र कर चुका है—आज भी पवित्र कर रहा है। कौन कह सकता है कि थियोसोफिकल सुसाइटी का विश्वप्रेम (Universal Brotherhood) वाला सिद्धान्त भारतीय नहीं—विदेशी है? कौन कह सकता है कि, श्री रामकृष्ण मिशन ने इस वैज्ञानिक युग में भी आध्यात्मिकता के अनन्त सङ्गीत से विदेशियों को मुग्ध करके विश्वप्रेम का अमर मंत्र नहीं पढ़ाया? कौन नहीं मानता कि महात्माजी के अहिंसात्मक भावों ने पाश्चात्य जगत् के प्रकाण्ड मस्तिष्कों पर प्राच्य सभ्यता के गौरव का सिक्का जमा दिया है?

जिस प्रकार सत्संग का अभ्यास करने से ज्ञान की अभिवृद्धि होती है, उसी प्रकार प्रेम और सेवा द्वारा क्रमशः औदार्य्य से हृदय अलंकृत हो जाता है।

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता), वर्ष २, अंक ३, चैत्र १९७९ वि०

●

प्रेम और सेवा

'प्रेम और सेवा' से ही हृदय में औदार्य का उदय होता है। अतएव, यह प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि प्रेम और सेवा का सम्मिलित भाव ही विश्वप्रेम है। विश्वप्रेम के क्रमिक विकास पर ध्यान देने से 'प्रेम और सेवा' का वास्तविक तत्त्व समझ में आ जायगा।

एकाएक कोई विश्वप्रेमी नहीं होता। नदी के मूल से आप उसके मुहाने की ओर जाइये। आपको मालूम होगा कि वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गई है, त्यों-त्यों उसका प्रवाह-क्षेत्र प्रशस्त होता गया है, और अन्त में वह अनन्त सागर में मिलकर अनन्त हो गई है। उसी प्रकार—'यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति'—और—'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' आदि के अनुसार मनुष्य भी अपने प्रेमकेन्द्र का विस्तार करते-करते अन्त में उसी छोर को छू लेता है, जहाँ पहुँचकर 'यत्परो नास्ति' आनन्द में निमग्न हो जाने के कारण, वह आगे का पता नहीं पाता। आज तक उस छोर की तलाश में जितनी किश्तियाँ गईं, कभी लौट कर नहीं आईं। इसलिए उसकी महत्ता का इयत्ता कहीं नहीं जा सकती। यही विश्वप्रेम की अखण्ड समाधि है। यही विश्वप्रेम का कैवल्य परमपद है। यही विश्वप्रेम की जीवन्मुक्ति है। यही विश्वप्रेम की आत्म-विस्मृति है।

जैसे समुद्र की ओर जानेवाली नदी कठोरतर पर्वत की शिलाओं, अगम्य मरुस्थलों, बीहड़ जंगलों और जनशून्य प्रान्तरों को चीरती-फाड़ती अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाती है, वैसे ही मनुष्य भी संसार के अभेद्य स्नेह-जालों, अच्छेद्य प्रणय-बन्धनों, अटूट प्रीति-तन्तुओं और अखण्ड प्रेम-शृंखलाओं को तोड़ता-फोड़ता हुआ, अप्रतिहत गति से अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच जाता है। एकबारगी कोई गगनारोही अट्टालिका पर नहीं चढ़ सकता। घनघोर झाड़खण्डों और घाटियों को पार किये बिना कोई शैलशिखर पर आरूढ़ नहीं हो सकता। कठिनाइयों का दमन किये बिना कोई अभीष्ट-सिद्धि नहीं पा सकता। राक्षसों को परास्त किये बिना कोई सुरलोक के सिंहासन पर बैठ नहीं सकता। इन्द्रियों का निग्रह किये बिना मन की निरंकुशता पर कोई विजयी नहीं हो सकता।

लोग कहते हैं कि 'ढाई अच्छर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय'—किन्तु वह कौन-सा ढाई अक्षर का प्रेम है जिसे पढ़कर मनुष्य पण्डित हो सकता है? पण्डित भी कैसा? जरा पण्डित की परिभाषा सुनिए—

'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥'

यही है पण्डित की परिभाषा! तो फिर ऐसा पण्डित बनने के लिए क्या ढाई अक्षर के प्रेम का पाठ भी पढ़ना पड़ेगा? हाँ, जरूर पढ़ना पड़ेगा। अच्छा तो पण्डित की परिभाषा के साथ-ही-साथ उस ढाई अक्षरवाले प्रेम की परिभाषा भी सुन लीजिए। प्रेमी कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा है—

'जाको लहि कछु लहन की, चाह न हिय में होइ।
जयति जगत पावन करन, प्रेम बरन यह दोइ॥'

यह लीजिए। ढाई से दो हो गये! सम्भव है, आगे चलकर केवल 'र' और 'म' ही रह जायँ, जिनके विषय में प्रेममूर्ति तुलसीदास ने लिखा है—

'एक छत्र इक मुकुटमनि, सब बरनन पर जोउ'

फिर यह भी संभव है कि सिद्धार्थ-कुमार की तरह छत्र और मुकुट-मणि फेंककर, किसी तेजस्विनी शोभा के साथ, वह अनन्त की ओर चला जाय! क्योंकि उधर ही उसका अक्षय एवं अजेय दुर्ग है जिसमें निरन्तर शंख-ध्वनि होती रहती है—ओम्!!!

खैर, भारतेन्दु की किरणों की ओर देखिए। वे प्रसादिनी और आह्लादिनी हैं। उन आलोकमय अक्षरों से क्या ध्वनि निकलती है? यही न कि 'जिसे पाकर फिर कुछ पाने की इच्छा न रह जाय—वही है 'प्रेम'?' तो क्या एक ही बच्चे से प्रेम करके माता-पिता सन्तुष्ट हो जाते हैं? क्या एक ही संतान का लाड़-प्यार करके पिता तृप्त हो जाता है? क्या मातृभक्ति में डूबकर लड़का अपने कौतुकी सखाओं को भूल जाता है? क्या पितृभक्त युवक इस संसार में फिर किसी में श्रद्धा रखना नहीं चाहता? क्या गुरुभक्त विद्यार्थी के हृदय-तल की भक्ति-गंगा में गुरुचरणों का घाट नहीं बँध जाता? क्या सर्वगुणागरी नागरी पत्नी को पाकर पति के हृदय से सन्तति-वृद्धि की लालसा तिरोहित हो जाती है? क्या सर्वाङ्गसुन्दर पति पाकर और मधुर दाम्पत्य-प्रेम में तन्मय होकर पत्नी,

आप्तकाम हो, अपने हृदय से वात्सल्य-भाव को दूर कर देती है ? धनकुबेर क्या लोभ से रहित हो जाता है ? सम्राट् क्या चक्रवर्तित्व के बाद और कुछ नहीं चाहता ? साधक क्या सिद्धि पाकर निष्काम हो जाता है ? तपस्वी क्या वरदान पाकर सदा के लिए अयाची हो जाता है ?

यदि 'हाँ', तो वे प्रेम-रत्न के पक्के पारखी हैं और वे वस्तुतः 'प्रेम-कल्पद्रुम' की छाया में पहुँचकर अविरल शान्ति पा चुके हैं ! यदि 'नहीं'—और यह 'नहीं' सर्वथा सम्भव है—तो वे उसी नदी की तरह भूलोक में भटकते फिरनेवाले हैं जो अपने प्राणवल्लभ रत्नाकर की तलाश में रेगिस्तानों और पहाड़ों तथा जंगलों की खाक छानती फिरती है। विना खाक छाने ख्वाहिश पूरी भी नहीं होती। जो अपनी लगन का धुनी नहीं है वह धूनी रमाकर कुछ पा नहीं सकता। जो अपनी प्यारी वस्तु को पाकर निहाल हो जाता है वही सच्चा प्रेमी है, बशर्ते वहीं उसकी इच्छाओं की इतिश्री हो जाय। किन्तु यह मानव-प्रकृति के परे की बात है ; क्योंकि यहाँ तो "दिन प्रति लाभ लोभ अधिकाई" वाली कहावत चरितार्थ है। इसलिए, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सांसारिक प्रेम केवल कामनाओं का पुञ्ज है, वासनाओं की वाटिका है, मनोरथों का हवाई महल है, अभिलाषाओं का ताण्डवनृत्य है और लालसाओं का भीषण हाहाकार है। तभी तो किसी मस्त प्रेमी ने कहा है—

'लगन मैं कासों राम लगाऊँ ? कोई दिलदार न पाऊँ !'

इससे स्पष्ट विदित होता है कि संसार में जितना कुछ प्रेम देख पड़ता है वह अन्ततोगत्वा निराशाजनक है। यदि सांसारिक प्रेम का फल नैराश्यपूर्ण न होता, तो यह संसार स्वर्ग से कुछ अधिक सुन्दर होता। किन्तु आगे चलकर मैं बतलाऊँगा कि यह संसार भी किस प्रकार स्वर्ग बनाया जा सकता है। अस्तु।

यदि यह संसार असली प्रेम की प्राप्ति के मार्ग में घातक बटमार न होता तो 'प्रेम'-जैसे शुद्ध, शुभ, सुन्दर, सरस, सुकोमल, सुरुचिकर और सुख-सौभाग्य-शान्तिमय पदार्थ को कवि-समाज इस तरह दुर्लभ न बतलाता। यथा—

'चढ़िबो प्रेम तुरंग पै, चलिबो पावक माँहिं।
प्रेमपंथ अति कठिन है, सब कोउ निबहत नाहिं ॥
प्रेम मिलन अति कठिन है, जैसे लम्ब खजूर।
चढ़े तो चाखे प्रेमरस, गिरे तो चकनाचूर ॥'

'अति खीन मृनाल के तारहुँ ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई बेह लौं बेह सकी न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है।
कवि 'बोधा' अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि ता पै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है ॥'

गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपनी रामायण के बालकाण्ड के मुखबन्ध में एक पवित्र 'प्रेमपुष्करिणी' की सृष्टि की है। बानगी देखिए—

'सुमति भूमिथल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरखहिं बारि सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सीतलताई॥'

इतना कहकर प्रेम-सरोवर की दुर्गमता के विषय में स्पष्ट कहते हैं—

'अति खल जे बिषयी बक कागा। यहि सर निकट न जाहिं अभागा।
आवत यहिं सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई॥'
जे श्रद्धा सम्बल रहित, नहिं संतन कर साथ॥
तिन कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥
जो करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नींद जुड़ाई होई॥
जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गयउ न मज्जन पाव अभागा॥
सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥
जे नहाइ चह इहि सर भाई। सो सतसंग* करइ मन लाई॥

देखा आपने? गुसाईंजी ने भी प्रेम-सरोवर का मार्ग कितना दुर्गम बतलाया है? जिसमें ऐसे दुर्गम मार्ग को तय करने की शक्ति नहीं है, वह वास्तविक आनन्ददायक प्रेम को कैसे पा सकता है? एक विद्वान ने बहुत सच कहा है कि 'मैं प्रेम को साक्षात् शिव-रूप जानता हूँ; क्योंकि काम उसके सामने होते ही जल जाता है।' फिर एक जगह कहा है कि 'जबतक हम अपने दुश्मन को घर से नहीं निकालते—हमारा दोस्त घर में नहीं आ सकता।' इसी प्रकार गुसाईंजी ने भी कहा है—

'जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहूँ होत नहिं रवि रजनी इक ठाम॥'

इससे यही सिद्ध होता है कि संसार में जो कुछ 'प्रेम' के नाम से प्रसिद्ध है, वह प्रकृत प्रेम कहा जाने योग्य नहीं है। जबतक हृदय से वासना की बू नहीं जाती तबतक, 'प्रेम' प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रेम जब अपने असली रूप में प्रत्यक्ष होता है, तब वह इस तरह आँखों में बस जाता है कि अखिल ब्रह्माण्ड प्रेममय दृष्टिगोचर होने लगता है। उसी अवस्था में पहुँचकर एक पहुँचे हुए महात्मा ने कहा है—

'सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

यही विश्वप्रेम का बीजमंत्र है। यही विश्वप्रेम-संगीत की टेक है। यही विश्वप्रेम की पराकाष्ठा है। इसी की उपलब्धि हो जाने पर 'सेवा' करने में सफलता होती है, अन्यथा

* मैं अपने 'औदार्य'-नामक लेख के अन्त में लिख चुका हूँ कि 'सत्संग से ज्ञान की वृद्धि होती है'। निर्मल ज्ञान प्राप्त होने पर असली और नकली प्रेम की पहचान हो जाती है।—ले०

लोक-सेवा का व्रत नहीं निभता। भगवान् रामचन्द्र ने 'अनन्य सेवक' और 'विश्वप्रेमी' को पर्यायवाचक बतलाया है। यथा—

'सो अनन्य जाकी असि मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवन्त।'

इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है—

"सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।"

फिर गुसाईं जी ने भी कहा है—

'हरगिरि ते गुरु सेवक धरमू'

अतः मैं यहाँ यह बतलाना चाहता हूँ कि यह भीषण कारागार-तुल्य संसार किस प्रकार रमणीय नन्दनकानन बनाया जा सकता है। यदि सच पूछिए तो यह संसार ही उस स्वर्गीय प्रेम का महाविद्यालय है और परिवार उसका प्राथमिक शिक्षास्थल है। इस महाविद्यालय का छात्र रहकर भी जा अनैसर्गिक प्रेम की उपासना करता है वह निश्चय ही सफलकाम होता है। जो प्रेम के प्राथमिक शिक्षास्थल से उत्तीर्ण होकर महाविद्यालय में जाता है, उसके लिए गुसाईं जी ने चेतावनी दी है—

'कर ते कर्म करै विधि नाना। मन राखै जहँ कृपानिधाना॥'

यही सांसारिक प्रेमियों की उन्नति का मूलमन्त्र है। यही उनके जीवन-संग्राम की विजय-पताका है। यही उनका परम-प्रवीण पथप्रदर्शक है।

एक महात्मा का वचन है कि 'जो कोई अपनी आँखों के सामने रहनेवाले सगे भाई को प्यार नहीं करता वह उस अदृश्य अगोचर परमात्मा को कभी प्यार नहीं कर सकता।' इस न्याय से सांसारिक प्रेम आदरणीय और अमूल्य प्रमाणित होता है। अनुभव भी यही कहता है कि ज्ञानगरिमायुक्त सांसारिक प्रेम क्रमशः बढ़ते-बढ़ते विश्वप्रेम में परिणत हो जाता है। अपने बच्चे को प्यार करते-करते जब मनुष्य अपने परिवार के दूसरे बच्चों को भी उतना ही और वैसा ही प्यार करने लगता है, तब उसके प्रे॰ का संकुचित क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। धीरे-धीरे वह अपने पड़ोसियों के बच्चों को, फिर गाँव-भर के बच्चों को, और इसी तरह जहाँ-कहीं जाता है वहाँ के लड़कों को अपने ही लड़के के समान समझने लगता है। कहने का तात्पर्य यह कि परिवार से पड़ोस, पड़ोस से गाँव, गाँव से तहसील (परगना), तहसील से जिला, जिले से प्रान्त, प्रान्त से देश और देश से विदेश तथा संसार भर में प्रेम क्रमशः फैलता है; व्यष्टि से समष्टि की ओर दौड़ता है; एक से अनेक की ओर जाता है। उसे ही विश्वप्रेम का विकास कहते हैं और वही क्रमिक विकास संसार को धीरे-धीरे ऊँचा उठाता जाता है—अन्त में उसकी पूर्णता से संसार साक्षात् स्वर्ग-सा प्रतिभात होने लगता है। अनन्त सांसारिक प्रेम-सोपानों को पार कर मनुष्य प्रेम-साकेत की गगनभेदिनी अट्टालिका पर पहुँच जाता है—जैसे सच्चा पारखी जब मणि की तलाश में निकलता है तब कंकड़ों को हाथ में उठा-उठाकर ध्यानपूर्वक देखते हुए आगे बढ़ता जाता है; पर असली पत्थर पाते ही वह तिरस्कृत कंकड़ों के साथ-साथ अपने को भी भूल जाता है। प्रेम-साकेत के प्रासाद-शिखर पर आरूढ़ होते ही सांसारिक प्रेम

क्षुद्र और तुच्छ मालूम होने लगता है—जैसे ऊँचे धौरहरे पर चढ़ने से नीचे के आदमी भेड़-बकरी-से जान पड़ते हैं। उसी सर्वोच्च प्रेम को, तुलसीदास ने, प्रेम-रूप-धारी सांसारिक प्रलोभन का महाजाल तोड़कर, प्राप्त किया था। उस सर्वोत्कृष्ट प्रेम ने भेदबुद्धि का काला पर्दा हटा दिया। इतने में भीतर से आवाज आई—

'सियाराममय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।'

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता), वर्ष २, अंक ८, भाद्रपद १९८० वि०

●

सेवा

दो अक्षरों के इस शब्द में गजब का जादू भरा हुआ है। किन्तु यह जादू उनपर नहीं चलता जिनके हृदय में, स्वार्थ के ज्वालामुखी का भीषण प्रस्फोट होने से, मानवोचित गुणों की बस्ती बरबाद हो गई है। यह जादू उसी पर कारगर होता है जिसके हृदय में कलकल-निनादिनी करुणा-कल्लोलिनी प्रवाहित होकर भाव-राज्य की भूमि को शस्यश्यामला सुजला-सुफला बनाती है।

'सेवा' का उच्चारणमात्र ही हृदय को शीतल और शुद्ध बना देता है। किन्तु उस हृदय को नहीं, जो मनुष्यत्व के पवित्र आदर्श का ज्ञान नहीं रखता; बल्कि उस हृदय को, जो आत्म-गौरव के भाव से मण्डित और विराट-विश्व-रूप की आराधना के लिए उत्सुक रहता है। जिस समय शान्त, सुशीतल हृदय-तल में 'सेवा'-रूपिणी 'वीणा' का मधुर झंकार गूँज उठता है और श्वास-वायु के साथ वदन-विवर से बहिर्गत होता है, उस समय इस काया-कानन-कुञ्ज में विश्राम करनेवाली इन्द्रिय-मृगियाँ मुग्ध होकर अपना अस्तित्व भूल जाती हैं।

लोग कहते हैं, 'सेवा' दो प्रकार की होती है—एक वह जो अर्थलाभ के लोभ अथवा प्रत्याशा से की जाती है और दूसरी वह जो बिना किसी तरह की स्वार्थसिद्धि की प्रेरणा से ही की जाती है। पहली तरह की सेवा का नाम नौकरी-चाकरी, ताबेदारी या गुलामी है और दूसरी तरह की सेवा का नाम है लोकोपकार, देशभक्ति अथवा विश्वसेवा। चाहे जो हो, 'सेवा' शब्द की पवित्रता और उसके उदात्त भाव पर जब सौम्य सहृदयता विचार करती है तब अनायास यही जँचता है कि 'नौकरी-चाकरी' और 'ताबेदारी' तथा 'गुलामी' —जैसे शब्दों को 'सेवा' का पर्यायवाची कहना 'सब धान बाईस पसेरी' करना और 'हीरा' तथा 'सिल' को एक ही पत्थर करार देना है। जमीन को आसमान से क्या निस्बत?

हाँ, जिस सेवा के उपलक्ष में किसी तरह का नियमित पारिश्रमिक (निश्चित वेतन) नहीं लिया जाता अथवा जिसकी कोई अवधि निश्चित या किसी तरह की वक्त की पाबन्दी नहीं रहती, बल्कि किसी प्रकार के सम्मानपुरःसर-प्रदत्त पुरस्कार की कामना रहती है, वह

सेवा निकृष्ट होने पर भी 'चाकरी' या 'गुलामी' के नाम से नहीं पुकारी जा सकती। किन्तु, यदि कहना चाह तो, उसे तामस-सेवा कह सकते हैं। राजस सेवा वह है जो केवल निष्कलंक यश-मात्र प्राप्त करने की लालसा से की जाती है। और, सात्त्विक सेवा तो वह है जिसके मूल में यश, पुण्य या मोक्ष की अभीष्ट-सिद्धि की गंध तक न हो, हो केवल निष्काम कर्तव्य-पालन का अविचल भाव। इसी तरह की सेवा करने का जिसे सौभाग्य प्राप्त होता है वह जीवन्मुक्त हो जाता है, अपना अस्तित्व भूल जाता है— उसे दूसरों के अस्तित्व में अभिन्न भाव से मिश्रित कर देता है—उसे दूसरों के लिए उत्सर्ग कर देता है, मिटा देता है। अगर कहें तो ऐसे ही सेवक को आदर्श तपस्वी कह सकते हैं।

जो सेवा का प्रतिदान नहीं दे सकता वही 'सेवा' से वास्तविक सुखी होता है। वही सेवा का पात्र भी है। उसी की अन्तरात्मा रोम-रोम से सेवक को असीसती है। वही सेवक को कृतकृत्य करता है। किन्तु जो सेवा का प्रतिफल देने में समर्थ है वह सेवा का मूल्य अथवा महत्त्व नहीं जानता। वह क्षणिक आनन्द के सिवा स्थायी तृप्ति नहीं पा सकता, दूसरों की निःस्वार्थ सेवा करने का शुद्ध भाव उसके हृदय को पवित्र नहीं कर सकता।

जो सात्त्विक सेवा करता है वही विश्वप्रेमी कहलाता है। उसके लिए ऊँच और नीच तथा स्वदेश और विदेश बराबर हो जाते हैं। वह समस्त भेदभाव भूलकर यथाशक्ति प्राणि-मात्र की सेवा करता है। जिसे जितनी सेवा की आवश्यकता होती है, वह उसको उतनी ही सेवा पहुँचाने का प्रयत्न करता है। राजा से रङ्क और सिंह से चींटी तक, अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार, उसकी सेवा से लाभ उठाते हैं। राजा या प्रजा से उसको कोई प्रयोजन नहीं। जिस-किसी को सच्ची सेवा की आवश्यकता होती है, उसी के लिए उसकी सेवा सुलभ रहती है।

सच्ची सेवा की वास्तविक आवश्यकता उसे ही होती है जो सेवा का प्रतिदान देने में असमर्थ है। जो सेवा को खरीदना चाहता है उसे स्वप्न में भी सच्ची सेवा नहीं मिलती। विश्व का ऐश्वर्य भी सात्त्विक सेवा को खरीद नहीं सकता। वह अमूल्य है—किन्तु प्राणिमात्र के लिए वैसे ही सुलभ है जैसे सूरज-चाँद की रोशनी, गङ्गा की निर्मल धारा तथा वृक्ष की शीतल छाया। जिस प्रकार प्रकृतिदेवी के इन ऐश्वर्यों से, अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार, सभी श्रेणी के प्राणी लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार सात्त्विक सेवा से भी। माघ-पूस का घाम जितना गरीबों को अच्छा लगता है, उतना अमीरों को नहीं। जेठ की दुपहरी में पेड़ की छाया जितना गरीबों को सुख देती है, उतना धनवानों को नहीं। चाँदनी रात, गरीबों के लिए, दीपक की आवश्यकता दूर करके, जितनी सुखदायिनी बनती है, अमीरों के लिए उतनी सुखदायिनी नहीं होती—विलासवासनावर्द्धिनी भले ही हो। गङ्गा पापियों को जिस तरह गले लगाती है, गरीबों की जैसे प्यास बुझाती है, वैसे बर्फ और शरबत पीनेवाले अमीरों की नहीं। जिसे आवश्यकता होती है—अभाव होता है—वही सच्ची सेवा का मूल्य जानता है। प्राणियों की आवश्यकताएँ दूर करने में जो जितना ही समर्थ है, वह उतना ही श्रेष्ठ-सेवा-धर्म-परायण है। जिसकी आवश्यकता मूल्य दे सकती

है, उसकी आवश्यकता का नाम अभाव नहीं है। असली अभाव वह है जो अपनी पूर्ति के लिए कुछ भी न दे सके। ऐसे ही अभावों की पूर्ति सत्सेवा-परायणों द्वारा होती है।

भगवान श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा है—

'दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥'

अतः जिसे अन्न का अभाव हो उसे अन्न देना, जिसे वस्त्र का अभाव हो उसे वस्त्र देना, जिसे जल का अभाव हो उसे जल पिलाना, जिसे ज्ञान का अभाव हो उसे ज्ञान देना, जिसे द्रव्य या औषधि या शक्ति या किसी तरह की सुख-शान्ति-विधायिनी सामग्री की आवश्यकता हो उसे उन आवश्यकताओं से मुक्त करना ही सत्सेवा का सदुद्देश्य है। ऐसे ही सत्सेवापरायणों के लिए कवि ने कहा है—

'आर्त्तत्राण-परायण में नारायण में क्या अन्तर है?'

'रहीम' ने भी कहा है—

'दीन सबनि को लखत हैं, दीनहिं लखै न कोय।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होय।'

सच पूछिए तो अभाव-पीड़ित प्राणियों की पूजा ही नारायण की सच्ची पूजा है। जो लोग एक देवमूर्ति को पञ्चगव्य से स्नान कराते हैं, विविध व्यञ्जन और सुमिष्ट पक्वान्न के भोग लगाते हैं, वे नारायण को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। जो विश्वब्रह्माण्ड का अधिनायक और परिपालक है, जो चराचरमात्र का जीवनदाता और प्राणियों का अन्नदाता है, वह तो केवल श्रद्धा-भक्ति का भूखा है, उसे छप्पन प्रकार के भोग नहीं चाहिए, उसे चमकीले-भड़कीले वस्त्रों की आवश्यकता नहीं, उसे हीरा-जवाहिरों की कमी नहीं, उसे सङ्गमर्मर के महल में रहना अभीष्ट नहीं। उसके तो करोड़ों कुबेर किङ्कर हैं। वह तो केवल प्रेम के एक फूल से ही प्रसन्न होता है। वह एक बूँद प्रेमाश्रु से ही तृप्त हो जाता है। वह सङ्गमर्मर के मन्दिर में नहीं—विश्वास के मन्दिर में रहता है; रत्नजटित सिंहासन पर नहीं—प्रेम के सिंहासन पर विराजता है, घृत-कर्पूर की आरती नहीं—श्रद्धाभक्ति की आरती से परितुष्ट होता है।

किन्तु उस जगदाधार परमात्मा के प्रति 'सचाई के साथ' प्रेम और विश्वास तथा श्रद्धा-भक्ति प्रकट करने का केवल एक ही मार्ग है—निष्काम लोक-सेवा। लोक-सेवा से मतलब दुखियों की सेवा से है। पीड़ित प्राणियों के सिवा पवित्र सेवा का अधिकारी दूसरा नहीं। असहायों और गरीबों की सेवा ही वास्तविक सात्त्विक सेवा है। समर्थों और समृद्धों की सेवा का नाम दासत्व है—सेवा नहीं। असहाय और दीन-जन ही ईश्वर के भरोसे पर जीते हैं, ईश्वर की याद करते हैं और ईश्वर का गुणगान गाते हैं, क्योंकि यह स्वाभाविक है—

'दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होय ॥'

जिनके हृदय सांसारिक ऐश्वर्य की लहरों में डूबे हुए हैं उनके मन में कभी ईश्वर का वैसा ध्यान नहीं बँधता जैसा एक अनाथ दरिद्र के। सावन-भादो की उमड़ी हुई नदी के

जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं देख पड़ता। किन्तु शरत् की कृश-कल्लोलिनी के दर्पणोज्ज्वल जल में वह प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। इसीलिए दीन और अनाथ की अश्रु धारा में ईश्वर का जैसा दिव्य रूप प्रतिबिम्बित होता है वैसा और कहीं नहीं।

जो लोग विविध भाँति के पदार्थों का भोग लगाकर भगवान को प्रसन्न करना चाहते हैं वे भगवान को भुक्खड़ समझते हैं। जबकि भगवान के भरोसे रहनेवाले लाखों गरीब, भूखों मर रहे हैं, तब क्या भगवान मौज से चकाचक माल चाभ सकते हैं? जबकि भगवान की दया की आशा लगाए रखनेवाले लाखों गरीब बिना ओढ़ने-बिछौने के जाड़े की रात में ठिठुर रहे हैं, तब क्या भगवान कभी मखमली सेज पर शयन कर सकते हैं? जबकि टूटी-फूटी फूस की राम-मँड़ैया में शीत और वर्षा के असह्य कष्टों को राम-राम कहते सह लेनेवाले गरीब किसी तरह दिन काट रहे हैं, तब क्या दयासागर दीनबन्धु भगवान सङ्गमर्मर के मन्दिर में रत्नजटित सिंहासन पर आराम से बैठ सकते हैं? हरगिज नहीं। उन्हें फिर भगवान कहेगा कौन?

भगवान जिसका नाम है वह आडम्बर से प्रसन्न नहीं होता। वह तो सिर्फ सरलता और भावुकता देखता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र को शबरी के जूठे बेर और लीलाललाम भगवान श्रीकृष्णचन्द्र को सुदामा के तण्डुल जितने प्यारे और स्वादिष्ट लगे थे, क्या उतने रुचिकर भोजन उन्हें कहीं और भी मिले? भगवान रामचन्द्र जितनी ललक के साथ निषादराज से मिले, उतनी उत्कण्ठा से कभी किसी राजा के साथ भी नहीं मिले। भगवान कृष्णचन्द्र ने कौरवों का राजसी भोज छोड़कर बेचारे विदुर के घर बासी अलोना साग बड़ी रुचि के साथ खाया था। यदि दरिद्रों से उन्हें प्रेम न होता, तो उन्हें दिव्य अवतार कहता ही कौन?

दरिद्रों को गले लगाना और दरिद्रों को ही सन्तुष्ट करना ईश्वर की प्रसन्नता का सबसे बड़ा साधन है। जो लँगड़े, लूले, अन्धे, अपाहिज, कोढ़ी, कङ्काल और अनाथ हैं, उन्हीं के दुख से दुखी और उन्हीं के सुख से सुखी होनेवाले मनुष्य वास्तविक ईश्वरभक्त हैं। जो मैले-कुचैले चिथड़े लपेटे हुए क्षुधा-पीड़ित कंगाल को देखकर घृणा करते हैं, जो अछूत और अपूत समझकर बेचारे गरीब से अलग रहते हैं, वे चारों धाम की यात्रा करके भी महापापी हैं और लक्ष लक्ष मंत्रों को जप करके भी घोर अघी हैं। जो बरसाती नदी की तरह उमड़ हुई अनाथों की अश्रुधारा में प्रवाहित होते रहते हैं, जो असमर्थों और निस्सहायों के छलछलाते हुए आँसू पोंछने के लिए अपने हृदय का स्नेहाञ्चल आगे बढ़ाते हैं, जो पीड़ितों और दीनों की कातर दृष्टि पर करुणामृत की वृष्टि करते हैं, वही परमपिता के सच्चे पुत्र और परमात्मा के अनन्य उपासक हैं। वही मानवजाति की आदर्श-सभ्यता की सबसे अच्छी उपज हैं।

उत्तप्त ग्रीष्म का मध्याह्न है। प्रचण्ड धूप से पृथ्वी गरम तवे की तरह तप रही है। एक भूखा-प्यासा किसान सिर पर बोझ लेकर दौड़ा चला आता है। उसका शरीर पसीने-पसीने हो रहा है। एक सघन वृक्ष की छाया में पहुँचने पर उसे एक ऐसे सहायक की आवश्यकता पड़ जाती है जो उसका बोझ उतार दे। उस समय, यदि हम उस आतप-क्लान्त

मनुष्य की आवश्यकता पूरी कर सके—हमारी सेवा उसे घड़ी भर विश्राम करने योग्य बना सकी—पास ही के जलाशय से जल लाकर हम उसके शुष्क कण्ठ को सींच सके—मीठी-मीठी बातों से उसकी श्रान्ति दूर करके शान्ति प्रदान कर सके—तो फिर हमारे लिए और कौन-सा तीर्थ-व्रत बाकी रहा ?

एक बूढ़ी बेकस बेवा औरत किसी तरह अड़ोस-पड़ोस के दो-चार घरों में घूमकर टुकड़े माँग लाती है। फटे चिथड़े में सैकड़ों गिरह लगाकर अपनी लज्जा ढंकती है। अपने स्वर्गीय पति और पुत्रादि की याद करके अपने वर्तमान पर अतीत स्मृति का असह्य भार लादती है। जब सामने कोई मिल जाता है तब जस्ते का फूटा हुआ कटोरा उसके आगे बढ़ाकर दाँत दिखाती हुई कातर दृष्टि से दया की भीख माँगती है। यदि किसी दिन हमें उसकी ऐसी सेवा या सहायता करने का सुअवसर मिल जाय कि वह गद्गद कण्ठ से, रोम रोम से, असीसने लगे तो यह मालूम हो जायगा कि जो वस्तु प्रभुवर के पदपद्मों में सादर सविनय समर्पित की गई थी, उसकी पहुँच तार द्वारा प्राप्त हो गई।

एक असहाय रोगी फटी चटाई पर व्यथा से छटपटा रहा है। उसके छोटे-छोटे बच्चे भूख से व्याकुल हैं। उसके घर में अन्न का एक दाना भी नहीं। दवा के लिए पैसे नहीं। चलने की शक्ति नहीं। कोई अस्पताल से भी दवा लानेवाला नहीं। पानी पीने और पङ्खा झलने का काम आप ही कर लेता है। जब किसी हमदर्द का हाथ उसके सिर पर पड़ता है तो करुणा-कातर दृष्टि से ऊपर की ओर देखकर लम्बी साँस खींचता है। उसकी सेवा-शुश्रूषा में यदि हम कृतकार्य हुए, तो क्या यह चरितार्थ नहीं हुआ ?

'जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काचे नाचे वृथा, साँचे राँचे राम॥'

वास्तव में, जहाँ तृषित की तृष्णा और क्षुधित की उदर-ज्वाला शान्त होती है, जहाँ अनाथ सनाथ और दरिद्र तृप्त होता है, जहाँ पीड़ित आश्रय और असहाय अवलम्ब पाता है, जहाँ दलित आलिङ्गित होता और पतित उद्धार पाता है, वहीं—केवल वहीं—तीर्थराज है, यज्ञशाला है, पुण्यक्षेत्र है, स्वर्गभूमि है। विपद्ग्रस्त, भयत्रस्त जहाँ शरण पाता है, शरणागतवत्सल भगवान वहीं रहते हैं। जहाँ असहाय के आँसू दया के दरिया में मिलकर शान्ति-सागर की ओर प्रवाहित होते हैं, दयासागर भगवान वहीं रहते हैं। जहाँ अछूतों का गले लगानेवाले उदार-चरित नर-देव स्नेह की नर्म्मदा बहाते हैं, पतितपावन परमेश्वर का वहीं परमधाम है।

इसीलिए, संसार में सेवाधर्म—सेवावृत्ति नहीं—सर्वश्रेष्ठ धर्म है। जो बाढ़ और दुर्भिक्ष में पीड़ितों के पास पहुँचकर श्रद्धा, उत्साह और स्वेच्छा से उनकी सत्सेवा में प्रवृत्त होता है, उस एक ही धन्यजन्मा स्वयंसेवक पर परदे की आड़ में घण्टा हिलाकर राग-भोग में तुलसी दल छोड़नेवाले कोटि-कोटि मनुष्य न्योछावर कर देने योग्य हैं। अविद्या और दरिद्रता के दारुण दुःख से व्यथित होकर शान्त नभोमण्डल को हाहाकारमय बनानेवाले किसानों को अपनी दयार्द्र आँखों से सुखी देखने के लिए जो अपनी हस्ती तक मिटा देने को तैयार है उसके पवित्र पद-प्रान्त पर कोटि-कोटि मठाधीश और धर्माचार्य उत्सर्ग कर

देने योग्य हैं। दलित प्राणियों के त्राण के लिए अपने प्राणों को तुच्छ समझनेवाले ऐसे ही निरीह सेवकों की—परमात्मा के प्यारे सपूतों की—भूमण्डल के अलङ्कारों की—इस समय भारतवर्ष में परम आवश्यकता है। ईश्वर करें, ऐसे नौनिहालों से भारत-माता निहाल होती रहे। एवमस्तु।

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता), वर्ष २, अंक १२, पौष १९८० वि०

•

सत्सङ्गति

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये शीतला साधुसङ्गतिः॥

संसार में सत्सङ्गति की बड़ी महिमा है। सत्सङ्गति से ही संसार में ऐसे-ऐसे महापुरुष उत्पन्न हुए हैं, जिनके विषय में पहले कभी कोई उच्च धारणा या कल्पना भी नहीं कर सकता था। पहले स्वामी विवेकानन्द को ही लीजिए। वे पहले घोर नास्तिक और तार्किक थे। किन्तु परमहंस श्री रामकृष्ण के सत्संग से उनके हृदय में ईश्वर-प्रेम की ऐसी अखण्ड ज्योति जगमगा उठी कि उनके हृदय का मोहान्धकार आनन्-फानन् दूर हो गया। सत्संग का केवल यही भाव नहीं है कि सन्तों के पास रहकर उनसे ज्ञान सीखा जाय; सन्त-महात्माओं के बनाये हुए ग्रन्थों के पढ़ने और उनके शुभ विचारों तथा सिद्धान्तों के मनन करते रहने से भी सत्सङ्गति का फल प्राप्त होता है। आज स्वामी विवेकानन्द इस धराधाम पर नहीं हैं; पर उनके विचार आज भी संसार के असंख्य मनुष्यों के हृदय में जागृति का संदेश और स्वर्गीय उपदेश भर रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण पढ़कर आज तक कोटि-कोटि मनुष्य भवसागर से उद्धार पा चुके; पर क्या किसी ने गुसाईंजी का सशरीर सहवास प्राप्त किया था? नहीं केवल उनके अक्षय यशःशरीर के सहवास—रामायाण-पाठ—से ही न जाने कितने जीवों के दोनों लोक सुधर गये। महात्मा गांधी प्रत्येक भारतवासी के पास तक नहीं पहुँच पाते; पर उनके आदेशों और उपदेशों से न जाने कितनी आत्माएँ शुद्ध हो गईं। संसार के जिन बड़े-बड़े लोगों ने महात्माजी को जगद्वरेण्य महापुरुष स्वीकार किया है, उनमें महात्माजी के विचारों और सिद्धान्तों से लाभान्वित होनेवाले तो सभी हैं; पर कितने ऐसे हैं जिन्होंने महात्माजी का साक्षात्कार या सहवास प्राप्त किया है? तपस्वी अरविन्द का सहवास तो किसी के लिए सुलभ नहीं है; पर उनके विचारों के सत्सङ्ग से न जाने कितनों के हृदय पवित्र होते रहते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र की अनूठी कल्पनाओं के कलकल प्रवाह में संसार की असंख्य आत्माएँ अवगाहन करती हैं, उनकी गीतांजलि के पारिजात-पुष्प का सत्संग प्राप्त कर भाव जगत् के करोड़ों मधुप-प्राणी तृप्त होते हैं; पर ऐसों की संख्या उँगलियों पर गिनी जाने योग्य है, जिन्होंने शान्ति-निकेतन के श्रद्धा-कुञ्ज में उस कमनीय कविता-मूर्त्ति के साथ बैठ-

कर कुछ दिन भी सत्संग किया हो। तात्पर्य यह कि संत-महात्माओं की सेवा में अहर्निश उपस्थित रहकर, उनके सत्संग से जितना लाभ उठाया जा सकता है, उससे कहीं अधिक लाभ उनके विचारों के अनुशीलन और सिद्धान्तों के परिपालन से हो सकता है। महात्मा गांधी के दर्शन और चरण-स्पर्श करनेवाले लाखों लोग उतने लाभान्वित नहीं हुए, जितने सिर्फ इने-गिने कुछ ही लोग उनके आदर्शों का पालन करके हुए। किसी संत महात्मा के संग से हम तबतक कुछ लाभ नहीं उठा सकते, जबतक हम उनके विचारों को हृदयङ्गम करके उनके अनुसार आचरण करने न लग जायँ। साधु पुरुषों की सेवा में निरन्तर उपस्थित रहते हुए भी यदि हम अवसर पाते ही लुक-छिपकर अपनी दुर्वासनाओं की उत्तेजना शान्त करने में प्रवृत्त हो जायँ, तो वस्तुतः साधु-सङ्गति निर्जल मेघमाला की तरह निष्फल है।

मनुष्य स्वभावतः मिलनसार होता है। वह सङ्गी-साथी के विना रह नहीं सकता। प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी के सङ्ग का अभिलाषी अवश्य होता है। एकान्त-प्रिय मनुष्य इस संसार में विरल हैं। योगी, त्यागी या संन्यासी केवल अपने ध्येय के संग रमण करते हैं। उन्हें और किसी का साथ पसन्द नहीं। केवल ब्रह्म उनका चिरसंगी है। किन्तु सभी मनुष्य ऐसे नहीं हो सकते। सर्वसाधारण के लिए ब्रह्म को या किसी एक ध्येय को अपना चिर-सहचर बनाना असम्भव है। साधारण जन तो अपने पास-पड़ोस और मेल-जोल के मनुष्यों से ही हिल-मिलकर सहवास-सुख प्राप्त करते हैं। उसी सहवास-सुख की प्राप्ति में विवेक-बुद्धि भी रहनी चाहिए। विवेक-बुद्धि के अभाव से मनुष्य कुसंगति में पड़कर भ्रष्ट हो जाता है। कुसंग के कारण कितने बड़े-बड़े घराने खाक में मिल गये हैं। कुसंग से मनुष्य अनेक दोषों की खान बन जाता है और सुसंग से मनुष्य के हृदय में अनेक गुणों का विकास होने लगता है। सत्संग के प्रभाव से नारकी जीव भी सदाचारी और सहृदय हो जाते हैं; और कुसंगत के फन्दे में फँसकर बड़े-बड़े सच्चरित्र भी पथ-भ्रष्ट होकर अपने ही हाथों दोनों लोक बिगाड़ डालते हैं। अपनी वास्तविक भलाई चाहनेवाले मनुष्य के लिए एकान्तवास उस संगति से कहीं अच्छा है, जिसकी बदौलत वह मनुष्यत्व की श्रेणी से नीचे खिसकता चला जाता है। कहीं अकेले में चुपचाप बैठकर सद्ग्रन्थ पाठ, भगवद्-भजन अथवा हरि-कीर्तन करना ही अच्छा है; पर सत्संग के अभाव में, केवल मिलनसारी की खुजली मिटाने के लिए, कुसंग के जाल में फँसना अच्छा नहीं। हमारे देश के असंख्य होनहार नवयुवक कुसंग में पड़कर अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर देते हैं। वे वस्तुतः विवेक-बुद्धि-विहीन नहीं होते; पर कुसंग से उनकी दुष्प्रवृत्ति इतनी कठोर हो जाती है कि उनकी कोमल प्रकृति उस कर्कशा प्रवृत्ति पर विजय नहीं पा सकती। स्कूलों और कालेजों के मृदुल-मति बालक छात्र, जो देश के भावी आशा-कुसुम हैं, कुसंग के कड़वे फल चख रहे हैं, और तारीफ यह कि उनके माता-पिता कुसंग के कारण उनके हृदय में पनपनेवाली बुराइयों के नतीजे आँख पसारे देख रहे हैं; फिर भी कोई चारा नहीं। स्कूलों और कालेजों के सभी लड़के दुष्ट नहीं होते, अधिकांश सुशील भी होते हैं। और दो-चार-दस दुष्ट समस्त सुशील-समुदाय को विचलित भी नहीं कर सकते। वास्तव में लड़के खराब हो रहे हैं भ्रष्ट साहित्य के पाठ और दूषित शिक्षा-प्रणाली से। एक दुष्ट मनुष्य की संगति

से जितनी क्षति हो सकती है, उससे कहीं अधिक हानि एक गन्दी किताब के पढ़ने से होती है। हमारे देश में बहुत कम ऐसे बालक या नवयुवक हैं, जिनके हाथों में तुलसी, कबीर, रामतीर्थ, विवेकानन्द, समर्थराम, रामकृष्ण, गुरुगोविन्द, तिलक, दयानन्द, गांधी या अरविन्द शोभा पाते हों। अधिकांश ऐसे ही हैं, जो नितान्त उद्देश्य-उपदेश-शून्य उपन्यासों के संग में ही दिन बिताते हैं। यहाँतक कि उनके पाठ्य ग्रन्थ भी उनकी कुप्रवृत्तियों के भड़काने में काफी सहायक होते हैं। परिणाम यह होता है कि प्राप्तवयस्क अथवा उच्च शिक्षा-प्राप्त होने पर भी वे कुवासनाओं के शिकार बने ही रह जाते हैं। अतएव शिक्षा का लाभ तो हवा हो जाता है; पर उनकी जिन्दगी की ठूँठी डाल में एक जहरीला फल लटकता रहता है। ऐसी भीषण परिस्थिति में अब आवश्यकता इस बात की है कि देश के बालक और नवयुवक ऐसे आदर्श ग्रन्थों के सत्संग में अपनी चित्तवृत्ति नियुक्त करें, जिनसे उनका वस्तुतः कल्याण होना सम्भव है। संसार में सद्ग्रन्थ से श्रेष्ठ कोई संगी नहीं। सद्ग्रन्थों के सत्संग से मनुष्य सब कुछ पा सकता है। सद्ग्रन्थ-सत्संग ही कामधेनु है कल्पद्रुम है, चिन्ता मणि है। संसार में यदि कोई मनुष्य अपना जीवन उन्नत और आदर्श तथा धर्मनिष्ठ और यशस्वी बनाना चाहे तो उसे सद्ग्रन्थों से सदैव संसर्ग रखना चाहिए। एक मनुष्य एक ही स्थान के एक महात्मा के पास बैठकर सत्संग या हरि-चर्चा कर सकता है; परन्तु सद्ग्रन्थ-सत्संगी तो एक ही स्थान में बैठकर संसार-भर के महात्माओं के हृदय टटोल लेता है।

किन्तु इतना सब-कुछ होने पर भी सत्संग बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है, चाहे वह किसी सन्त का हो या किसी ग्रंथ का। सन्तों से वसुन्धरा की गोद खाली नहीं है और सरस्वती के भण्डार में ग्रंथों का भी बाहुल्य है; पर अभागे के लिए दोनों ही दुर्लभ हैं। पुराकृत पुण्य के प्रताप से जब ईश्वर की असीम कृपा होती है, तब सत्संग सुलभ होता है। फिर उसके सुलभ हो जाने पर कुछ भी दुर्लभ नहीं रहने पाता। एक कवि ने सच कहा है—

'सुकृत-प्रसङ्ग सों सुसङ्ग जब पावे जीव, अपर विषय को रंग वाके मन भावे ना।
जितने उमंग हैं हिये के सब भङ्ग होत, राग द्वेष मद की तरङ्ग उठै पावै ना।
कर धनु सर कटि सोहत निखङ्ग जाके, धरे नित ध्यान तेहि नेकु बिसरावै ना।
ऐसे हरि आस्रित के सङ्ग रम्भा स्वर्गहू की, यदि रचै रङ्ग पै अनङ्ग अङ्ग आवै ना॥'

महाकवि तुलसीदास ने अपनी रामायण में लिखा है—

'सठ सुधरहिं सतसङ्गति पाई, पारस परसि कुधातु सुहाई।'

किन्तु एक कवि ने पारस से सन्तों की तुलना करना अच्छा नहीं समझा; क्योंकि उसकी समझ में पारस से सन्त का गुण अधिक विशेषतापूर्ण है। यथा—

'पारस मों अरु संत मों, बड़ो अंतरो जान।
वह लोहा कञ्चन करे, करें ये आपु समान॥'

भावार्थ यह कि—पारस लोहे को सिर्फ सोना बना देता है, पारस नहीं बनाता। किन्तु सन्तजन आत्मवत् कर देते हैं—पारस बना देते हैं जिसके स्पर्श से और-और लोग भी सुधर सकें—ऐसा नहीं कि सुधरने का सिलसिला एक ही जगह समाप्त हो जाय।

ऐसे ही संतों की संगति को भगवान ने अपनी नवधा भक्ति में सर्वप्रथम स्थान दिया है। शबरी से श्री रामचंद्रजी कहते हैं—

'प्रथम भगति सन्तन कर सङ्गा।'

इसलिए गुसाईंजी ने लङ्किनी के मुख से हनुमान जी के सामने कहवाया है—

'तात स्वर्ग अपवर्ग-सुख, धरिय तुला एक अङ्ग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसङ्ग॥'

वास्तव में सत्सङ्ग-जनित सुख से बढ़कर संसार में और कोई सुख नहीं। सत्संग का सुख प्राचीन भारतनिवासी ही जानते थे। उनकी एक सत्संग-गोष्ठी हुआ करती थी जिसमें पास-पड़ोस के लोग सम्मिलित होकर गोविन्द-गुणगान अथवा हरि-संकीर्तन किया करते थे। अब यह प्रथा लुप्त होती जा रही है। पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष बढ़ रहा है। ऐसी दशा में जो सत्संग के व्यसनी हों, वे केवल आदर्श ग्रन्थों के सत्संग से ही कृतार्थ होने का प्रयत्न करें, तो अच्छा। जो शिक्षित और सहृदय हैं, उन्हें अशिक्षितों के समाज में जाकर गीता, रामायण, भागवत महाभारत आदि पर सदुपदेशपूर्ण सरल व्याख्यान सुनाना चाहिए; स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के शुभ संदेश सुनाने चाहिए, जिससे अविद्या के भीमान्धकार में भटकनेवाले भाइयों के हृदय में भी अपने धर्म-ग्रन्थों के सत्संग की श्रद्धा उत्पन्न हो और उनके असली तत्त्वों को सुगमता से परखकर वे अपने अन्दर सोई हुई उस प्रचण्ड शक्ति को जगावें, जिसकी सहायता से भविष्य में उनका उद्धार होनेवाला है।

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता), वर्ष ४, अंक ३, चैत्र १९८२ वि०

•

समय का सदुपयोग और मूल्य

समय ईश का दिया हुआ अति अनुपम धन है।
यही समय ही अहो तुम्हारा शुभ जीवन है॥
इसका खोना स्वयं स्वजीवन का खोना है।
खोकर इसको स्वल्प-आयु स्वयमपि होना है॥
तुच्छ कभी तुम नहीं एक पल को भी जानो।
पल-पल से ही बना हुआ जीवन को मानो॥
इसके सद्व्यय-रूप नीर-सिञ्चन के द्वारा।
हो सकता है सफल जन्म-तरु यहाँ तुम्हारा॥

—सियारामशरण

दयामय परमात्मा इतना उदार है कि उसने हमलोगों के काम की सभी चीजें बड़ी बहुलता से दी हैं। अन्न, जल, वायु, फल, फूल, सब-कुछ उसने काफी तौर से दिया

है। पर वह कभी 'समय' बहुतायत से नहीं देता। दो क्षण, या दो दिन ही, एक साथ नहीं देता। जब पहला दिन देकर छीन लेता है, तब फिर दूसरा दिन देता है। परन्तु तीसरा दिन अपने ही अधिकार में रखता है। इसलिए कि हमलोगों को आगेवाले दिन के मिलने का कुछ निश्चय न रहे। जो आज के दिन का मूल्य समझता है, उसके लिए कल का दिन और भी बहुमूल्य हो जाता है। जिसकी दृष्टि में उपस्थित समय का कुछ मूल्य या महत्त्व नहीं है, उसके लिए कल या आनेवाले समय की महार्घता बहुत बढ़ जाती है। जो अपने आज का तिरस्कार करता है, उसका कल भी निष्फल हो जाता है। वर्तमान के सदुपयोग या आदर में ही भविष्य की सफलता निहित है।

समय का वेग अमोघ है, अबाधित है। वह निमिष-निमिष से शताब्दियाँ बनकर भूत को भयंकर, वर्तमान को सरस, और भविष्य को प्रकाशमय बनाता और दिन की समाधि रात में, रात की प्रभात में और महीनों की वर्ष में करता हुआ, अविश्रान्त भाव से, अनन्त पथ पर चला जाता है। समय का प्रवाह भूत को अपने अगाध उदर में डालकर वर्त्तमान को ही अपनी तरल तरंगों पर नचाता है। इसलिए जो वर्त्तमान को गले लगाता है, भविष्य उसी के दोनों हाथों में लड्डू देता है।

पाश्चात्य देशों के लोग समय का सदुपयोग करना जानते हैं। कारण, वे इसका मूल्य समझते हैं। हमारे देश के लोग समय का महत्त्व नहीं जानते। अगर कुछ लोग जानते भी हैं, तो बहुत कम। जिस दिन हम लोग समय का मूल्य समझने लग जायँगे, उस दिन हमारी उन्नति के मार्ग में रोड़े नजर ही न आवेंगे। समय का सदुपयोग करने और उसका मूल्य समझने में ही उन्नति का रहस्य छिपा हुआ है। समय का ही दूसरा नाम जीवन है। जो समय का मूल्य नहीं जानता, वह अपने जीवन का भी मूल्य नहीं समझता। जो समय का सदुपयोग करता है, वही जीवन-साफल्य प्राप्त करता है। जीवन की सार्थकता इसी में है कि एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट न किया जाय। समय के सदुपयोग का सर्वोत्तम पथ भगवद्भजन ही बताया गया है। महात्माओं ने ईश्वरोपासना में समय बितानेवाले का ही जन्म सार्थक समझा है। ईश्वरोपासना का आशय केवल माला जपना ही न समझना चाहिए। लोक-सेवा, सत्साहित्य-सेवा, सत्संग, ज्ञानानुशीलन, परोपकार, जीव-दया, देशभक्ति आदि ईश्वरोपासना के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। संसार की गृहस्थी में रहकर भी सच्ची ईश्वरोपासना में समय बिताया जा सकता है। ईश्वर के कृपापात्र जीवमात्र का उपकार करके भी ईश्वर की उपासना की जाती है। जन-समुदाय की सेवा और सहायता करके भी ईश्वर की उपासना हो सकती है। शिक्षा और ज्ञान तथा सद्भाव और सद्विचार का प्रचार करने से भी ईश्वर की उपासना पूरी होती है। भक्तवर गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो स्पष्ट कह दिया—

'कर ते कर्म करै विधि नाना, मन राखे जहँ कृपानिधाना॥'

महात्मा कबीरदासजी ने लिखा है—

'ठाढ़े बैठे पड़े उताने, कह कबीर मैं उसी ठिकाने॥'

भक्तकवि रसखान ने भी कहा है—

'रसखान गोबिंदहिं यों भजिए, ज्यों नागरि के चित गागरि में।'

यदि इन भावों पर ध्यान दिया जाय, और इन्हें हृदयंगम किया जाय, तो मानव जीवन व्यर्थ नष्ट होने से बच सकता है। जीवन का एक क्षण भी नष्ट हो जाय, तो फिर उसकी पूर्त्ति नहीं होती। परिश्रम करके हम खोई हुई सम्पत्ति फिर प्राप्त कर सकते हैं, नष्ट हुआ स्वास्थ्य फिर संयम और व्यायाम से सुधार सकते हैं, भूली हुई विद्या अभ्यास द्वारा पुनः अर्जित कर सकते हैं, पर बीते हुए समय को कभी लौटा नहीं सकते। इसलिए समय के सदुपयोग का ऐसा महत्त्व है। इसीलिए महात्माओं ने बार-बार चेतावनी दी है कि समय को बेकार बरबाद न करके जीवन सार्थक कर लो, नहीं तो पछताना पड़ेगा।

गुसाईंजी ने विनय-पत्रिका में लिखा है—

'मन पछितैहसि अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु ही ते।'

जीवन का सदुपयोग करने की चेतावनी तुलसीदासजी के कई भजनों में है। सूरदास जी ने भी यही कहा है—

'रे मन मूरख जनम गँवायो।
करि अभिमान विषय-रस रँच्यौ, स्याम सरन नहिं आयो।
कहा भयो अबके मन सोचे, पहिले नाहिं कमायो।
कहत सूर भगवंत भजन बिनु, सिर धुनि धुनि पछितायो।'

गुसाईंजी की तरह सूरदास ने और भी अनेक भजनों में चिताया है कि जीवनकाल का सदुपयोग न करना स्वर्ण-सुयोग खोना है। सुअवसर पाकर चूकना है, दुर्लभ नर-जन्म गंवाना है। देखिये—

'आछो गात अकारथ गार्‌यौ
करि न प्रीति कमललोचन सों, जन्म जुआ ज्यों हार्‌यो।'

सूरदासजी पुनः कहते हैं—

'रे मन जनम अकारथ जात।
बिछुरे मिलन बहुरि कब हैहैं ज्यों तरुवर के पात।
छिन इक माहिं कोटि जुग बीतत पीछे नरक की बात।
कहत सूर बिरथा यह देही अन्तर क्यों इतरात॥'

तुलसी और सूर ही की तरह कबीर, दादू, मलूक, मीरा और रैदास आदि महात्मा कवियों ने उपदेश दिये हैं। पद्माकर-जैसा रसिक कवि भी ऐसा कहे बिना न रह सका—

'स्वारथ हू न कियो परमारथ यों ही अकारथ बैस गँवाई।'

इस प्रकार समय अथवा जीवन का मूल्य समझनेवाले महात्माओं ने चिताया है कि यदि मानव-जन्म सफल करना हो, इस नर-देह को धन्य बनाना हो, तो समय का सदुपयोग

करो, ईश्वर की दी हुई अमूल्य सम्पत्ति को फजूल बरबाद न करो, बड़े सौभाग्य से समय मिलता है, उसे ठुकराने पर तुम भी गली के ठीकरे ही रह जाओगे।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने अमूल्य समय के नष्ट होने पर पश्चात्ताप करते हुए खेदपूर्वक कहा है—

'अब लौं नसानी अब ना नसैहौं,
रामकृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिर ना डसैहौं।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस है न हँसैहौं।
पायो नाम चारु चिन्तामनि उर कर ते न खसैहौं॥
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं॥
मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पदकमल बसैहौं॥'

अस्तु, यदि एक बार भी मनुष्य के हृदय में व्यर्थ समय नष्ट होने पर खेद या ग्लानि उत्पन्न हो, एक बार भी मानव-जीवन की अमूल्यता न समझने की अज्ञानता पर पश्चात्ताप के आँसू उमड़ आवें, तो फिर यह जीवन सुधार-मार्ग पर दृढ़ हो जा सकता है। किन्तु ऐसा बड़े भाग्य से होता है। गफलत की नींद ईश्वर की कृपा से ही टूटती है। हमारे देश के लोग यदि अपने जीवन की सार्थकता के लिए उद्योग करने लगें, समय का सदुपयोग करते हुए दूसरों को समय का मूल्य सुझाने लगें, तो अनेक सभा-सुसाइटियों का काम चुटकियों में सिद्ध हो सकता है। किन्तु यहाँ तो आलस्य में ही सारा जीवन कट जाता है। एक कवि ने ठीक कहा है—

'आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थं
को न स्याद् बहुधनो बहुश्रुतो वा।
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता
सम्पूर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च॥'

अर्थात्—यदि इस संसार में सारे अनर्थों की जड़ आलस्य न होता, तो कौन धनी और कौन विद्वान् न होता (अर्थात् आलसी न होने पर सभी धनी और विद्वान ही होते); आलस्य के कारण ही यह समुद्र-पर्यन्त फैली हुई पृथ्वी निर्धनों और नर-पशुओं से परिपूर्ण है।

भर्तृहरि का यह वाक्य प्रसिद्ध ही है—

'आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।'

अर्थात् शरीर के अन्दर बैठा हुआ आलस्य ही मनुष्यों का सबसे बड़ा शत्रु है।

वास्तव में यह बात ठीक जँचती है। आलसी के निष्प्रयोजन जीवन पर यह उर्दू का शेर खूब बैठता है-

'सुबह होता है शाम होती है, उम्र यों ही तमाम होती है।'

आलस्यवश हमलोग समय का सदुपयोग या सदुपभोग नहीं कर पाते। यदि आज के दिन का हम सदुपयोग नहीं कर सके, तो क्या ठीक है कि आनेवाले कल को हम भली-भाँति अपना सकेंगे; क्योंकि जब हमने सामने आई हुई चीज खो दी, तो इसका क्या निश्चय है कि जो समय आगे आवेगा वह हमारे अनुकूल ही होगा और हम उससे मनमाना

लाभ उठा सकेंगे। वर्तमान अलबत हमारा है, पर भविष्य तो किसी और का है। इसलिए, वर्तमान का हम सदुपयोग के पारस से क्यों न स्पर्श करावें?

समय का सदुपयोग करने और मूल्य समझने के लिए ही स्वामी शंकराचार्य ने अपनी 'चर्पट-पंजरिका' के श्रीगणेश में ही कहा है—

'दिनमपि रजनी सायं प्रातः
शिशिर-वसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः
तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥'

हमारी समझ में समय के सदुपयोग और दुरुपयोग के विषय में उर्दू का यह शेर बड़ा मानीदार और मौजूँ है—

'नफे की क्या खाक हो उम्मीद हमको बर्फ में।
देर बिकने में लगी तो गल के पानी हो गया।'

समय की दशा ठीक वर्फ की-सी समझिए। यदि हम उसका वास्तविक सदुपयोग न कर सके, तो हम ईश्वर की दी हुई एक अमूल्य सम्पत्ति के लाभ से वंचित रह गये। इसलिए हमें ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि हमारे आलस्य या अज्ञान से समय का एक क्षण भी निरर्थक न जाय। पहले तो हमें नित्य-नैमित्तिक कर्म से ही आरम्भ करना चाहिए; क्योंकि संसार की सारी वस्तुओं से बढ़कर अमूल्य स्वास्थ्य है और उसकी रक्षा के लिए सबसे अमूल्य उपाय यह है कि सब काम समय पर किये जायँ। स्वास्थ्य अच्छा न रहने से जीवन निरानन्द हो जाता है। अतएव किसी प्रकार की साधना सफल नहीं होने पाती। महावीर नेपोलियन कहा करता था कि सदा समय का सदुपयोग करते रहने से ही सफलता-देवी हमेशा उसके साथ बनी रहती थीं। चाहे वज्र पड़े या कुछ भी हो वह अपने सारे काम ठीक समय पर ही करता था। बेंजामिन फ्रैंकलिन-जैसे जगत्प्रसिद्ध विद्वान् महापुरुष ने कहा है—'यदि तुम अपने जीवन को बहुत प्यारा समझते हो तो समय नष्ट न किया करो; क्योंकि समय के स्तम्भ पर ही तुम्हारी जिन्दगी की इमारत टिकी हुई है।' संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, सबने आत्मानुभव से सीखकर यही बताया है कि समय का सदुपयोग किये बिना संसार में कोई मनुष्य विद्वान या महापुरुष हो ही नहीं सकता।

अध्यात्म-रामायण में वसिष्ठजी ने प्रातःस्मरणीय भगवान रामचन्द्र से कहा है—

'शीघ्रमुत्तिष्ठ भद्रं ते नियतं कार्यमाचर।
न कालमतिवर्त्तन्ते महान्तः स्वेषु कर्मसु॥'

अर्थात्—'तेरा कल्याण हो; शीघ्र उठ, नियत कार्य कर, बड़े लोग समय व्यर्थ नहीं बिताते।'

नित्य-नैमित्तिक कर्म निबाहने के विषय में गुसाईंजी भी कितना सुन्दर लिख गये हैं—

'उठे लषन निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुरु ते पहिले जगतपति जागे राम सुजान॥

सकल सौच करि जाइ नहाये, नित्य निबाहि मुनिहिं सिर नाये।

अब पाठक स्वयं विचार करें कि इस देश के मनुष्य किस हद तक समय का सदुपयोग करते और उसका मूल्य समझते हैं, और यह भी विचार करें कि मनुष्य को कहाँ तक और क्यों समय का मूल्य समझना चाहिए तथा समय का सदुपयोग करके वह कहाँ तक अपना जीवन सफल कर सकता है। इस देश के लोग फजूल गपशप और अनर्थमूलक झगड़े-फसाद में अपना प्रचुर समय नष्ट किया करते हैं। इस प्रकार उनका सारा जीवन ही निष्फल हो जाता है। यदि मनुष्य अपना प्रतिदिन का थोड़ा समय भी सत्संग, सद्ग्रन्थ पाठ, ईश-गुण-गान, हरि-संकीर्तन अथवा स्वदेश, स्वभाषा और स्वजाति की सेवा में खर्च करे, तो वह अपने जीवन की सार्थकता से उत्पन्न हुए आनन्द का रस कभी भूल नहीं सकता, वह फिर नीति-शास्त्र-विशारद महाकवि भर्तृहरि के इन वाक्यों को जबान पर नहीं ला सकता—

'तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत्'

अथवा—

'मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम्'

एक अङ्गरेजी कवि ने समय की उपमा वेगवती नदी से दी है। और, उसकी उपमा में बड़ा भारी तथ्य छिपा हुआ है। उसकी गूढ़ता और अर्थ-गौरव तो देखिए। वह कहता है—'वेगवती नदी जैसे अनन्त सागर में चुपके से जाकर मिल जाती है, वैसे ही समय भी अपना एक-एक पल चुपके से अनन्त कोष में संचित करता जाता है। नदी की धारा बह जाने के बाद फिर कभी नहीं लौटती; समय भी व्यतीत हो जाने पर फिर हाथ नहीं लगता! परन्तु इतनी समता होते हुए भी एक भेद बड़ा गहरा है। सो क्या? वह यह कि जिस प्रदेश या देश के बीच से होकर नदी बह निकलती है, उसकी भूमि सरस होती है—नदी के दोनों ओर की भूमि बहुत उपजाऊ और लहलही होती है। किन्तु समय का प्रवाह जिधर से बह निकलता है, उधर अपने पीछे केवल मरुस्थल ही छोड़ता जाता है।'

कवि की इस मार्मिक उक्ति में कितना गम्भीर तत्त्व छिपा हुआ है, यह सिर्फ सोचने की बात है। भाइयो, प्रत्येक भारत-निवासी के लिए यही सोचने का समय आया है। सब अगर रोज इतना ही सोचा करें कि समय का सदुपयोग करने से लाभ अवश्य होगा, तो बहुत-कुछ देशोपकार हो सकता है। किन्तु हमारे देश के अन्धकार-ग्रस्त मनुष्यों की दशा तो यहाँ तक गिरी हुई है कि अपने मतलब की बात भी नहीं समझते। देखिए, एक संस्कृत-भाषा का कवि कितनी सरल भाषा में कैसी मार्के की बात बतला रहा है—

"पुनः प्रभातं पुनरेव शर्वरी पुनः शशाङ्कः पुनरुद्यते रविः।
कालस्य किं गच्छति याति यौवनं, तथापि लोकैः कथितं न बुद्ध्यते॥"

कवि का आशय यह है कि जीवन की घड़ियाँ रात-दिन बीतती चली जाती हैं, फिर भी लोग चेतावनी नहीं मानते, बात नहीं समझते। यह बड़े आश्चर्य की बात है। युधिष्ठिर ने यक्ष के इन प्रश्नों के उत्तर देते हुए महत्त्वपूर्ण बात कही थी—

"का वार्ता, किमाश्चर्यम्?"

इनके उत्तर में धर्मराज कहते हैं—

"अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥१॥
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
अपरे स्थातुमिच्छन्ति किमाश्चर्य्यमतः परम् ॥२॥"

अर्थात्—'यह संसार महा अज्ञानमय कड़ाह है। सूर्य्य, अग्नि और दिन तथा रात ईन्धन हैं। मास कलछी है। उसीसे मथकर काल (समय) सब प्राणियों को पका रहा है।'

पुनः—'प्रतिदिन लोग यमलोक सिधारते चले जाते हैं, पर दूसरे लोग, जो जीते बच जाते हैं, समझते हैं कि वे जीते ही रहेंगे। इससे बढ़कर अचम्भे की बात और क्या हो सकती है?'

अजातशत्रु पुण्यश्लोक धर्मराज की उक्त बातें बतलाती हैं कि जीवन कैसा क्षणिक और निस्सार है, तथा समय की कितनी बड़ी महिमा है और उसकी संसार में कितनी प्रबल सत्ता है। यदि हम ऐसे दुर्लभ पदार्थ का भी आदर न करें, तो हमारा अभाग्य ही है; क्योंकि चारों ओर से यही प्रमाणित होता है कि इस अल्पकालीन जीवन को जितना ही सत्कार्य में प्रवृत्त और सांसारिक विकारों से निवृत्त किया जायगा, यह उतना ही महत्त्वपूर्ण आदर्श और चरितार्थ होगा। अतएव, पाठक-प्रवर, स्मरण रखिए, समय का सदुपयोग करने और उसका मूल्य समझने की प्रवृत्ति तबतक दृढ न होगी, जबतक इस क्षणभंगुर जीवन का महत्त्व-ज्ञान और कुछ-कुछ परलोक का भय न हो। ऐसा ही समझ कर एक कवि की यह उक्ति ध्यान में रखिए—

नचाराधि राधाधवो माधवो वा न वा पूजि पुष्पादिभिश्चन्द्रचूडः।
परेषां धने धन्धने नीतकालो दयालो यमालोकने कः प्रकारः ॥"

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता), वर्ष ४, अंक ४, वैशाख १९८२ वि०

●

तुलसीदास का पवित्र सौन्दर्य-वर्णन

गत मास (श्रावण) की शुक्ला सप्तमी (बुधवार) को समस्त भारत के हिन्दी-प्रेमियों द्वारा गोसाईं जी की निधन-तिथि* मनाई जा चुकी है। जब-तक हिन्दू-जाति और हिन्दी-भाषा का अस्तित्व रहेगा, गोसाईंजी की पुण्य-स्मृति मनाई जाती रहेगी। यों तो हिन्दी-

* उस समय तक वह निधन-तिथि ही मानी जाती थी; पर अब वह जयन्ती (जन्म-तिथि) के रूप में मनाई जाती है। —लेखक

संसार के घर-घर में रोज ही गोसाईं जी स्मरण किये जाते हैं। उनकी कविता में बड़ी सरलता, मधुरता, कोमलता और पवित्रता है। उनका एक-एक शब्द उनके भक्ति-सुधा-सिक्त हृदय का असली चित्र है। उनके प्रत्येक शब्द से अन्तरात्मा की दिव्य भाषा व्यक्त होती है। छोटे-छोटे चौपाई-दोहों में उन्होंने कैसे-कैसे ऊँचे दर्जे के भाव भर दिये हैं, यह देखकर प्रत्येक सहृदय मनुष्य मुग्ध हो सकता है। जो जितना ही बड़ा विद्वान् है, उनकी रामायण से वह उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त करता है। मूर्ख और पण्डित, धनी और दरिद्र सबकी अन्तरात्मा को समान भाव से आनन्द देनेवाली अगर कोई पुस्तक हिन्दी में है, तो वह गोसाईं जी की रामायण ही है। चाहे कोई हजार बार पढ़ जाय, मजाल नहीं कि जरा भी जी ऊबे। तारीफ तो यह कि जितनी बार तुलसीकृत रामायण पढ़ी जाय, उत्तरोत्तर आनन्द की वृद्धि ही होती जायगी। अद्भुत ग्रन्थ है। विलक्षण शक्ति है। कहा नहीं जा सकता कि यह कितनी बड़ी तपस्या का फल है। "धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् !"

हिन्दी-कवियों की रचनाएँ अधिकतर ब्रजभाषा में हैं। उनमें आदि-रस की चर्चा अधिक है। तुलसी, सूर, कबीर, मीराबाई आदि भक्त कवियों ने आदि-रस की धारा को भी भक्ति-भागीरथी के साथ ही प्रवाहित किया है। कबीर दास की रचनाओं में तो आदि-रस कहीं-कहीं, सो भी बहुत थोड़ा, और वह भी अत्यन्त प्रच्छन्न है। विशेषतः वह द्व्यर्थक और विचित्र है। उनमें तो केवल ज्ञान, भक्ति और वेदान्त की ही प्रधानता है। मीराबाई में नखशिख भक्ति-ही-भक्ति है। कहीं अगर मुरली-मनोहर की बाँकी झाँकी का छटा-वर्णन है भी, तो वह बड़ा ही दिव्य और प्रेम-परिप्लावित है। सूरदास में राधाकृष्ण का जो शृङ्गार-वर्णन है, वह भी ब्रजभाषा के अन्यान्य कवियों के शृङ्गार-वर्णन की तरह विशेष असंयत नहीं है, हर जगह उसमें भक्ति का पुट पड़ा हुआ है। किन्तु गोसाईं जी ने श्रीसीताराम का जो कुछ भी शृङ्गार-वर्णन किया है, वह अत्यन्त पवित्र और आदर्श है।

गोसाईं जी का किया हुआ श्री सीताराम का शृङ्गार-वर्णन अधिकतर जनकपुर-वर्णन में है। वाटिका में प्रथम दर्शन के समय—

देखि सीय सोभा सुख पावा, हृदय सराहत बचनु न आवा।
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई, बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई।
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।
थके नयन रघुपति छबि देखे, पलकन्हिहू परिहरीं निमेखे।
अधिक सनेह देह भइ भोरी, सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हें पलक कपाट सयानी।

फिर रंगभूमि में धनुष-भंग के बाद—

जाइ समीप राम छबि देखी, रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी।
मन बिहँसे रघुबंस-मनि, प्रीति अलौकिक जानि।

रामचन्द्रजी और सीताजी का अलग-अलग सौन्दर्य-वर्णन भी बड़ा भावमय और उच्चाशयपूर्ण है। जनकपुर की गलियों में रामचन्द्र जी को घुमाते हुए कहते हैं—

जुबती भवन झरोखन्हि लागीं, निरखहिं रामरूप अनुरागी।
कहहिं परस्पर बचन सप्रीती, सखि इन्ह कोटि-काम-छबि जीती।
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं, सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं।
कहहु सखी अस को तनुधारी, जो न मोह अस रूप निहारी।
जो सखि इन्हहिं देख नरनाहू, पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।

फिर जनकजी प्रथम समागम के समय—

मूरति मधुर मनोहर देखी, भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेखी।
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा, उभय बेष धरि की सोइ आवा।
सहज बिराग रूप मन मोरा, थकित होत जिमि चन्द चकोरा।
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा।

इस सौन्दर्य-वर्णन की समता कहाँ मिल सकती है? जहाँ कहीं सौन्दर्य-वर्णन है, सब में अलौकिक पवित्रता भरी हुई है। वन-गमन के समय मार्ग में ग्रामवासियों से जो कुछ कहवा डाला है, वह भी अपने ढंग का निराला ही सौन्दर्य-वर्णन है—

देखहुँ खोजि भुवन दस चारी, कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी।
जौं जगदीस इन्हहिं बनु दीन्हा, कस न सुमनमय मारग कीन्हा।
जौं माँगा पाइय बिधि पाहीं, ए रखिअहि सखि आँखिन्ह माहीं।

फिर 'जनस्थान' में, सूर्पनखा की नाक कट जाने पर, जब खरदूषण-त्रिशिरा पहुँचे, तब—

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी, थकित भई रजनीचर-धारी।
हम भरि जनम सुनहु सब भाई, देखी नहिं असि सुन्दरताई।
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा, बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।

शत्रु भी सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो गये! वर्णनशैली कैसी सुहावनी और भक्तिमयी है। मनुष्य और राक्षस की तो बात ही क्या, जंगली जीव और जड़-जन्तु भी राम-रूप लखकर बेसुध हो गये! गोसाईंजी चित्रकूट में लिखते हैं—

यह सुधि कोल-किरातन्ह पाई, हरषे जनु नव निधि घर आई।
कहत सुनत रघुबीर निकाई, आइ सबन्हि देखे रघुराई।
करहिं जोहारु भेंट धरि आगे, प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे।
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े, पुलक सरीर नयन जल बाढ़े।

इसी प्रकार सेतु-बन्ध के समय—

देखन कहँ प्रभु करुनाकन्दा, प्रगट भये सब जलचर-वृन्दा।
ऐसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं, एकन के डर तेपि डेराहीं।
प्रभुहिं बिलोकहिं टरहिं न टारे, मन हरषित सब भये सुखारे।
तिन्ह की ओट न देखिय बारी, मगन भये हरि रूप निहारी।

श्री रामचन्द्रजी और सीताजी के सौन्दर्य-वर्णन के काफी उदाहरण ऊपर दिये जा चुके। उनसे विदित होता है कि गोसाईंजी की सौन्दर्य-वर्णन-प्रणाली स्वाभाविक और निष्कलंक है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है—सर्वाङ्ग-शुद्धता। अन्य कवियों के सौन्दर्य-वर्णन पढ़ते समय इतनी तन्मयता और प्रगाढ आनन्दानुभूति नहीं होती। श्री राधारानी के सौन्दर्य-वर्णन में कई कवियों ने वासना भर दी है, अलौकिकता दब गई है, राधिका महारानी एक साधारण स्त्री बन गई हैं। किन्तु गोसाईंजी ने जगदम्बा जानकी का सौन्दर्य-वर्णन बड़ी कुशलता से निभाया है। किसी से पीछे भी न रहे—बल्कि बड़े-बड़ों से भी बाजी मार ले गये—और भक्ति-भावना को भी खूब निबाहा। स्पष्ट कहते हैं—

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी, जगदम्बिका रूप-गुन-खानी।
उपमा सकल मोहि लघु लागी, प्राकृत नारि अंग अनुरागी।
जो छबि-सुधा-पयोनिधि होई, परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू, मथइ पानिपंकज निज मारू।
"एहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहिं सीय समतूल।

कवित्व और भक्ति का कैसा विकसित रूप है। कहीं भी सौन्दर्य-वर्णन पढ़कर खेद या ग्लानि अथवा किसी प्रकार का मनोविकार उत्पन्न नहीं होता। जहाँ-कहीं श्रीसीताराम का संयुक्त-शृङ्गार-वर्णन भी किया है, वहाँ भी बड़ी स्वाभाविकता और भक्ति से काम लिया है। विवाह-मण्डप में—

कुँअरु कुँअरि कल भाँवरि देहीं, नयन-लाभ सब सादर लेहीं।
राम सीय सुन्दर प्रतिछाहीं, जगमगाति मनि-खंभन्ह माहीं।
मनहुँ मदन रति धरि बहुरूपा, देखत राम-बिबाह अनूपा।
दरस लालसा सकुच न थोरी, प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी।

—पुनः वन-मार्ग में, एक गाँव के पास, बट की सघन छाया के नीचे, ग्रामीण महिलाए पूछती हैं—

कोटि मनोज लजावनिहारे, सुमुखि कहहुँ को अहहिं तुम्हारे।

इस प्रश्न का उत्तर गोसाईंजी दिलवाते हैं—

सुनि सनेहमइ मंजुल बानी, सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी।
तिनहिं बिलोकि बिलोकति धरनी, दुहुँ सँकोच सकुचति बरबरनी।
सकुचि सप्रेम बालमृगनैनी, बोली मधुर बचन पिकबैनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे, नाम लषन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निज पति कहेउ तिनहिं सिय सैननि।

इस अतीव स्वाभाविक वर्णन पर कुछ कहा नहीं जा सकता। यह वर्णन केवल

मौन होकर मनन करने योग्य है। इस प्रकार के अनेक वर्णन रामायण में मिलते हैं। एक जगह वन-पथ पर चले जाते हुए—

> आगे राम लषन बने पाछे, तापस बेष बिराजत काछें।
> उभय बीच सिय सोहति कैसी, ब्रह्म-जीव बिच माया जैसी।
> बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई, जनु मधु-मदन मध्य रति लसई।
> उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही, जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही।

मालूम होता है, सौन्दर्य-वर्णन से तृप्ति ही नहीं होती, बड़ी ललक और श्रद्धा से वर्णन करते जाते हैं, मानों कभी अघाते ही नहीं। किसी कवि के सौन्दर्य-वर्णन में इतनी तल्लीनता, प्रीति, भक्ति-भावना और अनुरक्ति नहीं मिलती। गोसाईं जी ने सौन्दर्य-सुधा में कहीं भी वासना का विष नहीं ढाला है। इसीलिए उनका महाकाव्य—'रामचरित 'मानस' सचमुच 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का प्रत्यक्ष रूप है।

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता), वर्ष ४, अंक ८, भाद्रपद, संवत् १९८२ वि०

●

मेघदूत की सूक्तियाँ

कवि ही समाज का जीवन, देश का गौरव, विश्व-काव्यविधाता का प्रतिनिधि, प्रकृति देवी का प्राणाधार, भगवती वीणा-पाणि का अक्षय्य यशस्तम्भ, आदर्श सभ्यता का सुहावना चित्र और राष्ट्र का उन्नायक है। 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'—निस्सन्देह यह कहावत अक्षरशः सत्य है।

साहित्य-सरोवर की श्रीमती सरोजिनी (नायडू) ने क्या ही खूब कहा है—"A poet is not only a dreamer of dreams, his heart is the mirror of world's emotion; his songs of gladness are the echoes of the world's laughter, his songs of sorrow reflect the tears of humanity." [१]

अस्तु! योगियों के लिए ब्रह्मानन्द में जो परमानन्द है, स्नेहशीला जननी के लिए मन्दस्मित शिशु की स्फुट वाणी में जो माधुर्य है, विलासी नवयुवकों के लिए नवयौवनाढ्या

१. कवि केवल स्वप्न-द्रष्टा ही नहीं होता, उसका हृदय भौतिक संवेदनाओं का दर्पण होता है। उसके आनन्द के गीतों में विश्व का हास प्रतिध्वनित होता है। उसके विषाद के गीतों में मानवता के आँसू प्रतिबिम्बित होते हैं।—ले०

सुन्दरी के अनुकूल कटाक्ष में जो आह्लाद है, रणधीर वीरों के लिए विजयलक्ष्मी के कर-कमलों से जयमाल पहनने में जो सुख है, कदाचित् साहित्यरसरसिकों के लिए उससे भी सहस्रगुणाधिक सुख 'साधुकाव्यनिषेवणम्' में है।

जैसे तीर्थ के पण्डे 'आँख के अन्धे, गाँठ के पूरे' यजमानों वा यात्रियों को देखकर प्रफुल्लित हो उठते हैं, कचहरी के अमले दिहाती मवक्किलों को देख फूलकर कुप्पा हो जाते हैं, वकील-मुख्तार लोग मुकद्दमा जीत लेने पर मुद्दालह को खूब भूँसने-चूसने की बेर जमीन पर पाँव नहीं धरते, ऐसे ही अनुभवी साहित्यरसिक जन भी परमोत्कृष्ट काव्य पढ़कर फूले नहीं समाते; उनके आनन्द का पारावार उमड़ पड़ता है। इसीलिए, आज मैं, अपने साहित्यानुरागी पाठकों का, कुछ ऐसी सुधा-सिक्त सूक्तियाँ सुनाकर, मनोरंजन करना चाहता हूँ, जो सकलशास्त्र-निष्णात कविकुलकुमुदकलाधर कालिदास की रस-सिन्धु-निमज्जित लेखनी से प्रसूत हुई हैं।

हमारे महाकवि का सन्दर्भ-सौन्दर्य्य कैसा मनोमुग्धकर और कितना प्रसादगुण-सम्पन्न है, यह उन्हीं काव्येन्दुचकोरों को मालूम होगा, जो संस्कृतसाहित्यसुधाम्बुधि में सम्यक् रूप से अवगाहन कर चुके हैं। सच पूछिए तो वास्तव में काव्यकुसुमाकर-कोकिल कालिदास के कल-कूजन ने कमाल कर दिया है। इसी लिए इन्हें कविता-कानन-केसरी, कविकुलालंकार, सरस्वती-पुत्र, 'शेक्सपियर आफ इण्डिया' आदि सम्मानसूचक सम्बोधनों द्वारा गौरवान्वित करते हैं। यहाँ तक कि विदेशी विद्वद्वरों ने भी मुक्त कंठ से महाकवि की महती महत्ता मान ली है। अतएव, संस्कृत के मर्मज्ञ पाठकों को यह श्लोक अहर्निश कण्ठाग्र रहा करता है—

'पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।'

महाकवि का 'शकुन्तला' नाटक संसार-भर के नाटकों का सिरमौर समझा जाता है। यदि केवल यही एक महाकाव्य लिखकर वे स्वर्गगामी हुए होते तो भी उनका नाम अजर-अमर ही रहता। शकुन्तला पढ़कर जर्मनी के सुप्रसिद्ध कवि (गेटे) ने, यत्परोनास्ति आनन्द अनुभव करते हुए, कैसी चुभीली उक्ति कहकर उदारता दर्शाई है—

Wouldst thou the Life's young blossoms
and the fruits of its decline,
'And all by which the Soul is charmed,
enraptured, feasted and fed ?

Wouldst thou the earth & heaven itself
in one sweet name combined ?
I name thee, O 'Shakuntala' ! and all at
once is said.*

किन्तु इतना ही नहीं, 'मेघदूत' के विषय में भी कई प्रौढ विद्वानों की तो यहाँ तक धारणा है कि 'मेघदूत' मात्र ही यदि महाकवि का महाकाव्य मान लिया जाय, तो भी उन्हें ही कविसम्राट् और काव्याकाश का राकेन्दु कहना अनिवार्य्य होगा। खैर, उसी जगत्प्रसिद्ध काव्यशिल्पी के अनूठे एवं विलक्षण चमत्कारपूर्ण पदों की आज मैं डाली लगाता हूँ। खूब डूबकर खूबियाँ और बारीकियाँ ढूँढ़ने पर, आशा और साथ-ही-साथ विश्वास भी है, आप लोगों का रसलुब्ध हृदय मारे आनन्द के बार-बार उछल पड़ेगा। इस समय केवल पूर्वमेघ के कुछ चुनिन्दा और रस से चुचुहाते हुए पद्य वा पद्यखण्ड यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

"मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ? ॥"

अर्थात्—नवनीलनिविड़ मेघ के दर्शन से सुखसम्भोगासक्त पुरुष का चित्त भी चंचल हो उठता है। जो अपनी प्रेयसी से वियुक्त होकर दूरस्थ हैं, उन गाढालिंगनाभिलाषी पुरुषों के मन की दशा का तो फिर कहना ही क्या है।"

"कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु"

"कामान्धों को स्वभावतः कार्य्याकार्य्य का विचार नहीं होता। वे जड़-चेतन—सबके ही सामने कातरता दिखाते फिरते हैं।"

"याञ्चामोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा"

"यदि अधिक गुणसम्पन्न महात्मा के निकट की गई प्रार्थना विफल भी हो जाय तो अच्छी है, किन्तु नीच के पास प्रार्थना (याचना) करके सफलमनोरथ होना भी नहीं अच्छा।"

"कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः।"

"(हे मेघ !) जो पुरुष मेरे सदृश परतन्त्र न होकर स्वेच्छानुसार कार्य करने का सामर्थ्य रखता है, वह भला कैसा अभागा होगा कि तुम्हें उमड़ा हुआ देखकर विरहिणी की उपेक्षा करके विदेश में टिका रहे।"

---

*भावार्थ—यदि मानव-जीवन के यौवन-वसन्त और उसके उतार के समय के सरस फलों की मधुरता का एक शब्द में बोध कराना हो; यदि उन सभी वस्तुओं को एक ही नाम से पुकारना हो जिनसे मनुष्य की आत्मा मुग्ध, आह्लादित, सन्तुष्ट एवं परितृप्त होती है; यदि कोई एक ही मधुर नाम ऐसा हो जिसके उच्चारण से पृथ्वी और स्वर्ग के सुखों का एक साथ ही अनुभव होता हो, तो 'ऐ शकुन्तला !' मैं बस तेरा ही नाम लूँगा, और केवल तेरे ही नाम के एक इस शब्द में वे सारी बातें आ जायँगी।" —लेखक

"आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां।
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥"

"पतिवियोग से तत्काल नष्ट हो जानेवाला कामिनियों का कुसुमसुकुमार हृदय केवल आशारूपी बन्धन पर टिका रहता है।"

"येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते।
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥"

"गोपवेषधारी भगवान् श्रीकृष्ण का श्यामसुन्दर शरीर जैसे बहुरंगरंजित मयूरपुच्छ से सुशोभित होता है, वैसे ही (हे मेघ) तुम्हारा साँवला-सलोना शरीर भी इन्द्रधनुष के मेल से शोभासम्पन्न होगा।" धन्य उपमा!!

"न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय।
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥"

"प्रियतम मित्र के आने पर (आम्रकूट पर्वत के सदृश) उन्नत पुरुषों की बात कौन कहे, क्षुद्र पुरुष भी पहले किये हुए उपकार का स्मरण कर हितैषी मित्र से विमुख नहीं होता।"

"मध्येश्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः"

"उस (आम्रकूट) का मध्य भाग (तुम्हारे शिखरारोहण के बाद) श्यामवर्ण और शेषविस्तार भाग गौरवर्ण रहने से वह आम्रकूट) पृथ्वी के स्तनों के समान दिखाई देगा।"

"रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय"

"रिक्त पुरुष अर्थात् विद्यावैभवविहीन सबके निकट तुच्छ-क्षुद्र-सा ही रहता है और सर्वगुणसम्पन्न पुरुष सर्वत्र प्रतिष्ठा और गौरव पाता है।"

"त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।"

"जहाँ (वामनगिरि पर) तुम विश्राम करने के लिए टिकोगे, वहाँ कदम्ब-फूलों के खूब फूलने से ऐसा जान पड़ेगा मानों तुम्हारे साथ समागम होने से ही इस पर्वत को पुलक (रोमाञ्च) हो आया है।"

"स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।"

"प्रेमी के निकट हाव-भाव प्रकट करना ही नारी-जाति का प्रथम प्रेमवचन है।"

"स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानाम्।"

"(वैकुण्ठवासी) पुण्यात्मा लोगों का जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब वे भूतल (मर्त्यलोक) पर चू पड़ते हैं।" (उज्जयिनी-निवासी मानों अपने शेष पुण्य का फल भोगने के लिए स्वर्ग के उत्तम खण्ड को पृथ्वी पर उतार लाये हैं)

"सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीम्।"

"तुम (अभिसारिका नायिकाओं को) कसौटी पर लगी हुई सुवर्ण-रेखा के समान दीप्तिमती विद्युल्लता से मार्ग दिखाना।"

काले मेघ की गोद में बिजली की कैसी अपूर्व शोभा है! अभिसरण करनेवाली सुन्दरी के लिए कैसा सुन्दर दीपक है!

"मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः।"

"जो लोग अपने मित्रों का कार्य्य संपन्न करने का प्रण कर लेते हैं और उसमें तत्पर हो जाते हैं, वे लोग कभी आलस्य नहीं करते, अर्थात् अपना प्रयत्न शिथिल नहीं होने देते।"

"प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपिहर्तुं नलिन्याः।"

"(हे मेघ, तुम सूर्य के मार्ग में अटक कर उनका गतिरोध न करना) क्योंकि सूर्य भी अपनी प्रेयसी नलिनी के मुखाम्बुज से हिमरूपी झरता हुआ अश्रुविन्दु का मोचन करने के के लिए जा रहे होंगे। (रुकेंगे तो उन्हें रोष-द्वेष होगा)।"

प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी—
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्।"

"(हे भगवान् कृष्ण के अंगवर्ण को चुरानेवाले मेघ) जब तुम सिंध (चर्मण्वती) नदी में जल-ग्रहण करने के लिए उतरोगे तब गगनविहारी देवदानवादि दूर से ऐसी अभिनव शोभा देखेंगे मानों पृथ्वी देवी के गले में पड़ी हुई मुक्तामाला (सिन्धु नदी के उज्ज्वल प्रवाह) के बीच में एक बड़ी इन्द्रनीलमणि शोभायमान हो रही है।"

"आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां।
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः॥"

"गंगा की शुचि-शुभ्र जल-धारा से धवलित हिमालय की तुषारमण्डित श्वेत शिलाएँ कस्तूरी-मृगों के बैठने से, उनकी नाभि सुगन्धि से, सुवासिता हो उठी हैं!"

"आपन्नार्तिप्रशमनफलाःसम्पदो ह्युत्तमानाम्।"

"विपत्ति में फँसे हुए मनुष्य को आपत्ति से छुड़ाना ही महात्माओं की संपत्ति का फल है।"

"के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः।"

"परिणाम की ओर विचार-दृष्टि से न देखनेवाला ऐसा कौन है जिसके उद्योग और सारे प्रयत्न निष्फल नहीं हो गये।"

"यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः।
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः॥"

"जो कोई श्रद्धाभक्ति के साथ इन्दुमौलि शंकरजी के पवित्र चरणचिह्नों के दर्शनों से अपने नेत्रों को पवित्र करता है, वह श्रद्धालु पुरुष निश्चय ही समग्र पापों से छुटकारा पाकर इस स्थूल-शरीर का विसर्जन हो जाने पर कैलासवासी होता है।"

"शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्य्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत् कन्दरेषु-ध्वनिः स्या—
त्संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥"

"हे मेघ ! मीठी-मीठी हवा से भरकर बाँस तो बिल्कुल वंशी के समान सरस शब्द किया करते हैं। सुन्दरी किन्नरियाँ भी प्रेम से मिल-जुलकर भगवान शंकर की विजय-गाथा बड़े ही मधुर स्वर से गाती हैं। उसी स्थान पर ऐसे ही समय में तुम्हारा गम्भीर गर्जन भी यदि गिरि-गुहाओं में प्रतिध्वनित होकर मृदंगध्वनि-सा मधुर शब्दायमान हो उठे तो भगवान् भूतनाथ के पास संगीत के सारे सामान निस्सन्देह पूरे हो जायँ।"

गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरादिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥

"गंगाजी समुज्ज्वल फेन रूपी उपहासपूर्ण हास्य से गौरी पार्वती के मुखारविन्द की विकट भृकुटी-रचना का तिरस्कार करती हुई चन्द्रशेखर भगवान् की ललाटस्थ चन्द्ररेखा पर अपने तरंगरूपी हाथों को टेक कर भगवान् धूर्जटी का केशकलाप पकड़े हुई हैं।"

मृदुल मञ्जुल फेन के समान उज्ज्वल हास्य ! भ्रू-कुञ्चन की अवहेलना करने के लिए तरल-तुमुल तरंग-रूपी हाथों से जटा पकड़ना ! अर्द्ध चन्द्र (हाथ) से चोटी पकड़ना ! क्या खूब है !

"तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥"

'हे जलधर ! स्फटिक-स्वच्छ-जल-वाहिनी गंगाजी में जब तुम श्यामवर्ण दिक्कुञ्जर के समान, आधा शरीर ऊपर और आधा नीचे करके, जल पीने के हेतु झुकोगे तब उज्ज्वल गंगाजल में तुम्हारी सघन श्याम छाया पड़ने पर (प्रयाग के पहले ही) गंगा-यमुना-संगम का मनोहर और सुन्दर दृश्य उपस्थित हो जायगा !"

"शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥"

"अहा ! कैलास पर्वत कैसा अभिराम और अवदात है ! मानों कुमुद के समान उज्ज्वल शिखरों से गगनतल में चुभकर ऐसा शोभायमान दीख पड़ता है जैसा प्रतिदिन का एकत्र किया हुआ शंकर जी का चन्द्रिका-धवलित अट्टहास-पुञ्ज !"

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेःस्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥

"हे अम्भोधर ! तुम खूब मले (मँजे) हुए सुस्निग्ध अंजन के सदृश श्यामवर्ण हो और कैलासशिखर भी नये काटे हुए हाथी-दाँत के समान उज्ज्वलवर्ण है। उसके शुभ्रशिखरों पर पहुँच कर तुम जिस समय हलधर (बलभद्र) जी के गौरवर्ण कन्धे पर कृष्णवर्ण दुकूल की-सी शोभा उत्पन्न करोगे, उस समय वह कैलास एक अदृष्टपूर्व दर्शनीय शोभा धारण करेगा !"

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥

"जैसे प्रेमी पुरुष की गुलगुल गोदी में सुन्दरी कामिनियाँ बैठती हैं, वैसे ही अलकापुरी उस पर्वत के ऊर्ध्वभाग में विराजती है। जैसे प्रिय की गोदी में बैठी हुई कामिनी का सरका (खिसका) हुआ वस्त्र दीख पड़ता है, वैसे ही अलकापुरी की शुभ्र साड़ी-सी श्री गंगा प्रवाहित हो रही हैं। हे स्वेच्छाचारी मेघ! वह सरकी हुई श्वेत साड़ी (गंगा) परिधान किये हुई कामिनी (अलका) तुम्हारे पहुँचने—वर्षा-काल प्राप्त होने—पर मुक्ताफल सदृश जल-विन्दु झरते हुए सघनश्याम मेघपुञ्ज को उसी प्रकार धारण करके सुशोभित होगी जिस प्रकार सुन्दरी कामिनी मुक्ताजालग्रथित सुन्दर वेणी (चोटी) सँवार करके शोभायमान होती है।"

—मासिक 'धर्माभ्युदय' (आगरा), वर्ष १, संख्या १२, दिसम्बर १९१८ ई०

•

सचाई

सचाई एक प्रकार का मानसिक उत्कर्ष एवं पवित्र शुभ धर्म है। सब जातियों के धर्मग्रन्थों तथा हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में यह सिद्धान्त अविकल रूप से मिलता है कि 'सचाई' ही एक ऐसी अद्वितीय मंगलमयी वस्तु है जिसका अवलम्बन करने मात्र से मनुष्य लौकिक और पारलौकिक कल्याण तथा आनन्द का भागी बन सकता है। जो पुरुष इस स्वर्गीय वस्तु को अविचल रूप से धारण करता है, वह अवश्य ही ऐहिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के साधन में पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त करता है।

एक ढंग से सचाई मनुष्य के मस्तिष्क की स्थिरता, शान्तिशीलता तथा कोमलता जान पड़ती है। सचाई के सिवा इस क्षणभंगुर अधमाधम शरीर को पवित्र करनेवाली तथा मानवजन्म को साफल्य प्रदान करनेवाली कोई वस्तु इस जगतीतल पर दृष्टिगोचर नहीं होती। शुद्ध सचाईरूपी स्वच्छ सरोवर में जबतक इस विषम भवतापतप्तात्मा को स्नान नहीं कराया जाता तबतक उसे शान्ति रूपी शीतलता प्राप्त नहीं होती।

सचाई मनुष्य के अभ्यन्तर की एक निर्मल पुण्य भावना है जो हमको दूसरों के साथ धूर्तता, छल, पाखण्ड, धोखा या जाल करने से रोकती है। बाह्य कर्त्तव्य के अतिरिक्त विशेषतः इसका अटल सम्बन्ध मानसिक वृत्ति से है। यह अन्तर-स्थित आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। जबतक सचाई में कुछ भी कच्चाई रह जायगी तबतक पूर्णतया उन्नति अथवा कल्याण होना असम्भव है। शुद्ध अभ्यन्तर से सचाई की विमल सोती (बारीक जलधार) जब

निकलेगी तभी इस जीवात्मा का कल्याण-उपवन सींचा जायगा। सच्चाई की भलाई अकथनीय है।

विना सचाई के वह परम पिता जगदीश्वर प्रसन्न नहीं होता और सचाई देखते ही वह सच्चा परमेश्वर झट कृपामय दृष्टिपात करता है। फारसी में एक बड़े भारी विद्वान् का कथन है कि 'रास्ती मोजिबे रज़ाय ख़ुदास्त' अर्थात् सचाई ईश्वर की प्रसन्नता का मूल कारण है। अंगरेज विद्वानों की भी यही सुसम्मति है—

Honesty is the best policy.

अर्थात्—सचाई एक सर्वोत्तम नीति है (जो मनुष्य को कुपंथ से निवारण कर सुपंथ में चलाती है)।

अँगरेजी की एक सूक्ति इस विषय में कैसी सुन्दर है—I prize honesty above riches. अर्थात् कुबेर की विभूति से भी सचाई का मूल्य अधिक है।

पुनः—A clean mouth and honest hand,
Will take a man through any land.

सच्ची-सच्ची बोली, सच्चा-सच्चा काम।
जहाँ-जहाँ चला जाय, तहाँ-तहाँ धाम।

The wretch that often has deceived—
Though truth he speaks is never believed.

अर्थात्—'जिस अभागे ने एक बार धूर्तता से किसी को धोखा दे दिया है, वह यदि पुनः सत्यवादी भी हो जाय तो भी किसी मनुष्य का विश्वास-भाजन नहीं हो सकता'। सब लोग यही कह उठेंगे कि—'सत्तर चूहे खाकर बिल्ली चली हज को।'

जैसे कोई मद्य बेचनेवाला कुछ दिनों के बाद दूध की हाँड़ी लिये फिरे तो कोई मनुष्य उसको दूधवाला कहकर नहीं पुकारेगा।

"What a tangled web we weave.
When first we practise to deceive."

अर्थात्—जब हमलोग पहले-पहल धूर्तता करते हैं तो कैसा उलझाया हुआ जालीदार जाल बुनते हैं, (जिसमें यह पवित्र आत्मा फँसकर अनेक प्रकार के कष्ट सहती है।)

एक अनुभवी पुरुष का वाक्य है कि जिसने हमको एक बार धोखा दिया, वह तो निस्सन्देह धिक्कार का पात्र है ही, परन्तु जब वही दूसरी बार हमीं को धोखा दे तो हमें कोटिशः धिक्कार है।

सचाई की सीधी बाट पकड़ने पर किसी प्रतापी महाराजा से भी भय नहीं है; क्योंकि यह साधारण कहावत है कि 'साँच को आँच क्या'? इसी तरह धर्म का मर्म जाननेवाले ने कहा है—'न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा।' यह भी प्रसिद्ध है कि 'साँचे राँचे राम'।

जैसे अग्नि में दाह कर, कसौटी पर कसकर, सुनार सोने की जाँच करता है, वैसे ही परमेश्वर भी विपत्तिरूपी अग्नि में धीर सज्जन पुरुष रूपी कंचन को तपा कर सचाई की कसौटी पर कसकर जाँच करते हैं।

धूर्त्त मनुष्य पर यदि आपत्ति आती है तो कोई ऋणदाता भी नहीं मिलता; क्योंकि उसकी धूर्त्तता से परिचित लोग जानते हैं कि उसको अन्त में टाट उलटना है और मिथ्याभियोग सम्पादन करके झगड़े पर कटिबद्ध होना है। किन्तु सच्चे पुरुष के ऊपर जब आपत्ति आ पड़ती है तब ईश्वर तो उसके प्रधान सहायक सर्वत्र सर्वदा हैं ही, लौकिक जन भी तन-मन-धन से उसकी सहायता करने लग जाते हैं और ऋणदाता सेठ भी स्वयं उसको द्रव्य देने पर उद्यत हो जाते हैं; क्योंकि वह तो सच्चा पुरुष है, उसके लिए साक्षी अथवा पत्र-लेखन की आवश्यकता नहीं है।

An honest man's word is as good as his bond.

अर्थात्—'सच्चे पुरुष का वाक्य ही सहस्र साक्षी और स्वीकार-पत्र के तुल्य है'। वह तो सचाई पर अखिल ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य को न्योछावर कर देता है। सचाई के सामने स्वर्ग की सम्पदा भी तुच्छातितुच्छ समझकर तीन कौड़ी पर (नीलाम कर) बेंच देता है।

जिस दिन सच्चा मनुष्य ऋण ग्रहण करता है, उसी दिन से उसके हृदय-पट पर वह बात अमिट अक्षरों में अङ्कित हो जाती है। सचाई की पगड़ी सिर पर रखकर महान् पुरुष बेखटके सर्वत्र सानन्द सदा विचरते हैं और सत्सभा में, पंचायत में और अपने समाज में आदर पाते हैं।

An honest countenance is the best passport.

अर्थात् 'सच्चे मनुष्य की देवढ़ी कहीं नहीं लगती'। जब ईश्वर की देवढ़ी उसके लिए सदा खुली है तब दूसरे दरवान क्या रोकेंगे, क्योंकि सचाई की पगड़ी में बड़ी चमक-दमक और प्रतिष्ठा है; देखते ही सबके नेत्रों में चकाचौंध छा जाती है।

जिस देश में अथवा जिस नगर में या ग्राम में सचाई ने धूम मचाई है—उस जगह यह अवश्य ही लोचन-गोचर हो रहा है कि सकल वैभव-विलास उन्नति-सोपान द्वारा कल्याण के सर्वोच्च चूड़ान्त-शिखर पर क्रमशः चढ़े जा रहे हैं। किन्तु जहाँ धूर्तता का अटल साम्राज्य छा रहा है—वहाँ चारों ओर की सम्पदा-समृद्धि पर पानी फिर गया और सब कोई निहंग-लाडले से बन गये। ऐसे दृश्य दुर्लभ नहीं हैं।

यदि आप सर्वसाधारण जनों के विश्वासपात्र बनना और सर्वत्र आदर-मान पाना चाहते हैं तो, श्रद्धापूर्वक सचाई की शरण लीजिए, जीविका मात्र के लिए धोखेबाजी मत कीजिए और किसी की आँख में मुट्ठी-भर धूल डालकर उसका गला मत घोंटिए।

याद रखो पाठको! टट्टी की ओट में शिकार खेलना सीखने से कौड़ा के तीन हो जाओगे। निष्पाप जीविका का आश्रय लेना भले पुरुषों का मुख्य कर्त्तव्य है। अनर्थोपार्जित जीविका शोक और शंका तथा आत्म-ग्लानि से भरपूर होती है। 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'—ऐसी उत्तम दृष्टि रक्खो; क्योंकि धूर्तता द्वारा प्राप्त धन सर्वनाशी होने के कारण सर्वथा त्याज्य हैं।

सच्चे मनुष्य का हृदय नारियल के समान समुज्ज्वल है और धूर्तों की ऐसी दशा है कि जैसे बेर फल की। धूर्त्त तृणाच्छादित कूप के समान, आपात-मनोहर होते हैं और मेंहदी के पत्ते में जैसे लाली नहीं देख पड़ती वैसे ही उन लोगों की बात-बात में गुप्त घात है।

Look like the innocent flower.
Bnt be the serpent under it."—(*Macbeth*)

भावार्थ—'मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदये तु हलाहलम्'—
'विषकुम्भं पयोमुखम्'—'विष-रस भरा कनक-घट जैसे'

किसी विद्वान् की सम्मति ऐसी है—"चोरी-जुआड़ी से मुख मोड़े हुए, धूर्तता तथा कपटादि कुत्सित पापों से मन तोड़े हुए, और सचाई से दिल जोड़े हुए, धर्म्मपरायण कृषकों की बलीवर्द-विशिष्ट पर्णशाला के सामने परवित्तापहारी अधर्मोपजीवी लक्षाधीश्वरों की अश्व-गजरथ-शोभिनी चित्तचमत्कारिणी प्रासाद-श्रेणी भी मलीन जान पड़ती हैं। भूखे धार्मिक कृषकों का कदली-पत्रस्थित निरुपकरण तण्डुलकण-कवल, छलाच्छन्न दूषितकर्मा ऐश्वर्य शाली सेट धनिकों के स्वर्णपात्रारुढ़ सौरभ परिपूर्ण सुस्निग्ध बहुव्यंजन की अपेक्षा सहस्र-गुण विशुद्ध और तृप्तिकर है। निस्सन्देह वह गृहस्थ-धर्मपत्नी धन्यवाद की पात्री है जो अपने पुत्र और कन्या का मुख-मण्डल दारिद्र्यपीड़न से हिमानीसिक्त पद्मवत् ग्लान देखकर नदी-सैकत-शय्या पर चिर-निद्रा में अभिभूत हो जायगी, पर सचाई के सिवा अपने बच्चों को धूर्तता की तुकबन्दी नहीं सिखायेगी।"

सचाई के बिना परस्पर-मित्रता, भ्रातृस्नेह और दाम्पत्य प्रेम कभी स्वप्न में भी स्थिर नहीं रह सकते। अतः इस पावन अन्तरात्मा को धूर्त्तता से छल-पाखण्ड से, दूषित न कर सचाई से भूषित करना चाहिए।

दुग्ध और जल में सच्ची मैत्री रहने ही से दोनों एक रंग के—एक भाव के—हो जाते हैं और कपट-खटाई पड़ते ही दोनों विलग हो जाते हैं। जैसे शंकर जी से सती ने ऐसा कपट किया था कि उसके बदले उनको बहुत कष्ट सहना पड़ा।

धूर्त्तता से यद्यपि पहले सुख मिलता है, पर वह सुख 'चार दिन की चाँदनी फिर अँधेरी रात' है। वह ऐसी चंचला है जो झट अपने चांचल्य की छटा दर्शाकर विलुप्त हो जायगी। अन्त में मारे-मारे फिरना पड़ेगा और दुख झेलते-झेलते छक्के छूट जायँगे। विचारकर देखिए कि सचाई का पारितोषिक कैसा है और धूर्त्तता से क्या-क्या लाभ-हानियाँ होती हैं। दिग्दर्शन-मात्र एक दृष्टान्त केवल लेखपुष्टि के वास्ते दर्शाया जाता है—

एक बढ़ई किसी नदी के तीर पर लकड़ी काट रहा था। अकस्मात् उसकी कुल्हाड़ी नदी के गम्भीर जल में गिर पड़ी। वह बेचारा निरुद्यम होकर महा विलाप करने लगा। नदी की अधिष्ठात्री देवी एक स्वर्ण कुठार लेकर निकली और उसे देने लगी। वह बोला-'नहीं-नहीं, यह हमारी कुल्हाड़ी नहीं है।' तब वह एक चाँदी की कुल्हाड़ी ले आई। तब भी उस सच्चे बढ़ई ने अस्वीकार किया। तदुपरान्त वही लोहे की असली कुल्हाड़ी जब वह ले आई, तब वह हर्षितचित्त से लेने को दौड़ा। ऐसी गाढ़ी दृढ़ सचाई देख देवी ने उसकी कुल्हाड़ी दे दी और पारितोषिक रूप में सोने-चाँदी की दोनों कुल्हाड़ियाँ भी दे दीं।

यह देख एक धूर्त्तमना बढ़ई उसी तरह अपनी कुल्हाड़ी फेंक कर नदी-तट पर रोने लगा। वह देवी सोने-चाँदी की कुल्हाड़ी लेकर पूर्ववत् आई और देने लगी। यह देख

वह बूढ़ा लोभी बढ़ई हाथ पसारकर लेने दौड़ा। ऐसी सचाई की कचाई देख वह देवी झट जल में पैठ गई। सोने-चांदी की कुल्हाड़ी तो ऐसे बनावटी कच्चे ईमानदार को मिलना असम्भव था ही, उसकी अपनी लोहे की कुल्हाड़ी भी पानी में ही रह गई।

सचाई से बढ़कर कोई अच्छा गुण संसार में नहीं है।

"राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेय।
जैसी जिसकी चाकरी, वैसा ही भर देय।"

--मासिक 'लक्ष्मी' (गया), अप्रैल, सन् १९१२ ई०

●

हिन्दी में हास्यरस की कविता

[१]

हिन्दी-साहित्यानुरागियों को यह भली भाँति मालूम है कि हिन्दी-काव्य-संसार में शृङ्गाररस का अटल साम्राज्य है। शृङ्गाररस को सम्राट् का पद प्राप्त है तो शान्त रस प्रधानमन्त्री और वीररस सेनाध्यक्ष तथा रौद्र एवं भयानक रस सैन्य-सचिव के समान हैं। अद्‌भुत रस दरबारी बहुरूपिया और करुण रस दरबारी कवि हैं। किन्तु बेचारे हास्य रस को सम्राट् के दरबार का गायक विदूषक कहने में कोई हानि नहीं।

हास्य रस की ओर कवियों की कलम ने कोताही की है। कवियों ने इसके साथ पूरा न्याय नहीं किया है। शृङ्गार, करुण, वीर, शान्त आदि प्रमुख रसों पर ग्रन्थ लिखे गये हैं; पर हास्य रस पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं—केवल स्फुट कविताएँ ही हैं।

यथार्थतः शृङ्गार ही हास्य का परिपोषक है। उसीके साथ इसकी यथेष्ट शोभा होती है। अतएव शृङ्गार यदि सूर्य है तो हास्य सरोज है। शृङ्गार चन्द्रमा और हास्य कुमुद है।

कुरूपता—विचित्र आकृति, कृत्रिम अंग-भंगी, चमत्कारपूर्ण बात कहना आदि हास्यरस को उद्दीप्त करनेवाले हैं। इसका रंग श्वेत है, क्योंकि हँसने पर दन्तपंक्ति चमकती है अथवा आनन्द का रंग उज्ज्वल है। इसके तीन भेद हैं—अट्टहास, हास और स्मित। अट्टहास वह है जिसमें उच्च स्वर, मुख एवं नेत्र की आकृति किञ्चित् विकृत तथा शरीर में चंचलता का संचार हो। हास वह है जिसमें औद्धत्य के बदले माधुर्य हो—मुखमण्डल पर प्रसन्नता का प्रकाश और आँखों में विकास तथा हृदय में उल्लास हो—विकच दन्तकुसुमावली की द्युति से वदन शोभायमान हो। किन्तु स्मित (मुस्कान) में कुछ और ही मजा है। इसका लुत्फ ही निराला है। मुस्कान में जो मिठास है, वह किसी में नहीं है। यह स्मित बड़ा सुकुमार और सुहावना होता है।

अब अट्टहास, हास और स्मित का प्रत्यक्ष रूप क्रमशः देखिए—

अट्टहास

हँसि बोला दसमौलि तब, कपिकर गुन बड़ एक।
जो प्रतिपालै तासु हित, करै उपाय अनेक॥

हास

१. मुनिहिं मोह मन हाथ पराये, हँसहिं सम्भुगन अति सचु पाये।
२. आवा प्रथम नगर जेहि जारा, सुनि हँसि बोलेउ बालिकुमारा॥

स्मित

१. पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं, देखि दसा हरगन मुसुकाहीं।
तब हरगन बोले मुसुकाई, निज मुख मुकुर विलोकहु जाई।
२. निज मायाबल देखि बिसाला, हिय हँसि बोले दीनदयाला।
३. देखि सिवहिं सुरतिय मुसकाहीं, बर लायक दुलहिन जग नाहीं।

पाठक-प्रवर! अब केवल स्मित का मधुर-मनोज्ञ चित्र देखिए। स्मित सचमुच विस्मित करनेवाले रसानन्द से भरपूर है।

को बिनु मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसुकान मिठाई।

खूब गौर करके विचारिए कि इस सवैये में मुसुकान की मधुरिमा की कितनी मात्रा है—

चन्द्रकला चुनि चूनरी चारु दई पहिराय लगाय सुरोरी॥
बेनी बिसाखा रची 'पदमाकर' अञ्जन आँजि सँवारि कै गोरी।
लागि जबै ललिता पहिरावन कान्ह को कंचुकी केसर बोरी।
हेरि हरे मुसुकाइ रही अँचरा मुख दै वृषभान किसोरी॥

पद्माकर तो बड़े रसिक थे, एक विरागी-शिरोमणि कवि ने निष्कलंक मुस्कान का वर्णन किया है—

कोटि मनोज लजावनिहारे, सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन मँह मुसुकानी।
तिनहिं बिलोकि बिलोकेउ धरनी, दुहुँ सँकोच सकुचति बरबरनी।
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी, बोली मधुर बचन पिकबयनी।
सहज सुभाव सुभग तन गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे।

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मञ्जु तिरीछे नैननि, निजपति कहेउ तिनहिं सिय सैननि।*

—(रामचरितमानस)

तुलसी की इन चौपाइयों में लगातार जितने भव्य भाव आते गये हैं; एक-से-एक अनूठे हैं; पर सबको सुधासिक्त करनेवाला 'स्मित' ही है। वस्तुतः मुस्कान ही मुखड़े का मंडन है।

जैसे रसराज शृङ्गार के देवता विष्णु हैं, वैसे ही हास्य के देवता प्रमथ हैं और प्रमथ-नाथ विरूपाक्ष शंकर तो हास्य रस के साक्षात् उद्दीपन-विभाव ही है।

देखिए—हिन्दी-कवियों ने कैलासपति के साथ कैसी गहरी चुटकी ली है! चित्त-प्रसादक भावों को प्रकट करने के चमत्कृत और विनोदपूर्ण ढंग पर ध्यान दीजिए—

†सम्भु को बाहन बैल बली बनिताहू को वाहन सिंहहि पेखि कै।
मूसे को बाहन है सुत एक सो दूजो मयूर के पच्छ बिसेखि कै।
भूषन है 'कवि चैन' फनिन्द के वैर परे सबते सब लेखिकै।
तीनहुँ लोक के ईस गिरीस सु जोगी भये घर की गति देखिकै॥

बमभोलाबाबा को सीधा सपाटा समझकर कैसा आड़े हाथ लिया है! उससे भी गाढ़ा रंग यहाँ देखिए—

बार बार बैल को निपट ऊँचो नाद सुनि हुंकरत बाघ विरुझानो रसरेला में।
'भूधर' भनत ताकी बास पाय सोर करि कुत्ता कोतवाल को बगानो बगमेला में।
फुंकरत मूषक को दूषक भुजङ्ग तासों जंग करिबे को झुक्यो मोर हदहेला में।
आपस में पारषद कहत पुकारि कछु रारि सी मची है त्रिपुरारि के तबेला में॥

अच्छा, अब कई पुश्त की उधरनी भी सुन लीजिए। बाप से ही गरदानते हैं—यही खैर है कहीं और ऊपर बढ़ते, तो बाप के साथ अनर्थ कर डालते; क्योंकि वे 'अज' हैं। शिवजी सहज ही असावधान (बेसुध) और निश्चिन्त हैं—सरलता और सादगी की प्रत्यक्ष

*पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छ्यमाना, कुवलयदलनीलः कोऽयमार्य्यं तवेति।
स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रं मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता॥"

—हनुमन्नाटक

†अत्तुं वाञ्छति वाहनं गणपतेराखुं क्षुधार्त्तः फणी
तञ्च क्रौञ्चपतेः शिखीश्च गिरिजा सिंहोऽपि नागाननम्।
गौरी जह्नुसुतामसूयति कलानाथं कपालाननम्
निर्विण्णः स पपौ कुटुम्बकलहादीशोऽपि हालाहलम्॥

मूर्त्ति हैं, तभी तो कवियों की शोखी और गुस्ताखी सुनसुन कर हँसते हैं—किसी के लिए तो औढरदानी भी बनते हैं। देखिए—

चतुरानन बाप पँचानन आप षड़ानन बेटो गजानन भाई।
सेवक एक दसानन सो सहसानन अंग रहे लपटाई।
गोद में लीने बरानन को अरु सीस सितानन है सुखदाई।
काहे न होय सदा सुखिया बरदा घर एक सबै बरदाई॥

अधिक कहाँ तक अब शिवजी की शिकायत सुनायें। कवियों ने हास्यरस के देवता पर यह कहावत चरितार्थ की है—भरि फागुन 'बुढ़ऊ' देवर लगिहैं। पद्माकर की एक उक्ति सुनकर समझ जाइए कि शिवजी के साथ कैसी छूटकर होरी मची है—

लोचन असम अङ्ग भसम चिता को लाय तीनों लोकनायक सो कैसे कै ठहरतो।
कहैं पदमाकर विलोक इमि ढंग ताके वेद हू पुरान गान कैसे अनुसरतो।
बाँधे जटाजूट बैठे परवत के कूट माँहि महाकालकूट कही कैसे कै ठहरतो।
पीवै नित भङ्ग रहे प्रेतन के सङ्ग ऐसे पूछतो को नङ्ग जो न गङ्ग सीस धरतो॥

हद हो गई! क्या शिवजी शीश पर गंगा न उठाते तो उनकी कोई प्रतीति नहीं करता? शायद शिवजी भी शायरों की तरह निहंग हैं। इसी से दोनों फक्कड़ों में पटती भी है!

अब परम पितामह से भी एक कवि कुछ कूटि करते हैं। धन्य हैं कवियों की निरंकुशता! कितने खुदसर दिमाग के होते हैं वे!

गृहिन दरिद्र गृहत्यागिन विभूति दीन्ही प्रेमिन वियोग पुन्यवंत हू छलो गयो।
ग्रहन ग्रहेस कियो सनी को सुचित्त लघु ब्यालन अनन्द सेष भारन दलो गयो।
फेरन फिरावत गुननि द्वार-द्वार नीच गुनन विहीन घर बैठे ही भलो भयो।
कौन-कौन बात कहौं तेरी एक आनन तें नाम चतुरानन पै चूकतो चलो गयो॥

वैयाकरणों की भी खबर ली गई है—

"ब्याकरनवारे मतवारे कहा जानैं सारे वारि जो नपुंसक तो बारिज न चाहिए।"
"ब्याकरनवारे ग्यानचच्छु ते निहारैं नाहिं मानैं मन खोजा तो मनोज कौन जायो है?"

सूमों की दुर्दशा देखने योग्य है। कंजूसों को कवियों ने खूब जली-कटी सुनाई है!

दूध को कहत छीर दूब को सुघास कहैं दाड़िम अनार नाम धरिकै रहत हैं।
दरपन को आरसो त्यों दल को कहत पत्र दुनी को जहान कहि सुख को लहत हैं।
'बल्लभ' दकार कबौं कान परे वाके कहूँ छोड़ि के मकान हाँ ते भागन चहत हैं।
दाई हू को ताई-ताई कहिकै पुकारैं और देइबे के डर ते वे तो दद्दा ना कहत हैं॥

सच है भी कि 'सूम को रहत दुइ बातन की तंगी एक ईश्वर-निमित्त औ कवीश्वर कहँ दीबै को'। इसी लिए एक कवि ने कृपण से उसकी सम्पत्ति के सामने क्या खूब कहलवाया है—

दाता घर होती तो कदर तेरी जानी जाती आई है भले घर बधाई बजवाव री।
खाने तहखानन में आनि के बसेरा लेहु होहु ना उदास चित्त चौगुनो बढ़ाव री।
खैहौं ना खवैहौं मरि जैहौं तो सिखाय जैहौं यहि पूत नातिन को आपनो सुभाव री।
दमरी न देहौं कबौं जाने में भिखारिन को सूम कहै सम्पति सो बैठी गीत गाव री॥

भला ऐसे-ऐसे मक्खीचूसों के रहते दाता का पता कहाँ है। अब तो घोर महँगी व्याप रही है। अमीर वे ही हैं जो—"खाइ के पान बिदोरत ओठ हैं बैठि सभा में बने अलबेला, सान करें बड़ि साहिबी की अरु दान में देत न एक अधेला;" क्योंकि वे प्रायः सोचते रहते हैं, और कभी-कभी प्रकाश्य भाव से कह भी देते हैं—

जा में दू अधेली चार पावली दुअन्नी आठ ता में पुनि आना सखि सोलह समात है।
बत्तिस अधन्नी जा में चौंसठ पईसा होत एक सौ अठाइस अधेला गुनमात है।
जुग सत छप्पन छदाम ता में देखियत दमरी सु पाँच सत बारह लखात है।
कठिन समैया कलिकाल को कुटिल दैया सलग रुपैया भैया कापै दियो जात है॥

सचमुच दान की रकम का हिसाब लगाने में कृपण दानी ने रुपये का रोम रोम उखाड़ डाला है। दान की दशा दयनीय है। ऐसे ही फिसड्डी दानवीरों की ओर इशारा करके एक कवि ने बड़ी समीचीन बात कही है—

दानी कोउ नाहिन गुलाबदानी पीकदानी गोंददानी घनी सोभा इनही में लहे हैं।
मानत गुनी को गुनही में प्रगटत देखो याते गुनी जन मन सावधानी गहे हैं।
हयदान हेमदान गजदान भूमिदान सुकवि सुनाये औ पुरानन में कहे हैं।
अब तो कलमदान जुजदान जामदान खानदान पानदान कहिबे को रहे हैं॥

अतः उदार दाता के अभाव और कृपणों की संख्यावृद्धि से कवि लोग एकदम निराश्रय हो गये हैं। इसीलिए दान की दुर्गति दरसानेवाले हास्यरस में घृणा का भाव व्यंजित है। यदि कवियों को सुखाश्रय प्राप्त होता तो वे क्यों बेकार कहने जाते कि—

साह भये सूमड़ा सु बादसाह हीनहद्द खग्गे खगरेटन दुसाला बेच खाई है।
भोले भये भूपति कनौड़े धनवन्त सब मूरख महन्त अन्ध देत ना दिखाई है।
कायथ कपूत भये कूर रजपूत धूत बनिया बरूथ पेखि पुञ्ज पछिताई है।
काके ढिग जाईं काहि कवित सुनाईं भाई अब कवितोई रही फजिहतिताई है।

अगर सौभाग्यवश कहीं मन-माफिक दरबार मिल भी जाता है तो बीच में ये चुगलखोर अपनी टाँग अड़ा देते हैं।

कवियों ने चुगली खानेवालों की भी खूब खबर ली है। देखिए—चुगलखोरों की सजा और जिल्लत !

पन्ना के पँड़ोर गढ़ झन्ना के झवैया झरि झाल्दार झाँसी के भवैया भानपुर के।
कहैं कवि 'कुन्दन' कमायूँ के कुम्हार भाँड़ दाउद के दरजी दमामी दानपुर के।
तेली तिलंगान के तमोली तेजगढ़वाले भावज के भाँगड़ सोनार सोनपुर के।
येते मिलि मारैं जूती चुगल-चवाई सोस कालपी के कूँ जड़े कसाई कानपुर के॥

लेकिन इतनी जूतियों से चाँद गंजी करके भी जान नहीं छोड़ी। जी-जान से कुढ़कर शाप दे ही दिया—

खात हैं हराम दाम करत हराम काम घर-घर तिनहीं के अपजस छावेंगे।
दोजख में जैहैं तब काटि-काटि कीड़े खैहैं खोपरी को गूद काग टोंटनि उड़ावेंगे।
कहैं करनेस' अबै घूसनि तें बाजि तजे रोजा औ निमाज अंत जम कढ़ि लावेंगे।
कबिन के मामले में करैं जौन खामी तौन नमकहरामी मरे कफन न पावेंगे॥

किसी सेठ राजा ने एक विनोदी कवि को घोड़ा इनाम देने का वादा किया। कवि ने विदा होने के वक्त घोड़ा माँगा। जवाब कैसा खासा मिला सो सुनने ही लायक है—

देन कह्यौ घोड़ा ताहि अबहीं तू माँगत है अबहीं तो घोड़ा जब घोड़ी-सों लगाइए।
तब जाय जनिहै महीना दस बारह में जतन अनेक जगदीस जो जियाइए।
पाछे दूध प्याइ पालि-पोसि के खवाय बाय मुँह दै लगाम असवारी को सिखाइए।
आपु चढ़ि बेटा चढ़ि तिनहूँ के नाती चढ़ि तब जाय तोहि कहूँ पाइए तो पाइए॥

खैर, किसी तरह कहने-सुनने से घोड़ा मिला। इनाम की चीज बड़ी प्यारी होती है। कविजी ने जीन-सवारी भी नहीं कसी थी कि इतनी ही देर में 'दुहाई सरकार की' आवाज उठानी पड़ी—

घोड़ गिर्यो घर बाहर ही महराज ! कछू उठवावन पाऊँ।
ऐंड़ो परो बिच पैंड़ोई माँझ चलै पग एक ना कैसे चलाऊँ।
होय कँहारन को जु पै आयसु डोली चढ़ाय यहाँ तक लाऊँ।
जीन धरौं कि धरौं तुलसी मुख देउँ लगाम कि राम कहाऊँ॥

लेकिन शिकायत सुनता कौन है ? फरियाद फीकी पड़ गई। कविजी मुँह लटकाये घोड़े के पास आये। कुछ लोगों ने उन्हें बेहाल देखकर पूछा, कविजी ! माजरा क्या है ?

तब उन्होंने झुँझलाकर कहा—यह तो बाबा आदम के समय का बूढ़ा घोड़ा है—

सूरज के रथ लागे रह्यो याके आगे भयो कई बार कन्हैया।
लोमस की लरिकाई के खेल को भूल गयो जग को उपजैया।
ऐसो तुरंग मँगाय के भूपति दान में काढ़्यो दरिद्र को छैया।
झुण्डन काग लगै फिरैं संग मनो यह कागभुसुण्ड को भैया।

बेचारे कवि ने घोड़े को जैसा का-तैसा—जहाँ-का-तहाँ—छोड़ दिया। हताश हो घर गये। कुछ ही दिनों के बाद वह घोड़ा उठकर कहीं घूमने-फिरने लगा। लोगों ने चिढ़ाने के लिए कविजी से पूछा, यह तो शायद वही आपका घोड़ा है? कविजी ने मन-ही-मन हँसकर, माथा ठोककर, झुकते हुए कहा—

चींटी लगीं चहुँ पाँयन में अरु माछी लगी औ मछेव लगैयाँ।
ऊपर काग किलोलें करैं चिल्हिया चिचियात फिरैं चहुँ ठैयाँ।
स्वानन घात लगाये रहैं अरु गिद्ध सियार की सिद्ध रसैयाँ।
घूमत घोड़ फिरै कवि दान के ना कवि लेत ना लेत गुसैयाँ॥

ऐसे ही सूमड़े दानी अपने पितरों का श्राद्ध करने में भी बेहद कंजूसी करते हैं—किसी तरह रस्म-अदायगी करके बला टालते हैं। वे चाहते हैं कि 'हर्रे लगे न फिटकरी, रंग चोखा ही होय।' इसी लिए एक कवि श्राद्ध के पेड़े की प्रशंसा में कहते हैं—

चींटीं न चाटत मूसे न सूँघत बास ते माछी न आवत नेरे।
आनि धरे जब ते घर में तब ते रहे हैजा परोसिन घेरे।
माटिहु में कछु स्वाद मिलै इन्हें खाय सो ढूँढ़त हर-बहेरे।
चौंकि पर्यो पितु-लोक में बाप सो आपके देखि सराध के पेरे॥

धन्य ऐसा श्राद्ध और धन्य ऐसी श्रद्धा! ऐसे ही कंजूसों के नाना साहुजी जब श्राद्ध करने बैठे—

दाम की दाल* छदाम के चाउर घी अँगुरीन लै दूरि दिखायो।
टोनो सो नोन धर्यो कछु आनि सबै तरकारिन नाम गिनायो।
बिप्र बुलाय पुरोहित को अपने दुख को बहु भाँति सुनायो।
साहुजी आज सराध कियो सो भलो बिधि सों पुरखा फुसलायो॥

---

*साल छं सात की दाल दराय के साहु कह्यौ यह लेहु नई है।
फूँक दई लकरी बहुतेरिक साँझ ते आधिक राति लई है।
खाय लियो अकुताय कें काँचहीं चाकरी चूल्हे निहारि गई है।
खोय दियो मुजरा दरबार को दाल दधीचि की हाड़ भई है॥

सचमुच आजकल ऐसे ही सैकड़ों श्राद्ध हो रहे हैं और हुआ करते हैं। ठीक ही तो है। भूलोक में महँगी और अकाल है तो पितरलोक में उसका प्रभाव पहुँचना ही चाहिए। खैर, कई साल के लगातार अकाल में भी एक कंजूस तुलादान का विधान कर रहा है—

साल भरे पर पथ्य लियो षट मास उपास कियो फिर ऐंठ्यो।
माघो' कहै नित मैल छुड़ावत दांतन दीन्हें तुराय घों कैंठ्यो।
कोऊ कहूँक जो देत खवाय तो कै करि डारत सोच में पैठ्यो।
मूँड़ घुटाय औ मूँछ मुँड़ाय त्यों फस्त खुलाय तुला चढ़ि बैठ्यो।

—मासिक 'धर्म्माभ्युदय' (आगरा); वर्ष ३, अङ्क १, जनवरी, १६२० ई०

[२]

होली हास्यरस की उद्दीपिका है। होली में हर तरफ, हर जगह, हँसी के फव्वारे छूटते रहते हैं। हर एक आदमी का हृदय उमंग की तरंग में आनन्द के हिलोरे लिया करता है। लोगों के मन में स्वाभाविक प्रेम की लहर उमड़ने लगती है। फागुन को लोग मस्त महीना भी कहते हैं। आबाल-वृद्ध नर-नारी एक अजीब मस्ती में चूर हो जाते हैं। जो जहाँ रहता है, वहीं मौज उड़ाता है। ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, छूत-अछूत, बूढ़ा-जवान—सब-के-सब एक ही रंग में रँग जाते हैं। कितने मनचले यारों के सिर पर सनक सवार हो जाती है। वास्तव में यह एक विचित्र त्योहार है। हम चाहते हैं कि आप होली में अश्लील हास्य छोड़कर शुद्ध साहित्यिक हास्य से अपना मनोरंजन करें।

हिन्दी में शृंगार रस की कविताओं का बाहुल्य है। हास्यरस की कविताएँ भी एकदम कम नहीं हैं। हिन्दी-कवियों ने शृंगार-रस की तरह हास्य रस को तो नहीं अपनाया है, पर जो कुछ ही हास्य-रस की सामग्री हिन्दी-काव्य-साहित्य में उपलब्ध है, वह भावपूर्ण, मधुर, अनूठी और सहृदय-हृदयाह्लादक है। जगत्प्रसिद्ध 'श्री रामचरितमानस' में भी गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहीं-कहीं हास्यरस की धारा बहा दी है। नारद-मोह और शिव-विवाह तथा परशुराम-लक्ष्मण-संवाद के प्रसंगों में तो हास्य-रस की अद्भुत बहार है। शूर्पणखा-नासिका-भङ्ग और अंगद-रावण-संवाद के प्रकरणों में भी बड़ी मीठी-मीठी चुटकियाँ हैं, जिनमें हास्य-रस का अच्छा पुट तथा चमत्कार है। गोसाईं जी की रामायण प्रायः घर-घर पढ़ी जाती है। अतएव उपर्युक्त प्रकरणों के उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है। हाँ, महाकवि सूरदास जी की एकाध उक्तियाँ सुनिए जो हास्य-रस की तो नहीं हैं, पर हास्यरसोत्तेजक अवश्य हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती[1] बार मोहि दूध पियत भइ यह अजहूँ[2] है छोटी॥
तू जो कहति बल[3] की बेनी[4] ज्यौं ह्वै हैं लाँबी मोटी।

१. कितने दिन। २. अब भी। ३. बलराम। ४. चोटी।

काढ़त गुहत नहावत ओंछत[1] नागिन-सी भ्वैं[2] लोटी ॥
काँचौ दूध पियावत पचि-पचि देत न माखन रोटी।
'सूर' स्याम चिरजिवो दोउ भैया हरि हलधर की जोटी[3] ॥

× × ×

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन सँग तबहिं खिजत[4] बल भैया ॥
मो सों कहत तात[5] बसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दे वसुदेव को करि-करि जतन बटैया[6] ॥
अब बाबा कहि कहत नन्द को जसुमति[7] को कहै मैया।
ऐसेहिं कहि सब मोहि खिझावत तब उठि चलो खिसैया ॥
पाछे नन्द सुनत हैं ठाढ़े हँसत हँसत उर लैया।
'सूर' नन्द बलरामहिं धिरयो सुनि मन हरष कन्हैया ॥

ऐसी-ऐसी मनःप्रसादकारिणी अनोखी उक्तियाँ सूरदास की बाल-लीला-सम्बन्धी रचनाओं में बहुत हैं। बालक श्रीकृष्ण की उक्तियों में वही मनोरंजक भाव है जो माता-पिता के लिए सन्तान की तोतली बोली में होता है। सूर की सूझ की बलिहारी!

अब ब्रह्म कवि (बीरबल) का हँसोड़पन देखिए—

पूत कपूत कुलच्छनि नारि लराक परोस लजावन सारो।
बन्धु कुबुद्धि पुरोहित लम्पट चाकर चोर अतीथ धुतारो।
साहब सूम अराक तुरंग किसान कठोर दिवान नकारो।
'ब्रह्म' भनैं सुनु साह अकब्बर बारहो बाँधि समुद्र में डारो ॥

लोकभाषा के कवि 'घाघ' की कविताओं में भी हास्यरस की कमी नहीं है। जन-भाषा में भी वे बड़े पते की कह गये हैं। उनकी उक्तियों में हास्य के साथ साथ नीति-शिक्षा भी है—

नसकट[9] खटिया दुलकन[10] घोर, कहें घाघ यह बिपतिक ओर।
बाछा[11] बैल पतुरिया जोय[12], ना घर रहे ना खेती होय ॥
कचकट[13] पनही बतकट[14] जोय, जो पहिलौंठी[15] बिटिया होय।
पातरि[16] कृषी बौरहा भाइ, कहै घाघ दुख कहाँ समाइ ॥

---

१. अँगोछती—सँवारती है। २. भुइँ, जमीन। ३. जोड़ी। ४. चिढ़ाते हैं। ५. पिता। ६. हिस्सेदारी। ७. यशोदा माता। ८. धमकाया। ९. ऐसी खाट जिस पर पूरा पैर न पसारा जा सके। १०. दुलकी चाल चलनेवाला टट्टू। ११. अलहड़ बैल। १२. वेश्या पत्नी। १३. पैर काटनेवाली। १४. बात काटनेवाली। १५. पहली बार। १६. कमजोर।

होली में हल्के-फुल्के हास्य की बहार खूब सुहाती है। व्रजमण्डल ही होली का केन्द्र माना जाता है। वहाँ की होली का मधुर मनोज्ञ हास्य बड़ा कोमल है। लोकललाम घनश्याम को गोपियाँ धमका रही हैं—

झारी झिनारी की सारी सजाय कै नौरँगिया अँगियाहू पिन्हैहौं।
कै कच काँगही काजर दै सजि भूषन बेंदी औ बिन्दी लगैहौं।
सीस पै गेडुरी गागर पै लघु गागरि दै नगरी में नचैहौं।
देखिहैं गोरी सुहोरी में आजु बिहारी तुम्हैं पनिहारी बनैहौं॥

कैसी मीठी धमकी है! एक दूसरी धमकी में चेतावनी का रंग देखिए; प्रेम की पैतरेबाजी दर्शनीय है—

फाग की भीर अभीरिन त्यों गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पदमाकर' ऊपर नाय अबीर की झोरी।
छीनि पिताम्बर कामरिया सो बिदा दई मींजि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसक्याय लला फिरि आइयो खेलन होरी॥

होली खेलने का जो ढंग एक गोपी बतला रही है, वह भी समझदार के समझने योग्य है—

खेलिए फाग निसंक है आज मयंकमुखी कहै भाग हमारो।
लेहु गुलाल दुहूँ कर में पिचकारिन रंग हिये महँ मारो।
भावे तुम्हैं सो करौ मोहि लाल मैं पायँ परौं जनि घूँघट टारो।
वीर की सौं हम देखिहैं कैसे अबीर तो आँखें बचाय कै डारो॥

कैसी तीव्र दर्शनोत्कण्ठा है! कितना सरस दर्शनानुराग है! होली के वर्णन में हास्य रस का रंग गहरा तो नहीं है, पर मधुर और हृदयस्पर्शी अवश्य है। उसमें प्रेम की भी मादक सुगन्ध है।

हास्य-रस की कविताओं में केवल किसी की खिल्ली ही नहीं उड़ाई गई है, बल्कि तथ्यपूर्ण बातें भी कही गई हैं। हिन्दी-हित-साधक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का चूरन ही चखिए। स्वाद ही निराला है। सृष्टि ही दूसरी है। रंग ही पलट गया है। हास्य-व्यंग्य तो है ही, कवित्व भी है। देशभक्ति की अभिव्यक्ति का ढङ्ग ही और है। एक सहृदय-हृदय के लिए सब कुछ है —

चूरन अमल वेद का भारी, जिसको खाते कृष्णमुरारी।
हिन्दू 'चूरन' इसका नाम, विलायत-पूरन इसका काम।
चूरन जब से हिन्द में आया, इसका धन बल सभी घटाया।
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा, कीना दाँत सभी का खट्टा।

चूरन चला दाल की मंडी, इसको खायेंगी सब रंडी।
चूरन अमले सब जो खावैं, दूनी रिशवत तुरत पचावैं।
चूरन नाटकवाले खाते, इसकी नकल पचाकर लाते।
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल अजीरन रोग।
चूरन खावैं एडिटर जात, जिनके पेट पचे नहिं बात।
चूरन साहब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता।
चूरन पूलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर॥

स्वर्गीय पण्डित प्रताप नारायण मिश्र की कितनी ही कविताएँ तो ऐसी चोंच-चुहल से भरी हैं कि हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाता है। अपने पत्र 'ब्राह्मण' के ग्राहकों से सालाना चन्दा माँगने का उनका ढंग, उन्हीं की बैसवाड़ी बोली में, कैसा हास्योत्तेजक है—

आठ मास बीते जजमान, अब तो करो दच्छिना दान।
आजु काल्हि जो रुपया देब, मानौ कोटि यज्ञ करि लेब।
माँगत हमका लागै लाज, पर रुपया बिन चलै न काज।
जो कहुँ दैहौ बहुत खिझाय, यह कौनिउ भलमंसी आय।
हँसी-खुसी से रुपया देव, दूध-पूत सब हमसे लेव।

आधुनिक हिन्दी-कविता में भी हास्यरस की प्रचुर सामग्री मिल सकती है। खड़ी बोली के महाकवि 'शंकर' जी की रचनाओं में हास्य-व्यंग्य का मसाला काफी पाया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से भी उन्होंने छेड़खानी की है—

ऊँचे अगुआ यादव-कुल के, बीर अहीरों के सिरमौर।
दुविधा दूर करो द्वापर की, ढालो रंग ढंग अब और।
भड़क भुला दो भूतकाल की, सजिये वर्त्तमान के साज।
फैसन फेर इंडिया भर के, गोरे गाड बनो ब्रजराज।
गौर वर्ण वृषभानुसुता का, काढ़ो काले तन पर तोप।
नाथ उतारो मोर-मुकुट को, सिर पै सजो साहिबी टोप।
पौडर चन्दन पोंछ लपेटो, आनन की श्रीज्योति जगाय।
अंजन अँखियों में मत आँजो, आला ऐनक लेहु लगाय।
रखघर कानों में लटका लो, कुण्डल काढ़ मेकराफून।
तज पीताम्बर कम्बल काला, डाटो कोट और पतलून।

पटक पादुका पहिनो प्यारे, बूट इटाली का लुकदार।
डालो डबल बाच पाकट में, चमके चेन कंचनी चार।
रखकर गाँठ गठीली लकुटी छाता बेंग बगल में मार।
मुरली तोड़ मरोड़ बजाओ, बाँकी बिगुल सुने संसार।

कैसा व्यंग्य है जेंटिलमैनों पर ? भगवान् कृष्ण भी यह सब देख-देखकर खूब हँसते होंगे। वे तो बड़े कौतुकी हैं। यह जो कुछ आप देखते और सुनते हैं, सब उसी नटवर खिलाड़ी के खेल हैं।

—मासिक 'मारवाड़ी-अग्रवाल' (कलकत्ता), फाल्गुन, विक्रम-संवत् १६८०

•

हिन्दी में होली-साहित्य-संग्रह की आवश्यकता

"हमारी राष्ट्रीयता में संजीवनी शक्ति भरनेवाले त्योहारों में 'होली' बड़ा महत्त्वपूर्ण है। हमारे साहित्य में होली का वर्णन भरा पड़ा है। यह वर्णन इतना सजीव, मधुर और उल्लासपूर्ण है कि उसे हृदयंगम करके हमारा पुरुषत्व उद्दीप्त हो उठता है, हमारा मानस-तल प्रेम-परिप्लावित हो जाता है, हमारी आकांक्षाएँ माधुर्य से लिपट जाती हैं, हमारी आँखें विश्वबंधुत्व के रंग में पग जाती हैं। किन्तु अभी तक वह वर्णन अनन्त साहित्य-सागर में बिखरा पड़ा है। हिन्दी में, आदि-काल से लेकर आजतक, बड़ी प्रचुरता से होली-साहित्य का निर्माण हुआ है। अनेक कवियों और लेखकों ने इस पुण्य पर्व को अपने प्रतिभा-प्रसून के मकरन्द से अभिषिक्त किया है। हिन्दी के पाचीन और नवीन गद्य-पद्य साहित्य में होली-सम्बन्धी जितनी संग्रहणीय सामग्री है, यदि सबका संग्रह किया जाय तो साहित्य की अमूल्य निधि संचित हो सकती है। इसके लिए ब्रजभाषा-साहित्य को मथना पड़ेगा, आजतक की सभी पत्र-पत्रिकाओं के नये-पुराने होलिकांकों को छान डालना होगा। इस प्रकार संग्रह की हुई सामग्री से जो बहुमूल्य ग्रंथ तैयार होगा, वह साहित्य-मन्दिर में इस राष्ट्रीय त्योहार की बड़ी दिव्य मूर्त्ति स्थापित करेगा; उससे जातीयता का भाव पुष्ट होगा; साहित्य की भी बड़ी शोभा बढ़ेगी। निस्सन्देह वह ग्रंथ सुसम्पादित होना चाहिए। संभव है, वह कई वृहत् खण्डों में विभक्त भी हो; पर एक अच्छी चीज होगी। स्थायी साहित्य के ग्रंथ प्रकाशित करनेवाले समर्थ प्रकाशक हास्यरस के इस खजाने पर छापा मार सकते हैं।"*

* मेरे सम्पादकत्व में काशी से प्रकाशित साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' के होलिकांक की एक टिप्पणी। वर्ष १, अंक ५, सन् १६३२ ई०।—लेखक

साहित्य-सम्बन्धी अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, जिनकी पूर्त्ति के लिए सामूहिक रूप से निरन्तर नियमित आन्दोलन चलना चाहिए।

सब मतों और सम्प्रदायों के हिन्दू होली मनाते हैं। इस महोत्सव में पारस्परिक अथवा जातीय भेद-भाव भी बहुत-कुछ मिट जाता है। इस प्रकार यह एक राष्ट्रीय त्योहार है। सब श्रेणी के हिन्दू इसमें हार्दिक आनन्द का अनुभव करते हैं। पर ऐसे व्यापक त्योहार पर राष्ट्रभाषा में आजतक कोई सर्वाङ्ग-सुन्दर साहित्य-ग्रंथ नहीं तैयार हुआ। सदियों से यह त्योहार मनाया जा रहा है। इसका इतिहास हिन्दी-साहित्य-भाण्डार में नहीं है।

होली के अवसर पर पत्र-पत्रिकाओं में बहुत दिनों से ऐसी रचनाएँ निकलती आ रही हैं, जिनमें होली का इतिहास भी मिल सकता है और तत्संबन्धी सरस-सुखद साहित्य-सामग्री भी मिलेगी। पर खेद है कि हिन्दी-संसार में कोई ऐसा संग्रहालय नहीं है, जहाँ सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन पत्र-पत्रिकाओं के अङ्क सुलभ हों। ऐसे अनुसन्धायक (रिसर्च स्कालर) भी नहीं हैं, जो अनेक स्थानों के संग्रहालयों में घूम-घूमकर सच्ची लगन से सामग्री-संकलन करें। ऐसे प्रकाशकों का भी अभाव है, जो इस प्रकार की वस्तुएँ हिन्दी के भाण्डार में भरना चाहते हों।

भारतमित्र, उचितवक्ता, हितवादी, हिन्दी-बंगवासी, श्रीवेंकटेश्वर-समाचार, हिन्दी-प्रदीप, नागरी-नीरद, आनन्द-कादम्बिनी, पीयूष-प्रवाह, ब्राह्मण, सार-सुधानिधि, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका आदि अनेक पुराने पत्रों और पत्रिकाओं में होली की पर्याप्त सामग्री भरी पड़ी है। सबका संग्रह और सम्पादन श्रमसाध्य है। परन्तु परिश्रम के बिना ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हो सकता। व्यापारिक दृष्टि से भी प्रकाशक के लिए यह कार्य लाभदायक है; पर ऐसी दूरदर्शिता हमारे प्रकाशकों में बहुत कम है। वे अधिकतर चलतू चीजें या बाजारू मसाला अधिक पसन्द करते हैं।

प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त अर्वाचीन पत्र-पत्रिकाओं में भी होली के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। प्राचीन काव्य-ग्रंथों और आधुनिक गद्य-पद्य-ग्रंथों में भी होली-साहित्य का बाहुल्य है। यदि कोई संग्रह करने लगे तो पद्य भाग से गद्य-भाग कुछ कम न होगा। किन्तु हिन्दी-संसार में संग्रहकर्त्ता बहुत मिलेंगे; प्रकाशक कदाचित् ही मिलेंगे। कारण, प्रकाशक को पहले किसान की तरह घर का माल निकाल कर मिट्टी में डालना होगा, फसल कुछ दिनों बाद कटेगी।

नये-पुराने होलिकांकों का संग्रह तो इस दृष्टि से भी होना चाहिए कि इस राष्ट्रीय पर्व पर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में जितना साहित्य-निर्माण अबतक हो चुका है, सबका कुछ आभास एक ही स्थान में मिल जाय।

होली के गीतों का भी संग्रह प्रत्येक प्रान्त के लेखकों को अलग-अलग करना चाहिए। उन्हें यह भी लिखना चाहिए कि उनके प्रान्त में किस प्रकार होली मनाई जाती है, उसमें क्या विशेषताएँ हैं। यदि सम्भव हो तो हरएक जिले के

लेखक को अपने जिले के होली-महोत्सव की विशेषताओं का वर्णन लिखना चाहिए। हिन्दी-पाठकों के लिए ऐसे वर्णन बड़े मनोरंजक होंगे। बनारस की होली, ब्रजमंडल की होली, बुन्देलखंड और राजस्थान तथा पंजाब की होली, कलकत्ता की होली आदि लेख बड़े रोचक और ज्ञानवर्द्धक बन सकते हैं—यदि उनमें कम-से-कम पिछले पचास वर्षों का प्रामाणिक विवरण हो। मैंने आज से तीस वर्ष पूर्व अपने भोजपुर-जनपद के गाँवों में जैसी होली देखी थी, वैसी होली अब वहाँ कहाँ है!

हिन्दी के स्वनामधन्य साहित्य-शिल्पी श्रीमान् बाबू जयशंकरप्रसाद जी अपने लड़कपन की बनारसी होली का जब वर्णन सुनाते हैं, तब आजकल की बनारसी होली पर आश्चर्य और दुःख होता है। यही हाल सब जगहों का है, 'जासूस'-सम्पादक बाबू गोपाल राम गहमरी से कोई पुरानी होली के संस्मरण लिखावें तो पता चले कि होली का इतिहास किस गति से बदल रहा है। मथुरा-वृन्दावन में भी अब वह रंग-तरंग नहीं है जो यूरोप के महाभारत[1] से पूर्व थी। इसका कारण बतलाने की आवश्यकता नहीं।

किन्तु होली के आनन्दोल्लास में आजतक जितने हिन्दी-कवियों और हिन्दी-लेखकों तथा पत्र-संपादकों ने अपनी प्रफुल्ल प्रतिभा का प्रसाद-वितरण किया है, सबका संचय होना अब अत्यावश्यक प्रतीत होता है। हिन्दी के राष्ट्रभाषात्व की रक्षा के लिए इस तरह के कार्य की पूर्त्ति का प्रयत्न शीघ्र होना चाहिए।

होली की भाँति दशहरा भी हिन्दू-मात्र का पर्व है, इसलिए उस राष्ट्रीय पर्व के साहित्य का संरक्षण भी आवश्यक है। ये दोनों राष्ट्रीय त्योहार हिन्दुओं की जातीयता एवं संघ-शक्ति को पुष्ट करनेवाले हैं। अतएव इनपर जहाँ तक साहित्य-निर्माण हो चुका है, सबका संकलन और प्रकाशन राष्ट्रभाषा के लिए गौरववर्द्धक ही होगा।

बहुत पुराने पत्रों के होलिकांकों से नये पत्रों को अपने होली-अङ्क के लिए सुन्दर सामग्री मिल सकती है और हिन्दी पाठकों के लिए यह वस्तु कुतूहल-वर्द्धक भी हो सकती है। ऐसी परम्परा चल पड़ने से भी होली-साहित्य का उद्धार हो सकता है।

—साप्ताहिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता), होलिकांक १९३६ ई०

[२]

होली हिन्दुओं का राष्ट्रीय त्योहार है। यह अत्यन्त प्राचीन पर्व माना जाता है। इसकी सुविस्तृत व्यापकता असंदिग्ध है। श्रावणी, विजया-दशमी, दीपावली और होली—ये चारों महोत्सव क्रमशः चारों वर्णों के कहे जाते हैं। इनसे हिन्दू-जाति की जीवन-शक्ति का पता लगता है। किसी जाति की सजीवता के लक्षण उसके त्योहारों से ही प्रकट होते हैं।

---

१. प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४-१८ ई०)—ले०

होली में हिन्दुओं के घर-घर जो खान-पान, ठाट-बाट, धूम-धाम और राग-रंग होता है, उससे उनकी सम्पन्नता, सभ्यता, आनन्द-मग्नता और उमङ्ग-तरङ्ग का अनुमान होता है। किन्तु ऐसे महान् पर्व पर हिन्दुओं के पास कोई साहित्य नहीं है। इसका यह आशय नहीं कि हिन्दुओं के साहित्य में होली के महत्त्वपूर्ण रूप-गुण की चर्चा ही नहीं है। कहने का मतलब यह कि हमारे साहित्य में होली का जो कुछ भी वर्णन है, वह जहाँ-तहाँ बिखरा और छिपा पड़ा है।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली के कोष में काफी होली-साहित्य भरा पड़ा है। संग्रहकर्त्ता की ही कमी है। हमें चाहिए कि ऐसे राष्ट्रव्यापी त्योहार का एक सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास तैयार कर डालें। सामग्री का अभाव नहीं है। तत्पर अन्वेषक की आवश्यकता है। चाहिए तो यह कि हिन्दू-महासभा, इन चारों हिन्दू त्योहारों पर, एक-एक सुसम्पादित सचित्र ग्रन्थ प्रकाशित करे। किन्तु उसकी दृष्टि में कदाचित् यह काम किसी महत्त्व का नहीं है। तब फिर किसी हिन्दू-जाति-हितैषी प्रकाशक अथवा संस्था को ही इस विषय पर विचार करके जातीय प्रेम का परिचय देना चाहिए। इसमें केवल लाभ ही लाभ है। व्यावसायिक दृष्टि से तो इसका बहुत अधिक महत्त्व है। किन्तु होना चाहिए यह काम साहित्यिक दृष्टि से ही। तभी सांस्कृतिक सुरुचि की रक्षा हो सकेगी।

आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं को होली-साहित्य-संग्रह की ओर ध्यान देना चाहिए। उन्हें एक ऐसी परम्परा स्थापित करनी चाहिए कि जो होलिकांक या विशेषांक निकाले जायँ, उनमें अतंगत पत्र-पत्रिकाओं के होलिकांकों से भी उपयोगी और मनोरंजक सामग्री उद्धृत या संकलित की जाय। कितने ही समाधिस्थ पत्र सदा के लिए विस्मृति के अतल गर्भ में विलीन हो गये और इसके साथ ही उनमें प्रकाशित अनेक मनोहर रचनाएँ भी सदा के लिए आँखों से ओझल हो गईं। 'भारतमित्र' आदि पुराने पत्र अपनी फाइलों में अपने युग का इतिहास छिपाये कहाँ किस अन्धकारपूर्ण गर्त्त में गुम हो गये, हिन्दी-संसार को कुछ पता नहीं। उनके होलिकांकों, विजयांकों और दीपावली-विशेषांकों में कितनी ही साहित्यिक चीजें लुप्त हो गईं। हमलोग उनका अन्वेषण और उद्धार कहाँ तक करेंगे, नई सृष्टि करने में इतने व्यस्त हैं कि पुरानी सम्पत्ति अथवा पूर्वजों की पूँजी के खो जाने की कभी चिन्ता तक नहीं करते।

कलकतिया पत्र यदि अपने विशेषांकों में बूढ़े 'भारतमित्र' के जीर्ण-शीर्ण पृष्ठों से कुछ रोचक सामग्री संकलित किया करते तो लुप्त-प्राय साहित्यिक सम्पत्ति का उद्धार भी होता और उस अतीत युग की प्रवृत्ति का भी पता लगता। पर आधुनिक पत्रकारों में साहित्य-संसार के ध्वंसावशेषों की खोज-खुदाई करने की प्रवृत्ति नहीं झलकती।

बिहारी-पत्रों के सम्पादक यदि अपने पाठकों के सामने 'बिहार-बन्धु' के लेखादि रखने का प्रयत्न करें तो निश्चय ही वे अधिक-से-अधिक पाठकों को आकृष्ट कर सकेंगे। कोई कह सकता है कि 'बिहार-बन्धु' के दर्शन अब दुर्लभ हैं; पर यह तो मैंने केवल उदाहरण के लिए लिखा है, अन्यान्य अनेक पत्र पत्रिकाएँ हैं, जिनके नाम भी लोग अब भूल गये हैं, उनसे भी लाभ उठाया जा सकता है। श्रीकमला, हरिश्चन्द्र-कला, शिक्षा, पाटलिपुत्र,

मनोरंजन, सत्ययुग, लक्ष्मी आदि पत्र-पत्रिकाएँ काफी पुरानी हो चुकी हैं और आधुनिक पत्र-पाठक उन्हें भूलते जा रहे हैं। कम-से-कम उनकी स्मृति बनाये रखने के लिए वर्त्तमान पत्र-पत्रिकाओं में उनकी चुनी हुई अनूठी रचनाओं के उत्कृष्ट अंश यदि छपा करें, तो पाठकों के कुतूहल तथा आनन्द की वृद्धि ही होगी।

'स्टेट्समैन', में हम लोग देखते हैं कि प्रायः उसके प्रत्येक अंक में, उसके पुराने अङ्कों से ली गई कुछ पंक्तियाँ छपती हैं। ये पंक्तियाँ प्रायः ऐसी होती हैं जिन्हें पढ़कर आज कल के पाठक विस्मयानन्दोत्फुल्ल हो उठते हैं और बड़े चाव से उन्हें पढ़ते हैं। ऐसे विषय का शीर्षक रहता है—'पचास वर्ष पूर्व' और जिस तारीख के अङ्क में यह छपता है, उसी तारीख के पचास वर्ष पूर्व के अङ्क से उद्धृत किया हुआ रहता है। हिन्दी में यह प्रथा नहीं है। कुछ साल पहले प्रयाग के 'अभ्युदय' ने यह रीति चलाई थी और अपने प्रत्येक अङ्क में 'पचीस वर्ष पहले' शीर्षक के अन्दर एक-आध स्तम्भ पाठ्य-सामग्री उसी तिथि के पुराने अंक से देता था। †

यदि आज भी 'सरस्वती' अपना एक-आध पन्ना इसके लिए सुरक्षित कर दे तो उसके '४४ वर्ष पूर्व' शीर्षक को पाठक विशेष उत्सुकता से पढ़ा करेंगे ‡। संवत् १९५३ में स्थापित 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार' यदि अपने होली-अङ्क में पुराने होलिकांकों की उत्तमोत्तम रचनाएँ तिथि-संवत् के साथ छाप दे तो उसके वर्त्तमान पाठक आज भी उस बीते युग की होली की झलक देख सकते हैं।

अच्छा तो यह होता कि होली, दशहरा, दीवाली पर निकले हुए सभी पुराने अङ्कों से बढ़िया मसाला छाँटकर एक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित कर दिया जाता। किन्तु यह विशेष श्रमसाध्य और व्ययसाध्य है। सुगमता इसी में है कि प्रतिवर्ष के होलिकांक में आरम्भिक काल के होलिकांकों से उद्धृत सुरुचिपूर्ण और समयानुकूल सामग्री छपती चले। जो नये पत्र हैं, वे उन पुराने पत्रों के होली-साहित्य का जीर्णोद्धार करें, जो सदा के लिए बंद हो चुके हैं।

'भारतमित्र' में बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पण्डित अमृतलाल चक्रवर्ती, पं० जगन्नाथ प्रसादजी चतुर्वेदी आदि के लिखे हुए होली-सम्बन्धी लेख और व्यंग्य-विनोद प्रचुर मात्रा में छपे पड़े हैं, पर उनका आनन्द आज सुलभ नहीं है। यदि होली के विशेषांक निकालने वाले सम्पादक और पत्र-संचालक सचमुच साहित्य की शोभावृद्धि अथवा गौरव-वृद्धि के लिए विशेषांक निकालते हैं, तो उन्हें इस तरह की परम्परा स्थापित करनी चाहिए। खोज और खर्च करने से पुरानी चीजें बहुत मिल सकती हैं।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्य-भाषा-पुस्तकालय में, प्रयाग के सम्मेलन संग्रहालय और न्यूज-पेपर-म्यूजियम तथा 'भारती-भवन' में, कलकत्ता के 'हनुमान-पुस्तकालय' और 'बड़ाबाजार-लाइब्रेरी' में, गया की मन्नूलाल-लाइब्रेरी और आरा-नागरी-प्रचारिणी-

† दैनिक 'आज' (काशी) ने भी यह प्रथा चलाई जो आजतक चालू है।—लेखक

‡ अब 'सरस्वती' के नये सम्पादक पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदीजी ने यह प्रथा चला दी है।—लेखक

सभा के पुस्तकालय में, दक्षिण-हैदराबाद के हिन्दी-समाचारपत्र-संग्रहालय में तथा ऐसी अन्य संस्थाओं में, निजी पुस्तकालयों तथा घरेलू संग्रहालयों में भी, सच्ची लगन से खोज करने पर, बहुत-से पुराने होलिकांक, विजयांक आदि मिल सकते हैं। पत्रों में सूचनाएँ छपने पर कितने ही साहित्य-हितैषी सज्जन अपने व्यक्तिगत संग्रहालय से इस विषय का मसाला जुटाने में सहायता दे सकते हैं। केवल पत्रकारों के इधर ढल पड़ने की देर है। परिश्रम और द्रव्य तथा तत्परता की अपेक्षा इसमें अवश्य है; पर यह काम सर्वथा असाध्य नहीं है। कोई एक उत्साही या समर्थ पत्र इस दिशा में अग्रसर होकर पहले प्रयोग तो करे; फिर लीक लग जायगी।

अपने-अपने नगर या प्रान्त का भार, यदि एक-एक पत्र सँभाल लें तो और भी सुविधा होगी। जो पुराने पत्र ईश्वर की दया से अबतक जीवित हैं, वे अपना भार आप ही संभालें। जैसे 'हिन्दी-बंगवासी' और 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार' अपना-अपना भण्डार स्वयं टटोलें और सहेजें। 'भारतमित्र' के खँडहर की खुदाई का जिम्मा 'विश्वमित्र' ले ले। 'बिहार-बन्धु' आदि के प्राचीन स्तूपों को बिहारी पत्र शोध डालें। इसी प्रकार सभी प्रान्तों और नगरों के पत्र अपना-अपना दायित्व-ग्रहण करके हिन्दी-हित का यह काम शुरू कर सकते हैं। इससे हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपकार होगा और लुप्त साहित्य का उद्धार भी होता चलेगा। यदि यह परम्परा स्थिर रहेगी तो आज के होलिकांक भी अगले पचास वर्षों के बाद अगली पीढ़ी के स्मृति-कोष में वही सम्मान पावेंगे, जो आज वे अपने पिछले पचीस या पचास वर्ष के पत्रों को प्रदान करेंगे।

हिन्दी के असंख्य पत्रों और पत्रिकाओं की फाइलों में बहुत-सी अच्छी चीजें छिपी पड़ी हैं। उनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। होलिकांक निकालनेवाले सम्पादकों को तो यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि पुराने प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लेखकों की अच्छी-अच्छी पुस्तकों से हास्य-रस संचारिणी पंक्तियाँ चुनकर छाप डालें। इसके सिवा एक काम और बड़े मार्के का होगा। छोटी-बड़ी कौंसिलों की बहसों और स्पीचों में भी हास्यरस की काफी सामग्री मिल सकती है। यदि आज से २५ वर्ष पहले से शुरू करके अबतक की धारा-सभाओं की पूरी रिपोर्टें छान डाली जायँ तो पर्याप्त मनोरंजक सामग्री मिल सकती है। होलिकांक के पाठक उसी को सबसे अधिक उमंग के साथ पढ़ेंगे। कौंसिलों की होली में वक्रोक्तियों की पिचकारियाँ निराला रंग बरसाती हैं। उनसे हम हास्य-रस-प्रधान साहित्य को खूब रंगीन बना सकते हैं।

—'बिजली' (पटना), होलिकांक, १९३७ ई०

हिन्दी-साहित्य में हास्य-व्यंग्य-विनोद[१]

हिन्दी का प्राचीन साहित्य अधिकतर कवितावद्ध है। हिन्दी के पद्ययुग में उसकी रचना हुई थी। उसमें शृङ्गार रस और शान्त रस की रचनाएँ अधिक हैं। शेष सात रसों की उतनी प्रचुरता नहीं है। हाँ, वीररस के कुछ काव्य विशेष प्रसिद्ध हैं। दलपति-विजय कवि का 'खुमान रासो', नरपति नाल्ह कवि का 'वीसलदेव रासो', चन्दवरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', सवल सिंह चौहान का 'महाभारत', काशी-नरेश का वृहदाकार महाभारत, भूषण-ग्रन्थावली आदि वीर-रस के विख्यात काव्य-ग्रन्थ हैं। ऐसे स्वतंत्र काव्यग्रंथ करुण, हास्य आदि रसों के नहीं मिलते। किन्तु सूर-तुलसी आदि महाकवियों की रचनाओं में करुणरस की भी कमी नहीं है। हास्यरस में भी कई अच्छे कवियों ने अपनी प्रतिभा का जौहर दिखाया है। पर हास्यरस को किसी खास कवि का कृपापात्र होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। कुछ अप्रसिद्ध कवियों की हास्यरसपूर्ण स्फुट रचनाएँ मिलती हैं। यों तो नामी कवियों के काव्यों में जहाँ-कहीं हास्य-व्यंग्य का पुट पड़ा है, वह बड़ा हृदयस्पर्शी और आनन्दवर्द्धक है। सूरदास के बाललीला-वर्णन और भ्रमरगीत में व्यंग्य-विनोद का मधुर रसपरिपाक है। तुलसी-कृत रामायण के शिव विवाह, नारद-मोह, परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, अङ्गद-रावण-संवाद आदि प्रकरणों में हास्य-व्यंग्य की अच्छी बहार है।

व्रजभाषा के कुछ कवियों की हास्य-विषयक स्फुट रचनाओं का संग्रह पण्डित नकछेदी तिवारी ('अजान' कवि) के 'भड़ौआ-संग्रह' में मिलता है। अन्य संग्रह-ग्रंथों में भी प्रसंगवश हास्य-रस-प्रधान रचनाएँ मिल जाती हैं; किन्तु वे संतोषप्रद नहीं प्रतीत होतीं। साहित्य के नवरसों की उत्तमोत्तम रचनाओं का एक विशाल ग्रन्थ अथवा प्रत्येक रस का एक-एक अलग-अलग सुसम्पादित संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित होना चाहिए। इसकी नितान्त आवश्यकता है।

पद्ययुग के बाद गद्ययुग में भी हास्यव्यंग्यपूर्ण रचनाओं का सिलसिला जारी रहा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में हास्यविनोद का बड़ा ही मनोरंजक मसाला मौजूद है। 'अन्धेरनगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'चूरन के लटके' आदि किसको याद न होंगे? अन्यान्य प्रसंगों में भी बीच-बीच में एक-आध चुटकुला ऐसा छोड़ दिया है कि उसका माधुर्य चखते ही बनता है। उनकी विनोदशीलता काफी प्रसिद्ध है।

भारतेन्दु-युग के उद्भट लेखकों और कवियों में पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पंडित बालकृष्ण भट्ट, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित रामशंकर व्यास आदि ने भी हास्यरस को अपनी चमत्कारपूर्ण लेखनी का प्रसाद दिया है। 'प्रेमघन' जी की 'आनन्द-कादम्बिनी' और 'नागरी-नीरद' की फाइलों में कितनी ही संग्रहणीय हास्यरसात्मक रचनाएँ सड़-गल रही हैं। भट्टजी का 'सौ अजान और एक सुजान' तो प्रसिद्ध ही है, उनके हिन्दी-प्रदीप' और निबन्धों में भी जहाँ-तहाँ व्यंग्य-विनोद की

---

१. 'हिन्दी बंग-वासी' (कलकत्ता, सन् १९२४ ई०) में प्रकाशित 'हिन्दी का हास्यरस-साहित्य' और मासिक 'प्रेमा' (जबलपुर) के हास्यरसाङ्क (१९३१ ई०) में प्रकाशित 'हिन्दी में हास्यरस की प्रगति' भी इसी लेख में सम्मिलित है।—लेखक

सामग्री बिखरी पड़ी है। व्यासजी और मिश्रजी की विनोदपूर्ण रचनाएँ क्रमशः उनके 'पीयूष प्रवाह' और 'ब्राह्मण' की पुरानी फाइलों में लुप्तप्राय हैं। उनका उद्धार करना साहित्य की समृद्धि के लिए आवश्यक है। व्यासजी का 'आश्चर्य-वृत्तान्त' और मिश्रजी का 'तृप्यन्ताम्' जिन्होंने पढ़ा होगा, वे ही स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं कि उन लोगों की रचनाओं में कितनी सजीवता है। उन लोगों के व्यंग्य-विनोद पढ़कर ही पता लगता है कि वे कैसे जिन्दादिल साहित्यिक थे।

इसके बाद पण्डित रुद्रदत्त सम्पादकाचार्य, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पण्डित शिवनाथ शर्मा ('आनन्द'-सम्पादक) आदि ने भी बड़ी योग्यता के साथ हास्यरस के उस परम्परागत प्रवाहक्षेत्र को सूखने से बचाये रखा। सम्पादकाचार्य जी की 'स्वर्ग में सब्जेक्ट कमिटी' आदि रचनाएँ आज कहीं गुणग्राहकों के नाम पर रोती होंगी। गुप्तजी के समय का 'भारत-मित्र' जो पढ़ते रहे होंगे या जो उनके 'शिवशम्भु के चिट्ठे' पढ़ चुके हैं, वे ही उनकी विशेषताएँ समझ सकते हैं[1]। शर्माजी हिन्दी के सौभाग्य से आजतक जीवित हैं[2]। उनकी 'मिष्टर व्यास की कथा', 'नागरी निरादर' (प्रहसन) आदि रचनाएँ बड़ी ही अनूठी हैं। 'व्यास की कथा' धारावाहिक रूप से 'आनन्द' में निकलती थी। अब वह पुस्तकाकार में छप गई है।[3]

उपर्युक्त सज्जनों के बाद हास्यरसावतार पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, स्वर्गीय पण्डित मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी, पण्डित बदरीनाथ भट्ट, 'मनोरंजन'-सम्पादक पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा (वर्त्तमान 'हिन्दू-पंच'-सम्पादक), श्रीयुक्त जी० पी० (गङ्गाप्रसाद) श्रीवास्तव आदि ने बीड़ा उठाया और यथाशक्ति खूब निबाहा। हास्यरसाचार्य चतुर्वेदी जी को तो लोग 'हिन्दी का भाँड़' तक कहने लगे हैं। सचमुच वे हास्यरस की सजीव मूर्त्ति हैं। उनके बिना हिन्दी-सभाएँ फीकी पड़ जाती हैं। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रत्येक महाधिवेशन में वे ही सभापति-निर्वाचन का प्रस्ताव उपस्थित करते हैं और उसमें साहित्यिक चमत्कार से भरे विनोद का समावेश करके प्रतिनिधियों को हँसाते-हँसाते लोटन-कबूतर बना देते हैं। गजपुरी जी भी अपने तर्ज के एक ही विनोदी थे। उन्हीं के समय में गोलमाल-कारिणी सभा' की धूम थी। उसके अधिवेशनों की दिलचस्प रिपोर्ट 'प्रताप' आदि में प्रायः छपा करती थी। भट्ट जी भी उस सभा के सदस्यों में एक प्रमुख व्यक्ति हैं। वे भी विनोद के चलते-फिरते पुतले और हास्य के जीते-जागते स्तम्भ हैं। उन्हें लोग गड़बड़ानन्दजी' और 'हँसी की कुतुब-मीनार' कहते हैं। उनकी 'चुङ्गी की उम्मीदवारी', 'मनोरंजन' आदि रचनाएँ उनकी हास्यरस-पटुता प्रकट करने को यथेष्ट हैं। शर्माजी का 'कचालू रसीला' और 'चना चबेना' चखने ही योग्य है। उनकी बात-बात में विचित्र करामात है। उन्हें साहित्य-संसार ने मनोरंजन-मूर्त्ति' की उपाधि दे रखी है। उनकी लेखनी और वाणी में अजीब जादू है।

१. 'गुप्त-निबन्धावली' दो खण्डों में कलकत्ता से गुप्तजी के सुपुत्र द्वारा प्रकाशित की गई है। अतः अब गुप्तजी की रचनाओं का रसास्वादन करने की सुविधा हो गई। —लेखक

२. अब ये स्वर्गवासी हैं और उनका 'आनन्द' (लखनऊ) भी अस्तङ्गत है। —लेखक

३. गङ्गापुस्तक-माला-कार्यालय (लखनऊ) से प्रकाशित है। —लेखक

श्रीवास्तवजी की 'लम्बी दाढ़ी', 'नोक-झोंक', 'मर्दानी औरत' आदि दर्जनों पुस्तकें ऐसी हैं, जिन्हें पढ़कर हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाता है। उनकी सरस रचनाओं पर लोग लट्टू हैं। उनकी पुस्तकों के अनेक संस्करण इसके प्रमाण हैं।

यहाँ साहित्य-महारथी श्रद्धेय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के विषय में भी यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि उनके सम्पादनकाल की 'सरस्वती' में उनकी व्यंग्यार्थपूर्ण टिप्पणियों से सहृदयहृदयों में खासा हास्योद्रेक होता था। उन्हें लोग 'व्यंग्य का बादशाह' मानते हैं। उनके व्यंग्य-विनोदों का संग्रह हास्यरसार्णव का विशाल प्रकाशस्तम्भ होगा। उनके व्यंग्यों में साहित्यिक छटा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यंग्यविनोदों के बाँकपन पर रीझे हुए लाला भगवान 'दीन' जी का मत है कि शुक्लजी का विशुद्ध साहित्यिक हास्य हिन्दी में बेजोड़ है। लालाजी के समान साहित्यिक रसों का मर्मज्ञ पारखी आज चिराग लेकर ढूँढ़ने पर भी शायद ही मिलेगा।

इतनी दूर तक हास्यरस की धारा के साथ चलने के बाद उस युग का सुप्रभात दृष्टिगत होता है, जिसमें साहित्य-जगत् के अन्दर चारों ओर हास्यरस की चहल-पहल मच गई। अगर कहना चाहें तो उसे 'मतवाला'-युग कह सकते हैं। सन् १९२३ ई० में 'मतवाला' ने कलकत्ता से साप्ताहिक रूप में निकलकर हिन्दीसाहित्य-क्षेत्र में एक नई लहर पैदा कर दी। एक प्रकार से हिन्दी-पाठकों की रुचि की धारा पलट-सी गई। उसके अनुकरण पर हास्य-रस-प्रधान कई पत्र निकले जिनमें 'मौजी', 'गोलमाल', 'भूत', 'रसगुल्ला' आदि उल्लेखनीय हैं; पर इनमें कोई 'मतवाला' का यथार्थ अनुकरण न कर सका। अथवा प्रकारान्तर से, यों कहा जा सकता है कि ये पत्र अपने उद्देश्य में भी उतना सफल न हो सके जितना 'मतवाला' हुआ। हास्यरस के क्षेत्र में 'मतवाला' ने अभूतपूर्व क्रान्ति उपस्थित की।

'मतवाला'-युग के हास्यरससिद्ध लेखकों में मतवाला मण्डल के प्रमुख सदस्य मुन्शी नवजादिक लाल श्रीवास्तव, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' और बनरसिया 'निखट्टू' (यारों को शक है कि ये छिपे रुस्तम महाशय बाबू अन्नपूर्णानन्दजी की खाल ओढ़े हुए हैं) विशेष रूप से गण्यमान्य तथा स्मरणीय हैं। यों तो 'मतवाला' की देखादेखी कितने ही पत्रों ने हास्यरस की सामग्री के लिए अपना एक स्वतन्त्र स्तम्भ ही सुरक्षित कर दिया, पर ऐसों में बहुतेरे फीके ही रहे। हाँ, कानपुर के दैनिक 'वर्त्तमान' के 'मनसुखा' महाराज यदा-कदा चुटीली-चुभीली चुटकियाँ लेने में कमाल दिखा जाते हैं। उनके व्यंग्यात्मक नोटों का भी साहित्यभण्डार में संग्रह-संचय होना चाहिए।

एक बात और। पहले हिन्दीपत्रों में खास-खास अवसरों पर ही व्यंग्यचित्र और चुटकुले निकला करते थे; पर 'मतवाला' ने इस प्रथा को हिन्दी-संसार में बड़े जोर-शोर से चला दिया। अब तो मासिक पत्रों तक में व्यंग्य-चित्र निकलने लग गये। हिन्दी-जगत् के यशस्वी चित्रकार बाबू रामेश्वरप्रसाद वर्मा भी व्यंग्य-चित्रों की सृष्टि की ओर झुके और पण्डित मोहनलाल महतो 'वियोगी' तो इसके पीछे नोन-सत्तू बाँधकर पड़ गये।

हिन्दीसाहित्य-क्षेत्र की हास्यरस-धारा यहाँ तक पहुँचकर विश्राम करती है। परन्तु वह सजलमूला है। उसके सूखने की कोई संभावना अथवा आशंका नहीं है। आशा है कि आगे भी वह प्रखर वेग से उमड़ती ही चलेगी। तथास्तु।

—साप्ताहिक 'स्वदेश' (गोरखपुर), होली-अङ्क, संवत् १९८३ वि०।

•

हिन्दी कवियों का फाग-वर्णन

होली उमंगों-भरा त्योहार है। इस जमाने में, जब देश की दरिद्रता दिन-दिन बढ़ती जा रही है, किसी के मन में उमंग नहीं उमड़ती; लेकिन होली बरबस सबके मन में उमंग भर देती है। जब आती है, मालूम होता है, गाँव-नगर के कुओं में भंग पड़ गई है, बड़े-बड़ों की गम्भीरता की लुटिया डूब जाती है। मुहर्रमी चेहरों पर भी एक बार रौनक छा जाती है। जब दरिद्रता के इस भीषण युग में यह हाल है, तब उस समय होली में लोगों की क्या दशा होती होगी जब यहाँ दूध-घी की नदियाँ बहती थीं—घर-घर रोज ही अन्नकूट-महोत्सव होता था। आज उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

हाँ, उस समय का साहित्य देखने से कुछ पता चलता है, अभी वह समय बहुत दिनों का नहीं कहा जा सकता। हजार-दो हजार वर्ष भी नहीं, सौ ही दो सौ साल तो हुए, जब खाने-पीने से सब लोग खुशहाल थे—गेहूँ और घी सुलभ थे। किसी को पेट के लाले नहीं पड़े थे। भोजनाच्छादन की निश्चिन्तता के कारण दिमाग हमेशा सातवें आसमान पर रहता था। रात-दिन कविता ही सूझती थी। दिमाग में दम था, कलेजे में खम था।

जैसे दादा के घी खाने की बात याद कर बेचारा पोता हथेली सूँघता है, वैसे ही हम लोग भी आज पूर्वजों की मस्ती सूँघकर महँगी की मारी होली को सार्थक कर सकते हैं।

अतः कल्पना की ऊँची उड़ान देखिए—

उड़नि गुलाल की घमंड घन छाय रही पिचकी चलत धार रस बरसाई है।
चाँदनी सरद बुक्का चन्दमुख छवि फबी काँपत हिमन्त भीजे दोऊ सुखदाई है।
धाइ के धरत पिय सिसकै सिसिर चीर केसर सरीर ते बसन्त सरसाई है।
ग्रीषम गरूर बाले पिय सों कहत नेही फाग की समाज कैधों छवो ऋतु आई है॥

एक ही जगह छः ऋतुओं को नाथा और नाधा। ऋतुएँ भी क्या समझेंगी कि किसी कवि से पाला पड़ा था। अच्छा, अब होली में बरसाती बहार देखिए—

गरजै डफ झाँझ सुझिल्लिन के गम बादर लाल गुलाल की झोरी।
बहु बुन्दन की पिचकारिन सों भिजयै हठि कै हरि पीत पिछोरी।

कल कूजित कोकिल चातक के गुन गाय रिझावत फाग गनो री।
सजि कुंजन में मनमोहन सों जनु पावस पीतम खेलत होरी॥

× × ×

चोवा के मेघ गुलाल की दामिनि वुक्का बलाका लसै अधिकाई।
केसर सक्र सरासन चारु सुरंगन की बरसा बरसाई।
बाजनि बाजन की गिरिधारन गाजनि सों अति लागै सुहाई।
आजु गोपाल ने होरी के बीच में पावस की परभा प्रगटाई॥

ऋतु का रुख ही पलट दिया! कहाँ फागुन, कहाँ पावस! मगर घी-दूध की सींची कल्पना के सामने प्रकृति का नियम थोड़े टिक सकता है? फिर भी सादृश्य की शोभा दर्शनीय है।

होली में 'गोरी सरकार' का वारण्ट भी जारी होता था। गिरफ्तारी की तैयारी तो देखिए—

कीरति की जाई छाई होरी के गरूर भूरि बोलीं अबलाएँ सब चारो ओर धावो सबे।
अबिर गुलाल बुक्का चन्दन कपूर चूर मृग-मद अम्बर लै अम्बर उड़ावो अबे।
'गिरिधर दास' पिचकारिन की मार करि घरोरी घरोरी यों कुलाहल मचाओ सबे।
बरसाने वारी रस बरसाने वारी कोऊ बृन्दाबनवारी बनवारी बाँधि लाओ अबे॥

हूबहू फाग-फोटो खींचने की कला भी देखने योग्य है—

ग्वालिनि ग्वाल रहे रँग ठानि न जानि परै इत ओ उत वारी।
त्यों 'सरदार' निहारत कान्ह सु आन जुरी वृषभानु दुलारी।
दोऊ दुहूँगा रहे मुख हेरि सकोरि महा अति आनँद भारी।
मूठ चलै उनकी इन पै न चलै इनकी उन पै पिचकारी॥

व्रजभाषा के कवियों ने फाग में अनुराग और लाग-लपेट का भी वर्णन किया है—

इतते वनि आई नई अबला उतते मनमोहन हू उमहे।
लखि साँकरी खोरि बिथोरि गुलाल बिसाल दुहूँ भुज जोरि रहे।
'द्विजदेव' अभूत भई यह तो छिन देख बनै पै बनै न कहे।
कसि बोरि कै चाहत जौं लौं लला रस की सरिता महँ आपै बहे॥

महाकवि बिहारी का अनुराग-फाग कितना सुन्दर और सरस है—

रस भिजये दोऊ दुहुँनि तउ टिक रहे टरैं न।
छबि सों छिरकत प्रेमरँग भरि पिचकारी नैन॥

फाग खेलने का तरीका बतलाने में कवि ने कैसी रसज्ञता दिखाई है—

खेलिए फाग निसंक ह्वै आजु मयंकमुखी कहै भाग हमारो।
लेहु गुलाल दुहूँ कर मैं पिचकारिन रंग हिये महँ मारो।

भावैं तुम्हें सो करो मोंहि लाल पैं पाँय परौं जनि घूँघट टारो।
बीर की सौं हम देखिहैं कैसे अबीर तो आँखैं बचाय कै डारो॥

अब उस अन्नपूर्णा-युग से इस सुदामा-युग में आइए। नये युग का फाग एक आधुनिक कवि[1] ने दिखाया है—

अबला एक अधेड़ अचानक आकर बोली।
हिलमिल खेलो फाग उठो अब सुन लो होली।
लाल गुलाब उड़ाय कीच केसर की छिड़की।
सबको नाच नचाय सुगति की खोली खिड़की।
फैल गया हुरदंग होलिका की हलचल में।
फूल-फूल कर फाग फला महिला-मंडल में।
कूद पड़े गुरुदेव चेलियों के शुभ दल में।
सदुपदेश का सार भरा फागुन के फल में।
अड़के अंग उघार पुष्ट व्रण के पट खोले।
सबके जन्म सुधार कृपा कर मुझ पै बोले।
वह रँगलीला छोड़ कहाँ, छुप गई छबीली।
सुनि प्रभु से संकेत चली कुटनी नचकीली।
मुझको दबकी देख अड़ीली आकर अटकी।
मुख पै मार गुलाल अछूती चादर झटकी।
घोर घुमाय घसीट घुड़क लाई दंगल में।
फिर यों हुआ प्रवेश अमंगल का मंगल में!

इसकी टीका आप ही कीजिए।

—साप्ताहिक 'भारतजीवन' (काशी), मार्च १९२७ ई०

●

हिन्दी-कवियों का वसन्त-वर्णन[1]

विकसित-सहकार-भारहारिपरिमल-पुञ्जित-गुञ्जितद्विरेफः।
नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः॥

दिग्-दिगन्त में ऋतुकन्त वसन्त की अनन्त छवि छा गई। मानस-मोदिनी मनोविनोदिनी प्राणोन्मादिनी ऋतु आ गई। दिशाएँ दीप्तिमती हो गईं। वाटिकाएँ सौभाग्यवती हो गईं। चतुर्दिक् नयन-मन-रंजिनी छटा छा गई। चराचर मात्र में सरसता समा गई।

---

१. कविवर 'शंकरजी'।

कोयल कुहुक-कुहुककर कमनीय कल कंठ से मधु बरसाने लगी। सरसों की सुहावनी सरसता से वसुन्धरा सरसाने लगी। मधूक की मधुर सुगन्ध तबीयत तरसाने लगी। सुगंध के बोझ से लदी हुई शीतल वायु अलसाने लगी, विरहिणी की वियोग-व्यथित देह झुलसाने लगी।

ललित लवंग लवलीन मलयाचल की मंजु मृदु मारुत मनोज सुखसार है।
मौलसिरी मालती सुमाधवी रसाल बौर झौरन पै गुञ्जत मलिन्दन को भार है।
कोकिल कलाप कल कोमल कुलाहल कै पूरन प्रतच्छ कुहूकुहू किलकार है।
बाटिका बिहार बाग बीथिन बिनोद बाल बिपिन बिलोकिए बसन्त की बहार है॥

केवल विपिन में ही वसन्त की बहार न बिलोकिए बल्कि जड़-चेतन मात्र में वसन्त की विपुल विभूति का विकास विलोकिए। एक काव्य-रस-रसिक तो वसन्त को सर्वव्यापी देखते हैं—आप सभी वस्तुओं पर वसन्त-वैभव की वारिधारा बरसती विलोकते हैं—

बेलिन बसन्त औ नवेलिन बसन्त बन बागन बसन्त रंग-रागन बसन्त है।
कुञ्जन बसन्त दिसिपुञ्जन बसन्त अलि गुञ्जन बसन्त चहुँ ओरन बसन्त है।
छैलन बसन्त अति फैलन बसन्त संग सैलन बसंत बहु गैलन बसन्त है।
'रसिक बिहारी' नैन-सैनन में चैनन में जितै अवलोकौं तितै बरसै बसन्त है॥

किन्तु, इससे कहीं रुचिकर और रमणीय वर्णन पद्माकर जी का है, जिसमें पद-लालित्य और शब्दों की सरस योजना प्रशंसनीय है तथा वाक्यों की रुचिर रचना से मुनि-मन-मोहन मदन के मित्र माधव की महिमा प्रकट होती है—

कूलन में केलि में कछारन में कुञ्जन में क्यारिन में कलिन कलीन किलकन्त है।
कहै 'पदमाकर' परागन में पानहू में पानन में पिक में पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में देखो दीप दीपन में दीपत दिगन्त है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में बनन में बागन में बगरो बसन्त है॥

वसन्त का कैसा व्यापक प्रभाव है! उसका कितना विस्तृत साम्राज्य है! ऐसा अलौकिक ऐश्वर्य, इतना मनोज्ञ माधुर्य भला किसे प्राप्त है? निराली हरियाली के साथ गुलाबी, वसन्ती और लाली लहरा रही है। कोमलता से सरसता और सुगन्ध से संगीत परस्पर लिपटकर मचलते फिरते हैं। तुलसीदासजी वसन्त में जड पदार्थों की दशा बतलाते हैं कि—'लता निहारि नवहिं तरुसाखा' और 'संगम करहिं तलाव तलाई' जिससे—

जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा, देखि मुयहुँ मन मनसिज जागा।

तुलसीदासजी ने 'रामचरित-मानस' में ऋतुराज वसन्त के वैभव, प्रताप, राजसी ठाट और सेना का भी वर्णन किया है—

कदलि ताल बर धुजा पताका, देखि न मोह धीर मन जाका।
बिबिध भाँति फूले तरु नाना, जनु बानैत बने बहु बाना।
मोर चकोर कीर बर बाजी, पारावत मराल सब ताजी।

रथ गिरिसिला दुन्दुभी झरना, चातक बंदी गुनगन बरना।
मधुकर मुखर भेरि सहनाई, त्रिबिध बयारि बसीठी आई।

रसिकेश 'रसिक बिहारी' जी ने इसी तरह के भाव को अपने कवित्त में बाँधा है—

झूमे हैं चहूँधा गजराज-से रसाल भू में घूमै है समीर तेज तरल तुरंग ज्यों।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनार के प्यादे भाँति-भाँति लसैं सहित उमङ्ग त्यों।
छाई नव बल्ली छटा छहरि रही है घनी तेई रथ राजै मोर भ्रमत अभंग क्यों।
'रसिक बिहारी' साज साजि ऋतुराज आयो छायो वनबाग सेना लीन्हें चतुरंग त्यों॥

राजा वसन्त जब आता है तब अपनी प्रजा को सब तरह से सम्पन्न कर देता है। उसका शुभागमन-वर्णन इसका प्रमाण है—

सोंधे समीरन को सरदार मलिन्दन को मनसा-फलदायक।
किंसुक जालन को कलपद्रुम मानिनी बालबहू के मनायक।
कन्त सुकान्त अनंत कलीन को दानन के मन को सुखदायक।
साँचो मनोभवराज को साज सु आवत आज इतै रितुनायक॥

ऋतुराज महाराज पृथ्वी के अलंकार और प्रकृति के शृङ्गार हैं। अतएव आपकी अवाई सुनकर—

बायु बहारि बहारि रहे छिति बीथी सुगंधनि जाति सिचाई।
त्यों मधुमाते मलिन्द सबै जय के करखानि रहे कछु गाई।

अब तक यही प्रसिद्ध था कि 'मदन महीपति को सखा ऋतुराज है' और अब एक कवि ने मदन को ऋतुराज महाराज का दीवान घोषित कर दिया—

बल्ली को बितान मल्लीदल के बिछौना मञ्जु महल निकुञ्ज है प्रमोद बनराज को।
भारी दरबार भीरी भौंरनि की भीर बैठी मदन दिवान इतमान काम-काज को।
'पंडित प्रवीन' तजि मानिनी गुमान गढ़ हाजिर हुजूर सुनि कोकिल अवाज को।
चोबदार चातक विरद बाढ़ि बोले दौरि दौलत दराज महाराज रितुराज को॥

ब्राह्मण होने के नाते कविवर द्विजदेवजी वसन्त महाराज को आशीर्वाद देते हैं—

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज बिनोद लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लता गन तानि बितान सबै बिधि चित्त चुरायो करैं।
'द्विजदेव जू' देखि अनोखी प्रभा अलि चारन कीरति गायो करैं।
चिर जीवो बसन्त! सदा 'द्विजदेव' प्रसूनन की झरि लायो करैं॥

बस, राजा हो तो ऐसा हो जिसे प्रजा-मण्डली हृदय से असीसती रहे। जिस राजा के राज्य में रैयत की रुचि रहती है, उसकी कीर्त्ति-लतिका पर वसन्त-विभूति बरस जाती

कहै 'पदमाकर' सु औरै भाँति गलियान छलिया छबीले छैल औरै छवि छ्वै गये।
और भाँति विहँग समाज में अवाज होत ऐसो रितुराज के सु आज दिन ह्वै गये।
औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रंग औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गये॥

सचमुच वसन्त में जड़-जंगम का हाल और-का-और ही हो जाता है। संस्कृत का कोई कवि भ्रमर-भ्रमरी को एक ही पुष्पपात्र में मधुपान कराता है और मृग-मृगी के स्पर्श-सुखावह अनुभव में वसन्त की मादकता का प्रभाव देखता है—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥

मैथिल-कोकिल विद्यापति ने भी कोकिलकन्त वसन्त को विक्रम-विभूतिशाली महाराजा के रूप में अंकित किया है—

आएल ऋतुपति-राज वसन्त, धाओल अलिकुल माधवि-पन्थ
दिनकर-किरण भेल पौगण्ड, केसर कुसुम धएल हेमदण्ड।
नृप आसन नव पीठल पात, कांचन कुसुम छत्र धरु माथ।
मौलि-रसाल-मुकुल भेल ताय, समुखहि कोकिल पंचम गाय।
सिखिकुल नाचत अलिकुल जंत्र, द्विज-कुल-आन पढ़ आसिख मंत्र।
चन्द्रातप उड़े कुसुम-पराग, मलय-पवन सह भेल अनुराग।
कुन्द-बल्ली तरु धएल निसान, पाटल तूण असोक दल बान॥

वसन्त में जो मानसोन्मादिनी शक्ति होती है, उसके प्रभाव का हृदयहारी वर्णन—

आयो ऋतुराज आज देखत बनै री आली छायो महामोद सों प्रमोद बन भूमि भूमि।
नाचत मयूर मन मुदित मयूरिन को मधुर मनोज मुख चाखैं मुख चूमि-चूमि।
पण्डित 'प्रबीन' मधु लम्पट मधुप पुंज कुञ्जनि में मंजरि को चाखैं रस घूमि-घूमि।
हेली पौन प्रेरित नवेली सी द्रुम बेली फैली फूल दोलन में झूलि रहीं झूमि-झूमि॥

वसन्त-महन्त का मठ वन-उपवन है, उसका दृश्य अनुभव-गम्य है—

सीत मन्द सुखद समीर से चलत मृदु अम्बन के मञ्जर सुबास भरे चारों ओर।
जिनते उठत परिमल की लपट अति ललित सुचित्त जौन भौंरन को लेत चोर।
आयो कुसुमाकर सुहायो सब लोकन को हेरत ही हियरे उठत सुख की हिलोर।
अति उमगाने रहैं महामोद साने रहैं भौंर लपटाने रहैं जिन पर साँझ भोर॥

राजा के रूप में वसन्त को आप देख चुके हैं, अब दुल्लह के रूप में भी देखिए—

भौंरन मौर मनोहर मौलि अमोल हरा हिय मोतिया भायो।
नूतन पल्लव साजि झँगा पटुका कटि सोनजुही छवि छायो।

कोकिल गायन भौंर बराती चढ़ो पवमान तुरंग सुहायो।
छाइ उछाह दिगन्तन 'राम' ललाम बसंत बनो बनि आयो।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी 'विनयपत्रिका में' भगवान शंकर को 'वन' और भगवती पार्वती को वसन्त के रूप में चित्रित किया है। यह युगल छविछटा हिये की आँखों से निहारने योग्य है —

देखो देखो बन बन्यो आजु उमाकंत मानों देखन तुमहिं आई ऋतु वसंत।
जनु तनु-दुति चम्पक कुसुममाल बर बसन नील नूतन तमाल।
कल कदलि-जंघ पद कमल लाल सूचत कटि केसर गति मराल।
भूषन प्रसून बहु विविध रंग नूपुर किंकिन कलरव विहंग।
कर नवल बकुल पल्लव रसाल श्रीफल कुच कंचुकि लता-जाल।
आनन सरोज कच मधुप पुञ्ज लोचन विसाल नव नील कञ्ज।
पिक बचन चरित बर बरहि कीर सित सुमन हास लीला समीर।

इसी तरह का वर्णन 'रुक्मिणी-रमण' का भी है! उनमें तो यह रूपक ठीक समतूल जँचता है। उनका शरीर वन की हरीतिमा को भी लज्जित करनेवाला सघन श्याम है। अतसी-कुसुम-श्याम वनमाली के अंग में राधा की कुसुमावलीमयी देह कैसी फबती होगी!

छबि अति लसत रुक्मिनीकन्त जेहि अहै निछावर ऋतु वसंत।
अंगुलिन माँहि वारौं सुपत्र वारौं मयंक पूरन सुछत्र।
वारौं सुकंज मुख मञ्जु माहि अलि अवलि अलक वारौं सदाहि।
पिक-बैन बैन पर वारि देहुँ वारौं तमाल छबि सुभग देह।
बहु फूल देहु बनमाल वारि अनुराग परागहिं सुछबि हार।
बन पीत पीतपट वारि देहुँ रविभास क्रीट मँह वारि देहुँ।

× × ×

अन्त में वसन्ती वायु का अल्हड़पन भी देख लीजिए—

मौलसिरी मधुपान छक्यौ मकरन्द भर्‌यो अरबिन्द नहायो।
माधवी कुञ्ज सो खाय धका फिरि केतकी पाटल को उठि धायो।
सोनजुही मँडराय रह्यो छिन संग लिये मधुपावलि धायो।
चम्पहिं चाहि गुलाबहिं गाहि समीर चमेलिहिं चूमन आयो॥

लगे हाथों एक आधुनिक कवि का वसन्त-वर्णन भी द्रष्टव्य है—

मंजु मलयाचल के पौन के प्रसंगन ते लाले लाले पल्लव लता में लहकै लगे।
फूलै लागे कमल गुलाब आब्बारे घने 'शंकर' पराग भू अकास अहके लगे।

बोलै लगे कोकिल अनन्त भौंर डोलै लगे चोप सो अमोले मकरन्द चहकै लगे।
नेको ना अटक चढ्यो काम को कटक चारु चारों ओर चटक सुगन्ध महकै लगे॥

वसन्त पर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की सदुक्ति सर्वाङ्ग-सुन्दर है—

पूजन के हेतु वनमाली के चरन-कंज साजत वसन्त माली फूलन की डाली है।

—मासिक 'आर्य्यादर्श', हरिहरपुर, बस्ती (गोरखपुर)
वर्ष १, संख्या १, सं० १९७७ वि० (सन् १९२० ई०)

●

वसन्त की शिक्षा

जीव मरण के बाद जन्म पाता है देखो।
कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल आता है देखो।
चलती है हेमन्त हवा जब जोर दिखाती।
तब होता पतझाड़ न पत्ती रहने पाती।
फिर वही वृक्ष होते हरे, नव पल्लव शोभित सभी।
बस इसी तरह होंगे सुखी, उन्नतियुत हम भी कभी।

—कमलाकर 'कविरत्न'

वसन्त आ गया। हर तरफ नया सौन्दर्य छा गया। नये-नये अंकुर और नये-नये पल्लव शुष्क को भी सरस, निर्जीव को भी सजीव और जड़ को भी चेतन बनाने लगे। देखिए, मंजरियों का मुस्कुराना, उनपर मधुपों का मँड़लाना, मल्लिकामोदमय मारुत का मन्द-मन्द इतराना, कलकंठी कोयल का मधुर तान-तराना और मधुमक्खियों का मधु चुराना भला किसका चित्त नहीं चुराता? एक कवि ने क्या खूब कहा है—

सहकार-कुसुम-केसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते।
मधुरमधुरविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा॥

अर्थात् जिस ऋतु में चारों ओर आम की नई मंजरियों की भीनी-भीनी सुगन्ध फैल रही हो और मधुर मकरन्द पान कर मदमाते भौंरे मंडलाते फिरते हों, उस (वसन्त) ऋतु में भला किसके हृदय में उत्कंठा नहीं उत्पन्न होती।

क्यों न उत्कण्ठा उत्पन्न होगी? जब पल्लवमयी पृथ्वी, हरीतिमामयी दिशाएँ, स्वच्छतामयी नभनीलिमा, पुष्पमयी लताएँ, मंजरीमयी द्रुमावली, सुगन्धमयी वायु और रुचिरतामयी प्रकृति देवी की हृदयहारिणी शोभा आँखों में बस जाती है; तब किसके प्राण उन्मादित नहीं हो उठते। क्यों न हो, मधुमास में प्रकृति पर परमात्मा की विभूति छा जाती है। भगवान ने गीता में कहा भी है कि 'ऋतूनां कुसुमाकरः'—ऋतुओं में वसन्त मैं ही हूँ

जब वसन्त स्वयं भगवान का साक्षात् विभूति-विशिष्ट रूप है तब तो उसका ऋतुराज नाम सार्थक ही है। तभी तो उसकी अगवानी के लिए पहले से ही बड़ी-बड़ी तैयारियाँ होने लगती हैं। प्रकृति और परमात्मा का मिलन-मन्दिर या संसार आप-ही-आप सुसज्जित हो उठता है। वनस्पतियाँ पुलकित हो उठती हैं। कोयल कुहकने लगती है। भौंरे गुंजार करने लगते हैं। दिशाएँ हँसने लगती हैं। वायु का अल्हड़पन शुरू हो जाता है। महुए के फूल की सुगन्ध वायुमण्डल में मादकता भर देती है। पृथ्वी वसन्ती रंग की साड़ी में खिल उठती है। सरसों के सुहावने सुमन प्रकृति-रमणी की कनक-कांति की आभा दिखलाने लगते हैं। तात्पर्य यह कि पूरे साज-सामान के साथ प्रकृति और परम-पुरुष का परिणय-प्रणय-परिरम्भण प्रारंभ होता है।

सजावट के लिए खूब सफाई की जरूरत पड़ती है। इसलिए पतझड़ में सारा कूड़ा-करकट साफ करके नये सिरे से ऋतुराज के स्वागत का विराट् आयोजन किया जाता है। यह संसार एक महानगर है। इसकी सफाई के लिए छोटे-बड़े अनेक कर्मचारी नियुक्त हैं। हवा झाड़ूदार है। मेघ भिश्ती है। अग्नि परिष्कारक है। चाँद फर्राश है। सूर्य मशालची है। सब-के-सब उसी जगन्नियन्ता के सेवक हैं। उसकी आवभगत के लिए सब पहले से ही सजधज कर सोल्लास बाट जोहने लगते हैं।

सुखदायक राजा का सादर स्वागत करने के लिए अत्याचार-पीडित प्रजा कितनी उत्सुक रहती है—यह वसंत में ही देखने को मिलता है। पतझड़ के दमनचक्र में पिसकर जब सारी प्रजा निर्जीव हो जाती है, तब वह दीनबन्धु, स्वराज्य-वसन्त के रूप में, स्वयं प्रकट हो कर प्रजा को प्रफुल्लित बना देता है, पतझड़ की चूसी हुई प्रजा फिर हरी-भरी हो जाती है।

इसी प्रकार ग्रीष्म-काल में जब पृथ्वी अतिशय उत्तप्त हो उठती है, नदी-नाले, कूप-सरोवर, लता-वृक्ष और घासपात सूखकर काँटे हो जाते हैं, जीव-जन्तु व्याकुल होकर तड़पने लगते हैं, तब श्यामसुन्दर मेघ शीतल जलधारों से पृथ्वी को सींच कर संसार में शांति स्थापित करते हैं। इसीलिए भगवान का नाम घनश्याम भी है। उनका रूप घनघटा की कान्ति-सा श्यामल है। उनका पीताम्बर दामिनी की तरह दमकता है। उनकी मुक्तामाला बरसात की बकपाँति है। उनकी बाँसुरी इन्द्रधनुष-सी है—

> अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति।
> हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष रँग होति॥ (बिहारी-सतसई)

वसंत में प्रकृति-नटी एक अभिनव अभिनय दिखाती है। उस नाटक का नाम है—'दिनों का फेर'। गये दिन कैसे लौटते हैं, दुख के दिनों का किस प्रकार अन्त होता है, अत्याचार के बाद शान्ति कैसे प्रतिष्ठित होती है, रात्रि के बाद उज्ज्वल प्रभात का किस प्रकार उदय होता है, गाढ़ी अँधियारी के बाद कैसे शुभ्र चाँदनी खिलती है, यही उस नाटक का मर्म है। परिवर्त्तन का महत्त्व दिखाना ही उसका उद्देश्य है। इसीलिए हमलोग देखते हैं कि जिस वृक्ष में एक पत्ता भी नहीं था, उसमें कोमल पल्लव उग आये। जहाँ अन्धड़ चलता था, वहाँ त्रिविध समीर सरसाने लगा। जहाँ सूखे पत्तों की खड़खड़ाहट का कर्कश शब्द

सुन पड़ता था, वहाँ भौंरों का कल-कल स्वर और कोकिल का कलकूजन कानों में अमृत घोलने लगा। कैसा अभूतपूर्व परिवर्तन है? धन्य है उस लीलामय की अद्‌भुत लीला। आज वही लीला दिखा रहा है। वही भारत को कसौटी पर कस रहा है। अगर भारत खरा उतरा तो उसका पौ-बारह है।

सच पूछिए तो परिवर्त्तन का ही नाम है उन्नति। बीज सड़कर मर मिटता है, अपना अस्तित्व खो देता है; पर उसका आत्म-त्याग व्यर्थ नहीं जाता। उसके रूप का परिवर्त्तन होते ही असंख्य बीज उपज जाते हैं। इस प्रकार बीज का कभी नाश नहीं हो पाता। बीज में अनन्त शक्ति है। बरगद का समूचा पेड़ अपने एक छोटे-से बीज में बन्द है। हमारा स्वराज्य भी हमारे उत्साह के बीज में निहित है। उस बीज को साहस-सलिल से सींचकर बढ़ाते रहें।

वसन्त में ही केवल परिवर्त्तन नहीं देख पड़ता। 'दिनों का फेर' नाटक तो बरसात में भी देखिए। ज्येष्ठ की उष्णता नदियों को इतना क्षीण बना देती है कि कहीं-कहीं कुत्ते, स्यार भी उनकी मर्यादा का उल्लंघन कर जाते हैं, पर वर्षाऋतु उन्हीं नदियों को इतना भर देती है कि उनकी वेगवती धारा मतवाले हाथियों का भी मान-मर्दन कर डालती है। कभी एक-एक बूँद के लिए किसान आसमान ताकते हैं और कभी बाढ़ से बस्तियाँ बह और फसलें सड़-गल जाती हैं। जिस तालाब से हताश होकर एक छोटी चिड़िया लौट जाती है, उसी के कमल-वन में हाथी तक विहार करने लगते हैं। यह तो इस परिवर्त्तनशील संसार का अटूट नियम ही है। 'फरा सो झरा और बरा सो बुझा।' इसमें गूढ़ रहस्य है।

संसार और प्रकृति का नियम एक-सा जान पड़ता है। 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि'—अर्थात्—'जिमि नूतन पट पहिरि के, नर परिहरै पुरान'। इसी नियम के अनुसार सारी प्रकृति अपना पुराना चोला बदल कर नया साज सजाती है। जो वृक्ष सर्वस्व-त्याग कर देते हैं, उन्हें उसका पुरस्कार शीघ्र मिल जाता है। उन्हें वसन्त नखशिख अलंकृत कर देता है। वसन्त को बुलाने के लिए तपस्या करनी पड़ती है। प्रकृति अपना सब-कुछ लुटाकर वसन्त को पाती है। जितनी बड़ी उपलब्धि होगी, उतनी ही बड़ी तपस्या भी अपेक्षित है।

भारत में बहुत दिनों से पतझड़ आ चुका है। अब वसन्त आवेगा। पतझड़ के कष्टों को जैसे प्रकृति सहन कर लेती हैं, वैसे ही भारत-माता भी पतझड़ की पीड़ाएँ सह रही हैं। इसीसे यह सहज ही आभास मिल रहा है कि वसन्त का शुभागमन अविलम्ब होने वाला है। उस प्रजारंजक ऋतुराज के आते ही भारत का भाग्य चमक उठेगा।

यह न समझो कि जो होता है, सदा होता है।
हाँ, वही होता है जो क़िस्मत में बदा होता है।
शाह क़िस्मत की खराबी से गदा[1] होता है।
फिर गदा भी कभी गौहर[2] से लदा होता है।

—मासिक 'मारवाड़ी-अग्रवाल' (कलकत्ता), फाल्गुन, संवत् १६७६ वि०*

---

१. फ़कीर, भिखारी। २. मोती।

*इस लेख का कुछ अंश निकाल दिया गया है; क्योंकि दूसरे एक लेख में वैसी ही सामग्री आ चुकी है। —लेखक

हिन्दी-कवियों की अनोखी सूझ[1]

हे सज्जनाः शृणुत मद्वचनं समस्ताः स्वर्गे सुधास्ति सुलभा न तु सा भवद्भिः ।
कुर्मस्तदत्र भवतामुपकारकारि काव्यामृतं पिबत तत्परमादरेण ।

—'सुभाषितरत्नभाण्डागार'

सभी साहित्यिक प्रायः कहा करते हैं कि 'कवयः किं न पश्यन्ति'। किन्तु हमलोग इसकी खोज-ढूँढ़ या जाँच-पड़ताल बहुत कम करते हैं। कवियों की सूक्ष्मदर्शिता पाताल से भी गहरी है। आकाश से भी ऊँची उनकी कल्पना है। वास्तव में कवियों की सूझ बहुत दूर-दूर तक पहुँची है। उनकी दृष्टि जहाँ तक जाती है, वहाँ तक शायद सूर्य का किरणें भी नहीं जातीं—'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि'। उनकी कल्पना जहाँ घर करती है, वहाँ कदाचित् वृद्ध विधाता की बुद्धि भी प्रवेश करने नहीं पाती। सचमुच वे स्तन में अस्थि का अनुसन्धान कर डालते हैं। असम्भव को सम्भव कर दिखाना, उनके लिए बायें हाथ का खेल है।

हिन्दी-कवियों की बारीक दृष्टि की तारीफ यही है कि वे उन्हीं चीजों में एक प्रकार की चित्त-चमत्कारिणी अपूर्वता और अविरल अनोखापन पैदा कर देते हैं जो हर घड़ी मानव-चक्षु के समक्ष विद्यमान रहती हैं। ऐसा भी नहीं है कि वह अनूठापन उस चीज से जुदा रहता हो और कवियों की पैनी दृष्टि पड़ते ही उसमें एक निरालापन पैठ जाता हो। सो बात नहीं है। ऐसा ही होता तो हमलोग चकित क्यों होते ?

'रहीम' के ये दोनों दोहे हाथी पर चढ़ के पुकारते हैं कि कवियों को 'आकाश उड़ते पाताल खिलते' पल भर भी देर नहीं लगती—

बड़े पेट के भरन में, है रहीम दुख बाढ़ि।
याते हाथी हहरि कै, दये दाँत द्वै काढ़ि ।।
धूर धरत नित सीस पै, कहु 'रहीम' केहि काज ।।
जेहि रज रिषि रमनी तरी, सो ढूँढ़त गजराज ।।

हाथी के निकले दाँत सब लोग रोज देखते हैं। उसे नहाकर धूल उड़ाते भी लोग देखते ही हैं। पर कवि की सूझ ने जो नया रहस्य खोल दिया, उसको भला कौन नहीं मानेगा ?

अगर अपनी शंका का समाधान करने के लिए कोई परिपक्व बुद्धिवाले अनुभवी वृद्ध पितामह से जाकर पूछता कि दन्ती के दाँत आपने क्यों बाहर निकले हुए बना दिये और स्नानान्तर उसे अपनी देह पर धूल डालने की आदत क्यों लगा दी, तो वे शायद बगलें झाँकने लगते; पर धन्य सूझ 'रहीम' की।

---

१. इसी विषय पर लिखे हुए एक दूसरे लेख की आवश्यक सामग्री भी इसमें सम्मिलित कर दी गई है, जो इसी विषय के अनुकूल थी। —लेखक

कवियों की दृष्टि ने बहुत दूर की दौड़ लगाई है। उनकी गहरी पैठ देखकर गोताखोर भी गोता खा जायगा। दोहे के समान छोटे छन्द में उनकी कला का कौशल दर्शनीय है—

तुव पद नख की दुति कछुक, गइ धोवन जल साथ।
तेहि कन मिलि दधि-मथन में, चन्द्र भयो है नाथ॥
कुटिलन संग रहीम कहि, साधू गनते नाहिं।
ज्यों नैना सैननि करें, उरज उमेंठे जाहिं॥
रहिमन अँसुवा नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ॥
जो रहीम दीपक दसा, तिय राखत पट ओट।
समै परे ते होति है, वाही पट की चोट॥
दीपक हिये छिपाय, नवलबधू घर लै चली।
कर बिहीन पछिताय, कुच लखि निज सीसै धुनै॥
अलक 'मुबारक' तिय बदन, लटक परी यों साफ।
खुसनवीस मुनसी मदन, लिख्यो काँच पर क़ाफ॥
बिधना अस जिय जानिके, संसहिं दिये न कान।
धरा मेरु सब डोलिहैं, तानसेन की तान॥
सब जग पेरत तिलन को, थक्यो चित्त यह हेरि।
तुव कपोल को एक तिल, सब जग डार्यो पेरि॥
मन समुद्र तन लहर है, रूप कहर दरियाव।
बेसर भुजा सिकन्दरी, पंथी इहाँ न आव॥
मन जोगी आसन कियो, चिबुक गुफा में जाय।
रह्यो समाधि लगाय के, तिल सिल द्वारे लाय॥

हिन्दी-कवियों के दिलचस्प दोहों के झुण्ड में पैठने पर यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि अपना अमोघ अस्त्र किसे बनाऊँ और किसे अछूता छोड़ दूँ। एक पर निगाह जाती है तो दूसरा दूर से ही प्रलोभन का जाल फेंकता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और महारानी राधिका की प्रेम-लीला का वर्णन करने में मानों हमारे शब्द-शिल्पी कवियों की सारी सूझ समाप्त हो गई है। किन्तु उनकी कविताओं में जो हृदय का संगीत है, वह बड़ा मनमोहक है। राधाकृष्ण को प्रेम के हिंडोले में 'पद्माकरजी' झुला रहे हैं—

प्रेम के हेम हिंडोरन में सरसैं बरसैं रस रंग अगाधा
राधिका के हिय झूलत साँवरो साँवरो के हिय झूलति राधा।

दोनों की संयुक्त छवि-छटा पर जो उत्प्रेक्षा है, वह भी दोनों के सम्मिलन की प्रगाढ़ता बतलाती है—

कैधौं रूधो राहु ते मयंक प्रतिबिम्बित है कैधौं रति राजी[1] संग मनमथ सेजे[2] में।
कैधौं अलि मालती सुमन पै सु मन दै कै रीझि रह्यौ थकित सुगन्धनि अमेजे[3] में।
दामिनी कदम्बिनी[4] मिली है चंचलाई तजि कैधौं रजनी को अन्त दिनकर तेजे[5] में।
सोहै संग मोहन के मोहनी रसीली कैधौं छबि अरसीली[6] फँसी मरकत[7] रेजे[8] में॥

कवि की सूझ ने उत्तम उपमाओं को उलझा कर उनमें चार चाँद लगा दिये हैं।

हिन्दी के पुराने कवियों का कीर्त्ति-केतु आज भी साहित्य-रसज्ञों के दिल-दुर्ग पर फहरा रहा है। मेरा उद्देश्य यह है कि आपलोगों में ब्रजभाषा की उत्तम कविताएँ पढ़ने का शौक पैदा हो। मैं चाशनी चखाता हूँ—आप लोगों को तृप्त नहीं कर सकता। किन्तु याद रखिए—'चाहै रस चाखा तो पठन कर भाखा, जो न जानै ब्रजभाखा ताहि साखा-मृग जानिए।'

भगवान् कृष्ण के काले होने के विषय में हमारे वेदान्ती लोग चाहे जो कारण बतावें; पर एक हिन्दी-कवि की अत्यन्त अभिनव उक्ति सुन लीजिए—

गोरो छीरसिन्धु गोरो देखिए सुधा को सिन्धु गोरो चन्द्रवंस गोरो जदुवंस ही को है।
गोरे बलदेव गोरे बसुदेव देवकी हू गोरी गोरो जसुमति गोरो नन्द नीको हैं।
ब्रज सबै गोप गोरे गोपिका हू गोरी सबै कान्ह भयो कारो वा ते जानो चोरी जी को है।
स्याम पूतरी के बीच स्याम पूतरी में राखि नन्द-पूतरी को लग्यो रंग पूतरी को है॥

'दास' कवि कहते हैं— 'मैं स्वयं एक दिन द्वारका के पास समुद्र में स्नान करने गया, तो नदीश्वर मेरे चरणों पर गिर गिड़गिड़ा कर कहने लगे, कृपया द्वारका के दरबार में दर्दीला दास्तान सुना दीजिएगा—

'ब्रज की अहीरनि की अँसुआ बलित आय जमुना सतावै मोहि महानल-झार में।'

एक संस्कृत-कवि ने यथार्थ कहा है—

शीर्णा गोकुलमण्डली पशुकुलं शष्पाय न स्पन्दते
मूकाःकोकिलपंक्तयः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति।
सर्वे त्वद्विरहेण हन्त नितरां गोविन्द दैन्यं गताः
किन्त्वेका यमुना कुरङ्गनयना नेत्राम्बुभिर्वर्द्धते।

---

१. विराजती है। २. शय्या। ३. मिश्रित, समूह। ४. मेघमाला। ५. किरण।
६. अलसाई हुई, शिथिलीभूत। ७. नीलमणि। ८. छोटा टुकड़ा।

हे गोविन्द ! तुम्हारे विरह के मारे गोकुल उदास है। गायों का घास टूँगना तक मुहाल है। कोयल मौन हो गई है। मोर व्यग्र हो नाचते भी नहीं। सबकी अवस्था क्षीण है। किन्तु मृगनयना गोपियों की वियोगाश्रुधारा[1] से केवल यमुना की ही इस समय वृद्धि हो रही है। विरह-ताप-तप्त हृदय से प्रेमाश्रु-प्रवाह इतना उष्ण निकलता है कि वह अपनी बाढ़ से यमुना की विशेष वृद्धि करके वारिधि में वाड़वानल की सृष्टि कर डालता है! सूझ की बलिहारी!

हिन्दी-कवियों ने मान-भंजन-लीला दिखाने में भी गहरी सूझ का परिचय दिया है। उनकी उक्तियों में उनकी बहुज्ञता और विदग्धता के साथ-साथ प्रकृति के रहस्यों और मानव-स्वभाव की विशेषताओं के गंभीर अध्ययन का भी संकेत मिलता है।

एक मानिनी से एक निराशा-निमग्न नायक नम्र निवेदन करता है। कवि ने कितनी कुशलता से नायक के नम्र निवेदन को निबाहा है—

तारे भये कारे तेरे नैना रतनारे भये मोती भये सीरे तू न सीरी अजहूँ भई।
'छीत' कहै पीतमैं चकैया मिली[2] तू न मिली गैया तरु छूटी तेरी टेक ना छूटी दई!
अरुनई नई तेरी अरुनई नई भई चहचही बोली आली तू न बोली ऐ बई!
मन्दछबि भये चंद फूले अरविंद वृन्द गई री विभावरी न रिस रावरी गई[3] ॥

मानिनी नायिका को मान छोड़ने के लिए एक कवि उपदेश देते हैं। साथ-साथ उसके अंगों की सुषमा की स्तुति भी होती गई है। सूझ सराहनीय है। मानिनी से नायक की दूती कहती है—

जैसी तेरी कटि है तू तैसी मान करु प्यारी जैसी गति तैसी मति हिय तें बिसारिए।
जैसी तेरी भौंह तैसे पंथ पै न दीजे पाँव जैसे नैन तैसिये बड़ाई उर धारिए।

---

१. जब तें पनिघट जाउँ सखी री वा जमुना के तीर।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चलति है इन नैनन के नीर।
इन नैनन के नीर सखी री सेज भई घर नाव।
चाहत हौं ताही पर चढ़ि कै हरिजू के ढिग जावँ। —सूरदास

२. 'चकई बिछुरि मिली तू न मिली प्रीतम सों 'गंग' कवि कहै एतो कियो मान-ठान री।
अथये नछत्र ससि अथई न तेरी रिस तू न परसन्न परसन्न भयो भान री।
तू न खोली मुख खोल्यो कंज औ गुलाब मुख चली सीरी वायु तू न चली भो बिहान री।
राति सब घटी 'नाहीं' करनी ना घटी तेरी दीपक मलीन ना मलीन तेरो मान री ॥'

३. "क्षीणांशुः शशलाञ्छनः सखि पुनः क्षीणो न मानस्तव।
स्मेरं पद्मवनं मनागपि न ते स्मेरं मुखाम्भोरुहम्।
पीतं श्रोतयुगेन षट्पदरुतं पीनं न ते जल्पितम्।
रक्ता शक्रदिगङ्गना रविकरैर्नाद्यापि रक्तासि किम्?"

अर्थात् हे प्राणेश्वरी!—
"चन्दकिरन सीतल भई चकई पियमिलन गई, त्रिविध मंद चलत पवन पल्लवद्रुम डोले।
प्रात भानु प्रगट भयो रजनी को तिमिर गयो, भृङ्ग करत गुञ्जगान कमलन दल खोले।"
[पूर्व-दिशा रक्ता (लाल) हो गई (सुबह हो गई), तू क्यों अभी तक रक्ता (अनुरक्ता) नहीं हुई?]

जैसे तेरे ओठ तैसे नैन कीजिए न जैसे कुच तैसे बैन नाहिं मुख तें उचारिए।
एरी पिकबैनो सुन प्यारे मनमोहन सों जैसो तेरी बेनो तैसी प्रीति बिसतारिए॥

'भट्टि' काव्य में मान का कारण लिखा है—

प्रभातवाताहतिकम्पिताकृति, कुमुद्वती रेणुपिशङ्गविग्रहम्।
निराशभृङ्गं कुपितेव पद्मिनी न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गमम्॥

भावार्थ—रात में कमलिनी कुम्हिलाई रही, कुमुदिनी खिली रही। रसलुब्ध भ्रमर पद्मिनी को छोड़ कुमुदिनी पर रमा रहा। प्रभात हो चला। प्रातवायु से ईषत् कम्पित होने के कारण कुमुदिनी का पीत पराग झरकर भ्रमर के अंग में लग गया। प्रभात में पद्मिनी के खिलने पर भ्रमर उसके पास पहुँचा। कुपिता कमलिनी ने ऐसे निठुर को निराश कर दिया। पीत पराग से पहचान हो गई। मानिनी अपने नायक का अन्य नायिका से संगम नहीं सहन कर सकती।

मानिनी के मान करने का कारण जगजाहिर है। वह नायक की रसिकता का ध्यान करके और भी ऐंठ जाती है—

आँखिनि में पुतरी ह्वै रहै हियरा में हरा ह्वै सबै सुख लूटै।
अंगन संग बसै अँगराग ह्वै जीव ते जीवनमूरि न फूटै।
'देव' जू प्यारे के न्यारे सबै गुन मो मन मानिक ते नहिं टूटै।
और तियान तें तौ बतिया करै मो छतिया ते छिनौ जब छूटै॥

किन्तु मान के म्यान से कठिन कृपाण क्यों न कढ़ी हो; मानिनी हृदयहीना नहीं होती। सहृदय नायक के अनुनय-विनय का प्रभाव उसपर अवश्य ही पड़ता है—

पाप पुराकृत को प्रगट्यो सिगरी रजनी हू भयो सुखघात है।
जीवन मेरो अधीन है तेरे हो, जीवन मीन की कौन-सी बात है।
'तोष' हिये भरु मैन बिथा अरु ना तो प्रिया पल में पछितात है।
जो तुम ठानती मान अयान तो प्रान पयान किये अब जात है॥

मोहित मनवाले नायक की धमकी सुनकर मानिनी झट कह उठती है—

"चूक परी सो परी बकसो यह प्रान है रावरे पाँवन लाग्यो।
लीजिए मोहि उठाय हिये बिच भ्यावन जोर जड़ावन लाग्यो॥"

विकट-मान-भञ्जन-लीला 'रघुनाथ' कवि दिखाते हैं—

दूसरे पलँग बैठी रूठि कैं गुमान ऐंठी महा रोस भरी प्यारी पी को दोष पाइ के।
मानै ना मनायो ए हो 'कवि रघुनाथ' सखी हारीं संगवारी बातें बहुत बनाइ के।
इतने में गहि के चरन प्रानप्यारे कह्यो आजु या महावर मो लगैगो भाल आइ के।
मान को न रह्यो ग्यान एतिक सकानी मुसकानी अंक प्यारे के निसंक बैठी जाइ के॥

कवि की सूझ प्रदर्शित करनेवाला एक विचित्र सवैया है, जिसके अन्तिम पद में कवि ने यहाँ तक कह दिया है कि इसका जो अर्थ करेगा, उसकी बुद्धि संसार में खरी समझी जायगी। सवैया की कष्ट-कल्पना में कवित्व से अधिक सूझ-बूझ ही है—

बिरहानल ज्वाल ते व्याकुल बाल कहौं तेहि काल जो हाल करी।
लिखि सेष महेस हुतासन सेन निसाचर को पुनि ध्यान धरी।
सुनि आगम पीय थपी गरुड़ै भसमासुर बारिधि ब्याध हरी।
कवि 'दीन' कहैं जोउ अर्थ करैं तिनकी मति है जग में सु खरी॥

अर्थात् विरह की आग से सताई हुई एक स्त्री भू-पृष्ठ पर चित्र[1] अङ्कित करके शेषनाग, महेश (शङ्कर), हुताशन (अग्नि), श्येन (बाज पक्षी), निशाचर (राहु) आदि का आवाहन करती है, ताकि वे आकर क्रमशः त्रिविध समीर, कामदेव, पुष्पोद्यान, कोयल और चन्द्रमा का शीघ्र नाश कर डालें। किन्तु तबतक इसी बीच में उसे अपने पति की अवाई की बात सुन पड़ती है। बस झट उन सबको दूर करने के लिए पुनः क्रमशः गरुड़, भस्मासुर, वारिधि (समुद्र), व्याध और हरि (चक्रधारी विष्णु) की स्थापना उसी ठौर करने लगती है, ताकि सुखभोग के साधन नष्ट न हों। किमधिकं विज्ञेषु ?

एक कवि ने विलक्षण नाटक दिखलाया है। अभिनेताओं का अभिनय-कौशल रसानुभव की आँखों से देखने लायक है—

घूँघट जमानिका है कारे-कारे केस निसि खुटिला[2] जराय[3] जरे दीपक उजारी है।
बाजत मधुर मृदुबानी सो मृदंगधुनि नैना नटनागर लकुट लटधारी है।
'आलम सुकवि' कहै रति विपरीत समै श्रमविन्दु अंजुलि-पुहुप भरि डारी है।
अधर सुरङ्गभूमि नृपति अनंग आगे नृत्य करै बेसर की मोती नृत्यकारी है॥

यवनिका, रङ्गभूमि, रात की रोशनी, नृत्य करनेवाली, दर्शक राजा, मृदङ्गध्वनि, निपुण नट के हाथ की श्याम यष्टिका, पुष्पाञ्जलि की वृष्टि, सब दृश्य अनोखे हैं!

उन्हीं 'आलम' की प्रेयसी 'शेख' अपनी बेचारी वेणी को दण्ड दे रही है। उस बेचारी पर जो अभियोग है, वह दण्ड से भी कठोर! किन्तु जिन अंगों पर कोई अभियोग नहीं है, उनको दिये गये पुरस्कार कितने सुन्दर हैं—

---

१. एक स्थान में चित्राङ्कण-चातुर्य दिखलाते हुए कवि ने नववधू को बड़ी बारीक बात ठीक मौके से सुझाई है—

प्रथम समागम के औसर नवेली बाल सकल कलानि पिय प्यारे को रिझायो है।
देखि चतुराई मन सोच भयो प्रीतम के लखि परनारि मन संभ्रम भुलायो है।
'कालिदास' ताही समै निपट प्रबीन तिया काजर लै भीति हूँ में चित्रक बनायो है।
ब्याल लिखी सिंहनी, निकट गजराज लिख्यो, जोनि ते निकसि छौना मस्तक पै आयो है॥

नायक का भ्रम या सन्देह मिटाने के लिए नायिका ने जिस सूझ से काम लिया, वह रसिकों के समझने योग्य ही है।

२. कर्णफूल। ३. रत्नजटित, जड़ाऊ।

रतिरन बिषे जे रहे हैं पति सनमुख तिन्हें बकसीस बकसी है मैं बिहँसि कै।
करन को कंगन उरोजन को चन्द्रहार कटि माहिं किंकिनी रही है अति लसि कै।
'शेख' कहै आदर सों आनन को दीन्हों पान नैनन में काजर बिराजै मन बसि कै।
ए रे बैरी बार तू रहे है पीठि पाछे तातें बार-बार बाँधति हौं बार-बार कसि कै॥

जैसा काम वैसा इनाम। खूब खुले दिल से बख्शिश बख्शी! लेकिन वेणी बाँधी भी गई तो उसकी शोभा ही बढ़ी!

नीले रंग की साड़ी गोरे अंग पर खूब खिलती है, इसलिए शृङ्गारी कवियों ने नीली साड़ी पर कई तरह की कल्पनाएँ की हैं। 'मुबारक' की सूझ सुहावनी है—

कनक बरन बाल नगन लसत भाल मोतिन के माल उर सोहैं भलीभाँति है।
चन्दन चढ़ाइ चारु चन्दमुखी मोहिनी सी प्रात ही अन्हाइ पगु धारे मुसकाति है।
चूनरी विचित्र स्याम सजि के 'मुबारक जू' ढाँकि नखसिख तें निपट सकुचाति है।
चन्द्रमैं लपेटि कै समेटि कै नखत मानो दिन को प्रनाम किये राति चली जाति है॥

श्याम साड़ी[१] का प्रदर्शन विराट् आयोजन के साथ होने जा रहा है। नीलाम्बरा नायिका इस सृष्टि को बिलकुल पलटने पर तुल गई है—

नील पट तन पर घन से घुमाय राखौं दन्तन की चमक छटा-सी विचरति हौं।
हीरन की किरन लगाइ राखौं जुगनू-सी कोकिला पपीहा पिक बानी सों भरति हौं।
कीच अँसुवान के मचाय कवि 'देव' कहै बालम बिदेस को पधारिबो हरति हौं।
इन्द्र कैसो धनु साज बेसर कसत आज रहु रे वसन्त तोहि पावस करति हौं॥

नारी की सुन्दरता प्रायः खतरनाक मानी जाती है। उसकी प्राणरक्षा का साधन वही सौन्दर्य एक कवि को सूझ पड़ा है—

नवल नवाब खानखाना जू तिहारी त्रास भागे देसपती धुनि सुनत निसान की।
'गंग' कहै तिनहूँ की रानी राजधानी छाँड़ि फिरैं बिललानी सुधि भूली खानपान की।
तेऊ मिली करिन हरिन मृग बानरन तिनहुँ की भली भई रच्छा तहाँ प्रान की।
सची जानी करिन, भवानी जानी केहरिन, मृगन कलानिधि, कपिन जानी जानकी॥

---

१. एक ठौर पर श्याम साड़ी को घनघटा और कामिनी को दामिनी बनाकर मघ में चंचला चमकाई गई है—

पहिले दधि लै गई गोकुल में चख चारि भये नटनागर पै।
'रसखान' करी उन चातुरता कहै दान दै दान खरै अरपै।
नख ते सिख लौं पट नील लपेटे लली सब भाँति कँपै-डरपै।
मनु दामिनि सावन के घन में निकसै नहिं भीतर ही तरपै॥

भीतर-ही-भीतर कैसी बिजली तड़पाई है!

एक अभिसारिका नायिका की प्राणरक्षा भ्रम में पड़े हुए दर्शकों की भ्रान्ति से ही हुई—

नागरी गुनागरी सु कैसे डरै रैनि डर जाके संग सोहैं ये सहायक अमन्द री।
वाहन मनोरथ उमा हैं संगवारी सखी मैनमद सुभट मसाल मुखचन्द री।

× × ×

सोये लोग घर के बगर के केवार खोलि जानि मनमाहिं निज गई जुग जामिनी।
चुपचाप चोरा-चोरी चौंकति चकित चली प्रीतम के पास[1] चितचाह भरी भामिनी।
पहुँची सँकेत के निकेत 'संभु' सोभा देत ऐसी वन-वीथिन विराजि रही कामिनी।
चामीकर चोर जान्यो, चंपलता भौंर जान्यो, चन्द्रमा चकोर जान्यो, मोर जान्यो, दामिनी॥

महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' के विरही यक्ष ने भी इसी प्रकार अँधेरी गलियों में बेधड़क चली जानेवाली अभिसारिकाओं को कसौटी की कनक-रेखा-सी बतलाकर मेघ को उपदेश दिया है कि बिजली का दीपक दिखा कर उन्हें मार्ग सुझाना।

कवियों की अनोखी सूझ छोटे-बड़े छन्दों में तो है ही, एक-एक चरण या पद में भी उन्होंने भाव का भण्डार भर दिया है। जैसे—

"सींक लै काजर दै री गँवारिन आँगुरी तेरी कटैगी कटाछनि"।
"रावरो रूप पियो अँखियानि भर्यौ सो भर्यौ उबर्यौ सो ढर्यौ परै।"
"जोबन आइबे की महिमा अँखियाँ मनों काननि सों कहती हैं।"

लेख भर में आपने जो वाहवाही की झड़ी लगाई होगी, उस वाहवाही के विषय में भी एक कवि की अनोखी सूझ—

उर्द के पचाइवे को हींग अरु सोंठ जैसे केश के पचाइवे को घिव निरधार है।
गोरस पचाइबे को सरसों प्रबलदण्ड आम के पचाइबे को नीबू को अचार है।
'श्रीपति' कहत परधन के पचाइवे को कानन छुआय हाथ कहिवो नकार है।
आज के जमाने बीच राजा राव जानें सबै रीझि के पचाइबे को वाहवा डकार है॥

—मासिक 'लक्ष्मी' (गया), १९१८ ई०

१. अभिसारिका ने संकेत-स्थल पर प्रिय-मिलन को जाते समय राह में एक मुल्ला साहब का जा-नमाज धाँग दिया। झुँझलाकर मुल्ला ने उसे झिड़का। उसको फौरन से पेश्तर बड़े मार्के का जवाब सूझा—

"नर राँची मैं ना लखी तू कत लख्यो सुजान।
पढ़ि कुरान बौरे भये नहिं राँचे रहमान।"

हमारे हिन्दी-कवियों ने कमाल किया है[1]

"The poet's pen is the true divining rod.
Which trembles towards the inner founts of feeling.
Bringing to light and use, else bid from all,
The many sweet clear sources which we have
Of Good and Beauty in our own deep bosoms;
And marks the varitations of all mind.
As does the needle."

—*Bailey*

आज लोक-ललामा 'लक्ष्मी' का लालित्य लखकर लोगों की लालसा-लता लहलहा रही है। इस लोक-लोचनानन्ददायिनी पर लेखक तो लट्टू हैं ही, इससे पाठक भी परितृप्त हैं।

इस नव वर्ष का नाम १६१६ है? वाह री युगल जोड़ी! अब कहीं एक सौ वर्ष पर ऐसी जोड़ी जुटेगी।

संस्कृत-साहित्य की तो बात ही कुछ और है। वह तो जगत् के साहित्य का सिरमौर है। उसके तो शब्दकोष तक भी पद्यबद्ध हैं। उसके काव्य-ग्रंथ तो मुकाबले के लिए ललकारने को सन्नद्ध हैं।

बड़े-बड़े विद्वानों और मर्मज्ञ काव्य-रसिकों का तो यहाँ तक कहना है कि इस दोहे में जैसा अनूठा भाव भरा हुआ है, वैसा शायद ही कहीं मिल सकेगा—

"नींद पुरानी गेहिनी, रात न आई हाय!
चिन्ता सौतिन देखि कै, झाँकि झाँकि चलि जाय॥"

किन्तु 'मुरली' और 'माला' केवल दो शब्दों के सहारे इस सवैये में जैसा अविरल भाव दर्शाया गया है, वैसा भी शायद ही कहीं मिले तो मिले—

मैं मुरलीधर की मुरली लई, मेरी लई मुरलीधर माला।
मैं मुरली अधरा न धरी, मुरलीधर कंठ धरी मेरी माला।
मैं मुरलीधर की मुरली दई, मेरी दई मुरलीधर माला।
मैं मुरलीधर की मुरली भई, मेरे भये मुरलीधर माला॥

कविता में एक प्रकार से प्रसाद-गुण भरनेवाला अनुप्रास तो मानों हिन्दी-कवियों का प्रणत किङ्कर ही है। जिन्हें अनुप्रासों का अजस्र आनन्द लूटने की लिप्सा हो, वे हिन्दी-कवियों के रसात्मक काव्यों का अनुशीलन करें। पद्माकर, पजनेस आदि के पद तो अनुप्रासों के अखाड़े या अड्डे समझे जाते ही हैं; पर और-और कवियों के काव्यों में भी अनुप्रासों का अभाव नहीं है। शब्दों के सिलसिले पर टुक ध्यान दीजिए—

"होत उर जाके पीर होत नहि ताके पै इन्हें कोउ ताके पीर होत उर ताके हैं।"
"काहू ने न तारे तिन्हें गंगा तुम तारे आज जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं।"

---

१. इस लेख का कुछ अंश काटकर निकाल दिया गया है; क्योंकि इसी तरह के विषय के एक दूसरे लेख में उससे मिलता-जुलता-सा अंश आ चुका है। —लेखक

"बेंदी बन्द नीको रुख हास मन्द नीको मुख चन्द हूँ ते नीको वृषभानुनंदनी को है।"
"सदन समा के सुखमा के उपमा के चारु चंचल चलाके नैन बाँके राधिका के हैं।"
"सी करनवारी स्वेद-सीकरनवारी रति सीकरनवारी सो बसीकरनवारी है।"

इन पदों में अक्षरों और शब्दों के खेल ही दिखाये गये हैं, पर भाव भी कम मनोहर नहीं हैं। पढ़कर गौर कीजिए।

सुना है, इस समय भूमण्डल की सजीव और उन्नत भाषा अँगरेजी ही है; पर उसके कवि यदि कहीं एक पद में भी अनुप्रास ला देते हैं, तो वाह-वाह की आवाज उठ पड़ती है। किन्तु हमारी हिन्दी में तो अनुप्रास का अघट खजाना भरा पड़ा है। उसका दिग्दर्शन कराने से भी एक पोथा तैयार हो जायगा।

भला अँगरेजी और फारसी-उर्दू में ऐसे पद कैसे बन सकते हैं—

"छत्रिन के छत्र छत्रधारिन के छत्रपति छाजत छटान छिति छेम के छवैया हो।"
"बींधो-सी बँधी-सी विष बूड़ति विमोहित-सी बैठि बाल बकति बिलोकति बिकानी-सी।"

कवियों ने मृग-लोचनाओं के आकर्ण विस्तृत सुदीर्घ नयनों की बड़ाई का वर्णन करने में बड़ी लम्बी उड़ान ली है। किन्तु हमारे 'दास' कवि भाव-सिन्धु में डूब कर तह की मिट्टी ला सके हैं। एक कोई कवि तो **'घूँघट उठाइ एकै मुख देखि-देखि रहै एकै लागी नापन बड़ाई अँखियान की'** इतना ही कहकर तृप्त हो रहे। 'रसनिधि' ने एक ठौर पर दूसरे भाव के व्याज से नेत्रों की लम्बाई जता दी है—

"यह बूझन को नैन ये, लगलग कानन जात।
काहू के मुख तुम सुनी, पिय आवन की बात॥"

पर अब 'दास' की दिलेरी देखिए—

होत मृगादिक ते बड़े बारन, बारन-बृन्द पहारन हेरे।
सिन्धु में केते पहार परे, धरती में बिलोकिए सिंधु घनेरे।
लोकन में धरती हैं किती, हरि-ओदर में वहु लोक बसेरे।
ते हरि 'दास' बसैं इन नैनन, एते बड़े दृग राधिका तेरे॥

अब कमलायत लोचनों के बाद एक तरुणी की वरुणी (बारुणी ?) का विचित्र वर्णन सुनिए—

कैधों दृगसागर के आसपास स्यामताई ताही के ये अंकुर उगाये द्युति बाढ़े हैं।
जेई वे निहारें मन तिनके पकरिबे को देखो इन नैनन हजार हाथ काढ़े हैं॥

निम्नलिखित कवित्त में कवि ने एक वियोगिनी की 'जोगिन आँखों' का चित्र अङ्कित किया है—

बरुनी बघम्बर में गूदरी पलक दोऊ कोये राते बसन भगोहैं भेख रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन जामिनि रहति भौंहैं धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।

आँसू ज्यों फटिक माल लाल डोरे सेल्ही सजि भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस 'देव' लीजिए सँजोगिन कै जोगिन ह्वै बैठी वा बियोगिन की अँखियाँ॥

वियोग का वर्णन भी एक-से-एक बढ़कर मिलता है; मगर 'गंग' कवि के इस अधोलिखित कवित्त में वियोग-वाड़वानल का बड़ा ही भयंकर रूप दीख पड़ता है—

बैठी थी सखिन संग पिय को गवन सुन्यो सुख के समूह में वियोग आग भरकी।
'गंग' कहै त्रिविध सुगंध लै पवन बह्यौ लागत ही ताके तन भई बिथा जर की।
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर पहँ लागत ही औरे गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ' सेवार जरि छार भयो जल जरि गयो पंक सूख्यो भूमि दरकी॥

यह तो अतिशयोक्तिपूर्ण है, पर 'रघुनाथ' कवि का बड़ा स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है—

फूलैंगे अनार कचनार नहसूत आम फूलैंगे सिरिस औ पनस फूलि सूलैंगो।
फूलैंगो सुपांडरी औ मालति अमलतास सेमर पलास फूलि आगिरूप तूलैंगो।
फूलैंगो कनेर माधवी चमेली 'रघुनाथ' फूलैंगो गुलाब जिन्हें देखे चित्त भूलैंगो।
विरह को बिरवा लगायो जौन कन्त सखि आवत बसन्त कहो वाहू अब फूलैंगो?

कहते हैं, 'पूखी' कवि की यह एक ही कविता हिन्दी में पाई जाती है; पर इसी के कारण वे कवि-समाज में आदर पा गये—

चोंथते चकोर चहुँ ओर जानि चन्दमुखी जौ न होती डरनि दसन दुति दम्पा की।
लीलि जाते बरही बिलोकि वेनी वनिता की जौ न होती गूँथनि कुसुमसर कम्पा की।
'पूखी' कवि कहैं ढिग भौंहैं ना धनुष होती कीर कैसे छोड़ते अधरबिम्ब झम्पा की।
दाख कैसो झौंरा झलकतो जोति जौबन की चाटि जाते भौंर जो न होती रंग चम्पा की॥

सूरदास ने भी सौन्दर्य-वर्णन करने में कलम तोड़ दी है, मगर उनके गूढ़ पदों में रस छिपा हुआ है। उनके दृष्टकूट के पद बड़े अर्थगर्भित हैं। किन्तु कल्पना अनूठी है। उनका सौन्दर्योद्यान दर्शनीय है—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगुल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ताहू पर अमृतफल लाग।
फल पर पुहुप पुहुप पर पालव तापर सुक पिक मृगमद काग।
खञ्जन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर यक मनिधर नाग।
अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करत न त्याग।

मैथिलकोकिल विद्यापति के सौन्दर्य-वर्णन-सम्बन्धी पद भी अत्यन्त ललित हैं। उनके समान सूरदास का ही खजाना देखने में आता है। विद्यापति की एक बानगी—

जहाँ जहाँ पद-युग धरई। तहिं-तहिं सरोरुह भरई॥
जहाँ जहाँ झलकत अंग। तहिं तहिं बिजुरि तरंग॥
जहाँ लहु हास सञ्चार। तहिं तहिं अमिय विथार॥
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख, तहिं-तहिं मदन-सर लाख॥

आचार्य भिखारीदास ने महारानी राधा की रचना के लिए जो सामग्री जुटाई है, उसमें अनेक पौराणिक कथाओं के प्रसंग आ गये हैं। 'दास' कवि की दृष्टि की दौड़ देखने योग्य है—

विद्या बर बानी दमयन्ती की सयानी मंजुघोषा मधुराई प्रीति रति की मिलाई में।
चख चित्रलेखा के तिलोत्तमा के तिल लै सुकेसी के सुकेस सची साहबी सुहाई में।
इन्दिरा उदारता औ माद्री की मनोहराई 'दास' इन्दुमति की लै सुकुमारताई में।
राधे के गुमान मों समान बनितान तांके हेत या विधान एक ठान ठहराई में॥

धन्य राधिके! 'दास' कवि ने तो सर्वोत्तम साधन-संग्रह किया ही है, 'ठाकुर' कवि ने भी कहा है—"कंचन को रंग लै सवाद लै सुधा को वसुधा को सूख लूटि कै बनायो मुख तेरो है!"

'कादम्बरी' में लिखा है कि 'इसके मुखचन्द्र की रचना के पूर्व कमल और चन्द्रमा को बनाकर ब्रह्मा ने अभ्यास किया था और जंघाओं और दोनों बाहुओं की बेर पहले कदली-खम्भ और मृणाल पर हाथ माँजा था।' 'मेघदूत' में महाकवि कालिदास ने यक्षपत्नी के विषय में भी ऐसा ही कुछ लिखा है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी।
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रास्तनाभ्यां।
या तत्रस्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः'॥

संस्कृत की सम्पदा अथाह है। उसीकी दुलारी बेटी हिन्दी है। यह अपनी जननी का दम नहीं भर सकती। यह तो अनुचित ढिठाई होगी। संस्कृत और हिन्दी का साहित्य-सागर सचमुच रत्नाकर है। हिन्दी को अधिकांश अनमोल रत्न संस्कृत से ही मिले हैं। हिन्दी-कवियों ने संस्कृत-साहित्य-सागर को मथकर असंख्य रत्न निकाले हैं।

---

१. अलकापुरी की तरुणी रमणियों की सृष्टि करते समय विधाता ने मानों सबसे पहले यक्षपत्नी को ही रचा था (सुन्दरता का सारा टटका सामान पहले-पहल उसीके गढ़ने में लगा)। उसका छरहरा शरीर है, नवीन युवावस्था है, चोखे दांत हैं, बिम्बफल-से लाल ओठ हैं, पतली कमर है, चौकन्ना होकर ताकनेवाली मृगी की-सी चितवन है, नाभि गहरी है, नितम्ब के बोझ से मन्द-मन्द अलसाई-सी चलती है, स्तनों के बोझ से झुकी हुई है। (ऐसी सुन्दरी है वह यक्षिणी!)—ले०

एक बार हमारे एक उर्दू-प्रेमी मित्र[1] ने कहा—

नज़ाकत इस क़दर है उनके पा को।
उठा सकती नहीं बर्गे[2] हिना[3] को॥

इसी टक्कर का कोई नफीस और नाजुक भाव अपनी हिन्दी की शायरी में तो दिखाओ। हमने कहा—मित्रवर, ठीक ऐसा ही सवाल एक और उर्दू-प्रेमी मित्र[4] ने हमसे बड़ी शेखी और शोखी के साथ पूछा था—

बदन व नाजुक व गुल-सा चेहरा, वह भोली सूरत ग़ज़ब की चितवन।
क़दम-क़दम पर सम्हल के चलना, कमर व पतली कि बाल क्या है॥

इसके जोड़ की कोई हिन्दी की कविता तो सुनाओ ज़रा। हम सिर्फ नीचे की दो ही तीन कविताएँ सुना पाये थे कि वे बाग़-बाग़ हो उठे। आप भी वह सुन लें, फिर अपना भी सानी सुनिएगा—

ये वलि या बलि के अधरानि में आनि चढ़ी कछु माधुरई सी।
ज्यों 'पदमाकर' माधुरी त्यों कुच दोउन की चढ़ती उनई सी।
ज्यों कुच त्यों ही नितम्ब चढ़े कछु ज्योंहि नितम्ब त्यों चातुरई सी।
जानि न ऐसी चढ़ाचढ़ि में किहिधौं कटि बीचहिं लूटि लई सी॥

× × ×

कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि खीन?
कटि को कञ्चन काटि बिधि कुचन मध्य[5] धरि दीन॥

इस अन्तिम दोहे पर तो वे भदौआ मेढ़क-सा उछल पड़े। खैर, आप भी अपने शेर का जवाब सुन लीजिए—

चरन धरै न भूमि बिहरै तहाँई जहाँ फूले फूले फूलन बिछायो परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगन में करति न अंगराग कुंकुम को पंक है।
कहै 'मतिराम' देखि वातायन बीच आयो आतप मलीन होत वदन मयंक है।
कैसे वह बाल लाल बाहर बिजन आवे बिजन बयार लागे लचकत लंक है॥

× × ×

जावक के भार पग परत धरा पै मन्द गन्धभार कुचन परी हैं छुटि अलकैं।

---

१. प्रेममन्दिर (आरा) वाले स्व० कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन। २. पत्तियाँ। ३. मेंहँदी (मेंहदी की लाली)।
४. स्व० भवेशनन्दन सहाय (मेरे सहपाठी)—प्रसिद्ध साहित्य-सेवी स्व० श्री व्रजनन्दनसहाय के चचेरे भाई।
५. यन्नमाति तदङ्गेषु लावण्यमति संभृतम्।
पिण्डीकृतमुरोदेशे तत्पयोधरतां गतम्॥

'द्विजदेव' तैसिये विचित्र बरुनी के भार आधे-आधे दृगन परी है अधपलकैं[1] ।
पानिप के भारन सँभारत न गात लंक लचि-लचि जात कचभारन के हलकैं ॥

× × ×

बारन के भार सुकुमारी के लचत लंक राजत परजंक पर भीतर महल के ।...
कोमल कमल के गुलाबन के दल के सुजात गड़ि पाँयन बिछौना मखमल के ।

इतने पर तो हमारे मित्र का दिमाग़ मुअत्तर हो उठा। उन्होंने ज्यों ही झक में आकर—

"गन्दुमी रंग भी है ज़ुल्फ़ सियह-फ़ाम भी है ।
मुर्ग़-ए-दिल क्यों न फँसे दाना भी है दाम भी है ।"

इसके जोड़ का कोई दोहा माँगा त्योंही हमने झटपट 'मुबारक' कवि का यही दोहा सुनाया—

"अलक डोर मुख-छवि नदी, बेसरि बंसी लाइ ।
दै चारा मुकुतानि को, मो चित चली फँदाइ ।"

उन्होंने कहा—'यार! हमेशा कुछ हिन्दी के सवैये, कवित्त, दोहे आदि आकर सुनाया करो। मैं तो जानता था कि उर्दू की शायरी में जो मिठास है, वह कहीं नहीं है।'

हमने अपने मित्र से कहा कि उर्दू की कविता की महत्ता हम भी मानते हैं, उसकी खूबी और बारीकी के कायल हम भी हैं; मगर हिन्दी-कवियों ने भी बड़ा कमाल किया है, दूर की कौड़ी लाने में वे किसी से पीछे नहीं हैं।

कविता की तारीफ यह है कि पके अंगूर की तरह उसका रस भीतर से झलकता हो और कविता के रसिक की तारीफ यह है कि वह सुनते ही उसके रस में लीन हो जाय। हिन्दी-कवियों के ये दोहे इसी भाव को पुष्ट करते हैं—

कवि अच्छर अरु तिय सुकुच, अधउघरे सुख देत ।
अधिक ढकेहू सुखद नहिं, उघरे महा अहेत ॥
तन्त्रीनाद कबित्त रस, सरस राग रतिरंग ।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥

—मासिक 'लक्ष्मी' (गया), सन् १९१९ ई०

१. सरस रूप को भार बल, सहि न सकैं सुकुमार।
या ही तें ये पलक जनु, झुकि आवै हर बार ॥ —रसनिधि कवि

भक्तों की भावनाएँ

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम् ।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
सञ्चारपदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो ।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥[२]

—जगद्गुरु शङ्कराचार्य्य

ईश्वर की भक्ति में तन्मय रहनेवाले व्यक्ति को भक्त कहते हैं। भगवान को भजते-भजते भक्त भी भगवान का स्वरूप ही हो जाता है। उसकी मानसिक शक्ति चुम्बक की तरह ईश्वर को अपने अन्दर खींच लेती है। वह सर्वत्र सर्वदा भगवान की झलक-झाँकी पाता रहता है। उसके लक्षण या स्वभाव का संकेत तुलसीदासजी के इस दोहे में है—

जे मन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह।
तुलसी ते प्रिय राम के, कानन बसहिं कि गेह ॥

भगवद्भक्ति से विमुख लोगों की परिभाषा रहीम कवि ने लिखी है—

रहिमन राम न उर धरे, रहत विषय लपटाय।
पसु खर खात सवाद सों, गुड़ गुलियाये खाय ॥

सत्संगति के प्रभाव से, सन्तों की अमर वाणियों का मनन करते रहने से, हरिकथा-कीर्त्तन से, सांसारिक प्रपंच से मन को धीरे-धीरे हटाते रहने के अभ्यास से और शास्त्रचिन्तन से मनुष्य का हृदय क्रमशः निर्मल होता जाता है। फिर हृदय के शुद्ध होने पर उसमें ईश्वर की भक्ति का संचार होता है। तब भक्त प्रेमविह्वल होकर भगवान को पुकारने लगता है। महात्मा कबीरदास ने कहा है—

कबिरा हँसना दूर करु, रोने से करु चीत।
बिन रोये क्यों पाइए, प्रेम पियारा मीत ॥

भगवान के आगे आत्मसमर्पण करके भक्त निश्चिन्त हो जाता है। सर्वव्यापी भगवान उसके हृदय में घर कर लेते हैं—"जो तिहुँ लोकहुँ नाहिं समावत, सो भगतन उर गेह बनावत।" भगवान को मन में बसाकर भक्त कहने लगता है—"जिन आँखिन सों

१. इस लेख का बहुत-सा अंश काटकर निकाल दिया गया है; क्योंकि वह अंश दूसरे एक लेख में भी आ गया था, और उस दूसरे लेख का कुछ अंश इसमें जोड़ दिया गया है—जो इसी लेख के विषय से सम्बद्ध था। वह लेख (ईश्वरोपासना) सन् १९२२ ई० में 'हिन्दी-बङ्गवासी' में छपा था। —लेखक

२. हे भगवान् शंकर! तुम मेरे आत्मा हो, पार्वती मेरी बुद्धि है, मेरे प्राण तुम्हारे गण हैं, मैं जो विषय-भोग करता हूँ वह तुम्हारी पूजा है, जब मैं नींद में सोता हूँ तब तुम्हारे ध्यान में डूब जाता हूँ, पैरों से जितना चलता हूँ उतना सब तुम्हारी प्रदक्षिणा है, जो कुछ बोलता हूँ सब तुम्हारी स्तुति है; इस प्रकार जो-जो काम करता हूँ सब तुम्हारी ही आराधना है।—ले०

तव रूप लख्यो उन आँखिन सों अब देखिय क्या ?" सन्त कवि दादू परमात्मा की शरण में जाकर निर्द्वन्द्व हो रहे—

जो सिर सौंपा राम कौ, सो सिर किया सनाथ।
दादू दे ऊरण भया, जिसका तिसके हाथ॥

भगवान की कृपा पर आश्रित रहनेवाला भक्त इस संसार की सारी आशाएँ छोड़ देता है। वह धन-धान्य को भगवान की ही देन मानता है। सब प्रकार के गौरव और वैभव को वह भगवान की ओर से प्रेरित प्रलोभन समझकर उनसे केवल भक्ति की ही याचना करता है। उसकी धारणा नीचे के पदों में प्रकट है—

झूमत द्वार मतंग अनेक जँजीर जरे मद अम्बु चुचाते।
ताते तुरंग मनोगति ते अति पौन के गौनहुँ ते बढ़ि जाते।
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकित बाहर भूप भरे न समाते।
एते भये तो कहाँ 'तुलसी' जो पै जानकिनाथ के रंग न राते॥

× × × ×

केतो करौ कोय पैये करम लिखोय ताते दूसरी न होय उर सोय ठहराइए।
आधी ते सरस बीति गई है बरस अब दुज्जन दरस बीच रस न बढ़ाइए।
चिन्ता अनुचित धरु धीरज उचित 'सेनापति' ह्वै सुचित रघुपति गुन गाइए।
चारि बरदानि तजि पाय कमलेच्छन के पायक मलेच्छन के काहे को कहाइए॥

भगवान भी उसी भक्त पर द्रवते हैं जो केवल उन्हीं के अटूट भरोसे पर अपने मन को दृढ़ता से टिकाता है। तनिक भी इधर-उधर की लाग-लपेट रहने पर वे पूरी तरह नहीं ढलते। सारे नेह-नाते और सारी मोह-ममता के धागों को बटोरकर उन्हीं के चरणों में बाँध देने पर वे मुट्ठी में आते हैं। उनके वशीभूत हो जाने पर चाह की राह छूट जाती है, जैसे अफरकर खा लेने पर लड्डू भी नहीं रुचता। जो उनका आसरा पकड़ लेता है उसके लिए फिर कौन राजा और कौन धनी। 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गर्वोक्ति निस्सार नहीं है—

राधेस्याम सेवै सदा बृन्दाबन बास करै रहै निहचिन्त पद आस गुरुबर के।
चाहै धनधाम ना अराम सों है काम 'हरिचन्दजू' भरोसे रहै नन्दराय घर के।
एरे नीच धनी हमैं तेज तू दिखावै कहा गज परवाही कबौं होय नाहिं खर के।
होइ लै रसाल तू भलेई जगजीव काज आसी ना तिहारे ये निवासी कल्पतरु[1] के॥

दुनिया में दूसरे लोगों को ईश्वर की भक्ति से विमुख देखकर भक्त को आश्चर्य और दुःख भी होता है। वह ऐसे लोगों के उद्धार की भी प्रार्थना भगवान से करता है।

१. जाकर घर सुरतरु तर होई, सह कि दरिद्र जनित दुख सोई। —तुलसी

भगवान की दयालुता पर लोगों का विश्वास न देख वह चकित रहता है। इसको भी वह ईश्वर की लीला ही समझता है। वह सोचता है कि भगवान अपनी माया का तमाशा देखकर स्वयं हँसते होंगे और उस तमाशे में खलल डालना उनको पसन्द न होगा। भक्त के खेद का कारण देखिए—

बाहन छोरि के दौरि के पायँन चायन सों गजराज[1] छुड़ायो।
दीन की लाज निबाहिबे को जिन द्रोपदि[2] चीरहुँ जाइ बढ़ायो।
और कहाँ लौं कहौं 'कमलापति' गिद्ध[3] को आपने धाम पठायो।
हाय बड़े अपसोस की बात तैं कैसे कृपानिधि को बिसरायो॥

भक्त प्रायः भगवान को अपना चिरसंगी समझकर उनसे हास्य-विनोद और ढिठाई भी करने लगता है। वह कभी अटपटे प्रश्न पूछता है, कभी उलहना देता है, कभी डींग बघारता है, कभी शेखी और शोखी दिखलाता है, कभी-कभी तो फटकारता भी है। वह भगवान में अपने-आपको ऐसा घुला-मिला देता है कि उनसे उसकी खासी अभिन्नता हो जाती है। ऐसे अनन्य भक्तों की लन्तरानियाँ भी भगवान बरदाश्त कर लेते हैं। भक्त भी समझता है कि भगवान मेरी ऊटपटाँग बातें सुनकर मुस्कुराते होंगे। वह मन में ध्यान के बल से भगवान के हँसते हुए दिव्य रूप को देख-देखकर पुलकित होता है। भगवान को प्रीति की रीति सिखाते हुए एक भक्त कहता है—"मो सों सुनो तुम जान कृपानिधि नेह निबाहिबो यों छबि पावै, ज्यों अपनी रुचि राँचि कुबेर सु रंकहिं लै निज अंक लगावै।" एक भक्त अपनी प्रश्नावली उपस्थित करके भगवान से जवाब तलब करता है और दूसरे भक्त उन्हें धमकी देकर सावधान भी करते हैं—

भील कब करी थी भलाई जिय आप जान फील कब हुआ था मुरीद कहु किसका?
गीध कब ग्यान की किताब का किनारा छुआ ब्याध और बधिक निसाफ कहु किसका?
नाग कब माला लै कै बन्दगी करी थी बैठ मुझको भी लगा था अजामिल का हिसका?
एते बदराहों की बदी करी थी माफ जन 'मलूक' अजातो पर एती करी रिस का?

× × × ×

गीधे गीध तारि कै सुतारि कै उतारि कै जू धारि कै हिये में निज बात नटि जायगी।
तारि कै अवधि करी अवधि सुतारिबे की बिपति बिदारिबे की फाँस कटि जायगी।

---

१. (क) गज निरख्यो फहरानि बसन की।
लख्यो ललकि मुखकमल निहारन भूलि गई सुधि ग्राह ग्रसन की॥—सूर
(ख) नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनों तारन बिरद बारक बारन तारि॥—बिहारी

२. कहा करै बैरी प्रबल, जो सहाय रघुबीर।
दस हजार गजबल घट्यो, बढ्यो न दस गज चीर॥

३. गिद्ध को गोद में राखि कृपानिधि नैन सरोजन में भरि बारी।
बारहिंबार सुधारत पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी॥ —तुलसी

'ग्वाल कवि' सहज न तारिबो हमारो गिनौ कठिन परैगी पाप-पाँति पटि जायगी।
याते जौ न तारिहौ तुम्हारि सौंह रघुनाथ अधम उधारिबे की साख[1] घटि जायगी॥

× × × ×

द्विरद की पुकार सुनि ग्राह ते बचायो धाय द्रुपदी की लाज काज चीर भयो आय है।
गौतम की नारि पग परसि पुनीत कीन्हो खम्भ फारि आयो प्रह्लाद काज धाय है।
'सीतल' महोतल में एते उपकार कीन्हे याही के प्रभाव तेरो जस जग गाय है।
नैनन में निरंजन जौ अंजन ह्वै न लागिहौ तौ बिरद तिहारो सब रद परि जाय है॥

भगवान् की असीम दयालुता पर अटल विश्वास होने के कारण ही भक्त उनसे अनेक प्रकार की अपील करता है। वह जानता है कि भगवान सदैव दया करने में सावधान रहते हैं। यहाँ तक कि प्रलयकाल में ताण्डव नृत्य करनेवाले भगवान शंकर को भी वह दया-भाव में लीन और दयाशीलता का व्रत निभाने के लिए स्वयं कष्ट सहते देखता है—

पाद प्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु बोझ के मारे।
हाथन चालिबे सों नभ में इत के उत टूटि परैं नहिं तारे।
देखन सों जरि जाहिं न लोक न खोलत नैन कृपा उर धारे।
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत शर्व हरौ दुख सर्व हमारे॥

इसी प्रकार, भक्तों की भावना भिन्न-भिन्न भाँति की होती है। उनकी भावनाएँ निश्चय ही भव्य, भोली-भाली तथा भद्र हुआ करती हैं। उन भावनाओं में सरलता, स्वाभाविकता, सहृदयता और सरसता भरी रहती है; वे विचक्षण के व्यतीत विलक्षण भी होती हैं; वे पवित्र हैं तो विचित्र भी। उद्धृतांशों से यह बात प्रकट हो गई है।

अनुभवी जन कहते हैं, जिसकी जीभ दादुर की जीभ के समान नहीं है, जिसकी आँखें मयूर-पंख की आँखों के सदृश नहीं हैं, जिसके कान साँप के बिल के तुल्य नहीं हैं, वही ईश्वर-भक्तों की भावनाओं को हृदयंगम करके भाव-विभोर हो सकता है।

जिसकी आँखें कभी भक्त-भीति-भंजन की भक्ति से उमड़ नहीं आतीं, जिसको 'पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु, माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु' पढ़कर पल-भर पुलकित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है, जिसका हृदय मोहन-मुरली की टेर से मंत्र-मुग्ध नहीं हो जाता, जिसको अपने प्रफुल्ल प्राणों में प्रेम-पुलकावली छा जाने से विदेह हो जाने का सुअवसर नहीं मिलता—उसे भक्तों की भावनाओं की पञ्चवटी की शीतल छाया में विश्राम करने का अधिकार नहीं। ऐसा संतों का मत है।

१. पावते न मो सों जो पै अधम कहूँ तो राम कैसे तुम अधम उधारन कहावते? —पदमाकर

भक्तों के भगवान ने तो चार[1] प्रकार के भक्त बतलाकर उन्हें नव[2] प्रकार के भूषणों से भूषित कर दिया है। किन्तु यह कहना अटपटा न होगा कि भगवान अपने भक्तों का श्रेणी-विभाग न कर सकने के कारण चटपट चार प्रकार के ही कहकर निश्चिन्त हो गये। उन्होंने तो नवधा भक्ति निर्धारित की है, पर भक्तों की भावनाओं ने शतधा कर दिखाई है।

भक्त की परिभाषा सन्तों ने भी बतलाई है—'जो आठों याम राम के निष्काम प्रेम में रत रहता है वही भक्त है।' किन्तु गहराई से विचारने पर मालूम होता है कि भक्तों की भावनाओं की तरह उनकी परिभाषाओं की भी सीमा नहीं है। कारण, इस लोक में जो समाज की सेवा करता है, वह लोकसेवक भी ईश्वरभक्त माना गया है। दुःखी, दरिद्र, असहाय, रोगी, पीड़ित, पददलित और संकटग्रस्त जनों की सेवा करनेवाला भी ईश्वर का भक्त ही है।

कहीं-कहीं निरंकुश भक्तों की भावनाएँ बड़ी ऊटपटाँग और ठौर-ठौर तो हास्यजनक भी हैं। एक वृद्ध भक्त रामजी से कहता है—"हे प्रभो! बन्दरों पर तुम्हारी जितनी कृपा है, उतनी मनुष्यों पर नहीं दीखती। बुढ़ापे से मेरी आकृति भी तो बंदर की-सी हो गई है। फिर मुझपर कृपा क्यों नहीं करते?"

चित्रकूट-यात्रा की बेर जब रामजी ने महर्षि वाल्मीकि से पूछा—

अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ।
सिय सौमित्र सहित जहँ जाऊँ॥

तब आदिकवि ने खूब मुँह-तोड़ जवाब दिया—

पूछेहु मोहि कि रहौं कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहुँ तहँ देहु कहि, तुमहिं दिखावौं ठाउँ॥

रामजी मुस्कुराकर अवाक् हो गये!

एक भक्त की निम्नांकित उक्ति पर भी भगवान मौन ही रह गये होंगे—

तुम करतार जग रच्छा के करनहार पूरत हो मनोरथ सब चित-चाहे के।
अस जिय जानि 'सेनापति' हू सरन आयो हूजिए दयाल मेटो ताप दुख-दाहे के।
जो यों कहौ तेरे हैं रे करम अनैसे हम गाहक हैं सुकृति भगति रस-लाहे के।
अपने करम करि उतरैंगे पार तो पै हम करतार करतार तुम काहे के॥

---

१. 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥' —श्रीमद्भगवद्गीता

२. 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्'॥

भक्तवर भारतेन्दु ने तो भगवान को ललकारा है—पतितपावनता की परीक्षा देने के लिए—

फल दियो भिल्लिनी अजामिल उचार्यो नाम गिद्ध कियो जुद्ध गज कालिका चढ़ाई है।
गोपी गोप नेह कीन्हो केवट चरन धोयो सेवा करी भील कपि रिपु सों लड़ाई है।
'हरिचंद' पद को परसि मुनिनारि लह्यो गनिका पढ़ावत सुवा को नाम गाई है।
इनके न एकौ गुन औगुन सबै के मो में एते हू पै तारो तबै आपकी बड़ाई है[1] ॥

एक आलसी भक्त ने पूजा से पिण्ड छुड़ाने के लिए बहुतेरे बहाने ढूँढ़ निकाले हैं। मूर्तिपूजा के विरोधी भी ऐसे तर्क किया करते हैं। किन्तु यह भक्त निर्गुणोपासक तो है हा, विनोदी भी जान पड़ता है—

नीर जो चढ़ाऊँ ताहि कच्छ-मच्छ पीयो करैं दूध जो चढ़ाऊँ सो तो बच्छे की जुठार है।
फूल जो चढ़ाऊँ ताहि भौंरा हू चूमि जात पत्र जो चढ़ाऊँ ताते बृच्छ को उजार है।
मेवा मिष्टान्न ता में माखी मुख गेरी जात धूप जो चढ़ाऊँ सो तो आग की बहार है।
एते सब पदारथ अपावन हैं जगत माहिं ताते महाराज! मेरी सूखी नमस्कार है॥

इसी भाव को एक सिद्ध सन्त भक्त ने बड़ी विनय के साथ व्यक्त किया है। इसकी अन्तिम दो पंक्तियों में भक्त का निर्मल हृदय खुल पड़ा है—

राम! मैं पूजा कहाँ चढ़ाऊँ? फल अरु मूल अनूप न पाऊँ।
थनहर दूध जो बछरु जुठारी, पुहुप भँवर जल मीन बिगारो।
मलयागिरि बेधियो भुजंगा, बिष अमृत दोउ एकै संगा।
मन ही पूजा मन ही धूप, मन ही सेऊँ सहज स्वरूप।
पूजा-अर्चा न जानूँ तेरी, कह 'रैदास' कवन गति मेरी॥

मूर्तिपूजा का खण्डन करनेवाले आस्तिक लोग भी उपर्युक्त भाव के आधार पर अपना विचित्र विचार प्रकट करते हैं। परमात्मा के सगुण रूप को न माननेवाले लोग सगुणोपासकों की पूजा-पद्धति पर व्यंग्य किया करते हैं। किन्तु वे निर्गुण ब्रह्म के उपासक तो हैं ही। उनकी युक्तियाँ कठहुज्जत से भरी हैं—

अजब हैरान हूँ भगवन् तुझे कैसे रिझाऊँ मैं?
नहीं ऐसी कोई वस्तू जिसे सेवा में लाऊँ मैं!
करूँ किस तौर आवाहन कि तुम मौजूद हो हर जा।

---

१. ब्याधहू ते बिहद असाधु हौं अजामिल लौं ग्राह ते गुनाही कहो तिन में गिनाओगे।
स्यौरी हौं न सूद्र हौं न केवट कहूँ को त्यों न गौतमी तिया हौं जापै पग धरि आओगे।
राम सों कहत 'पदमाकर' पुकारि तुम मेरे महापापन को पार हू न पाओगे।
झूठो ही कलंक सुनि सीता ऐसी सती तजी हौं तो साँचो हू कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे॥

निरादर है बुलाने में अगर घंटी बजाऊँ मैं।
लगाना भोग कुछ तुमको यह एक अपमान करना है।
खिलाता है जो सब जग को उसे कैसे खिलाऊँ मैं ?
तुम्हारी जोत से रौशन ये सूरज चाँद औ तारे।
महा अन्धेर (!) है भगवन् अगर दीपक दिखाऊँ मैं।
तुम्हीं व्यापक हो पत्थर में तुम्हीं व्यापक हो फूलों में;
भला भगवान को भगवान पर कैसे चढ़ाऊँ मैं ?
भुजाएँ हैं न सीना है न गर्दन है न पेशानी।
तुम हो निर्लेप नारायण कहाँ चन्दन लगाऊँ मैं॥

अनुमान से ही समझ जाइए कि तरह-तरह के भक्तों के दिमाग में कैसी-कैसी बातें खौलती रहती हैं। कभी-कभी मनमौजी भक्तों की अटपट बात पर भगवान को भी हँसी आती होगी या अफसोस होता होगा कि बेकार हम जगत् का जंजाल अपने सिर उठाने गये! भक्तों की माकूल बातों का जवाब भगवान नहीं दे पाते हैं—इसीसे तो वे 'विजित' और भक्त 'विजेता' कहलाते हैं।

अब देखिए कि भक्तों के भावना-निकुञ्ज में इतनी हरीतिमा है या नहीं जिससे आपका नयन-रंजन हो—इतनी सुखावह शीतलता है या नहीं जिससे आपका मनस्ताप शान्त हो।

कोई भक्त कहता है—"बाँसुरीबारो बड़ो रिझवार है 'देव' जो नेकु सुढार ढरैगो; साँवरो छैल वही तो अहीर को पीर हमारे हिये को हरैगो।" फिर दूसरा भक्त कहता है—"जातरूप घट नीको रेशम को पट नीको बंसीवट-तट नीको नट नीको नन्द को"। तबतक तीसरा बोल उठता है—"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं; आठहुँ सिद्धि नवौ निधि के सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।" वही भक्त फिर कहता है—"रसखानि गोविन्दहिं यों भजिए ज्यों नागरि को चित गागरि में।" इतने में ही "न जानामि योगं जपं नैव पूजां नतोऽहं सदा सर्वदा शम्भु तुभ्यम्' कहते हुए आकर एक अनन्य भक्त आर्त्त स्वर से कह उठता है—

"जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे।
काको नाम पतित-पावन जग केहि अति दीन पियारे।
कौन देव बराइ विरद हित हठि-हठि अधम उधारे।
खग मृग व्याध पषान विटप जड़ जवन कवन सुर तारे॥

इस भक्त की बिसात ही कुछ और है। अशरण-शरण का कैसा एकान्त भरोसा है! भगवान की भक्तवत्सलता भी बरबस छलछला उठेगी! ऐसी अविरल भक्ति के अधिकारी तो

तुलसीदास ही नजर आते हैं ! उनकी 'विनय-पत्रिका' के पदों में अलौकिक भावनाएँ भरी हुई हैं। ऐसे भावोद्‌गार पर भला कौन भगवान न रीझेगा ?—

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो।
साधन-धाम बिबुध-दुर्लभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हो ॥
कोटिहु मुख कहि जात न प्रभु के एक-एक उपकार।
तदपि नाथ औरै कछु माँगौं दीजै परम उदार ॥
विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
तेहिते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥
कृपा-डोरि बनसी पद-अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
यहि विधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥

कृतज्ञता प्रकट करने और कृपालुता को उकसाने तथा अपनी प्रार्थना सफल कराने का कैसा निराला ढंग है ! गोस्वामीजी ने खूब सुझाव दिया — नाथ ! 'एक पन्थ दो काज' होगा, मेरा काम सरेगा, आपका मनोरंजन होगा ! एक-से-एक बढ़ी-चढ़ी उक्तियाँ हैं—

जानकी-जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै राम सीय पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभु पद विमुख न पैहौं।
मन समेत या तन के बासिन इहै सिखावन दैहौं।
स्रवनन और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरन सीस ईसहीं नैहौं।
नातो नेह नाथ सो करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ॥

भावुक भक्त की यह प्रतिज्ञा उसकी अनन्य उपासना का स्पष्ट चित्र है। भगवान की भक्ति में ऐसी स्वाभाविक तल्लीनता बहुत खोजने पर भी बहुत कम ही मिलेगी। दूसरी प्रतिज्ञा पहली से भी अनूठी जान पड़ती है—

अब लौं नसानी अब ना नसैहौं।
रामकृपा भव-निसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं।
पायउँ नाम चारु चिन्तामनि उर कर ते न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित-कंचनहिं कसैहौं।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हंसैहौं।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं ॥

भविष्य के लिए सावधान होने का कितना दृढ़ संकल्प है! सभी पंक्तियाँ भाव की श्रेष्ठता और मधुरता के लिए परस्पर होड़ कर रही हैं। कसौटीवाली पाँती तो अनमोल ही है। अब आगे मन की प्रवृत्तियों का हाल भगवान से कहते हैं—

मेरो मन हरि-जू हठ न तजै।
निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाउ निजै॥
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै॥
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥
हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

इसमें भक्त कवि ने मानव-प्रकृति के गम्भीर अध्ययन का हृदयग्राही परिचय दिया है। मनुष्य के हृदय की कमजोरियों का कितना सुन्दर दिग्दर्शन है। 'उर प्रेरक रघुवंस विभूषन' से विनती बड़े मार्के की है। भगवान पर अपने दोषों का भार डालने का तरीका खूब सोचा है। ऐसे भाव के पद और भी हैं और कोई किसी से घटकर नहीं है—

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्री रघुबीर धीर हितकारी॥
मम हृदै भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा॥
मैं एक अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥
भागेहु नहिं नाथ उबारा। रघुनायक करहुँ सँभारा॥
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तस्कर तव धामा॥
चिन्ता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥

अर्जी का मजमून ऐसे चुस्त शब्दों में कसा हुआ है कि नालिश करनेवाले की दयनीय दीनता और वास्तविक असहायावस्था तथा जालिमों की ज्यादती पर मालिक का ध्यान गये बिना न रहेगा। बयान से ही साफ जाहिर है कि फरियाद मंजूर होगी और उसकी सुनवाई का फैसला सराहनीय होगा। किन्तु गोस्वामीजी भगवान को सारा उत्तरदायित्व सौंपकर जब अपनी ओर देखते हैं तब भावना की तह पलट देते हैं—

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।
काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि॥

बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।
देउँ सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि॥
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
संग बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि॥
करौं जो कछु धरौं सचि पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि॥
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि॥
एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहिं छोरि॥

अपने ऊपर सारा दोष ओढ़कर मालिक को प्रसन्न करने की कैसी निराली प्रणाली है! इस पाप-ताप-पूर्ण संसार के मनुष्यों की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट दिखला दिया है। दुर्बल मनुष्य की यही गति-मति है। ऐसे मनुष्य इस युग में सर्वत्र दीख पड़ते हैं। राज-दरबार में बेहयाई पर रीझने की बात भी एक ही कही! इसे निर्लज्जता कहेंगे या निष्कपटता? भक्त ने मानव-जाति की ओर से प्रतिनिधि बनकर इस भावना को भगवान की खिदमत में पेश किया है, इसलिए उन्हें शतसहस्र साधुवाद!

ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न पाठको! बस आप लोग भी 'देव' कवि के स्वर-में-स्वर मिलाकर अपने-अपने स्वेच्छाचारी मन से कह दीजिए—

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग एरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि चाबुक चिताउनीनि मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे ते बाँधि राधाबर बिरद के बारिधि में बोरतो॥

यदि भक्तों की अभिलाषा से हमारी-आपकी भावनाएँ भी प्रभावित हो जायँ तो मिट्टी की काया कंचन की हो जा सकती है। एक पहुँचे हुए भक्त की अभिलाषा से अपने मन की तान मिलाकर जीवन को पारस बनाइए—

मानुष हौं तो वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब के डारन॥

भक्तों की भावनाओं के असंख्य चित्र ब्रजभाषा-कवियों ने उरेहे हैं। उन चित्रों की प्रदर्शनी में पैठने पर मनुष्य अपना आपा भूल जा सकता है या खो बैठता है।

एक भक्त की धारणा है कि भगवान का सगुण सुरूप जब मन में बस जाता है तब विषय-वासनाओं का भय नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति कब और कैसे प्राप्त होती है, यह बतलाते हुए वह कहता है—

सुकृत प्रसंग ते सुसंग जब पावै जीव अपर विषय को रंग वाके मन भावै ना।
जावत उमंग हैं हिये के सब भंग होत राग द्वेष मद की तरंग उठै पावै ना।
कर धनु सर कटि सोहत निषंग जाके धरे तेहि ध्यान चित नेकु बिसराव ना।
ऐसे हरि आस्रित के संग रम्भा स्वर्गहू की जो पै रचै रंग तौ अनंग अंग आवै ना॥

आधुनिक युग के कवियों ने भी भक्तों की भावनाओं को अपने ढंग से आँकने का प्रयास किया है। परमात्मा और जीवात्मा के अभिन्न सम्बन्ध का दिग्दर्शन निम्नलिखित पद्य में, और उस उपलब्ध अभिन्नता ('गिरा अर्थ जल बीचि सम') को स्थायी रखने की कामना—

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ।
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ।
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ।

× × ×

मुझ में समा जा इस तरह तन प्राण का जो तौर है।
जिसमें न फिर कोई कहे मैं और हूँ तू और है॥

एक योगी भक्त के ध्यानस्थ होकर ईश्वर-चिन्तन की गहरी समाधि में लीन हो जाने का वर्णन करते हुए एक कवि ने अपूर्व चित्र अंकित किया है—

हैं पलक परदे खिंचे बरुणी मधुर आधार से।
अश्रु मुक्ता की लगी झालर खुले दृग-द्वार से।
चित्त-मन्दिर में अमल आलोक कैसा हो रहा।
पुतलियाँ प्रहरी बनीं जो सौम्य हैं आकार से।
मृदु मृदङ्ग मनोज्ञ स्वर से बज रहा है ताल में।
कल्पना-वीणा बजी हर-एक अपने ताल से।
इन्द्रियाँ दासी सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं।
मिल रहा गृहपति सदृश यह प्राण प्राणाधार से॥

ध्यान-समाधि के पहले भक्त के मन में कैसी भावना उठती है और फिर वह कैसे ध्यान-समाधि-जन्य आनन्द का अनुभव प्राप्त करने के लिए विह्वलतापूर्वक प्रार्थना करता है—

जिस कृपाकर ने कृपा कर मनुज-तन तुमको दिया।
पुत्र घर घरनी दिया धन और विद्या बल दिया।

उस सकल सौभाग्यदाता के पदाम्बुज थाम लो।
जब मिले अवसर तुम्हें श्री रामजी का नाम लो॥

× × ×

बन्द क्या होगा नहीं यह नेत्र-नीर ? क्या इसी में डूब जायेगा शरीर ?
सिन्धु का भी दीखता है ओर-छोर, पर मिलेगा क्या कहीं इसका न तीर !
हो तुम्हारे पाद-पद्मों का विकास, धन्य हो तो यह रुदन-जल भी गँभीर !
कुछ नहीं तो तुम यही कह दो प्रकाश, है नहीं हमको तुम्हारी हीर-पीर।
पींजड़े में बन्द कर भूलो न हाय ! रट रहा है यह तुम्हीं को कण्ठकीर !
द्रौपदी-सी हो रही है बुद्धि दीन, खींच ले हा दुःख-दुःशासन न चीर !
क्या कृपा होगी न अब भी हे कठोर ! हो गये हैं हाय अब तो हम अधीर !

संस्कृत-साहित्य तो हिन्दी-साहित्य का मूल कोषागार ही है। उसमें भी भक्तों की भावनाओं के विचित्र चित्र मिलते हैं। मैं तो उससे अच्छी तरह परिचित नहीं, पर उसका एक अनुरक्त भक्त होने के कारण उसकी भी कुछ युक्तियाँ पाठकों के मनोविनोदार्थ यहाँ दे रहा हूँ। इन उक्तियों में भक्तों के हृदय की मधुरता झाँक रही है। भक्त जब भगवान के पीछे पड़ जाता है या उनसे उसकी लगन लग जाती है तब वह उनसे खुलकर बातें करता है, कुछ भी कहने में संकोच नहीं करता, और भगवान भी उसकी ढिठाई में प्रेम की ही झलक पाते हैं। एक भक्त अपने इष्टदेव के विरुद्ध षड्यन्त्र रचकर उनको स्वानुकूल बनाना चाहता है—

ईशे प्रणयभाजि मुहूर्त्तमात्रं प्राणप्रियेऽपि कुरु मानिनि मा प्रसादम्।
जानातु मत्प्रभुरसौ पदयोर्नतानामस्मादृशामिव मनोरथभङ्गदुःखम्॥

भावार्थ—हे भगवति (गिरिजा) मानिनि ! तुम्हारे प्राणेश ईश (शंकर) जब तुम्हें प्रसन्न करने को तुम्हारे पैरों पर सिर धरें तो जरा थोड़ी देर थम जाना—कोप किये रहना—तब उन्हें यों पता चलेगा कि मनोरथ-भङ्ग होने से हमारे-सरीखे भक्तों को कितना अपार दुःख होता है।

दोषाकरः शिरसि तेऽस्ति गले द्विजिह्वः, पाषाणजा सहचरी पशुरान्तरङ्गः।
दुःखं निवेदयति को मम दीनबन्धो ! त्वञ्चेत् त्रिलोचन निमीलितलोचनोऽसि॥

हे दीनबन्धु ! हे त्रिलोचन ! आपके ललाट पर दोषयुक्त (कलंकी) चन्द्रमा, गले में निष्ठुर सर्प, पत्थर (हिमाचल) से उपजी हुई (पार्वती) चिरसंगिनी, और बैल की सवारी है; सभी तो बे-समझ और निर्दय हैं। भला, मेरा दुःख आपको कौन सुनावेगा—यदि आप तीनों नयन बन्द करके ध्यानावस्थित हो जायँगे ?

आशुतोष शंकर से भक्तों ने अधिकतर विनोदपूर्ण छेड़खानी की है —

भगवान् विष्णु भी भक्तों से अछूते नहीं छूटे हैं। सौदा पटाने का ढंग देखिए—

रत्नाकरो हि भवनं गृहिणी च पद्मा, देयं किमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागृहीतमनसो मनसोऽस्ति दैन्यं, दत्तं मया निज मनस्तदिदं गृहाण॥

हे भगवन्! रत्नाकर (समुद्र) आपका घर है, लक्ष्मी आपकी पत्नी हैं, आप स्वयं जगत् के स्वामी हैं, आपको भला कोई क्या देगा? हाँ, राधारानी ने (कृष्णावतार में) आपका मन चुरा लिया है। आप मन के बिना खिन्न हैं, तो मैं अपना मन आपको देता हूँ, कृपया इसे ले लीजिए—

'सीधा राह सुझावऽ आपन काम बनावऽ'—कहावत को चरितार्थ करने के लिए—

क्षीरसारमपहृत्य शंकया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम नितान्त तामसे नन्दनन्दन! कथं न लीयसे?

हे नन्दनन्दन! माखन चुराकर यदि तुम डर से भागना चाहते हो तो हमारे अन्धकारपूर्ण हृदय में क्यों नहीं आकर छिप जाते![1]

एक भक्त अपने मन को उपदेसता है—

मनः कुत्रोद्योगः सपदि वद मे गम्यपदवीं
नरे वा नार्यां वा गमनमुभयत्राप्यनुचितम्।
यतस्ते क्लीबत्वं सकृदपि गते हास्यपदवी
जनस्तोमे मागास्त्वमनुसर हि ब्रह्मपदवीम्।

हे मन! तू कहाँ जाने का प्रयत्न कर रहा है? किसी पुरुष के पास या किसी नारी के निकट? पर ये दोनों तेरे लिए अयोग्य हैं; क्योंकि तू तो नपुंसक है! कहीं जायगा, हँसी होगी। तेरा सजातीय तो ब्रह्म ही है। तू उसी के पास जा, वह भी नपुंसक है!

अपने आत्माराम को सन्त कवि सुन्दरदास भी इसी तरह उपदेसते हैं—

तो सही चतुर तू जान परवीन अति,
परे जानि पिंजरे मोह कूवा।
पाइ उत्तम जनम लाइ लै चपल मन,
गाइ गोविन्द गुन जीति जूवा।
आप ही आपु अग्यान नलिनी बँध्यो,
बिना प्रभु बिमुख कै बेर मूवा।
दास सुन्दर कहै परम पद तो लहै,
राम हरि राम हरि बोल सूवा।

१. माखनचोरी को खोरिन ह्वै चलौ भाजि कछू भय मानि जिये में।
दूरहू दौरि दुरौ जो चहौ तो दुरो किन मेरो अँधेरो हिये में॥ —(पद्माकर)

सच तो यह है कि भक्तों की भावनाओं के भेदों और प्रकारों का पता लगाना समुद्र थाहना है। जो लोग भक्त होना या कहलाना पसन्द नहीं करते वे तो भक्तों की उक्तियों में कुछ भी आनन्द नहीं पा सकते। इसीलिए, एक आधुनिक भक्त ने दो-टूक बात कह दी है—

श्रीराधामाधव युगल प्रेम रस का अपने को मस्त बना।
पी प्रेम पियाला भर भर कर कुछ इसमें का भी देख मजा ॥

—मासिक 'ज्ञानशक्ति' (गोरखपुर); फरवरी-अगस्त, १६२० ई०

•

सुख और शान्ति[1]

संसारी लोग इस संसार को सन्ताप और अनुताप का भाण्डार समझते हैं। किन्तु, उनकी ऐसी बुद्धि विद्युल्लता-सी चंचला होती है। जो लोग संसार को असार समझकर विरक्त बन बैठते हैं, वे तो इसे इन्द्रजाल, मायाप्रपंच, प्रतारणामूलक और पाप-परिताप-पूर्ण समझते ही हैं।

चाहे जो हो, पर सुखार्थियों की गणना के समय ऐसा कोई नहीं जो अँगुली पर न चढ़े। सुख की प्रबल अभिलाषा ही इस विश्व-नाटक के अभिनेतृवर्ग के हृदय में प्रचण्ड प्रेरणा बनकर बैठी हुई है। यदि सबके मन में सुख की प्रेरणा या लिप्सा न होती तो यह समस्त संसार सचमुच सारहीन दीखता। सुख की तृष्णा ने ही संसार में क्रियाशीलता को जगा रखा है।

संसार की सभी प्रत्यक्ष क्रियाएँ सुख को ही अपना इष्ट लक्ष्य मानकर गतिशीला बनी हुई हैं। जीवमात्र के हृदय में जितनी आकांक्षाएँ हैं वे अपनी पूर्त्ति चाहती हैं। जितनी मनष्कामनाएँ हैं वे अपनी तृप्ति के लिए तड़पती रहती हैं। जितनी लालसाएँ हैं, सिद्धि के लिए ही सिर मारती हैं। क्यों? बस इसीलिए कि सुख प्राप्त हो। किन्तु, वह सुख भी क्षणिक होने के कारण शान्तिदायक नहीं होता। यदि ऐसा हो तो उस अमर खिलाड़ी का सारा खेल मटियामेट हो जाय।

तीरन्दाज जब अपना लक्ष्य बेध डालता है, तब उसे सुख का अनुभव होता है सही; पर फिर कभी लक्ष्य न बेधने की इच्छा नहीं होती। निशाना मारने पर उसे सुख सदा अनुभूत होता है, पर तो भी वह ऊबता नहीं। विजयी होने पर विजेता को गर्व-जनित जो

१. सन् १६२४ ई० के लिखे हुए 'शाश्वत शान्ति' शीर्षक लेख का मुख्यांश भी इस लेख में सम्मिलित है। उसी साल वह कलकत्ता के साप्ताहिक 'धर्मरक्षक' में छपा था। इस लेख का कुछ अंश इसी कारण निकाल दिया है। दोनों को मिलाकर एक पूर्ण लेख बना दिया है। नया कुछ नहीं जोड़ा है। —लेखक

सुख होता है, वह चाहे दिन-दिन जीर्ण हो जाय, पर उसे पुनः प्राप्त करने में अहर्निश सचेष्ट रहनेवाली इच्छा नित्य-प्रति तरुणी होती जाती है। इसीलिए, ऐसा कहा-सुना जाता है कि सुख ही संसार का अभीष्ट है—यदि यह उपलब्ध न हुआ तो सब कुछ अनिष्ट है।

सुख-प्राप्ति के साधन सबके लिए एक-से नहीं हैं। जितनी आवश्यकताएँ, उतनी ही पूर्त्ति-प्रणालियाँ हैं। एक उद्योगी को सफलता की चाट लगी है, तो एक वियोगी मिलन की बाट जोहता है। दोनों की माँग या चाह पूरी हुई कि उनके व्यस्त चित्त को सुस्त करनेवाला सुख उत्पन्न हुआ। ऐसा हो नहीं सकता कि आवश्यकता-पूर्त्ति के गर्भ से सुख का जन्म हो जाने पर फिर कभी आवश्यकता का आविर्भाव न हो। इच्छा-राक्षसी अनेक बार सुख-सन्तति-प्रसव करती है और कुछ ही देर बाद झट उसे लीलया लील जाती है। 'खादेत् क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमण्डम्।'

जो तृषित है उसे स्वच्छ-शीतल जल ही शान्ति दे सकता है। जो क्षुधार्त्त है उसे सरस-सुस्निग्ध-सुरुचिकर भोजन ही सुख दे सकता है। जो घर्मार्त्त श्रान्त पथिक है उसे विमल-सलिला-सरसी-तटस्थ सघन वटवृक्ष की सुखकरी छाया ही शान्ति दे सकती है। जो लोभी है उसे यथेष्ट सम्पत्ति की प्राप्ति ही सुखी बना सकती है। जो लोलुप लम्पट लबार है उसे परधन-हरण और पर-स्त्री-रमण तथा परनिन्दानुसरण में ही यथेच्छ सन्तोष मिल सकता है। जो सूरत-परस्त अथवा सौन्दर्योपासक है उसे जहाँ-कहीं लावण्य-लहरी इठलाती मिल गई, वहाँ वह बुलबुल हो जाता है। जो कामी है, उसे यदि कहीं नवयौवन पर अभिनव सौन्दर्य थिरकता मिल गया तो वह सावन का मोर बन जाता है। जो सत्ताहंकारी है उसने यदि निर्बल को पद-दलित करने में सफलता पाई तो वह अपूर्व शान्ति का स्वप्न देखता है। जो निरंकुश है वह अधीनस्थ को कुचल कर अत्यन्त आप्यायित होता है। जो ईर्ष्यालु है वह परहितहानि देखकर जी जुड़ाता है। जो द्वेषी है वह विद्रोह की अग्नि धधकती देख सुख मानता है। जो अन्यायी है वह अत्याचार और विध्वंसकारी उपद्रव से संतुष्ट होता है। जो क्रोधी है वह अपने शत्रु का रक्त चूसकर तृप्त होता है। जो सबल है वह दुर्बल का दमन करके छाती ठंढी करता है। और, जो ऐश्वर्यशाली है वह दूसरों का दर्प-दलन या मान-मर्दन करके प्रफुल्लित होता है।

इसी प्रकार, इस संसार में सुख के अनेक साधन हैं और भाँति-भाँति के सुखार्थी भी हैं। प्रकृति-देवी के उपासक जंगल में मंगल मनाते हैं—वे सजल-जलद-दल-चुम्बित शैल-शृङ्ग-शृङ्खला को देखकर उसे नीलाम्बर-वितान का सुस्तम्भ समझते हैं। वे यदि पर्वत-प्राचीर-प्रक्षालिनी पाप-पुञ्जापहारिणी वंकिम-प्रवाहिनी मंदाकिनी की अमल-धवल धारा को शस्य-श्यामला वसुन्धरा के बीच से बहते देखते हैं तो सोचने लगते हैं कि—

"भूपति भगीरथ की कीरति की गैल कैधों कैधों सुरसरिता है जग-जन-तारई।
कैधों सतोगुन की धँसी है धार धरनी पै कैधों ध्रुव-धरम की परम कला नई।
'गोकुल' गोविन्द के सरस चरनाम्बुज ते कैधों मकरन्द को प्रवाह प्रगटावई।
फूली-फली हरी दुहूँ ओर भूमि-पाटी-मध्य बसुधा-बधू की कैधों माँग मुकुतामई।"

पुनः, जो विलासी हैं वे चाहते हैं कि 'धीरी चालवारी मुख बीरी लालवारी वह पीरी सालवारी रहै नीरी अँखियान के।' जो सदाचारी हैं उनकी प्रकृति ऐसी है कि—

"जीव बचै न हरै पर सम्पति लोगन सों सति बैन कहै नित।
काल पै दान जथा गति दै परतीय-कथान में मौन रहै नित।
तृस्नहि त्यागि बड़ेन नवै सब लोगन पै करुना को गहे नित।
सास्त्र समान गनै सिगरे सुखदा यह सैल बिसाल अहै जित।"

दुनियादारी या जगत् के जंजाल में जिनका जी नहीं लगता वे कहने लगते हैं कि—

इतो न किञ्चित्परतो न किञ्चिद्यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित् स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित्॥

जो लोग नरजन्म-कृतार्थकारिणी अखिल-कल्याण-प्रदायिनी भगवद्भक्ति के सुधारसास्वादन में लीन रहकर 'भगति-हीन गुन सुख सब कैसे, लोन विना बहुव्यंजन जैसे'—ऐसा विचार रखते हैं, वे कभी-कभी अविरल प्रेम से उन्मत्त होकर कह उठते हैं कि—

ताही भाँति धाऊँ 'सेनापति' जैसे पाऊँ तन कंथा पहिराऊँ करूँ साधन जतीन के।
भसम चढ़ाऊँ जटा सीस पै बढ़ाऊँ नाम वाही को पढ़ाऊँ दुखहरन दुखीन के।
सबै बिसराऊँ उर तासो उरझाऊँ कुञ्ज बन-बन धाऊँ तीर भूधर नदीन के।
मन बहराऊँ मन मनहिं रिझाऊँ बीन लै कै कर गाऊँ गुन वाही परबीन के॥

इसी प्रकार संसार में सुख की तीव्र पिपासा सभी तरह के मनुष्यों को व्याकुल किये हुई है। किसी की इच्छा निकृष्ट है तो उसका फल 'सुख' भी निन्द्य तथा अल्प-कालिक है। किसी की इच्छा उत्कृष्ट है तो उसकी पूर्त्ति से लब्ध सुख भी उत्तम और बहुकालव्यापी होता है। किन्तु, यदि मनोवांछित सुख पाने पर भी कांक्षा पूरी न हो, बल्कि अधिकाधिक सुख-लाभ की उत्कट उत्कण्ठा जाग्रत होती चली जाय, तो अभङ्ग एवं अपूर्व सुख कभी नहीं मिल सकता।

गोस्वामी तुलसीदास ने तो कहा है कि 'सन्त मिलन सम सुख जग नाहीं' और सन्तों की सम्मति है कि 'भजन-हीन सुख कौने काजा' क्योंकि उनके विचार में यत्परोनास्ति आनन्द ईश्वर-भक्ति में ही है।

परम भागवत काक-भुसुण्डि-गरुड़-संवाद—

निज अनुभव अब कहौं खगेसा, बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।

काकभुसुण्डि को भगवान ने अपना बाल-रूप दिखाकर भक्ति की महिमा बतलाई। गरुड़ से भुसुण्डि ने कहा—

प्रभु वचनामृत सुनि न अघाऊँ, तनु पुलकित अति मन हरषाऊँ।
सो सुख जानइ मन अरु काना, नहिं रसना पहिं जाइ बखाना।

प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना, कहि किमि सकहिं तिन्हहिं नहिं बयना।
बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिनु।
गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहिय हरि भगति बिनु॥

पुनश्च—

श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं, रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।
फूलहिं नभ बरु बहु विधि फूला, जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।
अंधकार बरु रबिहिं नसावै, राम-बिमुख न जीव सुख पावै।
हिम ते अनल प्रगट बरु होई, विमुख राम सुख पाव न कोई।

रामायण के अवतरणों से यही सिद्ध हुआ कि भगवद्भजन में ही सबसे बढ़कर सुख मिलता है। किन्तु सन्तों की संगति से ही भगवद्भक्ति में आसक्ति होती है। सभी साधनाओं का फल हरिभक्ति है जो केवल सत्संग से ही मिलती है—

सब कर फल हरि-भगति सुहाई, सो बिनु सन्त न काहू पाई।
अस विचारि जेइ कर सतसंगा, राम-भगति तेहि सुलभ बिहंगा।

इसीलिए, सत्संगति सर्वोत्तम सुख देनेवाली कही गई है अथवा सन्त-समागम-जन्य क्षणिक सुख भी अन्यान्य दीर्घकालव्यापी सुखों से भी श्रेष्ठतम समझा गया है।

साध पूजने पर जो स्वाभाविक सुख होता है उसका चित्र गुसाईंजी ने खींचा है। राम-विवाह के बाद—

पावा परम तत्त्व जनु जोगी, अमृत लहेउ जनु संतत रोगी।
जनम रंक जनु पारस पावा, अंधहिं लोचन-लाभ सुहावा।
मूक बदन जनु सारद छाई, मानहुँ समर सूर जय पाई।
यहि सुख ते सत कोटि गुन, पावहिं मातु अनन्द।
भाइन सहित बियाहि घर, आये रघुकुल-चन्द॥

× × ×

देव पितर पूजे बिधि नीकी, पूजी सकल वासना जी की।

हाँ, जी की वासना तो पूजी, पर सुख की आशा न टूटी। तब तो मनोरथ-सिद्धि-जनित सुख ही अनन्य सुख समझा गया; क्योंकि आत्मा की उत्सुकता मिट जाने से किंचित् शान्ति का अनुभव होता है; पर ऐसा नहीं होता कि हृदय पर उस शान्ति का सिक्का जम जाय। एक जगह गुसाईंजी अभिमत-फल-प्राप्तिजन्य सुख का चित्र यों दिखाते हैं—

उत्तरकाण्ड में काक-भुसुण्डि भगवान रामचन्द्र की बाल-लीला के सुख का बखान करते हैं—

जो सुख लागि पुरारि, असुभ वेष कृत सिव सुखद।
अवधपुरी नर-नारि, जो सुख महँ संतत मगन॥

सो सुख कर लवलेस, जो बारक सपनेहुँ लहेउ।
सो नहिं गनै खगेस, ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥

पुनः धनुष-भंग के उपरान्त जनकपुर की रंगभूमि में—

सखिन सहित हरषीं अति रानी, सूखत धान परा जनु पानी।
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई, पैरत थके थाह जनु पाई।
सीय सुखहिं बरनिय केहि भाँती, जनु चातकी पाइ जल स्वाती।

पुनः बरात के साथ जनकपुर के जनवासे में पहुँचने पर महाराज दशरथ अपनी मनोरथ-वेलि लहलहाई देखकर अभूतपूर्व सुख का अनुभव करने लगे—

भूप बिलोके जबहिं मुनि, आवत सुतन समेत।
उठे हरषि सुखसिन्धु महं चले थाह-सी लेत॥

तात्पर्य यह कि संसार में अभीष्ट-सिद्धि का सुख ही सर्वोपरि है। हृदय में जितनी इच्छाएँ उत्पन्न हों, वे यदि पूर्ण होती जायँ तो निरन्तर सुख बना रहे। किन्तु, सुख का असली रूप जो शाश्वत शान्ति है उसकी उत्पत्ति तभी हो सकती है जब इच्छाओं का सर्वथा अन्त हो जाय। अर्थात् इच्छाओं का तिरोभाव और शान्ति का आविर्भाव एक साथ ही होता है। जहाँ इच्छाओं का अभाव है वहाँ अक्षय सुख का प्रभाव है। मौलाना हाली ने बहुत ही दुरुस्त कह रक्खा है—

"दौलत की हविस[1] अस्ल[2] गदाई[3] है यह, सामान[4] की हिर्स[5] बेनवाई[6] है यह।
हाजत[7] कम है तो है शाहंशाही, और कुछ नहीं हाजत तो खुदाई[8] है यह।"

नीतिकारों ने कहा है कि विद्या ही सुख की जड़ है। विद्या विधि-वाटिका की कल्पलतिका है। उसके द्वारा कौन-सा ऐसा दुर्लभ पदार्थ है जो हस्तगत न हो सके। 'विद्या भोगकरी यशःसुखकरी'—यह शास्त्र के आचार्यों का कहना है। यह सब लोग जानते हैं कि—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

सारांश यह कि विद्या ही सुख-सौध की सुपुष्ट नींव है। सुख का मूल या कारण इसे ही कह सकते हैं। ऐसा मानने से ऊपर-लिखी बातों की भी परिपुष्टि होती है; क्योंकि विद्या से ही सन्तोष के साधनों का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकता है—सत्संगति के अलौकिक लाभ की भी जानकारी हो सकती है—भगवद्भक्ति की अमर लता भी पल्लवित और पुष्पित

१. इच्छा। २. वास्तविक। ३. भिखमंगी। ४. जरूरत की चीजें। ५. लालच। ६. दरिद्रता। ७. जरूरत, चाह। ८. ईश्वरता, फकीरी।

होकर चारों फल दे सकती है। विद्या से ही धर्माचरण का पालन होता है। धर्माचरण से ही सुख की उपलब्धि होती है।

त्रिकालज्ञ वसिष्ठजी ने राजा दशरथ से कैसी उपदेशामृतमयी वाणी कही है—

सुनि बोले गुरु अति सुख पाई, पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई।
जिमि सरिता सागर महँ जाहीं, जद्यपि ताहि कामना नाहीं।
तिमि सुख सम्पति बिनहिं बुलाये, धर्मसील पहँ जाहिं सुभाये।

अनुभवी पुरुषों का कथन है कि संगीत से ही सुख की उत्पत्ति होती है और ज्यों-ज्यों सरस स्वर-लहरी वायुमण्डल को परिप्लावित करती हुई स्वर्ग की ओर ऊपर आरोहण करने लगती है त्यों-त्यों मुग्ध हृदय शान्ति-शिखरारूढ़ होता जाता है। यहाँ तक कि संगीत-सम्भूत सुख की तुलना परमानन्द या ब्रह्मानन्द से भी कर दी जाती है। संभव है कि यह तुलना संगीत की अपरिमेय शक्ति देखकर की गई हो। परन्तु, काव्य-रसिकों का सुख पर जन्म-सिद्ध अधिकार माना जाता है। कहते हैं कि काव्य में जो सुख गर्भित है वह अन्यत्र कहीं नहीं।

द्विजराजमुखी मृगराजकटिर्गजराजविराजित मन्दगतिः।
यदि सा वनिता निहिता हृदये क्व जपः क्व तपः क्व समाधिरतिः॥

जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर भक्तों के चित्त को आकृष्ट करता है वैसे ही निराकार संगीत भी काव्य में साकार होकर श्रोता के हृदय को वशीभूत करता है। काव्य के कलेवर में संगीत ही प्राण डालता है। संगीत विना काव्य निष्प्राण प्रतीत होता है और काव्य के विना संगीत प्रभावशून्य हो जाता है। दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों दूध-मिसरी की तरह परस्पर घुल-मिलकर अमृत बन जाते हैं।

जब किसी कोमल कलकण्ठ से निकलकर कोई मधुर मनोहर गान गूँजने लगता है और वहाँ काव्य-रसिक तथा संगीत-प्रेमी भी उपस्थित रहते हैं, तब दोनों-के-दोनों आनन्दाम्बुधि में अवगाहन करने लगते हैं, दोनों अपने-अपने सुख को ही उत्तमोत्तम मानते हैं। वह उभय-दिशि-सुख-संचारक गीत--

नेह लगो मेरो स्यामसुँदर सों।
आयो बसन्त सबै बन फूल्यो खेतन फूलो सरसों।
मैं पीरी भई हरि के विरह सों निकसत प्रान अधर सों।
कहौ यह बंसीधर सों॥
फागुन में सब होरी खेलत अपने-अपने बर सों।
पिय के वियोग जोगिन ह्वै निकसी धूरि उड़ावत कर सों।
चली मथुरा की डगर सों॥

ऊधो जाय द्वारका में कहियो इतनी अरज मोरी हरि सों।
बिरह-बिथा सों जियरा जरतु है जब से गयो प्रभु घर सों।
दरस हित जिय मेरो तरसो ॥
सूर स्याम मोरी इतनी अरज है कृपासिन्धु गिरिधर सों।
गहरी नदिया नाव पुरानी अबकी उबारो सागर सों।
विनय यह राधावर सों।
कहो कोई मुरलीधर सों ॥

साधु-महात्माओं का कहना कुछ और ही है। वे कहते हैं कि जब हम दूसरे को दुःखी देखकर आप भी दुःखी होते हैं, तभी हमारी अन्तरात्मा सुखी होती है; दूसरे की विपत्ति देखकर जब हमें दया आती है तभी हमें दुःख का सान्निध्य प्राप्त होता है; जब असमर्थ को पीड़ित होते देख हमारे हृदय-ह्रद से करुणा-कल्लोलिनी प्रवाहित होती है तभी हम उसे क्लेशमुक्त करके सुखी होते हैं ; जब हम अपनी सहृदयतापूर्ण सहानुभूति से दूसरे के शोक में समवेदना प्रकट करते हैं, किसी साहाय्यापेक्षी मनुष्य की सच्ची सेवा हमसे बन आती है तभी हमें हार्दिक सुख-सन्तोष प्राप्त होता है।

महात्माओं का मत ठीक है। परन्तु सेवा अथवा सहायता के निस्स्वार्थ होने पर ही सच्चा सुख मिलता है। हम परोपकार को सुख का आधार तभी मान सकते हैं जब उस पवित्र व्रत के पीछे प्रत्युपकार की इच्छा छिपी हुई न हो। यह निश्चित है कि स्वार्थ और सुख में नरक-स्वर्ग का अन्तर है। स्वार्थ अन्धकार और सुख प्रकाश है। आलोक और अन्धकार एक ठौर नहीं रह सकते। सुखार्थी को स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ स्वार्थ का विसर्जन होगा, वहीं सुख का आवाहन हो सकता है।

जिस समय हम दूसरे का अपराध-मार्जन कर देते हैं, उस वक्त हमारी क्षमा उस दोषी के दग्ध हृदय को जितना शीतल कर पाती है उससे कहीं अधिक हम स्वयं सुखी होते हैं। जब हम किसी क्रुद्ध व्यक्ति को अपने नम्र वचनों से शान्त कर देते हैं—उसके औद्धत्य पर हमारी विनय विजयिनी बन बैठती है, तब हम पुलकित होकर सुख अनुभव करते हैं। जब हम कर्त्तव्य-पालन में सदा सुदृढ़ बने रहते हैं तब हम अनुभव करते हैं कि सुख हमारा पीछा नहीं छोड़ता। कर्त्तव्यपरायण को कर्त्तव्यपालन में नैसर्गिक सुख मिलता है। राजा दिलीप को मायावी सिंह ने बड़ा प्रलोभन दिखाया, पर उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया—

"क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोश मलीमसैर्वा ॥"
—(रघुवंश, द्वितीय सर्ग)

इस संसार में ऐसा देखा जाता है कि अस्तित्व के लिए चारों ओर अहर्निश तुमुल संग्राम मचा रहता है और उस अस्तित्व का लक्ष्य है—सुखोपार्जन, जिसके सम्बन्ध में

बहुमतानुमोदित जो बात है वह यह है कि यथार्थतः सुख और शान्ति केवल 'त्याग' से ही प्राप्य हैं। त्याग से ही शनैः-शनैः शान्ति प्राप्त होती है। 'त्याग' की मात्रा जितनी अधिक होती जायगी, वास्तविक सुख-शान्ति की उतनी ही वृद्धि होगी।

"सुरमन्दिर तरुमूलनिवासः शय्या भूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः? ॥"

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म्मयोगीश्वर कृष्णजी ने कहा है कि जिसकी सारी कामनाएँ निर्बीज हो गई हैं, जो काम-क्रोधादि के वेग को रोककर शान्त भाव से सह लेता है वही योगी, अतएव सच्चा सुखी है।

" जोगी ताको जानिए, जो गीता को जान।
जोगी ताहि न जानिए, जो गीता नहिं जान ॥"

अतः 'त्यागाच्छान्तिर्निरन्तरम्' चाहनेवाले सदा गीता-पाठ करें।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता)

—मासिक 'लक्ष्मी' (गया), भाग १८, अङ्क ६, फाल्गुन १९७६ वि०; मार्च, सन् १९२० ई०

•

अरे आनन्द[१] !

Pleasures are like poppies spread,
You seize the flower its bloom is shed,
Or like the snowfall in the river,
A moment white then melts for ever.

—*Burns.*

अरे आनन्द! क्या तेरा ही प्राण है प्रेम? तेरा ही प्रसाद है पुलक? तेरा ही उपनाम है उत्सव? तेरा ही प्रबोधक है प्रणय? तेरा ही सहचर है संयम? तेरी ही भगिनी है भक्ति? तेरा ही सर्वस्व है सन्तोष?

अरे तेरी ही तलाश में तमाम त्रिभुवन में तड़पता फिरा, कहीं तेरा ठौर-ठिकाना नहीं पाया। तेरा स्थायी साम्राज्य इस संसार में कहीं नहीं देखा। तेरी खोज-खबर लेने

१. इस लेख में 'लौकिक और अलौकिक आनन्द' नामक लेख (१९२५ ई०) भी सम्मिलित कर दिया गया है। भाव-साम्यवाला अंश रहने दिया, नया कुछ नहीं जोड़ा गया है। वह लखनऊ के दैनिक 'आनन्द' में छपा था। —लेखक

के खयाल से जिस पथ को पकड़ा, उसे बस 'भेड़धसान' की भीड़ से भरा पाया। तेरे लिए लाखों लोग बिललाते हुए मिले। किसी ने तेरे मिलने की आशा नहीं दी। किसी ने आश्वासन भी नहीं दिया कि तेरे सुलभ होने की कुछ सम्भावना भी है।

गंगा में गोते लगाये, किन्तु भगवती भागीरथी को संसार की चाल-ढाल पर करुण क्रन्दन करते सुनकर तेरी सुधि ही बिसर गई। लोगों ने बतलाया कि यमुना-जल में जो श्यामता है, उसी में तू टिकता है। मैंने अनगिनत गोते लगाये, मगर तेरा तो स्वप्न-दर्शन भी नहीं। अरे, यमुना तो स्वयं श्यामसुन्दर की खोज में उतावली है। उसे कहाँ चैन है कि तेरे लिए आतुर के चित्त की चोट की चाशनी चखे। हिमाचल की चोटी पर चढ़कर चारों ओर ढूँढा, तो वहाँ भी देखा कि तेरी ही तलाश में बहुतेरे परेशान होकर भटक रहे हैं।

एक ने बतलाया कि गोदावरी के किनारे जगदम्बा जानकी तुझे जोहने जाती थीं और रामचन्द्र के स्निग्ध स्कन्ध पर अपना शीश स्थापित कर तुझे गले का हार बनाये रखती थीं; किन्तु उन्हें भी जब अशोक-तले सशोक आश्रय ग्रहण करना पड़ा तो तू जरा जाकर उन्हें जलती जानकर जुड़वाता भी नहीं था।

किसी ने कहा कि प्रातःकाल में काशी-तल-वाहिनी गंगा के घाटों पर तू रमता रहता है। लेकिन, वहाँ भी देखा कि जिनकी नासिका पर अँगुली का अंकुश पड़ा हुआ है, उनके भी नयन निरंकुश हो निपट निर्लज्जता से नारी की निकाई का निरीक्षण कर रहे हैं।

एक ने बतला दिया कि त्रिवेणी-संगम पर तू मिलेगा, पर वहाँ जाकर देखा कि वहाँ तो प्रेम ने तुमुल संग्राम मचा दिया है! तीनों नदियों में होड़-सी लगी है कि 'मैं आगे जाकर रत्नाकर की रानी बनूँगी'।

एक ने सुझाया कि गोकुल की गलियों में, गोवर्द्धन-गिरि के गहन गह्वरों में, वृन्दावन की वीथी-वीथी में, मथुरा के मनोहर मंदिरों में, व्रज के रास-रंजित रज में, कालिन्दी-कूल के कदम्बों की छवीली छाया में और मधुवन के मञ्जु कुञ्ज-पुञ्ज में तेरा निवास पाया जाता है। किन्तु, वहाँ तो दूसरा ही दृश्य देख पड़ा। निर्मल निकुञ्जों में नीरवता का निवास है और वंशीवट का चंदन-चर्चित चेहरा उदास है।

बहुतेरे बतलाते हैं कि तेरे ही लिए दुनिया में तरह-तरह के तकरार और तूफान होते रहते हैं। सुना है कि स्वामी के सामने श्वान के समान पूँछ पटकनेवाले स्वार्थी सेवकों के साथ तू सदा रहता है, और जिसकी झिड़कियाँ भी कानों में अमृत-बिन्दु टपकाती हैं, उसकी दशन-दामिनी में तेरी ही दमक है। क्या वस्तुतः वे बातें विश्वसनीय हैं?

तेरा असल अड्डा कहाँ है? जब गंगा के स्वच्छ वक्ष पर शरच्चन्द्र-मरीचि-माला विमल वीचिमाला के साथ खेलने लगती है, तब क्या तू उसी ठौर ठिठक कर डेरा डाल देता है? क्या तृषार्त्त घर्मार्त्त पथिक जब शीतल-सलिल कूप के किनारे पाकड़ के पेड़ के पास पहुँचता है, तब तू उसकी अनुभूति में समा जाता है? अथवा, जब कोई सितारिया नथुनी पहने हुई अपनी अँगुलियों को सितार के तान-भरे तारों में बाँधकर नचाने लगता है

तब तू वहीं पर तान-तरंग-तन्मय हो थिरकने लग जाता है? क्या जब कोई पुष्पास्तृत पर्य्यङ्कोत्संग-शायिनी श्यामा सुन्दरी अपने पुलकित प्राणों को प्राणेश्वर के प्रेम में तल्लीन कर देती है, तब तू उसका मानस-हंस बन जाता है?

हाँ, जब प्रभातकालीन प्रभाकर पुष्करिणी के पद्म-पुष्पों में प्रफुल्लता का प्रादुर्भाव करता है, तब तड़ाग के तट पर तेरी भी तैनाती देखी जाती है। पुनः जब वासन्ती वल्लरी-वितान विहंग-वीणा-वादन से गुञ्जित हो उठता है और रश्मि-राशि राकेश की रोशनी से रंजित ऋतुराज की रुचिरता जब लोगों के लोचनों को लुभाने लगती है, तब जड-जंगम में तेरी ही सत्ता सूझ पड़ती है।

किसी-किसी का कथन है कि जब कोई यशस्विनी जाया प्रेम-पराकाष्ठा-पर्य्यन्त पहुँच प्यारे पति के साथ सती होना चाहती है, तब तू उसके साथ श्मशान तक जाता है। और, कोई नवयुवक जब 'चार दिन की चाँदनी'-सी मायाविनी मंगलामुखी के मोहपाश में पड़ जाता है, तब तू उसे अपनी छाया भी छूने नहीं देता। तेरी छाया छूने को वे भी छछनते हैं जो बुढ़ापे में ब्याह कर बीती बहार को बहोरना चाहते हैं।

अपरञ्च, कहते हैं कि तेरे मिलने के मौके और मुकाम मुश्किल से मिलते हैं। जब कोई अकंटक आखेटक किसी जंगली जानवर की जान जोखम में डालता है, जब कोई कान्ता निज कन्त के कण्ठ में पहनाने के लिए हार गूँथने लगती है, तब तू उस शिकारी के शिकंजे में फँसा और उस बाला की बरौनियों में बसा रहता है। फिर तू उस मौके पर भी मौजूद रहता है जब बरसों बाद बहुरे हुए 'बालम' को बाहु-वल्लरी में बाँधकर 'सजनी' रजनी रसाती है। तेरा मुकाम वहाँ भी देखा, जहाँ माता-पिता को वात्सल्य-बाहुल्य की बाढ़ में बोरता हुआ बच्चा उनकी मोद-भरी गुलगुल गोद में गुलदस्ते की भाँति शोभा सरसाता है।

क्या आषाढ़ की अमावस की अँधेरी आधी रात में अभिसारिका के अङ्ग-अङ्ग को तू ही कुरंग-गति देता है? क्या सुरसरि-स्रोत-स्नाता सुमुखी के शुक्लाञ्चल में सुषमा सरसाने को तू ही समाया हुआ है? क्या चन्द्रिका-चर्चित नीरव निशीथ में स्मितानना सोहागिन के मधुराधर में तेरा ही अटल आधिपत्य है? क्या सिताम्भोज-संस्थिता श्वेताम्बर-सुसज्जिता सुमन-स्रक्-समलंकृता शारदा के सुखद वरद पाणिपल्लव की छाया में तू ही विश्राम करता है? क्या मोर-मुकुट-मुरलीधर वनमाली गोपाल की बाँसवाली बाँसुरी में तू ही बसता है? क्या विदेह की विश्वविदित वाटिका में वैदेही की कटिकिंकिणी का कलकूजन किसी किशोर कुँवर के कर्णकुहर में व्याप्त करा देनेवाला तू ही है? नववधू-विधुवदन-विलोकन के समय आँखों में तेरी ही लीला होती है? हारमोनियम के द्युतिमन्त-दन्त-दल को राग-रंग-रंजित करनेवाली अँगुलियों के ओष्ठ में तेरा ही स्फुरण रहता है? परमेश्वर के प्रगाढ़ प्रेमी प्रह्लाद के प्रबल प्रेम-प्रस्फोटन का परिणाम तू ही है? जब वसन्त-बालिका कुसुमकलिका पल्लवांचल की ओट से मुस्काती है तब क्या तू ही उसके साथ मिलकर झाँकता है?

तुझे कहाँ-कहाँ खोजूँ? बुद्धि बेचारी बौरी हो गई। क्या तुझे सौरभ से सने समीर में ढूँढूँ? जल-केलि-निरत नवयुवती के सलिल-सन्तरण में ढूँढूँ? अथवा मैथिलीवल्लभ की

महिमामयी चरण-शरण में ढूँढूँ ? क्यों तेरा दिव्य दर्शन दुर्लभ हो दीवाना बना रहा है ? आखिर कहाँ तेरा डेरा है ? रुपयों की ठनक में ? नूपुर की झनक में ? खुशखबरी की भनक में ? औढरदानी की सनक में ? चूड़ियों की खनक में ? अफीम की पिनक में ? इनमें से तू कहीं भी मिलेगा ? क्यों मौन है तू ? तनिक तसल्ली तक नहीं देता क्यों ? 'प्राण पड़े साँकरे न हाँ करे न ना करे'। कोई तुझे तलाशता है ईश्वर के विश्वास में और कोई प्रेमिका के भुजपाश में, कोई खोजता है योगाभ्यास में और कोई इन्द्रियों के विलास में; पर सचमुच तू किसको नसीब होता है, यह तू ही बतला दे।

तेरी जन्मकथा का भी पता नहीं! कोई कहता है कि चिड़ियों की चहक से, कोई—फूलों की महक से, कोई—हरिणी या तरुणी के स्निग्धोज्ज्वल नयन-प्रान्त से, कोई—मानिनी की चरण-नखाग्र-संलग्ना अधोदृष्टि से, कोई—कवि की कोमलकान्त पदावली से—भक्त के स्फटिक-स्वच्छ अश्रुकण से—योगी के निजानन्द-रसमग्न शान्त-भाव से! तेरे विषय में जितने मुँह उतनी बातें सुन पड़ती हैं, अतः भ्रान्ति मिटती नहीं। भ्रान्ति मिटे विना शान्ति कहाँ ? शान्ति पाये विना तेरे दर्शन कहाँ ?

"ढूँढ़ता फिरता हूँ तुझको हर जगह हैरान हो।
तू नहीं मिलता तो दुनिया बाग भी वीरान हो॥
है तुम्हारा लेश भी संसार में नहिं दीखता।
निस्सार तब संसार है, बस सीख हूँ यह सीखता॥"

—मासिक 'लक्ष्मी' (गया); सन् १९१७ ई०

•

धन्य पुष्प !

संसार का सबसे सुन्दर पदार्थ पुष्प है। रंगीनी और चिकनाहट, कोमलता और सुगन्ध, नेत्ररंजकता और मनोहरता, सब गुणों में वह अद्वितीय और अनुपम है। ईश्वर की रमणीय सृष्टि में वह अत्यन्त मनोज्ञ प्रियदर्शन है। प्रकृति की गोद में उसकी मुस्कान अनेक कमनीय कल्पनाओं की खान है।

विज्ञान उससे लोकोपकार करता है, साहित्य उससे लोकरंजन। साहित्य-क्षेत्र में उसके पोषण के लिए पर्याप्त उर्वराशक्ति है। कवियों की उपमा में सुषमा उसी की है। कामिनी की काया में भी कान्ति उसी की है। उसके अन्तस्तल का रसज्ञ भ्रमर है और उसमें निहित तत्त्व का मर्मज्ञ साहित्यकार है।

पूजा-पाठ, शृङ्गार-अलङ्कार, औषध-निर्माण आदि अनेक कार्यों में उसका उपयोग होता है। जीवन-मरण में, अशन-वसन में, शुभ-अशुभ में, भोग-रोग में, उल्लास-विलास में, सम्मान-

सत्कार में, सर्वत्र उसका प्रयोग देखने में आता है। उसके रूप, रस, रंग, सौरभ, गुण, लाभ आदि के असंख्य प्रकार हैं। देवता और मनुष्य, पशु और पक्षी, कीट और पतंग, वृक्ष और लता, जल और वायु, सभी उससे आमोदित, आह्लादित, आप्यायित एवं उपकृत होते हैं।

उसमें जो सुकुमारता, सरसता, सुरभि और शोभा है, वह ईश्वर की ही सत्ता है। उसके पराग में सूर्य का तेज और उसके मकरन्द में चन्द्रमा का अमृत है। उसपर चहकनेवाली बुलबुल परमात्मा की सत्ता की महत्ता गाकर सुनाती है। उसपर थिरकनेवाली तितली उसी सत्ताधारी को नाच-नाचकर रिझाती है। उसपर गूँजनेवाला भौंरा उसी का गुण गुनगुनाता फिरता है। वही शाश्वत संगीत-नृत्य श्रवण-नयन-मन को तृप्त करनेवाला है।

वह सर्वथा निर्विकार है। सर्वदा वह एकरस रहता है। वह अपने स्रष्टा का कौशल और अपनी जननी (प्रकृति) का वैभव प्रदर्शित करता है। वह चाहे वन में खिले या उपवन में, देवता पर चढ़ा हो या शहीद की समाधि पर, सती के शरीर को विभूषित करता हो या असती के, महापुरुष के गले का हार बना हो या लम्पट के, हर जगह, शिव पर और शव पर, वह जीवन की सफलता-विफलता का रहस्य समझाता है।

जिसके हिये की आँखें हों, वह उसकी लीला देखे। जिसके आत्मा के कान हों, वह उसके सन्देश सुने। असली आँख-कान हों तो उसकी लीला में वह लीलाधारी झलकेगा और उसके सन्देश में सर्वव्यापी का आदेश सुन पड़ेगा।

लोकहितसाधन में अपने को अर्पित कर देनेवाले वसुन्धरानन्दन पुष्प की जय हो!

त्रिलोकविजयी अनङ्ग का अमोघ अस्त्र 'पुष्प' धन्य है!!

—कलकत्ता-पुष्प-प्रदर्शनी की साहित्यगोष्ठी में पठित (सन् १९२३ ई०)

•

तुम्हारे अमूल्य आँसू

तुम करुणा-वरुणालय हो। भक्ति-गद्गद आँखों से निकलकर असंख्य निर्मल निर्झर तुममें लीन हो जाते हैं। करुणा-कल्लोलिनी तुम्हारी ही अगाध गोद में विश्राम करती है।

तुम आनन्द-सागर हो। आनन्द-लहरी असंख्य धाराओं से तुम्हें आलिङ्गित करती है। उसके तीर-तीर पुलक-पल्लवित वन की हरियाली बड़ी निराली छटा छिटकाती है। नेत्र-निर्झर की धवल धारा में प्रफुल्लता जल-केलि करने लगती है।

करुणा और आनन्द तुम दोनों के अगाध निधि हो। साहित्य की पुष्प-शय्या पर करुणा और आनन्द का मिलन विरल है, पर तुम्हारे हृदय की सुख-सेज पर दोनों सप्रेम लिपटकर सोते हैं। तभी तो तुम आनन्द-घन बनकर प्रेमाम्बु बरसाते हो और कभी करुणा-कादंबिनी बनकर दया का दरिया उमड़ाते हो। धन्य है तुम्हारी लीला!

याद करो। गोधूलि-वेला थी। तुम आग्नेय पर्वत हो रहे थे। ब्रह्माण्ड प्रकम्पित था। सृष्टि के ध्वंस की आशंका थी। एकाएक पट-परिवर्त्तन हो गया। प्रह्लाद का प्रवेश हुआ। क्रोध का वेश शेष हुआ। आँखें छलछला उठीं। ज्वालामुखी मन्दाकिनी बन गई। तुम्हारी करुणा-निर्झरिणी ने उस अनन्य भक्त के संतप्त हृदय को सींच दिया। वाह! तपाया गया सत्याग्रही, द्रवित हुए तुम। तुम्हारे उस दिन के आँसुओं का मूल्य कौन आँकेगा?

एक दिन गजेन्द्र को ग्राहेन्द्र ने पकड़ा। खींच ले गया अतल जल में। गजेन्द्र के आर्त्तनाद से आकाश का प्रत्येक स्तर भर गया। तुम चौंक पड़े। एकाएक उठे। ध्यान से कान दिये बेतहाशा दौड़े। मुकुट छूट गया, चक्र न छूटा। कुण्डल टूट पड़े, व्रत न टूटा। पहुँचने की देर थी, गजेन्द्र-मोक्ष निश्चित था। तुम तीर पर खड़े होकर पीताम्बर के छोर से गजेन्द्र की सूँड़ सहलाने लगे। गजेन्द्र गद्‌गद हो गया! तुम्हारा भक्त-वात्सल्य उमड़ चला। करुणा अभिषिक्त हो गई! उस दिन तुम्हारी आँखों में कितने अमूल्य आँसू थे!

दिन-दिन तुम्हारे आँसुओं की अमूल्यता बढ़ती गई। तुमने कई बार आँसू बहाये; पर हृदय कदाचित् केवल एक ही बार पसीजा।

चित्रकूट में भैया भरत मिलने आये। तुम्हारी छाती भर आई। भ्रातृ-स्नेह का सुधा-स्रोत फूट निकला; किन्तु, असमंजस ने उसे कुछ संकुचित कर दिया!

दण्डकारण्य में सीता-हरण हुआ। सारे वन की द्रुम-गुल्म-लताएँ श्रीहीन हो गईं। वन-देवियाँ बिलख उठीं। तुम्हारे विलाप से जड-जंगम विह्वल हो उठे। प्रकृति पूर्णतः प्रभावान्वित हो गई। प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया। किन्तु वह सब तुम्हारी नर-लीला थी।

लंका के रणाङ्गण में बाँके-लड़ाके लखनलाल मूर्च्छित हुए। तुम्हारे दारुण विलाप ने वानरी सेना को निष्प्राण कर दिया। तुम्हारी आँखें आकाश-मार्ग पर अड़ी थीं। तुम्हे हनूमान को बड़ाई देना स्वीकार था। तुम तो स्वयं 'भव-भीम-रोग-वैद्य' हो। किन्तु, वह भी तुम्हारी मानव-लीला थी।

हाँ, बलिहारी है तुम्हारे उन आँसुओं की, जो 'जनस्थान' में बहे थे। याद है? घनघोर जंगल में तुम सबन्धु चले जा रहे थे। अचानक ठिठक कर खड़े हो गये। करुणा-कातर हो उठे। विरह-व्यथा भूल गई। किसी पीड़ित की आह सुन व्याकुल हो गये। दया ने अगवानी की। सावधानी से आगे बढ़े। एक आत्मत्यागी परोपकारी पक्षी पड़ा-पड़ा कराह रहा था। देखते ही तुम्हारी चकित आँखें निमेष-शून्य हो गईं। तुम अखिल-ब्रह्माण्ड-विधायक हो, पर शायद ही कभी तुम्हारी आँखों ने वैसा दृश्य देखा हो। एक तिर्यक्-योनिजन्य जीव का अपूर्व आत्मविसर्जन देखकर तुम्हें भी आत्म-विस्मृत हो जाना पड़ा। तुम्हारे शिथिल हाथों ने उस वृद्ध जीव के धूलिधूसर, अशक्त एवं रक्ताक्त शरीर को आहिस्ता-आहिस्ता उठाकर गोद में रक्खा। तुम्हारी पुलकावली सघन हो उठी। इन्दीवर झट कदम्ब-कुसुम बन गया। अनायास जटाजूट खुल पड़ा। करुणा की सहेली जटाओं

ने पंखों की धूल झाड़ दी। तुम घनश्याम ठहरे ही, सावन की घटा की तरह उमड़ पड़े। करुणा-कालिन्दी आकुल-प्लाविता हो उठी। वनस्थली सिक्त हो गई। 'जनस्थान' सनाथ हो गया। आँसुओं की अमूल्यता प्रकट हो गई।

वास्तव में वही आँसू अमूल्य है, जो प्रकृत पर-दुःख-कातरता की प्रेरणा से प्रसूत और सच्ची समवेदना के संचार से संभूत हो। वही आँसू विश्व का परिताप शमन करता है। मनुष्यता उसी के द्वारा कृतार्थ होती है। देवत्व उसी को पाकर विकसित होता है। भूतल को वही स्वर्ग में परिणत करता है। पूर्णेन्दु की शीतलता उसी से परास्त होती है। अमृत की मधुरता पर वही विजयी होता है। साहित्य-भांडार की रत्न-मंजूषा उसी को संचित कर धन्य होती है। जीवन की असारता उससे एक बार भी मिलकर कृतकृत्य हो जाती है।

जिसमें पवित्र प्रेमोद्रेक और कमनीय कारुण्य नहीं, वह आँसू केवल उन्हीं आँखों से निकलता है, जिन्हें तुम्हारे अमूल्य आँसू के अबतक दर्शन नहीं हुए।

—मासिक 'कवि-कौमुदी' (प्रयाग); वर्ष १, विक्रम-संवत् १९८१

•

कुछ अनमोल आँसू

आँसू अतीव अमूल्य और पवित्र पदार्थ है—यदि वह शुद्ध हृदय से आविर्भूत हुआ हो तो। शुद्ध हृदय से प्रादुर्भूत हुए आँसुओं से जिस मनुष्य के नेत्र पवित्र नहीं हुए हैं, उसके नेत्र मयूर-पुच्छ के चिह्न के समान हैं। जिस मनुष्य के नेत्रों में भक्ति, करुणा, वात्सल्य-स्नेह, पश्चात्ताप, प्रेम और आनन्द के आँसू नहीं उमड़ते, उसके नेत्र केवल शोकाश्रुवर्षण के लिए ही सुरक्षित रहते हैं। धन्य है उस मनुष्य का जन्म और जीवन, जिसने एतादृश अविरल आँसुओं से अपने नेत्र सफल किये हैं।

आँसू बहाया था 'विनय-पत्रिका' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास ने—अपने 'मानस'-मन्दिर में विराजमान भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्र के सामने—अपने जन्म-जन्मान्तरों के पापों पर पश्चात्ताप करते हुए। फिर आँसू बहाया था स्वामी दयानन्द सरस्वती ने —विधर्मियों के शिकार होते हुए असंख्य अछूतों, अनाथों और बाल-विधवाओं की असहायावस्था पर।

आँसू बहाते थे श्रीरामकृष्ण परमहंस—अखण्ड भक्ति की सहज समाधि में। आँसू बहाते थे स्वामी विवेकानन्द—स्वदेश की परतंत्रता और दरिद्रता पर। आँसू बहाते थे स्वामी रामतीर्थ—एकान्त में बैठकर भगवान श्यामसुन्दर के वियोग में।

आँसू बहाया था महात्मा गाँधी ने—चौराचौरी[१]-हत्याकाण्ड का प्रायश्चित्त करने के लिए। आँसू बहाया था महामना मालवीय जी ने—जालियाँवाला-बाग में नर-पिशाच डायर की गोलियों से भूने गये मासूम बच्चों और निहत्थे भारतीयों पर।

---

१. गोरखपुर (उत्तर-प्रदेश)

और भी—आँसू बहाती हैं लाखों असहाय एवं प्रपीड़ित विधवाएँ—भारतीय पुरुष-समाज की हृदयहीनता, स्वार्थपरता और नृशंसता पर। आँसू बहाती हैं बेचारी गौएँ—गोरक्षा का ढोंग करनेवाले धर्मध्वजी हिन्दुओं पर।

पुनः—आँसू बहाता है खद्दर—गौओं की चर्बी से लिप्त विदेशी वस्त्रों के शौकीन बाबुओं पर। आँसू बहाता है बूढ़ा विवश भारत—हुज्जती नेताओं की तर्क-शक्ति पर।

हाँ, आँसू बहाते हैं धर्मशास्त्र—देश की वास्तविक परिस्थिति से अनभिज्ञ अजगरावतार पण्डितों की मोटी बुद्धि पर। आँसू बहाते हैं ग्रेजुएट—अँगरेजी-शिक्षा-प्रणाली की निष्फलता पर।

अब भी—आँसू बहाते हैं महात्मा गाँधी—भारत के लक्ष-लक्ष दलित दीनों की दयनीय दशा पर। आँसू बहाते हैं श्री हासानन्द वर्मा[1]—भारत में कटनेवाली करोड़ों गौओं और उनकी रक्षा के हिमायती हिन्दुओं के दम्भ पर।

अब, आँसू बहायेंगे—सठियाये हुए भारतीय नेता—देश-प्रेमोन्मत्त नवयुवकों द्वारा अनतिदूर भविष्य में नेतृत्व का सर्वाधिकार छिन जाने पर। आँसू बहायेंगे वेदशास्त्रज्ञ पण्डित—सामाजिक क्रान्तिकारियों की अदम्य शक्ति और अचिन्त्य सफलता पर। आँसू बहायेंगे चौकापंथी हिन्दू—अछूत और दलित जातियों के विधर्मी हो जाने पर—संघ-शक्तिहीन होने से।

हे प्रभो! ऐसे अनमोल आँसुओं से हमारी बजमारी आँखें अभी तक क्यों नहीं तर हुई?

—पाक्षिक 'जगद्‌गुरु' (काशी); आदर्शाङ्क, गुरुपूर्णिमा, १९८४ विक्रमाब्द

•

हिन्दी-साहित्य में मध्यभारत का अतीत एवं वर्त्तमान

शरीर में हृदय का जो स्थान है वही भारतवर्ष में 'मध्यभारत' का है। भारत-राष्ट्र का वह केन्द्रस्थल है। शरीर में नेत्र और मस्तिष्क का बड़ा महत्त्व है। किन्तु, हृदय का महत्त्व उनसे कहीं बढ़कर है। साहित्य में तो सबसे अधिक महत्त्व हृदय का ही है, मस्तिष्क का भी उतना नहीं है। इसलिए, भारत-माता के कमनीय कलेवर में हृदय-स्थानीय 'मध्यभारत' सर्वापेक्षा महत्त्वपूर्ण है। उसका शौर्य-वीर्य हमारे इतिहास का गौरव है। उसका प्राकृतिक वैभव सौन्दर्य-सम्पदा से परिपूर्ण है। उसके दुर्ग और प्राचीन ध्वंसावशेष अन्वेषकों के लिए आकर्षण के केन्द्र हैं। उसकी साहित्यिक महत्ता हिन्दी के भाण्डार की अमूल्य पूँजी है। अतीत काल में जहाँ केशव और बिहारी तथा महाराज रघुराज सिंह के समान कविकुलकमल देख पड़ते हैं, वहाँ वर्त्तमान काल में

१. एक देशविख्यात गोभक्त (बंबई)।

गणेशशंकरजी, नवीनजी, हरिभाऊजी, वियोगी हरि और ठाकुर गोपालशरणसिंहजी अपनी प्रतिभा-प्रभा से हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र को उद्भासित करते नजर आते हैं। अतीत और वर्त्तमान का सुविस्तृत विवरण तो एक बड़े पोथे में ही देना सम्भव है; किन्तु संक्षिप्त रीति से एक झलक-झाँकी दिखा देना ही इस अल्पकाय लेख का लक्ष्य है।

विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक अपभ्रंश-भाषा की परम्परा चलती रही, ऐसा आचार्यप्रवर शुक्लजी ने माना है। इस परम्परा के भीतर तक देखने से संवत् १३६१ में भोजप्रबन्ध-शैली पर बनाये गये 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ के रचयिता 'जैनाचार्य मेरुतुङ्ग' पर मध्यभारतीय होने की धारणा सहसा अड़ जाती है; क्योंकि इनके ग्रन्थ में, जो संस्कृत में हैं, 'भोज' के चाचा 'मुंज' के रचे कुछ दोहे अपभ्रंश-भाषा में पाये जाते हैं, जो बहुत पहले से ही प्रसिद्ध चले आते थे; पर 'मेरुतुङ्ग' ने उन्हें सम्भवतः इसीलिए अपने ग्रन्थ में स्थान दिया कि वे एक मध्यभारतीय नरेन्द्र कवि के बनाये हुए हैं। इस साहित्यिक अनुमान की पुष्टि इतिहासज्ञ विद्वान ही कर सकते हैं।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल—वीरगाथाकाल—में भी एक कवि ऐसा मिलता है, जिसपर मध्यभारतीय होने की धारणा टिकती है; क्योंकि उसके प्रसिद्ध काव्य का विषय मध्यभारत से सम्बन्ध रखता जान पड़ता है। वह कवि है जगनिक', जिसका समय संवत् १२३० है। यह कालिंजर-नरेश 'परमाल' का आश्रित भाट था। इसने 'महोबा' के विख्यात वीरों—'आल्हा और ऊदल'—की वीरता का बखान बड़े ओजस्वी शब्दों में किया है। इसके रचे हुए वीरत्व-व्यंजक गीत 'आल्हा' के नाम से सारे उत्तर-भारत में प्रसिद्ध हैं, और हिन्दी-प्रधान प्रांतों के गाँव-गाँव में बड़ी उमंग से गाये और सुने जाते हैं। मध्यभारत की विस्तृत सीमा में 'कालिंजर' भी अत्यन्त प्राचीन स्थान है, और आधुनिक इतिहास में तो उसके दुर्द्धर्ष दुर्ग आदि की प्रसिद्धि है ही। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के आठवें अध्याय में भी उसका उल्लेख मिलता है (श्लो० ३०)। वहाँ भारतेश्वर भक्तप्रवर जडभरत की राजधानी थी। वह एक तीर्थ-तुल्य स्थान है।

विक्रम की तेरहवीं और चौदहवीं सदी के इन कवियों का स्मरण करते हुए जब हम आगे बढ़ते हैं तब तो कवियों की एक परम्परा-सी मिलती है। यदि वास्तविक अनुसन्धान किया जाय तो पीछे के युगों में और भी कई कवि मिलेंगे; किन्तु वहाँ अन्धकार-युग को सतृष्ण नेत्रों से देखते हुए हमें प्रकाश-युग में ही मध्यभारतीय-साहित्य-भाण्डार का पर्यवेक्षण करना चाहिए, जिसमें अमूल्य रत्नराशि जगमगा रही है।

विक्रम की पन्द्रहवीं शती में कबीरदासजी हुए, जिनके प्रधान शिष्य और मुख्य उत्तराधिकारी 'धरमदास' बान्धवगढ़-निवासी वैश्य थे। इन्होंने कबीर की वाणियों का संग्रह किया था। विक्रम-संवत् १४८० के लगभग इनका जन्मकाल माना जाता है। ये १२० वर्ष की आयु भोगकर संवत् १६०० में ब्रह्मलीन हुए। कबीर की अमर वाणियों का संकलन इन्होंने अपने गुरु (कबीर) के जीवनकाल में ही, संवत् १५२१ में, किया था। यदि ये ऐसा न करते तो आज कबीर के मानस के मंजुल मोती सदा-सोहागिन हिन्दी माता की माँग कैसे भरते? साहित्य का इतिहास देखने से पता लगता है कि लगभग साठ

वर्षों तक इन्होंने लगातार गुरुसेवा की, और संवत् १५७५ में कबीर की निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् उनकी गद्दी को सनाथ किया। चूँकि ये रीवाँ-राज्य के निवासी थे, इसलिए इनकी भाषा में पूरबीपन है; पर हिन्दी के सन्त-कवियों में इनका स्थान बहुत ही ऊँचा है। शुक्लजी के शब्दों में 'इन्होंने खण्डन-मण्डन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेमतत्त्व को ही लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है'। प्रोफेसर भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', एम्० ए० ने भी अपने अपूर्व ग्रन्थ 'सन्त-साहित्य' में लिखा है—"धरमदासजी की 'शब्दावली' में उनकी अगाध गुरुभक्ति, अप्रतिम भगवत्प्रेम. और एकान्त अध्यात्मनिष्ठा, शब्द-शब्द में भरी पड़ी है। वे एक बड़ी ही ऊँची श्रेणी के आत्मदर्शी सन्त थे, और लगभग चार सौ वर्ष हो चुकने पर भी, आज भी, उनकी 'वाणी' चन्दन के समान शीतल, और अमृत के समान मधुर प्रतीत होती है।"

वीरगाथा-काल के बाद भक्तिगाथा-काल की ज्ञान-मार्गी शाखा में मध्यभारत ने जैसे धरमदासजी के समान अमृत-फल लगा दिया, वैसे ही एक और भी अनन्य सौरभ-सम्पन्न स्वर्गीय पुष्प खिला दिया, जिसकी मृदुल सुरभि से हिन्दी का संत-साहित्य-क्षेत्र आमोदित हो रहा है। वह स्वर्गीय कुसुम है 'अक्षर अनन्य', जो दतिया-राज्य के दीवान थे, और पीछे विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे थे। महाराज छत्रसाल इनके शिष्य थे। कायस्थ होने पर भी एक सिद्ध पुरुष होने के कारण ही राजगुरु होने के अधिकारी हुए थे। श्रद्धेय शुक्लजी ने लिखा है—"एक बार ये छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर जंगल में चले गये। पता लगने पर क्षमा-प्रार्थना के लिए महाराज इनके पास गये। ये झाड़ी के पास पैर फैलाये सो रहे थे। महाराज ने पूछा—'पाँव पसारा कब से?' झट बोल उठे—'हाथ समेटा तब से।' इसी प्रसंग से इनका महत्त्व समझा जा सकता है। ये वेदान्त के बड़े अच्छे विद्वान् थे। त्यागी और योगी तो थे ही। मिश्रबन्धुओं ने इनके पाँच ग्रन्थ छतरपुर के राज पुस्तकालय में देखे हैं, और अन्य चौदह ग्रन्थों का उल्लेख भी किया है। दतिया-राज्य में 'सेहुँड़ा' ग्राम इनका जन्म-स्थान था।

ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु कविवर हरीराम व्यासजी अनन्य कृष्णोपासक हुए हैं। संवत् १६२० के लगभग इनका समय माना गया है। संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। शास्त्रार्थ में बड़े प्रखर थे। आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं—"इनकी रचना परिमाण में भी बहुत विस्तृत है और विषय-भेद के विचार से भी अधिकांश कृष्णभक्तों की अपेक्षा व्यापक है। इन्होंने एक 'रासपंचाध्यायी' भी लिखी है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों पर बहुत-से पद और साखियाँ इनकी मिलती हैं।"

ओरछा के ही कविवर बलभद्र मिश्र अपने 'नखशिख' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के कारण हिन्दी-संसार में अमर हो चुके हैं। इनका कविताकाल संवत् १६४० के लगभग माना जाता है। ये महाकवि केशवदास के बड़े भाई थे। इनके पाँच-छह ग्रन्थ और भी कहे जाते हैं; पर मिले अभी दो ही हैं, जिनमें दूसरा 'दूषणविचार' है, जिसमें काव्य के गुण-दोषों की विवेचना की गई है। इनकी रचना की प्रौढ़ता साहित्य के इतिहास में सादर स्वीकृत की गई है।

महाकवि केशवदास के सम्बन्ध में तो कुछ लिखने की आवश्यकता ही नहीं है। इनके विषय में प्रत्येक साहित्यानुरागी बहुत-कुछ जानता है। इनका आचार्यत्व, इनका प्रचंड पांडित्य, इनकी काव्यशास्त्र-मर्मज्ञता, इनकी अतुलनीय रसिकता जग-जाहिर है। इनकी विद्वत्ता की सत्ता समस्त छन्दों और अलंकारों पर स्थापित है। ओरछा-नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह के आश्रित होकर इन्होंने हिन्दी को जो अनमोल ग्रन्थ दिये हैं, वे हमारे साहित्य की पूँजी हैं। रामचन्द्रिका, रसिकप्रिया एवं कविप्रिया तो हिन्दी के अनूठे काव्य-ग्रन्थों में परिगणित हैं। भक्ति और शृंगार के ये उत्तम नमूने माने जाते हैं। इनकी 'रतन-बावनी' भी वीररस की सुन्दर पुस्तक है, जिसमें इन्द्रजीत सिंह के बड़े भाई रत्न सिंह की वीरता का बखान बड़े ओजस्वी छप्पय-छन्दों में किया गया है। आदर्श साहित्यानुरागी वर्त्तमान ओरछा-नरेश की छत्र-छाया में श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् इनकी स्मृति-रक्षा का जो प्रशंसनीय प्रयत्न कर रही है, वह ऐसे उद्भट महाकवि की विमल-धवल कीर्त्ति के अनुकूल ही है। इस परिषद् के द्वारा इस समय साहित्य की जो स्तुत्य सेवा हो रही है उससे यह आशा बँध रही है कि निकट भविष्य में इसके द्वारा बुन्देलखण्डी कवियों की ग्रन्थावलियाँ भी सुचारु रूप से प्रकाशित होंगी।

मध्यभारत का ओरछा-दरबार सनातन से प्रमुख कवीन्द्रों का आश्रय-स्थल रहा है, और आज भी वह साहित्य का गौरवशाली गढ़ बना हुआ है। मध्यभारत का हृदय जो बुन्देलखण्ड है, उसमें संजीवनी शक्ति का संचार करने के लिए आज भी वह भगीरथ प्रयत्न कर रहा है, और हृदय के परिपुष्ट होने पर सर्वांग की समृद्धि स्वाभाविक ही है। मध्यभारत की लोकमान्य रियासतों में ओरछा (टीकमगढ़), पन्ना, ग्वालियर, चरखारी, दतिया, छतरपुर, बिजावर, रीवाँ, खनियाधाना, समथर आदि हिन्दी-साहित्य-संसार में इसीलिए विशेष विख्यात हैं कि इन राज्यों के दरबार में परम्परागत रीति से साहित्य की चर्चा, सेवा, वृद्धि एवं प्रतिपत्ति होती आई है। आज भी इनमें से अधिकांश में वही क्रम जारी है। ऐसा अनुपम दृश्य किसी प्रान्त के दरबार में नहीं देख पड़ता। यह मध्यभारत के लिए बड़े गौरव और गर्व का विषय है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

मान्यास्पद मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के पूर्वालंकृत काल का उपक्रम करते हुए स्पष्ट लिखा है—"इसी काल में चम्पतिराय ने अपने प्रभाव से सारे बुन्देलखण्ड को दीप्तिमान् करके मुगलों को हिला दिया, इसी काल में महाराजा छत्रसाल ने केवल ५ सवार और २५ पैदलों के ही सहारे से प्रयत्न आरम्भ करके मुगलों का सामना किया और धीरे-धीरे विजयों पर विजय प्राप्त करते हुए अन्त में दो कोटि वार्षिक आय का विशाल राज्य बुन्देलखण्ड में और उसके आसपास संस्थापित कर दिया। ऐसे दर्पपूर्ण प्रतिभाशाली सुकाल में साहित्य की विशदोन्नति परम स्वाभाविक थी और वह हुई भी।"

फिर उसी प्रकरण में आगे चलकर वे महाराजा छत्रसाल की प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं जान पड़ते। लिखते हैं—"इनकी कविता ऐसी मनोहर होती थी जैसी कि सुकवियों की होती है। इनका एक ग्रन्थ बुन्देलखण्ड में एक धामी के पास वर्त्तमान है, परन्तु वह उसे किसी को दिखाता भी नहीं। ये महाराज ऐसे गुणग्राहक थे कि इतने

बड़े राजा होने पर भी इन्होंने एक बार 'भूषण' की कविता से प्रसन्न होकर, उनकी पालकी का डंडा अपने कन्धे पर रख लिया था। 'लाल' कवि ने इन्हीं के यशकीर्त्तन में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'छत्रप्रकाश' बनाया। इनके दरबार में सैकड़ों कविगण जाते और आदर पाते थे। भूषण और हरिकेश के समान उद्दण्ड सत्कवि, नेवाज जैसे शृंगारी, और लाल के ऐसे कथाप्रासंगिक प्रबल लेखक सभी इस कल्पद्रुम की उदारता के साक्षी हैं। जितने सत्कवियों की बनाई हुई इस महाराजा की प्रशंसा मिलती है, उनके आधे भी सरस्वती-सेवियों ने किसी भी राजा-महाराजा की विरदावली का गान नहीं किया है। एक और भी कथनीय बात है कि इन्होंने प्रायः परमोत्तम कवियों का ही विशेष मान किया; जिससे इनकी साहित्य-पटुता प्रकट होती है।"

मध्यभारत की रत्नगर्भा वसुन्धरा ने हिन्दी के साहित्य-कोष को जो एक चारु चिन्तामणि भेंट की, उसकी निराली कान्ति-किरणों से सारा हिन्दी-संसार देदीप्यमान हो रहा है। वह और कोई नहीं, महाकवि बिहारीलाल हैं, जिनका शुभ जन्म ग्वालियर के निकट बसुवा-गोविन्दपुर में हुआ था, और जिनका बालपन बुन्देलखण्ड में ही बीता था—उसी बुन्देलखण्ड में, जिसका वायुमण्डल कविता-कलकंठी के कलकूजन से चिरमुखरित था, जिसकी वीर-प्रसविनी भूमि का प्रत्येक कण ब्रह्मानन्दसहोदर काव्याह्लाद से पुलकित था। बुन्देलखण्ड की मज्जागत संस्कृति के प्रभाव से इन्होंने जो लोकोत्तर काव्य-कौशल प्रदर्शित किया, वह विश्वविख्यात है। समालोचक शिरोमणि शुक्ल जी कहते हैं—"शृङ्गार-रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ, उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी-साहित्य में एक-एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गईं। इस प्रकार बिहारी-सम्बन्धी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है।" वास्तव में गोस्वामी तुलसीदासजी के सिवा बिहारी के बराबर किसी कवि को इतने अधिक टीकाकार नहीं मिले। इस महाकवि का एक ही ग्रन्थ गगनचुम्बी प्रकाश-स्तम्भ की तरह हिन्दी-साहित्य-सागर की दिगन्त-व्यापिनी उत्तुङ्ग-तरङ्गों पर रत्नचूर्ण विकीर्ण कर रहा है। इसकी प्रतिभा, सहृदयता, कला-कुशलता और मनोवैज्ञानिकता का कहाँ तक अभिनन्दन किया जाय? साहित्यरसिकों का यही तो एक आकर्षक आश्रय-स्थल है!

ग्वालियर-राज्य तो साहित्य और संगीत का अखाड़ा ही रहा है और आज भी एक प्रकार से वह साहित्य का अड्डा ही बना हुआ है। उसी राज्य की दो विभूतियाँ—विद्यार्थीजी और नवीनजी ने आधुनिक हिन्दी-जगत् में अभिनव क्रान्ति का विजयशंख फूँककर प्रसुप्त जन-समाज को प्रबुद्ध कर दिया। उसी राज्य के मुखपत्र 'जयाजी-प्रताप' ने अपने चित्ताकर्षक विशेषांकों से हिन्दी-पत्र-संसार को शोभा-सम्पन्न कर दिया। उसी राज्य का पराक्रम प्रकट करनेवाला यह 'विक्रम' भी है, जिसने विक्रम-द्विसहस्राब्दी के सांस्कृतिक महोत्सव को भारतव्यापी बनाकर महाकवि कालिदास की सुप्तप्राय स्मृतियों को उद्बुद्ध कर दिया। उस राज्य के वर्त्तमान उन्नतमना नरेन्द्र स्वदेश की सभ्यता,

संस्कृति, प्रगति और साहित्यिक जागृति के कैसे उन्नायक हैं, यह तो सर्वविदित ही है। भारतवर्ष के समुन्नत राज्यों में ग्वालियर का प्रधान स्थान है।

ग्वालियर के महाराजा दौलतरावजी सिंधिया अच्छे कवि हो गये हैं, जिनका रचनाकाल विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी का मध्यभाग है। इन्हीं के आश्रित होकर कविवर पद्माकर ने 'आलीजाह-प्रकाश' नामक ग्रन्थ बनाया था। शिवकवि का 'दौलतबागविलास' भी इन्हीं के आश्रय में रचा गया था। ग्वालियर के महादजी सिंधिया तो इनसे भी पहले हो चुके हैं। वे तो बहुत ही सुन्दर कविता करते थे। उनका कविता-संग्रह 'माधवविलास' निकल चुका है। उनका एक दोहा कितना सुन्दर है !

"अरी बँसुरिया कान्ह की छल तुम कीन्हों कौन।
उन अधरन लागी रहै हम चाहत हैं जौन ॥"

मुगलसम्राट् शाहजहाँ के दरबारी कवियों में ग्वालियर के 'सुन्दर' भी थे, जिन्हें बादशाह ने 'महाकविराय' की पदवी दी थी। ये विक्रम की सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अपनी चमत्कारपूर्ण रचना से हिन्दी की उल्लेखनीय सेवा कर गये हैं। 'सुन्दर-शृङ्गार' इनका नायिका-भेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ये बड़े अनुप्रासानुरागी भी थे।

महाराजा दौलतराव सिन्धिया के दीवान 'पारख' जी ('रसिकराय' कवि) ने मथुरा में द्वारकानाथ का मन्दिर बनवाया था। फिर इन्हीं महाराज के समय में 'ऐनानन्द' नामक एक कवि थे, जो बड़े सिद्ध मुसलमान फकीर थे, और जिनकी समाधि अबतक ग्वालियर के किले में वर्त्तमान है। ग्वालियर राज्यान्तर्गत अटेर-भदावर-निवासी कवि छत्रसिंह कायस्थ ने सं० १७५७ में 'विजयमुक्तावली' नामक ग्रन्थ अनेक छन्दों में बनाया, जिसमें महाभारत की कथा बड़े रुचिकर ढंग से कही गई है।

ग्वालियर-राज्य की प्राचीन-कालीन साहित्य-सेवा-परम्परा का दिग्दर्शन-मात्र करके जब हम आधुनिक युग में उसकी सेवाओं पर दृष्टिपात करते हैं तो बड़ा संतोष होता है। श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी, कविवर पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और पंडित हरिभाऊ उपाध्यायजी के समान धुरन्धर साहित्य-महारथियों के यशश्चंदन से तो दिगंगनाओं के कलेवर चर्चित हैं ही; इनके सिवा और भी अनेक साहित्यसेवी ग्वालियर-राज्य की गोद को गौरवान्वित कर रहे हैं। जैसे—ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा, श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव, कविवर जगन्नाथप्रसाद जी 'मिलिन्द', 'हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का इतिहास' के लेखक श्री अवन्तविहारीलाल माथुर 'सुघड़ चमेली' के लेखक श्री रामजीदास वैश्य, यशस्वी कवि और नाटककार तथा मानसिंह-पुरस्कार-विजेता श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', सिद्धहस्त लेखक पंडित गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इन्द्र', हिन्दी में आध्यात्मिक साहित्य की सृष्टि करनेवाले मासिक 'कल्पवृक्ष' के सम्पादक श्री नागर जी, प्रख्यात पत्रकार श्री प्रवासीलाल वर्मा मालवीय, पंडित गोपीवल्लभ उपाध्याय, श्री सीताराम वर्मा 'साधक', पंडित गौरीशंकर ओझा 'मित्र', पंडित चन्द्रिका प्रसाद मिश्र 'चन्द्र', श्रीमती सुधारानी 'विशारद',

पंडित व्रजकिशोर शर्मा 'व्रजेश', श्री ओम्प्रकाश भार्गव 'उमेश', पंडित हरस्वरूप मिश्र 'हरेश', पंडित माताप्रसाद त्रिपाठी 'महेश', श्री गन्धर्व सिंह 'सलिल', श्री कालीप्रसाद भटनागर, पंडित गौरीशंकर मिश्र 'पथिक', अनेक यशस्वी फिल्मों के गीत-लेखक श्री प्रदीप, 'हिन्दी-विश्वभारती' (लखनऊ) के सुसम्पादक श्रीकृष्णवल्लभ द्विवेदी, 'स्वराज्य'-सम्पादक श्री आगरकरजी, प्रो० प्रभाकर माचवे आदि कवि एवं लेखक हिन्दी-संसार में पर्याप्त ख्यातिलब्ध साहित्यिक हैं। 'विक्रम' के सम्पादक व्यासजी तो स्वनामधन्य भारत-प्रसिद्ध साहित्यसेवी हैं, 'सूर्य' को क्या दीपक दिखाया जाय? स्व० प्रो० रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' की एकान्त साहित्य-साधना तो मध्यभारतीय साहित्येतिहास की गौरव-गाथा के रूप में अमर ही है। फिर 'जयाजीप्रताप' के भूतपूर्व सम्पादक श्री युधिष्ठिरजी भार्गव का भी परिचय देना अनावश्यक ही है; क्योंकि उनका प्रताप कुछ कम उजागर नहीं। और उपर्युक्त साहित्यसेवियों के विषय में भी यथोचित विवरण देने का यहाँ अवकाश नहीं, वे स्वयं ही ख्यातनामा व्यक्ति हैं।

ग्वालियर-राज्य का उज्जैन नगर भारत का अत्यन्त प्राचीन विद्यापीठ और संस्कृति-केन्द्र है। यहाँ इसका नामोल्लेख मात्र करके पाठकों को स्मरण करा देना अभीष्ट है; क्योंकि उसकी महिमा का गान संक्षेप में असम्भव है। वह भारत की सात मोक्षस्थली पुरियों में से एक है। वहाँ के निवासियों ने अतिशय प्राचीन काल से भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान किया है। आज भी वहाँ का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक वातावरण सर्वापेक्षा पवित्र एवं गरिमा-मंडित है।

इन्दौर का नाम तो हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। वहीं दो-दो बार जगद्वन्द्य महात्मा गांधी के सभापतित्व में अखिल-भारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ। वहीं के सम्मेलन में दक्षिण-भारत में हिन्दी-प्रचार का निश्चय हुआ और मध्यभारत तथा राजस्थान के लेखकों की सर्वश्रेष्ठ रचना पर २५१) का प्रतिवर्ष पुरस्कार देने की घोषणा हुई। वहीं की 'मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति' से 'वीणा'-जैसी उत्कृष्ट मासिक पत्रिका और अनेक उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। वहीं के 'खरगौन' स्थान से 'वाणी'-जैसी सुन्दर पत्रिका निकली। पंडित जानकीराम दुबे, डाक्टर सरजूप्रसाद आदि वहीं से चमके। श्रीमती कमलाबाई किबे वहीं की साहित्यिक विभूति हैं। पंडित नाथूलाल त्रिवेदी, श्री दीवारीलाल साहित्यरत्न, श्रीमती इन्दिरा देवी साहित्यरत्न, राजेन्द्र, वीरेन्द्र, ईश्वर, लाडलीप्रसाद, नवजात आदि आज भी वहाँ का साहित्यिक महत्त्व प्रकट कर रहे हैं।

मध्यभारत की देशी रियासतों ने अनेक कीर्त्तिशाली कवियों को आश्रय देकर साहित्य-सेवा का पथ प्रशस्त एवं पुष्पास्तृत किया है। पन्ना, ओरछा, दतिया, छतरपुर, रीवाँ, चरखारी आदि रियासतों का यदि पृथक्-पृथक् साहित्यिक इतिहास लिखा जाय तो एक-एक विशाल ग्रन्थ बन जा सकता है। पन्ना के प्रसिद्ध सन्त-कवि 'प्राणनाथ' एक पहुँचे हुए साधु पुरुष थे। इनका समय संवत् १७०७ के लगभग है। इन्होंने १४

ग्रन्थ बनाये हैं। ये बड़े त्यागी एवं तत्त्वदर्शी महात्मा थे। मिश्रबन्धुओं ने लिखा है—"इन्हीं ने पन्ना के महाराज को हीरे की खान बताई। पन्ना में अबतक इनकी पूजा होती है। ये बड़े ही अच्छे साधु थे। इन्होंने बुन्देलखण्ड में जातीयता जाग्रत की थी। इनकी कविता बड़ी ही जोरदार और भक्तिपूर्ण है।"

पन्ना के इतिहास प्रसिद्ध वीरेन्द्र नरेन्द्र महाराज छत्रसाल का उल्लेख पहले हो चुका है। इन्हीं के आश्रित 'लाल' कवि थे, जो हिन्दी-साहित्य की वीरगाथा-परम्परा के परमोज्ज्वल रत्न माने जाते हैं। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'छत्रप्रकाश' काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है। इन्होंने दस ग्रन्थों की रचना की है। 'छत्रप्रकाश' पर मार्मिक दृष्टि डालते हुए आचार्य शुक्लजी ने लिखा है—"ग्रन्थ की रचना प्रौढ़ और काव्यगुण-युक्त है। वर्णन की विशदता के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर ओजस्वी भाषण हैं। कवि में प्रबन्धपटुता पूरी थी, ऐसा प्रबन्ध-कौशल हिन्दी के कुछ इने-गिने कवियों में ही पाया जाता है। देश की दशा की ओर भी कवि का पूरा ध्यान जान पड़ता है। काव्य और इतिहास दोनों की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी में अपने ढंग का अनूठा है।" फिर मिश्रबन्धुओं ने भी इनकी बड़ी प्रशंसा की है। लिखा है—"कहना पड़ता है कि तुलसीदासजी के अतिरिक्त किसी और का उन्हीं के समान दोहा-चौपाई बनाना असम्भव है। इन्होंने दिखा दिया है कि कवि यमकादि बाह्याडम्बरों को छोड़कर एक छोटे-से छन्द में भी उत्कृष्ट कविता कर सकता है। बुन्देलखण्ड में प्रसिद्ध है कि लाल जी महाराज छत्रसाल के साथ युद्धों में स्वयं लड़ते भी थे।" महाराज छत्रसाल के यहाँ वीररसाचार्य महाकवि भूषण का कैसा मान था, इसका संकेत पहले किया जा चुका है। भूषणजी का 'छत्रसाल-दसक' ग्रन्थ भी इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

वीरव्याघ्र महाराज छत्रसाल के आश्रित एक और भी वीररस के अच्छे कवि थे—'हरिकेश', जो पूर्वोक्त 'अक्षर अनन्य' जी के गाँव 'सेंहुँड़ा' (दतिया-राज्य) के निवासी थे। इनका रचना-काल सं० १७८८ है। इन्होंने भी 'वीररस की रचना बड़ी उत्तम और जोरदार की है।'

पन्ना-नरेश महाराजा हृदयशाह और अमानसिंह के राजत्वकाल (सं० १७८६–१८१५) में 'बख्शी हंसराज कायस्थ' बड़े नामी कवि हो गये हैं, जिनका 'सनेहसागर' बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है, और जिसका सम्पादन लाला भगवानदीनजी ने किया। इनका उपनाम 'प्रेमसखी' था। इनके पूर्वज पन्ना-राज्य के मन्त्री थे। इनकी भाषा को शुक्लजी ने 'सब प्रकार से आदर्श' माना है और 'सनेहसागर' को एक 'अनूठा ग्रन्थ' कहा है। शुक्लजी की संयत लेखनी से निकले इन शब्दों पर ध्यान दीजिए—"अत्यन्त प्रेममाधुर्यपूर्ण रचनाएँ...पदविन्यास अत्यन्त कोमल और ललित...कृत्रिमता का लेश नहीं।" आचार्य शुक्लजी से ऐसा दुर्लभ प्रशंसा-पत्र पानेवाला कवि धन्य है!

इन्हीं नरेशों के समय (सं० १८१०) में कालिंजर-निवासी 'हितरामकृष्ण चौबे' नामक एक कवि भी थे, जिन्होंने सोलह ग्रंथों की रचना की है, जिनमें एक 'रास-

पंचाध्यायी' भी है। ये महाशय कालिंजर के किलेदार थे, जिससे इनका पौरुष प्रत्यक्ष विदित होता है।

'विरहबारीस' और 'इश्कनामा' के रसिक रचयिता कविवर 'बोधा' बचपन से ही पन्ना में रहते थे। हिन्दी में दो 'बोधा' कहे जाते हैं—एक फीरोजाबादी और दूसरे बुन्देलखंडी। किन्तु, मिश्रबन्धुओं ने रचनाओं की परख करके दोनों को एक ही माना है। और बुन्देलखंडी 'बोधा' को ही सच्चा प्रेमी कवि घोषित किया है। ये प्रेम के पक्के पुजारी थे। पन्ना-नरेश के दरबार में इनका बड़ा मान था। इनका नाम 'बुद्धिसेन' था, पर महाराज इन्हें प्यार से 'बोधा' कहा करते थे। दरबार की एक वेश्या 'सुभान' को उन्होंने बड़ी निर्भीकता से महाराज से माँग लिया था। यह बात सभी साहित्य-प्रेमी जानते हैं। इनका समय सं० १८३० से १८६० तक माना गया है। इनकी कविता से 'प्रेम की उमंग छलकी पड़ती है'।

महाराजा छत्रसाल के वंशधरों अथवा उत्तराधिकारियों में महाराज रनजोरसिंह और महाराज हिन्दूपति भी कवियों के आश्रयदाता थे। प्रथम के समय में 'भान' कवि ने सं० १८४५ में 'नरेन्द्रभूषण' की रचना की थी, और द्वितीय के समय में 'करन' कवि ने 'रसकल्लोल' और 'साहित्यरस' की। ये 'करन' कवि सं० १८६० के लगभग हुए हैं। 'इन्होंने काव्य-सामग्री का विशाल वर्णन किया है। भाषा ललित एवं श्रुतिमधुर है। भाषाप्रेमियों से हम इस ग्रंथ के पढ़ने का अनुरोध करते हैं।'—(मिश्रबंधु)। 'साहित्यरस एक उत्तम रीति-ग्रंथ है। कविता भी सरस और मनोहर है। इससे इनका एक सुविज्ञ कवि होना सिद्ध होता है।'—(आ० शुक्ल)

पन्ना के ही 'रूपसाहि' कवि (सं० १८१३) ने दोहों में 'रूपविलास' नामक अलंकार-पिंगल-नायिका-भेद का ग्रंथ बनाया है, तथा संवत् १९०० के आसपास 'पजनेस' नामक प्रसिद्ध पन्ना-निवासी कवि ने 'पद्माकर' की अनुप्रासमयी शैली की छटा दिखाई है। इनके 'पजनेस-पचासा' और 'पजनेस-प्रकास' नामक दो काव्यसंग्रह काशी के भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हो चुके हैं। 'इनका स्थान व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में है।'

ऐसी ही गौरवशालिनी परम्परा ओरछा-दरबार की भी है, इसकी चर्चा पहले ही कर चुका हूँ। ओरछा-नरेश महाराजा वीरसिंहजू देव प्रथम के आश्रित कवि 'चतुर्भुज' (सं० १६४७) ने 'चंद'-शैली की बहार अपनी कविता में दिखाई है। उसके बाद महाराजा, विक्रमादित्यसिंह तो स्वयं ही कवि थे, जिन्होंने अपना उपनाम लघु' रखा था और जिनके बनाये दो ग्रंथ मिलते हैं—'लघुसतसई' और 'माधवलीला'। इनका रचना-काल सं० १६८० के लगभग पड़ता है। इन्हीं के आश्रित कवि शिवलाल मिश्र (महाकवि बलभद्र के पौत्र) थे, जिनका यह सवैया बड़ा ही विनोदपूर्ण है—

"जाट जुलाहे जुरे दरजी मरजी में मिल्यो चक्र चूकि चमारो।*
दीनन की कहु कौन सुने निसि-द्यौस रहे इनहीं को अखारो।

* जाट=धन्ना जाट। जुलाहे=कबीरदास। दरजी=नामादास। चमार=रैदास।

को 'सिवलाल' की बात सुनै रघुनाथ के द्वार पै कोऊ पुकारौ।
ऐसे बड़े करुनाकर को इन पाजिन ने दरबार बिगारौ॥"

महाराजा विक्रमादित्य सिंह के आश्रित कवियों में 'भोजराज' भी प्रसिद्ध ही हैं, जिन्होंने सं० १६५७ के लगभग तीन ग्रंथ बनाये। राजसुजानसिंहजी के समय में 'मेघराज प्रधान' नाम के एक दरबारी कवि हो गये हैं (सं० १७१७), जिनके चार ग्रंथ मिलते हैं। एक ग्रन्थ विचित्र है—'राधाकृष्णजू को झगरौ' और दूसरा है 'सिंहासन बत्तीसी'। वह सुदिन कब आवेगा जब इन सब कवियों की रचनाएँ सुसम्पादित ग्रन्थावली के रूप में प्रकट होंगी !!!

मध्यभारत के नरेशों की सहायता से मध्यभारतीय प्राचीन कवियों की सचित्र ग्रंथावलियों के प्रकाशित होने की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक रियासत यदि अपने राज्य और दरबार के सुकवियों की ग्रंथावली प्रकाशित करने में तत्पर हो, तो हिन्दी की असंख्य विस्मृति-गर्भस्थ पुस्तकों का उद्धार हो जाय। कम-से-कम मध्यभारत के प्रमुख पत्रकारों और प्रभावशाली साहित्य-निर्माताओं को इस दिशा में अवश्य ही यत्नशील होना चाहिए।

बुन्देलखंडी कवि 'ठाकुर' का जन्म भी ओरछा में ही हुआ था (सं० १८२३ में)। ओरछा-दरबार के मुसाहब 'रावराजा' इनके नाना थे। इनके पिता गुलाबराय वहीं बस गये थे। इनका परिचय जैतपुर-दरबार के प्रसंग में दिया जायगा। मिश्रबन्धुओं का अनुमान है कि 'रस-शृंगार' नामक ग्रंथ के रचयिता बुन्देलखंडी कवि 'भारती' (सं० १८३२) ओरछा के ही महाराजा भारतीचन्द थे। सं० १८३६ के लगभग ओरछा-दरबार में ही 'मोहनदास' एक कवि थे—महाराज मधुकरशाह के कुल-पुरोहित, जिनके चार ग्रन्थ प्राप्त हैं। दस ग्रंथ तो स्वर्गीया महारानी वृषभानु कुँवरिजी के भी प्राप्त हैं, जिनका समय सं० १९४२ से १९६१ तक माना गया है। सं० १९२७ से १९५० तक के शासक महाराजा महेन्द्र-प्रतापसिंहजी के आश्रित कवि 'परमानन्द' ने तैंतीस ग्रन्थों की रचना की है। इन्हीं महाराज के नाम पर प्रसिद्ध कवि 'लछिराम' ने 'महेन्द्रभूषण' बनाया था। एक ओरछा-निवासी कवि 'नीलसखी जी' संवत् १८४० के लगभग हो चुके हैं, जिन्होंने 'बानी' नामक ग्रन्थ बनाया है। इनकी आध्यात्मिक कविता 'बड़ी ही मनोहर' मानी गई है।

वर्त्तमान ओरछा-नरेश का साहित्यानुराग तो भलीभाँति प्रसिद्ध ही है। इन्हीं के कर-कमलों से काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में आचार्य द्विवेदीजी को एक अद्वितीय अभिनन्दन-ग्रंथ अर्पित हुआ। इन्हीं की उदारता से हिन्दी-जगत् का सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक पुरस्कार हिन्दी-कवियों का दिन-दिन उत्साहित करता जा रहा है। इस 'देव-पुरस्कार' से हिन्दी-साहित्य की जो गौरव-वृद्धि हुई है, उससे सभी हिन्दी-प्रेमी परिचित हैं। इन्हीं महाराजा साहब के उत्साह का फल है कि पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में 'मधुकर' नामक सर्वाङ्गसुन्दर मासिक पत्र निकल रहा है, जिसके द्वारा हिन्दी-साहित्य की उन्नति के अनेक मार्ग प्रशस्त होते दीख पड़ते हैं। अभी हाल में उसका जो 'प्रांत-निर्माण-अंक' निकला है, वह अन्यान्य प्रांतों के लिए आदर्श बनकर हिन्दी के साहित्य-कोष को सुसम्पन्न

करने में बड़ा उपकारी सिद्ध होगा। मध्य भारत की साहित्यिक प्रगति में 'मधुकर', 'विक्रम', 'जयाजी प्रताप', 'प्रकाश', 'बान्धव', आदि की सेवाएँ अपूर्व रीति से शक्ति-संचार कर रही हैं। ऐसा भगीरथ-प्रयत्न किसी अन्य प्रान्त में दृष्टिगोचर नहीं होता। यह मध्यभारत के भावी साहित्यिक अभ्युदय की पूर्व-सूचना है।

टीकमगढ़ के आधुनिक युग के साहित्यसेवियों में राजकवि पीताम्बर भट्ट (पदमाकर-वंशी), सुकवि बालकृष्णदेव 'प्रेम', श्रीमुकुन्दलाल, श्रीगणेशप्रसाद, पंडित सच्चिदानन्द उपाध्याय बाबू ठाकुरदास जैन, बी० ए०, 'बुन्देलखंड के कवि' के लेखक पं० गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'मधुकर' के द्वारा बुन्देलखण्ड के लेखकों की सेवाएँ श्लाघ्य रीति से हिन्दी-हितसाधन में तत्पर हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि मिश्र-बन्धुओं में पंडित श्यामबिहारी, मिश्र एम्० ए० को ओरछा-दरबार से ही 'रावराजा' की उपाधि मिली है, जो दीवान भी थे।

दतिया-दरबार की साहित्यसेवा भी बड़े महत्त्व की है। संवत् १७३७ में सुकवि चन्द्रमणि मिश्र कोविद ने इसी दरबार में महाराजा पृथ्वीसिंह के आश्रित होकर 'राजभूषण' और 'भाषा हितोपदेश' नामक ग्रंथ बनाये थे। ये ओरछा-निवासी थे। इनका समय सं० १७७६ भी कहा जाता है। दतिया की महारानी प्रभाकुँवरिजी ने एक 'चन्द्रप्रकाश' नामक ग्रंथ बनाया था। दतिया-राज्य के एक जागीरदार पृथ्वीसिंह बड़े अच्छे कवि हो गये हैं, जिन्होंने बिहारी-सतसई के ढंग पर २८०० दोहों में एक 'रतनहजारा' नामक ग्रन्थ बनाया है। इनका उपनाम 'रसनिधि' प्रसिद्ध है, और १७१७ के लगभग इनका कविता-काल माना जाता है। दतिया-निवासी जुझौतिया ब्राह्मण कवि 'बैजनाथ' भी विक्रम की बीसवीं सदी के आरम्भ में अच्छी कविता कर गये हैं। सं० १९५० के लगभग दतिया दरबार के राजकवि गौरीशंकर गुरु 'कवीन्द्र' ने पद्माकरी शैली में 'कवित्तरामायण' आदि चार ग्रन्थ बनाये थे। ये पद्माकर-वंशी थे और इनके पिता पंडित लक्ष्मीधर जी (श्रीधर कवि) भी एक असाधारण कवि थे। श्रीधरजी भी इसी दरबार के आश्रित राजकवि थे। कवीन्द्रजी के पुस्तकालय में पद्माकर आदि पूर्वकालीन कवियों के उत्तमोत्तम अप्रकाशित ग्रन्थों के संगृहीत होने की बात सुनी जाती है। दतिया-नरेश महाराज श्री लोकेन्द्रबहादुर गोविन्दसिंहजू देव ने इनके 'विश्वविलास' नाटक पर प्रसन्न होकर 'कवीन्द्र' की उपाधि दी थी। दतिया के आधुनिक युग के साहित्यिकों में पंडित ब्रजभूषण गोस्वामी, पंडित शंकरलाल 'महेश', पंडित दामोदर शुक्ल आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

इसी प्रकार चरखारी-दरबार के आश्रित कवियों की कीर्त्ति-कौमुदी से भी हिन्दी-कविता-कुमुदिनी विकसित दीख पड़ती है। चरखारी-नरेश महाराज विक्रमादित्य सिंह (सं० १८५५-१८८५) ने 'विक्रम-सतसई' आदि तीन ग्रन्थ रचे हैं। ये 'बड़े गुणी और गुणियों के आश्रय-दाता' थे। इन्हीं के आश्रित 'खुमान' एक अच्छे कवि हो गये हैं (सं० १८७०)। 'खुमान' के रचे दो ग्रन्थ प्राप्त हैं—'लक्ष्मणशतक' और 'हनुमान-नखशिख'। इन्होंने 'ब्रजभाषा में जोरदार और प्रशंसनीय रचना की है' और इनके बनाये आठ ग्रन्थों का

और भी पता लगा है। ये अपनी कविता में 'मान' उपनाम रखते थे। इन्होंने 'लक्ष्मणशतक' में लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध बड़े फड़कते हुए शब्दों में कहा है। महाराज विक्रमसाहि के आश्रित दूसरे यशोधन कवि थे 'प्रताप साहि', जिनका समय सं० १८८२ के लगभग पड़ता है। इनकी 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' के सम्बन्ध में माननीय मिश्रबन्धुओं का मत है कि 'यह बहुत सराहनीय ग्रन्थ है और इसे भाषा-साहित्य का रत्न समझना चाहिए।' इनके बनाये दस ग्रन्थ और भी हैं—शृङ्गारमंजरी, शृङ्गारशिरोमणि, काव्यविलास, काव्यविनोद, अलंकार-चिंतामणि, रत्नचंद्रिका, जुगल-नखसिख आदि। इन्होंने बलभद्रकृत प्रसिद्ध 'नखसिख' की टीका भी लिखी है। आचार्य शुक्ल जी ने इनके विषय में लिखा है—"पुस्तकों के नाम से ही इनकी साहित्य-मर्मज्ञता और पांडित्य का अनुमान हो सकता है। आचार्यत्व में इनका नाम मतिराम, श्रीपति और दास के साथ आता है, और एक दृष्टि से इन्होंने उनके चलाये हुए कार्य को पूर्णता तक पहुँचाया था। उनसे ये बीस ही ठहरते हैं। उनसे इनका आचार्यत्व भी कुछ आगे ही दिखाई पड़ता है।" इस प्रकार शुक्लजी ने इन पर काफी अच्छा लिखा है, और इनकी प्रशंसा खुले दिल से की है। महाराज विक्रम साहि के दरबार में एक तीसरे सुकवि 'भोजराज भी थे, जो उनके बाद महाराज रत्नसिंह के भी दरबार में रहे। महाराज रत्नसिंह ने स्वयं भी 'विनय-पत्रिका' की टीका लिखी है, और इनके दरबार के राजकवि जवाहरसिंह कायस्थ ने वाल्मीकीय रामायण का छन्दोबद्ध अनुवाद किया है। 'शिवसिंह-सरोज' में चरखारी के एक कवि 'भानदास बन्दीजन' का उल्लेख पाया जाता है, जो विक्रम की उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए हैं और 'रूपविलास'—पिंगल-ग्रन्थ के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनमें और पूर्वोक्त 'भान' तथा 'रूपसाहि' में कुछ भ्रम-सा होता है।

छतरपुर-रियासत को तो हिन्दी-साहित्य के विस्तृत इतिहास का मूल उद्‌गमस्थल ही कहना चाहिए। मिश्रबन्धुओं में सबसे छोटे पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र यहीं दीवान थे। यहाँ के राज-पुस्तकालय में प्राचीन हिन्दी-कवियों के अनेक अप्रकाशित ग्रंथ संचित हैं। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में प्रायः सर्वत्र ही यहाँ के पुस्तकालय का उल्लेख मिलता है। 'साहित्य-संदेश' (आगरा) के सुयोग्य सम्पादक और हिन्दी-संसार के प्रथितयश समालोचक श्रीगुलाब-रायजी, एम्० ए० कुछ साल पहले इसी दरबार में थे। यहाँ के नरेश भी परम्परा से साहित्यप्रेमी होते आये हैं। इस राज्य के संस्थापक कुँवर सोनेसाह के दीवान 'अमरसिंह' कायस्थ (सं० १८४५) ने 'बिहारी-सतसई' की गद्यपद्यमयी टीका रची थी और 'सुदामाचरित्र' तथा 'रागमाला' नामक दो ग्रंथ भी बनाये थे। इसी राज्य के निवासी गंगाधर व्यास (सं० १९१६) थे, जिनके रचे हुए सात ग्रन्थ प्राप्त हैं। मिश्रबन्धुओं के मतानुसार "बुन्देलखंडी भाषा पर आपका अच्छा अधिकार था। आपकी बनाई हुई बहुत सी काव्य-पंक्तियाँ सर्वसाधारण में लोकोक्ति की भाँति प्रचलित हैं। बीसवीं सदी के बुन्देलखंडी कवियों में आपका आसन श्रेष्ठ है। आप छतरपुर-नरेश महाराज विश्वनाथसिंहजू देव के आश्रित थे।" इन्हीं महाराजा साहब ने बिहार प्रान्त के प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू व्रजनन्दन सहाय का 'सौंदर्योपासक' नामक उपन्यास पढ़कर उन्हें सम्मानपूर्वक अपने दरबार में बुलाकर

सत्कृत किया था। बगौरा-निवासी ईश्वरी (ईसरी) कवि छतरपुर-राज्य के ही निवासी थे, जिन्होंने ठेठ बुन्देलखण्डी में बहुत ही सुन्दर कविता की है। इनको तो वहाँ की जनता का सच्चा प्रतिनिधि कवि कहना चाहिए। इनकी कविताएँ वहाँ गाँव-गाँव, घर-घर हजारों कंठ में गूँज रही हैं। 'बुन्देलखंड का इतिहास' के लेखक पहरा-निवासी ठाकुर प्रतिपाल-सिंहजी इसी राज्य के हैं, जिनकी 'खेलपचीसी' में बुन्देलखण्ड के ग्रामीण खेलों का बड़ा ही रोचक वर्णन है। जब मैं 'बालक' का सम्पादन करता था तब इन खेलों के कई अंश 'बालक' में सचित्र प्रकाशित हुए थे। ठाकुर साहब से काशी और प्रयाग में कई बार मिलने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और इनके उपर्युक्त इतिहास की पांडुलिपि भी मैंने देखी थी। शोक है कि अब वे इस लोक में न रहे; पर उनकी कृतियाँ उन्हें अमर रखेंगी।

यहाँ मैं स्वतन्त्र रूप से छतरपुर-राज्य की दिव्य विभूति श्रीवियोगीहरिजी का सादर स्मरण करना चाहता हूँ, जिनमें मध्यभारत की अनेक कवि-आत्माएँ संश्लिष्ट हैं। एक ओर इनमें धरमदास और प्राणनाथ की आत्माएँ अपनी ज्योति दिखा रही हैं, दूसरी ओर छत्रसाल और लाल की आत्माएँ वीरत्व की प्रचंड ललकार सुना रही हैं। इनको 'वीरसतसई' पर जो मंगलाप्रसाद-पारितोषिक के १२००) मिले, उन्हें सम्मेलन को ही लौटाकर इन्होंने त्याग का एक नया आदर्श स्थापित कर दिया। इनकी 'विनय-पत्रिका' की अद्वितीय टीका और अन्यान्य पुस्तकें सर्वतोभावेन शान्तिप्रदायिनी हैं। बुन्देलखंडी रियासतों का प्रसंग समाप्त करने से पहले हमें दो-चार अन्य रियासतों पर भी ध्यान देना पड़ेगा। पन्ना-राज्य की शाखा जेतपुर-रियासत के राजा केसरीसिंह के सभारत्न 'ठाकुर' कवि बड़े ही तेजस्वी कवि हुए हैं, जिनका रचनाकाल सं० १८५० से १८८० तक माना गया है। हिन्दी की प्राचीन कविता के सच्चे मर्मज्ञ स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने इनकी कविताओं का संग्रह 'ठाकुर-ठसक' प्रकाशित किया था, जिसकी भूमिका में इनका पूरा परिचय सुलभ है। ये बड़े निर्भीक, साहसी, स्पष्टवादी, स्वाभिमानी और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इन्हें आचार्य शुक्लजी से जो प्रशंसापत्र प्राप्त हुआ है, उसके शब्दों पर कृपया ध्यान दीजिए—'ठाकुर बहुत ही सच्चे उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष ही। लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है, वैसा और किसी कवि ने नहीं।' इस तरह सूक्ष्मदर्शी शुक्लजी ने इनकी और भी बड़ी बड़ाई की है। इन्हें बिजावर-दरबार से भी एक गाँव मिला था। बिजावर के राजा भानुप्रकाशसिंह के राजगुरु श्रीरामलाल स्वामी ने भी छह ग्रन्थों की रचना की है। यहाँ जैतपुर के बुन्देलखंडी कवि 'मंडन' का उल्लेख छूट रहा है, जिनका रचनाकाल सं० १७१६ है, और जिन्होंने रसरत्नावली, रसविलास, नैनपचासा, पुरन्दर माया आदि छह ग्रंथों की रचना की है। लगे हाथों अजयगढ़ के राजा गुमानसिंह के आश्रित कवि 'पंचम' का उल्लेख भी आवश्यक है। समथर-नरेश राजा हिन्दूपति के आश्रित कवि झाँसी-निवासी नवलसिंह कायस्थ तो अच्छे चित्रकार भी थे और इन्होंने करीब तीन दर्जन ग्रन्थ बनाये हैं। इनका रचनाकाल सं० १८७३ से १६२६ तक है। 'इनका झुकाव भक्ति और ज्ञान की ओर विशेष था'।

संवत् १८४० के लगभग मऊ-महेबा के निवासी 'मंचित' कवि ने 'सुरभीदानलीला' और 'कृष्णायन' नामक दो ग्रन्थ बनाये थे। मिश्रबंधुओं ने इन्हें सेनापति की श्रेणी में रखते हुए लिखा है—'कविता परम मनोहर है। गोस्वामी तुलसीदास का ढंग उतारने में यह कवि बहुत करके सफल-मनोरथ हुआ है। यह इस सफलता में बहुत प्रशंसनीय है।' आचार्य शुक्लजी ने भी इस कथन का समर्थन-सा किया है—'स्थान-स्थान पर भाषा अनुप्रासयुक्त और संस्कृत-गर्भित है। ब्रजवासीदास की चौपाइयों की अपेक्षा इनकी चौपाइयाँ गोस्वामी तुलसीदास की चौपाइयों से कुछ अधिक मेल खाती हैं। सुरभीदानलीला की रचना अधिक सरस है। इसमें श्रीकृष्ण का नखसिख भी बहुत अच्छा कहा गया है।' महोबा के गुमान मिश्र (उपर्युक्त खुमान कवि के भाई) भी बड़े अच्छे कवि हो गये हैं। इन्हें शुक्लजी ने 'उत्तम श्रेणी' का कवि माना है। इनका कविता-काल विक्रम की उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध है। इन्होंने श्रीहर्ष के नैषध महाकाव्य का नाना छन्दों में अनुवाद किया है। और भी इनके कई ग्रन्थ हैं। शुक्लजी भी 'भाषा पर इनका पूरा अधिकार' स्वीकार करते हैं। अब अन्त में गरौली-निवासी बुन्देलखण्डी कवि दीवानबहादुर चन्द्रभानुसिंह की बनाई हुई 'दोहा-सतसई' का उल्लेख कर मैं बघेलखण्ड की ओर बढ़ता हूँ; क्योंकि वहाँ भी हिन्दी का एक प्रधान गढ़ है। किन्तु, उधर चलने से पहले खनियाधाना-नरेश राजा खलकसिंहजू देव की स्मृति आकृष्ट कर रही है। बुन्देलखण्डी शब्दों की बहार उनकी कविता की खास खूबी है। उनके गद्य-लेख भी पत्रों में दीख पड़ते हैं। उनका एक ग्रन्थ 'सत्यकथासंग्रह' है, और उनका हिन्दी-प्रेम बहुत विख्यात है।

बघेलखण्ड के बान्धवगढ़ का उल्लेख आरम्भ में ही महात्मा धरमदास के प्रसंग में हो चुका है। यहाँ बांधवगढ़-नरेशों की साहित्य-सेवा पर जब ध्यान जाता है तब यह कहना पड़ता है कि मध्यभारत की अन्य रियासतों से रीवाँ का महत्त्व कुछ कम नहीं है। संवत् १८७३ से १८६० तक बान्धवेश महाराज जयसिंह ने शासन किया था और इसी बीच सारा राजकाज देखते हुए इन्होंने अट्ठारह ग्रन्थों की रचना कर डाली। इनके सुपुत्र महाराज विश्वनाथसिंह ने तो और भी कमाल किया। १८८१ से १६११ संवत्-पर्यन्त बीस वर्ष के शासनकाल में ही विधिवत् प्रजा-पालन करते हुए तीन दर्जन हिन्दी-ग्रन्थ और एक दर्जन संस्कृत-ग्रन्थ रच डाले। 'कविता-कौमुदी' के प्रथम भाग में पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने इनका परिचय दिया है। इनके लिखे 'आनन्दरघुनन्दन' नाटक को भारतेन्दु जी ने हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना है। इनके आश्रित कवि 'माधव' (रीवाँ-निवासी) ने इन्हीं की आज्ञा से 'आदिरामायण' की रचना की थी। इनके सुपुत्र भी परम प्रसिद्ध कवि हुए—महाराज रघुराजसिंह। हिन्दी-संसार में महाराज रघुराजसिंह की बहुत अधिक प्रसिद्धि है। ये परम रामभक्त, काव्यरसिक और कवियों के कल्पवृक्ष थे। इनकी रचना बड़ी सुहावनी है। विविध छन्दों की छटा और अनुप्रासों की घटा इनकी कविता में दर्शनीय है। रामस्वयंवर, रामाष्टयाम, रघुराज-विलास, आनन्दाम्बुनिधि, सुन्दरशतक, मृगयाशतक, रामरसिकावली आदि इनके श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। मध्यभारत में इनका सम्मान आज तक बहुत अधिक है। एक बार इन्दौर में पुराने कवियों का दरबार हुआ था। उस

अभिनय-सभा में सबकी राय से यही सभापति के आसन के अधिकारी बनाये गये थे। उस कवि-सभा-नाटक की परम्परा नहीं चली; पर वह प्रणाली ऐसी है कि उसके कायम रहने से साहित्य का बड़ा उपकार होगा। ओरछा की केशव-साहित्य-परिषद् की तरह रीवाँ में भी रघुराज-साहित्य-परिषद् है, जिसके सभापति हिन्दी के सर्वप्रिय रससिद्ध सुकवि ठाकुर गोपाल-शरणसिंहजी हैं। परिषद् की ओर से बान्धव-गौरव-ग्रन्थमाला भी निकलती है। 'बान्धव' नामक एक साहित्यक मासिक पत्र भी निकलता है। यह परिषद् बड़ी सजीव और आदर्श संस्था है। इसके द्वारा रीवाँ-राज्य में सन्तोषजनक साहित्यिक जागृति हो रही है।

महाराज रघुराजसिंहजी की सभा में कवियों का बड़ा ठट्ट था। 'लखनेस' कवि इन्हीं के आश्रित थे, जिन्होंने 'रसतरङ्ग' और 'लक्ष्मीचरित्र' नामक ग्रन्थ बनाये। रसिक-नारायण, रसिकबिहारी, श्रीगोविन्द, बालगोविन्द, रामचन्द्र शास्त्री आदि सुकवि भी इनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। इनकी पुत्री विष्णुप्रसाद कुँवरि बाघेलीजी भी अच्छी कवयित्री थीं, जिनके रचे हुए दो ग्रन्थ हैं—अवधविलास और कृष्णविलास। इनके पुत्र और उत्तराधिकारी महाराज वेंकटरमणसिंहजी भी बड़े साहित्यानुरागी थे। वे भी अपने पूज्य पिता के समान परम वैष्णव थे। उन्होंने शासन-सूत्र सँभालते ही अपने राज्य के सभी विभागों में हिन्दी भाषा और नागरी-लिपि के व्यवहार की घोषणा की थी। उन्हीं के समय में राज्याश्रित साप्ताहिक 'शुभचिन्तक' निकलता था। उनके राजत्वकाल में 'रीवाँ-राज्य-दर्पण' और 'नर्मदा-माहात्म्य' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए थे। उनका विवाह मेरे जिले (शाहाबाद, बिहार) की डुमराँव-राजधानी में हुआ था, जिससे वर्त्तमान रीवाँ-नरेश का शुभ जन्म हुआ। ये महाराज गुलाबसिंहजी तो हिन्दी के बड़े अच्छे वक्ता भी हैं। इनके समय में राज्य के अन्दर साहित्यिक प्रगति बड़े वेग से हो रही है। इन्होंने भी अपने आदर्श पिता की हिन्दी-नागरी-प्रचार-सम्बन्धी घोषणा का पूर्ण रूप से संरक्षण किया है। इनके समय में भी लगभग दस-बारह वर्षों से एक सुन्दर हिन्दी साप्ताहिक 'प्रकाश' निकल रहा है, जिसके कई विशेषांक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं साहित्य की स्थायी सामग्री कहे जाने योग्य निकल चुके हैं। 'प्रकाश' और 'बान्धव' के द्वारा रीवाँ-राज्य वैसी ही स्तुत्य साहित्य-सेवा कर रहा है जैसी ओरछा-राज्य 'मधुकर' के द्वारा। मध्यभारत के इन दोनों ही राज्यों की यह वदान्यता सर्वथा अभिनन्दनीय है।

राजर्षि रघुराजसिंहजी के समान अनन्य रामभक्त के राज्य में साहित्य की समुचित समृद्धि स्वाभाविक ही है। इस राज्य के वर्त्तमान नरेश की प्रगतिशीलता और हिन्दी-भक्ति देखकर यह आशा हो रही है कि भविष्य में इस राज्य के द्वारा साहित्य का असीम उपकार होना संभव है। इस समय भी हिन्दी-साहित्य के समाराधन में संलग्न रहकर यह राज्य जिस अनुकरणीय नीति का परिचय दे रहा है, वह शतमुख श्लाघ्य है। इस राज्य की साहित्यिक परम्परा मध्यभारत के लिए सचमुच बड़े अभिमान की वस्तु है। महाकवि रहीम के गाढ़े दिनों में इसी राज्य ने उनकी सहायता की थी। कबीर के गुरुभाई 'सेन नाई' का उल्लेख 'रैदास' की कविता में मिलता है। 'सेन' अच्छे संत थे। ये रीवाँ के ही थे। महाकवि भूषण की जीवनी में भी पाया जाता है कि रीवाँ के महाराज अवधूतसिंह ने

उनका यथोचित सम्मान किया था। कहा जाता है कि इतिहास-प्रसिद्ध 'बीरबल' यहीं के दरबार से दिल्ली-दरबार में गये थे। हिन्दी-पत्रों के आरम्भिक युग में यहीं से 'भारत-भ्राता' नामक साप्ताहिक पत्र राज्याश्रय पाकर निकला था। साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इस राज्य के साहित्यिक वैभव का जो विशद वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है, उसका संतोषप्रद उल्लेख इस अल्पकाय लेख में असंभव है। किन्तु, इस धुँधली झाँकी से भी इस राज्य के प्रति श्रद्धा ही होती है।

आधुनिक युग के रीवाँ-राज्य-निवासी कवियों और लेखकों का भी केवल नामोल्लेख ही संभव है। वर्त्तमान साहित्य में नई गढ़ी के सुप्रतिष्ठित ताल्लुकदार और रईस ठाकुर गोपालशरणसिंह पर जो कुछ लिखा और कहा गया है उसकी बानगी भी यहाँ नहीं दिखाई जा सकती। उनका परिचय 'कविताकौमुदी' के दूसरे भाग में अनेक पाठक पढ़ चुके होंगे, और उनकी माधवी, मानवी, कादम्बिनी, ज्योतिष्मती, संचिता आदि कविता-पुस्तकों का रसास्वादन भी कर चुके होंगे। द्विवेदी-युग के कवियों में उनका बड़ा आदरणीय स्थान है, और आचार्य द्विवेदीजी के परम स्नेहभाजनों में वे हैं। उनकी भाषा की सफाई सब जगह सराही गई है। उनके सिवा राजकवि अम्बिकेशजी, लाल भानुसिंह बाघेल, लाल यादवेन्द्रसिंह, कुँवर सोमेश्वरसिंह, साहित्यरत्न पं० हरशरण शर्मा 'शिव', सरदार सूर्यबलीसिंह, साहित्यरत्न, एम्० ए०, पं० केशवप्रसाद चतुर्वेदी, एम्० ए०, श्री जगमोहनलाल निगम, विशारद आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मऊगंज (रीवाँ) के पं० श्यामसेवक मिश्र का नाम भी यहाँ स्मरणीय है जिनकी लिखी तीस पुस्तकें हैं।

मध्यभारत की रियासतों में सीतामऊ का नाम भी साहित्य के इतिहास के पृष्ठों पर बड़ी शान के साथ चमक रहा है। सीतामऊ-नरेश महाराजा रामसिंहजी ने व्रजभाषा और संस्कृत दोनों में ही बड़ी सुन्दर कविता की है। 'रामविलास' और 'मोहनविनोद' उनके प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ हैं। 'वायु-विज्ञान' नामक उनकी पुस्तक भी प्रकाशित हो चुकी है। उनकी कवित्व-शक्ति और उनका विद्या-व्यसन हमारे साहित्य के इतिहास में बड़े गौरव के साथ उल्लिखित है। फिर सीतामऊ के महाराजकुमार रघुवीरसिंह जी, एम्० ए० के विषय में तो कहना ही क्या है। इनकी रमणीय रचनाओं ने हिन्दी की जो श्रीवृद्धि की है, उससे सारा हिन्दी-जगत् सुपरिचित है।

मध्यभारत के वर्त्तमानकालीन साहित्यस्रष्टाओं का भरपूर ब्योरा देना यहाँ सम्भव नहीं और उनकी सेवाओं का जो विवरण साहित्य के इतिहासों में सुलभ है, उसकी चाशनी चखाना भी पाठकों को अतृप्त ही छोड़ने का अपराधी बनना है, इसलिए कुछ शेष साहित्य-सेवियों के नामोल्लेख-मात्र से ही सन्तोष करता-कराता हूँ। श्री मुकुटबिहारीलाल वर्मा (दैनिक 'हिन्दुस्तान'-सम्पादक) श्री गंगाप्रसादजी पांडेय, श्री आगरकरजी, श्रीमती महादेवीजी, श्री वीरेन्द्रकुमारजी, श्री प्रभागजी आदि सरस्वती-सेवकों की सेवाएँ मध्यभारत के वर्चस्वी नाम के प्रकाश का प्रसार सुदूरवर्त्ती अन्य प्रान्तों में भी कर रही हैं। इनकी स्मृति के साथ यह लेख समाप्त करता हूँ।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में मध्यभारत के अतीत एवं वर्त्तमान की बाँकी झाँकी देखकर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि साहित्य के उत्थान, विकास एवं अलंकरण में मध्यभारत ने सर्वस्व लगा दिया है। उसके सपूतों की साहित्य-साधना आज भी उसके गर्वोन्नत ललाट को द्युतिमन्त बना रही है। भारतमाता के हृदय-देश से निकले हुए अनेक सुधा-स्रोत साहित्य-क्षेत्र को रसप्लावित करते देख पड़ते हैं। इस वामन लेख के ह्रस्व हाथ उसके मध्य गगनस्थ कीर्त्ति-कलाधर को करतलगत करने का असफल प्रयास करते संकुचित हो रहे हैं। खेद है कि कुण्डली से कढ़ जानेवाले कुशल नट की कला से मैं वंचित हूँ, इसलिए इस लेख में मैं उसके साहित्यिक ऐश्वर्य का सांगोपांग दर्शन न करा सका। विस्तार-भय से उदाहरण तो सर्वत्र छोड़ दिये गये हैं, और उनके लोभसंवरण से मानसिक क्लेश भी कम न हुआ। राम जाने, उदाहरण के आभरण से शून्य ये नग्न-नीरस पंक्ति-प्रतिमाएँ पाठकों के मानस-मन्दिर में प्रतिष्ठित हो सकेंगी या नहीं।

—मासिक 'विक्रम' (उज्जैन) का विशेषाङ्क; आश्विन, संवत् २००१ विक्रमी

•

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

'हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा है'—यह बात जिन महानुभावों के लिए असह्य हो उठी, उन्हीं सज्जनों ने हिन्दीवालों को चिढ़ाने के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द की सृष्टि की। जो महाशय हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गौरव-मंडित सिंहासन पर आसीन देखकर भीतर-ही-भीतर कट रहे हैं, वे ही चाहते हैं कि हिन्दी का मुकुट उतारकर हिन्दुस्तानी के सिर पर सजा दें। पर, यह काम तब तक होने का नहीं जब तक हिन्दी के करोड़ों पृष्ठ-पोषकों के कानों में 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान, सब मिलि बोलो एक जबान' के समान प्राचीन 'प्रतापी' पद की ध्वनि गूँजती रहेगी। हिन्दीवालों को अपने संख्या-बल का अभिमान नहीं है; उन्हें अभिमान है अपनी भाषा (हिन्दी) के सौन्दर्य का। वे हिन्दी की अनिर्वचनीय शक्तियों का ज्ञान रखते हुए दूसरी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में कदापि स्वीकृत नहीं कर सकते। जो लोग यह समझ रहे हैं कि भारत के सभी प्रान्तों के निवासियों के समझने योग्य हिन्दी-भाषा नहीं है या नहीं हो सकती, वे हिन्दी के अलौकिक गुणों से परिचित नहीं हैं। भारत में केवल हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जिसे सभी प्रान्तों के निवासी सुगमता से समझ सकते हैं और बोल भी सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'हिन्दुस्तानी'- नामधारिणी किसी भाषा की आवश्यकता ही नहीं है। हिन्दी स्वयं इतना अधिक समर्थ है कि सभी प्रान्तों के निवासियों के विचार-विनिमय का माध्यम बन सके। बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों की तो कोई बात ही नहीं, हमारे मुसलमान भाइयों के पढ़ने-समझने योग्य हिन्दी भी लिखी जा सकती है और पहले भी लिखी जा

चुकी है। अबतक हिन्दी-भाषा अरबी, फारसी, तुर्की, अँगरेजी, पोर्चुगीज, आदि विदेशी भाषाओं के हजारों शब्दों को पचाकर पर्याप्त शक्ति अर्जित कर चुकी है। इस प्रकार वह मुसलमान भाइयों के साथ-साथ ईसाई और पारसी भाइयों के लिए भी सुबोध होने की पूरी योग्यता रखती है। जैन, बौद्ध और सिक्ख भाइयों की क्या कथा, उनका तो बहुत कुछ साहित्य हिन्दी में भी है। फिर, यह 'हिन्दुस्तानी' बीच में टाँग अड़ानेवाली कौन?

मैं कह चुका हूँ कि हिन्दी को अपदस्थ करने के लिए ही 'हिन्दुस्तानी' नाम की एक नई भाषा गढ़ी गई है, जिसमें न मौलिकता है और न स्वाभाविकता। जिस कार्य की सिद्धि का बहाना करके हिन्दी का रास्ता रोकने के लिए हिन्दुस्तानी खड़ी की गई है, उस कार्य की सिद्धि में स्वयं हिन्दी ही सर्वथा समर्थ है। दूसरी किसी भाषा को कोई अधिकार नहीं कि हिन्दी का ईश्वर-दत्त स्थान छीनने का दुस्साहस करे। अपने देशवासियों को अपने मन की बात समझाने के लिए राष्ट्रपति मौलाना अबुल कलाम आजाद साहब और सीमान्त के गांधी अब्दुल गफ्फार खाँ जिस सरल भाषा का उपयोग करते हैं, वह भी हिन्दी ही है, और अपने गूढ़-गम्भीर समीक्षात्मक विचारों को व्यक्त करने के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिस प्रौढ़ भाषा का सहारा लेते हैं, वह भी हिन्दी ही है। गहन दार्शनिक विचारों को प्रकट करने के लिए हिन्दी में जितनी क्षमता है, उतनी ही क्षमता ठेठ दिहाती किसान को उसके हित की बात सीधी तरह समझाने की भी है। हिन्दी अपने पांडित्य-प्रदर्शन से बड़े-बड़े विद्वानों का भी मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन कर सकती है और अपने सारल्य-सौरभ से अपढ़ किसान के लिए भी हृदयग्राहिणी बन सकती है—चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। कोई कारण नहीं कि हिन्दी में ऐसी अनुपम विशेषता के रहते हुए 'हिन्दुस्तानी' राष्ट्रभाषा बनने का दम भरे या दम्भ करे। भारतवासियों को यदि अपने विचारों के परस्पर आदान-प्रदान के लिए किसी भाषा की आवश्यकता है तो वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है, हिन्दुस्तानी नहीं। हिन्दुस्तानी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। हिन्दी के उत्कर्ष के प्रति जो असहिष्णु हैं, उन्हीं की मनस्तुष्टि के लिए हिन्दी का ही रूप विकृत करके 'हिन्दुस्तानी' नाम रख दिया है। भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों के अनुसार हिन्दुस्तानी नितांत अस्वाभाविक एवं अपरिपक्व है। भाषाओं में उसकी गणना उपहासास्पद है। न उसकी कोई सत्ता है, न आवश्यकता, न उपयोगिता।

मैं हिन्दी की सर्वगुण-सम्पन्नता में दृढ़ विश्वास करता हूँ और उसकी सर्वशक्तिशालिता में भी। हिन्दी पर किसी प्रकार की क्लिष्टता अथवा असमर्थता का लांछन लगाकर हिन्दुस्तानी को स्थानापन्न करने का प्रयास मेरी दृष्टि में अतीव गर्हित है। कभी-कभी यह भुलावा दिया जाता है कि उच्च कोटि की साहित्य-रचना के लिए हिन्दी अपने स्थान पर बनी रहे और लोकभाषा बनने का श्रेय हिन्दुस्तानी को दे डाले। तो क्या हिन्दी में लोकभाषा बनने का गुण या बल नहीं है? हिन्दुस्तानी यदि लोकभाषा हो जायगी तो क्या हिन्दी राष्ट्रभाषा कहला सकेगी? लोकभाषा और राष्ट्रभाषा में क्या आकाश-पाताल का अन्तर है? हिन्दीवाले लोकभाषा और राष्ट्रभाषा का अन्तर भलीभाँति समझते हैं, इसलिए वे कभी भुलावे में नहीं आ सकते। वे साहित्य की भाषा होने का गौरव तो

हिन्दी के सिवा दूसरी किसी भाषा को दे ही नहीं सकते, लोकभाषा होने का महत्त्व भी वे हिन्दी के लिए सुरक्षित समझते हैं। हिन्दी के जीते-जी वे हिन्दुस्तानी को या और किसी भी भारतीय भाषा को लोकभाषा या राष्ट्रभाषा के उपयुक्त नहीं मानते। यह अप्रिय सत्य इतना ज्वलन्त है कि इसका गोपन कभी संभव नहीं।

मैं हिन्दुस्तानी की अनावश्यकता का प्रतिपादन करते समय यह भूला नहीं हूँ कि विदेशी सरकार और स्वदेशी सरकार की सम्मिलित शक्ति का करावलम्बन पाकर ही हिन्दुस्तानी बरबस हिन्दी को घूर रही है। किन्तु, प्रत्येक हिन्दी-भाषाभिमानी का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि अपने राष्ट्र के उन्नायक नेताओं में सम्पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी हिन्दी के अधिकार-हनन का प्रचंड विरोध करे। साथ ही, अपने संगठित प्रयत्नों द्वारा सरकार को भी यह सुझा दे कि हिन्दुस्तानी हमपर बलपूर्वक लादी नहीं जा सकती—हम बहुत पहले से ही हिन्दी को शिरोधार्य कर चुके हैं। 'हिन्दी' नाम हमें इतना अधिक प्यारा है कि राष्ट्रीयता के नाम पर हम उसे 'हिन्दुस्तानी' से बदल नहीं सकते। सरकार या काँगरेस जो काम हिन्दुस्तानी से लेना चाहती है, वही काम हिन्दी से क्यों नहीं लेती? हिन्दी तो हिन्दुस्तानी से भी बढ़कर काम कर सकती है। फिर, नया नाम चुनने का औचित्य क्या है?

कहा जाता है कि नागरी और फारसी लिपियों में समान रूप से लिखी जाने योग्य एक भाषा की आवश्यकता है और वह भाषा हिन्दी न होकर हिन्दुस्तानी हो सकती है। यह झूठा बहाना है। हिन्दी भी ऐसी शैली में सफलतापूर्वक लिखी जा सकती है कि फारसी लिपि बड़ी सुविधा के साथ उसे अपना सके। फिर, हिन्दुस्तानी को 'दही में मूसर' बनाने का क्या अभिप्राय है? वास्तव में वही पूर्वोक्त अभिप्राय है कि कुछ महाशयों और कुछ साहबों को 'हिन्दी' नाम से चिढ़ है और वे अपनी इस चिढ़ को मिटाने के लिए 'हिन्दुस्तानी' नाम लेकर हिन्दीवालों को चिढ़ाना चाहते हैं। इसीलिए, हिन्दुस्तानी के रूप में हिन्दी के मुखड़े पर 'मिट्टी का चेहरा' बाँधा गया है। पर, यह स्वांग टिकाऊ न होगा; क्योंकि कृत्रिम है, नैसर्गिक नहीं।

यदि किसी अनुभवी विद्वान् का यह कथन सत्य है कि 'स्वतंत्रता खोकर भी हमें इतिहास की रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि इतिहास के द्वारा हम स्वतंत्रता पा सकते हैं, पर स्वतंत्रता के द्वारा खोये हुए इतिहास को हम नहीं पा सकते', तो यह कहना भी आपत्तिजनक नहीं माना जाना चाहिए कि राष्ट्रीयता अथवा स्वतंत्रता के नाम पर हमारी भाषा का परम्परागत इतिहास नष्ट करने का अवाञ्छनीय एवं अनिष्टकर प्रयत्न सर्वतोभावेन तिरस्करणीय है। हिन्दी के साथ हमारा सांस्कृतिक सम्बन्ध है और उसके उपेक्षित हो जाने पर हमारा अस्तित्व भी संकटापन्न हो सकता है—हमारी सभ्यता पर कर्कश आघात पहुँच सकता है। इसलिए, यह अनिवार्य हो गया है कि सर्वान्तःकरण से हम हिन्दी का ही पक्षपालन करें और हिन्दुस्तानी से स्पष्ट कह दें कि उसे यदि जीवित ही रहना है तो हिन्दी की छत्र-छाया में विराजनेवाली अवधी, मागधी और शौरसेनी की तरह किसी कोने में बैठकर जीती रहे, हिन्दी से आँखें बराबर न करे।

ऊपर की बातें भावावेश में या भावुकता-वश नहीं लिखी गई हैं। उनमें गर्वोक्तियाँ भी नहीं हैं, प्रत्युत वास्तविक तथ्य यही है। हिन्दुस्तानी चाहे और जो कुछ करे, हिन्दी के मार्ग में कंटक बनकर न अड़े। हिन्दी की गति में वह बाधा नहीं दे सकती। हिन्दी-वाले ठीक समय पर सावधान हो चुके हैं। सरकार उसे फूली-फली देखना चाहती है, तो हिन्दी को इसका कुछ भय नहीं है। काँगरेस उसे बढ़ावा देने पर तुली है तो निकट भविष्य में ही अपनी करनी पर पछतायगी। हिन्दी अपना रूप निश्चित कर चुकी है और उस रूप के परिष्कार एवं संरक्षण में वह सदैव तत्पर रहेगी। वह लोकभाषा के रूप में राष्ट्रीयता का पोषण करके हिन्दुस्तानी को नीचा दिखायगी। स्वतंत्रता की भावना को उन्नत और जाग्रत करने में उसने सब भाषाओं से अधिक काम किया है और आगे भी करेगी। किसी का दुराग्रह उसकी लोकप्रियता में बट्टा नहीं लगा सकता। किसी भाषा की प्रगति से उसका विरोध नहीं है; पर वह अपनी राह के रोड़े के साथ कोई समझौता नहीं चाहती।

—राजेन्द्र-कालेज-पत्रिका (छपरा); सन् १९४१ ई०

●

तुलसी की राम-भक्ति

भक्तिर्मुक्तिविधायिनी भगवतः श्रीरामचंद्रस्य हे
लोकाः कामदुघांघ्रिपद्मयुगलं सेवध्वमत्युत्सुकाः।
नानाज्ञानविशेषमंत्रविततिं त्यक्त्वा सुदूरे भृशं
रामं श्यामतनुं स्मरारिहृदये भान्तं भजध्वं बुधाः॥[1]

भारतवर्ष की सत्रहवीं शताब्दी-सीपी ने एक अनमोल मोती पैदा किया। विश्वधनी की रत्न-मञ्जूषा उस मोती की ज्योति से जगमगा उठी। उस मोती में न जाने कितना आब था! सब रत्न उसके आगे फीके पड़ गये! उस आबदार मोती को, कविता-कामिनी ने, अपना सर्वस्व देकर, क्रय किया। बड़े शौक से नासामौक्तिक पहनकर वह 'मानस-सरोवर' के स्फटिक-स्वच्छ जल में अपना मुँह निहारने चली गई। मानस-तट पर पहुँचकर उसने देखा—

जे स्रद्धा-संबल-रहित, नहिं संतन कर साथ।
तिन कहँ 'मानस' अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥

१. अध्यात्मरामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग १०, श्लोक ४४।

'रघुनाथ' की ऐसी महिमा देखकर वह गद्‌गद-कण्ठ से विनय-वाणी बोली—

जस तुम्हार 'मानस'[1] विमल, 'हंसिनि' जीहा जासु।
'मुक्ताहल' गुन-गन चुनइ, राम! बसहु मन तासु॥

राम तो भाव के भूखे और प्रेम के प्यासे ठहरे—

रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥

झट कविता के मन में बस गये। 'राम' के बसते ही कविता का मन-मन्दिर साकेत का स्वर्ण-सिंहासन हो गया। कविता-कामिनी 'नाक' का मोती पाकर धन्य हो गई! उसने उस रत्न को 'गले का हार' का 'नायक-मणि' बना डाला। फिर 'सुमिरनी' का 'जप-विश्राम' बना लिया। उसी 'जप-विश्राम' का नाम 'तुलसी' हुआ। तुलसी की सुमिरनी के विना राम-नाम का जप कैसा? जप करते-करते कविता तुलसी में तल्लीन हो गई! उसकी आत्म-विस्मृति की अनन्यता असीम हो गई! कविता और मुक्ता की, 'मुक्ता' और 'तुलसी' की, अभिन्नता अमर हो गई! देखिए—

हृदय-सिन्धु 'मति-सीपि' समाना। स्वाती-सारद कहहिं सुजाना॥
जो बरखइ बर-बारि-बिचारू। होंहिं 'कवित-मुकुता[2]-मनि' चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहियहि, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥

तुलसी की अनन्य भक्ति-पुष्पांजलि की अनवरत वृष्टि के आगे भक्ति-भावमयी कविता का नन्दन-कानन फीका-सा जान पड़ता है। 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' के प्रत्येक पद से रामभक्ति का शंखनाद सुन पड़ता है। कहते हैं, विनय-पत्रिका से बढ़कर भक्ति-रस-पूर्ण कोई ग्रन्थ हिन्दी में नहीं है, यह सर्वमान्य मत है। विनय-पत्रिका के एक पद में गोस्वामी जी कहते हैं—

'हे प्रभो! मेरा हृदय आप का घर है। इसमें काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदि डाकू डेरा डाले हुए हैं। घोर उपद्रवी हैं। लाख मना करता हूँ, सुनते ही नहीं। बीचो-बीच निर्जन मार्ग में मुझे सता रहे हैं। कोई पुकार भी नहीं सुनता। भागने से भी जान बचने की आशा नहीं। जल्दी खबर लो। ये लुटेरे तुम्हारा ही घर लूट रहे हैं।'

कहिए, कितनी अच्छी विनोद-पूर्ण विनय है! कैसी दयनीय दीनता है! फिर देखिए—

'हे नाथ, मेरा हठी मन अपनी जिद्द नहीं छोड़ता। लाख शिक्षा देता हूँ, अपनी ही मौज के माफिक काम करता है। जैसे युवती प्रसव-वेदना का दारुण शूल भूलकर प्रसन्नता-

१. उथलहिं 'सीप मोति' उतराहीं। चुगहिं 'हंस' औ केलि कराहीं॥—जायसी
पुरइन सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु 'मनि-सीप' सुहाई॥
अस 'मानस' मानस-चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
जो नहाइ चह यहि सर भाई। तो सतसंग करउ मन लाई॥—तुलसी
२. भगति-सुतिय कल करन-विभूषन। —तुलसी

पूर्वक पुनः पति के साथ रमण करती है, वैसे ही मेरा मन भी भव-भीति को भूलकर संसार में फँस जाता है। लालची कुत्ता जिस प्रकार घर-घर हाँड़ी ढूँढ़ता और मार खाता फिरता है, पर कभी लज्जित नहीं होता, उसी प्रकार यह मूढ़ मन भी कुमार्ग पर ठोकरें खाकर फिर उसी ओर से जाना चाहता है। कोटि यत्न करके हार गया; बड़ा प्रवल है—अजेय है। तुम्हीं उर-प्रेरक हो। यह तभी मानेगा, जब तुम स्वयं इसे मना करोगे।'

प्रार्थना का कैसा अच्छा ढंग है! स्वामी को रिझाने की कितनी सुन्दर रीति है! ऐसे ही अनेक पद हैं; पद क्या हैं, प्रेम-महानद हैं; धारा शान्त है, जल शीतल है, तरंगें उज्ज्वल हैं, प्रवाह अगाध है, तट रमणीय हैं। एक बार भी अवगाहन कर लीजिए, पवित्रता पिण्ड न छोड़ेगी, आनन्द रोम-रोम में रम रहेगा।

'रामचरित-मानस' में जहाँ-कहीं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र का खास प्रसंग आया है, वहाँ अपनी राम-भक्ति का परिचय देने में गुसाँईजी जरा भी नहीं चूके हैं। बीहड़ से बीहड़ और ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भी राम-भक्ति से लदा हुआ कविता-शकट निर्विघ्नतापूर्वक खींच ले गये हैं। सचमुच, उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया है। शायद, उन्हें इस बात की आशंका थी कि भविष्य में बड़े-बड़े तर्कशास्त्री उत्पन्न होंगे। इसीलिए, वे राम-प्रसंग में सर्वत्र अतिशय सावधान देख पड़ते हैं। उन्हें हमेशा सन्देह बना रहता था कि हमारे पाठक कहीं रामचन्द्रजी का ईश्वरत्व भूल न जायँ। पाठकों के मन में किसी प्रकार की शंका उत्पन्न होने की संभावना देखते ही वे सावधान हो जाते थे, और उस संदिग्ध स्थल पर, श्री रामचन्द्र का अतुलनीय ऐश्वर्य्य और प्रभुत्व वर्णन करके, पाठकों को इस तरह प्रभावान्वित कर देते थे कि कम-से-कम उनके मन को अवश्य ही पूर्ण संतोष हो जाता था। विना पूर्ण सन्तोष प्राप्त किये, वे आगे बढ़ते ही न थे।

गुसाँईजी के इस दैन्य में गजब का जादू है। ऐसी अविरल राम-भक्ति, ऐसी अलौकिक रामोपासना, इतनी शीतल दीनता, इतनी मधुर विनय, कहीं ढूँढ़े भी नहीं मिलती। उन्होंने विनय-पत्रिका में सभी देवताओं की विनती करके केवल निष्काम राम-भक्ति की याचना की है। 'रामचरित-मानस' में भी देवता, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, भूत, प्रेत, पिशाच, ऋषि, मुनि, भक्त, कवि, मनुज, दनुज, संत, असंत, चराचरमात्र से एकमात्र निष्काम राम-भक्ति के लिए ही प्रार्थना की है। समस्त जगत् को 'सियाराममय' जानकर सादर-सविनय प्रणाम किया है। जहाँ निर्गुण ब्रह्म और आत्म-ज्ञान की चर्चा करने लगे हैं, वहाँ भी—उस सन्नाटे में भी, उस चतुर्दिक् शून्य अनन्त विकट मार्ग में भी—राम-भक्ति की गठरी सिर पर रखे निःशंक सानन्द चले गये हैं और तारीफ यह कि अन्तिम लक्ष्य-पर्यन्त सकुशल पहुँच गये हैं।

मालूम होता है, गुसाँईजी ने अध्यात्म-रामायण की प्रणाली का अनुसरण किया है। अध्यात्म-रामायण शिवजी की बनाई हुई है। शिवजी में गुसाँईजी की बड़ी श्रद्धा थी। वे उनको राम-भक्ति-दाता मानते थे। उन्हें साक्षात् विश्वास-रूप माना है। इसलिए, अपने 'मानस' की कथा का आधार अधिकतर अध्यात्म-रामायण को ही रखा है। कहीं-कहीं 'अध्यात्म' और 'मानस' की कथा की गति में भेद है। नहीं तो, आद्यन्त

समानता है। वाल्मीकीय रामायण में श्री रामचन्द्रजी का ईश्वरत्व प्रच्छन्न है। इसलिए, उसका सहारा बहुत कम लिया है।

अध्यात्म-रामायण में, बाल-लीला के प्रसंग में, लिखा है—

धावत्यपि न शक्नोति स्प्रष्टुं योगिमनोगतिम्।[1]

इसी तरह गुसाँईंजी ने भी लिखा है—

कौसल्या जब बोलन जाई, ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई।
निगम नेति सिव अन्त न पावा, ताहि धरै जननी हठि धावा।

अध्यात्म-रामायण में, चित्रकूट के प्रसङ्ग में, लिखा है—

वसिष्ठः शान्तवचनैः शमयामास तां शुचम्।
ततो मंदाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः॥[2]

गुसाँईंजी ने भी लिखा है—

करि पितुक्रिया वेद जस बरनी, भे पुनीत पातक-तम-तरनी।
जासु नाम पावक अघ-तूला, सुमिरत सकल सुमंगल मूला।
सुद्ध सो भयउ साधु सम्मत अस, तीरथ आवाहन सुरसरि जस।

इसी प्रकार दो-चार उदाहरण और देखिए—

शूर्पणखा की शिकायतें सुनकर रावण सोचता है—

वध्यो यदि स्यां परमात्मनाऽहं, वैकुण्ठराज्यं परिपालयेऽहं।
विरोधबुद्ध्यैव हरिं प्रयामि, द्रुतं न भक्त्या भगवान् प्रसीदेत्॥[3]

× × ×

खर दूषन मो सम बलवंता, तिन्हैं को मारै बिनु भगवन्ता।
सुर-रंजन-भंजन महि-भारा, जौ जगदीस लीन्ह अवतारा।
तौ मैं जाइ बैर हठि करिहौं, प्रभु सर ते भवसागर तरिहौं।
होइ भजन नहिं तामस देहा, मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा।

मेघनाद द्वारा हनुमान जी के बाँधे जाने पर अध्यात्म में लिखा है—

यस्य नाम सततं जपंति येऽज्ञानकर्मकृतबंधनं क्षणात्।
सद्य एव परिमुच्य तत्पदं यांति कोटिरविभासुरं शिवम्॥

---

१. बालकाण्ड, सर्ग ३, श्लोक ४९।

२. अयोध्याकाण्ड, सर्ग ९, श्लोक १७।

३. अध्यात्म०, अरण्यकाण्ड, सर्ग ५, श्लोक ६०-६१।

तस्यैव रामस्य पदाम्बुजं सदा हृत्पद्ममध्ये सुनिधाय मारुतिः ।
सदैव निर्मुक्तसमस्तबंधनः किं तस्य पाशैरितरैश्च बंधनैः ॥[१]

अब इसी को गोस्वामीजी संक्षेप में दुहराते हैं—

जासु नाम जपि सुनहु भवानी, भव-बंधन काटहिं मुनि ज्ञानी ।
तासु दूत बंधन तर आवा, प्रभु कारज लगि आपु बँधावा ।

इसी प्रकार अध्यात्म में (लंकादाह के बाद) सुन्दर-काण्ड के चौथे सर्ग के अन्त में लिखा है—

यन्नाम संस्मरणधूतसमस्तपापास्तापत्रयानलमपीह तरंति सद्यः ।
तस्यैव किं रघुवरस्य विशिष्टदूतः संतप्यते कथमसौ प्रकृतानलेन ॥[२]

इतने बड़े मजमून को गुसाँईजी ने एक ही चौपाई में बाँधा है—

जाकर अनल भक्त तेहि सिरजा । जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ॥

अध्यात्म में बालि के मुख से भी श्री रामचन्द्र का ईश्वरत्व प्रतिपादित कराया गया है । तारा से बालि ने कहा है—

रामो नारायणः साक्षादवतीर्णोऽखिलप्रभुः ।
भूभारहरणार्थाय श्रुतं पूर्वं मयानघे ॥[३]

फिर बालि ने अन्त समय में स्वयं रामजी से ही कहा है—

यन्नाम विवशो गृह्णन् म्रियमाणः परं पदम् ।
याति साक्षात्स एवाद्य मुमूर्षोर्मे पुरः स्थितः ॥[४]

इन्हीं बातों को गुसाँईजी ने भी बालि से कहवाया है—

कहा बालि सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ ।
जो कदापि मोहि मारिहैं, तौ पुनि होब सनाथ ॥

पुनश्च—

जासु नामबल शंकर कासी । देत सबहिं सम गति अबिनासी ॥
मम लोचन गोचर सो आवा । बहुरि कि अस प्रभु बनै बनावा ॥

ऐसे ही सैकड़ों उदाहरण हैं । किन्तु, यहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाववाली सभी रचनाएँ उद्धृत करना अभिप्रेत नहीं है । आशय केवल इतना ही है कि प्रत्येक प्रसंग में श्रीरामचन्द्र के

१. सुन्दरकाण्ड, सर्ग ३, श्लोक ९९-१०० ।
२. श्लोक ४४ ।
३. किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग २, श्लोक ३५-३६ ।
४. वही; श्लोक ६७ ।

ईश्वरत्व का समर्थन करके गुसाँई जी ने अपनी अमोघ राम-भक्ति को चरितार्थ किया है। कहीं-कहीं भक्ति-भागीरथी की वेगवती धारा में स्वाभाविकता बह गई है, आदर्श मानव-चरित्र-चित्रण का सौष्ठव कुछ कम हो गया है और पाठकों के संदिग्ध हो जाने की शंका सघन हो उठी है।

वे प्रत्येक प्रकरण में, पग-पग पर, पाठकों को सचेत करते गये हैं कि याद रहे श्री रामचन्द्र पूर्ण ब्रह्म के पूर्णावतार हैं; लोकोपकारार्थ नर-लीला कर रहे हैं।

बाल-लीला का वर्णन करते हुए विद्याभ्यास के समय लिखते हैं—

जाकी सहज स्वाँस श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥

फिर उसी प्रसंग में मृगया को लक्ष्य करके लिखते हैं—

जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि हरि-लोक सिधारे॥

मुनिवर विश्वामित्रजी के अस्त्रदान पर कहते हैं—

तब ऋषि निज नाथहिं जिय चीन्हा। विद्यानिधि कहँ विद्या दीन्हा॥

ऋष्याश्रम-निवास के समय—

भक्ति हेतु बहु कथा पुराना। कहें विप्र यद्यपि प्रभु जाना॥

जनकपुर की रंगशाला में—

लव निमेष महँ भुवन-निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥
भक्त हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुष-मखसाला॥
कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलम्ब त्रास मन माहीं॥
जासु त्रास डर कहँ डर होई। भजन प्रभाव दिखावत सोई॥

पुनः गुरुवर की सेवा के समय—

मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई। लगे चरन-चाँपन दोउ भाई॥
जिनके चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग विरागी॥
ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरु-पद-कमल पलोटत प्रीते॥

अब अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक काण्ड के प्रत्येक प्रसंग में ऐसे-ऐसे अनेक उदाहरण सहज सुलभ हैं। बात-बात में भक्ति का पुट है। पग-पग पर ईश्वरत्व का संकेत है। हर जगह दीनता और दासता की सूचना है।

प्रसंगानुकूल घटना की घनघोर घटा घिर आती है, उसमें रह-रहकर भक्ति-भावना की दामिनि-द्युति दमक उठती है। कथा-वर्णन की धवल धारा बहती चली जा रही है। एकाएक भक्ति का भँवर पाठकों को आत्म-विस्मृति के अगाध गर्भ में दबोच देता है।

श्री रामचन्द्र का सौंदर्य-वर्णन करने लगे हैं, सुध-बुध खो बैठे हैं। अपने साथ-साथ भावुक वाचक-वृन्द को भी ले बीते हैं। अद्भुत सृष्टि है। अभूतपूर्व दृश्य है। आलम

ही निराला है। भक्ति-रस का ऐसा लबालब प्याला जिस-किसी रसज्ञ के होठों से लग जायगा; कृतकृत्य हो जायगा; जीवन्मुक्त हो जायगा; इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं। वह भक्त-प्रवर नारद की तरह अनायास कह उठेगा—

अहं त्वद्भक्तभक्तानां तद्भक्तानाञ्च किङ्करः।
अतो मामनुगृह्णीष्व मोहयस्व न मां प्रभो॥[१]

—मासिक 'सम्मेलन-पत्रिका' (प्रयाग); भाग १२, अङ्क १; भाद्रपद, संवत् १९८१ वि०

•

नाटक

प्रत्यंकमंकुरितसर्वरसावतारनव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजिबन्धम्।
घर्मेतरांशुरिव वक्रतयातिरम्यं नाट्यप्रबन्धमतिमञ्जुलसंविधानम्॥[२]

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्रलोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥[३]

साहित्य—राष्ट्र की सुपुष्ट भित्ति है। साहित्य-सरोवर काव्य-कोकनद की लालिमा से रंजित है। सुकाव्य की स्तुति सुनिए—

सा कविता सा वनिता, यस्याः श्रवणेन दर्शनेनापि।
कविहृदयं विटहृदयं सरलं तरलं च सत्वरं भवति॥[४]

---

१. अध्यात्म०, अयोध्याकाण्ड, सर्ग १, श्लोक ३०।

२. (नाटक के) प्रत्येक अंक में उत्पन्न होनेवाले नव-रसों से युक्त, (कल्पना)—कुसुमों की माला से सुन्दरतापूर्वक बँधा (सजा) हुआ और चन्द्रमा के समान वक्रता (वक्रोक्तियों) से अत्यन्त रमणीय (प्रतीत होनेवाला) नाट्य-प्रबन्ध ही वस्तुतः मनोरंजन का साधन है।

३. मुनि लोग नाटक को देवताओं का नेत्र-महोत्सव (चाक्षुष यज्ञ) मानते हैं। शिवजी ने इसको दो प्रकार से अपने शरीर (अर्द्धनारीश्वर-रूप) में विभक्त किया है। नाटक में नाना प्रकार के रसों से युक्त, सत्-रज-तम—तीनों गुणों के, लोकचरित देखे जाते हैं। इस प्रकार, नाटक विभिन्न रुचि के मनुष्यों के मनोविनोद का एकमात्र आकर्षक साधन है।

४. (वास्तव में) कविता वही है और ललना वही है, जिसके (क्रमशः) सुनने और देखने से ही कवि और कामी का हृदय तुरन्त ही द्रवीभूत और चंचल हो उठता है। —ले०

दृश्यकाव्य—नाटक—काव्यकमल की श्री तथा सुगन्धि है। साहित्य का सर्वप्रधान—उत्तमोत्तम—अंग है 'नाटक'। नाटक का गुण क्या है, असल रूप कैसा हो, सो नीचे लिखे हुए श्लोक से पूछिए—

> मृदु-ललित-पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम्
> जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
> बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
> स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्॥[1]

दृश्यकाव्य में जो सजीवता, ओजस्विता और मनोहारिता है, वह संभवतः साहित्य के किसी अङ्ग में यथेष्ट रीति से नहीं पाई जाती। इसका प्रभाव बड़ा हृदयग्राही है। जो महत् कार्य शत-शत लेखकों की लेखनी से, सहस्र-सहस्र व्याख्याताओं की गवेषणापूर्ण वक्तृताओं में, सिद्ध नहीं हो सकता, अनेकानेक सम्भावना है कि वही कार्य्य केवल एक उच्चादर्शपूर्ण शुद्ध नाटक द्वारा अल्पकाल में सहज ही सफल हो जा सकता है।

नाटक की ओर आजकल सर्वसाधारण शिक्षित-समुदाय की यथोचित अभिरुचि नहीं पाई जाती। यह कार्य्य अब केवल पेशेवाले, दुर्व्यसनी और लम्पट मनुष्यों के ही हवाले सब तरह से सौंप दिया गया है।

विशालाशय-संयुक्त नाटक का प्रभाव वर्णनातीत है। मरुस्थल में मन्दाकिनी बहानेवाला यही है। सूखी लकड़ी में भी पल्लव-पुष्प पनपानेवाला यही है। ऊषर भूमि पर भी शस्यमंजरी उगानेवाला यही है। विश्व-चित्रकार के चारु चित्रों का वस्तुतः प्रतिविम्ब उतारनेवाला यही है। सच्चरित्र-चित्र-चित्रण में विचित्र नैपुण्य दिखलानेवाला यही है।

यदि कोई जागृति का सम्यक् रूप से संचार करनेवाला सर्वोत्तम साधन और अव्यर्थ प्रयत्न है, तो यही है। अलौकिक जोरदार शक्ति और विलक्षण क्षमता केवल नाटक में ही इसलिए मानी जाती है कि जो कार्य राजाज्ञा द्वारा भी सिद्ध होता नहीं पाया जाता है; वही कार्य, बात की बात में, नाटक द्वारा सफल होता देखा गया है।

नाटक की अपार शक्ति का पूर्ण परिचय और इसका यथोचित आदर करने की बुद्धि उसी जाति को प्राप्त है, जिसकी सत्ता अभी ज्वलन्तरूपेण जीती-जागती है—जो जातीय घुड़दौड़ में लम्बी-लम्बी सरपटें भर रही है—जो ऐतिहासिकों की कनिष्ठा अँगुली पर सबसे पहले बैठने की योग्यता रखती है और जो अपनी जगज्जयिनी तलवार केवल न्याय की रक्षा के लिए ही म्यान से खींचती है। सच पूछिए, तो नाटक में संजीवनी शक्ति है।

कायर को शूर बनानेवाला यही है। नारकी को तपस्वी बना देनेवाला यही है। असज्जन को सज्जन, विलासी को संन्यासी, पाषाण को पुष्प, नीरस को सरस, शुष्क को

१. कोमल और ललित पदों से युक्त, गूढ या कठिन शब्दों और अर्थों से रहित, साधारण जनों के लिए सुगम, भावपूर्ण नृत्यों से शोभित, विविध प्रकार से रसों की पुष्टि करनेवाले और (दृश्यों को) सन्धि नामक बन्धों से सम्बद्ध जो नाटक है, वही दर्शकों के लिए आकर्षक और सुखवर्द्धक होता है। —ले०

आर्द्र, निष्ठुर को करुण-कातर, विरक्त को अनुरक्त, विचलित को दृढ़, चपल को सुस्थिर, अधःपतित को समुन्नत, निर्वीर्य्य को पुरुषार्थी और निद्रालु को सचेत एवं सशक्त बना देनेवाला यही है। महामहोपदेशकों की वाणी में कदापि वह विद्युन्निभ शक्ति नहीं है, जो सुसभ्य विद्वन्मण्डली द्वारा अभिनीत उदाराशय नाटक में है।

यदि देशवासियों में बिजली-सी अपूर्व जागृति दौड़ाने की आवश्यकता है—यदि मोह-निद्रा में सोते हुए लोगों को कान पकड़कर उठाना है—यदि भूले-भटके भाइयों को बहकने न देकर सच्ची राह पर लाना है—समाज की नस-नस की रक्त-संचालन-क्रिया बन्द कर देनेवाली घिनौनी कुरीतियों का सम्मार्जन वा परिमार्ज्जन करना है—अखिल जनता के चित्त-पट पर धर्म, कर्त्तव्य और नीति-समुच्चय के गूढ सिद्धान्तों का चित्र खींचना है—अपरञ्च, यदि असम्भव बात को भी सम्भव कर दिखलाने की शक्ति अर्जन करना है, तो सत्पात्रों द्वारा सद्विचारपूर्ण नाटकों के निष्कलंक अभिनय के प्रचार करने की आवश्यकता है।

जिस देश में नाटक का प्रचार नहीं है, जिस जाति में नाटक का समुचित समादर नहीं है, जिस जाति के साहित्याकाश में नाटक-नवेन्दु की सुधा-मधुर मरीचियों का विकास-प्रकाश नहीं है, जिस देश के साहित्य में उच्चतम आदर्श का समावेश नहीं है, और, जो जाति नाटक-जैसे साहित्य-सागर-रत्नोपम विषय की विशद उपयोगिता समझने की बुद्धि नहीं रखती, उस देश तथा उस जाति में भला सहृदयता, सजीवता, समप्राणता, एकैकता, सभ्यता, साहित्यानुरागिता, विद्यारसिकता इत्यादि प्रधान और श्लाघ्य गुण कहाँ हैं?

ऐसी स्थिति में, अब भला वह जाति, जिसमें अच्छे-अच्छे नाटकों का प्रचार नहीं है, सभ्य क्योंकर कहलायगी? सचमुच वह देश शून्यारण्य किंवा श्मशान से भी बढ़ा-चढ़ा है, जहाँ शुद्ध परमोत्कृष्ट एवं चित्तप्रसादक नाटकों का अभिनव अभिनय नहीं होता। जिस देश के विद्वानों में, साहित्यप्रेमियों में, नाटक की चर्चा-अर्चा नहीं होती, वह देश निःसन्देह पुच्छ विषाण-विगत पशुओं का है, न कि सभ्य मनुष्यों का।

जिन महात्माओं ने देश, जाति, समाज, एवं साहित्य के उद्धार तथा संवर्द्धन के लिए चेष्टा की है, उनकी सम्मति में तो नाटक को, साहित्य-संसार के अंदर वही दिव्य उच्चासन—वही मान्यास्पद सिंहासन—मिलना चाहिए, जो दैत्यों में प्रह्लाद, रामाश्रितों में हनुमान, ज्ञानियों में भगवान शुकाचार्य, प्रताप-वलितों में रावण, सती देवियों में साध्वी सीता, सुन्दरी प्रेमिकाओं में राधिका, पर्वतों में नगराज हिमाचल और नदियों में पुण्यतोया भागीरथी को प्राप्त है।

हमारे देशवासी चाहे लाखों बार श्रीमद्भागवत, श्रीमद्रामायण और महाभारत के पन्ने पलट जायँ, किन्तु उतने लाघव से उनके चित्तपट पर तत्रोल्लिखित चित्र अंकित नहीं हो सकते, जितनी शीघ्रता से नाटक के अभिनय द्वारा चित्रित किये जा सकते हैं। किम्बहुना, नाटक का असर बड़ा ही चुटीला होता है। प्रेमी दर्शकों के हृदय-क्षेत्र में भावुकता, एकाग्रता, तल्लीनता एवं अनुभवगम्यता का बीजारोपण-सा हो जाता है। चित्त-भित्ति पर जो भाव खचित हो जाते हैं—मानस-पत्र पर जो चित्र उरेहे जाते हैं, वे सदा के लिए अमर हो जाते हैं।

इन्हीं सब प्रबल कारणों के वशीभूत होकर अनर्गल रूप से यह कहना पड़ता है—कदाचित् यह कहना भी कदापि असंगत और अतिशयोक्ति नहीं समझा जायगा—कि जिस देश वा जाति के साहित्य में वीर, शान्त, करुण एवं प्रेम-रस-पागे फड़कते हुए नाटकों का खासा अभाव है, वह साहित्य मानों 'निर्गन्धा इव किंशुकाः', राकेश-रहित रजनी, विद्युल्लता-हीन मेघमण्डल, मंदाकिनी-हीन मेदिनी, बाणशून्य तूणीर, खड्गशून्य रणधीर वीर, केसरी-किशोर-शून्य गिरिगह्वर और मधुरिमाशून्य वाणी के तुल्य है।

देखिए तो सही, मनीषि-मंडली-मण्डन श्रीमान् काव्य-मंजरी-मिलिन्द श्रीधर पाठक जी, इस विषय में, ब-हैसियत सभापति गत पंचम साहित्य-सम्मेलन, कैसी अच्छी सम्मति प्रकट करने की उदारता दर्शाते हैं—

"हिन्दी में गिनती के कै नाटक हैं, जिनपर वह अपने स्वत्व का अभिमान कर सकती है? ऐसा बोध होता है कि साहित्य के इस अंग की उपयोगिता को हिन्दी-भाषी समझते ही नहीं। आप बंगाल, महाराष्ट्र, मदरास, गुजरात जाकर देखिए, तो नित नये नाटक, नाटिका, प्रहसन जन्म पाते और रंगशाला में रंग जमाते नजर आते हैं। विशेषकर बंगाल में तो नवीन नाटक का निर्माण और अभिनय एक सामान्य बात है। ये अभिनय मानव-आचरणों से संजनित श्रद्धेय सिद्धांतों के स्थिरीकरण द्वारा जगत् का जो हित-साधन कर सकते हैं, वह अननुमेय है। कितनी जल्दी इनसे चरित्र-संगठन और समाज-निर्माण और कुत्सित प्रथाओं का संमार्जन हो सकता है, सहृदय जन विना कठिनता के समझ सकते हैं। जो काम धर्म-सूत्रों से शताब्दियों में नहीं होते दीखते, वे उत्तम नाटक के एक अभिनय से सम्भव हैं। सार्वजनिक उन्नति के ऐसे अमोघ साधन पर इतनी उपेक्षा हमारी बड़ी निर्बलता का साक्ष्य दे रही है। यह उपांग हमारे साहित्य का शीघ्र ही परिपूर्ण होना चाहिए।

"कोई तेरह-चौदह बरस हुए मुझे सरकारी सम्बन्ध से दक्षिण के दूरवर्त्ती कई एक सभ्य नगरों में जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। इन नगरों में कोई तो हमारे प्रयाग, कानपुर, आगरा से जनसंख्या में कहीं छोटे थे। तथापि, प्रत्येक नगर में एक से अधिक नाट्यशाला देखने में आई, जिनमें बारहों महीने अभिनय होते रहते हैं।

"भारत की राष्ट्र-भाषा होने का गर्व और गौरव रखनेवाली हिन्दी के आदिम स्थान संयुक्त-प्रांत में बताइए कितने नाट्यगृह हैं कि जहाँ उस भाषा के उत्तमोत्तम नाटक अभिनीत होते हों। क्या इस प्रांत के मुख्य-मुख्य नगरों में नाट्यशालाओं का न होना हमारी हीनता का पूरा प्रमाण नहीं है और खेलने लायक उत्तम नाटकों का अभाव उस हीनता को स्थिर रखने का हेतु नहीं है? इस प्रसंग में प्रत्येक देशहितैषी हिन्दी-भाषी की सचेष्टता अपेक्षित है। उत्तम अभिनयों द्वारा धनिकों की साहित्य-रुचि परिवर्त्तित कर इस महान् लोकोपकारी कार्य्य के लिए हमें शीघ्र ही प्रवृत्त होना उचित है। इसकी सिद्धि के लिए हमें प्रण कर लेना चाहिए कि कम-से-कम एक नवीन उत्तम नाटक और एक उत्तम प्रहसन प्रतिवर्ष प्रकाशित और अभिनीत किया जाय; और नये नाटकों की रचना में इस बात पर सदा दृष्टि रहनी चाहिए कि वे इस क्रम से बनाये जायँ कि उनसे हिन्दू,

मुसलमान, क्रिस्तान सभी में परस्पर प्रीति का संचार हो, (करतलध्वनि) जिससे कि देश के प्रत्येक व्यक्ति में भारतीयता उत्पन्न होकर नित्य-नित्य प्रबल पुष्टि पाती जाय।"

वाचकवृन्द ! आशा है कि ऊपर लिखी हुई पंक्तियों को पढ़कर मेरे लेख का सारांश आप अवश्यमेव ग्रहण कर लेंगे। अक्तूबर सन् १६१५ ई० की 'सरस्वती' तथा 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' की मार्च-अप्रैल सन् १६१४ ई० वाली संख्या में नाटक-विषयक अच्छे लेख निकले थे। गत सितम्बर की 'लक्ष्मी' में साहित्य की चर्चा करते हुए मेरे मित्रवर बाबू शुकदेव सिंह ने भी अपने लेख के अन्त होते-होते तक नाटक पर एक प्रकाशपूर्ण दृष्टि डाली है। उसमें नाटक की उपादेयता का यथा-तथ्य वर्णन किया गया है। समय-समय पर सामयिक मासिक पुस्तकों में नाटक-सम्बन्धी कुछ-न-कुछ चर्चा हुआ ही करती है—चाहे वह विस्तृत या संकुचित ही क्यों न हो। सब कुछ होने पर भी, उत्तेजना के साथ, जाग्रत उत्साह के साथ, उत्तम-उत्तम नाटकों की रचना का श्रीगणेश नहीं होता, उपदेश-गर्भित हास्यरसाप्लुत प्रहसनों का प्रकाशन-कार्य कोई साहित्य-सेवी अपने हाथ में लेता नहीं नजर आता, वीर-रस से चुहचुहाते हुए नाटकों के लिए कोई कलम बोरते हुए भी नहीं देखा जाता, किसी हिन्दी के समाचार-पत्र में नई-नई नाट्य समितियों की स्थापना की सूचना देखने में नहीं आती, किसी ओर से हिन्दी-नाटकों के अभिनय का और उसकी किंचिदपि सफलता का समाचार नहीं आता। यह सब बातें हिन्दी प्रेमियों के लिए कैसी लज्जा-भरी हैं, सो हम बतलाने का साहस नहीं कर सकते। खाली विषय की उपयोगिता बतलानेवाले लेखों से ही काम नहीं चलने का। नाटक से यह होगा, वह होगा, धरती कँपेगी, आसमान फट पड़ेगा और युगान्तर उपस्थित हो जायगा इत्यादि लम्बी-चौड़ी डींग हाँकने और व्यर्थ की बकझक लगाये रहने से सपने में भी कुछ कार्य नहीं सरेगा। एतद्विषयक समग्र विचार-सूत्रों को समष्टि रूप में एकत्र द्विगुणित प्रति-द्विगुणित करने से, सारांश यह कि विचारों को साक्षात् कार्य्य-रूप में परिणत करने से ही मन की मैल धुलेगी।

पाठक-प्रवर ! विचारिए और हिन्दी-माता के इस प्रश्न का उत्तर दे डालिए; क्योंकि उसने बहुत दिनों से आशा लगा रक्खी थी; किन्तु आज समझने जा रही हैं कि 'नैराश्यं परमं सुखम्'। अगर आप लोगों में साहस जरा भी बच गया हो तो आगे बढ़िए, माता का अंचल धरकर रोकिए और उसे भरने का वचन दे आश्वासित कीजिए।

कीर्त्तिमती 'सरस्वती' के अलंकर्त्ता एक धुरन्धर लेखक की लेखनी से प्रसूत 'नाट्य-शास्त्र' का, जो प्रयागस्थ इंडियन प्रेस से छपकर प्रकाशित हुआ है, अवलोकन करने के लिए हम अपने प्रिय पाठक महोदयों से सानुरोध निवेदन करते हैं। उसके अलावा, वह साफ-साफ शब्दों में कहने को तैयार है कि सभ्य देशवासी सज्जनों की सर्वतोभावेन विशुद्ध 'मनोरंजन-सामग्री' नाटक से बढ़ी-चढ़ी कोई दूसरी इस जगतीतल पर नहीं है।

नाट्यकला क्या चीज है—इसका अधिकारी कौन बन सकता है?—नाटक की सृष्टि क्यों अनिवार्य्य और सर्वापेक्षा परमावश्यक समझी गई थी और अब तक भी समझी जा रही है—नाटक-साहित्य भगवान का कितना बड़ा अनन्योपासक तथा अविचल प्रेमी

भक्त है—नाटक, भावसागर-मंथनकारी मन्दराचल क्यों कहा जाता है, इन प्रश्नों का यथेच्छ उत्तर नाट्यशास्त्रावलोकन-मनन, में सन्निविष्ट है।

जो लोग नहीं जानते कि साहित्य किस चिड़िया का नाम है, वे ही लोग अपने मन में समझे बैठे हैं कि नाटक खेलनेवाले और नाटक देखनेवाले, दोनों ही बदमाश, आवारे, लावैरे, निकम्मे, लेंढ़ाबसन्त और विद्या-विमुख हुआ करते हैं अथवा हो जाते हैं। यद्यपि यह बात नितान्त निर्मूल और भ्रान्तिपूर्ण है; तो भी आजकल की मण्डलियों को देखते हुए—थियेट्रिकल कम्पनियों और लीला-मण्डलियों की समालोचना करते हुए—यह बात निर्विवाद सिद्ध समझी जा सकती है। जब तक कोई ज्वलन्त उदाहरण इस बात का सबके सामने उपस्थित नहीं किया जायगा कि नाटक में ऐसी शुद्धता, विमलता, रंजकता, स्निग्धता, सुष्ठुता, रसज्ञता, मनोज्ञता, सर्वप्रियता और अलौकिकता है, तब तक सम्भव नहीं है कि सब लोग इसकी ओर अपनी रुचि प्रेरित करेंगे।

समझने की बात है कि नाटक यदि कोई दूषित कार्य्य रहता तो प्रातःस्मरणीय भारतेन्दु, कवि-कान्ति मिश्र प्रतापनारायण, काव्य-कुमुदेन्दु राजा लक्ष्मण सिंह और वैश्य-वंशावतंस लाला शालग्राम-जैसे विद्वच्चक्र-चूड़ामणि, पुरुष-शार्दूल क्यों इस वृत्त को अपनी कीर्त्ति-वाटिका में आरोपित करने का श्रम उठाते? बात तो दरअसल यह है कि उपर्युक्त महानुभावों ने इस विचार से नाटक लिख छोड़ा था कि हमारी भावी सन्तान इसका सदुपयोग करेगी; किन्तु उलटे ही उसका फल ऐसा हुआ कि वैसे-वैसे रत्न पैदा करने की शक्ति यदि अपने में नहीं भी रही, तो हम पुराने ढकोसले की चपेट में पड़कर और निठल्लू बनकर अपनी बपौती सम्पत्ति का भी यत्किंचित् आदर करने से वंचित रहे।

दूर की बात जाने दीजिए, अभी-अभी जो 'हिन्दी-प्रदीप' का निर्वाण हो चुका है, उसके माननीय वयोवृद्ध सम्पादक श्रद्धेय श्रीमान् पंडित बालकृष्ण भट्ट जी वह नाटक देखने चले गये थे, जिसमें गन्धर्व-राज चित्ररथ-सा नायक और विश्व-विमोहिनी बाला उर्वशी-सी नायिका का स्वर्गीय अभिनय हुआ करता है। आपको हिन्दी-संसार के अन्दर जैसा नाटक का व्यसन था—नाटक में जैसी श्रद्धा, मनोनुकूलता और दर्शनोत्कण्ठा थी, वह एक मुख से कही नहीं जा सकती। जरा-जर्जर शरीर होने पर भी आप शुद्ध हिन्दी-नाटक के नवाभिनय को देखने के लिए रात-रात भर जागरण किया करते थे। आपका प्रहसन[1] हिन्दी-संसार में बेजोड़—लासानी—समझा जाता है। आप के ही अनवरत उद्योग से हिन्दी-केन्द्र-स्थल हिन्दी-साहित्य-दुर्ग प्रयाग में एक विश्व-विश्रुत नाट्य-संस्था खुली थी। उसमें आप भी अभिनय-कार्य-सम्पादन कर चुके हैं और भारत-जननी-दुलारे माननीय मालवीयजी को भी उक्त नाट्य-समिति के अभिनेतृ-मण्डल में स्थानापन्न होने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। आज भी वह हिन्दी-नाट्य-समिति आधुनिक हिन्दी-संसार के भीतर एक ही संस्था गिनी जाती है। बात भी ऐसी ही है। भारतवर्ष के अन्दर किसी दूसरी ऐसी नाट्य-समिति की स्थिति सर्वसाधारण की दृष्टि-तले नहीं पड़ती, जो उपर्युक्त नाट्य-समिति की भाँति केवल हिन्दी के ही शुद्ध और आदर्श-युक्त नाटकों का अभिनय करती हो।

---

१. 'सौ अजान और एक सुजान'।

भट्टजी का नाम अजर-अमर रखने के लिए हिन्दी-संसार में जो अमूल्य सामग्रियाँ हैं, उनमें सबसे पहली नहीं, तो 'हिन्दी-प्रदीप' के उपरान्त, यही नाट्य-समिति अवश्य गिनी जायगी।

अतः, हिन्दी के माथे जो यह कलंक की बिन्दी लगी हुई है कि हिन्दी में शुद्धादर्श, उच्चाशयपूर्ण नाटकों का अभिनय विद्वन्मंडली द्वारा अभिनीत नहीं होता, हिन्दी-साहित्य-प्रेमी उत्तम नाटकों का गुण नहीं जानते, हिन्दी-संसार में ऐसा कोई अभिनेतृ-समाज नहीं है, जिसमें अच्छे-अच्छे विद्वान् सम्मिलित हों, हिन्दी-नाटक खेलने के लिए कोई रंगशाला नहीं है—इत्यादि कलंक की छापों को धोनेवाले इस उपहासास्पद अपवाद के प्रबल प्रवाह को मोड़ने में समर्थ यदि कोई सद्गुणोपेत मण्डली है तो वही उपर्युक्त. जिसके अभिनेतृ-नक्षत्र-मण्डल के शोभन शशधर हैं—आशुकवि राष्ट्रीयता-रक्षक पं० माधव शुक्ल, पं० महादेव भट्ट, पं० जनार्दन भट्ट, एम्० ए० और नाट्यकला-कुशल पं० रासविहारी शुक्ल।

स्व० श्री भट्टजी के उभय उत्साही सुपुत्र कैसे नाट्यविशारद हैं, यह बात हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रेमियों से छिपी नहीं है। शुक्लद्वय की निराली नाट्यकला बतलाती है कि भारत में भी हिन्दी की शान बचानेवाले अभी काफी तरह से मौजूद हैं। पुनरपि मालवीय-वंश-उजागर श्रीकृष्णकान्त मालवीय और श्री राधाकान्त मालवीय भी उक्त नाट्य-समिति के रंगमंच को सुशोभित कर चुके हैं और समयानुसार प्रस्तुत भी रहा करते हैं। यह हिन्दी का हितसाधन ही नहीं, बल्कि सौभाग्य भी है। यह सब बातें लखनऊ के सम्मेलनोत्सव[1] के सुअवसर पर हिन्दी-प्रेमियों के प्रति प्रकाशित की गई थीं।

अब पाठक-वृन्द! बतलाइए, नाटक कहाँ तक उपयोगी साबित हुआ? इसके किस गुण पर मुग्ध वा लुब्ध होकर ऐसे-ऐसे पुरुष-पुंगव इसके साथ हार्दिक सहानुभूति रखते हैं और रखते आये हैं? इतने बड़े-बड़े दिमागदार क्या समझकर इसे सम्मान की दृष्टि से देखते और सप्रेम इसमें योग देते हैं?[2]

—मासिक 'लक्ष्मी' (गया); भाग १४, दर्शन ४, अक्टूबर १६१६ ई०, आश्विन १६७३ वि०

•

वंगीय रंगमंच

बंगाली लोग स्वभावतः बड़े साहित्यानुरागी और भावुक होते हैं। अपनी मातृभाषा पर उनकी बड़ी ममता है। उन्हें अपने साहित्य पर इतना अधिक गर्व है कि वह, एक प्रकार से, अवगुण बन गया है। उसके कारण उनमें संकीर्णता और प्रान्तीयता आ गई है।

१. अखिल भारतीय पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (सन् १६१४ ई०)।

२. इस लेख का उत्तरार्द्ध नहीं मिला, जिसमें हिन्दी-संसार के अन्यान्य साहित्यिक अभिनेताओं और नाट्यसंस्थाओं के साथ-साथ बिहार के अभिनेताओं का भी उल्लेख है। यदि वह मिल सका, तो परिशिष्ट में प्रकाशित होगा अथवा रचनावली के किसी अन्य खण्ड में। —लेखक

यहाँ तक कि बंगाली नेता भी इस दोष से खाली नहीं हैं। उनकी भी यही धारणा है कि बँगला के समान उन्नत साहित्य किसी भारतीय भाषा का नहीं है और बँगला ही सबसे अधिक मृदु-मंजु-मधुर भाषा है। भले ही कुछ अंशों में यह उनकी भ्रांत धारणा हो।

किन्तु, इस विवादास्पद विषय पर विचार करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। हाँ, इतना स्वीकार करने में किसी सहृदय को विशेष संकोच नहीं हो सकता कि उनका गर्व सर्वथा निराधार नहीं है। उसके मूल में कुछ तत्त्व अवश्य है।

यहाँ प्रसंगानुसार केवल नाटक को ही लीजिए, जो साहित्य का एक आवश्यक अंग माना जाता है। उसमें भी बंगालियों ने अब तक जैसी कुछ उन्नति कर दिखाई है, वह निस्सन्देह प्रशंसनीय है। यहाँ बंगालियों के लिखे अच्छे नाटक-ग्रन्थों की चर्चा अनावश्यक है। उनसे हिन्दी-प्रेमी बहुत-कुछ परिचित हैं। हाँ, उनका अभिनय-कौशल जिसने कभी देखा है, वह सहज ही कह सकता है कि नाट्य-कुशलता में वे दक्षिणी और गुजराती लोगों से अगर आगे नहीं बढ़े हैं, तो पीछे भी नहीं हैं।

दक्षिण-भारत में नाट्यकला की ओर लोगों की अच्छी प्रवृत्ति है। लखनऊ के गत पंचम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति कविवर पंडित श्रीधर पाठकजी ने अपने भाषण में इसकी खासी चर्चा की थी। बँगलोर सिटी से 'कर्णाटक-रंगभूमि' नाम का एक नाटक-सम्बन्धी सचित्र मासिक-पत्र निकलता है। उसके देखने से भी यह पता चलता है कि सुदूर दक्षिण-भारत में भी नाटकाभिनय की ओर शिक्षित समाज का झुकाव खूब है। मराठी-भाषा के 'चित्रमय जगत्' और 'मनोरंजन' नामक सचित्र मासिक-पत्रों में नाटकाभिनय-सम्बन्धी अनेक चित्र निकला करते हैं। 'हिन्दी चित्रमय जगत्' के हिन्दी-प्रेमी पाठक इससे अवश्य ही परिचित होंगे; क्योंकि उसमें मराठी-मंच के दृश्यों के चित्र प्रायः छपा करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मराठे लोग भी नाट्य-कला-निपुणता प्राप्त करने में सोत्साह संलग्न हैं। पूना सिटी की कई रंगशालाओं में पठित समाज की वैसी ही खासी भीड़ होती है, जैसी कलकत्ता के वंगीय नाट्य-मन्दिरों में प्रायः देखने में आती है। पूना की किर्लोस्कर-संगीत-नाटक-मण्डली ने आज से कुछ वर्ष पहले उत्तर-भारत के प्रधान नगरों में भ्रमण कर यह दिखला दिया था कि महाराष्ट्र के अभिनेता हिन्दी के नाटकों को भी बड़ी सफलता के साथ खेल सकते हैं। उस मंडली के कई हिन्दी-अभिनय मैंने कलकत्ता के मिनर्वा-थिएटर-मंच पर देखे थे। उसमें संगीतज्ञों और नाट्य-कलाविदों का अच्छा जमघट था। उनके गान और नाट्य-नैपुण्य ने धूम मचा दी थी। क्या हिन्दीवाले कभी हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से भी दक्षिण-भारत में अपनी कोई नाटक-मंडली ले गये हैं?

खैर, किर्लोस्कर-कम्पनी से भी अच्छी नाटक-कम्पनियाँ पूना में हैं, जिनके पात्र-पात्रियों का अभिनय-कौशल देखकर मन में यह अभिलाषा उत्पन्न होती है कि हिन्दी का वह दिन कब आवेगा, जब कि इनके जैसे दो-चार अभिनेता भी हिन्दी के रंगमंच पर उतरेंगे। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध नाट्याचार्य 'बालगंधर्व' की तो बात ही निराली है, सामान्य रीति से प्रसिद्ध किसी अभिनेता को भी पूना के रंगमंच पर अपने साहित्य को श्री-वृद्धि करते देखकर अनायास मन में यही भाव उठता है कि अपने साहित्य की गौरव-वृद्धि करने के लिए

जिस प्रकार बंगालियों को कलकत्ता, गुजरातियों को बम्बई और मराठों को पूना-जैसे विशाल उर्वर क्षेत्र मिले हैं, उसी तरह क्या हिन्दीवालों को लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, आगरा, जबलपुर, नागपुर, लखनऊ, कानपुर, प्रयाग, काशी, पटना आदि बड़े-बड़े जनाकीर्ण नगर नहीं मिले हैं ? फिर क्या कारण है कि इन प्रमुख नगरों में कहीं भी कोई ऐसी हिन्दी-प्रधान नाटक-कम्पनी नहीं है, जिसकी तुलना उनसे की जा सके ? क्या हिन्दी-प्रेमी जनता में जीवन ही नहीं है, या साहित्य और संगीतकला में अभिरुचि नहीं है, या हृदय में रसानुभूति का लेश ही नहीं है, या उन्होंने पारसी कम्पनियों को ही इसका ठेका दे रखा है ?

अफसोस ! झींकते हुए कहना पड़ता है कि हम हिन्दीवालों में अभी वह जीवन की ज्योति ही नहीं जगी है, जिसके प्रकाश से हम अपने दृश्य-काव्य-जगत् को आलोकित कर सकें। मेरी इस निराशावादिता पर कुछ लोग हँसेंगे, और मेरी अज्ञानता को कोसेंगे भी; पर मैं उनसे विनयपूर्वक कहूँगा कि वे शांत भाव से इस बात पर विचार करें। मैं मराठी, गुजराती और बँगला के रंगमंचों पर अच्छे-अच्छे अभिनेताओं के अभिनय बड़े ध्यान से देख चुका हूँ और हर जगह मेरे हृदय में इस बात की घोर लज्जा और असह्य ग्लानि उत्पन्न होती रही है कि हिन्दी के रंगमंच पर ऐसे अभिनेता क्यों नहीं दीख पड़ते। मुझे अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि मराठी, गुजराती, बंगला आदि प्रान्तीय भाषाओं के मुट्ठी-भर हिमायती जिस उत्साह और तत्परता से नाट्यकला में सिद्धि प्राप्त करते जा रहे हैं, उसे यदि एक बार भी अपनी आँखें आँजकर हिन्दीवाले अच्छी तरह देखलें तो उनका यह गर्व-खर्व हो जाय कि हम राष्ट्र-भाषा-भाषी हैं--हमारे संख्या-बाहुल्य के सामने उन मुष्टिमेय प्रान्तीय भाषावालों की हस्ती ही क्या है ?

जनाब ! कितने शोक की बात है कि गुजराती भाषा की परम प्रसिद्ध पत्रिका 'बीसवीं सदी' में, 'गुजरात' में, 'स्वर्णमाला' में, 'श्रीदक्षिणामूर्त्ति में, गुजराती अभिनेताओं के अभिनय-कौशल के चित्र प्रकाशित हुआ करें, फिर उसी प्रकार बँगला के 'शिशिर', 'वसुमती', 'वंगवाणी' आदि में भी वंगीय मंच के दृश्यों के चित्र छपें, और हमारी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहलानेवाली 'माधुरी', 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में कभी भूले-भटके भी किसी हिन्दी-मंच के दृश्य या किसी कुशल नाट्यकार का कोई चित्र देखने में न आवे ! क्या हिन्दी-संसार कुशल अभिनेताओं से शून्य है ? क्या हिन्दी-संसार के किसी रंगमंच पर आज तक ऐसा कोई सुन्दर अभिनय ही नहीं दीख पड़ा, जिसका चित्र प्रकाशित किया जा सके ?

हाँ, एक बार 'हिन्दूविश्वविद्यालय'-शीर्षक सचित्र लेख में पंडित रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', एम्० ए० (वर्त्तमान 'कादंबरी'-सम्पादक) ने विश्वविद्यालय की छात्र-नाट्य-समिति के एकाध अभिनेताओं के चित्र 'माधुरी' में दिये थे। उसके सिवा मैंने और कभी किसी पत्र में किसी हिन्दी-रंगमंच के दृश्य का चित्र नहीं देखा। लहेरियासराय के सचित्र मासिक पत्र 'बालक' में दियारा-राज्य के बालक-राजकुमारों का एक अभिनय-चित्र छपा था; पर उसमें कोई नाट्य-कौशल-संबंधी विशेषता न थी। संभव है, कहीं और कोई कभी प्रकाशित भी हुआ हो और मेरी निगाह से न गुजरा हो, पर जहाँ तक मेरा अनुमान है,

कहीं कोई छपा ही नहीं। शायद पंडित माधव शुक्ल के 'महाभारत' नाटक (पूर्वार्द्ध) में 'क्रुद्ध भीम और चकित-स्तब्ध कौरव-सभा' के दृश्य का एक चित्र मैंने देखा था, और फिर काशी की नागरी-नाटक-मंडली की सन् १६२५ ई० की रिपोर्ट में भी दो-चार चुने दृश्यों के चित्र छपे देखे हैं।

किन्तु, यह बात नहीं है कि हिन्दी नाटकों के अभिनयों के फोटो लिये ही न जाते हों। फोटो तो जरूर लिये जाते हैं—कई ऐसे फोटो कई जगहों में मैंने खुद देखे भी हैं (खेद है कि इच्छा रहते हुए भी मैं उनमें से एक चित्र भी इस लेख में इस समय नहीं दे सका); पर सामयिक साहित्य-पत्रों में उनका प्रकाशन न होने से उस विषय की चर्चा फैलने नहीं पाती, आन्दोलन नहीं हो पाता—सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट नहीं होता—जनता की रुचि को तद्विषयक उत्तेजन नहीं मिलता। अतएव, साहित्य में नाटक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान समझकर, हिन्दी के सचित्र पत्रों के सम्पादकों को चाहिए कि न केवल नाटक सम्बन्धी लंबे-चौड़े सिद्धांतपूर्ण लेख ही छापकर संतुष्ट हो जायँ, बल्कि हिन्दी की जो छोटी-मोटी या भली-बुरी नाटक-समितियाँ इस समय जिस किसी अवस्था में वर्त्तमान हैं, उनके कुशल अभिनेताओं का सचित्र परिचय और चुने हुए उत्तम दृश्यों के चित्र भी प्रकाशित करें। इससे अभिनेताओं को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त होगा, नाटक-मंडलियों की प्रसिद्धि होगी, जनता में नाटक के प्रति जो उदासीनता है, वह बहुत-कुछ धीरे-धीरे दूर होगी। सबसे बढ़कर आश्चर्य और दुःख का विषय तो यह है कि हिन्दी-पत्रों में अनेक नये शीर्षकों और स्तम्भों की सृष्टि होती जा रही है; पर कहीं 'रंगमंच' के दर्शन नहीं होते। बँगला के सचित्र 'नाचघर' अथवा 'कर्णाटक-रंगभूमि' की तरह हिन्दी में आज तक कोई नाटक-प्रधान पत्र भी नहीं निकला। नाटक की यह उपेक्षा निन्दनीय है या दयनीय?

मैंने लखनऊ के पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर नाट्यकुशल पं० माधव शुक्ल की प्रयागस्थ नाट्य-परिषद् द्वारा अभिनीत 'सत्य हरिश्चन्द्र' देखा था। उसमें स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट के ज्येष्ठ सुपुत्र स्वर्गीय पं० महादेव भट्ट का किया हुआ 'पाप' का पार्ट और 'चांडाल' की भूमिका धारण करके अपने अत्यन्त स्वाभाविक नाट्य-कौशल से साहित्यिक-वृन्द को मुग्ध करनेवाले मुद्रिकाप्रसाद नामक नवयुवक (जो शायद अब इस संसार में नहीं हैं!) का पार्ट इतना सुन्दर हुआ था कि आज तक वह दृश्य आँखों के सामने नाच रहा है। वे हमारे हिन्दी के अनमोल लाल काल के गाल में चले गये! पर, उनके उस नाट्यकौशल की याद करते हुए किसी हिन्दी-पत्रकार की लेखनी ने आँसू की एक बूँद भी नहीं टपकाई, इसका क्या कारण है? शायद यही कि अभिनय-मंच से हटकर वे नेपथ्य के अन्दर चले गये, बस साहित्य-संसार की आँखों से ओझल हो गये! क्या उनके अभिनय-कौशल को तालियाँ पीटकर उड़ा दिया गया? यही है साहित्यिकों की गुणग्राहिता अथवा इतिकर्त्तव्यता!

फिर प्रयाग के षष्ठ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर पं० माधव शुक्ल की मंडली ने ही 'महाभारत' का अभिनय दिखाया था, जिसमें शुक्लजी का भीम का पार्ट

और पं० रासविहारी शुक्ल का दुर्योधन का पार्ट बड़े गजब का हुआ था। हाँ, उपर्युक्त पं० महादेव भट्ट ने भी धृतराष्ट्र की भूमिका में खूब कमाल दिखाया था। मैंने बँगला के उच्च रंगमंच पर भी 'महाभारत' का अभिनय देखा है, पर कभी पं० रासविहारी शुक्ल-जैसा 'दुर्योधन' और भट्टजी जैसा 'धृतराष्ट्र' नहीं देखा। वह स्वाभाविकता आज भी हृदय-पट पर वैसी ही अंकित है—तनिक रंग फीका नहीं पड़ा है। किन्तु, हिन्दी के रेकर्ड में इस बात का कहीं भी पता भी है? सम्मेलन की रिपोर्ट में सफलतापूर्वक नाटक खेले जाने पर धन्यवाद दे देने से ही साहित्य का उपकार नहीं हो सकता। पंडित रासविहारी शुक्ल जैसे होनहार अभिनेता का नाम भुला देने से ही हिन्दी-रंगमंच पर नाट्यकला का कुछ विशेष गौरव नहीं बढ़ जायगा।

हिन्दी-रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनय करनेवाले वर्त्तमान साहित्यिकों में कुछ सज्जनों को मैं जानता हूँ। जैसे—हास्यरसावतार पं० जगन्नाथ प्रसादजी चतुर्वेदी; श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव, बी० ए०, एल्० एल्० बी०; पं० माधव शुक्ल; मनोरंजन-मूर्त्ति पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा[1] ('हिन्दूपंच'-सम्पादक), पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि। किन्तु, ऐसे प्रसिद्ध साहित्यिकों के किसी अभिनय का कोई चित्र भी आज तक कहीं हिन्दी-पत्रों में देखने को नहीं मिला। क्या यह चिन्त्य विषय नहीं है?

कुछ सज्जन मेरे इस लेख को पढ़कर यही कहेंगे कि विषयातिरेक बातें लिखकर व्यर्थ ही छोटी-मोटी बातों को अनावश्यक महत्त्व दिया गया है। किन्तु, मैं स्वयं ऐसा नहीं समझता। मैं तो कहता हूँ कि छोटी-ही-छोटी बातों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान कर बंगालियों ने अपने रंगमंच की शोभा और ख्याति बहुत बढ़ा ली है। कभी कलकत्ता जाकर उनकी रंगशाला तो देखिए। कहीं द्विजेन्द्रलाल राय, कहीं गिरीशचन्द्र घोष, कहीं अमृतलाल बसु आदि के बड़े-बड़े तैल-चित्र मुख्य द्वार पर शोभायमान हैं। क्या आपके यहाँ भी कहीं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, राजा लक्ष्मण सिंह, लाला शालग्राम, लाला सीताराम, बाबू जयशंकर प्रसाद, पं० बदरीनाथ भट्ट, बी० ए० आदि के चित्र एकत्र देखने को मिलेंगे? फोटो ही सही—कहाँ, किस रंगशाला में? कोई खास तौर से बनी हुई हिन्दी की अपनी रंगशाला भी तो हो। मदन-थिएटर-कम्पनी भले ही बेताबजी और जौहरजी जैसे प्रसिद्ध साहित्यिकों से मनोनुकूल हिन्दी-नाटक लिखवाकर पारसी-मंच उर्फ हिन्दी-मंच पर तड़क-भड़क के साथ खेल ले; पर उसे भारतेन्दु हरिश्चंद्र और पं० प्रतापनारायण को अपनी रंगशाला में सादर स्थान देने से क्या मतलब! उसे तो बुद्धुओं को बुलबुल बनाकर तोड़े ऐंठने हैं—चाहे हिन्दी की हत्या हो या साहित्य का संहार।

सबसे बढ़कर दुःख का विषय तो यह है कि जिस कलकत्ता में कई हिन्दी-प्रधान सुव्यवस्थित नाट्य-समितियाँ हैं, जहाँ हिन्दी-प्रेमी करोड़पतियों के गिरोह बसते हैं, वहाँ भी हिन्दी की अपनी रंगशाला नहीं है। खैर, रंगशाला की बात छोड़िए। कलकत्ता में

१. शोक कि आप अब इस संसार में नहीं हैं!—'माधुरी' सम्पादक।

वहाँ के लगभग सभी हिन्दी-नाटक-मंडलीवाले प्रायः बँगला-नाटकों के अभिनय देखा करते हैं; पर वे भी वहाँ के पारसी थिएटरों के पात्रों का ही अनुकरण करते हैं—बँगला-रंगमंच की खूबियों और बारीकियों पर शायद ध्यान ही नहीं देते। हाँ, पारसी-मंच की लचक-मटक का अर्क खूब खींच लाते हैं। फिर, स्वाभाविकता रह नहीं जाती। नौकरशाही जैसे 'न्याय का नाटक' खेलती है, वैसे ही 'नाट्य का नाटक' खेल लेते हैं।

किन्तु, केवल वहीं के नहीं, और कई जगहों की हिन्दी-नाट्य-समितियों के अभिनय में भी मैंने पारसीपन की उत्कट गंध पाई है। कलकत्ता से काशी आने पर मुझे काशी की दो सुप्रतिष्ठित नाटक-मंडलियों के अभिनय देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यहाँ भी वही पारसी तर्ज देखा। हाँ, एक बार 'भारतेन्दु-नाटक-मंडली' के दो-तीन पात्रों का अभिनय-कौशल देखकर मेरे मन में यह भाव उठा था कि ऐसे होनहार अभिनेता यदि किसी बँगला-मंच पर उतरे होते, तो इतना प्रोत्साहन और उत्तेजन मिलता कि उन्हें नाट्य-कुशलता प्राप्त करने की धुन सवार हो जाती। किन्तु, हिन्दी के साहित्यिक तो नाटकों का अभिनय देखना भी बहुत कम पसंद करते हैं। फिर वे उत्साही नवयुवकों की तत्सम्बन्धी त्रुटियाँ क्या सुधारेंगे!

उदाहरण के तौर पर मैं काशी की नागरी-नाटक-मण्डली को पेश करता हूँ। यह मंडली खूब सम्पन्न है—आर्थिक अवस्था और व्यवस्था बहुत अच्छी है। यद्यपि कलकत्ता लक्ष्मी का लीलास्थल है, मारवाड़ी-कोटिध्वजों का क्रीड़ाक्षेत्र है, तथापि वहाँ की कोई हिन्दी-नाटक-मंडली ऐसी सम्पन्न नहीं है। जहाँ तक हिन्दी की नाटक-मंडलियों का मैं पता पा सका हूँ, मुझे एक भी ऐसी सुसम्पन्न मंडली नहीं मिली है। किन्तु, खेद है कि सब तरह के साधन होने पर भी मंडली के पात्रों का अभिनय अभी बहुत-कुछ त्रुटिपूर्ण है। काशी में हिन्दी के बड़े-बड़े धुरंधर साहित्यिक पुरुष रहते हैं, पर कोई इसपर ध्यान नहीं देता। यदि ऐसी पूँजीवाली सार्वजनिक नाटक-मंडली बंगालियों के हाथ में होती, तो वे कुछ करके दिखा देते। काशी में ही बंगालियों की जो नाटक-मंडली है, उसके अभिनय से मिलान करके देखने पर आप ही अंतर मालूम हो जायगा। तारीफ तो यह है कि जहाँ-कहीं बंगाली रहते हैं, उनका एक गुट-सा बँधा रहता है—खासकर साहित्यिक विषयों में तो उन प्रवासी बंगालियों की सहयोगिता देखकर ईर्ष्या उत्पन्न होती है। लखनऊ उर्दू का किला है न? वहाँ भी अमीनाबाद-पार्क के एक कोने पर बंगालियों का एक संगीत-नाटक-समाज है; और फिर पटना तथा प्रयाग में भी देखा। इतना ही नहीं, बंगाल से बाहर अन्य प्रान्तों के स्कूलों और कॉलेजों के बंगाली विद्यार्थी तक अपना अलग 'अमेच्युर क्लब' रखते हैं। ऐसे क्लबों की चर्चा मैंने कई बार बँगला के 'नाचघर' नामक नाटक-प्रधान सचित्र पत्र में देखी है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व मैंने गया की समाधिगता 'लक्ष्मी' में नाटक-संबंधी एक साधारण लेख[1] लिखा था, जिसमें हिन्दी-संसार का अनेक नाटक-विषयक चर्चा थी। उसे

१. उस लेख का पूर्वार्द्ध इस लेख से पहले छपा हुआ है। —लेखक

पढ़कर मेरे कुछ साहित्यिक मित्रों ने बड़ी गहरी चुटकी ली थी। किन्तु, उससे मैं हतोत्साह अथवा हताश नहीं हुआ—इस विषय में, अवकाशानुसार, बड़ी दिलचस्पी से छानबीन करता रहा। जब 'मतवाला' की सेवा में रहते समय कलकत्ता के बँगला-रंगमंचों के दृश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब मैं इसमें और भी दिलचस्पी लेने लगा। किन्तु, एक बार, निज-सम्पादित 'मारवाड़ी-सुधार' के कार्यवश बम्बई जाने पर मैंने गुजराती रंगशाला में 'कादम्बरी' का अभिनय देखा था, तो मन में यह बात बैठ गई थी कि इससे अच्छा अभिनय अब न देख सकूँगा। परन्तु, वंगीय रंगमंच पर 'कर्णार्जुन', 'सीता', 'वंग-विजेता', 'आलमगीर', 'किन्नरी', आदि के अभिनय देखकर मेरी बद्धमूल धारणा शिथिल हो गई। अपनी छोटी समझ के अनुसार मुझे मन-ही-मन मान लेना पड़ा कि मराठों और गुजरातियों से बंगालियों का अभिनय-कौशल किसी प्रकार निम्न श्रेणी का नहीं है।

कलकत्ता के मिनर्वा-थिएटर में—'हिन्दूपंच'-सम्पादक श्रद्धेय पं० ईश्वरी प्रसादजी शर्मा (अब स्वर्गीय !—सम्पा०) के साथ, और उन्हीं के विशेष अनुरोध से, बँगला-रंगमंच पर मैंने सबसे पहला अभिनय प्रोफेसर क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद की 'किन्नरी' का देखा था। 'किन्नरी' के अभिनय में बड़ा आकर्षण था। फिर क्या, चसका लगा। कई नाटकों के अभिनय देखे। इसी बीच स्टार-थिएटर के रंगमंच पर श्री अपरेशचन्द्र मुखोपाध्याय के 'कर्णार्जुन' का अभिनय आरम्भ हुआ। कलकत्ता के बँगला और अँगरेजी पत्रों में धूम-सी मच गई। कर्ण, अर्जुन, शकुनि, भीम, नियति, पद्मावती आदि के विशेषतापूर्ण स्वाभाविक अभिनय की भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी।

वास्तव में, जब 'कर्णार्जुन' देखा तो अवाक् हो गया। श्री नरेशचन्द्र, बी० ए०, बी० एल्० ने शकुनि की भूमिका में रंगमंच पर अवतीर्ण होकर दर्शकों को मुग्ध कर दिया। उनका अभिनय सर्वश्रेष्ठ रहा। फिर श्री तिनकौड़ी चक्रवर्त्ती ने कर्ण की भूमिका में बड़े ही गजब का कौशल प्रदर्शित किया। लोग चित्र-लिखे-से रह गये। हाँ, श्री अहीन्द्र चौधरी ने भी अर्जुन के पार्ट में खूब निपुणता दिखाई। मैंने देखा, वीरता के आवेश में उनके तमतमाये हुए चेहरे की उभड़ी हुई नसें साफ खिंची हुई देख पड़ती थीं, मानों 'रन-रस-विटप पुलक मिस फूला !' जिस समय भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें अभिमन्यु-वध की याद दिलाई, उस समय उन्होंने ऐसा सुन्दर नाट्य प्रदर्शित किया, मानों किसी ने सुप्त मृगेन्द्र को ठोकर मारकर जगा दिया, भीषण भुजंग को छेड़कर ललकार दिया। वह उनका क्रोध-कंपित कलेवर, वह शौर्य-तेजोद्दीप्त मुखश्री आजतक मानों आँखों के सामने फिर रही है। पुनः भीम के भुजदण्डों की तनी हुई शिराएँ, उनका फुत्कार-पुरःसर सामर्ष अधर-दंशन, उनके स्फुलिंग-मय नेत्र, उनका गुरुगदा-परिचालन देखकर कौन ऐसा पुरुष था, जो अपने स्थान पर बैठे-ही-बैठे क्रोध से काँप न उठा हो। भीम की भूमिका में श्री ननिगोपाल मल्लिक उतरे थे।

किन्तु, नीहारबाला नाम की अभिनेत्री ने 'नियति' की भूमिका में जो कमाल दिखाया, वह दर्शक-मंडली के चित्त-पट पर अमिट रंगीन रेखा की तरह खिंच गया। उसकी स्वाभाविक एवं मर्मतल-स्पर्शिनी, किन्तु पवित्र और कारुण्यपूर्ण, भावभंगियों ने रंगशाला में

जादू की लहर उमड़ा दी। खासकर उसका यह निम्नलिखित गान और उस समय का उसका नाट्य-नैपुण्य—अहा! जिसने सुना और देखा है, उसीका हृदय अनुभव कर रहा होगा कि रंगशाला की उस पाषाण-रेखा 'नियति' के विकट-दारुण हास्य में भी निष्ठुर परिणाम को छिपानेवाली कैसी मनोज्ञ मधुरिमा थी। खैर, उस रहस्य की पुतली—"दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम्" कहनेवाले कर्ण के पीछे लगी फिरनेवाली उस निर्ममता की मूर्त्ति—का वह दर्शक-वृंद-विमोहक गीत सुनिए—

काल-प्रवाह चले धीरे-धीरे।
जीवन-मरण छाया भासे कारण-नीरे॥
कभू कुसुम-वितान।
कुहू-कुहू पाखी करे गान।
रोदन-ध्वनि कभू छाय गगन घिरे
हासे-हासे कभू शियरे तरासे,
उन्मादिनी केरे फिरे अकूल तीरे॥

रंगशाला में अवतरित होते ही उसका सबसे पहला गीत कितना सुन्दर और कैसा भावपूर्ण है—

आमि कखन भाँगि कखन गड़ि नाइक ठिकाना।
थाकि साथे-साथे, पथे कि विपथे
चिर दिन अचेना अजाना।
ललाट पटे कालेर रेखा,
अदेखा आखरे रहिगो लेखा।
नाही नाम धाम, चलि अविराम,
पड़े रहे पाछे स्मृतिर निशान॥

कलकत्ता में 'कर्णार्जुन' की तूती बोल गई। शकुनि और नियति के अत्यन्त स्वाभाविक नाट्य-कौशल तथा कर्ण और अर्जुन के लोमहर्षण वीरोचित अभिनय ने बंगाल के कोने-कोने से दर्शक खींच मँगाये। कलकत्ता के प्रसिद्ध अँगरेजी दैनिक 'द सर्वेंएट' (The Servant) ने लिखा था—

In dealing with the characters of the play, the first to deserve notice is that of Shakuni. It is a most important character in the Mahabharata and Mr. Nareshchandra Mitra, B. L. who appeared in the role of Shakuni, left nothing to be desired in representing the part in a masterly way. Karna and Arjun respectively deserve to be men-

tioned next and it is difficult to say who was the better of the two.

फलतः, कलकत्ता में मेरे रहते समय तक कर्णार्जुन के लगभग तीन सौ अभिनय लगातार हुए। प्रत्येक सौवें अभिनय की रात्रि में बड़े समारोह से किसी प्रसिद्ध साहित्य-महारथी की अध्यक्षता में विराट् साहित्यिक महोत्सव मनाया जाता था। प्रथम शताभिनय-रजनी-महोत्सव खूब धूमधाम से सम्पन्न हुआ था। स्वर्गीय देशबन्धु चित्तरंजन दास ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। बड़े-बड़े नाटककार और अभिनय-कुशल साहित्यसेवी आमंत्रित किये गये थे। अहा! कैसा उत्साह था! कैसी शोभा थी! व्यवसाय के साथ साहित्य का सुखद सम्मिश्रण और उसमें ऐसी विजय-गर्वोल्लास-भरी सफलता! धन्य बंगालियों का साहित्यानुराग!

इस प्रकार, इधर 'कर्णार्जुन' की धूम 'स्टार थिएटर' में थी, उधर 'मनोमोहन-नाट्य-मंदिर' में 'सीता' की। यहाँ तक कि एक प्रकार से दोनों थिएटरों में होड़-सी लग गई। जो दर्शक दोनों के ही अभिनय देख चुके थे, उनके लिए किसी-किसी दिन यह निर्णय करना बड़े असमंजस का काम हो जाता था कि दोनों में से किसे देखने जाया जाय। कारण, 'सीता' की प्रसिद्धि भी पराकाष्ठा को पहुँच गई थी। श्री शिशिरकुमार भादुड़ी की 'राम' की भूमिका, श्रीमती प्रभा की 'सीता' की भूमिका और श्री मनोरंजन भट्टाचार्य का 'वाल्मीकि' की भूमिका में वस्तुतः इतनी स्वाभाविकता एवं आकर्षण-शक्ति थी कि लोग बेतरह लट्टू हो रहे थे। एक बार, कलकत्ता के सुप्रसिद्ध अँगरेजी दैनिक 'अमृत बाजार पत्रिका' ने अपने 'बिहाइण्ड द स्क्रीन' (Behind the Screen) नामक स्थायी स्तंभ में लिखा था—

'Ram' is one of the greatest achievements of Mr. Bhaduri satisfying even the most exacting critic and we believe and believe strongly that in 'Ram' stage-goers have undoubtedly seen something the like of which can rarely met with. Next in importance is Manoranjan Babu's 'Balmiki' which has already left a very lasting impression on the theatre-goers and has won from them the unequivocal praise for the Artist Miss Prabha in her famous role of 'Seeta' has got greatest attraction and brilliant success.

फिर 'नाचघर' के एक अंक में भी देशबन्धु दास की यह अमूल्य सम्मति प्रकाशित हुई थी—

"आमि आमार कयेक जन अंतरंग बन्धुर मुखे सुनिया छिलाम जे श्रीमान् शिशिर-कुमार भादुड़ी जगतेर श्रेष्ठ अभिनेतादेर मध्ये अन्यतम। आज आमि रामेर भूमिकाय ताँहार अभिनय देखिया बूझिते पारिलाम जे ताँहारा अति सत्य कथाइ बलिया छिलेन। रामेर भूमिकाय ताँहार अभिनय अपूर्व हइयाछे। आमि पूर्वे साधारण रंगमंचे जे सकल

अभिनय देखियाछि से अभिनये अप्रधान चरित्र गुलि कोनउ दिनई आमार दृष्टि आकर्षण करिते पारे नाइ, किन्तु शिशिरकुमारेर संप्रदायेर कइ अभिनयेर अप्रधान अंशगुलिर अधिकांशइ आमाके मुग्ध करियाछे। सीतार चरित्रे जे अभिनेत्री अवतीर्ण हइया छिलेन शिशिरकुमारेर सहित तुलनाय ताँहार अभिनय अनेक निरशे हइलेउ साधारण रंगालयेर अभिनेत्रीदेर तुलनाय ताँहार अभिनय श्रेष्ठ उ सुन्दर हइयाछे। मोटेर ऊपर अभिनय आमार एत भाल लागिया छिल जे आमार शरीर अस्सुस्थ थाका सत्वेउ अयुक्त अवस्थाय शेष पर्यन्त ना देखिया फिरिते पारि नाइ।"

जिस दिन 'सीता' के प्रथम उद्‌बोधन-अभिनय का आरंभिक महोत्सव था, उस दिन बंगाल के वृद्धवसिष्ठ नाट्याचार्य श्री अमृतलाल बसु ने कहा था—

"सारा जीवन धरे आमि एइ कलार साधना करे एसेछि, शेषे आमार एइ वृद्ध वयसे नाट्य-कलार एइ अवनति देखे अत्यन्त दुःखेर संगे आमाके एइ पृथिवी थेके बिदाय निते हच्छिल। किन्तु आज जाँरा बाँगलार नाट्य-शिल्पे नवयुग एने छेन—आर्टे थिएटरे जाँरा अभिनय कर छेन (दानी बाबू), एवं विशेष करे शिशिर बाबू ई एइ नवयुगेर प्रवर्त्तक। जे व्यथा निये आमार इहलोक थेके बिदाय निते हच्छिल से वेदना थेके एँरा आमाय मुक्ति दिये छेन। आमि भावछिलुम, ईश्वर कि आमाके रंगालयेर एइ हीन अवस्था देखबार जन्य जीवित रेखे छेन!"

कहाँ तक प्रशंसात्मक सम्मतियाँ उद्धृत करूँ? भादुड़ी महाशय को 'राम' की भूमिका में जिसने नाट्य करते देखा है, वही उनके उस अविरल अभिनय का आनन्द अनुभव कर सकता है। वर्णनात्मक शब्दों अथवा स्तुतिपूर्ण उद्धरणों द्वारा उस आनन्द का प्रकृत अनुभव कराना असम्भव है। उनकी नाट्य-पटुता ने वंगीय रंगमच पर युगान्तर उपस्थित कर दिया है। उनमें दर्शक के कानों और आँखों को एक कर देने की अद्‌भुत क्षमता है। 'राम' की भूमिका में वह सहृदय दर्शक की भावुकता के अन्तस्तल तक पैठ जाते हैं। उसे ऐसा आत्मविस्मृत कर देते हैं कि वह कोई उनका अभिन्न मित्र ही क्यों न हो, उन्हें आदर्श महापुरुष श्री रामचन्द्र समझने के सिवा कभी भादुड़ी के रूप में नहीं याद रख सकता। तभी तो वह वंगीय रंगमंच पर नवयुग-विधायिनी क्रान्ति की सृष्टि करने में समर्थ हो रहे हैं।

किन्तु, केवल 'राम' की ही भूमिका में नहीं, अन्य अभिनयों में भी भादुड़ी महाशय यक-साँ कमाल दिखाते हैं। गत वर्ष 'अमृत बाजार पत्रिका' ने लिखा था—

But the greatest attraction that is in store for Calcutta is Ravindra Nath's 'Bisarjan', Mr. Bhaduri playing the role of 'Raghupati'. In this role the audience is sure to see something which is only possible in Mr. Bhadhuri and him alone.

फिर, बँगला की प्रभावशालिनी पत्रिका 'आत्मशक्ति' ने भी, एक दूसरे नाटक के अभिनय के विषय में, लिखा था—"गत शनिवार 'अज्ञातवासेर' अभिनये शिशिर कुमार

(भादुड़ी) ताँर शक्तिर आर एक नूतन परिचय दियेचेन। से दिन भीम, बृहन्नला ओ ब्राह्मण —नाटकेर एइ तिन टि कठिनतम ओ सम्पूर्ण परस्परविरोधी भूमिकाय अवतीर्ण हये 'नवयुगेर एइ श्रेष्ठ नट' जे अपरूप अभिनय कलार विकाश देखियेचेन ता हृदय दिये अनुभव ओ उपयोग करबार जिनिश।"

कहाँ तक उद्धरण देकर बताऊँ। मेरे पास ऐसी प्रशंसात्मक सम्मतियाँ काफी संगृहीत हैं, जिन्हें पढ़कर बंगालियों के साहित्यानुराग पर ईर्ष्या उत्पन्न होती है। यहाँ मैंने केवल भादुड़ी महाशय के विषय में ही लोकमत उद्धृत किया है, जो आधुनिक वंगीय रंगमंच के नूतन रत्नप्रदीप हैं। यदि यहाँ प्रसिद्ध बँगला नाटककार स्वर्गीय श्रीगिरीशचन्द्र घोष के सुपुत्र श्रीसुरेन्द्रमोहन घोष (दानी बाबू) की प्रशंसाओं का भी उल्लेख करूँ, तो लेख का अनावश्यक विस्तार हो जायगा।

दानी बाबू वंगीय रंगमंच के लब्धकीर्त्ति प्राचीन अभिनेता हैं और अनेक वर्षों के पश्चात् उन्होंने अपने एकांत कीर्त्ति-क्षेत्र में भादुड़ी-जैसे सफल प्रतिद्वन्द्वी को अवतीर्ण होते देखा है। दानी बाबू जिस समय रंगमंच पर अवतीर्ण होते हैं, उस समय दर्शक भित्ति-चित्र-से बन जाते हैं। उनके चेहरे पर प्रसंगानुकूल भावों का चमत्कारपूर्ण परिवर्त्तन देखते ही बनता है। उनकी तन्मयता दर्शकों को भी तल्लीन कर छोड़ती है। उनका वीरता का अभिनय ऐसा रोमांचकारी होता है कि सहृदय दर्शक पनस-फल बन जाते हैं। बूढ़े होने पर भी वह अपने वीरोचित संभाषण और गर्जन से रंगभूमि को प्रकम्पित कर देते हैं। कहीं-कहीं उनके अभिनय में स्वाभाविकता की इतनी अतिशयता हो जाती है कि उसके मर्म को न समझनेवाला साधारण श्रेणी का दर्शक—पारसी-रंगमंच का शौकीन—झुँझला उठता है। ऐसा मैंने स्वयं देखा है; किन्तु बँगला की नाट्य-शालाओं में ऐसा अमर्मज्ञ दर्शक प्रायः भावुक और मुग्ध दर्शकों के लिए कंटक-स्वरूप हो जाया करता है; क्योंकि वह अपनी अज्ञता-जनित व्याकुलता से उनकी तल्लीनता में बाधा पहुँचाता है, और कभी-कभी भाव-विभोर बंगालियों से 'खोट्टा' ('अप-कण्ट्रीमैन') का खिताब भी पा लेता है !!

सुनता था, अँगरेज लोग नाट्यकला में बड़े प्रवीण होते हैं। कला (आर्ट) की दृष्टि से उनका अभिनय बड़े महत्त्व का होता है। किन्तु, एक बार कलकत्ता के 'ग्रैंड-ओपेरा-हाउस' (ग्लोब थिएटर) के रंगमंच पर एक नवागत विलायती कम्पनी द्वारा अभिनीत 'सीता' (द क्वीन अफ द ईस्ट) का ही अभिनय देखकर मैं यही निष्कर्ष निकाल सका कि यह बँगला-रंगमंच की 'सीता' के पासँग-बराबर भी नहीं है। उस अभिनय में 'मतवाला' सम्पादक सेठजी और 'मतवाला'-मंडल के अन्यतम सदस्य मुंशी नवजादिक लालजी श्रीवास्तव भी गये थे। उनलोगों ने भी यही कहा कि 'दूर के ढोल सुहावने होते हैं'। उसमें Patrick O' Donnell ने 'राम' का और Rita Ainsely ने 'सीता' का पार्ट किया था। मालूम नहीं, भारतीय आदर्श को यथातथ्य प्रदर्शित करने की यथेष्ट क्षमता न रखने पर भी किस साहस से वे लोग सात समुद्र पार कर पाश्चात्य जगत् की कला-मर्मज्ञता का जौहर दिखाने आये थे। उनसे तो कहीं अच्छा, बल्कि इतना अच्छा कि पटतर देना व्यर्थ है, एक बार, कलकत्ता के अल्फ्रेड थिएटर में, अंध-बधिर-विद्यालय के

नेत्रहीन छात्रों ने 'मेवाड़-पतन' का अभिनय किया था। उपर्युक्त 'मतवाला'-मंडलाधीशों के साथ मैं भी अंध-अभिनेताओं के उस अभिनय में गया था। वास्तव में यह परखना कठिन था कि अभिनेता अन्धे हैं या आँखवाले। बड़े ही कौशल से, सराहनीय सफाई के साथ, अभिनय सम्पन्न हुआ। एक प्रहसन भी अभिनीत हुआ। वह तो ऐसा सुशिक्षापूर्ण, मनोरंजक और विशुद्ध था कि वैसा निर्दोष प्रहसन हिन्दी-रंगमंचों पर शायद ही देखने में आता है। क्यों न हो, जहाँ विश्वकवि रवीन्द्रनाथ स्वयं सपरिवार रंगमंच पर अवतीर्ण होकर अपने साहित्य की गौरव-वृद्धि करते हैं, वहाँ के अन्धे अभिनेता भी अगर कमाल दिखायें तो कोई अचम्भे की बात नहीं।

किंतु, हमारे यहाँ—हिन्दी-संसार में—अभिनेता होना बड़ी लज्जा की बात है। जो नाटकों में अभिनय करने में जितनी ही अधिक दिलचस्पी लेता है, वह उतना ही बड़ा आवारा समझा जाता है। काशी की जिस नागरी-नाटक-मंडली की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, उसके पास सम्पत्ति और सामग्री की कमी नहीं है, पर उसके सदस्यों से मुझे मालूम हुआ है कि उसे अच्छे अभिनेता बहुत कम मिलते हैं, और जो कामचलाऊ मिलते भी हैं, वे अपने घरवालों और पड़ोसियों के धिक्कार-फटकार से घबराकर नाट्यकला का नियमित अभ्यास नहीं कर पाते। यदि उन्हें अवसर और उत्साह मिलता, तो अपना शौक पूरा करने के साथ-साथ वे अपने साहित्य और स्वदेश का बहुत कुछ उपकार करते। यही हाल प्रायः सभी हिन्दी नाटक-मंडलियों का है। खासकर 'फीमेल पार्ट' करने के लिए तो बहुत ही कम पात्र मिलते हैं। मूँछ मुँड़ाकर अभिनेत्री बने कि 'गुंडा' प्रसिद्ध हुए !! साड़ी पहनकर रंगमंच पर उतरना क्या है, मानों राहचलतों को भी आवाज कसने का मौका देना है! न जाने, हिन्दी-समाज के लोगों के विचार इतने भ्रष्ट और पतित क्यों हो गये हैं! केवल नाटक में पार्ट करने से ही कोई युवक या छात्र बदमाश निकल जायगा या पढ़ना-लिखना छोड़कर मटरगश्ती करने लगेगा, यह धारणा हिन्दी-समाज में ऐसी बद्धमूल हो गई है कि हिन्दी की कितनी ही नाटक-मंडलियाँ, अन्य सब साधनों से सम्पन्न होकर भी, केवल सुयोग्य अभिनेताओं के अभाव से, अपनी भाषा, अपने साहित्य, अपने समाज और स्वदेश का कुछ हित नहीं कर पातीं।

वंगीय रंगमंच पर तो 'फीमेल-पार्ट' करनेवाली वेश्याएँ भी बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। बँगला की प्रसिद्ध अभिनेत्री 'तारा सुन्दरी' जिस समय कोई प्रधान पात्री बनकर स्टेज पर आती है, कोई उसे वेश्या नहीं कह सकता। यहाँ तक कि पुरुष की भूमिका में उतरने पर उसे परखना कठिन हो जाता है। फीमेल-पार्ट में तो, बूढ़ी होने पर भी, रंगमंच पर दीपक की तरह बलने लगती है। उसके अभिनय-कौशल की प्रशंसा करते बंगाल के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पत्र नहीं अघाते। उसका चित्र छापने में भी किसी को संकोच नहीं होता। कभी किसी को कहने का अवसर नहीं मिलता कि वेश्या से आदर्श देवी का पार्ट क्यों कराया जाता है। भादुड़ी महाशय (राम) के साथ जब 'मिस प्रभा' सीता के वेश में रंगमंच पर आती है, तब कोई घोर छिद्रान्वेषी भी नहीं कह सकता कि यह वेश्या है। उसकी मंजुल मुखश्री, शान्त भाव-भंगिमा, विमल नेत्र-कान्ति, सरल गम्भीरता, मृदु-मंद

मुस्कान, मंथर गति और मधुर वाणी—सब कुछ 'सीता' के आदर्श के रंग में शराबोर होता है। उसे वेश्या-रूप में पहचाननेवाला भी अभिनय के समय उसे प्रत्यक्ष 'सीता' के रूप में ही देखता है। क्यों न देखे, स्वाभाविकता और आदर्श के पीछे जब स्वयं अभिनेत्री अपने व्यक्तित्व को भूल जाती है, तो फिर सहृदय दर्शक कैसे मुह्यमान हुए बिना रह सकता है। पारसी थिएटर की 'मिस पुटी' भी तो 'सीता' की भूमिका में कलकत्ता के अल्फ्रेड करिंथियन-रंगमंच पर उतरती है। नेपथ्य से रंगमंच पर आते-आते तक न जाने कितनी बार उसकी कमर बल खा जाती है। प्रत्येक 'प्रस्थान' और 'प्रवेश' में वह फतह-पेंची लचक-मटक दिखाती है कि कितने ही छापा-तिलकधारी रामभक्तों का ईमान डोल जाता है। बड़े-बड़े धर्मात्मा सेठ भी आर्चेष्ट्रा में बैठे-ही-बैठे ऐंठने लग जाते हैं। उसकी एक-एक चंचल चितवन में सीता के आदर्श की हत्या और हर एक मनहर मुस्कान में राम की मर्यादा की अवहेलना होती है।

और, वहाँ के 'राम' भी बड़े रसीले होते हैं। नेपथ्य की ओर जाते समय ऐसी तिरछी निगाहों के साथ सीता को अपनी लटपटी गलबहियों में समेट ले जाते हैं कि तालियों की गड़गड़ाहट के मध्य उन्हें बारम्बार 'प्रस्थान' और 'प्रवेश' करना पड़ता है। कहिए, कहाँ छमाछम और कहाँ आदर्श! क्यों न समझदारों को इस बात का एतराज हो कि वेश्याओं से देवियों के पार्ट न कराये जायँ? रंगमंच तो वास्तविकता, स्वाभाविकता और आदर्श के प्रकृत प्रदर्शन का स्थान है, यारों के फँसाने का शिकारगाह नहीं—अपने हुनर और नखरे का इश्तहार चिपकाने के लिए पोष्टर-बोर्ड नहीं। किन्तु, इसे समझे कौन? हमारे समाज की जनता ही ऐसी बुद्धू है कि नाटक को वेश्यानृत्य की तरह सिर्फ दिलबस्तगी का एक सामान समझती है।

आशा है, इस लेख को पढ़कर नाटक-प्रेमी सज्जन टुक विचार करेंगे और बंगालियों के नाटक-प्रेम से कुछ सबक भी सीखेंगे। हमारी तो ईश्वर से यही प्रार्थना है कि नाटक-जैसे साहित्य के उत्तमाङ्ग पर हिन्दीवालों का पूर्ण अनुराग और श्रद्धा हो। साथ ही, पत्र-सम्पादकों से प्रार्थना है कि जब तक हिन्दी में खास तौर से कोई नाटक-सम्बन्धी पत्र नहीं निकलता, तब तक प्रधान एवं प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में इसके लिए वे कृपा करके विशेष स्तम्भ निश्चित कर दें, या एतद्विषयक सचित्र-अचित्र लेख-संवादादि को प्रश्रय दिया करें, ताकि इस विषय के हर एक बाजू पर सदा प्रकाश पड़ता रहे।* एवमस्तु!

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष ६, : श्रावण, ३०४ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०)

●

* इस लेख में जो चित्र छपे थे, उनका संक्षिप्त विवरण—१. श्रीकृष्ण और द्रौपदी—श्रीइन्दुभूषण मुखोपाध्याय और श्रीमती विभावती; २. आलमगीर—श्रीशिशिरकुमार भादुड़ी, एम० ए०; ३. भीम—श्रीननिगोपाल मल्लिक; ४. अर्जुन—श्री अहीन्द्र चौधुरी; ५. नियति (भाग्य)—श्रीमती नीहारबाला; ६. राम—शिशिरकुमार भादुड़ी; ७. लव—श्रीजीवनभूषण गंगोपाध्याय; ८-९. बाबू सुरेन्द्रनाथ घोष (दानी बाबू)—आह्लाद की मुद्रा में, भय की मुद्रा में; १०. दुःशासन—श्री दुर्गादास बंधोपाध्याय।

वंगीय रंगमंच का इतिहास[1]

[१]

इतिहास का आरम्भ

इस बात का तो कहीं पता नहीं लगता कि कलकत्ता के सिवा बंगाल-प्रान्त के किसी अन्य स्थान में कभी कोई बँगला-नाटक खेला गया या नहीं; परन्तु इतना पता जरूर लगा है कि कलकत्ता-नगर के शामबाजार-मुहल्ले में—बाबू एन्० के० बोस के घर पर—सबसे पहले बँगला नाटक खेला गया था। वह 'रामलीला' या 'रासलीला' के ढंग का था। उसके लिए किसी प्रकार का रंगमंच नहीं बना था। सम्पूर्ण अभिनय देखने के लिए दर्शकों को एक स्थान से उठकर दूसरे स्थान पर जाना पड़ा था। उस नाटक का नाम भी नहीं मालूम!

किन्तु, रंगमंच की रचना करके सबसे पहला नाटक भी कलकत्ता में ही खेला गया था। यह सन् १८५७ ई० की बात है—जिस समय देश में गदर मचा हुआ था। चरकडाँगा—मुहल्ले में बाबू रामजय बसाक के घर पर रंगमंच बना था। उसपर रामनारायण तर्कालंकार-रचित 'कुलीन-कुल-सर्वस्व' नाटक अभिनीत हुआ था। कहते हैं, बंगाल में पहले पहल नाटक के नियमानुसार यही अभिनय हुआ था।

किन्तु, सरकारी ऑफिस के कागज-पत्रों से पता लगता है कि बँगला-नाटक का सबसे पहला अभिनय सन् १७९५ ई० में हुआ था। उसकी व्यवस्था एक रूसी साहब ने की थी। उनका नाम था 'लवडफ' (Lovedoff) और उनके सहयोगी तथा सहायक थे बाबू गोलकनाथ दास। लवडफ साहब यद्यपि रूस देश के निवासी थे, तथापि उन्हें भारतीय साहित्य और कला से विशेष प्रेम था। जो हो, उस अभिनय की सबसे विशेषता—महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उसमें स्त्रियाँ ही पात्र बनी थीं। स्त्रियों के ही द्वारा स्त्री-पात्रियों का अभिनय सम्पन्न होने के कारण उस खेल में बड़ी स्वाभाविकता आ गई थी। उस नाटक का नाम था 'छद्मवेश'। वह अँगरेजी के 'डिसगाइज' (Disguise) नामक नाटक का अनुवाद था। उक्त गोलकनाथ दास ने ही उसका अनुवाद किया था। उन्होंने अपनी ओर से भी कुछ नये गीत उसमें जोड़ दिये थे। यद्यपि उसी समय से 'मनीपुरी-यात्रा' और 'विद्या-सुन्दर' के अभिनयों में स्त्रियाँ ही स्त्री-पात्रियों का काम करती रही हैं, तथापि अन्य नाटकों के अभिनय में—उपर्युक्त नाटक के अभिनीत होने के अस्सी वर्ष बाद तक—किसी

---

१. स्वनामधन्य स्वर्गीय सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का 'बंगाली' नामक अँगरेजी दैनिक-पत्र कलकत्ता से निकलता था। उसके अक्टूबर १९२३ ई० के अङ्क में 'वंगीय रंगमंच का इतिहास' (The Bengalee Stage : Its origin and development through a century and a quarter) नामक लम्बा लेख छपा था। उसके लेखक का नाम 'द नाइट बर्ड' (The Night Bird) था। उस लेख की कतरन मेरे पास हिन्दी के सुपरिचित लेखक श्री शंकरदेवजी विद्यालंकार ने भेजी थी, जो सूपा (सूरत, गुजरात) के गुरुकुल में अध्यापक हैं। उसी कटिंग से जानने योग्य बातों का संग्रह करके यह लेख तैयार किया गया है। —लेखक

अभिनेत्री का पता नहीं मिलता। हाँ, सन् १८७३ ई० में जब 'बंगाल-थिएटर' की स्थापना हुई, तब से स्त्रियों ही द्वारा स्त्रियों के पार्ट खेले जाने लगे। उसी साल 'ओरिएण्टल थिएटर' और 'नेशनल लीसियम' ने भी स्त्रियों को रंगमंच पर उतारा था; पर थोड़े ही दिनों के लिए। यद्यपि ये दोनों कम्पनियाँ 'बंगाल-थिएटर' से पहले की खुली हुई थीं, तथापि इनका अस्तित्व बहुत थोड़े दिनों तक कायम रहा; इसलिए केवल 'बंगाल-थिएटर' को ही स्थायी रूप से यह श्रेय दिया जा सकता है।

ऊपर जिस 'कुलीन-कुल-सर्वस्व' नाटक का उल्लेख हो चुका है, उसमें बाबू बिहारी-लाल चटर्जी नामक एक सज्जन ने स्त्री का पार्ट किया था। फिर उसी साल (१८५७) में, जब बाबू कालीप्रसन्न सिंह के घर पर रामनारायण तर्कालंकार-रचित 'वेणीसंहार' नाटक अभिनीत हुआ तब भी बिहारीलाल बाबू ने ही स्त्री का पार्ट किया था। इस खेल के अभिनेताओं में स्वयं बाबू कालीप्रसन्न सिंह तो थे ही, मिष्टर डबल्यू० सी० बनर्जी भी थे, जो कभी इंडियन-नेशनल-काँगरेस के सभापति भी हुए थे।

सन् १८७३ ई० में ही 'शकुन्तला' नाटक भी खेला गया था। अभिनय बाबू आशुतोष देव (चट्टू बाबू) के घर पर हुआ था। चट्टू बाबू के पौत्र श्रीशरच्चन्द्र घोष, बाबू प्रियमाधव वसु मल्लिक और बाबू बिहारीलाल चटर्जी ने उस अभिनय में अच्छा कौशल दिखाया था। श्रीशरच्चन्द्र घोष ही 'बंगाल-थिएटर' के संस्थापक थे। उनके साथ इसी अभिनय में बाबू बिहारीलाल चटर्जी का परिचय और सम्बन्ध हुआ।

कलकत्ता के बड़ाबाजार में 'सिन्दुरिया पट्टी' प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ दो मुख्य सड़कें—हरिसन रोड और चितपुर रोड—मिली हुई हैं। वहीं पर कहीं बाबू गोपाललाल मल्लिक का मकान था। उसी में स्वनामधन्य बाबू केशवचन्द्र सेन के अनुरोध से 'विधवा-विवाह' नामक नाटक का अभिनय सन् १८६० ई० में हुआ था। यह नाटक स्वर्गीय सर रमेशचन्द्र मित्र के बड़े भाई बाबू उमेशचन्द्र मित्र का लिखा हुआ था। इसमें भी बाबू बिहारीलाल चटर्जी ने 'सुलोचना' का बड़ा ही गौरवपूर्ण अभिनय किया था।

सन् १८६७ ई० की १२ वीं फरवरी को, शोभा-बाजार की राजवाड़ी में, माइकेल मधुसूदन दत्त का 'कृष्णाकुमारी' नामक नाटक पहले-पहल खेला गया था। उसमें उक्त बिहारी बाबू ने 'भीम सिंह' की भूमिका धारण की थी। उस अभिनय के दर्शकों में वंगीय नाट्य-साहित्य के प्रमुख स्तम्भ श्री गिरीशचन्द्र घोष भी उपस्थित थे। किन्तु, गिरीश बाबू को क्या पता था कि निकट भविष्य में उन्हें भी सार्वजनिक रंगमंच पर 'भीम सिंह' के वेश में उतरना होगा। कुछ साल बाद वही हुआ भी।

सन् १८६७ ई० में ही, बाबू जयमित्र के पुत्र बाबू पाँचकौड़ी मित्र के घर पर—अपर-चितपुर रोड के मकान नम्बर ३११ में—माइकेल मधुसूदन दत्त-रचित 'पद्मावती' नाटक का अभिनय हुआ था। इसमें उपर्युक्त बिहारी बाबू ने ही 'इन्द्रनील' का पार्ट किया था। इसी नाटक का अभिनय सुरीपाड़ा के निवासी बाबू जगन्नाथ साहा के घर पर भी हुआ था। इसमें बाबू नगेन्द्रनाथ बनर्जी और बाबू प्रियमाधव वसु मल्लिक का अभिनय-

कौशल दर्शनीय था। प्रियमाधव बाबू ने इस नाटक के लिए स्वयं कुछ अच्छे गीत भी बनाये थे।

इसके बाद, उक्त बाबू नगेन्द्रनाथ जी बनर्जी ने 'सधवार एकादशी' नामक नाटक के अभिनय का प्रबन्ध किया। इसमें स्वनामधन्य बाबू गिरीशचन्द्र घोष ने 'नेमचन्द' की भूमिका धारण की थी। नाट्य-साहित्य में गिरीश बाबू का यही प्रथम पदार्पण था। बाबू अर्द्धेन्दुशेखर मुस्तफी भी इसी नाटक में पहले-पहल रंगमंच पर उतरे थे—यह आगे चलकर अत्यंत प्रसिद्ध और यशस्वी अभिनेता हुए। बाबू नगेन्द्रनाथ बनर्जी और बाबू राधामाधव कर ने भी इसमें अभिनय किया था, बाबू धर्मदास सूर और बाबू योगेन्द्रनाथ मित्र ने रंगमंच की व्यवस्था का भार अपने हाथों में लिया था।

'सधवार एकादशी' नामक नाटक कई स्थानों में खेला गया। एक जगह मुकर्जी-पाड़ा में बड़ी सफलता से इसका अभिनय हुआ। बाबू दीनानाथ बोस के घर पर भी यह अच्छे ढंग से खेला गया। उक्त बाबू गिरीशचन्द्र घोष के ससुर के घर पर यह अंतिम बार अभिनीत हुआ था। इसमें नेमचन्द का पार्ट 'टॉड राजस्थान' के सम्पादक बाबू गोपाल-चन्द्र मजुमदार करनेवाले थे; किन्तु एकाएक अन्तिम समय में गिरीश बाबू को ही वह पार्ट करना पड़ा। ससुराल में पहले-पहल वही अभिनेता बने थे!

उसी साल शिवपुर (हवड़ा) की एक मण्डली ने 'रामाभिषेक' नाटक का अभिनय किया। इसके लिए, स्वनामधन्य सर शारदाचरण मित्र के उद्योग से, सरकारी खजाने के दीवान बाबू रामप्रसाद मित्र के घर पर रंगमंच बनाया गया था।

स्थायी रंगमंच की व्यवस्था

उपर्युक्त अभिनयों से नाटकानुरागियों में बड़ा उत्साह उत्पन्न हुआ। अभिनेताओं की मंडली भी अच्छी जम गई थी। दर्शकों में केवल भद्र पुरुष ही आते थे। सबकी रुचि और प्रवृत्ति अनुकूल देखकर बाबू नगेन्द्रनाथ बनर्जी, बाबू धर्मदास सूर और बाबू योगेन्द्रनाथ मित्र ने अपने हस्ताक्षर से एक योजना-पत्र प्रकाशित किया; उसी के साथ एक अपील भी थी, जिसमें एक स्थायी रंगमंच की स्थापना और आवश्यकता पर बड़ा जोर दिया गया था। किन्तु, स्वनामधन्य गिरीश बाबू ने जनता से अपील करने की बात काट दी। उन्होंने इस बात का तीव्र विरोध किया। कारण असल यह था कि अबतक के सभी अभिनयों में केवल धनी-मानी और प्रतिष्ठित सज्जन ही आमन्त्रित किये जाते थे, सर्वसाधारण जनता इन अभिनयों को किसी प्रकार नहीं देखने पाती थी। गिरीश बाबू की राय थी कि केवल नगर के धनी मानी रईसों से ही सहायता ली जाय; क्योंकि वे ही फ्री-पास पर सादर बुलाये जाते हैं—और सर्वसाधारण जनता को कभी किसी प्रकार की सुविधा नहीं दी जाती; इसलिए जनता के सामने हाथ न फैलाया जाय।

अन्त में उक्त योजना विफल हो गई। किन्तु, स्थायी रंगमंच की अवश्यकता का अनुभव सब लोग करते रहे। साहित्य-व्यसनी लोग बराबर इस धुन में लगे रहे कि किसी

तरह यह काम पूरा हो जाय। किन्तु, तत्काल तो कुछ न हो सका। हाँ, अभिनयों का क्रम चलता रहा।

'सधवार एकादशी' के बाद 'लीलावती' नाटक बड़े समारोह से अभिनीत हुआ। इसमें गिरीश बाबू ने 'ललित' की और अर्द्धेन्दुशेखर मुस्तफी ने 'हरविलास' की भूमिका धारण की थी। 'हेमचन्द्र' के वेश में नगेन्द्रनाथ बनर्जी और 'नादरचन्द' के वेश में योगेन्द्रनाथ मित्र रंगमंच पर अवतीर्ण हुए थे। स्त्री-पात्र का काम किया था राधामाधव कर और सुरेशचन्द्र कर ने। राधामाधव बाबू 'क्षीरोदवासिनी' बने थे और सुरेश बाबू 'लीलावती'। बाबू महेन्द्रनाथ बोस और बाबू मोतीलाल सूर ने भी इस नाटक में अच्छा पार्ट किया था। इसका अभिनय दो बार बाबू वृन्दावन पाल के घर पर—न० २, वृन्दावन पाल लेन में—हुआ था। तीसरा अभिनय शान्तिराम घोष स्ट्रीट में हुआ। इसी सिलसिले में बाबू दीनबन्धु मित्र के भी कुछ नाटक खेले गये।

अभिनेताओं का उत्साह कभी कम न हुआ। शिक्षितों की पूरी सहानुभूति थी। उन्हीं से उत्तेजना भी मिलती थी। धीरे-धीरे अभिनेताओं की एक खासी मंडली तैयार हो गई। पारस्परिक संघटन के बल से इन लोगों ने एक कम्पनी-सी कायम कर ली। वंगीय नाट्य-साहित्य के दो विशाल स्तम्भ इस कम्पनी के आधार थे—बाबू अर्द्धेन्दुशेखर मुस्तफी और बाबू अमृतलाल बोस। इन लोगों के समर्थक और सहायक कई कुशल अभिनेता और प्रभावशाली व्यक्ति थे, जिनमें महेन्द्रलाल बोस, मोतीलाल सूर, नगेन्द्रनाथ बनर्जी, किरणचन्द्र बनर्जी, राधामाधव कर, राधागोविन्द कर, धर्मदास सूर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इसी दल के लोगों ने 'नवीन तपस्विनी' नामक नाटक भी खेला, जिसमें अर्द्धेन्दु-शेखर मुस्तफी ने 'जलधर' का पार्ट किया था। और, माइकेल मधुसूदनदत्त-रचित 'कृष्णा कुमारी' के अभिनय में गिरीश बाबू ने 'भीम सिंह' का पार्ट किया—ऊपर कहीं इस बात का संकेत भी किया गया है।

ईश्वर की दया से पुनः स्थायी रंगमंच की स्थापना का उद्योग आरम्भ हुआ। विचार तो पहले ही स्थिर हो चुका था और निरन्तर प्रयत्न भी होता चला आ रहा था; किन्तु इस बार का उद्योग सफल हुआ। स्थायी रंगमंच बनाने के लिए जोड़ासाँखू (कलकत्ता) के 'सान्याल-हाउस' का हाता पसंद किया गया। लेकिन, जमीन खरीदने के लिए काफी रुपये न थे, इसलिए चार महीने के वास्ते ठेके पर जमीन ले ली गई। काम-चलाऊ स्टेज भी बन गया। बाबू भुवनमोहन नियोगी के बैठकखाना-रोडवाले मकान में अभिनेताओं ने 'नीलदर्पण' नामक नाटक का अभ्यास (रिहर्सल) भी आरम्भ कर दिया।

सबसे पहला रंगमंच —'नेशनल थिएटर'

उपर्युक्त सान्याल-हाउस के सहन में, सन् १८७२ ई० की १७वीं दिसम्बर को 'नेशनल थिएटर' का शुभ जन्म हुआ। तात्पर्य यह है कि उसी दिन पहले-पहल सर्वसाधारण जनता के सामने 'नीलदर्पण' नाटक अभिनीत हुआ। किन्तु, गिरीश बाबू इसमें शामिल न

हुए ; क्योंकि वह टिकट बेचकर नाटक खेलने के पक्ष में न थे। उनका कहना था कि जब बहुत बड़े पैमाने पर थिएटर खोला जाय, तब टिकट लगे। मगर शुरू में ही ऐसा होना सम्भव न था। इसलिए, लाचार होकर छोटे दायरे में ही काम शुरू करना पड़ा।

जब सान्याल-हाउसवाले मैदान के ठेके की अवधि समाप्त हो गई, तब लोग स्टेज को उखाड़कर राजा राधाकान्त देव बहादुर की शोभा-बाजारवाली राजबाड़ी में ले गये। उसी समय 'टाउन-हॉल' में 'नीलदर्पण' खेला गया था। उस अभिनय की आमदनी 'मेयो-अस्पताल' की इमारत बनाने के लिए दे दी गई। सौभाग्यवश उस अभिनय में गिरीश बाबू भी शरीक हुए थे। इसी प्रकार 'अलबर्ट-हॉल' बनाने के लिए भी एक अभिनय किया गया था।

यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि सन् १८७२ ई० की ७ वीं दिसम्बर को ही पहले-पहल टिकट बेचकर 'नीलदर्पण' का अभिनय सर्वसाधारण को दिखलाया गया था। इसके पहले कभी किसी खेल पर टिकट नहीं लगा था। यह काम 'नेशनल-थिएटर' के जन्म के साथ ही शुरू हुआ। पूर्व के सभी अभिनयों में केवल धनी-मानी और प्रतिष्ठित सज्जन ही निमंत्रण-पत्र पर बुलाये जाते थे। जिन्हें फ्री-पास पाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं था, वे अभिनयों के दर्शन से वंचित ही रहा करते थे। किंतु, टिकट बिकने का प्रबन्ध होते ही जनता उमड़ पड़ी। अपार भीड़ होने लगी। बँगला के नाटकों की लोकप्रियता दिन-दिन बढ़ने लग गई। इसीलिए, 'नेशनल थिएटर' को सर्वप्रथम वंगीय रंगमंच कहलाने का गौरव प्राप्त है, और वास्तव में ७ दिसम्बर सन् १८७२ ई० ही वंगीय रंगमंच की शुभ जन्म-तिथि है।

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष ११, पौष, ३०९ तुलसी-संवत् (१९८९ वि०)

●

[२]

नेशनल और ग्रेट नेशनल थिएटर

नेशनल थिएटर के स्त्री-पात्रों में निम्नलिखित अभिनेताओं के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—श्रीअर्द्धेन्दुशेखर मुस्तफी, श्री अमृतलाल बोस, श्री महेन्द्रलाल बोस, श्री अमृतलाल मुकुर्जी (बेल बाबू) और श्री क्षेत्रमोहन गांगुली। इन अभिनेताओं ने बड़ी सफलता के साथ स्त्री-पात्रों के अभिनय किये। गांगुली महाशय तो प्रत्येक अभिनय में तबतक प्रधान स्त्री-पात्र बनते रहे, जबतक इस काम के लिए स्वयं स्त्रियाँ न तैयार हुईं या अच्छी अभिनेत्रियाँ न मिल सकीं। बेल बाबू गांगुली महाशय के सहपाठी थे। जिस समय 'सधवार एकादशी' के बाद श्री गिरीशचन्द्र घोष, श्री नगेन्द्रनाथ बनर्जी और श्री धर्मदास सूर 'लीलावती' का रिहर्सल कर रहे थे, उसी समय श्री नगेन्द्रनाथ बनर्जी ने गिरीश बाबू से गांगुली महाशय का परिचय कराया। गिरीश बाबू ने उन्हें स्त्री-पात्र के लिए तुरन्त चुन लिया।

बंगाल-थिएटर के अधिकारियों और संचालकों से, एक महज मामूली बात के लिए, श्री धर्मदास सूर और श्री भुवनमोहन नियोगी की अनबन हो गई। इस खटपट का नतीजा यह हुआ कि सूर और नियोगी महोदय के उद्योग से 'ग्रेट नेशनल थिएटर' का जन्म हुआ। इसकी इमारत बीडन स्ट्रीट में बनी, जहाँ आजकल 'मिनर्वा-थिएटर' स्थित है। नियोगी महाशय ने रुपये दिये और सूर महाशय की देखरेख में इमारत बनी। सूर महाशय ही इसके मैनेजर बनाये गये। श्री योगेन्द्रनाथ मित्र ने भी इमारत बनाने में आर्थिक सहायता दी थी। पूर्वोक्त सान्याल-हाउसवाले नेशनल-थिएटर के कुछ अभिनेता भी इसके रंगमंच पर अवतीर्ण हुए। सन् १८७३ ई० की इकतीसवीं दिसम्बर को इसके रंगमंच पर सर्वप्रथम 'काम्य-कानन' नामक नाटक अभिनीत हुआ।

यद्यपि गिरीश बाबू ग्रेट-नेशनल-थिएटर के अभिनेताओं में सम्मिलित नहीं थे, तथापि इसके साथ उनका सम्बन्ध अवश्य था। उन्होंने 'मृणालिनी' उपन्यास को नाटक का रूप दिया, और सन् १८७४ ई० की चौथी फरवरी को यह बड़ी सफलता से खेला भी गया। उसमें गिरीश बाबू ने 'पशुपति' का पार्ट किया था। इसी प्रकार कुछ महीनों के बाद 'कपाल-कुण्डला' भी नाटक-रूप में परिवर्त्तित होकर अभिनीत हुआ। उसी सन् (१८७४ ई०) की उन्नीसवीं सितम्बर को पहले-पहल 'सती कि कलंकिनी ?' नाटक का अभिनय हुआ। इसी में सर्वप्रथम स्त्रियों का पार्ट करने के लिए स्त्रियाँ रंगमंच पर उतरीं। सन् १८८० ई० तक इस थिएटर के कई स्वत्वाधिकारी हुए। अंत में श्री प्रतापचन्द्र जौहरी नामक एक धनी-मानी मारवाड़ी व्यापारी इसके स्वामी हुए। गिरीश बाबू मैनेजर बनाये गये। वही इसमें खेलने के लिए नाटक भी बनाकर देते थे। वही रिहर्सल में अभिनेताओं को नाट्य-कौशल भी सिखलाते थे। प्रधान पुरुष-पात्र का अभिनय भी उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता था। इसी कारण वह बंगीय रंगमंच के पिता और विधाता कहे जाते हैं।

कुछ बरसों के बाद गिरीश बाबू और जौहरी महाशय का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। जब वह ग्रेट-नेशनल-थिएटर को छोड़कर निकले, तब उनके कुछ साथी भी निकल आये, जिनमें अमृतलाल मित्र, अमृतलाल बोस, अमृतलाल मुकुर्जी (कप्तान बेल), हरिप्रसाद बोस, दासूचरण नियोगी और श्रीमती विनोदिनी दासी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीमती विनोदिनी दासी उस समय बंगीय रंगमंच की उर्वशी थीं।

बंगाल-थिएटर और रॉयल बंगाल-थिएटर

सान्याल-हाउस में नेशनल-थिएटर का जो अभिनय हुआ था, उससे श्री शरच्चन्द्र घोष इतने प्रभावित हुए थे कि अगस्त, सन् १८७३ ई० में उन्होंने उपर्युक्त श्री बिहारीलाल चटर्जी को मैनेजर मुकर्रर कर बंगाल-थिएटर खोल दिया। इसके लिए उन्होंने श्री अनाथ-नाथ देव से बीडन-स्ट्रीट में थोड़ी-सी जमीन ठेके पर ले ली और खोलाबाड़ी की तरह बाँस-फूस से अस्थायी रंगमंच बनवा डाला। इसमें पहला अभिनय अगस्त, सन् १८७३ ई० में हुआ—माइकेल मधुसूदनदत्त-रचित 'शर्मिष्ठा' का। उन्हीं दिनों तारकेश्वर के महंत और 'एली केशी' का एक सनसनीदार मामला चल रहा था। श्री यदुगोपाल चटर्जी ने इसी

अभियोग के आधार पर 'महंतेर ए की काज ?' नामक नाटक लिख डाला। बिहारी बाबू ने महंत का पार्ट किया। इस अभिनय ने धूम-सी मचा दी। बंकिमचन्द्र की 'दुर्गेशनंदिनी' भी नाटक-रूप में बड़ी सफलता के साथ खेली गई। श्री शरच्चन्द्र घोष ने 'जगत सिंह' का पार्ट किया, हरिवल्लभ ने 'उस्मान' का और बिहारी बाबू ने 'अविराम स्वामी' का।

सन् १८७३ ई० में बंगाल-थिएटर की स्थापना हुई थी। उस समय से लेकर अप्रैल १६०१ ई० तक श्री बिहारीलाल चटर्जी उसके मैनेजर रहे। बिहारी बाबू ही उसके जीवन-सर्वस्व थे। उनके मरने के दो सप्ताह के अन्दर ही वह टन बोल गया। श्री शरच्चन्द्र घोष की असामयिक मृत्यु के बाद बिहारी बाबू ने ही उसकी डावाँडोल स्थिति को सँभाला था। वह स्वयं बड़े अच्छे कवि और नाटककार थे। इसलिए, उनके मरने से बंगाल-थिएटर का सर्वनाश ही हो गया।

सन् १८६० ई० में वर्त्तमान सम्राट् पंचमजार्ज के बड़े भाई प्रिंस अलबर्ट विक्टर इस देश में आये थे। उनके कलकत्ता पधारने पर बंगाल-थिएटर ने अँगरेजी में एक उत्तम अभिनय किया। बिहारीलाल बाबू शेक्सपियर के नाटकों के बड़े शौकीन और मर्मज्ञ थे—प्रसिद्ध अँगरेजी-अध्यापक कैप्टन रिचर्डसन् के बड़े प्रिय छात्र थे। उनका अँगरेजी-उच्चारण और भाषण ठीक अँगरेजों के समान होता था। फलस्वरूप, हिज रॉयल हाइनेस प्रिंस अलबर्ट के स्वागत में जो नाटक खेला गया, उससे उन्हें बहुत सन्तोष हुआ—वह बहुत ही प्रसन्न हुए। उनके शुभागमन की स्मृति में बंगाल-थिएटर का नाम 'रॉयल-बंगाल-थिएटर' रक्खा गया। किन्तु, यह भी स्थायी न हो सका!

इसके नामशेष होने पर इसकी कच्ची नाट्य-शाला में कई कम्पनियाँ खुलीं—यूनिक, औरोरा, ग्रैंड-नेशनल इत्यादि; पर कोई कम्पनी स्थायी न हो सकी। आखिर बाँस-फूस की बनी कच्ची रंगशाला ढहा दी गई। उसी जगह—रॉयल-बंगाल-थिएटर की उजड़ी कब्र पर—आजतक एक नई इमारत खड़ी है, जिसमें इन दिनों बीडन-स्क्वायर पोस्ट-ऑफिस वर्त्तमान है।

स्टार-थिएटर और एमेरल्ड-थिएटर

उपर्युक्त श्री प्रतापचन्द्र जौहरी को थिएटर के व्यापार में खासा लाभ हुआ। यह देखकर श्री गुरुमुख राय नामक एक सज्जन को इस व्यापार का चसका लगा। बस, राय महोदय ने देखादेखी स्टार-थिएटर खोल ही दिया। वह सन् १८८४ ई० में बीडन स्ट्रीट में खुला, जहाँ इस समय मनमोहन-थिएटर[1] है। राय महोदय ही उसके स्वत्वाधिकारी हुए। गिरीश बाबू मैनेजर बनाये गये। श्री अमृतलाल मित्र और श्री अमृतलाल बोस प्रधान अभिनेता नियुक्त हुए। उसके रंगमंच पर प्रथम दिन 'दक्ष-यज्ञ' नामक नाटक खेला गया। किन्तु, जिस प्रकार पौराणिक दक्ष-यज्ञ का विध्वंस हुआ था, उसी प्रकार इस 'दक्ष-यज्ञ' के

१. बीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के समय मैं कलकत्ता गया था। उस समय नई सड़क (चित्तरंजन एवेन्यू) के उत्तरीय छोर पर मनमोहन-थिएटर था। किन्तु, अब इधर वहाँ है या नहीं, ठीक नहीं कह सकता। नई सड़क को आगे बढ़ाने के लिए वह टूटनेवाला था।—लेखक

अभिनय से श्रीगणेश होने के कारण 'स्टार' का भी विध्वंस हो गया। श्री गुरुमुख राय स्वर्गवासी हो गये। उनकी रियासत के निरीक्षकों ने स्टार-थिएटर को अमृतलाल बोस, अमृतलाल मित्र, हरि प्रसाद बोस और दासूचरण नियोगी के हाथ बेच दिया। गिरीश बाबू भी बड़ी आसानी से उसमें हिस्सेदार बन सकते थे; किन्तु उन्होंने इसलिए हिस्सेदारी पसन्द न की कि उनके नाटकादि लिखने में बड़ी बाधा पड़ती। फिर भी, उक्त चारों सज्जन उनके शिष्य थे और अपनी साहित्य-सेवा में विघ्न पड़ने के भय से ही उन्होंने अपने शिष्यों को हिस्सेदार बनने दिया एवं खुद मैनेजरी मंजूर कर ली।

सन् १८८४ ई० से १८८७ ई० तक 'स्टार-थिएटर' का सितारा खूब चमका। उसका चमका हुआ व्यापार देखकर कलकत्ता के एक लखपती सज्जन—श्री गोपाल लाल शील—ने उसे खरीदना चाहा। उन्होंने उसके संचालकों के पास बड़ी मोटी रकम का प्रस्ताव भेजा। बड़ी बहस के बाद यह तय हुआ कि स्टार-थिएटर का व्यवसाय हस्तान्तरित किया जा सकता है; पर उसकी साख नहीं बेची जा सकती। यही हुआ। गोपाल बाबू ने एमेरल्ड-थिएटर के नाम से नया व्यापार खड़ा किया और स्टार-थिएटर के मालिकों ने कॉर्नवालिस-स्ट्रीट में जमीन लेकर नये सिरे से अपना धंधा चलाया। स्टार-थिएटर का व्यवसाय हस्तगत करके गोपाल बाबू ने जब एमेरल्ड-थिएटर के नाम से रोजगार शुरू किया, तब प्रथम दिन 'पांडव-निर्वासन' नामक नाटक का अभिनय हुआ था। यह नाटक 'एमेरल्ड-थिएटर' के मैनेजर श्री केदारनाथ चौधुरी का लिखा हुआ था। सर्वश्री अर्द्धेन्दु-शेखर मुस्तफी, महेन्द्रनाथ बोस, मोतीलाल सूर और राधामाधव कर आदि इस थिएटर के प्रमुख अभिनेता थे। किन्तु, जब गोपाल बाबू ने सुना कि स्टार-थिएटर के नाम की साख से लाभ उठाने के लिए गिरीश बाबू से अनुरोध किया जा रहा है, तब उन्होंने सोचा कि गिरीश बाबू के विना नाटकीय व्यवसाय में सफलता पाना टेढ़ी खीर है। बात सच थी। गिरीश बाबू कॉर्नवालिस-स्ट्रीट के 'स्टार-थिएटर' में काम कर रहे थे, इसलिए एमेरल्ड-थिएटर जमता न था। गोपाल बाबू ने रुपये के जोर से गिरीश बाबू को फोड़ना चाहा—स्पष्ट शब्दों में गिरीश बाबू से कह दिया कि बीस हजार रुपये एकमुश्त लेकर 'स्टार-थिएटर' को छोड़ दीजिए और हमारे 'एमेरल्ड' को अपनाइए। गिरीश बाबू बड़ी दुविधा में पड़ गये। एक ओर उन्हें अपने परम प्रिय शिष्यों का मोह था, दूसरी ओर गोपाल बाबू जैसे प्रभाव-शाली और धनाढ्य रईस से शत्रुता हो जाने का भय था। किन्तु, यह असमंजस दूर हो गया। निश्चित हुआ कि गिरीश बाबू एमेरल्ड-थिएटर में चले जायँगे और उन्हें जो बीस हजार रुपये मिलेंगे, वह अपने प्रिय शिष्यों को दे देंगे; क्योंकि उन्हें कॉर्नवालिस-स्ट्रीट में स्टार-थिएटर की इमारत बनवाने के लिए रुपयों की बड़ी जरूरत थी। गिरीश बाबू का यह त्याग केवल वंगीय साहित्य में ही नहीं, भारतीय साहित्य के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

स्टार-थिएटर को बीस हजार रुपये तो मिल गये, मगर गिरीश बाबू के चले जाने से अभिनय के योग्य नये नाटकों का मिलना दूभर हो गया। इस मामले में भी फिर गिरीश बाबू ने अद्‌भुत त्याग प्रदर्शित किया। उन्होंने अपने शिष्यों की आर्थिक सहायता

तो की ही थी, नये नाटक भी लिखकर देने लग गये। पर वे नाटक उनके नाम से प्रकाशित या अभिनीत नहीं होते थे। तारीफ यह है कि यह बात एमेरल्ड-थिएटरवालों से छिपी हुई भी न थी; पर वे गिरीश बाबू-जैसे रत्न के लिए सब तरह की हानि सहने और भारी-से-भारी मूल्य चुकाने को तैयार थे। उनकी उदारता भी साहित्य-संसार के प्रकाशन-व्यवसायियों के लिए आदर्श ही है।

जो हो, गिरीश बाबू जब स्टार-थिएटर से 'एमेरल्ड' में आये, तब 'स्टार' के पास केवल अमृतलाल बोस का एक ही नाटक बच गया था। उस समय तक बोस महाशय ने केवल एक ही नाटक लिखा भी था—'विवाहविभ्राट्'। शायद एक-दो प्रहसन भी लिखे थे; लेकिन इतने से ही व्यवसाय चलना कठिन था। इसलिए, गिरीश बाबू नये नाटक लिखकर देने लगे और इस प्रकार स्टार-थिएटर से अलग होकर भी उसके जीवन-सर्वस्व बने रहे।

सन् १८८८ ई० में गिरीश बाबू का ऐसा ही एक गुमनाम नाटक स्टार के रंगमंच पर बड़ी सफलता के साथ खेला गया था, जिसका नाम था 'नशीराम' और लेखक का नाम था 'सेवक'। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह छिपे रुस्तम 'सेवक' महाशय गिरीश बाबू ही थे।

गिरीश बाबू पाँच साल तक एमेरल्ड के मैनेजर रहे। जब गोपाल बाबू को पूर्ण रूप से विश्वास हो गया कि गिरीश बाबू किसी प्रकार स्टारवालों की सहायता करने से विमुख नहीं हो सकते—केवल उनका शरीर ही एमेरल्ड-थिएटर में है, प्राण और हृदय स्टार ही के साथ हैं—तब गोपाल बाबू ने हताश और विवश होकर श्री महेन्द्रलाल बोस और श्री अतुलकृष्ण मित्र को एमेरल्ड का ठेका दे दिया। जब बोस और मित्र महोदयों ने एमेरल्ड को ठेके पर ले लिया, तब गिरीश बाबू की शर्त्तबंदी टूट गई। वह अपने शर्त्त-नामे के मुताबिक फिर स्टार में चले गये। इस बार जब उन्होंने स्टार को अपनाया तब बड़ी खुशियाँ मनाई गईं। गिरीश बाबू का 'प्रफुल्ल' नामक सामाजिक नाटक बड़े ठाट से खेला गया।

एमेरल्ड में गिरीश बाबू के चले जाने पर स्टार के मैनेजर हुए थे अमृतलाल बोस; किन्तु गिरीश बाबू के लौट आने पर फिर मैनेजरी गिरीश बाबू को ही दी गई। इस बार स्टार में गिरीश बाबू को एक नया अनुभव हुआ। उन्होंने देखा कि अब उनके शिष्य केवल उन्हीं की कृपा पर निर्भर नहीं हैं, क्रमशः स्वावलम्बी बन गये हैं। 'ताज्जुब व्यापार' और 'सरला' नामक नाटकों के अभिनय में उनके शिष्यों को पर्याप्त सफलता मिल चुकी थी। अब वे नये नाटकों के लिए गिरीश बाबू का मुँह जोहने को लाचार न थे। इससे गिरीश बाबू उदासीन या विरक्त न होकर एक प्रकार से संतुष्ट ही हुए; क्योंकि शिष्यों के स्वावलम्बी होने से वह निश्चिन्त-से हो गये। इसलिए, उन्होंने स्टार से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

सिटी-थिएटर और मिनर्वा-थिएटर

जब गिरीश बाबू स्टार-थिएटर से अलग हो गये, तब नीलमाधव बाबू ने भी स्टार से नाता तोड़ लिया। नीलमाधव बाबू के साथ ग्यारह अच्छे अभिनेता निकल आये। इन ग्यारह नाट्यकारों में श्रीसुरेन्द्रनाथ घोष (दानी बाबू) का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दानी बाबू उक्त गिरीश बाबू के सुपुत्र थे। वंगीय रंगमंच के इतिहास में इन दोनों पिता-पुत्र का नाम सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। गिरीश बाबू वंगीय रंगमंच के ब्रह्मा और दानी बाबू उसके विष्णु थे।

दानी बाबू 'वंगीय रंगमंच-केसरी' कहे जाते थे। गत वर्ष उनका देहान्त हुआ। सामाजिक अभिनयों में उनकी कुशलता और पारदर्शिता देखने ही योग्य होती थी। उनका स्वाभाविक अभिनय वंगीय रंगमंच का शृङ्गार था। वीररस के अभिनय में भी उनका नाट्य-कौशल बड़ा प्रभावशाली और दर्शनीय होता था। चाणक्य, सिकन्दर, बाजीराव प्रभु आदि का स्वांग धारण करने पर वह रंगमंच को वास्तविक रणस्थल बना देते थे।

हाँ, नीलमाधव बाबू के साथ स्टार से जो ग्यारह अभिनेता निकले, उनमें दानी बाबू के सिवा प्रबोधचन्द्र घोष और शरच्चन्द्र बनर्जी (रानू बाबू) का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्हीं लोगों के उद्योग और सहयोग से मछुआबाजार-स्ट्रीट में 'सिटी-थिएटर' की स्थापना हुई। उसके लिए नाट्य-मन्दिर बनवाने की आवश्यकता न हुई। श्री राजकृष्ण राय की 'वीणा' नाट्यशाला का रंगमंच मिल गया। किन्तु, गिरीश बाबू खुल्लमखुल्ला उसमें योग न दे सके; क्योंकि स्टार-थिएटर से उनकी सहानुभूति बनी हुई थी—वहाँ से प्रतिमास उन्हें सादर एक सौ रुपया पुरस्कार-स्वरूप मिला करता था। फिर भी, उनके सत्परामर्शों से ही सिटी-थिएटर का बहुत कुछ उपकार हो जाता था।

उन दिनों स्टार-थिएटर का रंग खूब जमा हुआ था। श्री अमृतलाल मित्र उस समय वंगीय रंगमंच के यशस्वी पात्र माने जाते थे। उनकी असामयिक मृत्यु के कारण स्टार के संचालकों को नई व्यवस्था करनी पड़ी। अनेक उपाय और प्रयत्न करके मिनर्वा-थिएटर से श्री अमरेन्द्रनाथ दत्त बुलाये गये। यह महाशय सन् १९१५ ई० तक स्टार के मैनेजर रहे। इनके प्रबन्ध-कौशल और नाट्य-नैपुण्य से स्टार की स्थिति सदा सन्तोषजनक रही। सन् १९१५ ई० में इनका देहान्त हो गया। इसलिए, स्टार के मालिकों ने श्री अनंग-मोहन हाल्दार को थिएटर का ठेका दे दिया। किन्तु, हाल्दार महाशय इस व्यवसाय में असफल हुए। तब श्री गिरिमोहन मल्लिक ने ठेका लिया। इन्होंने बड़े कौशल से मिनर्वा-थिएटर के मैनेजर श्रीअपरेशचन्द्र मुकुर्जी का सहयोग प्राप्त किया। किन्तु, डेढ़ साल के बाद मल्लिक महोदय ने अपरेश बाबू को ठेकेदारी सौंपकर इस कलापूर्ण व्यवसाय से अपना पिंड छुड़ाया। सन् १९२० ई० के अप्रैल महीने में अपरेश बाबू स्टार-थिएटर के सर्वेसर्वा बन गये। सन् १९२३ ई० तक उन्होंने स्वयं इसे चलाया। इसके बाद जून, १९२३ ई० में लिमिटेड-कम्पनी बनाकर निश्चिन्त हो गये।

गिरीश बाबू नाट्य-कला के घोर व्यसनी थे। वह अधिक दिन तक चुप न बैठ सके। उन्होंने मिनर्वा के सोये हुए भाग्य को फिर से जगाना चाहा। टैगोर-वंश के एक सम्बन्धी श्री नागेन्द्रभूषण मुकुर्जी को उन्होंने उभाड़ कर तैयार किया। लगभग नौ महीने के बाद मिनर्वा-थिएटर में नया रिहर्सल शुरू हुआ। यह सन् १८८८ ई० की बात है। नाटक का नाम था 'मैकबेथ'। इसके रिहर्सल में श्री अर्द्धेन्दुशेखर मुस्तफी ने गिरीश बाबू की बड़ी सहायता की। इसी नाटक के सिलसिले में 'मुकुल-मंजरी', 'अबूहसन', 'करामाती बाई' आदि नाटक पहले-पहल मिनर्वा-थिएटर के रंगमंच पर खेले गये।

क्लासिक-थिएटर, कोहनूर-थिएटर और मनमोहन-थिएटर

जिस समय श्री नरेन्द्रनाथ सरकार मिनर्वा के मालिक हुए, उस समय गिरीश बाबू क्लासिक-थिएटर में थे। सरकार महोदय ने गिरीश बाबू को मिनर्वा में बुलाकर नाट्य-संचालक नियुक्त कर दिया। किन्तु, कुछ ही दिनों के बाद श्री अमरेन्द्रनाथ दत्त के अनुरोध से वह पुनः क्लासिक-थिएटर में चले गये। उस समय कुछ दिनों तक क्लासिक ही कलकत्ता का सर्वोत्तम थिएटर रहा। गिरीश बाबू के चले जाने पर उक्त सरकार महाशय ने मिनर्वा को वेणीभूषण राय और प्रियानाथ दास के हाथ बेच दिया। तब अमरेन्द्रनाथ दत्त ने उसे ठेके पर ले लिया। शुरू में दत्त महाशय ने ही इस थिएटर को खोला था। उस समय पंडित क्षीरोदप्रसाद का 'रघुवीर' नामक नाटक इसके रंगमंच पर प्रथम दिन खेला गया था। किन्तु, दत्त महाशय का भी शौक अब पूरा हो गया। उन्होंने श्री मनमोहन पांडे को मिनर्वा का ठेका दे दिया। पांडेजी ने श्री चुन्नीलाल देव को अपना साझीदार बनाया। दोनों साझीदारों ने श्री मनमोहन गोस्वामी को नाटककार नियुक्त किया।

उस समय गिरीश बाबू क्लासिक-थिएटर में थे और अर्द्धेन्दुशेखर मुस्तफी स्टार में। सितम्बर, १६०४ ई० में स्टार ने 'प्रतापादित्य' नाटक का अभिनय किया। उसमें वह बहुत सफल रहा। किन्तु, इस सफलता के बाद ही उसका एक रत्न खो गया। अगले नवम्बर में ही मुस्तफी महाशय मिनर्वा में चले गये। मिनर्वा का भाग्य फिर चमका। चुन्नीलाल देव ने अपना हिस्सा मनमोहन पांडे के हाथ बेच दिया। पांडेजी ने अपरेश बाबू को मैनेजर बनाया। किन्तु, अपरेश बाबू सन् १६०५ ई० की फरवरी से अगस्त तक ही मैनेजर रह सके। फिर भी, मिनर्वा का सितारा चमकता रहा; क्योंकि उस समय गिरीश बाब, दानी बाबू, मुस्तफी महोदय आदि उसके रंगमंच की शोभा बढ़ा रहे थे। उन्हीं दिनों गिरीश बाबू ने 'सिराजुद्दौला' और 'मीरकासिम' की रचना की थी। फलस्वरूप पांडेजी का व्यवसाय खूब चल निकला।

क्लासिक-थिएटर के रंगमंच पर ही कोहनूर-थिएटर का जन्म हुआ। बाबू शरच्चन्द्र राय इसके जन्मदाता थे। गिरीश बाबू और दानी बाबू—पिता-पुत्र—मिनर्वा छोड़कर इसमें शरीक हुए। उसी मिनर्वा में 'छत्रपति शिवाजी' नामक नाटक का रिहर्सल चल रहा था। गिरीश बाबू और दानी बाबू के चले जाने से इस प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक की सफलता में

संदेह उत्पन्न हो गया। अतएव, मनमोहन पांडे ने अमरेन्द्रनाथ दत्त को नियुक्त कर लिया। दत्त महाशय ने 'शिवाजी' की भूमिका धारण की। वह इतने सफल हुए कि स्टार-थिएटर के मालिक उनकी ओर बरबस आकृष्ट हो गये। इस प्रकार दत्त महोदय स्टार में चले गये। उधर कोहनूर में गिरीश बाबू और दानी बाबू अधिक समय तक न टिक सके, वे फिर मिनर्वा में आ गये! सन् १६१२ ई० में पांडेजी ने श्री महेन्द्रकुमार मित्र को मिनर्वा का ठेका दे दिया। मित्र महाशय ने बड़ी सफलता से मिनर्वा को चलाया। उनके मर जाने पर फिर मनमोहन पांडे ने उसका स्वत्व ग्रहण किया, किन्तु तुरन्त ही श्री उपेन्द्रकुमार मित्र को ठेका दे दिया।

मिनर्वा को ठेके पर उठाकर मनमोहन पांडे ने कोहनूर के रंगमंच पर मनमोहन-थिएटर की स्थापना की। कोहनूर को भी उन्होंने खरीद लिया। दोनों को मिलाकर मनमोहन-थिएटर नाम रक्खा। सन् १६२४ ई० तक 'मनमोहन' को अच्छी तरह चलाकर पांडेजी ने उसका ठेका श्री शिशिरकुमार भादुड़ी को दे दिया। क्लासिक और कोहनूर तो अब नामशेष हो गये, परन्तु मनमोहन-थिएटर—यद्यपि उसका रूपान्तर हो गया है—आजतक जीवित है। इसी के रंगमंच पर वंगीय-रंगमंच-शार्दूल श्री शिशिरकुमार भादुड़ी ने नाट्य-मंदिर-थिएटर को जन्म दिया था, जिसका वर्णन कहीं आगे मिलेगा। अभीतक नाट्य-मन्दिर के पुराने रंगभवन का नाम 'मनमोहन-थिएटर' ही लोगों में प्रचलित है।

उपेन्द्र बाबू ने मिनर्वा का ठेका लेकर सन् १६१५ ई० में अपरेश बाबू को मैनेजर बनाया। नये जोश और उत्साह के साथ पहले-पहल श्री द्विजेन्द्रलाल राय का 'सिंहल-विजय' नामक नाटक अभिनीत हुआ। प्रोफेसर क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद का 'किन्नरी' नामक नाटक भी बहुत दिनों तक मिनर्वा के स्टेज पर खेला गया[१]। उपेन्द्र बाबू के उद्योग से मिनर्वा खूब चला। सन् १६२२ ई० में भयंकर अग्निकांड होने से उसका भवन भस्म हो गया। दो-तीन साल तक कम्पनी अपनी नई इमारत के तैयार होने का रास्ता देखती रही। सन् १६२५ ई० में नाट्यमंदिर बनकर तैयार हो गया। नवीन रंगमंच पर कम्पनी नये साज-सामान के साथ उतरी। दो-तीन साल की तैयारी, उत्सुकता और उत्साह ने ऐसा जोर बाँधा कि धूम-सी मच गई। नई इमारत की शान और बरसों का संचित हौसला— दोनों ने नया जोश उभाड़कर मिनर्वा को पुनः लोकप्रिय बना दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि उपेन्द्र बाबू और अपरेश बाबू के उद्योग और सहयोग से मिनर्वा-थिएटर में नई जान आ गई। इसकी सफलता देखकर स्टार के मालिकों ने गिरीश बाबू को फिर अपनी कम्पनी में बुला लिया। उसी समय गिरीश बाबू का 'काला-पहाड़' नामक नाटक स्टार के मंच पर अभिनीत हुआ था। किन्तु, गिरीश बाबू अधिक दिन

---

१. जिस समय मैं कलकत्ता के 'मतवाला-मण्डल' में था, उस समय 'किन्नरी' का अभिनय मिनर्वा-थिएटर में कई बार देखा था। उन्हीं दिनों (स्वर्गीय) पंडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा ने 'किन्नरी' का हिन्दी-अनुवाद किया था, जो प्रकाशित हो चुका है। मिनर्वा में जब आग लगी थी तब भी मैं कलकत्ता में ही था। उसकी नई इमारत मेरे वहाँ रहते-रहते बनी। नई इमारत में सर्वप्रथम 'आत्मदर्शन' नाटक खेला गया, जो महीनो चला। —लेखक

स्टार में न टिके, उनका मन न लगा। वह अमरेन्द्रनाथ दत्त के क्लासिक-थिएटर में फिर चले गये।

सन् १८६२ ई० में क्लासिक-थिएटर खुला था। कोहनूर का जन्म सन् १६१२ ई० में हुआ था। क्लासिक का जन्म पहले 'अमेच्युर-क्लब' के रूप में हुआ था। कुछ नाटक-प्रेमी मित्रों की मण्डली ने मनोरंजनार्थ एक गोष्ठी बनाई थी। उसमें अमरेन्द्र बाबू का प्रमुख भाग था। उस गोष्ठी या मण्डली के सदस्य अभिनय के बड़े शौकीन थे। उनमें उत्साह इतना था कि वे मंच पर उतरने के लिए प्रतिक्षण उत्सुक रहते थे। अमरेन्द्र बाबू ने इस नये उभड़ते हुए उत्साह से लाभ उठाना चाहा। उन्होंने पारसी-रंगमंच पर—कारेन्थियन-थिएटर में—श्री नवीन चन्द्रसेन के 'पलासीर युद्ध' नामक नाटक का अभिनय शुरू किया। उस अभिनय में दत्त महाशय के साथ चुन्नीलाल देव और दानी बाबू भी थे। दूसरा अभिनय मिनर्वा के रंगमंच पर हुआ। मित्र-मण्डली का यह मनोरंजन सबको बहुत पसन्द आया। लोगों ने एक कम्पनी कायम करने पर जोर दिया। इस प्रकार क्लासिक-थिएटर का जन्म हुआ।

जिस सिटी-थिएटर की चर्चा ऊपर हो चुकी है, उसके विषय में यहाँ एक बात और जान लेने की है। उसका प्रबन्ध-भार श्री महेन्द्रलाल बोस और अतुलकृष्ण बोस के हाथ से जब नीलमाधव चक्रवर्त्ती के हाथ में चला आया, तब उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। यह देख अमरेन्द्र बाबू ने उसका ठेका ले लिया। उस समय सिटी-थिएटर के स्वत्वाधिकारी पूर्वोक्त गोपाल लाल शील थे। उनसे ठेका लेकर अमरेन्द्र बाबू ने गिरीश बाबू और दानी बाबू को भी अपने रंगमंच का अभिनेता बना लिया। इस बात का संकेत ऊपर किया गया है। गिरीश बाबू और दानी बाबू के साथ-साथ महेन्द्रलाल बोस भी सिटी-थिएटर के रंगमंच पर उतरते थे। इससे उन दिनों सिटी-थिएटर की बड़ी धूम थी। खासकर 'पांडव-गौरव', 'अलीबाबा' आदि नाटकों के अभिनय बड़े ही आकर्षक और प्रभावशाली हुए थे।

क्लासिक-कोहनूर और मनमोहन-थिएटर के प्रसंग में सिटी-थिएटर की इतनी-सी चर्चा कर देने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि वंगीय रंगमंच के इतिहास में इन्हीं थिएटरों के समान सिटी-थिएटर का भी एक विशेष स्थान है। उसका साथी मिनर्वा आजतक जीवित है। जिस प्रकार क्लासिक के स्टेज पर कोहनूर का जन्म हुआ और मनमोहन के स्टेज पर नाट्य-मन्दिर का, उसी प्रकार सिटी-थिएटर के स्टेज पर कई ऐसे अपूर्व अभिनयों का जन्म हुआ, जिन्हें वंगीय नाट्य-कला के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान मिल सकता है।

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष १२, कार्त्तिक, ३१० तुलसी- संवत् (१६६०वि०)

●

[३]

आर्ट-थिएटर और बंगाल-थिएट्रिकल कम्पनी

जब मिनर्वा-थिएटर का भवन जल गया और मनमोहन का व्यवसाय भी मन्दा पड़ गया, तब सन् १६२३ ई० में श्री अपरेशचन्द्र मुकर्जी ने एक प्राइवेट-लिमिटेड-कम्पनी कायम की। इसी कम्पनी का 'आर्ट-थिएटर-लिमिटेड' नाम पड़ा और स्टार-थिएटर के रंगमंच पर इसका जन्म हुआ। इस कम्पनी में निम्नलिखित प्रतिष्ठित सज्जन सम्मिलित हुए—सर्वश्री कुमार कृष्ण मित्र, निर्मलचन्द्र चन्द्रा, सतीशचन्द्र सेन, भूपेन्द्रनाथ बनर्जी, हरिदास चटर्जी, गदाधर मल्लिक, एच्० के० राय चौधरी, निर्मलशिव बनर्जी आदि। इस कम्पनी ने ता० ३० जून (१६२३ ई०) को पहले-पहल 'कर्णार्जुन'[1] नामक नाटक अभिनीत किया। इस नाटक के अभिनय में कम्पनी खूब सफल हुई। किसी नाटक का अभिनय इसकी तरह कभी सफल नहीं हुआ था। इसके सिवा आर्ट-थिएटर ने और भी कई नये नाटकों का अभिनय किया। सबमें आशातीत सफलता हुई। कई पुराने नाटक भी खेले गये। उनमें भी नये जीवन और नई शक्ति का संचार हो गया।

सन् १६२१ ई० के अप्रैल में मेसर्स मदन-थिएटर्स-लिमिटेड ने वंगीय रंगमंच पर धावा किया। उन्होंने आक्रमण का जो झण्डा फहराया, उसके साथे में कई अच्छे बंगाली अभिनेता जा इकट्ठे हुए। उन अभिनेताओं में दो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—प्रोफेसर शिशिरकुमार भादुड़ी और मिस कुसुमकुमारी। ये दोनों ही मदन-कम्पनी के प्राण थे। इन्होंने उसी साल के नवम्बर में 'आलमगीर' नामक नाटक के अभिनय में ऐसा अभूतपूर्व नाट्य-कौशल प्रदर्शित किया कि करीब-करीब सारे बंगाल में धूम मच गई। प्रोफेसर भादुड़ी ने अभिनय-कला में युगान्तर प्रकट कर दिखाया। उनकी नवीन क्रान्ति की चर्चा चारों ओर होने लगी। उन्होंने एकाएक वंगीय रंगमंच की काया पलट दी। वह बहुत लोकप्रिय हो गये। फिर भी, कम्पनी के मालिकों से ज्यादा दिन उनकी पटी नहीं। सन् १६२२ ई० के दिसम्बर में उन्होंने कम्पनी छोड़ दी। बस, उनके हटते ही मेसर्स मदन की बंगाल-थिएट्रिकल-कम्पनी हवा हो गई।

किन्तु, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मेसर्स मदन ने पैसे के प्रताप से वंगीय रंगमंच की रूपरेखा में अद्भुत परिवर्त्तन कर दिया। वह सजावट, वह जगमगाहट, वह लकदक, वह विलक्षण आकर्षण पहले कभी वंगीय रंगमंच पर नहीं देखा गया था। किंतु, पैसे के बल से सिर्फ स्टेज ही चमकीला-भड़कीला बनाया जा सकता है, स्टेज के प्राण-

---

१. 'कर्णार्जुन' का अभिनय लगातार साल-भर हुआ था। शुक्रवार के सिवा वह प्रतिदिन खेला जाता था। उस समय मैं भी कलकत्ता में था। उसी साल 'मतवाला' निकला था। सौ रात लगातार नाटक खेल चुकने पर बड़ी धूमधाम से उत्सव मनाया गया था। प्रथम उत्सव सम्भवतः देशबन्धु दास की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था। दूसरी बार और तीसरी बार भी, सौ रात बीतने पर, कवीन्द्र रवीन्द्र और आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय की अध्यक्षता में उत्सव मनाये गये थे। उस समय वंगीय साहित्य-सेवियों का समारोह और उल्लास देखने ही योग्य था।—लेखक

स्वरूप कुशल अभिनेता नहीं खरीदे जा सकते। जो सच्चा नाट्य-कलाविद् है, वह केवल कला-मर्मज्ञ और गुणग्राही स्वामी की कम्पनी में ही टिक सकता है। जहाँ सद्व्यवहार और सद्भाव का अभाव हो—कला की परख न हो, केवल पैसे के लिए हाय-हाय हो—वहाँ भला सच्चा स्वाभिमानी कलाविद् कैसे रह सकता है। अगर कलावन्तों की कद्र करने-वाले पूँजीपति हों, तो लक्ष्मी का नाम 'चंचला' न होकर 'अचला' हो जाय।

नाट्य-मन्दिर और मित्रा-थिएटर

सन् १९२४ ई० के मार्च महीने में, डोल-यात्रा के दिन, एलफ्रेड-थिएटर के रंगमंच पर, प्रोफेसर भादुड़ी ने स्वतंत्र रूप से 'वसन्त-लीला' नामक नाटक का अभिनय किया। स्वतन्त्र नाट्य-व्यवसायी के रूप में यही उनका श्रीगणेश था। उक्त रंगमंच पर भादुड़ी महाशय ने लगातार तीन महीने तक अभिनय किया। इसके बाद उन्होंने मनमोहन-थिएटर का ठेका ले लिया। वहाँ उन्होंने उसी साल के अगस्त महीने में 'सीता' नामक नाटक के अभिनय से श्रीगणेश किया। 'सीता' के अभिनय से नई क्रान्ति की लहर उमड़ पड़ी। भादुड़ी महाशय ने दर्शकों की रुचि ही बदल दी। इतना काम करके, सन् १९२५ ई० के 'बड़े दिन' (दिसम्बर) में, उन्होंने अभिनय-कार्य स्थगित कर दिया। अब उन्हें एक लिमिटेड-कम्पनी कायम करने की धुन सवार हुई। जनता के हृदय पर उनके क्रान्तिकारी अभिनय-कौशल की धाक जम ही चुकी थी। इसलिए कम्पनी बनाने में विशेष कठिनाई न हुई। उन्होंने कॉर्नवालिस-थिएटर के रंगमंच पर, 'नाट्य-मन्दिर-थिएटर' के नाम से, अपनी स्वतन्त्र नई कम्पनी को जन्म दिया। वहाँ भी 'सीता' के अभिनय से ही श्रीगणेश हुआ। फिर वहाँ से भादुड़ी महाशय मनमोहन-थिएटर के रंगमंच पर आ गये और 'सीता' के अभिनय से बहुत समय तक दर्शकों को मुग्ध करते रहे।

सन् १९२५ ई० में, गुडफ्राइडे के अवसर पर मित्रा-थिएटर का जन्म हुआ। उसके जनक थे श्रीज्ञानेन्द्रकुमार मित्र, और उसका जन्म-स्थान था वही एलफ्रेड-थिएटर का रंगमंच। उसके जन्म-दिन की खुशी में 'श्रीदुर्गा' नाटक खेला गया था। किन्तु, दुर्गा भवानी को तो मार-काट और खूनखराबी ही ज्यादा पसन्द है, इसलिए जैसा रक्तरंजित श्रीगणेश हुआ, वैसी ही इतिश्री भी हुई। उन्हीं दिनों कलकत्ता में भीषण साम्प्रदायिक दंगा शुरू हो गया। यह थिएटर अभी तीन-चार महीने का बच्चा ही था। दंगे के कारण बेचारे की जान खतरे में पड़ गई; न दूध मिला न बिस्कुट, ऐंठकर रह गया! दंगा भी महीनों चला—साल-डेढ़-साल तक कलकत्ता में आतंक का राज्य रहा। सार्वजनिक शान्ति प्रतिक्षण संकटापन्न प्रतीत होती थी; इसलिए मित्रा-थिएटर श्रीदुर्गाजी के खप्पर में समा गया।

एक पुरानी कहानी

यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बंगीय नाट्यशाला में आर्केष्ट्रा की व्यवस्था का आरम्भ किस तिथि से हुआ, तथापि यह बात सर्वविदित है कि 'मेयो-

अस्पताल' की इमारत बनवाने के लिए टाउनहॉल में जो 'नीलदर्पण' नाटक का अभिनय हुआ था, उसी अवसर पर पहले-पहल वंगीय नाट्यशाला में आर्चेष्ट्रा की व्यवस्था की गई थी। पहले 'नीलदर्पण' के अभिनय का प्रसंग आ चुका है।

गिरीश बाबू के नातेदार श्रीव्रजनाथ देव, जो नं० ५१ शामपुकुर-स्ट्रीट में रहते और जॉन-एटकिंसन-कम्पनी में कार्य करते थे, उन दिनों कलकत्ता में क्लारनेट बजाने में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। उनके पन्द्रह वर्ष बाद शामबाजार-स्ट्रीट के निवासी श्री राजेन्द्रनाथ नियोगी की प्रसिद्धि हुई। यह नियोगी महाशय भी क्लारनेट बजाने की कला में बड़े निपुण थे। इनके पुत्र ननीलाल नियोगी तो बड़े ही सिद्धहस्त थे। सन् १८६० ई० की सातवीं जनवरी को ननीलाल बाबू ने अपना अपूर्व वादन-कौशल प्रदर्शित किया था। उस दिन वंगीय नाट्यशाला के आर्चेष्ट्रा की शोभा देखने ही योग्य थी। स्वर्गीय संगीत की सरस धारा से सारी नाट्यशाला परिप्लावित हो गई। ननीलाल बाबू के क्लारनेट ने वायुमण्डल को नन्दन-वन-विहारिणी 'मंजुघोषा' के नृत्य-संगीत से भर दिया। उस शुभ अवसर पर वर्त्तमान सम्राट् पंचम जॉर्ज के बड़े भाई (स्वर्गीय) प्रिंस अलबर्ट विक्टर भी उपस्थित थे। उन्हीं के स्वागतार्थ उत्सव हो रहा था, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। उस महोत्सव में 'शामबाजार-अमेच्युर-कंसर्ट-पार्टी' भी उपस्थित थी। यह पार्टी ननीलाल बाबू के अनुरोध से ही आई थी। ननीबाबू भी इसी पार्टी के एक अंग थे। सन् १८८३-८४ ई० में जो अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शनी कलकत्ता में हुई थी, उसमें इस पार्टी को कई पदक मिले थे। उक्त महोत्सव में भी प्रिंस अलबर्ट विक्टर ने इस पार्टी का खूब आनन्द लूटा था। पार्टी की भैरवी-रागिनी सुनकर प्रिंस मुग्ध हो गये थे। स्वागत-गान उसी रागिनी में सुनाया गया था। वह स्वागत-गान यद्यपि अँगरेजी में था, तथापि भैरवी-रागिनी ने उसपर भारतीय रंग चढ़ा दिया था। उस गीत के रचयिता श्रीयुत् एन्० सी० बसु० को भी यह आशा न थी कि उनकी अँगरेजी-रचना भारतीय संगीत की धारा में धुल-घुल कर इतनी मधुर हो जायगी। वास्तव में उस गीत के अन्दर भरी हुई प्रेममयी भावुकता और कलावन्तों की श्रद्धापूर्ण तल्लीनता ने प्रिंस अलबर्ट के चित्त को चुरा ही लिया। वह इतने आकृष्ट और प्रेम-पुलकित हो गये कि उस दृश्य का दर्शक ही उनकी आनन्द-विह्वलता का अनुमान कर सकता है, जड़ लेखनी उसका वर्णन नहीं कर सकती।

उस समय भारत के वायसराय थे 'मार्किस ऑफ लैंसडौन'। राजधानी कलकत्ता में थी। बड़े लाट साहब वहीं रहते थे। लाट साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी ने ननी बाबू के पास एक प्रशंसात्मक पत्र भेजा। पत्र के सिवा पुरस्कार भी दिया। धन्य है संगीत की महिमा!

ननीलाल बाबू के सुपुत्र श्री सुरेन्द्रनाथ नियोगी आजकल कलकत्ता के सबसे अच्छे क्लारनेट-कलाविद् माने जाते हैं। अब तो वंगीय रंगशालाओं में कंसर्ट-पार्टी साधारण बात हो गई है। जहाँ जाइए, क्लारनेट के कल-गान की तरंग लहराती मिलेगी।

पुराने और नये अभिनेता तथा अभिनेत्रियाँ

श्री अमरेन्द्रनाथ दत्त की असामयिक मृत्यु के बाद श्री सुरेन्द्रनाथ घोष (दानी बाबू) ही एकमात्र प्रमुख अभिनेता रह गये। उन्होंने वंगीय रंगमंच का खूब ही गौरव बढ़ाया। सन् १६२० ई० में वह मनमोहन-थिएटर की शोभा बढ़ा रहे थे। उस समय उनके सिवा दो और अच्छे अभिनेता थे—स्टार में श्री तारकदास पालित और मिनर्वा में श्री कुंजलाल चक्रवर्त्ती। उसी समय कुछ प्रसिद्ध अभिनेत्रियाँ भी वंगीय रंगमंच को आकर्षण का केन्द्र बनाये हुई थीं—स्टार का रंगमंच मिस तारासुन्दरी की ज्योति से जगमगा रहा था, मिस कुसुमकुमारी और वसंतकुमारी की प्रभा से मेसर्स मदन की बंगाल-थिएट्रिकल कम्पनी आलोकित हो रही थी, मिस चारुशीला के कल-कण्ठ से मिनर्वा का रंगमंच कूजित हो रहा था और मिस शशिमुखी की मुख-चन्द्रिका से मनमोहन की रंगशाला उद्भासित हो रही थी।

इस समय तक वंगीय रंगमंच के विकास का प्रथम युग समाप्त हो गया था। दूसरे नवीन युग का आरंभ किया कुछ नवयुवक अभिनेताओं ने। इन्होंने नाट्य-प्रणाली में परिवर्त्तन करके वंगीय रंगमंच में क्रान्ति उपस्थित कर दी। इनके शुभनाम विशेष रूप से स्मरणीय हैं—श्री नरेशचन्द्र मित्र और श्री राधिकानन्द मुकर्जी ने मिनर्वा के रंगमंच पर युगान्तर का आह्वान किया। प्रोफेसर शिशिरकुमार भादुड़ी और श्री निर्मलेन्दु लाहिड़ी ने भी मेसर्स मदन की बंगाल-थिएट्रिकल-कम्पनी के कॉर्नवालिस-स्टेज पर युगान्तरकारी अद्भुत दृश्य दिखाया। श्री तीनकौड़ी चक्रवर्त्ती, अहीन्द्र चौधरी और दुर्गादास बनर्जी ने आर्ट-थिएटर के रंगमंच पर नये ढंग की नाट्यकला का शृङ्गार करके असंख्य दर्शकों को आकृष्ट किया।

एक दफा दो अँगरेज पुरुष, एक अँगरेज महिला के साथ, आर्ट-थिएटर के अभिनयों की प्रशंसा से आकृष्ट होकर, नाटक देखने आये थे। वे अन्त तक अपने स्थान से न हिले। यवनिका-पतन के बाद उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—"भाषा न समझ सकने पर भी हमलोग नाट्य-भंगी देखकर ही सब दृश्यों के आनन्द का यथार्थ अनुभव कर सके हैं, कहीं हमें कठिनाई या अरुचि नहीं हुई।"

वंगीय रंगमंच पर नवयुग की छवि-छटा छिटकानेवाली नयी अभिनेत्रियों में मिस सुशीला सुन्दरी, मिस नीहारबाला, मिस रानी सुन्दरी, मिस कृष्णभामिनी और मिस प्रभा का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। इन सोने की पुतलियों ने वंगीय रंगमंच को इन्द्र का अखाड़ा बना दिया। इनकी नाट्यलीला का लालित्य, इनकी भाव-भंगी का माधुर्य, इनकी स्वर-लहरी का लास्य-नृत्य, इनकी मंजु-भाषा का सुकोमल सौरभ—सबने मिलकर एक ऐसे विलक्षण रंगलोक की सृष्टि की, जिसमें आत्म-विस्मृति और तन्मयता नाम की दो देवियों के सिवा और किसी का प्रवेश होना संभव न रहा। इन रत्न-पुत्तलिकाओं को वंग-साहित्य-मन्दिर का मणि-दीप कहने में क्या कोई अत्युक्ति होगी?

संभवतः, यह आशा करना अभी दुराशा-मात्र है कि वह समय भी निकट भविष्य में आवेगा, जब कुलीन वंग-महिलाएँ कला की दृष्टि से सार्वजनिक रंगमंच को अपनाने के लिए अग्रसर होंगी। रूस की विश्वविख्यात नर्त्तकी श्रीमती पावलोवा ने इस लेख के (मूल) लेखक से अपनी यह आकांक्षा प्रकट की थी कि जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन कला धन्य एवं कृतकृत्य हो जायगी। किन्तु, भारतीय सामाजिक मर्यादा के जो प्रेमी हैं, वे कला को कृतार्थ करने के लिए गृह-देवियों को गृह-प्रांगण की सीमा का उल्लंघन न करने देंगे। संभव है, उन्नत कला की दृष्टि से वंगीय रंगमंच जिस द्रुत वेग के साथ उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, उसके प्रवाह में कोई अवांछित घटना भी हो जाय।[१]

—'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष १२, पौष, ३१० तुलसी-संवत् (१९९० वि०); ईसवी-सन् १९३३

•

बंगाल के संगीतज्ञ

वंग-देश की शस्य-श्यामला वसुन्धरा अपनी लहलही शोभा के लिए जितनी प्रसिद्ध है, उतना ही अपने साहित्य-संगीत-कला-वैभव के लिए भी। बंगालियों की साहित्यानुरागिता और संगीत-प्रियता का स्पष्ट अनुभव केवल उन्हीं को हो सकता है, जो बंगाल में, कम-से-कम कलकत्ता में भी, कुछ दिन रहकर बंगालियों की सजीवता का दृश्य देख चुके हैं। साहित्य, संगीत, विज्ञान, कला—सबमें बंगाली बहुत बढ़े-चढ़े हैं। आज भी उनमें कवीन्द्र रवीन्द्र सरीखे विश्व-विश्रुत कवि और दिव्य गायक तथा श्री दिलीप कुमार राय-जैसे सहृदय संगीताचार्य मौजूद हैं। आज भी उनके अन्दर शिशिरकुमार भादुड़ी, सुरेन्द्रनाथ घोष (दानी बाबू) और बागची महाशय जैसे कुशल अभिनेता तथा नट वर्त्तमान हैं। आज भी बंगाल चैतन्य महाप्रभु के भक्ति-संगीत से गूँज रहा है। आज भी बंगाल के नगरों और गाँवों के गृहस्थ-परिवार सुमुखी सुकेशी सुनयना सुकुमारियों की सुमधुर स्वर-लहरी से सुधा-सिक्त हो रहे हैं। किन्तु, आज मैं आपको बंगाल के उन संगीत-विद्या-विशारदों के विषय में कुछ सुनाना चाहता हूँ, जिनके कारण ही वंगभूमि के वायुमण्डल में संगीत की सत्ता व्याप्त हो गई है।

बंगाल में विष्णुपुर एक प्राचीन स्थान है। पुराने जमाने में यह 'मल्लभूमि' नाम से प्रसिद्ध एक विस्तृत राज्य था। यहाँ मल्लवंशी राजा राज करते थे। आज भी वहाँ

---

१. सुप्रसिद्ध अँगरेजी मासिक-पत्र 'मॉडर्न रिव्यू' (कलकत्ता) के अक्टूबर-नवम्बर, १९३१ ई० के अङ्क में श्री ब्रजेन्द्र बनर्जी का लिखा हुआ 'वंगीय रंगमंच का आरम्भिक इतिहास' शीर्षक लेख (Early History of the Bengalee Theatre : Based on original sources) देखने में आया। उसमें पूर्व-प्रकाशित 'बंगाली'-वाले लेख से कुछ अधिक नई बातें मिलीं, जो बड़ी खोज से लिखी गई हैं। 'बंगाली'-वाले लेख से जितनी अधिक बातें उसमें हैं, उनको छाँटकर इस लेख में दिया गया है। —लेखक

के भव्य भग्नावशेष प्राचीन कला-कौशल का गौरव प्रकट कर रहे हैं। किन्तु, अपने समस्त प्राचीन वैभवों को खोकर भी वह अपने ध्वंसावशेषों की गुदड़ी में अमूल्य संगीत-रत्नों को छिपाये हुए हैं। इन दिनों भी यहाँ कई प्रसिद्ध संगीतज्ञ हैं। अतीत युग के तो अधिकांश वंगीय संगीतज्ञ यहीं पैदा हुए थे और यहीं उन्हें संगीत-कला की शिक्षा भी मिली थी। यहाँ तक कि आधुनिक युग के अधिकांश प्रसिद्ध वंगीय संगीतज्ञ भी जो भारतीय संगीताकाश के उज्ज्वल नक्षत्र कहे जा सकते हैं, विष्णुपुर स्कूल के ही शागिर्द हैं।

विष्णुपुर के मल्लवंश की बयालीसवीं पीढ़ी में 'पृथ्वीमल्ल' नाम का एक राजा हुआ। उसी के समय में—चौदहवीं शताब्दी में—संगीत-कला यहाँ अवतीर्ण हुई, और तब से बराबर उसकी वृद्धि ही होती चली गई। मल्लवंशी राजाओं ने, दिल्ली के मुसलमान बादशाहों के दरबार से कितने ही बड़े-बड़े उस्तादों को बुलाकर अपने दरबार में रखा और उनके द्वारा संगीत की शिक्षा का प्रसार भी कराया। दिल्ली-दरबार के उन उस्तादों में दो तो बहुत ही प्रसिद्ध और पारंगत थे—एक तो तानसेन का वंशधर 'बहादुर सेन' और दूसरा 'पीरबख्श'। बहादुर सेन को अठारहवीं सदी के शुरू में राजा रघुनाथ सिंह (द्वितीय) दिल्ली से लिवा लाये थे। उसी ने पहले-पहल विष्णुपुर में वैज्ञानिक ढंग से संगीत की शिक्षा का श्रीगणेश किया। उसके सबसे मशहूर शागिर्द थे 'गदाधर चक्रवर्त्ती'।

बहादुर सेन के बाद चक्रवर्त्ती महाशय ही विष्णुपुर-दरबार के संगीताचार्य नियुक्त हुए और फिर उनके बाद उन्हीं के सुयोग्य शिष्य रामशंकर भट्टाचार्य सभा-गायक बनाये गये। भट्टाचार्य बहुत बड़े गवैया थे। उनके बनाये हुए गीतों का शब्द-सौष्ठव, भाव-सौकुमार्य्य और स्वर-माधुर्य बहुत उच्च श्रेणी का है। उन्होंने अपने संगीत-विद्यालय का द्वार सबके लिए उन्मुक्त कर दिया था। विष्णुपुर के सिवा बंगाल के भिन्न-भिन्न भागों से संगीत के विद्यार्थी, काफी संख्या में आकर, उनके यहाँ शिक्षा पाते थे। बाहरी विद्यार्थियों को वह विष्णुपुर-दरबार की ओर से मुफ्त मकान और खाना-कपड़ा भी दिलवाते थे। बंगाल के सुप्रसिद्ध 'कन्हाई' और 'माधो'—जो संगीत के पीछे पागल-से हो गये थे—उन्हीं के चेले थे। किन्तु, उनके सब चेलों में अधिक प्रसिद्ध एवं यशस्वी हुए केवल क्षेत्रमोहन गोस्वामी ही, जो कलकत्ता में महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर के दरबारी गवैया थे और जिन्होंने 'कण्ठ-कौमुदी' तथा 'संगीतसार' नामक पुस्तकों की रचना की थी। और, इन गोस्वामीजी के चेलों में नामी निकले कृष्णधन बनर्जी, जिन्होंने 'गीत-सूत्रसार' नामक ग्रंथ बनाया था और जो कूचबिहार के महाराजा बहादुर के दरबारी मल्लिक थे।

उपर्युक्त रामशंकर भट्टाचार्य के कुछ बरसों बाद 'यदु भट्ट' बड़े ही उद्भट संगीतज्ञ विख्यात हुए। आज भी बंगाल में उनका नाम काफी मशहूर है। पहले तो उन्होंने रामशंकर भट्टाचार्य से ही शिक्षा पाई थी, फिर बाद 'गोबरडाँगा' के निवासी गंगानारायण चट्टोपाध्याय से भी बहुत-कुछ सीखा। वह केवल गानाचार्य ही नहीं, मृदङ्गाचार्य भी थे।

पूर्वोक्त रामशंकर भट्टाचार्य के एक और दूसरे प्रसिद्ध शिष्य भी हुए हैं, जिनका नाम था अनन्तलाल बनर्जी। यह महाशय भी अपने गुरु के बाद विष्णुपुर की राजसभा में संगीताचार्य रहे थे। यह संस्कृत-भाषा के बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी

और बंगला में जो गीत बनाये हैं, वे भाषा, भाव और स्वर के लिहाज से अतीव सुन्दर तथा मनोहर हैं। इनका सारा जीवन विष्णुपुर में ही बीता था। अपने गुरु के खोले हुए संगीत-विद्यालय को इन्होंने बड़ी शान से चलाया। इनके प्रायः सभी चेले समय पाकर बहुत प्रसिद्ध हुए। इनके तीनों पुत्र—प्रोफेसर रामप्रसन्न बनर्जी, प्रो० गोपेश्वर बनर्जी और प्रो० सुरेन्द्रनाथ बनर्जी—बड़े नामी गवैया हैं। गानाचार्य स्वामी राधिकाप्रसाद गोस्वामी भी इन्हीं के शिष्यों में से थे, जिनको लखनऊ के संगीत-कान्फ्रेंस में (जनवरी, १६२५ ई० में) पदक मिला था। यद्यपि इनके समय में विष्णुपुर-दरबार श्रीहत हो गया था—उसके वैभव और उत्कर्ष के दिन प्रायः बीत चुके थे—तथापि इन्होंने केवल अपने बल-बूते पर संगीत-विद्या की ज्योति को वहाँ जगाये रखा। इन्होंने उक्त स्वामी राधिकाप्रसाद गोस्वामी को ग्यारह वर्ष की अवस्था से ही संगीत की शिक्षा दी थी। राधिकाप्रसाद बड़े प्रतिभाशाली, कुशाग्रबुद्धि और होनहार थे। उनके पिता जगतचन्द्र गोस्वामी ही उनको अनन्तलाल बनर्जी के पास बचपन में ही संगीत-शिक्षा के लिए सौंप गये थे। स्वयं जगतचन्द्र भी गान-विद्या के बड़े ही अनुरागी और अच्छे जानकार थे—खासकर उनका कण्ठ-स्वर अत्यन्त ललित एवं मधुर था—वह वास्तव में कोकिल-कण्ठ थे।

शुरू में जिस पीरबख्श का जिक्र हो चुका है, वह मृदङ्ग बजाने में एक नम्बर का उस्ताद था। उसने पूर्वोक्त गदाधर चक्रवर्त्ती के वंशज राममोहन चक्रवर्ती को खूब जी लगाकर मृदङ्ग सिखाया था। उपर्युक्त 'कोकिल-कण्ठ' जगतचन्द्र महाशय इन्हीं राममोहन चक्रवर्त्ती के शिष्य थे। जिस समय जगतचन्द्र गाते और अनन्तलाल मृदङ्ग बजाते थे, उस समय मणि-कांचन-संयोग वस्तुतः चरितार्थ हो जाता था—सुधावृष्टि होने लगती थी।

अनन्तलाल बनर्जी के ज्येष्ठ पुत्र प्रोफेसर रामप्रसन्न बनर्जी अभी जीवित हैं। उन्होंने अपने पिता से सितार बजाना सीखा था। 'सितार' और 'सुर-बहार' के वह मास्टर हैं। वह लगभग तीस साल तक मिदनापुर जिले के स्वर्गीय राजा नरेन्द्रलाल के दरबार में रहकर राजा साहब को सितार सिखाते रहे। उन्होंने 'संगीत-मंजरी', 'मृदङ्ग-दर्पण', 'इसराज-तरंग' आदि ग्रन्थों का निर्माण किया है। 'संगीत-मंजरी' में बहुसंख्यक उत्तमोत्तम ध्रुपद, ख्याल और टप्पे तथा बँगला गीत हैं। उसकी ध्वनि-विन्यास-प्रणाली अत्यन्त परिष्कृत, सूक्ष्मतया विश्लिष्ट, उत्कृष्ट एवं स्पष्ट है। वह एक दर्शनीय ग्रन्थ है।

अनन्तलाल बनर्जी ने अपने दूसरे पुत्र प्रोफेसर गोपेश्वर बनर्जी को भी स्वयं ही शिक्षा दी थी। यह महाशय आजकल बर्दवान-नरेश के दरबार में हैं, और कलकत्ता के 'संगीत संघ' में प्रधानाध्यापक भी हैं। इन्होंने 'संगीत-चन्द्रिका' और 'गीतमाला' नाम की पुस्तकें लिखी हैं। पहली पुस्तक उत्तर-भारत में बहुत लोकप्रिय है। इसका अनुवाद हिन्दी में भी प्रकाशित करने की आवश्यकता है। गोपेश्वर बाबू ने अखिल-भारतवर्षीय संगीत-महासभा और उक्त 'संगीत-संघ' तथा अन्य संगीत-प्रेमियों से कई स्वर्ण-पदक प्राप्त किये हैं। इनके छोटे भाई और शिष्य सुरेन्द्र बाबू आजकल कलकत्ता के आदि-ब्राह्मसमाज के गानाचार्य तथा ब्राह्मसमाज-कन्या-विद्यालय में शिक्षक हैं। इन्होंने अपने बड़े भाई गोपेश्वर बाबू से शिक्षा पाई थी। संगीत के आरम्भिक विद्यार्थियों तथा

जिज्ञासुओं के लिए इनकी 'संगीत-परिचय' नाम की पुस्तक बहुत ही अच्छी है। यह पहले बर्दवान-नरेश और पथरियाहट्टा के महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर के दरबार में रह चुके हैं।

गोपेश्वर बाबू के एक दूसरे सुयोग्य शिष्य हैं—माष्टर सत्यकिंकर बनर्जी। यह महाशय कलकत्ता में महाराजा सर प्रद्योतकुमार ठाकुर के दरबार में हैं। पहले यह 'लालगोला' के राजा साहब और 'पंचकोट' के महाराजा के यहाँ रहते थे। सन् १९१९ ई० में, अखिल भारतीय संगीत-महासम्मेलन के बनारसवाले अधिवेशन में, इनको पदक मिला था। और भी कई जगहों से इन्हें स्वर्णपदक मिले हैं।

अब विष्णुपुर में हरधन बाबू, अम्बिकाचरण काव्यतीर्थ, रामपद बनर्जी आदि संगीतज्ञों से ही प्राचीन गौरव की रक्षा हो रही है। अनन्तलाल बनर्जी के मृदङ्ग-शिष्य बाबू ईश्वरचन्द्र सरकार का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अब वही एकमात्र पुराने मृदङ्गी रह गये हैं। हाँ, पुराने मृदङ्गियों में उपर्युक्त स्व० राधिकाप्रसाद गोस्वामी के बड़े भाई स्व० कीर्त्तिचन्द्र गोस्वामी तथा एक दूसरे कुशल मृदङ्गी स्व० गिरीशचन्द्र चटर्जी अवश्य स्मरणीय हैं। ये दोनों महाशय मृदङ्ग बजाने में अजीब उस्ताद थे।

बड़े खेद की बात है कि उपर्युक्त रामशंकर भट्टाचार्य और गदाधर चक्रवर्त्ती के वंश में कोई संगीतज्ञ अब न रह गया। एकमात्र बाबू नीलमाधव चक्रवर्त्ती अस्सी वर्ष की अवस्था तक पथरियाहट्टा के महाराजा के दरबार में शेष थे।[1]

—मासिक 'सरोज' (कलकत्ता); पुष्प १, दल ५, आश्विन १९८५ (सन् १९२८ ई०)

●

एकता (Unity)

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ, एक परिवार का दूसरे परिवार के साथ, एक समाज के लोगों का दूसरे समाज के साथ, एक साम्राज्य का दूसरे साम्राज्य के साथ, एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक गाँव का दूसरे गाँव के साथ तथा एक देश का दूसरे देश के साथ, विना किसी तरह के भेद-भाव—ईर्ष्या-द्वेष—वैर-विरोध और मनोमालिन्य के परस्पर सद्भाव के प्रसार और प्रीति-रीति के प्रचार तथा एकमत, एक-हृदय और एक-प्राण हो जाने का ही नाम एकता है। एकता की गणना उन स्वर्गीय सद्गुणों में है, जिनके द्वारा उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होने में प्रबल सहायता मिलती है।

जिस देश में एकता का आदर होता है, जहाँ के लोग इसकी उपयोगिता और लाभकारिता अच्छी तरह समझते हैं—वहाँ उन्नति के उपायों का अभाव नहीं है—उत्थान

१. सन् १९२५ ई० के 'फारवर्ड' (अँगरेजी दैनिक, कलकत्ता) की एक विशेष संख्या से संकलित।—लेखक

के साधनों की कमी नहीं है। जो जाति इसका उचित सम्मान करती है, उसका लोहा मानने के लिए संसार भर तैयार रहता है। जिस साम्राज्य में एकता की रक्षा नहीं की जाती, वहाँ की भिन्न-मना प्रजा में घोर अशान्ति का विस्तार देखा जाता है। जिस परिवार में एकता का महत्त्व प्रगट नहीं है, उसमें—धन-जन-सम्पन्न होने पर भी—नरक का भयानक दृश्य उपस्थित रहता है। जिस समाज के अन्दर से एकता की प्रतिष्ठा उठ गई है, वहाँ नाना प्रकार की कुप्रथाओं—घिनौनी कुरीतियों तथा भद्दे कुसंस्कारों—ने विकराल रूप धारण कर लिया है। पुनः दिन-दिन वह सामाजिक शरीर असाध्य रोगों का शिकार बनता जाता है। इसी प्रकार, विचार दौड़ाकर हमलोग देख सकते हैं कि एकता द्वारा किस तरह हित-साधन और कल्याण होना सम्भव है। तथा, एकता का तिरस्कार कर देने से, कितनी शीघ्रता के साथ हम लोगों का अधःपतन—सर्वनाश और सत्ताशून्य हो जाना निश्चय है।

साधारणतः देखिए। एक हाथ से ताली नहीं बजती। चुटकी भी एक अँगुली से नहीं बज सकती। एक पहिये के बल पर गाड़ी भी नहीं चलती। एक अंग से कैंची भी नहीं कतरती। एक खत से लेखनी तक नहीं लिख सकती। यहाँ तक कहते हैं कि एक पर एक रहने से ग्यारह हो जाता है। एक की पीठ पर निकम्मे सिफर भी लगातार जुटते चले जायँ तो करोड़ों की संख्या बात-की-बात में बन जाती है। चींटियाँ, जो संसार में क्षुद्रादपि क्षुद्र जीव हैं, एकता की शक्ति दिखलाकर लोगों को चकित बना रही हैं। एक सूत मक्खी को भी बाँधकर स्थिर नहीं रख सकता। लेकिन, बहुत-से सूत एक-में एक मिलकर हाथी को भी तिल-भर डिगने नहीं देते। यह प्रतिदिन की—आँखों के सामने नाचनेवाली बातें ताक पर रखिए। पाँच तत्त्वों की एकता से रचे गये संसार की ओर दृष्टि मोड़िए। उसमें भी एकता के ज्वलन्त उदाहरण वर्त्तमान हैं।

शाखाओं के मेल से वृक्ष, पत्तों के मेल से पल्लव, पल्लवों के मेल से वृक्ष की शोभा और शीतल छाया का फैलाव होता है। फूलों के मेल से गुच्छे और माला की तैयारी होती है, बहुत-सी किताबों के मेल से एक बड़ी लाइब्रेरी बन जाती है, असंख्य ईंटों के मेल से, भारी-से-भारी नदियों में, पुल बँध जाता है। बहुत-से खपड़ों के जुट जाने से घरों पर छप्पर बन जाते हैं। अनेक वृक्ष-लताओं का समूह एकत्र रहने से सघन वन हो जाता है। हजारों इमारतों के एक जगह रहने से बड़ा-सा नगर बन जाता है। दस उत्साही मनुष्य मिलकर बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ चलाते हैं। दस आदमी के हाथ बँटाने से बड़ी-बड़ी संस्थाओं की कार्यवाही संचालित होती है। तारों की एकता से आकाश की शोभावृद्धि होती और चन्द्रमा की छवि-छटा छिटकती है। बहुत-से फूल मिलकर अपनी सुगन्ध से, वायु द्वारा दिग्दिगन्त को सौरभमय बना देते हैं। अनेक सूत्रजाल एक-में-एक गुँथकर विविध भाँति के वस्त्रों की सृष्टि कर डालते हैं। अक्षरों के मेल से शब्द तथा शब्दों के मेल से महान्-महान् ग्रंथों का जन्म हो जाता है। लाखों लोग एकत्र होकर विराट् मेले का आयोजन कर डालते हैं। बूँदों के मेल से जलाशय भरपूर हो जाता है। करोड़ों लहरें मिलकर नदी को सुन्दर बना देती हैं। अगणित नदियाँ महासागर का अतल गम्भीर उदर

भर देती हैं। इसी तरह सूक्ष्म-सूक्ष्म विचारों और कल्पनाओं द्वारा एकता की महत्ता समझ में आ सकती है। अस्तु ;

ऐसे-ही-ऐसे असंख्य दृष्टान्तों का आश्रय ग्रहण करके, हमलोग अपने परिवार में, गाँव में, जाति में, समाज में और क्रमशः प्रान्त तथा देश में एकता के गौरव का अनर्गल प्रचार कर सकते हैं। इसीके द्वारा पतनोन्मुख जाति सँभल कर खड़ी हो सकती है। जबतक एकता में जीवन-संचार नहीं होगा, तबतक समाज का परिष्कार और परिमार्जन होना आकाश-कुसुम-सा दुर्लभ है। एकता-देवी की ही कृपा से देश में सुशान्ति की तूती बोलती है। यह ध्रुव है कि जिस जाति पर एकता की पूरी धाक नहीं जमी है, उसमें जातीयता का लेशमात्र भी नहीं है। एकता-देवी की अनन्योपासना का ही यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आज दिन संसार की सभी सभ्य और आदर्श जातियों की गणना के समय—सबसे पहले—अँगरेज-जाति का ही नाम आता है।

यही अटल सिद्धान्त रहा कि विना एकता की शरण लिये वाणिज्य-व्यवसाय, पारिवारिक शासन, सामाजिक व्यापार तथा अन्यान्य लौकिक कार्यों में हमलोग किसी प्रकार सफलता का दिव्य दर्शन नहीं प्राप्त कर सकते। अतएव, हमलोगों को घरेलू झगड़ों की जड़ में कुल्हाड़ी मारकर, सामाजिक तत्त्वों का संशोधन कर, राजा और प्रजा में उदारता की ज्योति जगाकर, सब लोगों में सहृदयता और समप्राणता तथा सहानुभूति और भ्रातृ-भाव का बीज उगाकर और आपस के वैमनस्य तथा फूट को बिसार कर, देश को मंगल और आनन्द का भाण्डार बना देने में प्रवृत्त तथा कृतयत्न होना चाहिए।

सचाई और सहिष्णुता का अभ्यास करते-करते और-और उपयुक्त गुणों के सहज सुलभ हो जाने पर, एकता की उद्देश्य-सिद्धि में, हमलोग अवश्यमेव कृतकार्य हो सकते हैं। इसलिए हर तरह की उन्नति और सुख-प्राप्ति चाहनेवाले लोगों को एकता की आराधना अवश्य करनी चाहिए।

—पं० रामदहिन मिश्र-सम्पादित 'रचना-विचार' (द्वितीय भाग) से उद्धृत (सन् १९१७ ई०

•

विद्या और विवेक (Knowledge and Wisdom)

Knowledge is proud that he has learned so much;
Wisdom is humble that he knows no more.

—'*Cowper*'

प्रायः विद्या और विवेक दोनों परस्पर भिन्न हैं। विद्या का स्थान मनुष्य के मस्तिष्क में और विवेक का बुद्धि तथा विचार में है। हमलोग अच्छी-अच्छी उपादेय पुस्तकों से एवं बड़े-बड़े अगाड़धत्त विद्वानों से विद्या-अर्जन करते हैं। किन्तु, विवेक हमलोगों

की अपनी ही आभ्यन्तरिक अनुभूति तथा आत्मानुशीलन से उपजता है। संसार-भर के पदार्थों का परिचय-मात्र करा देना विद्या का सहज काम है। किन्तु, उनके विषय में सत्-असत् का निर्णय, गुण-अवगुण का निराकरण तथा नीच-उच्च का प्रभेद कराना विवेक का स्वाभाविक धर्म है।

विना विद्या के विवेक की स्थिति सम्भव है, किन्तु विना विवेक के विद्या के फलवती, गरिमामयी, चिरस्थायी, उपकारिणी और विशुद्धा होने में सन्देह है। विवेक हमलोगों को केवल सत्प्रवृत्ति की ओर संचालित करता है। किन्तु, हो सकता है कि विद्वान् असद्विचार की ओर झुक पड़ें और उनका पाँव नीचा-ऊँचा पड़ जाय।

विद्या बतलाती है कि माता से हमारा जन्म हुआ है और भार्य्या से विवाह। किन्तु, दोनों में कितना वास्तविक अन्तर है, यह विवेक के ही द्वारा जाना जाता है। विद्या द्वारा अपने आत्मज में तथा पर-पुत्र में कुछ भेद पैठ सकता है। किन्तु, विवेक द्वारा तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त बद्धमूल होता है। विद्या का केन्द्र चाहे संकुचित हो तो हो, किन्तु विवेक में संकीर्णता का लेश-मात्र भी नहीं रहता, बल्कि इसमें प्रशस्त औदार्य्य की परम पराकाष्ठा है।

यदि विद्या सुन्दर शरीर है तो विवेक है उसका नख-शिख-शृङ्गार। विद्या—कल्पलता, विवेक—अमृत-प्रवाह। विद्या—पुष्प, विवेक—पराग। विद्या—नौका, विवेक—केवट। विद्या—मणि, विवेक—प्रभा। विद्या—वसन्त, विवेक—कलकण्ठ। विद्या—काशी, विवेक—विश्वनाथ। विद्या—विविध व्यञ्जन, विवेक—लवण। विद्या—सुन्दरी स्त्री, विवेक—सतीत्व।

विद्या द्वारा चरित्र-गठन होना सर्वथा सम्भाव्य नहीं है, पर विवेक द्वारा चरित्र का सुधार और संस्कार होना ध्रुव है। विवेक के विमल वारि से विधौत होकर विचार का कलेवर इतना निर्मल हो जाता है कि भले-बुरे की जानकारी पा करके मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओं की ओर से हट जाता है और सन्मार्ग पकड़ लेता है।

बड़े सौभाग्य से विद्वानों को आध्यात्मिक ज्ञान-उपार्जन करने का सुअवसर प्राप्त होता है। जो लोग केवल किताबों के कीड़े बने रहते हैं, उनकी दृष्टि में स्थूल जगत् के सिवा सूक्ष्म संसार प्रविष्ट नहीं होता। परन्तु, विवेकी पुरुष की पैनी दृष्टि में बाह्य जगत् तथा अन्तर्जगत् समान रूप से भासित होता है।

विद्या से अहम्मन्यता हो सकती है, लेकिन विवेक से विनय का विकास, प्रतिभा का प्रकाश और मानसिक दुर्विकारों का नाश होता है। विद्वान् लोगों की कुण्ठित बुद्धि जब निरन्तर मनन और चिन्तन से विकसित होती है, तब उन्हें अपने ओछेपन का ज्ञान होता है और वे अपनी न्यूनता की पूर्त्ति के लिए यत्नवान् होते हैं। तदुपरान्त, उनकी चेतन-शक्ति स्फुरित होती है एवं विचार विमल होते हैं। मगर विवेकी की बुद्धि सदा विकसित रहती है और आत्मज्ञान के साथ उनके विचार विशद बने रहते हैं।

विवेक से आध्यात्मिक शान्ति मिल सकती है; क्योंकि इसी के उदय होने से हृदय का मोहान्धकार दूर होता है। इसी के सहारे योगीजन आत्मानन्दरसलीन हो जाते हैं

और निर्वाण-पद-पर्य्यन्त पहुँच जाते हैं। लेकिन विद्या में इतनी क्षमता नहीं है जो इस अवस्था तक पहुँचा सके।

—ग्रंथमाला-कार्यालय (पटना) से प्रकाशित 'रचना-विचार' (दूसरा भाग), सन् १९१७ ई०

•

हमारी दान-प्रणाली

दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः॥[1]

—महाभारत

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं विदुः॥[2]

—भगवद्गीता

हमारे देश में दान की बड़ी महिमा गाई गई है। भारतीय धनिकों की दानशीलता का वर्णन भारतीय साहित्य में भरा-पड़ा है। प्राचीन ग्रन्थों में बड़े-बड़े दानवीरों की कहानियाँ मिलती हैं। आज भारत पराधीन, पद-दलित और शोषित है। तब भी यहाँ आज अनेक आदर्श दानवीर हैं, यह मानना पड़ेगा।

सारे देश में आज नाना प्रकार के अभावों का बोलबाला है। जनता की दरिद्रता पराकाष्ठा को पहुँच गई है। क्षुधा और रोग से प्रपीड़ित असंख्य मनुष्य अकाल-मृत्यु के शिकार हो रहे हैं। पशुधन का भीषण ह्रास हो रहा है। फिर भी तीर्थों में प्रतिदिन लाखों रुपये लुटाये जा रहे हैं। दान-धर्म के विविध कर्म नित्य होते ही रहते हैं। मन्दिरों और धर्मशालाओं के निर्माण की प्रवृत्ति भी सजीव है, भले ही उनके संरक्षण और सुप्रबन्ध की ओर निर्माताओं का ध्यान पर्याप्त न हो।

परलोक सँवारने के लिए तो अगणित प्रकार के छोटे-बड़े दान अहर्निश हो रहे हैं! किन्तु, हमारी दान-प्रणाली में सामयिकता का सर्वथा अभाव है। युग की माँग पूरी करनेवाले दान बहुत ही कम देखे-सुने जाते हैं। युगधर्म की पुकार सुननेवाले दानी उँगलियों पर गिन लिये जा सकते हैं। किस प्रकार के दान से देश की वर्त्तमान स्थिति में सुधार होगा—दुर्दशाग्रस्त देश का उद्धार होगा, इसपर केवल गिने-चुने दानियों का ही ध्यान है।

---

१. हे युधिष्ठिर! दरिद्रों का भरण-पोषण करो, समर्थों को धन-दान न दो; क्योंकि जो रोगी है उसीके लिए दवा हितकर है, नीरोग को दवा देने से क्या लाभ?

२. हे अर्जुन! दान देना ही कर्त्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर, प्रत्युपकार न करनेवाले के लिए, दिया जाता है, वही दान सात्विक कहा गया है।—ले०

अधिकांश दानी देश की वास्तविक दशा से अनभिज्ञ और असावधान हैं। देश की भलाई के कितने ही कामों के लिए समय-समय पर जो लाखों या करोड़ों रुपये का चन्दा मिलता रहता है, वह स्वेच्छानुसार किया हुआ दान नहीं है, तथापि प्रेरणा और प्रोत्साहन से जो दान किया जाता है, वह प्रशंसनीय ही है।

किन्तु, दान करने के लिए जो स्वतः प्रवृत्ति हममें होती है या है, उसके आगे विवेक का आलोक होना अत्यन्त आवश्यक है। आत्म-कल्याण और व्यक्ति-कल्याण के लिए जो लोग दानधर्म का आचरण करते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि लोक-कल्याण में ही व्यक्ति-कल्याण भी निहित है। हमारे अधिकांश दानियों में लोक-संग्रह की भावना उद्‌बुद्ध नहीं हुई है और जबतक उनकी दानधर्मपरायणता लोक-कल्याण के निमित्त स्वतः प्रवृत्त न होगी, तबतक वे स्वदेश के लिए उपकारी या हितकर नहीं सिद्ध हो सकते।

आज देश में नये-नये मन्दिरों की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है पुराने मन्दिरों के संरक्षण अथवा जीर्णोद्धार की। देश में ऐसे असंख्य मन्दिर हैं, जिनके साथ कोई देवोत्तर सम्पत्ति नहीं लगी हुई है। नगरों और ग्रामों में अनेक ऐसे 'अनाथ' मन्दिर देखे जाते हैं जिनमें देवता बेचारे असहाय दशा में पड़े हुए हैं! ऐसे मन्दिरों के निर्माता स्वर्ग में किस दशा में होंगे, यह तो शास्त्रों से पूछिए, पर मानव-हृदय तो यही कहता है कि ऐसे मन्दिर-निर्माता के लिए नरक के भी द्वार बन्द ही होंगे। यदि हिन्दू-महासभा या सनातनधर्म-महासभा ऐसे असहाय मन्दिरों की तालिका तैयार करे, तो प्रत्येक प्रान्त में हजारों उपेक्षित देव-स्थान मिलेंगे।

आश्चर्य तो यह है कि जिन तीर्थ-स्थानों में पहले से ही अनेक बड़े-बड़े मन्दिर हैं, वहाँ भी फिर नये-नये छोटे-बड़े मन्दिर बनते जा रहे हैं। ऐसे पुण्यात्मा पुरुषों को देश में केवल मन्दिरों का ही अभाव सूझता है। विद्यालय, पुस्तकालय, अनाथालय, पाठशाला, उद्योगशाला, गोशाला आदि जो वर्त्तमान युग की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं, उनकी ओर कभी पुण्यात्माओं का ध्यान ही नहीं जाता। देश के अनेक स्थानों में उपर्युक्त संस्थाओं की आवश्यकता है। जहाँ-कहीं इस तरह की संस्थाएँ हैं भी, वहाँ उनकी स्थिति संतोषजनक नहीं है। किन्तु, धनी-मानी सज्जन अपने आसपास की संस्थाओं की दुर्गति देखते हुए भी अनावश्यक दान-पुण्य में धन व्यय करते जाते हैं।

देश के अधिकांश बड़े-बड़े दानवीरों की दृष्टि भी देश के महानगरों में ही रमती है, असंख्य अभावग्रस्त ग्रामों की ओर झाँकती भी नहीं। देश के अगणित ग्रामों में जलाशयों के अभाव से कृषि-कर्म में भी बाधा पड़ रही है और ग्रामीणों की स्वास्थ्य-रक्षा में भी। हजारों गाँव ऐसे हैं जहाँ अच्छे कुएँ नहीं हैं, ताल-तलैया नहीं है, जिससे गाँव के गरीबों को अपार जलकष्ट है।

गाँवों में अच्छी सड़कों का भी अभाव है, जिससे गाँवों की बहुत सी उपज शहरों तक बिक्री के लिए पहुँच नहीं पाती। युद्धोत्तर निर्माण-कार्य में सड़कों के विस्तार की मनोमोहिनी आशा झलक तो रही है, पर जब निर्माण-कार्य का आरम्भ होगा, तब कितने गाँवों का भाग जागेगा, यह भविष्य के गर्भ में है।

गाँवों की आवश्यकताओं की ओर दानियों का ध्यान जाना चाहिए। दानियों की कीर्त्तियाँ गाँवों में जितनी चमकेंगी उतनी शहरों में नहीं। देश में होते रहनेवाले बड़े-बड़े दानों के लाभ से अभी तक हमारे हजारों ग्राम सर्वथा वंचित हैं। विदेशों के दानी अपने देश की सामयिक माँग पूरी करने में कितनी तत्परता दिखाते हैं, यह हमलोग विदेशी समाचारों में पढ़ा करते हैं; पर तब भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं।

हमारे देश के हजारों-लाखों प्रतिभाशाली विद्यार्थी, उपयुक्त सहायता न पा सकने के कारण, उन्नति-पथ पर अग्रसर नहीं हो पाते। बहुत से धनी घरानों में प्रभूत धन फालतू पड़ा हुआ है, जिसका उपभोग करनेवाला कोई नहीं; परन्तु होनहार असहाय छात्रों की खोज-खबर लेनेवाला कोई नहीं। उस उपभोग-रहित धन की राशि पर कोई वृद्धा विधवा या मरणासन्न वृद्ध अजगर बना बैठा है, जो परलोक सुधारने की चिन्ता में रत रहकर तीर्थाटन और मन्दिर-निर्माण का ही स्वप्न देखा करता है। इसका मुख्य कारण एक यह भी है कि धर्म के प्रकृत स्वरूप का ज्ञान बहुत कम लोगों को है और युग-धर्म का ज्ञान तो कदाचित् प्रतिशत एक ही दानी को है। वर्त्तमान परिस्थिति के अध्ययन से ऐसा ही प्रतीत होता है।

गोरक्षा के लिए देश के बहुतेरे धनिकों और दानियों ने प्रशंसनीय उदारता दिखाई है, इसमें सन्देह नहीं; पर फिर भी गोरक्षिणी संस्थाओं का अस्तित्व अभी तक नगरों तक ही सीमित है। देहात में बहुत ही कम ऐसी संस्थाएँ हैं जो पशुधन के संरक्षण में दत्तचित्त हों। नगरों की ऐसी संस्थाएँ भी अधिकतर निकम्मे पशुओं को ही आश्रय देती हैं, पशुधन की वृद्धि के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करतीं। कई प्रसिद्ध संस्थाएँ कुछ महानगरों में ऐसी अवश्य हैं, जो गोवंश-वृद्धि का भी उद्योग करती हैं; पर उनकी संख्या दाल में नमक के बराबर भी नहीं। अधिकांश संस्थाएँ द्रव्याभाव के कारण गौओं की नस्लें सुधारने में असमर्थ हैं, दुग्धशाला का संचालन तो बहुत दूर की बात है। ऐसी असमर्थ और विवश संस्थाओं के आसपास धनाढ्य जनों की कमी नहीं, दानियों का भी सर्वथा अभाव नहीं, पर किसी धनी या दानी का ध्यान उन संस्थाओं की ओर नहीं जाता, बल्कि वे तो अपने ही पाप-ताप से त्रस्त होकर परलोक के लिए हाय-हाय करते अन्धाधुन्ध लकीर पीट रहे हैं। राष्ट्र का कितना धन व्यर्थ नष्ट हो रहा है, यह कूता नहीं जा सकता। फिर भी अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये परलोक के बैंक में जमा हो जाते हैं और इहलोक बेचारा मुँह ताकता रह जाता है।

ऐसी शोचनीय स्थिति में यह कहना असंगत न होगा कि देश के धनी और दानी व्यक्ति यदि व्यापारिक दृष्टि से भी लोक-हितकर कार्य करने पर उतारू हों, तो देश का कुछ कम उपकार न होगा। गरीब, पर होनहार, विद्यार्थियों की प्रतिभा का देश-हितार्थ सदुपयोग करने के लिए ऐसी बीमा-कम्पनियों की आवश्यकता प्रत्येक प्रान्त में है, जो मेधावी छात्रों के विकास में सहायक हो सकें। अनाथों, विधवाओं, अन्धों और लँगड़ों-लूलों तथा भिखमंगों के लिए ऐसी उद्योग-शालाएँ खोली जा सकती हैं, जिनके द्वारा उन असहायों और अपाहिजों का तो भरण-पोषण होगा ही, उनके हस्त-शिल्प-कौशल से

व्यावसायिक लाभ भी यथेष्ट ही होगा। आदर्श-स्वरूप ऐसी कुछ संस्थाएँ देश में यत्र-तत्र हैं भी, पर अनेक स्थलों में ऐसी संस्थाओं का सर्वथा अभाव है। जहाँ-तहाँ ग्राम-समूहों का एक मण्डल बनाकर उपयुक्त केन्द्रस्थल में कृषिक्षेत्र (फार्म) खोले जा सकते हैं, जिनमें समीपवर्त्ती कृषकों के सहयोग से भी लाभ उठाया सकता है, अथवा वैज्ञानिक रीति से खाद और सिंचाई के प्रयोगों को प्रदर्शित करके किसानों को उपज बढ़ाने के उपाय सुझाये जा सकते हैं। वैज्ञानिक पद्धति से पशुपालन का निदर्शन भी ग्रामीणों के लिए बड़ा हितकर सिद्ध होगा और इसके द्वारा पशुधन की वृद्धि भी होगी तथा दुग्धशाला का व्यवसाय भी चलता रहेगा।

तात्पर्य यह कि इसी तरह के अनेकानेक उद्योग-धंधे व्यापारिक शैली से चलाये जा सकते हैं। इससे एक पन्थ दो काज सिद्ध होंगे। यदि इतना भी हो तो देश की आधुनिक स्थिति में बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। देश के दानशील और सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को महाभारत और गीता के पूर्वोक्त श्लोकों पर विशेष गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

—साप्ताहिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता); १ सितम्बर, १९४४ ई०

•

दाता-प्रशस्ति

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवति वा न वा॥[1]

[१]

"हे राजन्! यह बेकार ही लोग कहा करते हैं कि आपने सब कुछ दान दिया वा सभी कुछ देने में समर्थ हैं। किन्तु नहीं, आपने तो आज तक शत्रु को पीठ और परनारी को गाढालिंगन-दान दिया ही नहीं।"

[२]

"एक भारतीय कवि सिंहल-द्वीप के दानी राजा की बड़ाई सुनकर वहाँ गये। राजा ने उन्हें सब तरह से अयाची बना दिया। कविजी बोले—हे राजन्! मेरा दारिद्र्य-सहचर मेरे साथ गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि नदियों को पार करता हुआ, बल्कि समुद्र तक नाँघकर यहाँ भी चला आया और सदा साथ-ही-साथ बना रहा। किन्तु, श्रीमान् के अमित दान के संकल्प-जल से इतनी बड़ी-बड़ी नदियाँ उमड़ पड़ीं कि न जाने वह उनमें बहकर कहाँ चला गया!"

---

१. सौ में एकाध कोई वीर होता है और हजारों में एक पंडित होता है, वक्ता दस हजार में एक होता है, पर दाता तो कोई-ही-कोई हो सकता है।—ले०

[३]

"दाता ही सबको प्यारा लगता है। धनी को कोई प्यार नहीं करता। साफ-ही-साफ देख लो, मेघों को सब चाहते हैं ; पर समुद्र को कोई नहीं।"

[४]

"सर्व-संग्रहकारी समुद्र रसातल में पड़ा है और दाता-मेघ आकाश-मण्डल में गम्भीर गर्जन करता हुआ स्वच्छन्द विचरता फिरता है।"

[५]

"हे मेघ! सूर्य्य के प्रचण्ड ताप से तप्त पर्वतों को शीतलता और शान्ति प्रदान करके, जंगलों का भीषण दावानल शान्त करके सैकड़ों नदी-नालों को भरपूर करके जो तू इस समय खाली (जलशून्य) हुआ है, उसी से तुम्हारी बड़ी विलक्षण शोभा हो रही है।"

[६]

"सब कुछ दीनन दीन, एक दुरायो दुसह दुख।
सोउ दै हमहिं प्रवीन, नहिं राख्यो कछु बीरबर॥"

[७]

"बलि बोई कीरति-लता, करन करी द्वै पात।
सींची मान महीप ने, जब देखी मुरझात॥"

[८]

"काहू के करम उमराई बादसाही राई काहू के करम राजराजन सों हेत है।
काहू के करम हय हाथी परगने पुर काहू के करम हेम हीरन सो नेत है।
'हरिनाथ' जोई-जोई जाही के लिलार लीक सोई-सोई यहि दरबार आनि लेत है।
महाराज रामसिंह बान्धव-नरेन्द्र तेरे कर के भरोसो करतारौ लिखि देत है।"

[९]

"पावक पच्छि पसू नग नाग नदी नद लोक रच्यो दस चारी।
'केसव' देव अदेव रच्यो नरदेव रच्यो रचना न निवारी।
रचि कै नरनाह बली बरबीर भयो कृतकृत्य महाव्रतधारी।
दै करतापन आपन ताहि दिये करतार दोऊ कर तारी॥"

[१०]

"गाज उत दुंदुभि अवाज इत होत सुरचाप उत इतै पँचरंग परसतु है।
पौन पुरवाई उत तरल तुरंग इत मोर इतै उतै ये नकीब सरसतु हैं।
चपला चमक उत चन्द्रहास छबि इत उत घन इतै ये गयन्द दरसतु हैं।
उत अवनी पै इन्द्र नीर बरसत इत नृपति प्रताप हेम हीर बरसतु है।"

[११]

"सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावै कहूँ तुरत लुटावत बिलम्ब उर धारै ना।
कहै 'पदमाकर' सुहेम हय हाथिन के हलकै हजारन के बितरि बिचारै ना।
गंज गजबक्स महीप रघुनाथराव या ही गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
या ते गौरि गिरिजा गजानन को गोय रही गिरि तें गरै तें निज गोद तें उतारै ना॥"

—मासिक 'धर्माभ्युदय' (आगरा); सन् १९१९ ई०

साहित्यिक शहीद

किसी महान् पवित्र उद्देश्य के लिए जो आत्म-बलिदान करते हैं, वे 'शहीद' कहलाते हैं। ऐसे आत्म-बलिदानी वीर सभी क्षेत्रों में होते हैं। धार्मिक क्षेत्र में भी बहुत से शहीद हुए हैं, जिनके आत्मोत्सर्ग का बखान इतिहास करता है। राजनीतिक क्षेत्र के शहीदों का गुण-गान इतिहास के पन्ने तो करते ही हैं, अखबार भी करते हैं। इतना ही क्यों, जनता स्मारक बनाती है और सरकार भी उनके निराधार परिवार की सहायता करती है। पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक भी उन्हीं के चित्र-परिचय से अलंकृत दीख पड़ते हैं। आखिर सब शहीदों की कीर्त्ति-रक्षा साहित्यिकों द्वारा ही होती है। साहित्य के कोष में ही आत्म-त्यागियों का यश-रत्न संचित-सुरक्षित रहता है।

किन्तु, साहित्य के लिए कौन शहीद हुआ—कब हुआ, कैसे हुआ, क्यों हुआ—इसकी खोज दुनिया नहीं करती। साहित्यकार ही संसार के सुख-दुःख और हर्ष-विषाद को जगत् के अनुभूति-क्षेत्र में पहुँचाता है। गरीबों की आह, पीड़ितों की पुकार, शोषितों की वेदना, संतप्तों की क्रंदन-ध्वनि और निरीहों की करुण-कातर वाणी को भी साहित्यकार ही प्रभावशाली एवं विश्वव्यापी बनाता है। यहाँ तक कि सब शहीदों के अधूरे कार्यों को भी वही पूरा करता-कराता है। बलिदानी वीर जिस सदुद्देश्य के निमित्त शहीद होते हैं, उसी की सिद्धि के हेतु साहित्यिक भी शहीद होते हैं; पर वे होते हैं धूमधाम से, ये होते हैं चुपचाप।

जो देश या धर्म के लिए शहीद होते हैं वे सूली पर चढ़कर या गोली के घाट उतरकर या असह्य यम-यंत्रणा झेलकर जगत् में सनसनी या खलबली या हलचल मचा देते हैं। परन्तु, साहित्य के उन्नयन के लिए जो शहीद हुए हैं या हो रहे हैं, वे चुपचाप घुल-घुल कर मिट चुके या मिट रहे हैं, और आज भी उनकी शहादत जारी है। उनका बलिदान क्षणिक उत्तेजना अथवा आवेश नहीं फैलाता; वह तो यज्ञ-धूम की भाँति दसों दिशाओं में जीवन के कण बिखेर देता है। इसलिए, वे (साहित्यकार) विश्व-कल्याण-यज्ञ की हवन-सामग्री के समान हैं। जैसे यज्ञ-धूम के वे कण 'जगजीवनदाता जलद' बनकर पृथ्वी का

ताप-शमन करके उसे उर्वरा-शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं, वैसे ही साहित्यिक शहीद भी अपने रक्तकण बिखेर कर देश और समाज को तृप्त तथा समृद्ध करते हैं। और-और शहीदों के खून में उत्तेजना है, मादकता है, अशान्ति की ज्वाला है, संहार की सत्ता है; परन्तु साहित्यिक शहीद के खून में शीतलता और ओजस्विता है—शान्ति और समृद्धि के बीज हैं। आश्चर्य तो यह कि उसकी वाणी में क्रान्ति का हुंकार सुन पड़ता है और उसकी शहादत में लोक-कल्याण का मंगल-गान।

किन्तु ऐसा होकर भी वह उपेक्षित है !!! आज अन्य शहीदों के साथ उनका भी सम्मान अपेक्षित है। जिस दिन साहित्यिक शहीदों की भी खोज-पूछ होने लगेगी, उसी दिन पता चलेगा कि इन अज्ञातनामा मूक बलिपंथियों की संख्या औरों से कम नहीं है—औरों के मुखर त्याग से इनका मौन त्याग कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

—मासिक 'ज्योत्स्ना' (पटना); वर्ष २, अंक ११, अक्तूबर, १९४९ ई०

•

साहित्य और विज्ञान

विद्वानों के मतानुसार विज्ञान भी साहित्य का ही एक प्रमुख अंग है। जब मानव-जाति के आदिम ज्ञानकोष 'वेद' भी साहित्य की सीमा में सन्निविष्ट हैं, तब दर्शन, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, खगोल, गणित आदि का उसकी सीमा के अन्तर्गत होना स्वाभाविक है। आधुनिक युग में साहित्य की व्यापकता असंदिग्ध एवं निर्विवाद रूप से सिद्ध है। साहित्य में सहित का भाव निहित है। अखिल विश्व की ज्ञान-सम्पदा उसमें सन्निहित है। चौंसठ कलाएँ भी उसीकी परिधि में परिवेष्टित प्रतीत होती हैं। इस तरह साहित्य और विज्ञान में एक प्रकार से अङ्गाङ्गी-भाव-सा झलकता है।

साधारणतः विज्ञान उस विद्या को कहते हैं, जो वस्तु-विशेष के मूल तत्त्वों और सूक्ष्म रहस्यों का यथार्थ एवं मार्मिक ज्ञान प्रदान कर उस ज्ञान को क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित रखती है। इसी विद्या के द्वारा हम किसी विषय का विश्लेषणात्मक अनुशीलन करके उसके आन्तरिक अथवा वास्तविक तथ्य का उद्घाटन कर सकते हैं। दर्शन के सिवा विज्ञान के समान दूसरी कोई विद्या सूक्ष्मेक्षिका नहीं है। यदि दर्शन को हम साहित्य का नेत्र मानें, तो विज्ञान को दिव्यांजनशलाका मान सकते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि विज्ञान की सहायता के बिना साहित्य के अन्तःस्थल में प्रवाहित होते रहनेवाले अजस्र रस-स्रोत में हम अवगाहन नहीं कर सकते।

एक सरल उदाहरण मनोविज्ञान ही लीजिए। मनोविज्ञान की उपयोगिता कहीं भी उपेक्षित नहीं। साहित्य का हृदय जो काव्य है, वह तो मनोविज्ञान की ही सेज पर पौढ़ता है। रसों और अलंकारों की अति सूक्ष्म विवेचना-पद्धति पर गहरी दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। नायिका-भेद तो अधिकतर मनोविज्ञान पर ही अवलम्बित है।

इस युग में नायिका-भेद को हेय दृष्टि से देखना प्रगतिशीलता का लक्षण है; किन्तु नायिका-भेद तो भारतीय साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है। संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त किसी साहित्य को यह सम्पत्ति वैसी प्रचुरता और विशदता से सुलभ नहीं। मनोविज्ञान के विद्यार्थी की चित्त-कसौटी के लिए यह अपूर्व कंचन है। इसके अतिरिक्त भी सूरदास के 'बाल-लीला-वर्णन' और 'भ्रमरगीत' में, तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में, बिहारीलाल के 'सतसैया के दोहरे' में मनोविज्ञान का आश्रय लेने पर लोकोत्तरानन्द प्राप्त हो सकता है।

इतना ही नहीं, यदि हम बारीकी से सोचकर देखें, तो सहज ही ऐसा जान पड़ेगा कि दार्शनिक भी मनोविज्ञान से पीछा नहीं छुड़ा सकता। सभी विषयों के समीक्षक इसीके द्वारा मानव-हृदय की अनुभूतियों और प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हैं। इसके बिना मानव-स्वभाव का अध्ययन और मानव-प्रकृति का रहस्योद्घाटन कदाचित् संभव नहीं है। प्रत्येक कलाकार के लिए इसका ज्ञान अनिवार्य रूप से आवश्यक-सा प्रतीत होता है। शिक्षण-शास्त्री का तो यह प्रधान अस्त्र ही है। चाहे कोई साहित्यकार हो या चित्रकार, इसकी शरण गये बिना सफलता नहीं पा सकता। जब पशु-पक्षियों की मनोवृत्ति का भी यह अनुभव करा सकता है, तब मनुष्य की क्या कथा!

इसी प्रकार विज्ञान की अन्य शाखाओं की भी बड़ी महत्ता है। भाषा-विज्ञान का ऐसा महत्त्व है कि नीरस कहा जानेवाला व्याकरण भी उसके प्रभाव से नहीं बच सकता। चिकित्सक की चमत्कारपूर्ण सफलता भी शरीर-विज्ञान पर ही निर्भर है। रसायन-विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान के बिना वैद्यराज साक्षात् यमराज-सहोदर ही होंगे। वैसे ही ज्योतिर्विज्ञान भी ज्यौतिषी की आँखों का पटल खोलनेवाला है। काम-विज्ञान के बिना हमारे देश के युवक-युवतियों की दशा प्रत्यक्ष है।

कहाँ तक कहा जाय, विज्ञान तो एक ऐसा सर्वग्राही विषय है कि संसार का कोई पदार्थ इसकी पकड़ से बचा नहीं दिखता। हमारी चर्म-चक्षुओं में यह विलक्षण शक्ति उत्पन्न कर देता है, हिये की आँखो में अमृतांजन लगा देता है। ऐसा कुछ जान पड़ता है कि जिसको आजकल लोग वैज्ञानिक शक्ति कहते हैं, उसीको हमारे अन्तर्द्रष्टा पूर्वजों ने प्राचीन ग्रन्थों में 'योगमाया' कहा है। 'योगमाया' ईश्वरीय शक्ति है। वैज्ञानिक शक्ति मानवीय नहीं है। उसमें स्थूल और सूक्ष्म का भेद भले ही हो; पर शक्ति तो कोई ऐसी नहीं, जिसमें ईश्वरीय सत्ता न हो। निश्चय ही यह विचारणीय विषय है कि हमारे पुराणों में जिस 'दिव्य दृष्टि' का उल्लेख है, उसमें क्या वैज्ञानिकता का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं है?

हमारे पुराने ग्रंथों में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग प्रायः 'तत्त्वदर्शन' के अर्थ में मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता के ज्ञान-विज्ञान-योग नामक सातवें अध्याय में, तथा अन्य स्थलों में भी, 'विज्ञान' का भावार्थ 'यथार्थ तत्त्वज्ञान' ही मिलता है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' और 'विनयपत्रिका' में अनेक बार 'विज्ञान' और 'विज्ञानी'

शब्दों का व्यवहार क्रमशः 'अन्तर्दर्शन', 'ब्रह्मज्ञान', 'सृष्टि-मर्मज्ञ', 'तत्त्वद्रष्टा' के अर्थ में किया है। यथा, उत्तरकाण्ड के 'ज्ञानदीपक' में—

यहि बिधि लेसै दीप, तेजरासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब॥

फिर वहीं पर—

तब बिग्यान-निरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियटि बनाइ॥

× × ×

जब सो प्रभंजन उरगृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥

पुनः उत्तरकाण्ड में ही विज्ञानी का दर्जा बहुत ही ऊँचा—सबसे ऊँचा—बतलाया गया है—

ग्यानवन्त कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥

इसीलिए भगवान रामचन्द्र ने भी कहा है कि 'ग्यानिहुँ ते अति प्रिय बिग्यानी' और अरण्यकाण्ड के सन्त-लक्षण-प्रसंग में भी कहा है—

बिरति बिबेक विनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥

ऐसे-ऐसे असंख्य उदाहरण हैं। सर्वत्र 'आत्मबोध' की ही व्यंजना है। आत्मबोध से ही सूक्ष्मदर्शिता आती है। सम्भवतः यही 'दिव्यदृष्टि' है, जिसका वर्णन बालकाण्ड की गुरु-वन्दना में मिलता है—

श्री गुरु पदनख मनिगनजोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
उघरहिं विमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के॥
सूझहिं रामचरित-मनिमानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥

इस प्रकार विचार करने से 'विज्ञानी' और 'वैज्ञानिक' में सूक्ष्म और स्थूल का ही भेद जान पड़ता है। विज्ञानी की सूक्ष्मदर्शिता अन्तर्मुखी और वैज्ञानिक की बहिर्मुखी दीख पड़ती है; किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर 'विज्ञान' के आधुनिक प्रचलित अर्थ से इसमें कोई विशेष भेद नहीं पड़ता। आजकल की तो बात ही क्या? यह तो विज्ञान का युग ही है, पुराने ग्रंथों के अनुशीलन से भी यही पता लगता है कि छोटी-सी-छोटी बात में भी विज्ञान की सत्ता व्याप्त है। सारी दुनिया मक्खी और मच्छर दिन-रात देखती है; पर विज्ञानी की पैनी दृष्टि उनमें और भी बहुत-कुछ देखती है। वही सारे जगत् को बतलाता है कि ये मौत के दूत हैं। 'विषस्य विषमौषधम्' तो लिखा महाकवि कालिदास ने; पर वैज्ञानिक ने उसको प्रत्यक्ष चरितार्थ कर दुनिया को दिखला दिया। कवि और दार्शनिक से उसकी पैठ कुछ कम गहरी नहीं है।

किन्तु, आजकल के भारतीय वैज्ञानिक भी इस भ्रम में हैं कि प्राचीन भारतवर्ष में विज्ञान की उन्नति उस पराकाष्ठा को कभी नहीं पहुँची थी, जिस चरमसीमा तक पाश्चात्य-जगत् में आधुनिक काल में पहुँची हुई है। इस भ्रम के कारण लोगों में स्वाभिमान-शून्यता और अपनी हीनता की धारणा बद्धमूल हो गई है। उसे दूर करना साहित्य-सेवियों का कर्त्तव्य है।

पाठकों को याद होगा, कुछ ही साल पहले की बात है, भारतप्रसिद्ध मथिल विद्वान् महामहोपाध्याय मधुसूदन झा, जो अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ माने गये और जयपुर-नरेश के राजगुरु थे, हिन्दू-विश्वविद्यालय में महामना मालवीयजी द्वारा आमंत्रित किये गये थे। 'वेदों में विज्ञान' विषय पर उनकी व्याख्यानमाला का जो अति संक्षिप्त विवरण अखबारों में प्रकाशित हुआ था, उसे पढ़कर बहुत से लोगों की धारणा बदल गई और बहुत-सी शंकाओं का भी समाधान हो गया। पर, जबतक उनकी कही हुई वैदिक-विज्ञान-सम्बन्धी बातों पर अँगरेजी के विद्वान् विज्ञानवेत्ता हिन्दी-लेखकों का स्पष्ट अभिमत प्रकाशित नहीं होता, तबतक हिन्दी-मात्र जाननेवालों की तुलनात्मक विवेचनाशक्ति उद्बुद्ध नहीं हो सकती।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, विष्णुपुराण, देवी-भागवत, अध्यात्मरामायण, कौटिल्य अर्थ-शास्त्र, मेघदूत आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में भी, जिनके हिन्दी-रूपान्तर अब सुलभ हैं, बहुतेरी ऐसी बातें पाई जाती हैं, जिनके वैज्ञानिक सत्ता का आभास मिलता है; किन्तु ऐसे प्रसंगों या स्थलों पर हमारे हिन्दी-संसार के विज्ञान-विशारद लेखक आधुनिक दृष्टि से तुलनात्मक या समीक्षात्मक विचार प्रकट नहीं करते। वे हिन्दी-पाठकों को यह कभी नहीं बतलाते कि अठारह पुराणों के कर्त्ता भगवान् वेदव्यास का एक नाम जो 'विज्ञानपाद' भी है, वह केवल उनकी तत्त्वदर्शिता के कारण है, अथवा वैज्ञानिक विषयों की विज्ञता के कारण।

एक-दो छोटे-मोटे उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा। अध्यात्मरामायण के किष्किन्धा-काण्ड में, जटायु के भाई 'सम्पाति' से, चन्द्रमुनि ने, गर्भाधान से भूमिष्ठ होने तक की, मानव-शरीर के क्रमिक विकास की, जो कहानी कही है, उसको आधुनिक कसौटी पर कसकर शारीरिक-शास्त्र के ज्ञाता हिन्दी-लेखक अब बतलावें कि उसमें क्या तथ्य है, या क्या त्रुटियाँ हैं। इसी प्रकार, श्रीमद्भागवत में भगवान हलधर बलराम की जो जन्मकथा है और उनका जो प्रसिद्ध नाम 'संकर्षण' है, उसमें कुछ वैज्ञानिकता भी है या नहीं—इस पर दूसरा कौन प्रकाश डाल सकता है? हमलोग इधर जो अखबारों में पढ़ते हैं कि अमेरिका में एक स्त्री के गर्भ का बच्चा वैज्ञानिक शक्ति के बल से दूसरी स्त्री के गर्भ में डाल दिया गया और वहीं से वह स्वस्थ पैदा हुआ, फिर उधर भागवत में भी पढ़ते हैं कि बलरामजी भी देवकी के गर्भ से रोहिणी के गर्भ में 'योगमाया' के बल से ले जाये गये थे; यह तो विज्ञानविद् साहित्य-सेवी ही बतला सकते हैं कि वैज्ञानिक शक्ति और योगमाया में कोई रहस्यपूर्ण अन्तर है या नहीं।

हिन्दी-संसार के स्वनामधन्य विज्ञानाचार्य प्रोफेसर रामदास गौड़ और साहित्य-महारथी बाबू जयशंकर 'प्रसाद' के बीच एक बार यही चर्चा छिड़ी थी। गौड़जी आधुनिक विज्ञान-शास्त्र के मर्मज्ञ थे। 'प्रसाद' जी को भारत की प्राचीन वैज्ञानिक सभ्यता का गर्व था; किन्तु गौड़जी भी 'प्रसाद' जी से सोलहो आने सहमत दीख पड़े। ये दोनों विद्वान हमारे दुर्भाग्य से आज इस लोक में नहीं हैं। यदि ये होते, तो यह चर्चा कुछ रंग लाती।

फिर भी, कई इतिहासवेत्ताओं ने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिखाया है कि वैज्ञानिक उन्नति में प्राचीन भारत भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था। आयुर्वेद-विज्ञान, संगीत-विज्ञान, शिल्प-विज्ञान, जलपोत (नौ)-विज्ञान आदि में भारतीयों की निपुणता के प्रमाण इतिहासों में मिलते हैं। हाँ, हिन्दी-पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के लिए पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय की चर्चा अब बहुत कम देख पड़ती है।

पौराणिक कथाओं में वैज्ञानिकता की खोज अभी वैसी नहीं हुई है, जैसी होनी चाहिए। इसकी बड़ी आवश्यकता है। यों तो हमारे साहित्य में बहुत से वैज्ञानिक अनुसंधानों पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ा है; पर पुराण तो बिलकुल अछूते पड़े हैं। प्रसिद्ध पौराणिक कथा है कि दैत्य-गुरु शुक्राचार्य के पास देव-गुरु बृहस्पति का पुत्र 'कच' मृत-संजीवनी-विद्या सीखने गया था। दैत्यों ने उसे मार डाला। शुक्राचार्य की कन्या 'देवयानी' उस पर आसक्त थी। वह विलाप करने लगी। शुक्राचार्य ने उसी विद्या के प्रभाव से फिर उसे जिला दिया। इस कथा पर वैज्ञानिक-साहित्यिकों को विचार करना चाहिए। क्या उस विद्या से विज्ञान का कोई सम्बन्ध है?

इस युग में अपने पूर्वजों की अवैज्ञानिकता पर हमारी जो प्रतीति हो गयी है, उसे विज्ञान-शास्त्री साहित्य-सेवी ही दूर कर सकते हैं। भारतीय अस्त्र-विज्ञान पर कुछ भी विचार किये विना आधुनिकता की चकाचौंध में भारतवासियों की अवैज्ञानिकता पर कोई मत स्थिर कर लेना तथा यज्ञ या हवन के वैज्ञानिक रहस्यों की छानबीन न करके भारतीयों को विज्ञान-विहीन बतलाना आत्म-प्रवंचन-मात्र है। विज्ञान के विशेषज्ञ हिन्दी-लेखकों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे देशवासी, वैज्ञानिक वैभव के चाकचिक्य से चकित होकर, आत्म-गौरव को न भूल जायँ, स्वदेशाभिमान को न बिसार दें।

प्रयाग की 'विज्ञान-परिषद्' के मुखपत्र 'विज्ञान' का सम्पादन जबतक उपर्युक्त गौड़जी करते रहे, तबतक वह अत्यन्त लोकप्रिय पत्र रहा। कारण, गौड़जी ठीक समझ चुके थे कि हमारे देश के लोगों को 'गैस' और 'एक्सरे' से भी बढ़कर तेलहन और बिनौले का वैज्ञानिकत्व बतलाने की आवश्यकता है। अपने समय के 'विज्ञान' में वे कृषि-विज्ञान, पशु-पालन-विज्ञान, भोजन-विज्ञान आदि अनेक सामयिक एवं देशहितकर विषयों पर ही विशेष प्रकाश डाला करते थे। अधिकतर व्यावहारिक एवं जीवनोपयोगी तथा लोक-कल्याणकारी विषयों को वैज्ञानिक प्रकाश में देखने के वे अभ्यासी थे। आज के वैज्ञानिकों में बहुत ही कम वैसे हैं।

अब तो 'वैज्ञानिक' कहे जानेवालों में ही यह बात देखी जाती है कि भारतीय आचार-विचार को वे पिछड़े युग का दम्भ मानते हैं और वर्त्तमान विज्ञान से उत्पन्न सुविधाओं को स्वास्थ्यकर समझते हैं। इससे हमारे देशवासियों की भी संस्कृति भ्रष्ट होती जा रही

है। जो लोग नित्य नये-नये कीटाणुओं की खोज करते रहते हैं, विश्लेषण-क्रिया ही जिनकी दिनचर्या है, वे ही अपने आचारण से लोगों को स्वास्थ्य का सुगम पथ प्रदर्शित कर सकते हैं। विज्ञान के विद्यार्थियों और प्रेमियों में भी यह बात देखी गई है कि सैकड़ों प्यासे एक ही गिलास के घाट उतरने में नहीं हिचकते। हाट-बाट में चाय के दूषित प्यालों का दौर-दौरा भी वैसा ही देखने में आता है। भोजन-पात्र-सम्बन्धी आचार-विचार का तो मानों अब विज्ञान से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया है। स्वास्थ्य-विज्ञान को ताक पर रख कर प्रगतिशीलता के पथ पर सरपट दौड़ना खतरे से खाली नहीं है। हमारी वैज्ञानिकता पर आधुनिकता का इतना गाढ़ा रंग न चाहिए कि अपने पूर्वजों की वैज्ञानिकता पर हमारी आस्था ही न जमे। अतः साहित्य और विज्ञान का सांस्कृतिक सम्बन्ध अक्षुण्ण बनाये रखने की आवश्यकता है।

—मासिक 'साधना' (आगरा); वर्ष ४, अंक ४-५, जुलाई-अगस्त, सन् १९४३ ई०

●

हिन्दी-पुस्तकालयों का संगठन

पुस्तकालय वास्तव में सरस्वती के मन्दिर, ज्ञान के भाण्डार, साहित्य के यशःस्तम्भ, विद्या के कल्पद्रुम, आनन्द के उद्यान और शान्ति के आधार हैं। किसी देश की सभ्यता देखने की इच्छा हो, तो उस देश के पुस्तकालयों को देख जाइए। किसी देश की उन्नति और अवनति की जाँच करना अभीष्ट हो, तो भी उस देश के पुस्तकालयों को ही देखना पड़ेगा। पुस्तकालय ही उर्वर मस्तिष्कवालों के लिए विशुद्ध भोजनालय, देश के युवकों के लिए आदर्श शिक्षालय, जिज्ञासुओं के लिए पारदर्शी आचार्य, ज्ञानपिपासुओं के लिए निर्मल नैसर्गिक निर्झर, सांसारिक चिन्ताओं से व्याकुल मनुष्यों के लिए विश्राम-स्थल और व्यस्त-मस्तिष्कों के लिए मनोरंजन के सर्वोत्तम साधन तथा साहित्यिक पुरुषों की पवित्र जीवन-यात्रा के श्रेष्ठ संबल हैं।

भारतवर्ष में पुस्तकालयों की संख्या यथेष्ट नहीं है। पाश्चात्य देशों के लिए स्टेशनों पर, होटलों में, गिरजाघरों में, सैरगाहों में, सरायों में, बाजारों में और शहरों के हर एक मुहल्ले में पुस्तकालय हैं। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, जापान, अमेरिका आदि समुन्नत देशों में तो प्रायः घर-घर पुस्तकालय मौजूद हैं। यहाँ तक कि बड़े आदमियों के घरों में परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपना एक खास पुस्तकालय रखता है। इन सभ्यताभिमानी देशों में एक-से-एक आदर्श पुस्तकालय हैं; जिनका पूर्ण वर्णन यहाँ असम्भव है। शक्तिशाली देशों की तो बात ही निराली है, अस्तंगत-प्रताप प्राचीन 'रोम' की एक लाइब्रेरी में इस समय भी दो लाख चौरासी हजार पुस्तकें हैं—दो लाख पचास हजार मुद्रित और शेष ३४००० हस्तलिखित!

पाठकों को स्मरण होगा कि यूरोप के गत महायुद्ध[1] के समय बेलजियम का एक प्रसिद्ध पुस्तकालय जर्मनी ने जला दिया था। उस समय सारी अखबारी दुनिया में बड़ा कोलाहल मचा था। सुना गया था, उस पुस्तकालय में दो लाख से भी अधिक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह था। बेलजियम-जैसे छोटे देश की जब यह दशा है, तब औरों की बात कौन कहे।

कहते हैं, किसी विदेशी संग्रहालय में संसार की सबसे बड़ी और सबसे छोटी-पुस्तक रखी हुई है। बड़ी का नाम 'बर्दी बाइबिल' है, और छोटी का—'हैमलेट'। बड़ी पुस्तक की लम्बाई १० फीट, मोटाई दो फीट और पृष्ठ-संख्या तीस हजार है। छोटी की लम्बाई सिर्फ ½ इंच है। उसमें सिर्फ अस्सी पन्ने हैं। छपाई साफ-सुथरी है। सजावट सुन्दर है। किन्तु, उसे पढ़ने के लिए सूक्ष्म-दर्शक का प्रयोग करना पड़ता है।

इस देश के पुस्तकालयों में ऐसी पुस्तकों का संग्रह नहीं किया जाता। बम्बई के 'निर्णय-सागर-प्रेस' से 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'दुर्गा-सप्तशती' आदि के बहुत ही छोटे संस्करण (ताबीजनुमा आकार के) प्रकाशित हुए हैं। आपको शायद ही किसी हिन्दी-पुस्तकालय में उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो। यदि आप पूछेंगे तो यही उत्तर मिलेगा कि यन्त्र में मढ़ाने और सफर में नित्य पाठ करने योग्य पुस्तिकाओं के संग्रह से क्या लाभ ?·········

विदेशों की बात जाने दीजिए। वहाँ की परिस्थिति से यहाँ की परिस्थिति सर्वथा भिन्न है। अपने ही देश के अन्यान्य पुस्तकालयों को देखिए। हिन्दी पुस्तकालयों से उनकी दशा कहीं अच्छी है! अँगरेजी पुस्तकालयों की स्थिति तो सर्वत्र संतोषजनक है। इसका कारण स्पष्ट है। सरकारी विश्व-विद्यालयों, महाविद्यालयों, अन्य सार्वजनिक संस्थाओं, राजों-महाराजों और वकील बैरिष्टरों तथा विद्या-व्यसनी धनाढ्यों के खास पुस्तकालयों को छोड़कर यहाँ कुछ प्रसिद्ध सार्वजनिक अँगरेजी-पुस्तकालयों की थोड़ी-सी चर्चा सुन लीजिए।

सन् १९१८ ई० की 'इण्डियन लिटररी ईयर बुक (Indian Literary Year Book) के अनुसार कलकत्ता की 'इम्पीरियल लाइब्रेरी' (मेट्कॉफ हॉल) में उस समय लगभग बीस हजार पुस्तकें थीं। पटना की 'ओरियंटल पब्लिक (खुदाबख्श खाँ) लाइब्रेरी' में भी अरबी-फारसी की पाँच हजार हस्तलिखित और लगभग एक लाख रुपये की अँगरेजी की पुस्तकें तथा चीन, फारस, मध्य-एशिया और हिन्दुस्तान की बनी हुई बेशकीमत पुरानी तस्वीरें बहुत थीं। इसी प्रकार लखनऊ की 'पब्लिक-लाइब्रेरी' में चौदह हजार अँगरेजी की पुस्तकें और चार हजार सरकारी रिपोर्टें आदि थीं। 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' के शाखा-पुस्तकालय (बंबई) में भी उस समय लगभग एक लाख और इलाहाबाद की 'पब्लिक-लाइब्रेरी' में ३१२५० पुस्तकें थीं।

आप समझ सकते हैं कि इधर के छह वर्षों में इन अँगरेजी-पुस्तकालयों की दशा कहाँ तक उन्नत हुई होगी। कलकत्ता-निवासी बाबू पूर्णचन्द्र नाहर जैन, एम्० ए०, बी०

---

१. सन् १९१४-१९१८ ई०।

एल्० (४८, मीरर स्ट्रीट) के घर पर एक बहुत बड़ा संग्रहालय है। उसमें प्राचीन अमूल्य चित्रों, मूर्त्तियों, पुस्तकों तथा सिक्कों का दर्शनीय संग्रह है। नाहरजी के पास अनेक अप्राप्य हस्तलिखित ग्रन्थ भी संगृहीत हैं। आपने ही इंगलैंड-निवासी प्रसिद्ध इतिहास-लेखक स्वर्गीय विंसट स्मिथ साहब और गोलोकवासी बाबू हरिनाथ दे (१३ भाषाओं के एम्० ए० और इम्पीरियल लाइब्रेरी के योग्य लाइब्रेरियन) के निजी पुस्तकालयों को नीलाम में खरीद लिया था। भारतीय लिंग्विष्टिक सर्वे की रिपोर्ट की केवल नौ प्रतियाँ ही छपी थीं। उनमें से भी एक आपके पुस्तकालय में है। समस्त संसार के सुविख्यात पुस्तकालयों के सूचीपत्र आपके संग्रहालय में सुरक्षित हैं। कोई ऐसा प्रसिद्ध विद्वान् कलकत्ता में नहीं आता, जो नाहरजी का संग्रहालय देखकर मुग्ध न हो जाता हो।

कहते हैं, पूना की 'भांडारकर ओरियंटल रिसर्च-लाइब्रेरी' प्रयाग के 'पाणिनि-कार्यालय' की 'भुवनेश्वरी लाइब्रेरी,' काशी के क्वींस कालेज के 'सरस्वती-भवन' तथा 'अदयार' (मद्रास) की 'थियोसोफिकल लाइब्रेरी' में संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। पूना की 'भांडारकर-लाइब्रेरी' में लगभग बीस हजार हस्तलिखित संस्कृत, प्राकृत आदि के ग्रन्थ हैं। आरा (बिहार) के 'जैन-सिद्धांत-भवन' में भी प्राचीन जैन-साहित्य के दुर्लभ ग्रन्थों का बहुत ही बढ़िया संग्रह है। इसी प्रकार संस्कृत-भाषा के और भी कितने दर्शनीय संग्रहालय हैं।

अँगरेजी-पुस्तकालयों की अच्छी दशा का कारण है अँगरेजी-राज्य; और संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के संग्रहालयों का आदर केवल वे ही करते हैं, जो पुरातत्त्वविशारद हैं। और, लार्ड कर्जन के समय में पुरातत्त्व-शोधन-विभाग की स्थापना हो जाने के कारण उनका महत्त्व विशेष बढ़ गया है। कितने पुरातत्त्वानुसंधान के प्रेमी विदेशी विद्वान् केवल प्राचीन हस्तलिखित संस्कृत-ग्रन्थों की खोज करने के लिए ही भारतवर्ष आते हैं। किन्तु, अँगरेजी-भाषा इस समय भारत की राष्ट्रभाषा कहलाती है, और संस्कृत-भाषा संसार की सबसे प्राचीन समुन्नत तथा सभ्य भाषा मानी जाती है। इसीलिए, इन दोनों भाषाओं के पुस्तकालय का विशेष महत्त्व है। मैसूर, बड़ौदा, जयपुर, जोधपुर और अलवर आदि देशी रियासतों के राजकीय पुस्तकालयों में भी संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों का ही अधिकतर संग्रह है, और वह वास्तव में बहुमूल्य है।

यदि अँगरेजी और संस्कृत-भाषाओं के ग्रन्थालयों की बात छोड़ दी जाय, तो भी भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के पुस्तकालयों की दशा हिन्दी-पुस्तकालयों से कहीं अच्छी है। बम्बई के 'मराठी-ग्रन्थ संग्रहालय (शारदामन्दिर)' का सचित्र परिचय आज से कुछ दिन पहले प्रयाग की 'सरस्वती' में निकला था। उस 'शारदा-मन्दिर' के संरक्षक बड़ौदा-नरेश हैं और उसमें मराठी भाषा के लगभग चौदह-पन्द्रह हजार ग्रन्थ संगृहीत हैं। पूना, बम्बई, नागपुर आदि नगरों में भी मराठी-भाषा के अच्छे-अच्छे पुस्तकालय हैं। गुजराती-भाषा के पुस्तकालयों में अहमदाबाद की 'संस्तु-साहित्य-संवर्द्धिनी समिति' और 'गुजरात-साहित्य सभा' के पुस्तकालय विशेष उल्लेखनीय हैं। अहमदाबाद में एक 'गुजरात-वर्न्याकुलर-सोसाइटी' है, जो सन् १८४८ ई० में स्थापित हुई थी। आज से पाँच-छह वर्ष

पहले, उससे सम्बद्ध रजिष्टर्ड लाइब्रेरियों की संख्या सवा तीन सौ के लगभग थी, और उसके लगभग ६०० आजीवन-सदस्य थे! सन् १८८३ ई० में स्थापित बंगलोर-सिटी (मैसूर) की 'ओरियंटल-लाइब्रेरी' के सदस्यों और नवागंतुक सज्जनों की संख्या, सन् १९१८ ई० में, लगभग ३२ हजार तक पहुँच गई थी; जिसमें लगभग ८ हजार तो स्त्रियाँ ही थीं। वेजवाड़ा में भी एक 'आंध्रदेशीय साहित्य-सभा' है, जिससे तेलुगु-भाषा के दो-ढाई सौ पुस्तकालय सम्बद्ध हैं। न जाने, हिन्दी को कब ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा!

वंग-भाषा की तो बात ही न पूछिए। समस्त भारतवर्ष में वंग-भाषा के पुस्तकालय वर्त्तमान हैं। सम्मेलन के हेडक्वार्टर (प्रयाग) में 'वंग-साहित्योत्साहिनी सभा' या 'बांधव-समिति' नाम की संस्था, सन् १८७७ ई० में, स्थापित हुई थी। उसमें आज भी हजारों पुस्तकें हैं। पटना, भागलपुर, आगरा, जबलपुर, दिल्ली, काशी, मथुरा, बम्बई, सिमला, दार्जिलिंग, जगन्नाथपुरी, कटक और नैनीताल आदि अनेक स्थानों में भी वंगभाषा के पुस्तकालय हैं। खास बंगाल-प्रान्त में तो लगभग एक हजार बँगला-पुस्तकालय हैं। तारीफ यह है कि सबकी दशा अच्छी है। कलकत्ता की 'चैतन्य-लाइब्रेरी' आज से ३४ वर्ष पूर्व स्थापित हुई थी। इसमें आजकल लगभग १५ हजार पुस्तकें हैं, और १२५ से अधिक सामयिक पत्र आते हैं। श्रीमान् वर्द्धमान-नरेश इसके संरक्षक हैं। कलकत्ता में बँगला की ऐसी-ऐसी बीसों लाइब्रेरियाँ हैं। किन्तु, कवीन्द्र रवीन्द्र, आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय, जगदीशचन्द्र बसु और 'विश्वकोष'-सम्पादक प्राच्य-विद्या-महार्णव नगेन्द्रनाथ वसु तथा 'पृथिवीर इतिहास' के लेखक दुर्गादास लाहिड़ी के निजी पुस्तकालयों को यदि छोड़ दिया जाय, तो कलकत्ता में बँगला का सबसे बड़ा[1] सार्वजनिक संग्रहालय 'वंगीय साहित्य-परिषद्' ही है। इस परिषद् की स्थापना सन् १८९३ ई० में हुई थी। २४३/१, अपर सर्कुलर रोड पर इसका स्वतंत्र भवन है, जो दुमंजिला है। इसके पास ही कलकत्ता का जगत्प्रसिद्ध जैन मन्दिर है। परिषद् की इमारत से सटा हुआ 'रमेश-भवन' वन रहा है। खास-खास लोगों ने 'रमेशचन्द्र दत्त' का स्मारक-भवन वनाने के लिए रुपये दिये हैं। परिषद् भवन के मुख्य द्वार पर उसके संस्थापकों (पण्डित रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी और व्योमकेश मुस्तफी) की मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। प्रवेश-द्वार के सामने ही संरक्षक राजों-महराजों और वंग-साहित्य-सेवी विद्वानों के विशाल तैल-चित्र टँगे हुए हैं। नीचे पुस्तकालय और वाचनालय है। ऊपर

१. कलकत्ता का सबसे बड़ा और बढ़िया हिन्दी-पुस्तकालय सलकिया (हवड़ा) में है। इसके संस्थापक और संचालक हैं—सेठ सूरजमल-नागरमल। यह संवत् १९७८ की जन्माष्टमी को स्थापित हुआ था। इस समय इसमें छह हजार से भी अधिक पुस्तकें हैं। प्रायः सभी प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाएँ इसके सुसज्जित वाचनालय की शोभा बढ़ाते हैं। इसे मैंने स्वयं देखा है। इसका भवन बड़ा भव्य और सुन्दर है। चमकीली आलमारियों में जिल्द-मढ़ी सजीली पुस्तकें विषयानुक्रम और संख्यानुक्रम से, श्रेणीबद्ध रखी हुई हैं। पुराने प्रसिद्ध मासिक पत्रों तथा वर्त्तमान प्रसिद्ध साप्ताहिकों और दैनिकों की पूरी फाइलें बड़े सुरक्षित ढंग से यहाँ रखी गई हैं। इसमें पाठकों की कुल संख्या आजतक १० हजार से अधिक है और मूल्य जमा करके पुस्तकें ले जानेवाले बाहरी सज्जनों की संख्या आजतक लगभग ७०० है। सेठजी ही इसका सारा खर्च देते हैं और उन्होंने इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिए बीसों हजार रुपये खर्च करने का मंसूबा बाँधा है। —लेखक

व्याख्यान-शाला और अप्राप्य वस्तुओं का संग्रहालय है। व्याख्यानशाला के उच्च मंच की दीवारों पर बंगसाहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र और माइकेल मधुसूदन दत्त आदि के बड़े-बड़े चित्र टँगे हुए हैं। इन्हीं चित्रों के सामने 'विद्यासागर' महोदय का चित्र है। सभी स्वर्गीय लेखकों के चित्र चारों ओर लगे हुए हैं। 'राजाराममोहन राय' की पगड़ी, 'विद्यासागर' का टेबिल, बंकिमचन्द्र की दावात और रमेशचन्द्रदत्त की चिट्ठियाँ आदि अलभ्य वस्तुएँ, व्याख्यान-मंच से दक्षिण के कमरे में सजाकर रखी हुई हैं। उत्तर के कमरे में हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों का सुसज्जित संग्रहालय है। उसमें इस समय पाँच हजार ग्रन्थ हैं। हाल ही में देशबन्धु चित्तरंजनदास ने चार सौ से भी अधिक हस्तलिखित ग्रन्थ समर्पित किये हैं। हस्तलिपियों में सबसे पुरानी दो हैं—एक चंडीदासकृत 'कृष्णकीर्त्तन' की, लगभग ६०० वर्ष की और दूसरी चैतन्य महाप्रभु के पार्श्ववर्त्ती सनातन गोस्वामी-रचित 'आदिपर्व'—महाभारत की, शकाब्द १४२२, संवत् १८४३ की। इस परिषद् की ओर से एक पत्रिका भी निकलती है। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। उनमें एक नागराक्षरों में है। उसका नाम है—'संगीतराग कल्पद्रुम', और उसका सम्पादन किया है, प्राच्य विद्यामहार्णव 'नगेन्द्रनाथ बसु' ने। उसके रचयिता हैं, 'कृष्णानन्द व्यासदेव' रागसागर। उसकी पृष्ठ-संख्या १७०० और गीत-संख्या १३८६२ है। वह तीन खण्डों में छपा है। प्रथम और द्वितीय खण्ड में नागराक्षरों का प्रयोग किया गया है; पर तृतीय खंड बँगला में है। शुरू में इस बृहदाकार ग्रन्थ का मूल्य ३०) था; पर अब परिषद् के सदस्यों के लिए १०) रु० और सर्वसाधारण के लिए ११) कर दिया गया है। भारत में प्रचलित सभी भाषाओं के गान इसमें हैं।

बंगाल के मैमनसिंह नगर में बाबू केदारनाथ मजूमदार नामक एक सज्जन के घर पर जो 'रिसर्च हाउस लाइब्रेरी' है, वह प्राचीन ग्रन्थों के संग्रह में 'परिषद्' से भी बढ़ी-चढ़ी है। वहाँ पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों और बँगला की पुरानी पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों का खूब संग्रह है। दो-तीन हजार सामयिक पुस्तकें भी हैं। पर, वह खासकर पुरानी पुस्तकों के लिए ही प्रसिद्ध है। किन्तु, ऐसे-ऐसे प्रसिद्ध घरेलू पुस्तकालय बँगला में कई हैं।

बँगला के पुस्तकालयों की संख्या अधिक और दशा संतोषजनक होने का प्रधान कारण है—यथेष्ट शिक्षा-प्रचार। जहाँ वसन्तपंचमी के दिन घर-घर आबाल-वृद्ध नर-नारी के मुख से भक्तिपूर्वक निकल पड़ता है—'वीणापुस्तकरंजितहस्ते, भगवति भारति देवि नमस्ते', वहाँ अविद्या का अंधकार कैसे रह सकता है ?

बंगाल की तरह बड़ौदा-राज्य में भी शिक्षा का अच्छा प्रचार है। मैंने अपनी पुरानी डायरी में कहीं से नोट किया है—"बड़ौदा के सार्वजनिक पुस्तकालय में एक लाख पुस्तकें हैं। अकेले बड़ौदा नगर के पुस्तकालयों में सब मिलाकर डेढ़ लाख पुस्तकें हैं। नगर से बाहर, राज्य में, ४० बड़े पुस्तकालय हैं; जिनमें ४० हजार पुस्तकें हैं। गाँवों में १६१ पुस्तकालय हैं; जिनमें २५ हजार पुस्तकें हैं।"

भगवन् ! हिन्दी-प्रधान प्रान्तों ने क्या अपराध किया है ?

मेरी नोट-बुक में किसी अखबार की कतरन का एक टुकड़ा पड़ा हुआ है। उसमें लिखा है—"अनुमान है कि १५वीं शताब्दी में, सारे संसार में, केवल ४० हजार पुस्तकें थीं। १६वीं शताब्दी में उनकी संख्या १७ हजार और बढ़ गई। १७वीं शताब्दी में वह संख्या बढ़कर १,२५,००,००७ तक पहुँची। अठारहवीं शताब्दी में[1] २० लाख और १९वीं में ८२ लाख ५० हजार पुस्तकें संसार-भर में थीं। किन्तु, २०वीं सदी में समस्त संसार की पुस्तकों की संख्या १,२१,१०,००० तक पहुँच चुकी है। इसके अतिरिक्त एक करोड़ ५० लाख मासिक-पत्र भी हैं।"

इस आनुमानिक विवरण से भी यही प्रकट होता है कि १५वीं शताब्दी में—भारतवर्ष तो दासता की जंजीर में[2] जकड़ा ही हुआ था—पाश्चात्य संसार भी विशेष विद्या-विभूति-सम्पन्न नहीं था। पाश्चात्य सभ्यता आज उन्नति के शिखर पर पहुँची हुई मानी जाती है; पर जिस समय भारतवर्ष के विराट् ग्रन्थ-संग्रहालयों को जला-जलाकर हमाम के हौज का पानी गरम किया जाता था, चाय बनाई जाती थी, उस समय वर्त्तमान पाश्चात्य सभ्यता पलने में झूल रही थी। किसी दिन इस भारतवर्ष में भी नालन्दा, कुलगंग और तक्षशिला-जैसे विश्वविश्रुत विश्वविद्यालय तथा काशी, नदिया और पूना-जैसे विद्यापीठ मौजूद थे। उनके ग्रंथ-संग्रहालय संसार में अपना सानी नहीं रखते थे। धाराधीश भोजराज की कृपा से कभी इसी भारतवर्ष के घर-घर में पुस्तकालय रह चुके हैं, और किसानों तथा मजदूरों तक में विद्या की चर्चा चल चुकी है। अस्तु !

जहाँ तक मेरी जानकारी है, भारतेन्दु-काल से पहले हिन्दी के सार्वजनिक पुस्तकालयों का बहुलांश में अभाव था। यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी-पुस्तकें भी बहुत कम थीं। सुना जाता है, स्वर्गीय श्रीशिव सिंहजी सेंगर के घर पर एक अच्छा-सा पुस्तकालय था। किन्तु, उसमें फारसी और संस्कृत की पुस्तकें भी शामिल थीं। संभव है, अयोध्या-नरेश महाराजा मान सिंह (कविवर द्विजदेव), रीवाँ-नरेश महाराजा रघुराज सिंह, राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' आदि कविताविलासी साहित्य-

---

१. १८वीं और १९वीं शताब्दी में पुस्तकों की संख्या क्यों कम हो गई, और १७वीं सदी की पुस्तक-संख्या २०वीं सदी की पुस्तक-संख्या से क्यों अधिक थी, इसके ऐतिहासिक कारणों पर विद्वानों को विचारना चाहिए।—लेखक

२. यद्यपि १५वीं सदी में भारत पराधीन हो चुका था, तथापि उस समय यहाँ विद्यानुराग की न्यूनता नहीं थी। दरबारों में कवि और ग्रन्थकार रहा करते थे। जनता को भी पेट की कुछ चिन्ता नहीं थी। हिन्दुओं में धर्म-प्राणता, आज की तरह नष्ट नहीं हो गई थी। मुसलमान शासकों की शनैश्चर-दृष्टि से धर्म-ग्रन्थों की रक्षा करनी पड़ती थी। उस समय के सुरक्षित अधिकांश ग्रन्थ औरंगजेबी और नवाबी जमाने में नष्ट हो गये। यदि मुसलमान-बादशाह हिन्दुओं के मठों, मन्दिरों और विद्यालयों के ग्रन्थ-भाण्डार पर भी हाथ साफ न करते, तो आज भारतीय साहित्य के ग्रन्थों की संख्या एतद्देशनिवासियों की संख्या से भी कहीं अधिक होती। मेरा अनुमान है कि १५वीं सदी की ४० हजार पुस्तकों में आधी से भी अधिक भारत में ही रही होगी।—लेखक

सेवियों के पास हिन्दी-पुस्तकों का खासा संग्रह हो। किन्तु, उनके पुस्तकालयों को हिन्दी-संसार नहीं देख सका।

कौन कह सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, लल्लूलाल, लाला शालग्राम, श्री निवास दास, राधाकृष्ण दास, बालकृष्ण भट्ट, केशवराम भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, देवी प्रसाद 'पूर्ण', सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि हिन्दी-साहित्याराधकों के पास हिन्दी-ग्रंथों का संग्रह न होगा? किन्तु, उन साहित्य-शिल्पियों के मंजु कर-कंजों के निरन्तर स्पर्श से पवित्रीकृत पुस्तकें अब किस सार्वजनिक पुस्तकालय में सुरक्षित हैं, जहाँ पहुँच कर हिन्दी-प्रेमी उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करें? बंगाल के साहित्य-सेवी तो मरने से पहले ही अपनी ग्रंथ-सम्पत्ति सार्वजनिक पुस्तकालयों को सौंप जाते हैं। जहाँ तक मुझे खबर है, श्रद्धास्पद 'द्विवेदीजी' के सिवा, हिन्दी-संसार में किसी ने ऐसा सुकार्य नहीं किया है। हाँ, कलकत्ता-निवासी मारवाड़ी-कुलालंकार स्वर्गीय बाबू 'रूढ़मलजी गोयनका' ने जो लाखों रुपये खर्च करके बड़े शौक से अलभ्य ग्रंथों का संग्रह किया था, वह हिन्दू-विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय के निमित्त माननीय मालवीयजी को समर्पित कर दिया था।

उपर्युक्त स्वर्गीय हिन्दी-भक्तों में जिनके वंशधर वर्त्तमान हैं, उनकी पुस्तकें संभवतः सुरक्षित (?) होंगी; पर अधिक दिन तक के लिए नहीं। किन्तु, जो केवल अपना 'जरा-मरण-रहित यशःकाय' ही इस संसार में छोड़ गये हैं, उनके 'प्यारे खिलौने' न जाने आज कहाँ किस दशा में पड़े होंगे!

विज्ञ वाचक अवश्य जानते होंगे कि बुलन्दशहर की 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' के मंत्री (पंडित बाबूराम शर्मा) ने सन् १९१८ ई० में, हिन्दी डायरेक्टरी प्रकाशित की थी। उसकी भूमिका में शर्माजी लिखते हैं—"पत्र-पत्रिकाओं में संस्थाओं की जानकारी के लिए विज्ञापन प्रकाशित कराये गये। जिन संस्थाओं का ज्ञान था, उन्हें पत्र लिखे गये। किसी-किसी संस्था को तीन-तीन, चार-चार पत्र लिखे गये। परन्तु, खेद है कि मंत्री-महोदयों ने उत्तर तक देने की दयालुता नहीं की। × × × हर्ष की बात है कि अफ्रिका-जैसे दूरस्थ महाद्वीप में आवश्यक सूचना और पत्रादि × × × ठीक समय पर पहुँचे, जिनके उत्तर यथासमय प्राप्त हुए; इसके लिए हम कृतज्ञ हैं। परन्तु, आश्चर्य की बात तो यह है कि अफ्रिका से तो हमें उत्साह-ध्वनि सुनाई दे, और भारत की सभा-संस्थाओं के मंत्री-महोदयों के कानों पर 'जूँ' भी नहीं रेंगे।" अस्तु!

ये शर्माजी के अविकल वाक्य क्या कहते हैं? क्या इनसे यह ध्वनि नहीं निकलती कि हिन्दी-पुस्तकालयों के संगठन की बड़ी आवश्यकता है? जबतक उनका संगठन न होगा, तबतक उनसे हिन्दी का हित-साधन नहीं हो सकता। दो-चार को छोड़कर अन्य सभी हिन्दी-पुस्तकालयों का कार्य शृङ्खला-शून्य है। उनकी व्यवस्था इतनी सदोष है कि उनकी उद्देश्य-सिद्धि में भी बाधा पहुँचती है। अधिकांश पुस्तकालय ऐसे हैं, जहाँ बैठकर पाठक बहस भी किया करते हैं, जहाँ वाचनालय की मेज पर पत्र-पत्रिकाएँ अस्तव्यस्त पड़ी रहती हैं,

और जहाँ की पुस्तकें दो-चार पाठकों के हाथों में जाते-जाते रद्दी हो जाती हैं। पुस्तकाध्यक्ष और पाठक, दोनों की असावधानता से पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों की दुर्दशा होती है। पुस्तकालयों से पुस्तकें ले जाकर पढ़नेवाले सज्जनों के बारे में एक अँगरेजी कवि ने कैसा अच्छा कहा है—

Read slowly Pause frequently,
Think seriously,
Keep cleanly, Return only
With the Corners of the leaves
Not turned down.

अर्थात्, "पुस्तक पढ़ना हो, तो धीरे-धीरे ध्यानपूर्वक पढ़ो, ठौर-ठौर ठहर-ठहरकर गम्भीरतापूर्वक विचार करते जाओ, पुस्तक साफ-सुथरी रखो और उसे पुस्तकालय में लौटाने जाओ, तो ऐसी अच्छी दशा में वापस करो कि कहीं उसके एक पन्ने का भी कोई कोना न मुड़ा हो।"

कवि और उपदेशक भले ही यह कहते रहें; पर हिन्दी-पाठक उनकी क्यों सुनने लगे। जो अपने कमरे की चीजें सँभाल कर रखने में आलस्य करते हैं, उन्हें कहाँ फुर्सत है कि भाड़े पर लाई हुई पुस्तक को सुरक्षित रखें? हिन्दी-पुस्तकालयों की पुस्तकें खूब सफर (suffer ?) किया करती हैं—एक ही प्रस्थान में कई घर घूम आया करती हैं। जो किसी पुस्तकालय का सदस्य होता है, उससे, मुफ्त पुस्तक पढ़ने के लोभ से कई दर्जन सज्जन दोस्ती पैदा कर लेते हैं! फल यह होता है कि कहीं जिल्द गायब, कहीं चित्र गायब, कहीं दो-चार पन्ने गायब और कहीं पुस्तक ही गायब! जहाँ पुस्तकों की ऐसी दुर्दशा है, वहाँ पुस्तकालयों की रक्षा चक्रपाणि ही कर सकते हैं।

यदि सच पूछिए, तो जो ग्रंथों का वास्तविक आदर करना नहीं जानता, उसे ग्रंथ-पाठ का अधिकार ही नहीं है। किन्तु, पुस्तकाध्यक्ष यदि पुस्तक की दुर्दशा पर झुँझलाकर पाठक से जवाब तलब करे, तो महाशयजी चन्दा देना ही बन्द कर दें, और फिर किसी दूसरे पुस्तकालय का संहार करने के लिए चवन्नी खर्च कर डालें! इस प्रकार आर्थिक संकट उपस्थित होने के भय से विवश होकर अधिकांश हिन्दी-पुस्तकालयों को अपनी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का श्राद्ध करना पड़ता है।

पाठकों के साथ-साथ पुस्तकाध्यक्ष का भी कुछ दोष होने पर भी उसके लिए उसे कोसना अनुचित है। हिन्दी-पुस्तकाध्यक्षों को यहाँ पुस्तक-रक्षा-विषयक शिक्षा नहीं दी जाती। वे साधारण वेतनभोगी नौकर कहे जा सकते हैं, पर 'लाइब्रेरियन' नहीं। अँगरेजी-पुस्तकालयों के लाइब्रेरियनों का एक एसोसियेशन (संघ) है। उसके वार्षिक अधिवेशन नियमित रूप से हुआ करते हैं। उसकी रिपोर्टें देखने से मालूम होता है कि अँगरेजी-पुस्तकालयों के लाइब्रेरियन सुयोग्य और मोटी तनख्वाह पानेवाले होते हैं। पाठक उनका सम्मान भी करते हैं। पुस्तकालय-सम्बन्धी प्रत्येक बात की वे पूरी जानकारी रखते हैं।

पुस्तकालय में किस विषय की कितनी पुस्तकें हैं, किस कवि या लेखक की कौन-कौन-सी पुस्तकें हैं, और कौन-कौन नहीं हैं, किस विषय की कौन-सी सर्वोत्तम पुस्तक है, किसी खास विषय पर ग्रन्थ लिखने के लिए कौन-कौन पुस्तकें काम में लाये जाने के योग्य हैं, किस विषय पर लेख लिखने के लिए कहाँ क्या मसाला मिलेगा, और इस समय किस विषय की कौन-सी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक कहाँ से निकली है—इत्यादि बातों का ज्ञान अधिकांश अँगरेजी-लाइब्रेरियनों को हुआ करता है। सुना है, 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा' के पुस्तकालयाध्यक्ष पण्डित केदारनाथ पाठक को भी हिन्दी-संसार की अनेक ज्ञेय बातों का पूरा ज्ञान है।

सच पूछिए, तो 'काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा' ही हिन्दी की पहली संस्था है, और उसका 'आर्यभाषा-पुस्तकालय' ही हिन्दी का पहला पुस्तकालय है। सन् १८७६ ई० में कलकत्ता में, एक 'हिन्दू-साहित्य-समिति' (Hindu Literary Society) नाम की संस्था स्थापित हुई थी; पर उसका हिन्दी से कोई सम्बन्ध न था। ता० १६ जुलाई (सन् १८९३ ई०) को 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा' की स्थापना हुई। इससे पहले का कोई हिन्दी-पुस्तकालय सुना नहीं गया। पहले भी हिन्दी-पुस्तकालय थे जरूर, मगर वे अधिकतर किसी एक विद्वान् की सम्पत्ति-मात्र थे। और, यदि कोई सार्वजनिक भी था, तो वह प्रसिद्ध अथवा सर्वप्रिय नहीं था। खैर, काशी की 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' के बाद आरा (बिहार) की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' का नम्बर है। यह संवत् १९५८ में स्थापित हुई थी और इसके पुस्तकालय में इस समय ६ हजार पुस्तकें, पुराने और नये मासिक पत्रों की फाइल, हिन्दी की पुरानी और नई सभाओं की रिपोर्टें और हस्तलिखित तथा मुद्रित पुरानी पुस्तकें विशेष-रूप से सुरक्षित हैं। कलकत्ता की 'बड़ाबाजार-लाइब्रेरी'[1] भी सन् १९०१ ई० में ही स्थापित हो गई थी। यह अबतक चल रही है। इसकी अवस्था अच्छी है; पर व्यवस्था नहीं। हाँ, एक बात भूलता हूँ। सन् १८९८ ई० के सितम्बर महीने में मुजफ्फरपुर (बिहार) की 'हिन्दीभाषा-प्रचारिणी-सभा' खोली गई थी। उसके साथ एक पुस्तकालय भी था, और उस समय की स्थिति के अनुसार वह अच्छा पुस्तकालय था। पर हिन्दी-प्रेमी होने का दम भरनेवाले यारों ने बहुत-सी पुस्तकें बिना

१. खास कलकत्ता शहर में 'बड़ाबाजार लाइब्रेरी', 'महावीर-पुस्तकालय', 'महेश्वरी-पुस्तकालय', 'ब्रह्मसेवक' आदि उल्लेख-योग्य हिन्दी-पुस्तकालय हैं। सन् १९१० ई० में हिन्दी-साहित्य-परिषद् भी कलकत्ता में खुली थी, और एक 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' भी। किन्तु, इस समय उन दोनों के अस्तित्व का पता नहीं है। उपर्युक्त पुस्तकालयों में दूसरे और चौथे को स्थान-संकोच के कारण कुछ असुविधा है; पर पहले और तीसरे को प्रशस्त व्याख्यानशालाएँ भी मिली हैं और मुफ्त में मिली हैं। मैंने बम्बई में तीन हिन्दी-पुस्तकालयों को देखा था; जिनमें 'मारवाड़ी-हिन्दी-पुस्तकालय' की अवस्था अच्छी जान पड़ी। किन्तु, बम्बई के हिन्दी-पुस्तकालयों से कलकत्ता के हिन्दी-पुस्तकालय अच्छी दशा में हैं। हाँ, खास कलकत्ता के उक्त चारों पुस्तकालयों से दिल्ली (चाँदनी चौक) के 'मारवाड़ी-पुस्तकालय' (सन् १९१५ ई० में स्थापित) की अवस्था विशेष संतोषजनक है। मैंने स्वयं उस पुस्तकालय में कई दिन लगातार जाकर इस बात की परीक्षा की है। उसकी व्यवस्था भी अच्छी है, जिसका श्रेय इसके संस्थापक सेठ केदारनाथ गोयनका को है। रंगून के 'मारवाड़ी-हिन्दी-पुस्तकालय' की आर्थिक अवस्था भी शोचनीय सुन रहा हूँ।—लेखक

डकारे ही पचा डालीं। जो कुछ बच गईं, वे वहीं के कई पुस्तकालयों में बँट गईं। जो हो, उस पुस्तकालय से तिरहुत (मिथिला) प्रान्त के प्रधान नगर मुजफ्फरपुर में हिन्दी-प्रचार का काम बड़ी सफलता से हुआ था, इसमें सन्देह नहीं। 'हिन्दी डायरेक्टरी' के अनुसार जबलपुर की 'नागरी-साहित्य-प्रचारिणी-सभा' का 'विद्याविनोद-पुस्तकालय' हिन्दी-संसार में है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। सम्मेलन को चाहिए कि वह भारतवर्ष तथा विदेशों के हिन्दी-पुस्तकालयों की विवरणात्मक सूची प्रकाशित करे, उन्हें सम्बद्ध करे, उनके निरीक्षण के लिए अनुभवी निरीक्षकों को नियुक्त करे, उनके संगठन और संचालन की व्यवस्था करे, गुमाश्तगरी और अरायज-नवीसी की तरह पुस्तकालयाध्यक्ष के लिए भी कोई उपयुक्त परीक्षा नियत करे, और उनकी एक समिति भी संगठित कर दे। इस काम में सम्मेलन को अपनी प्रान्तीय शाखाओं से बड़ी सहायता मिलेगी, और प्रत्येक हिन्दी-हितैषी तथा पत्र-सम्पादक उसे करावलम्ब देगा।

महासम्मेलन से अथवा प्रान्तीय सम्मेलनों से सम्बद्ध हो जाने पर हिन्दी-पुस्तकालयों का संगठन सुचारु रूप से सम्पादित हो सकता है। किन्तु, प्रान्तीय सम्मेलनों पर महा-सम्मेलन को सदा सावधान दृष्टि रखनी पड़ेगी। पुस्तकालयों का संगठन हो जाने पर हिन्दी-प्रचार के सिवा हिन्दी-साहित्य-संवर्द्धन में कितनी सुगमता होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उन्हें संगठित करके उनका सुधार करना पड़ेगा। सुधार करने के समय इन बातों पर विचार करना होगा—

(१) उनकी आर्थिक अवस्था कैसी है?
(२) उनके कार्यकर्त्ता कैसे हैं? वे कार्य-तत्पर और सुयोग्य हैं या नहीं?
(३) उनके भवन कैसे हैं; और कैसे स्थान[१] में हैं?
(४) उनकी पुस्तकें किस दशा[२] में हैं?

---

१. हिन्दी-पुस्तकालयों में प्रयाग के 'भारतीभवन' का मन्दिर सुन्दर है। स्वर्गीय लाला व्रजमोहन दास ने लगभग ४७००० की सम्पत्ति इसे दे दी थी; जिसमें से पचीस हजार रुपये इलाहाबाद-बैंक में जमा हैं। सन् १९१८ ई० में, इसमें, ४४३० पुस्तकें थीं। 'काशी-नागरी-प्रचारिणी' के 'आर्यभाषा-पुस्तकालय', भागलपुर के 'भगवान-पुस्तकालय', गया के 'मन्नूलाल-पुस्तकालय' आदि के भवन भी बहुत अच्छे हैं। सुना है, फर्रुखाबाद, फिरोजपुर, कानपुर और भरतपुर आदि नगरों के पुस्तकालय बड़े सुन्दर और स्वतंत्र भवनों में हैं। मैंने कानपुर के कई पुस्तकालयों को देखा है। उनके भवन तो उतने अच्छे नहीं हैं और संभवतः किराये के हैं। हाँ, उनके कार्यकर्त्ता उत्साही जान पड़े। पुस्तकालय के लिए ऐसे स्थान में भवन रहना चाहिए, जो एकान्त, शान्त और स्वच्छ हो तथा भवन में हवा और रोशनी अधिक पहुँचती हो।—ले०

२. पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की दशा गया के 'मन्नूलाल-पुस्तकालय' में सबसे अच्छी है। हनुमान-पुस्तकालय (हवड़ा), भारतीभवन (प्रयाग) और आर्यभाषा-पुस्तकालय (काशी) तथा मारवाड़ी-पुस्तकालय (दिल्ली) में भी पुस्तकों की दशा अच्छी ही है। 'मन्नूलाल-पुस्तकालय' को मैंने कई बार देखा है। मुझे भारत के प्रायः सभी प्रान्तों के प्रधान नगरों में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और मैंने बड़े शौक से ढूँढ़कर पुस्तकालयों को देखा है; पर तो भी, 'मन्नूलाल-पुस्तकालय' किसी से कम नहीं जँचा, बल्कि बहुतों से अच्छा ही जान पड़ा। २७-४-१९१७ के 'पाटलिपुत्र' में मैंने उक्त

(५) उनकी पुस्तक-सूची अक्षरानुक्रम, विषयानुक्रम, ग्रन्थकारानुक्रम और प्रकाशकानुक्रम से अलग-अलग तैयार हुई है या नहीं ?

(६) उनके वाचनालय[1] और कार्यालय के बही-खाते कैसे हैं ?

(७) उनमें पुरानी और नई पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें किस तरह रखी गई हैं ?

(८) उनके आय-व्यय का हिसाब ठीक है या नहीं ?

(९) उनकी नियमावली और प्रबन्ध-शैली में क्या दोष है ?

ऐसी सब बातों पर विचार करके उनकी उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु, जबतक सम्मेलन को सम्बद्ध पुस्तकालयों से प्रतिवर्ष नियमित आय न होगी, तबतक उनके लिए वह विशेष कुछ कर भी नहीं सकता। इसलिए, प्रत्येक पुस्तकालय को अब शीघ्र ही सम्मेलन से सम्बद्ध हो जाना चाहिए; और सम्मेलन को भी, पुस्तकालयों के संगठन तथा संचालन के लिए, निर्णयपूर्वक नियमोपनियमादि का निर्माण करना चाहिए। संगठन से लाभ यह होगा कि—

(१) जब सम्मेलन का प्रस्तावित महापुस्तकालय (अथवा, 'राष्ट्रभाषा का विराट् संग्रहालय') तैयार होगा, तब वह समस्त संबद्ध पुस्तकालयों के प्रपितामह-पद पर प्रतिष्ठित होकर,

पुस्तकालय का पूर्ण परिचय लिखा था। सन् १९११ ई० में माननीय मालवीय जी ने उसे खोला था। उस साल उसमें हजारों मुद्रित पुस्तकों के सिवा प्राचीन हस्तलिपियाँ १,००० थीं; जिनमें दो सौ केवल हिन्दी-काव्यग्रन्थ थे। उनमें सबसे सुन्दर पुस्तक थी, संवत् १९३७ की लिखी 'श्रीरामचन्द्रिका' की 'रुद्रजीत'-कृत टीका। उस पुस्तकालय की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है। गया के सेठ सूर्यप्रसाद महाजन ने, अपने पिता की स्मृति में, लोकोपकारार्थ, उसकी सृष्टि और वृद्धि की है। इस पथ में वह धन-कुबेरों के आदर्श हैं। —लेखक

१. वाचनालय का हवादार और प्रकाशमय होना तो आवश्यक है ही, उसे शान्तिपूर्ण भी होना चाहिए। वहाँ जरूरत पड़ने पर पाठकों को कागज, पेंसिल आदि लेखन-सामग्री देने की भी व्यवस्था करनी चाहिए। अँगरेजी-पुस्तकालयों के पाठक अपने साथ नोट-बुक और पेन्सिल वगैरह हमेशा रखते हैं। किन्तु, हिन्दी-पुस्तकालयों में उपन्यासों के प्रेमी तथा अखबारों को उलट-पलट कर इधर-उधर रख देनेवाले पाठक ही प्रायः आते हैं। वाचनालयों को केवल मनोरंजन-गृह अथवा विनोदशाला समझनेवाले ऐसे सज्जनों को 'लार्ड बायरन' का यह उपदेश सदा स्मरण रखना चाहिए—

"In reading authors when you find
Bright passages, that strike your mind
And which, perhaps, you may have reason,
To think on, at another season,
Be not contented with the sight,
But take them down in black and white,
Such a respect is wisely shown,
As makes another's sense one's own"

अर्थात्, "जब तुम पुस्तकें पढ़ो, तब जो सुन्दर रचनाएँ तुम्हें बहुत अच्छी जँचें, और जिन पर तुम अपने किसी अवकाश के समय अच्छी तरह विचार कर सको, उन्हें सिर्फ देखकर ही संतोष मत कर लो, बल्कि लिख लो। ऐसा करना बुद्धिमानी का काम है और दूसरे के विचारों को अपना बना लेने का बड़ा अच्छा तरीका है।" —लेखक

व्यासनन्दन शुकदेव की तरह बालक होने पर भी, सम्मेलन के नाते, गौरवास्पद समझा जायगा ; और इसलिए सम्मेलन अपने संग्रहालय-विभाग द्वारा, सब पुस्तकालयों पर प्रभाव रख सकेगा।

(२) अपने परीक्षा-केन्द्रों की संख्या-वृद्धि करने में सम्मेलन को सफलता होगी।

(३) सम्मेलन के प्रस्तावों और उद्देश्यों के प्रचार तथा साफल्य में सुगमता होगी।

(४) जिन प्राचीन ग्रन्थों या अपर्याप्त मुद्रित पुस्तकों का संग्रह किसी प्रकार सम्मेलन के संग्रहालय में न हो सकेगा, उनका पता लगाने में सम्मेलन विशेष सफल होगा। एतदर्थ सम्मेलन के लिए यह परमावश्यक होगा कि वह समस्त संबद्ध पुस्तकालयों के सूची-पत्रों, वार्षिक कार्य-विवरणों और नियमावलियों आदि का संग्रह कर रखे।

(५) किसी अनिष्टकारक पुस्तक का प्रचार रोकने में सम्मेलन बहुलांश में कृतकार्य हो सकेगा। अश्लील एवं भ्रष्ट साहित्य का प्रचार रोकने से गंदी पुस्तकों के प्रकाशक सँभल जायँगे।

(६) सम्मेलन-पत्रिका का प्रचार बढ़ेगा, और सम्मेलन की लेख-मालाओं, सालाना रिपोर्टों तथा पुस्तकों की खासी खपत होगी।

(७) सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों में प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ेगी।

(८) हिन्दी की सुविस्तृत डायरेक्टरी तैयार करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

(९) अन्यान्य अनेक लाभ होंगे[१] ; जिनसे हिन्दी का पथ परिष्कृत, अधिकार दृढ़, क्षेत्र विस्तृत और भविष्य उज्ज्वल होगा।

आप तो जानते ही हैं कि सम्मेलन ने एक विशाल ग्रन्थ-संग्रहालय बनवाने का इरादा किया है, और उसके लिए दो लाख रुपये की अपील प्रकाशित हुई है। यदि आप के पास द्रव्य और सात्विक दान की श्रद्धा हो, तो शीघ्र अपना कर्त्तव्य पूरा कीजिए। यदि आपके पास या आपके किसी परिचित व्यक्ति के पास, हस्तलिखित पोथियाँ हों, तो अपने अभिप्राय के साथ सम्मेलन को सूचना दीजिए। यदि आपके पास अलभ्य मुद्रित ग्रन्थ हों, तो भी सम्मेलन से पत्र-व्यवहार कीजिए। यदि आप प्रकाशक हैं, तो अपनी सारी पुस्तकों के प्रत्येक संस्करण की एक-एक प्रति, अथवा जो सुलभ एवं समुपस्थित हो, सम्मेलन की सेवा में सादर समर्पित कीजिए। यदि आप लेखक और सम्पादक हैं, तो अपनी पुस्तकों तथा

१. उदाहरणार्थ, मान लीजिए, यदि सम्मेलन को अपने संग्रहालय में दैनिक और साप्ताहिक पत्रों की फाइलों का संग्रह करना होगा, तो क्या वह इस कष्ट-साध्य कार्य में सम्बद्ध पुस्तकालयों से सहायता नहीं ले सकता ? प्रत्येक पुस्तकालय खास-खास दैनिकों और साप्ताहिकों की पूरी फाइलें तैयार करके उसे प्रतिवर्ष दे सकता है। सब पुस्तकालयों को सम्मेलन से पत्र-व्यवहार करके यह पहले ही निश्चित कर लेना होगा कि किसे किस पत्र की फाइल देने का भार सौंपा गया है। हाँ, मासिक पत्रों की फाइलों का संग्रह सम्मेलन-संग्रहालय को स्वयं करना पड़ेगा। किन्तु, जिन साप्ताहिकों और दैनिकों का संग्रह करना उनके लिए झंझट का काम होगा, उन्हीं पत्रों का संग्रह करने के लिए वह पुस्तकालय-विशेष से अनुरोध कर सकेगा। दैनिकों और साप्ताहिकों का संग्रह करना इसलिए आवश्यक होगा कि वे भारत-माता के रोजनामचे हैं। किसी दिन ऐतिहासिक अनुसन्धान करनेवाले विद्वानों के लिए इस देश की डायरियों का मूल्य आज से कहीं अधिक होगा। —लेखक

पत्र-पत्रिकाओं को सम्मेलन-कार्यालय में भेजिए; साथ ही लेख और टिप्पणियाँ लिखकर, विविध सूचनाएँ प्रकाशित करके, सम्मेलन की सहायता भी कीजिए। और, यह भी याद रखिए कि यदि आप सम्मेलन के पृष्ठ-पोषक न बनेंगे, तो राष्ट्रभाषा-पद-वाच्य हिन्दी का उन्नयन एवं गौरव-वर्द्धन करनेवाली सारी शक्तियाँ बिखरी हुई पड़ी रह जायँगी, और फिर हाथ मलने के सिवा कुछ हाथ न आवेगा।

सम्मेलन का संग्रहालय अब बिना बने नहीं रहेगा; क्योंकि हिन्दी-संसार के कर्मवीर टंडनजी उसके लिए किये जानेवाले उद्योग के मूल में हैं। इस वर्ष न सही, कुछ वर्षों के बाद ही सही, पर उसका बनना ध्रुव हो गया। उसकी आवश्यकता सबकी समझ में आ गई। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। अतएव, यहाँ कई बातें विचारणीय हैं। क्या सम्मेलन को समस्त प्राचीन एवं नवीन ग्रन्थों का संग्रह करने में असुविधा—कठिनाई— न होगी? क्या उसे सभी पुस्तक-प्रकाशकों और पुस्तकालयों के सूची-पत्रों का पारायण न करना पड़ेगा? क्या उसे लेखकों से उनकी अपनी बनाई पुस्तकों की सविवरण सूची न माँगनी पड़ेगी? इत्यादि।

मेरा निवेदन यह है कि यदि आप उन असुविधाओं और झंझटों-झमेलों से सम्मेलन का पिंड छुड़ाना चाहते हैं, तो कृपा करके 'हिन्दी-पुस्तक-कोश' की रचना करने में, उसे सर्वाङ्गसुन्दर और सर्वथा सम्पन्न बनाने में हाथ बँटाइए। 'माधुरी'[1] के सिवा अन्यान्य पत्रों में भी आप उक्त कोश की चर्चा पढ़ सकेंगे। वह कोश तैयार हो चला है। वह कोश श्रीमान् पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी (वेदान्तशास्त्री) के घोर परिश्रम का अनुपम फल होगा। उसमें आज तक की समस्त हिन्दी-पुस्तकों का विवरणात्मक परिचय रहेगा, चाहे वे प्राचीन हों या नवीन, मुद्रित हों या अप्रकाशित, प्राप्य हों या अप्राप्य। उस कोश की सहायता सम्मेलन के प्रस्तावित संग्रहालय की पूर्णता के लिए अनिवार्य और पर्याप्त होगी। उसके अनुसार जिस पुस्तकालय को सम्पन्न बना दिया जायगा, वही हिन्दी का आदर्श पुस्तकालय बन जायगा। वह प्रत्येक पुस्तकालय का अलंकार-स्वरूप होगा। उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिए उक्त शास्त्रीजी द्रव्य, श्रम और समय का समुचित उपयोग कर रहे हैं। अब तक उन्होंने सामग्री संग्रह करने में आशातीत सफलता पाई है, तो भी उन्हें जिन प्रकाशकों, लेखकों, पुस्तकालयों और हिन्दी-हितैषियों से अभी सहायता नहीं मिली है, उनका परम कर्त्तव्य है कि वे शास्त्रीजी का अत्यधिक परिश्रम सार्थक करें। कुछ सज्जनों की धारणा है कि वह कभी पूर्ण होगा ही नहीं। मैं कहता हूँ कि संवत् १९८० तक तो वह सर्वाङ्गपूर्ण होगा, अथवा हो जायगा; क्योंकि प्रथम संस्करण की सारी त्रुटियाँ द्वितीय संस्करण में दूर हो जायँगी। पुराने अप्रकाशित और दुर्लभ ग्रन्थों की विवरणात्मक सूची प्रस्तुत करना जितना श्रम-साध्य और समयापेक्ष है, उतना वर्त्तमान ग्रन्थों की तालिका तैयार करना कठिन नहीं है। इसका कारण समझाने की जरूरत नहीं है। आशा है, उक्त पुस्तक-कोश हिन्दी की उन्नति की आलीशान इमारत का सबसे सुदृढ़ स्तम्भ होगा। कारण, पुस्तकालयों की सजावट करने में, हिन्दी-साहित्य के अभावों की पूर्त्ति करने में, ग्रन्थविशेष की रचना

१. देखिए—'माधुरी' की गत दसवीं संख्या का 'विविध विषय'।—माधुरी-सम्पादक

के लिए उपयुक्त साधन-संग्रह करने में, हिन्दी में युग-परिवर्त्तन और क्रम-विकास पर विचार करने में, उससे यथेष्ट साहाय्य प्राप्त होगा। अतएव, पुस्तकालयों की महत्ता और उपयोगिता को समझनेवाले प्रत्येक हिन्दी-हितैषी को, उक्त शास्त्री जी से (न० २२, सरकार लेन, भारती प्रेस, कलकत्ता के पते से) पत्र लिखकर, कोश-सम्बन्धी प्रश्नों के वितरणार्थ छपे हुए परचे मँगाने चाहिए और उनके, संतोषजनक उत्तर देकर, हिन्दी के हित-साधन के इतने बड़े काम में योग देना चाहिए।

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष १, आषाढ़, संवत् १९८० (सन् १९२३ ई०)

•

साहित्य-परिषदों में क्या हो ?

आजकल हिन्दी-संसार में सर्वत्र ही साहित्यिक संस्थाओं की धूम मची दीख पड़ती है। साहित्य-परिषद्, साहित्य-गोष्ठी, साहित्य-समाज, साहित्य-संसद्, साहित्य-संघ, साहित्य-समिति, साहित्य-सभा आदि नामों से अनेक संस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं और नई-नई होती भी जा रही हैं। बालकों और युवकों की ओर से भी ऐसी संस्थाएँ अलग स्थापित हो रही हैं। पुस्तकालयों और वाचनालयों के वार्षिकोत्सव के अवसर पर भी ऐसी संस्थाएँ बन जाती हैं। साहित्यिक संस्थाओं के किसी महोत्सव में कवि-सम्मेलन और कथाकार-सम्मेलन की भाँति साहित्य-परिषद् के नाम से भी एक विभाग बन जाता है। इन सभी साहित्यिक परिषदों या संघों या गोष्ठियों में केवल निबन्ध-पाठ और व्याख्यान हुआ करते हैं; साहित्यिक प्रगति की आलोचना होती है, साहित्य की आधुनिक गतिविधि परखी जाती है और साहित्य की विविध शाखाओं के विकास की चर्चा तथा विवेचना भी होती है। किन्तु, यह सब कुछ थोड़ी देर का मनोरंजन ही होता है। साहित्य को स्थायी लाभ नहीं पहुँचता। स्थायी लाभ तो तब पहुँचता जब प्रत्येक साहित्य-परिषद् के संचालक प्रतिवर्ष के महोत्सव में पठित भाषणों और निबन्धों का संग्रह प्रकाशित किया करते। प्रयाग-विश्वविद्यालय की साहित्य-परिषद् ने ऐसा ही किया है। और भी कुछ परिषदों ने प्रकाशन के महत्त्व पर ध्यान दिया है। किन्तु, अधिकांश परिषदों में पठित निबन्धादि अप्रकाशित ही रह जाते हैं।

जो साहित्य इस समय तैयार होता जा रहा है और जो पहले तैयार हो चुका है, उसके गुण-दोषों की विवेचना और आलोचना तथा उसकी प्रगति की धाराओं का विश्लेषण करने से ही लोगों का साहित्यिक ज्ञान नहीं बढ़ सकता। यदि हम केवल इतना ही कहते रहें कि सूर और तुलसी प्रगतिशील थे अथवा अप्रगतिशील, प्रसाद और पन्त ने प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया है, निराला और महादेवी ने मानव-हृदय के संघर्षों अथवा अन्तर्द्वन्द्वों का विश्लेषण बड़ी मर्मज्ञता से किया है, तो इतना ही कह

देने से लोगों को इन कवियों की रचना का सौन्दर्य परखने में कोई सहायता नहीं मिलेगी। इन कवियों की कुछ सुन्दर पंक्तियों के उद्धरण दे-देकर यदि हम केवल यही कह दें कि इनमें अपूर्व सूक्ष्मदर्शिता है, अलौकिक कल्पना-चमत्कार है, अगाध भावगाम्भीर्य है, अनिर्वचनीय मधुरिमा और रसपरिपाक है, तो कविता-प्रेमियों को संतोष नहीं हो सकता। कवियों की रचना में सन्दर्भ-सौन्दर्य और भावोत्कर्ष तथा काव्यकला की मनोमुग्धकारिणी अभिव्यंजना दिखा देने मात्र से पाठकों की जिज्ञासा शान्त या तृप्त नहीं हो सकती। आलोचक ने सहसा कह तो दिया कि अमुक पंक्ति में मानव-हृदय की निगूढ़ वेदना बड़ी सहृदयता के साथ अभिव्यक्त हुई है; परन्तु पाठक ने यह नहीं समझा कि उस पंक्ति में आखिर कौन-सा मानसोन्मादक भाव निहित है जिसे हृदयंगम करके आलोचक का हृदय फड़क उठा है।

बहुत ही कम आलोचक ऐसे हैं जो अपने निबन्ध में उद्धृत कविता-पंक्तियों का वास्तविक मर्म साधारण पाठकों को समझा सकते हैं। कितनी ही साहित्य-परिषदों में पठित निबन्धों के विद्वान् लेखकों से जब यह पूछा गया है कि जिन पंक्तियों के बल पर आप यह घोषणा कर चुके हैं—'महादेवी ने अन्तस्तल का सारा रस निचोड़कर रख दिया है'—'पन्त की सुकुमार भावनाओं के सुखद स्पर्श से मानस-तल में सिहरन की लहरें उठने लगती हैं'—'सूरदास ने यहाँ वात्सल्य की स्वर्गीय सुषमा की झाँकी दिखाकर मन-मयूर को नचा डाला है'—इत्यादि, उन पंक्तियों का स्पष्ट भावार्थ बताइए, तब वे पाण्डित्यपूर्ण भाषा के आडम्बर में अपनी असमर्थता छिपाने का विफल प्रयास करने लगते हैं। बहुतेरे महाशय तो यह कहते हुए अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं कि 'इन पंक्तियों का भाव सहृदय-हृदय-संवेद्य है, अभिव्यक्ति से भाव विकृत हो जायगा, अभिव्यंजना-शक्ति से परे है'—इत्यादि। कुछ लोगों ने तो कवीन्द्र रवीन्द्र के नाम की ओट में एक कहावत कंठस्थ कर ली है कि 'कोयल केवल गाती है, अर्थ नहीं समझाती' !!! किन्तु, इससे लोगों का शंका-समाधान नहीं होता। शंका-निवृत्ति तो तभी हो सकती है जब आलोच्य एवं स्तुत्य पंक्तियों का अर्थ-सौष्ठव सुबोध-शैली में कहकर झलका दिया जाय। यह काम अतिशय कठिन-कठोर है। सच पूछिए, तो इसी कठिनता को सरल-सुगम करने की आवश्यकता है।

एक साहित्य-परिषद् में कई अच्छे निबन्ध पढ़े गये। जब सभा-विसर्जन हुआ, एक काव्यानुरागी सज्जन ने नोटबुक खोलकर निबन्ध-लेखकों के सामने रख दिया। उसमें उन्होंने निबन्धों में उद्धृत कुछ पंक्तियों को लिख लिया था और बहुत-सी ऐसी पंक्तियाँ भी थीं, जो अनेक पत्र-पत्रिकाओं से उतारी गई थीं। उन्होंने एक-एक करके चुनी हुई पंक्तियों का अर्थ निबन्धकारों से पूछना शुरू किया। वे लोग एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे! उन्हें बगलें झाँकते देख उक्त सज्जन ने गम्भीर मुखमुद्रा से नोटबुक उठाकर कहा—'मैं अनेक साहित्य-परिषदों में इसी तरह हताश हो चुका हूँ, इसलिए मुझे कोई विस्मय नहीं है।' तब निबन्धकारों ने अपनी लाज रखने या बचाने के लिए उनमें से दो-चार पंक्तियों का अर्थ समझाने की चेष्टा की, परन्तु उनकी भावाभिव्यञ्जन-प्रणाली लड़खड़ाने लग गई। यह देखकर उक्त सज्जन को बहुत क्षोभ और असन्तोष हुआ।

साहित्य-संघों या साहित्य-गोष्ठियों के उत्सवों को देखकर घर लौटते हुए बहुत-से लोग बड़ी निराशा के साथ यह चर्चा करते देखे जाते हैं कि प्रसादजी की 'कामायनी' और महादेवीजी की 'यामा' की मार्मिक आलोचना सुनकर उन काव्य-ग्रंथों की महत्ता तो मालूम हो गई ; परन्तु उनमें अंकित पंक्तियों का गूढ़ार्थ किसी ने नहीं समझाया। यही बात जब साहित्य-गोष्ठी के एक अध्यक्ष महोदय से कही गई, तब उन्होंने फटकारते हुए कहा—'साहित्य-गोष्ठी मूर्खों के लिए नहीं हुआ करती, कविता-मर्मज्ञों के लिए ही आलोचनात्मक निबन्ध पढ़े जाते हैं।' सभापतिजी के इस आवेशपूर्ण कथन का समर्थन एक निबन्धकार महाशय ने भी किया। तब ओछी समझ के लोगों को यह मान लेना पड़ा कि साहित्य-गोष्ठी में केवल वे ही सज्जन सम्मिलित हो सकते हैं जो कविता के सच्चे मर्मज्ञ हैं, साधारण-जनों की गुंजाइश वहाँ नहीं हो सकती। साधारण लोगों के लिए शायद कवि-सम्मेलन ही विशेष मनोरंजक हो सकता है ; क्योंकि वहाँ केवल ललित कण्ठ से कविता-पाठ सुनकर ही लोग तृप्त हो जाते हैं, कविता का अर्थ जानने-समझने की सुधि किसी को नहीं रहती—वे कविता का अर्थ चाहे खाक न समझें, पर मधुर स्वर पर झूमने जरूर लगते हैं।

बहुत-से सज्जन यह भी कहते हैं कि साहित्य-सभाएँ कविता की व्याख्या करने के लिए नहीं हैं। पर, साहित्यानुरागी श्रोताओं का कथन यह नहीं है कि वहाँ केवल व्याख्या ही हो, आलोचना नहीं ; बल्कि उनका कथन यह है कि आलोचना-विवेचना के साथ-साथ व्याख्या भी हो। भाषणों और निबन्धों के बाद कुछ समझदार लोगों को सुअवसर दिया जाय कि वे निःसंकोच कुछ पूछ सकें और उन्हें यथोचित उत्तर देने का यत्न किया जाय। व्यर्थ ही तर्क करनेवाले कठहुज्जती लोगों को अवसर न दिया जाय ; क्योंकि बे-सिर-पैर की दलील से रसभंग होने की आशंका है। किन्तु, जो वास्तविक अधिकारी जिज्ञासु हैं, उन्हें तो अवसर मिलना ही चाहिए।

एक कॉलेज की साहित्य-परिषद् का वार्षिकोत्सव था। एक छात्र ने सभापतिजी से सूरदास के भ्रमरगीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ अनायास पूछ दीं—

ब्रज करि अवाँ जोग करि ईन्धन सुरति अगिनि सुलगायो।
सोक उसाँस विरह तन प्रजुलित दरसन आस फिरायो॥
भये सँपूरन भरे प्रेम-जल छुवन न काहू पायो।
राजकाज ते गये सूर सुनि नंदनँदन कर लायो॥

सभापतिजी ने जो असन्तोषप्रद व्याख्या की, उसपर छात्र मुस्कुराया और कहने लगा कि ओजस्वी व्याख्यानों से अधिक हमलोगों के लिए गूढ़ पदों की व्याख्या ही विशेष लाभदायिनी हो सकती है।

खासकर कॉलेज की साहित्य-परिषदों में छात्रों को सविनय प्रश्न करने का मौका मिलना चाहिए। अन्य साहित्यिक संस्थाओं की परिषदों या गोष्ठियों में भी कुछ चुने हुए व्यक्तियों को उपयुक्त शंकाएँ उपस्थित करने का अवकाश देना चाहिए। यदि पहले ही से सूचना देकर लोगों की शंकाएँ एकत्र कर ली जायँ और उनकी निवृत्ति के लिए समय भी निर्धारित कर दिया जाय, तो इससे बहुत लाभ होने की संभावना है।

आधुनिक कविताएँ बहुत उच्च श्रेणी की होती हैं, इसमें सन्देह नहीं और साधारण जनता की समझ अभी उतनी ऊँचाई तक नहीं उठ सकती है, यह भी सत्य है, फिर भी साहित्य की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि जनसाधारण को साहित्य-परिषदों के सहारे ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाय। यदि जनसाधारण की उपेक्षा करके या उन्हें तिरस्कृत रूप में पीछे छोड़कर हम आगे सरपट दौड़ते चले जायँगे, तो साहित्य के पक्ष में यह मनोवृत्ति हानिकर सिद्ध होगी। यह बात सत्य है कि महाकवियों का मर्मोद्घाटन अरसिकों के समक्ष नहीं करना चाहिए; परन्तु जो सचमुच रसिक जिज्ञासु हैं, उनका अनादर भी नहीं होना चाहिए।

एक कॉलेज की साहित्य-समिति में एक सज्जन 'प्रसाद' जी के काव्य-कौशल पर व्याख्यान दे रहे थे। जब वे भाषण करके बैठ गये, तब एक छात्र ने 'स्कन्दगुप्त' नाटक की एक कविता का अर्थ पूछना चाहा। बेचारे विद्यार्थी ने ज्योंही उठकर एक पंक्ति का उच्चारण किया—'अगुरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से'—त्यों ही व्याख्याता ने उसे डाँटकर बैठा दिया और कहा कि यह काम तुम्हारे प्रोफेसर का है। विद्यार्थी ने जब आगे कहा कि आपने यह कविता अपने भाषण में कही थी, इसीलिए अर्थ जानने की उत्कण्ठा हुई, तब उन्होंने फिर झुँझलाकर झिड़क दिया—'सभा में प्रश्न करना असभ्यता है, शिष्टता सीखो।'

ऐसे रुक्ष व्यवहार से साहित्य का अभ्युदय नहीं हो सकता। दूध के गुणों का बखान सुनते-सुनते कान पक गये, पर दूध का रसास्वादन नसीब न हुआ! महाकविजी में बड़ी-बड़ी खूबियाँ हैं, पर उनकी कविता की पंक्तियों के अर्थ में कैसी खूबी है, यह तो मन में खुबी ही नहीं !!

× × ×

साहित्य-परिषदों में साहित्यिक समस्याओं के सुलझाने की भी चेष्टा होनी चाहिए। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इकतीसवें अधिवेशन (हरद्वार) में साहित्य-परिषद् के सभापति विद्वद्वर डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने अपने भाषण में कहा था कि अँगरेजी में हल्के और गहरे लाल रंग के लिए अनेक शब्द हैं; पर उनकी बराबरी में हमारे पास शब्द नहीं हैं। उन्होंने लगभग एक दर्जन शब्दों की तालिका भी दी थी, जिन्हें यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक है। साहित्य-परिषदों में उन शब्दों के लिए हिन्दी-पर्यायवाची शब्द ढूँढ़ने का प्रयास होना चाहिए। हिन्दी के लब्धकीर्त्ति सुलेखक बाबू रामचन्द्र वर्मा ने अपनी नई अनूठी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी'[1] में अँगरेजी के कई ऐसे शब्द दिये हैं जिनके अर्थ-भेद और प्रयोग-भेद पर ध्यान देने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हिन्दी में भाव-भेद व्यक्त करनेवाले उपयुक्त शब्दों की बहुत कमी है। साहित्य-परिषदों में इस बात पर भी विचार विनिमय होना चाहिए। उक्त वर्माजी ने भाषा-सम्बन्धी अनेक समस्याएँ उपस्थित की हैं। उनके सुझावों पर ध्यान देना साहित्य-गोष्ठियों का कर्त्तव्य है।

ऐसे-ऐसे और भी उदाहरण हैं, पर संकेत-मात्र के लिए इतना ही पर्याप्त है। यदि

१. प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६२।

साहित्य-परिषदों में यह विचार हुआ करे कि हमारी भाषा और हमारे साहित्य की जटिल समस्याओं का समाधान किस प्रकार होगा तथा उनकी आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति किस तरह हो सकेगी, तो साहित्य-परिषदों की उपयोगिता बहुत बढ़ जाय।

भाषा की बारीकियों पर, अखबारों की ऊटपटाँग भाषा पर, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भाषा-सुधार-सम्बन्धी लेखों पर, लेखकों के दूषित प्रयोगों पर और साहित्य-भाण्डार के अभावों पर कभी साहित्य-परिषदों में विचार नहीं होता। केवल वाग्विलास से साहित्य का कल्याण संभव नहीं।

प्रत्येक साहित्य-परिषद् साहित्य की श्रीवृद्धि का एक एक काम अपने हाथ में ले ले और उसी की पूर्त्ति में अपनी पूरी शक्ति खपा दे, तब कहीं साहित्य का अभीष्ट उपकार हो सकता है। दो घड़ी की चहल-पहल या क्षण-भर के मनबहलाव से कोई ठोस काम नहीं हो सकता।

कहीं-कहीं साहित्य-परिषदों में इतनी भीड़ होती है कि प्रवेश-पत्र या टिकट का प्रबन्ध करना पड़ता है। उस भीड़ में यदि सचमुच टटोलकर देखिए, तो सैकड़े पाँच व्यक्ति भी ऐसे न निकलेंगे, जो साहित्य की गहन समस्याओं पर विचार-विनिमय होते समय उत्सव-मण्डप में थोड़ी देर भी शान्तिपूर्वक ठहर सकें। साहित्य-परिषद् का अर्थ क्या साहित्यिक मेला है? कहाँ हंगामा और कहाँ विचार-विमर्श! असंख्य साहित्य-परिषदों के द्वारा आजकल काफी रुपये पानी की तरह बहाये जा रहे हैं। हर साल हजारों रुपये केवल निरर्थक प्रदर्शन में खर्च हो जाते हैं। साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य द्रव्याभाव से जहाँ-के-तहाँ नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं—कुछ अधूरे भी पड़े हैं, और हमारी परिषदें खूब महोत्सव मना रही हैं। यदि महोत्सवों में कोकिल-कण्ठ कवियों को उत्तेजित करके गवानेवाले सज्जनों से और जोशीले-भड़कीले भाषणों पर तालियाँ पीटनेवाले महानुभावों से प्रश्न किया जाय कि वे साल-भर में हिन्दी की कितनी कविता-पुस्तकें खरीदते हैं और हिन्दी-पुस्तकों तथा हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं के खरीदने में कितने पैसे खर्च करते हैं, तो मुश्किल से एक-आध दर्जन लोग ही ईमानदारी के साथ जवाब दे सकेंगे। ऐसी स्थिति में साहित्य-परिषदों को जनता की मनोवृत्ति बदलने का यत्न करना चाहिए। साहित्य-परिषद् का मंच काँगरेस का मंच नहीं है। भाषणों के अखाड़े या कवि-दरबार में साहित्य की गुत्थियाँ नहीं सुलझाई जा सकतीं—शान्त सुस्थिर विचार की कसौटी पर ही भाषा कसी जा सकती है।

साहित्य-परिषदों में क्या-क्या होना चाहिए, उदाहरण के तौर पर दो-चार बातें यहाँ बताई गई हैं। इस तरह की और कुछ बातें भी हैं; पर यदि अभी इन्हीं बातों पर ध्यान दिया जाय, तो परिषदों का अस्तित्व हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य के लिए अत्यन्त हितकर एवं श्रेयस्कर सिद्ध हो सकता है। जब तक हम साहित्य-परिषदों के द्वारा जनता के हृदय-मन्दिर में साहित्य-भाण्डार के द्युतिमन्त रत्नों की कान्ति-ज्योति नहीं छिटकायेंगे तबतक परिषदों का रूप परिष्कृत और आकर्षक तथा लोक-हितकर नहीं हो सकता।

—साप्ताहिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता); पूजा-दीपावली-विशेषांक, सन् १९४५ ई०

राष्ट्रभाषा का विराट् संग्रहालय

'संग्रही नात्रसीदति ।'

भारतीय राष्ट्रभाषा का सिंहासन भारत के भाल की बिन्दी हिन्दी के लिए सजाया जा चुका है। अँगरेजी अगवानी के लिए और बँगला छत्रधारिणी बनकर खड़ी है। गुजराती चँवर ढारने के लिए बाट जोहती है। मराठी आरती उतारने को उत्कंठित है। व्रजभाषा विधिवत् अर्चना का आयोजन कर रही है। अन्यान्य भाषाएँ स्वागत-गान गा रही हैं—

"राजतां राष्ट्रभाषेयं 'हिन्दी' भारतभारती ।"

गुजराती, मराठी, बँगला, पंजाबी, उड़िया, कनाडी, द्राविड़ी, तेलुगु, तमिल, मैथिली, भोजपुरी, आसामी, बर्मी, बुन्देलखण्डी, शौरसेनी, मागधी, व्रजभाषा, अवधी आदि अनेक भाषाएँ हैं। इनका नामकरण प्रान्तों के नामों के अनुसार हुआ है। अतएव ये प्रान्तीय भाषाएँ हैं—भारतीय नहीं। किन्तु, हिन्दी तो उस भाषा का नाम है, जो हिन्दुओं की आदिभूमि हिन्दुस्तान की भाषा है। अन्य अधिकारों के रखते हुए भी केवल 'नाम' के बल पर 'हिन्दी' ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो सकती है। 'हो सकती' नहीं, है। यह सर्ववादिसम्मत और बहुत ही समीचीन सिद्धान्त है।

प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं की लिपि देववाणी संस्कृत की मौलिक, विज्ञान-सिद्ध एवं शुद्ध लिपि से भिन्न है। जो कुछ साम्य है भी, तो वह अधिकार-गर्व के योग्य नहीं। किन्तु, हिन्दी की 'देवनागरी' लिपि देववाणी की लिपि से कुछ भी भिन्न नहीं है। अतएव, अन्यान्य लिपियाँ प्रान्तीय हैं, और इसकी लिपि भारतीय है। अन्य लिपियों का व्यवहार और प्रचार प्रान्त की सीमा के बाहर नहीं है; पर इसका व्यवहार और प्रचार भारत-व्यापी है, प्रत्युत कुछ अंश में भूमण्डल-व्यापी भी। अन्य भाषाएँ प्रान्तीयता को पुष्ट करती हैं; पर यह भारतीयता का मात्र भरती है। अन्य भाषाएँ शाखाएँ हैं; सम्भव है, कालचक्र उन्हें काट डाले। पर यह धड़ है; विना जड़ काटे, धड़ गिर नहीं सकता, और. पाताल-मूल की जड़ कभी कट ही नहीं सकती। प्रलय की आँधी शाखाओं को नामशेष कर देगी; पर धड़ तो मूल के साथ ही, अचल स्थाणु की तरह बना रहेगा।

अब यदि 'हिन्दी' को कोई 'आर्यभाषा' कहे, तो उसका सम्बन्ध केवल आर्यावर्त्त —उत्तरीय भारतवर्ष—से ही सूचित होता है। भगवान् 'मनु' ने अपनी स्मृति के द्वितीय अध्याय में लिखा है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥२॥

'शब्दकल्पद्रुम' में भी लिखा है कि 'विन्ध्यहिमालययोर्मध्यदेशः' आर्यावर्त्त है। 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्त्तैकदेशे'—इस संकल्प-वाक्य से भी यही ध्वनि निकलती है।

कि भारत का एक खण्ड ही आर्यावर्त्त है। वही आर्यों का आदिम निवास-स्थान है। वहीं की भाषा का नाम 'आर्यभाषा' है। और सब भाषाएँ 'अनार्यभाषा' हैं। किन्तु, 'हिन्दी' तो किसी एक खण्ड या प्रान्त-विशेष की भाषा नहीं है। वह तो समस्त भारतखण्ड की भाषा है। कश्मीर से कन्याकुमारी-पर्यन्त और अटक से कटक तक सुविस्तृत, शैलेश-शृङ्ग-मुकुटित, सागराम्बरा भारतभूमि की प्रधान भाषा हिन्दी ही है। यह अमृत-सन्तान 'हिन्दी' तबतक अपना अस्तित्व अक्षुण्ण बनाये रहेगी, जबतक संसार में 'हिन्दू' नाम से भारतवासी पुकारे जाते रहेंगे और 'हिन्दुस्तान' नाम से भारतवर्ष का परिचय दिया जाता रहेगा। आर्यों की भाषा—संस्कृत—का ही नाम 'आर्यभाषा' होगा और वह किसी पिछले जमाने में। पर वर्त्तमान प्रबुद्ध भारत—सम्मिलित भारत-राष्ट्र—के निवासी हिन्दुस्तानियों की भाषा का नाम तो 'हिन्दी' ही है। यह तो आर्य और अनार्य, दोनों की प्यारी भाषा है।

जितनी अखिल भारतवर्षीय जातीय भाषाएँ हैं, सबमें 'हिन्दी' की ही विजय-वैजयन्ती उड़ रही है। अब राष्ट्रीय महासभा (काँगरेस) में भी हिन्दी की तूती बोलने लग गई है। विरोधी दल विपर्यस्त हो गया। बम्बई, मदरास, पंजाब, बर्मा, मारीशस, फिजी और ट्रांसवाल से भी हिन्दी के पत्र प्रकाशित होने लग गये। भाषा-सम्मेलनों में केवल हिन्दी का सम्मेलन ही अखिल भारतवर्षीय है। ऐसे ही अनेक कारणों से गीर्वाण-वाणी की परम प्रिय प्रधान पुत्री 'हिन्दी' ही इस देवायतन पुण्यभूमि भारत की सर्वमान्य मुख्य भाषा है।

इधर की शताब्दियों के विकट साँचे में ढले हुए मस्तिष्क 'संस्कृत' को 'मृतभाषा' कह चुके हैं। किन्तु, विचारपूर्वक देखा जाय तो 'अमृत बन्धुओं की भाषा-भगिनी' के 'अमृतत्व' में कभी किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। मृत कही जाने पर भी जो 'जीवितों' की 'आदर्श माता' मानी जाती है, उसी स्वनामधन्य अमर भाषा की सुकन्या 'हिन्दी' चैतन्य भारत के भ्रातृत्व-विभोर हिन्दुस्तानियों की हृत्तन्त्री की वह मधुर झंकार है, जो आज आसमुद्र-हिमालय में गूँज रही है। यहाँ तक कि प्रवासी भारतीयों द्वारा उर्वरी-कृत उपनिवेशों में भी हिन्दी का बोलबाला है, और भारत के राष्ट्रीय जागरण में भी हिन्दी का पूरा हाथ है।

यह माना जा चुका है कि हिन्दी का प्राचीन साहित्य सभ्य संसार के किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकता है, हिन्दी का अर्वाचीन साहित्य द्रुतगति से उज्ज्वल भविष्य के निष्कंटक पथ पर अग्रसर होता चला जा रहा है, और हिन्दी का राष्ट्रीय साहित्य तो समस्त प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य से बहुत दूर आगे निकल गया है। सब-कुछ संतोषप्रद है; सब कुछ शुभाशा-जनक है। राष्ट्रभाषाधिकार भी स्वतः सिद्ध है। किन्तु, इतने पर भी, राष्ट्रभाषापदवाच्य हिन्दी की समृद्धि-वृद्धि के लिए, उसके उच्चाधिकार-गौरव को स्थिर रखने के लिए, उसकी समस्त विभूति और शोभा-सामग्री सुरक्षित रखने के लिए, उसके अनुदिन वर्द्धमान ऐश्वर्य का विधिवत् संचय तथा परिपालन करने के लिए,

इस बात की आवश्यकता है कि राष्ट्रभाषा का एक विराट् संग्रहालय स्थापित किया जाय।

कहने का मुख्य तात्पर्य यह है कि आजतक जितनी छोटी-बड़ी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं या आजकल प्रकाशित हो रही हैं तथा आगे होंगी, उन सबका सिलसिलेवार संग्रह किसी एक उपयुक्त स्थान में सुरक्षित रहना चाहिए। संग्रहणीय पदार्थों का विवरण नीचे लिखा जाता है—

(१) समस्त हिन्दी-पुस्तकों के प्रत्येक संस्करण की एक-एक प्रति।

(२) सभी हिन्दी-पत्रों की क्रमबद्ध पूरी फाइलें।

(३) भिन्न-भिन्न संस्थाओं की रिपोर्टें और नियमावलियाँ; जो हिन्दी में प्रकाशित होती हैं।

(४) सभी हिन्दी-पुस्तक-प्रकाशकों के नये और पुराने सूची-पत्र।

(५) हस्तलिपि, ताम्रपत्र, शिलालेख, सिक्के आदि; जिनपर हिन्दी की देवनागरी-लिपि अंकित हो।

(६) हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखकों की महत्त्वपूर्ण चिट्ठियाँ; विशेषकर वे चिट्ठियाँ, जो परस्पर दो साहित्यिकों में, किसी साहित्य-सम्बन्धी विषय की विवेचना करने के लिए लिखी गई हों।

(७) हिन्दी के कवियों, लेखकों, पत्र-सम्पादकों, प्रकाशकों और हितैषी सहायकों के चित्र।

(८) साहित्यिक पुरुषों की डायरियाँ।

(९) हिन्दी से अनुवादित अन्यान्य भाषाओं के ग्रन्थ।

(१०) अन्यान्य आवश्यक वस्तुएँ; जो सुलभ हों।

संग्रहालय किसी एक ऐसे केन्द्र-स्थान में रहे, जो सबके लिए विशेष सुविधाजनक हो। वह स्थान शान्तिपूर्ण, स्वास्थ्यप्रद और प्रसिद्ध होना चाहिए। उसका निर्णय विद्वान् करें, या बहुमत से किया जाय। संग्रहालय के साथ 'व्याख्यानशाला' और 'साहित्याश्रम' भी रहे। इसलिए कि अध्ययनशील साहित्यिक पुरुष वहाँ जाकर सुखपूर्वक निवास कर सकें। संग्रह करने के लिए निम्नलिखित उपायों से काम लिया जा सकता है—

(१) प्रत्येक हिन्दी-लेखक या प्रकाशक अपनी लिखी या प्रकाशित पुस्तक, प्रकाशित होते ही, संग्रहालय में भेज दें।

(२) प्रत्येक पत्र-प्रकाशक या सम्पादक अपने पत्र की एक प्रति संग्रहालय में भेजा करें।

(३) प्रत्येक संस्था अपनी रिपोर्टें तथा नियमावली संग्रहालय में भेज दिया करें। अथवा, हिन्दी-प्रेसों के मालिक ही अपने प्रेस में छपी हुई संग्रहणीय वस्तुओं को संग्रहालय में वैसे ही नियमित रूप से भेज दिया करें, जैसे सरकार के रजिस्ट्रेशन-ऑफिस में भेजा करते हैं।

(४) नोट, सिक्के, स्टाम्प, ताम्रपत्र, शिलालेख और हस्तलिपियों का संग्रह करने के लिए विद्वानों का एक नियुक्त दल सर्वत्र भ्रमण करता रहे।

(५) कवियों और लेखकों की चिट्ठियाँ, तस्वीरें और डायरियाँ, चेष्टा करने से मिल सकगी। इन वस्तुओं के संग्रह में विशेष कठिनाई न होगी—यह स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है।

(६) हिन्दी से अनुवादित भिन्न भाषाओं की पुस्तकें भी, चेष्टा करने से ही, मिल सकती हैं। हाँ, वे ही चीजें नहीं मिल सकतीं; जिनका अबतक संग्रह नहीं किया जा सका। किन्तु, अन्वेषण करने पर, हिन्दी-प्रेमियों से अपील करने पर, हिन्दी-साहित्य-सेवियों की सहानुभूति प्राप्त करने पर, पीछे छूट गई हुई दुर्लभ वस्तुएँ भी सुलभ हो सकेंगी। हिन्दी-संसार का प्रत्येक प्रेस, प्रत्येक प्रकाशक, प्रत्येक लेखक, प्रत्येक सभा या समाज, प्रत्येक पुस्तकालय या बुक-डिपो तथा प्रत्येक अखबार-ऑफिस और सम्पादक, इस महान् कार्य में सोत्साह साहाय्य प्रदान कर सकता है। सब लोग सप्रेम एवं सहर्ष योग देंगे। यदि महासम्मेलन इस कार्य को अपने हाथ में ले, तो वह, संगठन और सुव्यवस्था के साथ, संग्रहालय का संचालन कर सकता है। सब कुछ निश्चित हो चुकने पर, सबसे पहले, एक भव्य भवन की आवश्यकता होगी। उसके बाद की जितनी आवश्यकताएँ हैं, उनका स्पष्टीकरण यहाँ नहीं किया जायगा; क्योंकि विद्वान् सज्जन उन्हें सहज में ही सोच सकते हैं।

विज्ञ वाचक मेरी जल्पना और कल्पना पर बेतरह हँसेंगे तथा अनायास कह उठेंगे कि खूब खयाली पुलाव पकाया! कहाँ का गड़ा मुर्दा उखाड़ा! किन्तु, जो हिन्दी के हिमायती हैं, उन्हें हँसना न चाहिए। बात हँसकर उड़ा देने की नहीं, सोचने की है। साधारणतः सोचने की नहीं, विशेष रूप से सोचने की है। बल्कि, तबतक रात-दिन विचारने योग्य है, जबतक कार्य-रूप में परिणत होकर सफल न हो जाय। जिस दिन हजारों हिन्दी-हितैषियों के हृदय में यह विचार बद्धमूल हो जायगा, उसी दिन इस महत्त्वमय कार्य के शिर पर सफलता का सेहरा बँध जायगा। यह मेरी दृढ़ धारणा है।

इस लेख का भाव-भ्रमर बहुत दिनों से मेरे मस्तिष्क में मँडरा रहा था। हिन्दी-साहित्य-संसार में युगान्तर उपस्थित करनेवाली और हिन्दी-पत्र-जगत् में क्रान्तिकारिणी 'माधुरी' का मधु-पान करने के लिए अपने भाव-भ्रमर को भेजता हूँ। आशा है, उसके हृदयारविन्द में बैठकर यह ऐसे देवता के सिर पर जा चढ़ेगा कि आशु-वरदान से मेरा मनोरथ ध्रुवमेव सफल होगा।

कहा जा सकता है कि काम बड़ा कठिन है या अत्यन्त कठिन; पर यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वथा असंभव या दुस्साध्य है। निरन्तर तत्परता से गुरुतर कठिनता भी परास्त हो सकती है। यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा माननेवाले हमलोग यत्नवान् न होंगे, तो किसी समय ऐसे संग्रहालय का अभाव बहुत खलेगा। इसलिए, हिन्दी-लेखकों और पत्र-सम्पादकों को यह काम पूरा करने के लिए इसी समय से सयत्न होना चाहिए। सामयिक पत्रों में इसके लिए आन्दोलन नहीं, तो इसकी चर्चा अवश्य होती रहनी चाहिए।

भारतवर्ष के किसी नगर में ऐसा एक बृहत् संग्रहालय नहीं है, जिसमें हिन्दी की सारी सम्पत्ति—कौड़ी-कौड़ी तक—सुरक्षित हो। यदि कोई विद्वान् आज किसी एक स्थान में बैठकर हिन्दी-भाषा का इतिहास या अन्य कोई ऐसा ग्रन्थ, जिसके लिए सब तरह की

असंख्य पुस्तकों और अनेक पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों को देखना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो, लिखना चाहे, तो हरगिज नहीं लिख सकता। उसे पचासों जगह घूमने और हैरान-परेशान होने तथा अनेक कष्ट स्वीकार करने पर भी संतोषजनक सामग्री नहीं मिल सकती। यदि एक ही स्थान में सब तरह की उपयोगी सामग्रियाँ सुलभ हो जायँ, तो हिन्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बन सकते हैं।

हिन्दी-भाषा के अनेक अच्छे-अच्छे पुस्तकालय, भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में वर्त्तमान हैं। उनसे जनसाधारण का समुचित हित-साधन भी हो रहा है, और हिन्दी का उपकार भी। तथापि उनमें अभी बहुत-सी चीजों की कमी है। दैनिक और साप्ताहिक पत्रों की फाइलें तो किसी पुस्तकालय में सुरक्षित नहीं मिलेंगी। यदि मिलेंगी भी, तो सिलसिलेवार नहीं। कहाँ कौन ऐसा पुस्तकालय है, जिसमें प्रयाग-समाचार, बड़ाबाजार-गजट, भारत-जीवन, बिहार-बन्धु, उचितवक्ता, वीरभारत, हिन्दू, कर्मयोगी, किसान, पाटलिपुत्र, हिन्दी बिहारी, दैनिक वेंकटेश्वर-समाचार, भविष्य, प्रताप, साम्यवादी और हिन्दी सर्चलाइट आदि अस्तंगत पत्रों की पूरी-पूरी फाइलें सुरक्षित दशा में, संचित मिल सकती हैं? आप कहेंगे, दैनिकों और साप्ताहिकों की फाइलें रखने से लाभ? तो आपको यह स्मरण रखना होगा कि जो दैनिक पत्र आज आप दो-चार पैसे में खरीदकर पढ़ने के बाद रद्दी की टोकरी को सौंप देते हैं, वही दो पैसे का दैनिक पचास या सौ वर्षों के बाद दो-चार सौ रुपये मूल्य का हो जायगा। जितने ही अधिक दिन तक वह रह सकेगा, उतने ही उसके मूल्य में वृद्धि होती जायगी।

अनेक प्रसिद्ध पुस्तकालयों की परीक्षा करके मैं इस परिणाम तक पहुँचा हूँ, और आपको यह मान लेने में किसी तरह का संदेह न करना चाहिए कि साप्ताहिकों और दैनिकों की बात तो अभी ताक पर रहे, सब मासिक पत्रों की पूरी-पूरी फाइलें भी एक ही स्थान में कहीं सुरक्षित नहीं मिलेंगी। सम्भव है, वे भिन्न-भिन्न स्थानों में बिखरी पड़ी हों; पर उनका सदुपयोग करके कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध किया जा सकता। हरिश्चन्द्र-कला, नागरी-नीरद, आनन्द-कादंबिनी कविवचन-सुधा, सुदर्शन, भाषा-भूषण, औदुम्बर, इन्दु, नवनीत, मनोरंजन, तरंगिणी, रसिकमित्र, धर्मकुसुमाकर, द्विज-पत्रिका, ब्राह्मण, पीयूष-प्रवाह, हिन्दी-प्रदीप, विद्याधर्मदीपिका, सेवक, श्रीकमला, सत्य-युग, नागरी-प्रचारक, हिन्दी-मनोरंजन, आत्मविद्या, उषा, चाँद, प्रभात, पांचालपंडिता, ललिता, पंचराज, चैतन्य-चन्द्रिका और साहित्य-पत्रिका आदि हिन्दी के प्रसिद्ध मासिक पत्रों की पूरी-पूरी फाइलें क्या कहीं एकत्र मिल सकती हैं? मेरा अनुमान है—अनेक संभावना है कि यह अनुमान भ्रमपूर्ण या निर्मूल हो—एक ही पुस्तकालय में इतने पत्रों का क्रमबद्ध संग्रह मिलना आकाश-कुसुम है।

गतवर्ष असहयोग आरम्भ होते ही जोशीले गीतों के बहुत-से दस्ती परचे बँटे या बिके थे; पर उनका संग्रह किसी ने नहीं किया। आप कहेंगे, पुस्तकें तो पुस्तकें, वे गीत के परचे भला किस मर्ज की दवा होंगे? मैं प्रार्थना-पूर्वक कहना चाहता हूँ कि उन परचों का महत्त्व अभी नहीं, कुछ वर्षों के बाद मालूम होगा। उन कागज के टुकड़ों के

लिए किसी दिन सोने-चाँदी के टुकड़े खर्च करने पड़ेंगे; पर तो भी वे दुष्प्राप्य होंगे! हिन्दी के राष्ट्रभाषात्व का अभिमान रखनेवाले सज्जन ध्यानपूर्वक इस छोटी-सी बात पर विचार करें, तो तथ्य प्रकट हो सकता है।

इस अपने नीरस लेख को समाप्त करने के पहले मैं कुछ आदर्श-ग्रंथ-संग्रहालयों की संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक समझता हूँ। भारतवर्ष की अनेक देशी रियासतों में दर्शनीय 'राजकीय पुस्तकालय' हैं। रामपुर, जयपुर, अलवर, बड़ौदा आदि प्रसिद्ध देशी रियासतों के पुस्तकालय बड़े अमूल्य हैं। जयपुर, रामपुर और अलवर के ग्रन्थ-संग्रहालय तो ऐसे अमूल्य हैं कि भारत के रत्नोपम पदार्थों में उनकी गणना की जा सकती है। पटना, पूना, अदयार, बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली आदि नगरों में भी अच्छे-अच्छे संग्रहालय हैं; पर उनमें हिन्दी का स्थान नगण्य है। काशी, प्रयाग, आरा, गया, आगरा, कानपुर, बुलंदशहर, दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता के पुस्तकालयों को मैंने देखा है। उनसे हिन्दी की स्तुत्य सेवा हो रही है। पर, यहाँ प्रश्न सेवा का नहीं है। मेरा अभिप्रेत विषय पाठक समझ गये होंगे। पटना की खुदाबख्श खाँ की लाइब्रेरी, अदयार (मदरास) की थियोसोफिकल लाइब्रेरी और कलकत्ता की इम्पीरियल लाइब्रेरी देखने से संग्रहालय का महत्त्व मालूम हो सकता है। लखनऊ, मथुरा, जयपुर और कलकत्ता के 'अद्भुत वस्तु-संग्रहालय' (अजायबघर) भी देखने योग्य हैं। इन सभी संग्रहालयों को देखकर ही संग्रहालय की महिमा और उपयोगिता का अनुमान किया जा सकता है। इन्हें देखकर जो भाव मेरे मन में उत्पन्न हुआ था, उसे ही आज हिन्दी-भक्तों के समक्ष उपस्थित करता हूँ। विश्वास है, मेरे निवेदन पर कोई न-कोई अवश्य ध्यान देगा।

हाँ, यदि मेरी स्कीम दोषावह या असम्भाव्य है, तो बड़ी कृपा हो, यदि कोई सज्जन अन्य सुगम स्कीम पेश करें। मैंने जो आवश्यकता बतलाई है, वह यदि अनावश्यक समझी जाय, तो यह मेरे मनोभिलाष का दुर्भाग्य है। ऐसी दशा में, मेरी अभिलाषा अपराधिनी है, जिसने निष्प्रयोजन ही हवा में महल बनाने का कष्ट किया।

कलकत्ता में 'वंगीय साहित्य-परिषद्' नामक एक द्रष्टव्य संग्रहालय है। प्राणि-शास्त्र-विशारद जगदीशचन्द्र वसु महाशय, कवीन्द्र रवीन्द्र, विज्ञानाचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय, व्रजेन्द्रनाथ शील, सर आशुतोष मुकर्जी, देशबन्धु चित्तरंजनदास आदि बंगाल के स्वनामधन्य विद्वान् और प्रायः सभी बंगाली राजे-महराजे उसके सदस्य और संरक्षक हैं। जापान में बैठे हुए विनयकुमार सरकार भी परिषद् के अधिवेशनों में पढ़े जाने के लिए लेख भेजा करते हैं। परिषद् में जगदीश बाबू और रवि बाबू के व्याख्यान प्रायः हुआ ही करते हैं। बड़े-बड़े प्रोफेसर और धुरंधर विद्वद्वरों के गवेषणापूर्ण लेख परिषद् की बैठकों में पढ़े जाते हैं। राष्ट्रभाषा-हिन्दी के उपासकों से मेरी प्रार्थना है कि वे जब भी कलकत्ता आवें, तब उक्त परिषद् अवश्य देखें। दो बार मैंने परिषद् के अधिवेशनों में व्याख्यान और लेख सुने हैं। अहा! वह समारोह, वह अविरल साहित्य-प्रेम, वह मनीषी-मंडली और वह उल्लासपूर्ण मातृभाषानुराग देखकर मुग्ध होने के सिवा और कोई चारा नहीं रह जाता। भगवन्! हिन्दी को ऐसा सौभाग्य कब प्राप्त होगा?

उक्त परिषद् में प्राचीन हस्तलिपियों का संग्रह बड़ा अच्छा है। अँगरेजी और बँगला के ग्रन्थों का संग्रह भी देखने ही योग्य है। बँगला के लेखकों और कवियों के तैलचित्रों का संग्रह भी बड़े परिश्रम से किया गया है। वंग-साहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र, कविवर माइकेल मधुसूदन दत्त, कविवर नाट्यकार द्विजेन्द्रलाल राय, पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि अनेक स्वर्गीय साहित्यिक महापुरुषों की बहुत-सी प्यारी चीजें—नोट-बुक, डायरी, पुस्तक, कलम, दावात, चाकू, दस्ती, चरण-पादुका, चश्मा और चिट्ठियाँ आदि बड़े सम्मान से परिषद् में रखी गई हैं।

उन चीजों को देखकर यह कहे विना नहीं रहा गया—भगवन्! हिन्दी के कवि-सत्तमों और लेखक-पुंगवों की तस्वीरें और प्यारी चीजें कब एक स्थान में इसी प्रकार संगृहीत देखने को मिलेंगी? हाय! हमारे भारतेन्दु की वह कलम-दावात कहाँ है, जिसने हिन्दी में नई रूह फूँक दी थी! वह जादू की पिटारी कहाँ है जिसका जगाया हुआ जादू हरएक हिन्दी-प्रेमी के सिर पर चढ़कर बोल रहा है। प्रभो! क्या 'व्यासजी' और 'भट्टजी' की चरण-पादुकाओं के दर्शन अब हिन्दी-भक्तों को नसीब न होंगे? क्या 'पूर्णजी' का चश्मा और 'सत्यनारायणजी' की नोट-बुक कहीं ऐसे स्थान में सुरक्षित हैं, जहाँ जाकर हिन्दी-भक्त उनके आगे अपना सिर झुकावें? नाथ! उनकी रसमयी दिव्य आत्माओं का प्रसाद जितना चित्त-प्रसादक है, उतना ही उनके भौतिक शरीर का कोई एक प्रिय पदार्थ भी। तो क्या वह पदार्थ अप्राप्य है? नहीं, ऐसा न कहो, स्वामिन्! तुम 'गई बहोरि गरीबनिवाजू; सरल सबल साहब रघुराजू' हो। कृपा करो, हिन्दी को इस बात का भरोसा है कि 'हरि-प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।'

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष १, फाल्गुन संवत् १६७६ वि० (सन् १६२३ ई०)

•

हिन्दी-साहित्य का तीर्थ-निर्माण

भारतीय भाषाओं के ग्रंथों में, प्रचार और लोकप्रियता की दृष्टि से श्रीमद्भगवद्-गीता के बाद, गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' का ही नम्बर है। यह अनुचित भी नहीं है; क्योंकि भगवद्गीता साक्षात् पूर्णब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीमुख की दिव्य वाणी है। और, गुसाईंजी उनके अनन्य सेवकों में से एक हैं। यह तुलना आध्यात्मिकता की दृष्टि से उचित है। कारण, दोनों ग्रन्थों में अध्यात्म-विद्या का यथेष्ट विकास हुआ है। अध्यात्म-ज्ञान ही दोनों का मेरुदण्ड है—यद्यपि 'गीता' में कर्मयोग और 'रामचरितमानस' में भक्तियोग की प्रधानता है। यदि काव्य की दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृत-साहित्य के दोनों आदर्श महाकाव्यों से—श्रीमद्भागवत पुराण और श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण से—हिन्दी-साहित्य की तुलसीकृत रामायण किसी अंश

में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि श्रीमद्भागवत की ललित भक्तिधारा और श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण की आदर्श मर्यादा का पुण्य-प्रवाह रामचरितमानस के प्रशस्त प्रवाह-क्षेत्र से होकर ही इस कलि-कल्मष-कलुषित संसार में प्रवाहित हुआ है। यदि निस्संकोच कहा जाय तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के सुचारु चरित्र-चित्रण में जितनी मधुरता, निष्कलंकता, हृदयग्राहिता और मंजुलता हमारे प्रातस्स्मरणीय आदिकवि ला सके हैं, उतनी ही नहीं तो उसकी आधी मात्रा में ही सही, गोस्वामी तुलसीदास भी ला सके हैं। एक रामोपासक[1] भक्त की यह धारणा अतीव मनोहर है कि रामचरित्र लिख चुकने के बाद श्री सीताराम के अलौकिक आदर्शोत्कर्ष पर आदि कविजी स्वयं ऐसे मुग्ध हुए कि अपनी उस मुग्धता को अनन्य भाव से चरितार्थ करने के लिए ही उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के रूप में अवतार-ग्रहण किया। निस्सन्देह यह धारणा अत्यन्त तृप्तिकर है। यहाँ इतना और कहना अप्रासंगिक न होगा कि किसी भाषा अथवा किसी साहित्य का कोई ग्रन्थ 'रामचरितमानस' की तरह जनता के प्रतिदिन के जीवन में दूध-मिसरी के सदृश मिश्रित नहीं हो सका है। दिहातों में तो कितने लोग रामचरितमानस से ही अक्षरारम्भ करते हैं। ऐसे लोगों की संख्या भी अगणित है जिन्होंने केवल तुलसीकृत रामायण पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी है। हिन्दी पढ़कर रामायण न पढ़नेवाले शायद ही कुछ अभागे मनुष्य होंगे—यह बात साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं, केवल साहित्यिक दृष्टि से ही अपना विशेष महत्त्व रखती है। अन्य-भाषा-भाषी भी जब कभी हिन्दी-भाषा से परिचित होते हैं या शौक से पढ़ते हैं, तब उनके हाथ में सबसे पहले दी जानेवाली पुस्तक तुलसीकृत रामायण ही होती है। इसका तो एक सहज कारण यह है कि गीता की तरह तुलसीकृत रामायण पर भी सम्प्रदायिकता की छाप नहीं लगी है। उसमें किसी सम्प्रदाय-विशेष का प्रतिपादन या पक्ष-समर्थन नहीं किया गया है। मत-मतान्तरों के झगड़े से उसे कोई सरोकार नहीं। वह तो केवल अविरल भक्ति-रस का लबालब प्याला है। किसी भी सम्प्रदाय का सहृदय मनुष्य उसे पढ़कर पुलकित हो सकता है। उसके शब्दों में इतना औचित्य, इतना माधुर्य, ऐसी नम्रता और कोमलता भरी हुई है कि प्रत्येक शुद्धहृदय मनुष्य उनपर निसार हो सकता है।

कहा जाता है कि संसार में बाइबिल के बाद प्रचार की दृष्टि से, गोसाईंजी की रामायण का ही नम्बर है। अर्थात् संसार में रामचरितमानस के पढ़नेवालों की जितनी संख्या है, उतनी अधिक संख्या बाइबिल के सिवा किसी ग्रन्थ के पाठकों की नहीं है। किन्तु, इसके साथ-साथ यह भी कहा जाना चाहिए था कि बाइबिल का प्रचार द्रव्य-शक्ति, आडम्बर और छल-प्रपंच के बल पर किया गया है और तुलसीकृत रामायण का प्रचार अनायास, आप-से-आप, स्वाभाविक रीति से, हो गया है। यदि बाइबिल की तरह रामायण को भी किसी शक्तिशाली साम्राज्य का सहारा मिलता तो यह ग्रन्थ भी संसार

१. प्रोफेसर लाला भगवानदीन (काशी) —ले०

के कोने-कोने तक फैल जाता और गोस्वामी तुलसीदास आज भी प्रभु ईसामसीह को पीछे छोड़ जाते।

लेकिन, एक बात यहाँ खटकती है। जिस विश्व-साम्राज्य का सहारा पाकर आज रामायण अपने कल्पद्रुमाञ्चल की शान्तिविधायिनी शीतल छाया का विस्तार कर रही है, उस अनैसर्गिक अनन्त साम्राज्य के सामने कोई बड़ा-से-बड़ा शक्ति-सम्पन्न पार्थिव साम्राज्य भी कितने दिन टिकेगा? ईश्वरीय मिशनरी के मुकाबले में मानुषिक मिशनरी कबतक ठहरेगी? एक-न-एक दिन सारे भूमण्डल पर तुलसीकृत रामायण की तूती बोलेगी ही। जब निषेधात्मक उपदेशों से संसार का हाहाकार शान्त न होगा, तब तुलसीदास की भक्तिमन्दाकिनी के तीर पर सब शान्ति-पिपासुओं को आना ही पड़ेगा।

जिस भाषा, जिस साहित्य, जिस देश और जिस जाति के अन्दर ऐसा विश्वशान्ति-विधाता और अभूतपूर्व अमर सन्देशवाहक अवतारी कवि और संजीवन महाकाव्य मौजूद है, उसके गौरव का कहना ही क्या? धन्य है हिन्दी-साहित्य कि केवल रामायण की स्फटिक-शिला पर बैठकर ही वह विश्व-साहित्य को अपने चरणों पर झुका सकता है। और धन्य है वह 'बाँदा' जिले का 'राजापुर' ग्राम जहाँ ऐसा महामहिम विश्व-कवि इस धराधाम पर अवतीर्ण हुआ। वास्तव में वही हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ तीर्थस्थान है।

किन्तु, हिन्दी-भाषियों का वह परम पावन प्रयाग—वह विश्व-साहित्य का तीर्थराज—आज हमारे ही अभाग्यवश, विश्वविस्मृत एकान्त की तरह, दक्षिणभारत के अस्पृश्य हिन्दुओं की तरह, हमारे अज्ञानान्धकार के गंभीर गह्वर में विलीन हो रहा है। हमारी श्रद्धांजलि का एक पुष्प भी वहाँ नहीं पहुँच पाता।

सुनते हैं, जिस वृक्ष के नीचे बैठकर शेक्सपियर रचना करता था, उसकी रमणीय छाया का स्पर्श कितनी ही गौराङ्गी प्रेमिकाओं को पुलकित कर देता है। जिस इमली के पेड़ के नीचे बैठकर तानसेन सारंगी घोंटता था, उसकी एक-एक पत्ती चबाकर कितने कलकंठ गायक संगीताचार्य बन जाते हैं। जिस एकान्त ग्राम में वंग-साहित्य-सम्राट् वंकिमचन्द्र का जन्म हुआ था, वहाँ वंगीय साहित्य-सम्मेलन का महोत्सव हो चुका है; किन्तु, जिस राजापुर, कुरुक्षेत्र, अयोध्या, काशी और चित्रकूट के कुछ स्थानों का महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध हमारे विश्व-साहित्य मुकुटमणि तुलसीदास के जीवन के साथ है, उसे हम सर्वथा भूल बैठे हैं। क्या यह कुछ कम ग्लानि का विषय है?

जिस अमर 'रेकर्ड' पर पूज्य भावना की सुई पड़ने से जातीय साहित्य का ग्रामोफोन अनुप्राणित हो उठेगा, उस रेकर्ड को हम अभीतक अपने साहित्य के इतिहास के रेकर्ड-रूम में संचित नहीं कर सके हैं। क्या यह खेद और लज्जा का विषय नहीं है?

अभी तक किसी पत्र में उन स्थानों की सचित्र चर्चा तक नहीं देखने में आई है। अलबत्त हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक और सुकवि अवधवासी लाला सीताराम, बी० ए० द्वारा सम्पादिता राजापुर की रामायण के अयोध्या-कांड की प्रतिलिपि में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों के चित्र हैं। अभी तक शायद उन चित्रों के सिवा अन्यत्र कहीं कोई चित्र नहीं छपा है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने गोसाईंजी का सबसे

प्राचीन और सम्भवतः असली चित्र प्रकाशित किया है। किन्तु, उनकी ग्रन्थावली में सभा को कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण चित्र भी छापने चाहिए थे, जिनसे गोस्वामीजी के चरण-रज से पवित्र स्थानों की झाँकी सब लोग प्राप्त करते।

क्या हमारे लिए यही समीचीन है? क्या राजापुर में गोस्वामीजी के चित्रोद्घाटन महोत्सव की भावना हमारे हृदय में न जागनी चाहिए? उनके कीर्त्ति-स्तम्भ के निर्माण की उपेक्षा केवल इसीलिए नहीं कर देनी चाहिए कि उनका अक्षय यशस्तम्भ तो रामचरितमानस के रूप में पृथ्वी के वक्षस्थल पर पहले से विद्यमान है ही। आशा है, कोई साहित्यिक सहृदय पुरुष गोस्वामीजी के प्रिय स्थानों का सचित्र परिचय किसी पत्र में छपायेगा। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा संयोजित तुलसी-स्मारक-समिति को प्रत्येक लेखक, सम्पादक और प्रकाशक तथा कवि से अपील करके यह पुण्य कार्य सम्पन्न कराना चाहिए।[1]

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता); सन् १९२५ ई०

●

राष्ट्रभाषा और हिन्दी-साहित्य

हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य—दोनों का उत्कर्ष आज बहुतों की आँखों का काँटा हो रहा है, यह अत्यन्त अप्रिय सत्य है। संसार में परोत्कर्ष सहन करने की शक्ति बहुत कम लोगों में देखी जाती है। ईश्वर ऐसे ईर्ष्यालुओं को बहुत जलाता भी है। भारत में स्वाभाविक गति से हिन्दी बढ़ती जा रही है। इसकी लोकप्रियता का आतंक केवल दुर्बल हृदयों पर ही है। वास्तव में हिन्दी स्वयं आतंक उत्पन्न करके अपनी सत्ता स्थापित करना नहीं चाहती। किसी के प्रति इसका दुर्भाव नहीं है। सबके साथ सद्भाव और सहयोग ही इसका सिद्धान्त और लक्ष्य है। तब भी इसके प्रतिपक्षी और विरोधी इसके अभ्युदय के मार्ग में विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करने से नहीं चूकते। किन्तु, जो कभी सपने में भी किसी का बुरा सोचता तक नहीं, उसकी भी बुराई करनेवाले के साथ ईश्वर ही खुद निबट लेता है। इस प्रकार हिन्दी हर एक की भलाई चाहती हुई स्वतः आगे बढ़ रही है। हम हिन्दीवाले अपनी माता के इसी सद्गुण के प्रतीक हैं।

पूर्वजों की तपस्या

यद्यपि हिन्दी की उन्नति का मार्ग निष्कंटक नहीं है, और इस संसार में किसी के उन्नति-पथ पर फूल बिछे नहीं होते, तथापि हम आधुनिक हिन्दी-प्रेमियों के कर्मनिष्ठ पूर्वजों ने जो तपस्या की है, उसी के प्रभाव और प्रताप से हिन्दी फूलती-फलती देख पड़ती है। हिन्दी के अनेक साधक सपूत सदियों तक साधना करके जो कुछ संचित कर गये हैं, उसी पूँजी की दृढ़ नींव पर उसके साहित्य का भव्य भवन आकाश चूमता चला जा रहा है।

१. यही लेख दैनिक 'हिन्दू-संसार' (कलकत्ता) के दीपावली-विशेषांक (विक्रम-संवत् १९८२) में भी छपा था। उसमें कुछ अनुच्छेद और वाक्य अधिक थे, जो इसमें यथास्थान जोड़ दिये गये हैं। कहीं कुछ नया परिवर्त्तन नहीं किया गया है। —लेखक

इसकी गहरी नींव में उन्नीसवीं या बीसवीं सदी का रोड़ा-सीमेंट नहीं जमाया गया है, वह कम-से-कम छठी शताब्दी का है। ऐसी उस नींव पर यदि आसमान से बातें करनेवाला महल खड़ा हो जाय, तो आश्चर्य प्रकट करना व्यर्थ है।

कुलीन घराने की

हिन्दी की प्राचीनता पर हमें गर्व अवश्य है, पर हम गर्वोन्मत्त नहीं हुए हैं। यदि हम मदान्ध होते तो हमारी भाषा और हमारे साहित्य का ह्रास अवश्यम्भावी था। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से हिन्दी का जो अटूट सम्बन्ध है, उससे इसकी सांस्कृतिक प्राचीनता स्वयंसिद्ध है। इन पुरातन भाषाओं से हिन्दी-साहित्य के निर्माण में जितनी सामग्री का उपयोग किया गया है, उतनी सामग्री अन्यान्य प्रमुख भारतीय भाषाएँ अपना सकी हैं या नहीं, यह विवादास्पद प्रश्न है। इसलिए, हिन्दी बहुत ही कुलीन एवं प्राचीन घराने की होने के कारण—लिपि, भाषा और साहित्य, तीनों दृष्टियों से—अखंड मर्यादा और अतुलनीय प्रतिष्ठा की स्वत्वाधिकारिणी है। बौद्ध सिद्धान्तों के समय से लेकर आजतक हिन्दी ने अपने साहित्य-भाण्डार में जो कुछ भी संचित किया है, उसका सम्पूर्ण विवरण यद्यपि उपलब्ध नहीं है, तथापि जितना कुछ अनुसन्धान आजतक हुआ है उससे यही पता लगता है कि आज भी प्रचुर सामग्री विस्मृति के अन्धकारपूर्ण गर्भ में छिपी पड़ी है। हिन्दी के सुविस्तृत क्षेत्र में बिखरी पड़ी गुप्त खानों और खँड़हरों की खुदाई जब नियमितता और तत्परता से होने लगेगी, तब संसार की आँखों पर पड़ा हुआ परदा हटेगा। आधुनिक अन्वेषकों ने जितने लुप्त साहित्य का प्रामाणिक विवरण प्राप्त कर लिया है, उतने ही के प्रकाशित हो जाने पर बहुतों की आँखें खुल जायँगी।

भाषा की शुद्धता

यह सब-कुछ सोच-समझकर हम चाहे जितना भी पुलकित हो लें, पर आधुनिक हिन्दी-साहित्य की गति-विधि के सम्बन्ध में जब हम विचार करने बैठते हैं तब हमारा मन आशा और निराशा के हिंडोले पर झूलने लगता है। और, हमारे मन की यह चंचल स्थिति कभी स्थिरता की ओर ढलती है—कभी व्यग्रता की ओर। स्थिरता और शान्ति का अनुभव तब होने लगता है जब हम पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के नित-नूतन प्रकाशन तथा विविध साहित्यिक संस्थाओं की अनुदिन अभिवृद्धि पर ध्यान देते हैं। किन्तु, यह ध्यान टुक टिकने भी नहीं पाता कि इसको विचलित करनेवाली अनुभूति सहसा हृदय में व्यग्रता उत्पन्न करने लगती है। यह अनुभूति इस बात की है कि हमारी भाषा और साहित्य की आधुनिक प्रगति में चाहे जितनी प्रखरता परिलक्षित होती हो, उसमें स्वेच्छाचारिता और अदूरदर्शिता की मात्रा कुछ कम नहीं। भोज्यसामग्री में केवल विविधता और बहुलता होने से ही खादक को तृप्ति नहीं होती, तृप्ति होती है उसकी स्वच्छता और मधुरता से। साथ ही, भोजन परोसनेवाले की सुरुचि और प्रीति का रस भी खादक को सर्वोपरि सन्तोष प्रदान करता है। किन्तु, हिन्दी में हम स्पष्ट देखते हैं कि करोड़ों हिन्दी-प्रेमियों के मन, मस्तिष्क और हृदय को तुष्ट-पुष्ट करने के लिए जो लोग साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं, वे भाषा की

शुद्धता और सरलता तथा भाव की उपादेयता और हृदयग्राहिता पर बहुत कम ध्यान देते हैं। यह स्थिति किसी का ध्यान आकृष्ट करती नहीं दीखती।

असावधानता

हिन्दी में दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं की कुछ कमी नहीं है। युद्ध-युग की अवरुद्ध शक्ति भी शीघ्र ही प्रस्फुटित होकर अनेक मनोनीत योजनाओं को क्रियात्मक रूप देनेवाली है। किन्तु, सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं से भी हिन्दी का गौरव तबतक नहीं बढ़ सकता, जबतक उनका बाह्याभ्यन्तर परिमार्जित और परिष्कृत नहीं होता। सालभर में हजारों पुस्तकों के प्रकाशन से भी यह बात नहीं मानी जा सकती; क्योंकि समुद्र का खारा और बाढ़ का दूषित जल अपेय समझा जाता है। ऐसा कहने का यह आशय कदापि नहीं कि इस समय जो कुछ प्रस्तुत किया जा रहा है, सब सदोप ही है। किन्तु, यह कहना खतरनाक होते हुए भी बहुत सत्य है कि हमारी अधिकांश सृष्टि हमारी उच्छृंखलता और असावधानता का ही परिचय देती है। अधिकांश अखबारों की छपाई, भाषा, संवाद, शैली, पाठ्य-सामग्री आदि देखकर जो अश्रद्धा और निराशा होती है, वह यदि कहीं खुलकर व्यक्त हो जाय तो बौछारों की भरमार होने लगे। दिन-दिन प्रकाशित होती जा रही पुस्तकों के सम्बन्ध में यही बात दुहराई जा सकती है।

सब दोषी हैं

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त अराजकता के अपराधी हम सब हैं; कोई एक व्यक्ति या समुदाय नहीं। भाषा का रूप और साहित्य की दिशा निश्चित करने में न हम एकमत हैं और न तत्पर ही हैं। हम जो कुछ लिख दें, वही भाषा हो गई; हम जो कुछ रचकर रख दें, वही साहित्य बन गया। न कोई हमारी बागडोर थामनेवाला है, न हम किसी की लगाम मानने को तैयार ही हैं। ऐसा कोई आदर्श, समर्थ, निष्पक्ष और सामञ्जस्य-संस्थापक व्यक्ति भी नहीं, जो अपने आकर्षक और मधुर व्यक्तित्व तथा व्यापक पाण्डित्य के प्रभाव से अनुशासन-सूत्र का सफलतापूर्वक संचालन कर सके। यदि ऐसा कहीं कोई हो भी तो वह नवयुग की गति-विधि देखकर मौन बैठा निरुपाय-सा सोच रहा होगा। जहाँ कोई किसी की नहीं सुनता, सब स्वयम्भू हैं, जहाँ पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता ही अनुभूत नहीं होती, सब स्वयं-प्रकाश हैं, जहाँ श्रद्धा और संयम की रक्षा करना अन्धविश्वास के फेर में पड़ना समझा जाता है, वहाँ यदि कोई सुव्यवस्था और अनुशासन की बात मुँह पर लावे भी तो हास्यास्पद और उपेक्षणीय ही होगा।

बाजार के रुख का ध्यान

साहित्य की गति-विधि परखते रहनेवाले सज्जन देख ही रहे होंगे कि हिन्दी-जगत् के अधिकांश प्रकाशक, लेखक और पत्रकार किस तरह की प्रवृत्ति के शिकार हो रहे हैं। समर्थ प्रकाशक और पत्रकार भी साहित्य-स्रष्टा लेखकों की विशिष्ट शक्ति का सदुपयोग करने की चिन्ता नहीं रखते। मनोरंजक और ललित-साहित्य की रचना के लिए ही अधिकतर लेखकों को प्रेरणा मिलती है। राष्ट्रभाषा के साहित्य का कौन-सा अंग अपूर्ण एवं अशक्त है,

इसका उतना अधिक ध्यान नहीं है जितना जनता की रुचि और बाजार के रुख का। विपथ जनता की रुचि को परिष्कृत करने और बिगड़े बाजार को सुधारनेवाले इने-गिने ही देख पड़ते हैं। हिन्दी की आवश्यकताएँ क्या हैं, उसके अभाव कौन-कौन-से हैं, इसका विचार और प्रबन्ध करने के लिए संघटनात्मक प्रयत्नों की अपेक्षा है। जो लब्धप्रतिष्ठ संस्थाएँ ऐसे प्रयत्नों का सूत्रपात करती हैं या कर चुकी हैं, उन्हें द्रव्याभाव से विवश होकर अपनी योजनाओं को अभीष्ट रीति से कार्य-रूप में परिणत करने का सुअवसर ही नहीं मिलता। साहित्य की सृष्टि करनेवाले लेखकों को यदि साहित्य-सेवा से ही जीविका चलानी पड़ती है तो उनकी प्रतिभाशक्ति का ह्रास होने में अधिक दिन नहीं लगते और उनको मनोरंजन के लिए साहित्य-सेवा करनी पड़ती है। उनसे विशेष सहायता मिलने की आशा नहीं की जा सकती। जो साहित्य-सेवा के व्यसनी हैं, उन्हें किसी महत्त्वपूर्ण कार्य में नियुक्त करने की सूझ साहित्य-संसार के सूत्रधारों में होनी चाहिए। वास्तव में जो साहित्य-व्यसनी हैं, वे ही साहित्योपजीवी होते हैं। यदि प्रकाशक अपनी योजनाओं की पूर्त्ति में उन्हें लगाकर उन्हें संतुष्ट रखने का प्रयास करें तो बहुत-सी बिखरी हुई शक्तियाँ केन्द्रित होकर बड़े-बड़े कार्य साध सकती हैं। जहाँ आर्थिक चिन्ता से प्रतिभा क्षीण हो रही है, जहाँ बाजार की माँग पूरी करने के लिए लेखनी से दिमाग की खाज मिटानी पड़ती है, वहाँ कोई ठोस साहित्यिक काम नहीं हो सकता। इसके लिए साधना और संगठन की आवश्यकता है।

राष्ट्रभाषा

साहित्य की गतिविधि का पर्यवेक्षण करते समय हम देखते हैं कि साहित्य-विटपी की कुछ शाखाएँ पल्लव और फूल-फल से सम्पन्न हैं; पर कुछ ऐसी भी हैं जिनमें केवल छोटे पत्तों के अंकुर ही देख पड़ते हैं। इससे न साहित्य-विटपी की शोभा सर्वाङ्गपूर्ण है और न शीतल छाया की सघनता ही है। हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते हैं। उसके साहित्य को सर्वथा सुसम्पन्न और सर्वाङ्गसुन्दर बनाने से ही हम राष्ट्रभाषा की मर्यादा का संरक्षण कर सकते हैं। राष्ट्रभाषा की महत्ता के प्रति दूसरों का ध्यान जबतक आकृष्ट न होगा, तबतक उसकी सत्ता उनको स्वीकृत नहीं हो सकती। प्रमुखता उसी को मिलती है, जो सब तरह से समर्थ हो। भारतीय भाषाओं और संसार की प्रधान भाषाओं के साहित्य में जो कुछ उत्कृष्ट और सर्वोपयोगी है, उसका सम्यक् ज्ञान करा सकने की शक्ति जिस भाषा और साहित्य में होगी, उसी को राष्ट्रभाषा का गौरव मिलेगा।

यही बात अभी तक हमारे ध्यान में नहीं आई है और यदि आई भी हो तो हम इसके लिए तत्परता से कुछ करते-धरते नहीं देख पड़ते। जिस भाषा पर करोड़ों की ममता है और जिसके साहित्य की सेवा का भगीरथ-प्रयत्न सैकड़ों प्रकाशकों, पत्रकारों और लेखकों का ध्येय बन गया है, उसके भविष्य के उज्ज्वल होने में तो कोई संदेह नहीं है; पर शर्त्त सिर्फ इतनी ही है कि उसके श्रद्धालु पुजारी वर्त्तमान को दूरदर्शिता के साथ सँभालते चलें और अपनी पूजा-सामग्री की पवित्रता, उपयुक्तता एवं सामयिकता पर सदैव ध्यान रखें।

—साप्ताहिक 'नवयुग' (दिल्ली); दीपावली-अङ्क, सन् १६४५ ई०

●

राष्ट्रभाषा-साहित्य की एक योजना

राष्ट्रभाषा हिन्दी का साहित्य ऐसा होना चाहिए कि उसके द्वारा हमें स्वदेश और विदेश की प्रमुख भाषाओं के साहित्य का पूरा परिचय मिल जाय। हमलोग हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते और कहते तो हैं, पर राष्ट्रभाषा के साहित्य-भाण्डार को सब तरह से सम्पन्न एवं समर्थ बनाने की चिन्ता या चेष्टा नहीं करते। आज यदि हम किसी विदेशी भाषा के साहित्य का सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास पढ़कर उसका आद्यन्त परिचय पाना चाहें, तो हमारी राष्ट्रभाषा में ऐसा कोई साधन दीख न पड़ेगा। जिस अँगरेजी भाषा का हमपर इतना अधिक प्रभुत्व है कि उसके प्रभाव से हमारे राष्ट्र का हर-एक अंग प्रभावित है, उसके साहित्य का पूरा परिचय पाने योग्य भी कोई साधन हमारे पास नहीं है। फिर अरबी, फारसी, रूसी, चीनी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं के साहित्य का परिचय प्राप्त करने के साधन की तो कोई बात ही नहीं।

विदेशी भाषाओं के साहित्य की चर्चा तो रहने दीजिए, भारतीय भाषाओं के साहित्य का भी पूरा परिचय देनेवाला कोई साधन हमारे यहाँ नहीं है। बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि भाषाओं के साहित्य की ओर भी हमारा ध्यान नहीं गया है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में जो स्फुट लेख इन भाषाओं के साहित्य पर प्रकाशित होते रहते हैं, उनकी गणना हमारे स्थायी साहित्य में नहीं हो सकती। यदि उन सब लेखों का सुसम्पादित संग्रह भी प्रकाशित हो जाता तो हम उन भाषाओं के साहित्य का कुछ कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर ले सकते थे। किन्तु, पत्र-पत्रिकाओं के अंकों में बिखरी हुई सामग्री से हमें कोई ठोस लाभ नहीं हो पाता। यदि हम राष्ट्रभाषा के सहारे उन भाषाओं से परिचय प्राप्त करना चाहें, तो इसके लिए भी कोई सन्तोषप्रद साधन नहीं है। यह बात राष्ट्रभाषा कही जानेवाली हिन्दी की मान-मर्यादा के लिए अत्यन्त चिन्ताजनक और घातक है।

एक बात यह भी है कि अन्य-भाषाभाषियों को राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य से सुपरिचित कराने के लिए भी हमने कोई उद्योग नहीं किया है। हिन्दी-साहित्य-सेवियों में बड़े-बड़े विद्वान और डाक्टर (डी० लिट्०) हैं; पर किसी ने अँगरेजी में हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास आजतक नहीं लिखा। बँगला के साहित्य का इतिहास अँगरेजी में दो बड़े खण्डों में है, किन्तु हिन्दी में वैसा कोई ग्रन्थ नहीं देखा गया। हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण 'थीसिसों' को अँगरेजी में लिखकर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया है, पर उतने से ही वास्तविक उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। हिन्दी-साहित्य के जो इतिहास-ग्रंथ अँगरेजी में मिलते हैं, वे हमारे अपने आदमियों के लिखे हुए नहीं हैं—राष्ट्रभाषा-भक्तों को, भारतीय दृष्टिकोण से, हिन्दी की प्रकृति एवं संस्कृति तथा विशेषताओं का ध्यान रखते हुए, वैसे ग्रन्थों का निर्माण करना चाहिए।

हम यदि हिन्दी को सचमुच विश्वव्यापी भाषा के रूप में देखना चाहते हैं तो हमें उसे सब तरह से शक्ति-सम्पन्न बनाने का अधिक प्रयत्न करना चाहिए। अभी तो हम उसे भारतव्यापी भाषा बनने योग्य भी नहीं बना सके हैं। प्रमुख भारतीय भाषाओं में भी

हिन्दी-साहित्य की सत्ता-महत्ता प्रदर्शित करनेवाले ग्रन्थों की आवश्यकता है। यदि यह न भी हो सके तो कम-से-कम हिन्दी-भाषा-भाषियों को प्रमुख भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य से सुपरिचित कराने का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। सौभाग्यवश आज हिन्दी के लेखकों में बँगला, मराठी, गुजराती और दक्षिणी भाषाओं के जाननेवाले विद्वान भी हैं। उनसे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा-जैसी संस्थाओं को ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन कराना चाहिए।

'सम्मेलन' और सभा' के पास हिन्दी के उत्थान के लिए कितनी ही योजनाएँ हैं; किंतु द्रव्याभाव से वे कार्य-रूप में परिणत नहीं हो पातीं। इसलिए, प्रतिवर्ष देश-भर में किसी निश्चित समय पर हिन्दी-सप्ताह मनाने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए, जिसमें हिन्दी के विकास के लिए सतत प्रयत्न करनेवाली संस्थाओं के निमित्त अर्थ-संग्रह किया जा सके।

हमारे साहित्य-क्षेत्र में जो पत्र-पत्रिकाएँ यथाशक्ति हिन्दी-सेवा कर रही हैं, उन्हें भी अपने-अपने प्रान्त के साहित्य से हिन्दीवालों को परिचित कराते रहना चाहिए। बंगाल के हिन्दी-पत्र बँगला की गतिविधि बतलाते रहें और बम्बईवाले गुजराती के, मद्रासवाले दक्षिणी के, मध्यप्रदेशवाले मराठी के, पंजाबवाले पंजाबी और सिन्धी के, युक्तप्रांतवाले उर्दू के और बिहार के पत्र इन सभी की प्रगति बतलाया करें।

सच पूछिए तो आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी में एक ऐसा साप्ताहिक या मासिकपत्र निकाला जाय, जो प्रतिसप्ताह या प्रतिमास सभी भाषाओं के साहित्य की प्रगति हिन्दीभाषियों को बतलाता रहे। उसके लिए एक ऐसा सम्पादक-मंडल संगठित हो जिसमें प्रमुख भाषाओं के विद्वान रहें और उनके स्वाध्याय के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं के ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओं का यथोचित संग्रह निरन्तर किया जाय। हिन्दी-संसार में भी ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है। यदि वे किसी दूसरे काम में भी लगे हुए हों, तो भी उनका सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। एक-एक भाषा के लिए पाँच-पाँच नहीं तो कम-से-कम दो-दो सम्पादक अवश्य ही हों, और उनके साथ एक-एक सुयोग्य अनुवादक अथवा सहायक भी रहें जिससे उनके अध्ययन एवं मनन में सुविधा हो सके। प्रधान सम्पादक के पास भी सभी भाषाओं के एक-एक मर्मज्ञ सहायक रहें। तब कहीं राष्ट्रभाषा-साहित्य की व्यापकता बढ़ सकती है।

उपर्युक्त साप्ताहिक या मासिक में हिन्दी-पाठकों को यह बतलाया जायगा कि इस सप्ताह या मास में अमुक भाषा के साहित्य में कैसी-कैसी पुस्तकें निकलीं और उनमें क्या विशेषताएँ हैं तथा उसके कौन-कौन-से सामयिक पत्रों में क्या-क्या पढ़ने योग्य सामग्री है। विविध विषयों की ज्ञातव्य बातें अलग-अलग छाँटकर बतलाई जायँगी और आवश्यकतानुसार हिन्दी की तद्विषयक प्रगति का भी तुलनात्मक परिचय दिया जायगा, जिससे हिन्दी-पाठक यह अनुमान कर सकें कि राष्ट्रभाषा कहाँ आगे बढ़ी हुई है और कहाँ पिछड़ी हुई है। इससे हमें अपने अभावों और त्रुटियों का ज्ञान होता रहेगा और हम उन्हें दूर करने की प्रेरणाएँ भी पाते रहेंगे। यह काम हमारे देश के बड़े-बड़े धनाढ्य व्यापारी भी व्यावसायिक दृष्टि से कर सकते हैं और व्यापारिक लाभ की दृष्टि से यह काम कुछ कम महत्त्व का नहीं है।

यदि यह योजना, जो अत्यन्त संक्षिप्त रूप में यहाँ उपस्थित की गई है, विस्तृत रूप में तैयार की जाय और देश के प्रमुख हिन्दी-प्रेमी धनी संघबद्ध होकर इसे कार्यान्वित करने में तत्पर हों तो इससे राष्ट्रभाषा-साहित्य की कल्पनातीत उन्नति हो सकती है। और जबतक यह योजना असाध्य समझी जाती रहे तबतक वर्त्तमान हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को ही इस दिशा में अग्रसर होकर राष्ट्रभाषा-साहित्य को सम्पन्न बनाना चाहिए। वे विभिन्न प्रमुख भाषाओं के पत्रों से हिन्दी-पाठकों की रुचि के अनुकूल पाठ्य-सामग्री संकलित करके राष्ट्रभाषानुरागियों को बहुज्ञ एवं बहुश्रुत बना सकते हैं। अखिल भारतीय हिन्दी-पत्रकार-संघ यदि हिन्दी-पत्रकारों से ऐसा अनुरोध करे तो हिन्दी के पाठक अपनी भाषा के माध्यम से अन्य प्रमुख भाषाओं की उत्तमोत्तम वस्तुएँ सुगमता के साथ प्राप्त कर सकते हैं।

—त्रैमासिक 'पारिजात' (पटना); वर्ष १, अंक १, संवत् २००३ वि०; जुलाई १९४६ ई०

●

हिन्दी-साहित्य के कुछ चिन्त्य अभाव

हिन्दी को हमलोग राष्ट्रभाषा मानते हैं। भारत के अन्य भाषा-भाषियों ने भी हिन्दी की इस पद-मर्यादा के सामने सिर झुका लिया है। जो लोग अभी तक अकड़े हुए हैं, वे भी निकट भविष्य में हिन्दी का सिक्का मान लेंगे। हिन्दी की यही खूबी है कि वह किसी के गले के नीचे हालाहल बनकर उतरना नहीं चाहती। वह तो अमृत के घूँट की तरह सबके ही-तल को शीतल करने के लिए ही कण्ठगत होती है। वह चाहती है कि हमारी आसेतु-हिमाचल विस्तृत छत्रच्छाया में सभी भारतीय भाषाएँ फूले-फलें। किसी के साथ उसका किसी प्रकार का ईर्ष्या-द्वेष नहीं है। वह केवल शुद्ध प्रेम के प्रताप से ही सबको जीत लेगी, दुनिया टुकुर-टुकुर ताकती ही रह जायगी। वह संस्कृत की लाड़ली है, अपनी संस्कृति की छाप डालेगी ही।

जब वह कोटि कण्ठों से राष्ट्रभाषा मानी जा चुकी तब उसके साहित्य-भाण्डार को हमें सर्वतोभावेन सुसम्पन्न बनाने का अविश्रान्त प्रयत्न करना चाहिए। हमें बड़े ध्यान से देखना होगा कि उसके राजकोष में क्या है, और क्या नहीं है।

पहले तो हम देखते हैं कि हिन्दी जिस संस्कृत की सुपुत्री कही जाती है, उसके साहित्य की अनेक अनमोल चीजें हिन्दी के पास नहीं हैं। यदि केवल हिन्दी के सहारे हम संस्कृत-साहित्य का यथेच्छ रसास्वादन करना चाहें तो हमें बहुलांश में निराश ही होना पड़ेगा। पौराणिक, धार्मिक और आध्यात्मिक संस्कृत-ग्रन्थों के सुलभ सटीक संस्करण गीता प्रेस (गोरखपुर) से कुछ निकले हैं और कुछ निकलनेवाले हैं तथा बम्बई, काशी और लाहौर के कुछ प्रकाशकों ने भी संस्कृत-साहित्य के विविध-विषयक ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित किये हैं; किन्तु उनमें से कुछ को छोड़ अधिकांश के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे सुसम्पादित न होने के कारण केवल हिन्दी जाननेवालों के लिए सुबोध नहीं हैं। यदि ऐसे मुख्य-मुख्य अनुवाद-ग्रन्थ छाँटकर समालोचना की कसौटी पर कसे जायँ तो निश्चय ही बहुत कम खरे निकलेंगे। अब ऐसे समालोचक नहीं नजर आते,

जो साहित्य के उपकार के लिए इतना अधिक परिश्रम करें। पर, इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि पुराने अनुवाद अच्छी तरह जाँचे-परखे जायँ और नये ढंग के अनुवाद के लिए उचित सुझाव पेश किये जायँ। पुराने ढंग के अनुवाद से मेरा जो तात्पर्य है, उसे एक साधारण उदाहरण देकर स्पष्ट कर दूँ।

स्वर्गीय विद्यावारिधि पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र का किया हुआ 'रघुवंश' का अनुवाद बम्बई से निकला है। आचार्य द्विवेदीजी का अनुवाद (रघुवंश) प्रयाग से प्रकाशित है। मिश्रजी में टीका के साथ मूल भी है, द्विवेदीजी में केवल सरल व्याख्या ही है। यदि द्विवेदीजी में मूल भी होता तो विशेष लाभ की सम्भावना थी। फिर भी, यह स्पष्ट है कि मिश्रजी के पाठक कालिदास की छाया भी मुश्किल से छूते हैं और द्विवेदीजी अपने पाठकों को महाकवि के अन्तस्तल के पास तक पहुँचा देते हैं।

वास्तव में पुराने ढंग के अनुवाद आधुनिक रुचि के पाठकों के लिए बिल्कुल निकम्मे हैं; क्योंकि उनकी भाषा में भाव-व्यंजना की शक्ति बहुत ही कम है। नये ढंग के आधुनिक अनुवादों के दो नमूने पेश किये जा सकते हैं—'साहित्य-दर्पण' का अनुवाद, जो लखनऊ से निकला है और जगद्धर भट्ट की 'स्तुतिकुसुमांजलि' का अनुवाद, जो काशी से प्रकाशित हुआ है। तब भी यह कहना पड़ेगा कि आचार्य द्विवेदीजी ने अपने समय की 'सरस्वती' में उक्त 'कुसुमांजलि' का जैसा विशद एवं प्राञ्जल अनुवाद प्रस्तुत किया था, वैसा किसी से नहीं बन पड़ा। अतएव, अनुवादक ऐसा सामर्थ्यशाली होना चाहिए जो मूल और अनुवाद दोनों की भाषा पर पूर्ण आधिपत्य रखता हो। तभी सामान्य हिन्दी-प्रेमी भी मूल का प्रकृत मर्म या तत्त्व समझ सकता है।

जब हम अनुवादों की राशि टटोलने लगते हैं, तब यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि प्रामाणिक और मर्मोद्घाटक अनुवाद बहुत ही कम हैं। बड़े हर्ष का विषय है कि अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन संस्कृत-साहित्य के सद्ग्रन्थों के सुबोध अनुवाद तैयार करा रहा है। आशा है कि उसका वह प्रकाशन सर्वाङ्गसुन्दर और सामयिकतापूर्ण होगा।

आवश्यकता तो इस बात की है कि संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्यों और नाटकों के ऐसे सुन्दर अनुवाद हिन्दी-पाठकों के समक्ष उपस्थित किये जायँ, जिनके द्वारा वे महाकवियों के गूढ आभ्यन्तरिक आशय सुगमतापूर्वक हृदयंगम कर सकें। इसके लिए सुयोग्य विद्वानों और अनुभवी सम्पादकों का एक सुसंघटित मण्डल होना चाहिए। यदि कोई धनाढ्य साहित्यानुरागी इस काम को व्यापारिक दृष्टि से भी करना चाहे तो वह लाभ ही उठायगा। सफल व्यापारी वही होता है जो अपने माल की उत्तमता और उपयोगिता पर हमेशा कड़ी निगाह रखता है। साहित्य के व्यापारी ऐसे बहुत कम हैं। अँगरेजी के प्रकाशकों ने साहित्य-सेवा को व्यावसायिक लाभ का माध्यम बनाकर अपने साहित्य को खूब सँवारा-सिंगारा है। किन्तु, खेद है कि हिन्दी के अधिकांश प्रकाशक भाषा-भाव-संरक्षण की चिन्ता से अपने को सर्वथा मुक्त मानकर केवल इसी धुन में लगे रहते हैं कि येन-केन-प्रकारेण ग्राहकों की माँग पूरी करके टके सीधे किये जायँ। यह स्थिति अत्यन्त भयावह है।

हमारे यहाँ संग्रह-ग्रन्थों का भी बड़ा अभाव है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में जैसे 'सुभाषित रत्न-भाण्डागार' या 'सुभाषित रत्न-सन्दोह' या 'सदुक्ति कर्णामृत' आदि ग्रन्थ हैं, वैसा एक भी हिन्दी में मैंने नहीं देखा। अँगरेजी में ऐसे अनेक संग्रह-ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रसिद्ध साहित्यकारों के प्रमुख ग्रन्थों से उत्तमोत्तम गद्यांश अथवा पद्यांश विश्लेषणात्मक रीति से संकलित किये गये हैं। इससे लाभ यह होता है कि साहित्य-सागर के मन्थन से अनेक ऐसे उज्ज्वल रत्न सुलभ हो जाते हैं, जो अतल गंभीर गह्वर में अज्ञात छिपे पड़े थे और जिनका किसी प्रकार कोई उपयोग नहीं हो पाता था। दृष्टान्त के तौर पर देखिए कि आचार्य द्विवेदीजी, प्रेमचन्दजी और 'प्रसाद' जी के गौरवशाली ग्रन्थों में असंख्य सुधासिक्त सूक्तियाँ तथा विशुद्ध व्यंग्यविनोद लोक-लोचन से ओझल पड़े हुए हैं। बहुतों की शिकायत है कि हिन्दी में 'ह्यूमर' (Humour) है ही नहीं। मैं कहता हूँ, यदि केवल आचार्य द्विवेदीजी और आचार्य शुक्लजी की रचनाओं से 'ह्यूमर' छाँट जायँ, तो एक खासा पोथा बन जा सकता है। हमारे साहित्य की बहुतेरी चीजें जहाँ-तहाँ इधर-उधर छिपी पड़ी सड़ रही हैं। कुछ दिनों में वे दीमकों के पेट में चली जायँगी। फिर उनका उद्धार असम्भव होगा।

हिन्दी के स्वनामधन्य स्वर्गीय साहित्य-सेवियों की ग्रन्थावलियाँ तो इनी-गिनी ही हैं। कलकत्ता से केवल एक ही ग्रन्थावली निकली—पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र की, जिसे बाबू दामोदरलाल जी खत्री ने निकाला था। वह भी अब शायद हिन्दी-प्रेमियों के ध्यान-नयन के ओट हो चुकी है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा अभी तक भारतेन्दु-ग्रन्थावली के दो ही खण्ड निकाल सकी, तीसरा[1] अर्थाभाव के चक्कर में पड़ा है। सम्मेलन (प्रयाग) भी भारतेन्दु-सखा प्रेमघनजी की ग्रन्थावली का अभी प्रथम खण्ड ही प्रकाशित कर सका है, दूसरा[2] खण्ड भविष्य के गर्भ में है। इंडियन प्रेस से पण्डित माधव प्रसाद मिश्र की ग्रन्थावली अच्छे ढंग से निकली है; पर अभी शायद उसका भी कुछ अंश शेष ही रह गया है। जयपुर-सम्मेलन में पंडित झाबरमल्लजी शर्मा से सुना कि बाबू बालमुकुन्द गुप्त की ग्रन्थावली उन्हीं के सुपुत्र श्री नवलकिशोर जी गुप्त दिल्ली[3] से निकालने जा रहे हैं, जिसका सम्पादन शर्माजी और पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी कर रहे हैं। पण्डित जगन्नाथप्रसाद जी चतुर्वेदी के सुपुत्र श्री रमावल्लभ चतुर्वेदी भी (मलयपुर, मुंगेर से) पूज्य चौबेजी की ग्रन्थावली निकालने की धुन में लगे हुए हैं। पर, यह काम इस तरह छिट-फुट ढंग से पूरा होने योग्य नहीं। जैसे वंगीय साहित्य-सेवियों की ग्रन्थावलियाँ वसुमती-साहित्य-मन्दिर (कलकत्ता) से सुलभ मूल्य में मिलती हैं, वैसे ही किसी एक संस्था या प्रकाशक को यह काम अपने हाथ में लेना चाहिए। इस महत्कार्य की पूर्त्ति से साहित्य का अकथनीय उपकार होगा। कुछ दिनों के बाद कितनी ही ग्रन्थावलियों की सामग्री ढूँढ़ने पर भी न मिलेगी।

सुना है कि बँगला में श्री बंकिमचन्द्र-सम्पादित 'वंग-दर्शन' के सभी अङ्कों का जीर्णोद्धार चौबीस सुसज्जित खण्डों में हुआ है; पर खेद है कि हमारे पूज्य पण्डित बालकृष्ण

१. यह तीसरा खण्ड भी अब प्रकाशित हो गया।—ले०

२. यह दूसरा खण्ड भी अब प्रकाशित हो गया।—ले०

३. कलकत्ता से गुप्त-ग्रन्थावली के दो खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं।—ले०

भट्ट के 'हिन्दी-प्रदीप' के कुछ अङ्क भी कहीं देखने को नहीं मिलते—उनके पुनर्मुद्रण का स्वप्न तो बहुत दूर है। भट्टजी के कुछ चुने लेखों का संग्रह लखनऊ से निकला है और पं० प्रतापनारायण मिश्र की निबन्धावली भी अभ्युदय प्रेस (प्रयाग) से निकली थी। किन्तु, भारतेन्दु-युग के इन दो उद्‌भट लेखकों की बहुत-सी सुन्दर रचनाएँ अभी अन्धकार में पड़ी हुई हैं। इसी प्रकार, अनेक साहित्य-सेवियों की कृतियाँ हमारी असावधानता और अपेक्षा के कारण नाश के पथ पर बढ़ी चली जा रही हैं। हिन्दी-हितैषियों को इधर शीघ्र ही ध्यान देना चाहिए। साहित्य की कई शाखाओं के असंख्य सौन्दर्यशाली सुरभित सुमन यत्र-तत्र इतस्ततः बिखरे पड़े हैं। ग्रन्थभाषा के रूप में उनका सुरुचिपूर्ण सुसम्पादित संग्रह होना अत्यावश्यक है।

हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं का इतिहास भी यदि शीघ्र ही न लिखा गया तो थोड़े ही समय के पश्चात् हमें उसके लिए असीम सागर में 'अनन्त फल' टटोलना पड़ेगा। एक धुँधली-सी स्मृति है कि ग्वालियर-राज्य के गुना-निवासी श्री अनन्तविहारीलाल माथुर ने इस काम में बहुत दूर तक सफलता पाई थी; पर इधर उनके उस उद्योग का वृत्तान्त कुछ ज्ञात नहीं। अखिल भारतीय पत्रकार-संघ-जैसे पत्रकार-कोश तैयार कर रहा है, वैसे ही यह काम भी करता तो बड़ा अच्छा होता। सुना है कि इस काम पर उसका ध्यान गया है; पर अभी किसी संगठित प्रयत्न का मुझे पता नहीं। जयपुर-सम्मेलन में पंडित झाबरमल्लजी शर्मा कहते थे कि पण्डित बनारसीदास जी चतुर्वेदी के सहयोग से वे पत्र-पत्रिकाओं का सम्पूर्ण इतिवृत्त[1] तैयार कर रहे हैं। आशा है कि उन लोगों का प्रयत्न अवश्य सफल होगा। सभी पत्रकारों से उन्हें यथोचित सहायता मिलेगी। अखिल भारतीय पत्र-संग्रहालयों से भी सहायता मिल सकती है। प्रयाग में ऐसा एक संग्रहालय है; पर उसमें केवल हिन्दी-पत्रों की ही प्रधानता नहीं है। दक्षिण हैदराबाद में केवल हिन्द-पत्रों का ही एक बृहत् संग्रहालय है और इधर पटना-सिटी में भी एक ऐसा ही (भारती-भवन) स्थापित हुआ है। इनके अतिरिक्त 'सम्मेलन' (प्रयाग) और 'सभा' (काशी) के संग्रहालय में भी काफी मसाला मिल सकता है। अच्छा तो यह हो कि प्रत्येक प्रान्त के पत्रकार अपने-अपने प्रान्त का भार उठा लें; क्योंकि यह कर्त्तव्य भी विशेषतः उन्हीं का है। पत्रकार-संघ की ओर से सबको प्रेरणा मिलनी चाहिए।

हिन्दी में एक सचित्र एवं सुसम्पादित तथा सुमुद्रित विश्वकोश का अभाव भी बहुत खटकता है। जो विश्वकोश बँगला से अनुवादित होकर निकला है, वह हिन्दी-हित की दृष्टि से सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी वह प्रामाणिक विश्वकोश नहीं कहा जा सकता। मुद्रण-कला की दृष्टि से वह सर्वथा असन्तोषजनक है। किन्तु, इस समय 'अभावे शालिचूर्णं' वही है। लखनऊ की 'विश्वभारती' निस्सन्देह बहुत अच्छी

---

१. हैदराबाद (दक्षिण) के हिन्दी-समाचारपत्र-संग्रहालय से हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं की एक डाइरेक्टरी निकली है।—लेखक

चीज है, पर उससे 'विश्वकोश' का अभाव दूर नहीं होता। राष्ट्रभाषा के लिए सबसे पहले सर्वाङ्गसुन्दर विश्वकोश' की ही आवश्यकता है।[२]

इस प्रकार के और भी कई अभाव हैं, जिनपर हम सब राष्ट्रभाषा-भक्तों को तत्परता से विचार करना चाहिए। मैंने विचारशील विद्वानों और उदार हिन्दी-प्रेमी धनिकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए कुछ संकेतमात्र दे दिये हैं। विश्वास है कि राष्ट्रभाषा के गर्व में फूलनेवाले हमलोग शान्तचित्त हो इन या ऐसे ही अन्य अभावों पर उचित ध्यान देने में प्रवृत्त होंगे। —मासिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता), सन् १९३९ ई०

साहित्य

'साहित्य' बड़ा ही व्यापक अर्थ रखनेवाला एक महान् गौरवपूर्ण शब्द है। यह विश्वजनीन भाव का द्योतक है, विश्वबन्धुत्व का सन्देशवाहक है, देश और जाति के जीवन का रस है, समाज की आन्तरिक दशा का दिव्य दर्पण है, सभ्यता और संस्कृति का संरक्षक है। इसमें सहित का भाव है। अतएव, यह अपनेमें सब-कुछ समेटे हुए है, जो मानव-जाति के जीवन के लिए हितकर, सुखकर और श्रेयस्कर है। यह ईश्वर के विराट् रूप के समान विश्व की समस्त विभूतियों का आश्रय-स्थल है। दृश्यमान जगत् के समग्र वैभवों की निधि तो यह है ही, अदृश्य लोकों की सम्पदा का भी कुबेर यही है। लौकिक और अलौकिक सब कुछ इसी के भाण्डार में है। इहलोक और परलोक इसके लिए हस्तामलकवत् हैं। जान पड़ता है, शब्दमय अनादि-अनन्त ब्रह्म का यह प्रतीक है। इसमें हम अखिल ब्रह्माण्ड का चित्र देख सकते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष, कुछ भी, इससे परे नहीं जान पड़ता। ऐसा यह सर्वशक्तिसम्पन्न है!

किसी राष्ट्र या जाति में संजीवनी शक्ति भरनेवाला साहित्य ही है। इसलिए यह सर्वतोभावेन संरक्षणीय है। सब-कुछ खोकर भी यदि हम इसे बचाये रहेंगे, तो फिर इसी के द्वारा हम सब-कुछ पा भी सकते हैं। इसे खोकर यदि बहुत-कुछ पा भी लेंगे, तो फिर इसे कभी पा न सकेंगे। कारण, यह हमारे पूर्वजों की कमाई है। किसी जाति के पूर्वजों का चिर-संचित ज्ञान-वैभव ही साहित्य है। अन्यान्य लौकिक वैभव नश्वर हैं। यह अविनाशी है। इसीलिए इसका जो पल्ला पकड़े रहेगा, वह भी अमर होगा।

भारत के हिन्दुओं की स्वतंत्रता खो गई, धन-सम्पत्ति लुट गई, उनके विपुल ऐश्वर्य के गौरवमंडित स्मारक भी लुप्त हो गये; पर उन्होंने अपने साहित्य का बहुलांश बचा लिया। उसे भ्रष्ट या कलुषित या विनष्ट न होने दिया। जब ग्रन्थों पर आपत्ति देखी कि वे फाड़े और जलाये जा रहे हैं, तब मस्तिष्क और कण्ठ में धारण कर उन्हें वाणी का अमृत पिलाया। भला अपने पूर्वजों के उस ज्ञान-भाण्डार को हम भी क्यों न बचायें? हमारा

१. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा बृहत् हिन्दी-विश्वकोश तैयार करा रही है।—लेखक

२. इस लेख का अन्तिम अंश काटकर निकाल दिया गया है; क्योंकि उसमें अंकित बातें अन्यत्र हैं।—लेखक

यही धर्म और कर्त्तव्य है। हमारा वह साहित्य विश्व-साहित्य का मेरुदण्ड है। उसकी प्रखर किरणें भूमण्डल में फैली हुई हैं। उसके खजाने की भी खुले-खजाने लूट-खसोट हुई है। फिर भी, उसकी रीढ़ नहीं टूटी। उसमें आज भी जो कुछ है—अनोखा है, अनूठा है, अमूल्य है, अनिर्वचनीय है।

हमारी हिन्दी का साहित्य अभी शायद आधे से अधिक अप्रकाशित ही है। अनेक प्राचीन ग्रन्थ कहीं बेठनों में लिपटे पड़े हैं, कहीं कूप-मण्डूकों के घर में दीमकों को दावत दे रहे हैं। उसी प्रकार, अनेक आधुनिक साहित्यकारों की कृतियाँ भी प्रकाशकों के अभाव से, अथवा हमारी अगुणज्ञता एवं असावधानता से, प्रकाश में नहीं आई हैं। यदि हमारा सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य सांगोपांग प्रकाशित हो जाय, तो हिन्दी का रत्नागार देखते ही बने। कुछ लोग, हिन्दी-साहित्य की वास्तविक महत्ता से अपरिचित होने के कारण, इसे अधूरा और हेय समझते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि ग्रन्थों का संख्याबाहुल्य ही किसी साहित्य की श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं है। काँच के चमकीले टुकड़ों की राशि से दो-चार-दस जगमगाते अनमोल लाल कहीं अच्छे हैं। हिन्दी-साहित्य में आज भी, जब उसके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अन्वेषकों और प्रकाशकों की प्रतीक्षा में पड़े बिलख रहे हैं, ऐसे-ऐसे देदीप्यमान ग्रन्थ-रत्न हैं, जिनकी तुलना के ग्रन्थ अन्य भाषाओं के साहित्य में प्रायः दुर्लभ हैं। जब कभी हिन्दी का सितारा चमकेगा, और ईश्वर की दया से वह दिन बहुत दूर नहीं है तब विस्मृति के अन्धकारपूर्ण गिरि-गह्वर से उसके बहुत-से ग्रन्थ-तपस्वी निकलेंगे। उस दिन संसार आँखें फाड़कर उन्हें देखेगा। हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य के सुदिन अभी आ रहे हैं—वे क्षितिज के छोर पर चमक रहे हैं। दोनों की वर्त्तमान प्रगतिशीलता में आशा और उत्साह की किरणें झलक रही हैं। निश्चय ही दोनों के अभ्युदय में आपका हार्दिक सहयोग सर्वथा अपेक्षित है।

आप तो जानते हैं कि जितना साहित्य नगरों के छापाखानों ने अबतक प्रकाशित किया है, उतना ही क्यों, उससे भी अधिक आपके चारों ओर के गाँवों में भरा और बिखरा पड़ा है। स्पष्टतः यह संकेत ग्राम-गीतों की ओर है, जिनके अनेक भेद और रूप-रंग देहात में देख पड़ते हैं। उनमें देश की अधिकांश जनता के हृदय की अनुभूतियाँ भरी-पड़ी हैं। उन्हीं में 'गाँवों के देश' भारत के सुख-दुःख की सच्ची अभिव्यक्ति है। उनके संग्रह का काम यदि थोड़ा-थोड़ा सभी हिन्दी-प्रेमी बाँट लें, तो एक-एक मुट्ठी चून से महाभोज हो सकता है। और, केवल ग्राम-गीत ही क्यों, गाँव-गँवई के गँवार गायकों द्वारा जो पद्यबद्ध वीर-गाथाएँ और प्रेम-गाथाएँ सानुप्रास गाई जाती हैं, वे भी कुछ कम ललित और मनोज्ञ नहीं हैं। ग्राम्यभाषा के भाव-व्यंजक एवं अर्थ-गर्भ शब्द, मुहावरे और कहावतें भी साहित्य की कुछ कम शोभा-वृद्धि न करेंगी। पर, इनकी ओर हमारा ध्यान जैसा चाहिए, वैसा नहीं है।

साहित्य के उत्कर्ष के लिए सभी साहित्यकारों और साहित्यानुरागियों का पारस्परिक सहयोग तथा सामूहिक प्रयत्न आवश्यक है। साहित्य की उन्नति के लिए हमें भोग-विलास के बदले विद्या-विलासी बनना होगा। अपने जीवन रथ को सुख के पथ पर ले चलनेवाली

आवश्यकताओं में हमें साहित्य को भी सम्मिलित करना होगा। केवल अन्न की भूख और पानी की प्यास की तरह नहीं, बल्कि वासना की भूख और हृदय की प्यास की तरह जब हमें साहित्य की भूख-प्यास भी सताने लगेगी, तब कहीं हमें समझना होगा कि साहित्य अब हमारे रोम-रोम में रम चुका। सच मानिए, साहित्य के आन्तरिक सौन्दर्य का विधिवत् विश्लेषण करने में जो विचक्षण हैं, वे ब्रह्मानन्द-सहोदर सुख के उपभोक्ता हैं। साहित्य का रस सभी रसों से आला और निराला है। इसके द्वारा आप ईश्वर-भक्ति-जनित परमानन्द की अनुभूति उपलब्ध कर सकते हैं, सांसारिक सुखों के रसास्वादन में अलौकिक तल्लीनता पा सकते हैं, नाना प्रकार के लाभ-लोभ से बचकर अपने ही मानसिक आनन्द में मग्न रह सकते हैं, स्वाभिमान और संतोष से जीवन में सच्ची शान्ति का अनुभव कर सकते हैं। साहित्य का रस जिसने पा लिया, उसके लिए भूतल ही स्वर्ग बन गया।

साहित्य का रस जिस रस में मिल जाता है, उसे अनुपम माधुर्य्य से परिपूर्ण कर देता है। यदि साहित्य के रस से हम वंचित हैं, तो प्रकृति की सुषमा में भी हमारे लिए कोई रस नहीं, संसार की किसी चीज की मिठास का असली स्वाद हमें सुलभ नहीं। कमनीय कामिनी-कटाक्ष और उसकी मन्दस्मितयुक्त भ्रूभंगिमा भी हमारे लिए नीरस है, यदि हम साहित्य-रसज्ञ नहीं हैं। शिशु की मन्द-मुसकान में, मानिनी के मान में, कृषक-कन्या के गान में, रसलम्पट मधुप के मधुपान में, शरत्-पूर्णिमा के विमल-धवल हास विलास में, तरङ्गित यौवन के मदोच्छ्वास में, सुरभित सुमनों के विकास में, कहीं भी हमें रस का अभिनव आभास न मिलेगा, यदि हमारा हृदय साहित्य-रस-सिक्त नहीं है—यदि हमारा जीवन साहित्य के लालित्य के लिए लालायित नहीं है। साहित्य-सरिता में गहरा गोता लगाये विना हम समुद्र, नदी, पर्वत, वन-उपवन, चन्द्र-सूर्य, नक्षत्र-मण्डल, पशु-पक्षी आदि का आभ्यन्तरिक सौष्ठव नहीं देख सकते हैं। वृक्ष पर चढ़ी हुई लोनी लता को सभी देखते हैं, पर साहित्यिक की पैनी दृष्टि केवल लहलही लता ही नहीं देखती—कुछ और भी देखती है। कोयल की कूक सारी दुनिया सुनती है; पर साहित्यिक का सुनना कुछ और ही है। फूल को जितना साहित्यिक समझता है, उतना शायद भौंरा भी न समझता होगा।

साहित्य ही ने भगवान को भी भक्तों के मानस-मन्दिर में प्रतिष्ठित किया है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, मीरा, सब-के-सब साहित्य ही की सजीव प्रतिमा हैं। साहित्य ने ही उनके रूप में अवतीर्ण होकर धरातल को धन्य किया। परमात्मा ने अपने अपूर्व सृष्टि-कौशल का रहस्य समझाने के लिए ही साहित्य का सर्जन किया। उन्होंने साहित्य को अद्भुत् शक्ति प्रदान की है। वह अतीत को वर्त्तमान बना सकता है। वह भविष्य का रहस्य-भेदन कर सकता है। वह काँच को कंचन कर सकता है। अदृश्य को भी दृश्यमान करना उसके बायें हाथ का खेल है। उसकी दिव्य दृष्टि प्रज्ञाचक्षु संजय की दृष्टि से भी होड़ बद सकती है। वह आज भी सदियों पहले के युद्ध की विभीषिका से आपके कलेवर को कंटकित कर सकता है। उसके श्रीमुख से आप सुनना चाहें, तो राम का धनुष-टंकार सुन लें, पार्थ का गांडीव-घोष सुन लें, भीम के प्रचंड भुजदंडों का

भीषण गर्जन सुन लें, मुरली-मनोहर की वंशी-ध्वनि सुन लें, हल्दीघाटी की तलवारों की झनकार सुन लें, शिवा और गुरुगोविन्द की प्रलय-ललकार सुन लें। उसके सामने रेडियो और ग्रामोफोन की क्या हस्ती है! ये निर्जीव यन्त्र भी उसी के प्रताप से सजीव बने हैं। वह मिट्टी छू दे तो सोना हो जाय—उकठे काठ को ठोक दे तो जल-तरंग हो जाय। यदि वह न होता, तो हमारे जीवन-सर्वस्व राम और कृष्ण भी हमारे बीच न होते। उसी के बल पर हम मदान्ध साम्राज्यवादी को भी चुनौती देने का साहस रखते हैं। उसी की तेजस्विता हमारी निष्प्राण नसों में बिजली भरती है। उसी का अमर सन्देश हमें पराधीनता की कड़ियाँ तोड़ने के लिए उद्‌बुद्ध और कटिबद्ध करता है। उसी की उपासना से उत्पीड़ित देश का उद्धार होता है। उसी के शंखनाद से हमारी मोह-निद्रा भंग होगी। यदि वह हमारे जीवन-व्यापार में संग-संग न चलेगा, तो अपने पूर्वजों से हमारा नाता टूट जायगा—पतन की खाई से निकलने का सहारा जाता रहेगा। उसकी महत्ता की कोई इयत्ता नहीं। अतः उसी की आराधना में दत्तचित्त होना हमारा एकान्त कर्त्तव्य है।[1]

—'माधुरी' (लखनऊ); तुलसी-संवत् ३१६, संवत् १९९९ वि०; सन् १९४२ ईसवी

●

'प्रसाद' जी की भविष्यवाणी

स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद', हिन्दी के अमर कलाकार हैं। उनके गद्य-ग्रन्थों में असंख्य सूक्तियाँ भरी-पड़ी हैं। उनके अधिकांश नाटक, प्राचीन साहित्य पर आश्रित हैं; किन्तु उनमें प्रसंगानुकूल ऐसी बातें भी बहुत हैं जो आधुनिक समस्याओं पर लागू होती हैं। हजारों वर्ष पहले की घटना के चित्रण में वर्त्तमान समय की स्थिति को झलका देना उनकी लेखनी की एक विशेषता है।

उनके 'अजातशत्रु' नाटक से एक छोटा-सा उदाहरण। आजकल जो कुछ संसार में हो रहा है, उसे आज से बहुत पहले ही उन्होंने भाँप-सा लिया था। यदि वे आज जीवित होते तो अपनी वाणी को चरितार्थ देख अवश्य मुस्कराते। उनकी मुसकान कभी रहस्य-शून्य नहीं होती थी।

अजातशत्रु का पिता 'बिम्बसार', मगध-सम्राट् के रूप में इतिहास-प्रसिद्ध है। 'जीवक' भी इतिहास-प्रसिद्ध वैद्यराज है। जीवक से बिम्बसार कहता है—

"संसार-भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्‌यंत्र और प्रतारणा है। एक शीतल निःश्वास लेकर तुम विश्व के वात्याचक्र से अलग हो जाओ, और इसपर प्रलय के सूर्य की किरणों से तपकर गलते हुए गीले लोहे की वर्षा होने दो। अविश्वास की आँधियों को सरपट दौड़ने दो। पृथ्वी के प्राणियों में अन्याय बढ़े, जिससे दृढ़ होकर लोग

---

१. इस लेख का कुछ भाव 'रचनावली' के दूसरे खण्ड में छपे एक साहित्यिक भाषण में भी आ चुका है; पर दोनों में कई जगह भिन्नता भी है; इसलिए इसमें काट-छाँट या परिवर्त्तन नहीं किया गया है। —ले०

अनीश्वरवादी हो जायँ, और प्रति दिन नई समस्या हल करते-करते कुटिल-कृतघ्न जीव मूर्खता की धूल उड़ावें—और विश्व-भर में इसपर एक उन्मत्त अट्टहास हो।"

इस उद्धरण में हम वर्त्तमान जगत् का चित्र स्पष्ट देख सकते हैं। बिम्बसार के माध्यम से 'प्रसाद' जी ने जो भविष्य-कथन किया है, उसकी सत्यता हमारी आँखों के सामने है।

ऊपर के उद्धरण में जो 'वात्याचक्र' है, उसकी व्याख्या भी वे बिम्बसार के मुख से कराते हैं—

"सच तो यह है कि विश्व-भर में, स्थान-स्थान पर वात्याचक्र हैं; जल में उसे भँवर कहते हैं; स्थल पर उसे बवंडर कहते हैं; राज्य में विप्लव, समाज में उच्छृंखलता, और धर्म में पाप कहते हैं।" अब हम देखें कि ऊपरवाले उद्धरण में जो बातें उन्होंने बिम्बसार के ब्याज से कही हैं, वे वर्त्तमान युग पर कितनी सटीक बैठती हैं। वास्तव में वे बड़े दूरदर्शी थे—भविष्यद्रष्टा थे।

बिम्बसार के वाक्य-खंडों में कुछ बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं। 'प्रलय के सूर्य की किरणों से तपकर गलते हुए गीले लोहे की वर्षा'—आजकल खूब हो रही है। 'अविश्वास की आँधियों का सरपट दौड़ना'—चारों ओर दीख पड़ता है। 'पृथ्वी के प्राणियों में अन्याय का बढ़ना'—प्रतिदिन का दृश्य है। 'लोग अनीश्वरवादी हो जायँ'—यह तो आजकल का फैशन ही हो गया है। 'प्रतिदिन नई समस्या हल करते-करते, कुटिल-कृतघ्न जीव मूर्खता की धूल उड़ावें'—यह भी अक्षरशः सत्य सिद्ध हो रहा है; नई-नई समस्या नित्य उठ खड़ी होती है। ईश्वर के उपकारों को भूलकर जीव कृतघ्न हो ही गया है, मूर्खता की धूल तो ऐसी उड़ रही है कि रास्ता नहीं सूझता।

लोहे की वर्षा, और अविश्वास की आँधी का कारण है—प्राणियों में अन्याय की वृद्धि। अन्याय की वृद्धि का कारण है अनीश्वरवादी होना। लोगों के अनीश्वरवादी या नास्तिक होने से जीवन की समस्याएँ उलझती जा रही हैं। समस्याओं की जटिलता दिन-दिन बढ़ रही है। अन्न-वस्त्र की समस्या, भाषा की समस्या, शिक्षा की समस्या—अनेक विषम समस्याएँ हैं। समस्या रक्त-बीज हो गई है।

इन उलझनों के सुलझाने के जो उपाय हमारे पूर्वजों ने बताये हैं, उन्हें हम भूल गये हैं। यदि नहीं भूले हैं तो उनके प्रति अश्रद्धालु अवश्य हो गये हैं। हमारे पूर्वजों ने जो सदाचार के पथ प्रदर्शित किये हैं, उनमें हमारी आस्था नहीं है, या कम हो गई है। इसका परिणाम तो भोगना ही पड़ेगा। संसार भोग भी रहा है। उधर ईसा के उपदेशों का तिरस्कार हो रहा है, इधर आर्ष-वचनों का; दोनों ओर की गुत्थियाँ शीघ्र सुलझती नजर नहीं आतीं।

सुलझें कैसे? वैभव का दर्प, शक्ति का मद, आडम्बर का मोह, अधिकार का दम्भ, सभी अमोघ अस्त्र ईश्वर के काल-कोदण्ड से छूट चुके हैं। इन नारायणास्त्रों की शान्ति सहज ही नहीं हो सकती। ये रामबाण इस 'रोग-शोक-परिताप-बन्धन-व्यसन-ग्रस्त' संसार को आरोग्य-सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए उन्मुक्त हुए हैं। 'प्रसादजी' के ही

अनुसार—"मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाये रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते।"

'प्रसाद' जी बिम्बसार के मुख से ही कहलाते हैं—"मनुष्य क्या इस पागल-विश्व के शासन से अलग होकर कभी निश्चेष्टता नहीं ग्रहण कर सकता? हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलाषाएँ बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है? क्या निर्मल ज्योति तारागण की मधुर-किरणों के सदृश सद्वृत्तियों का विकास तुझे नहीं रुचता? भयानक भावुकता, और उद्वेगजनक अन्तःकरण लेकर, क्यों तू व्यग्र हो रहा है? जीवन की शान्तिमयी सच्ची परिस्थिति छोड़कर, व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पड़ा रहेगा? भगवन्! असंख्य ठोकरें खाकर लुढ़कते हुए जड़-ग्रहपिण्डों से भी तो चैतन्य मानव की बुरी गत है।"—देखिए, आधुनिक मनुष्य का प्रकृत चित्र! वर्त्तमान मानव-जगत् का स्वरूप-दर्शक यह 'प्रसाद' जी का शब्द-चित्रपट! इस युग के मानव-संसार का रूप 'प्रसाद' जी के मनोमुकुर में कितना स्पष्ट झलका था!

इसलिए, उनका बिम्बसार कहता है—"यदि मैं सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता, और संसार की दृष्टि मुझपर न पड़ती—पवन की किसी लहर को सुरभित करके उस थाले में चू पड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार, इस विश्व में न मचता।"

आज भी ऐसे मूक उद्‌गार अनेक सिंहासन-च्युत छत्रधारियों, अथवा सत्ताधारियों के मुख से निकल रहे होंगे। निकल रहे होंगे सिंहासनासीनों के हृदयों से भी; पर 'प्रसाद' जी के कथनानुसार 'मनुष्य स्वांग भरने में बड़ा निपुण है!'

'प्रसादजी' की भविष्यवाणी में अनीश्वरवादिता का भी उल्लेख है। आजकल संसारियों के मन में वह इस तरह घर कर गई है कि उसमें मनुष्य बड़ी सुविधा का अनुभव करने लगा है। आजकल के मनुष्यों के लिए ईश्वर एक झंझट है, धर्म एक झमेला है, श्रद्धा-भक्ति और पूजा-पाठ पाखंड हैं। नास्तिक होना गर्व का विषय बन गया है और आस्तिक होना झेंप का! रूस ने ईश्वर का अस्तित्व मिटा दिया, अब अपने अस्तित्व की रक्षा में विह्वल है। योरप ने भी ईश्वर से राम-राम कर लिया, देखादेखी भारत में भी वही बाना धारण करनेवाले कितने दल बन गये हैं। यह अविद्यान्धकार के प्रसार का परिणाम है। इस मोहान्धकार में महात्मागांधी की दिव्य ज्योति ही मार्ग-प्रदर्शन कर सकती है।

—मासिक 'विक्रम' (उज्जैन, मालवा); चैत्र-वैशाख, संवत्-२००० (सन् १९४३ ई०)

●

हिन्दी-साहित्य की कुछ समस्याएँ

हमारा हिन्दी-साहित्य यद्यपि इस जाग्रत युग में भी अनेक अभावों से युक्त है, तथापि उसके सेवकों, सहायकों और समर्थकों की टोली देखकर यह आशा भी बँधती है कि उसके अभावों का अन्त अनति दूर भविष्य में ही होनेवाला है।

भाषा और लिपि के रूप का निखार

जब स्वदेश, समाज और साहित्य के कर्णधार-स्वरूप अपने प्रथितयशा पत्रकारों की ओर हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमारा मस्तक और भी गर्वोन्नत हो उठता है। पूज्य पराड़करजी, तपोधन गर्देजी, श्रद्धेय पंडित माखनलालजी और पंडित बनारसी दासजी चतुर्वेदी, तप्तकाञ्चनप्रभ पंडित हरिभाऊ उपाध्याय और तेजस्वी इन्द्रजी इत्यादि महानुभावों की सेवाएँ आधुनिक पत्रकार-कला के विकास में निस्सन्देह चिरस्मरणीय हैं। किन्तु, आश्चर्य है कि ऐसे यशस्वी एवं मनस्वी पत्रकारों के रहते हुए भी अनेक क्षेत्रों में हिन्दी का पक्ष अभी यथेष्ट सबल नहीं है। हम तो यही आशा रखते हैं कि विदेश की राजनीतिक समस्याओं के साथ-साथ वे हमारी साहित्यिक समस्याएँ सुलझाने में भी दत्तचित्त रहा करेंगे। पर, खेद है कि हमारी यह आशा पर्याप्त रूप से पूरी नहीं हो पाती। भाषा की रूप रेखा सँवारने-सुधारने में, शब्दों के शुद्ध रूप स्थिर करने में, शब्द-शुद्धि के लिए अक्षरों के उपयुक्त प्रयोग में हिन्दी-पत्रकारों का सामूहिक सहयोग बड़ा लाभदायक हो सकता है। भाषा और लिपि की समस्याएँ इनका मुँह जोह रही हैं। ये चाहें तो साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग), नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) और लेखकों तथा जनता को सदा सजग रख सकते हैं।

संगठन का अमोघ अस्त्र पाकर भी यदि ये बिखरी शक्तियों को समेट न सकें तो दूसरा कौन है जो हिन्दी को सनाथ करेगा। चित्रपट और रेडियो की समस्या भी हिन्दी-पत्रकारों के लिए कुछ बीहड़ नहीं है। इनकी सत्ता जनता पर स्थापित हो चुकी है। इनकी सम्मिलित शक्ति जनता की मनोवृत्ति पलट सकती है। यद्यपि विज्ञापनों का मोह बड़ा भारी प्रलोभन है, तथापि पत्र की लोकहितकर नीति या सिद्धांत पर उसका प्रभाव पड़ना न्याय-संगत नहीं।

यह काम किसी एक के बूते का नहीं। इसके लिए तो वैसा ही व्यापक हाहाकार उठाना चाहिए जैसा दिगन्तव्यापी हाहाकार व्योमकेश की जटा में गंगावतरण के समय सुन पड़ा था। हमें उस समय के लिए भी तैयार रहना चाहिए जब अपनी भाषा की प्रतिष्ठा और संस्कृति की रक्षा के लिए हमें रेडियो से पूर्ण असहयोग करना पड़ेगा। वर्त्तमान परिस्थिति के पर्यवेक्षण से ऐसा अनुमान होता है कि उस समय के निमंत्रण देते समय हमारी कड़ी अग्नि-परीक्षा होगी।

साहित्य-सेवी और उनके परिवार

ऐसी ही अनेक समस्याएँ और भी हैं जिनका हल निकालना तो सरासर अपेक्षित है। आजकल बहुत-से निरवलम्ब साहित्य-सेवियों और उनके असहाय परिवार की सहायता

की समस्या बड़ी विषम होती जा रही है। इसपर हमारे पत्रकार यदि उचित ध्यान दें तो यह अधिक दिन जटिल नहीं रह पायेगी। सहानुभूति के छूछे शब्द से हिन्दीमाता की छाती का यह घाव भरने का नहीं। इस समय भी कई साहित्य-सेवी बड़े संकट में हैं। हमारे कितने ही विपद्ग्रस्त बन्धु अपने अनाथ परिवार को अश्रुगङ्गा में मँझधार छोड़ चुपचाप चले गये और बहुतेरे अब भी संघर्ष की चक्की में पिस रहे हैं। यदि हम उनकी सुध न लेंगे तो न कोई पूँजीपति पसीजेगा और न कोई संस्था ही द्रवेगी।

हमारे स्वर्गीय साहित्य-सेवियों की स्मृति-रक्षा की समस्या तो अतिशय महत्त्वपूर्ण है। यहाँ प्रसंगवश बड़े क्लेश के साथ कहना पड़ता है कि हमारे कितने ही साहित्य-सेवियों के स्वर्गीय होने पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं में तो समवेदना के दो शब्द भी नहीं निकलते। यदि अतिशयोक्ति न समझी जाय तो यहाँ तक कहने का साहस कर सकता हूँ कि पत्र के किसी फालतू कोने पर दो-चार पंक्तियों का संक्षिप्त समाचार प्रकाशित करके ही कर्त्तव्य की इतिश्री कर दी जाती है। शरच्चन्द्र और रवीन्द्र के निधन के दूसरे ही दिन भोर में हमने बँगला के दैनिक 'आनन्दबाजार-पत्रिका' और 'वसुमति' के बीस-बीस सुदीर्घ पृष्ठों को नख-शिख शोकनिमग्न देखा, पर अपने 'प्रेमचन्द' और 'प्रसाद' के लिए अपने हिन्दी-पत्रों में अग्रलेख तक पढ़ने को न मिले। क्या हमारी छाती को छलनी कर जानेवाले ये महारथी केवल दस पंक्तियों के ही अधिकारी थे?

हमारे लेखक

पत्रकार-कला हिन्दी में अनुदिन उन्नतिशील दीख पड़ती है। यह बात बहुत रोचक प्रतीत होती है। परन्तु, यह देखकर बड़ा विस्मय होता है कि अभी तक वह मुट्ठी-भर लेखकों को भी सर्वथा स्वावलम्बी नहीं बना सकी है। जबतक लेखकों को शान्तिपूर्वक जीवन-यापन का सुयोग न मिलेगा तबतक साहित्य का अभ्युदय असम्भव है। पत्रकारों और प्रकाशकों से उन्हें जैसा सहारा मिलना चाहिए, नहीं मिल रहा। यदि हमारे लेखक इस विषय में अपने सच्चे अनुभव लिपिबद्ध कर दें तो बहुतों को न्यायालय अथवा हिमालय की शरण लेनी पड़ेगी। हमारे सुधी समालोचक उनके मस्तिष्क की उपज को तो कसौटी पर कसते हैं, पर उनकी वास्तविक स्थिति की कोई धुँधली रेखा भी अपनी अनुभूति की कसौटी पर नहीं पड़ने देते। हम काफी खाद्य उपजाने का आन्दोलन खड़ा करने में तो बहादुर हैं, किन्तु पशुधन के भीषण ह्रास पर हम फूटी निगाह भी नहीं डालते। क्या हम चाहते हैं कि नखों से जमीन खोदकर उपज चौगुनी बढ़ाई जाय? यह त्रिकाल में भी नहीं होने का। यहाँ एकाध साधारण उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा। हमलोग पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी की साहित्य-सेवा से भलीभाँति परिचित हैं। यदि उनकी लेखनी जीविका के जंजाल में न फँसी होती तो उनकी प्रतिभा का जौहर और अधिक खुलता।

किन्तु, ऐसी दशा में अनेक लेखकों से मैं भी कहूँगा कि वे हिन्दी-माता की आराधना के लिए सच्ची साधना का अभ्यास करें। सन्तोष का सम्बल लेकर मातृ-मन्दिर के मार्ग पर अग्रसर होते रहने के निमित्त कृत-संकल्प हो जायँ। प्रायः इस युग के लिए तो यह एक

कल्पनातीत बात होगी कि वे लँगोटी बाँधकर नगर की हलचल से दूर कहीं 'अन्नपूर्णा के मन्दिर' में कुशासन पर आसीन हो साहित्य-साधनालीन हों; पर इसकी आजमाइश की गुंजाइश इस युग में भी हो सकती है। यह कल्पना के परे नहीं है। हमारे जो लेखक-बन्धु नगर की माया-मरीचिका से मोहान्ध नहीं हुए हैं, उनके लिए हमारे असंख्य गाँव पलकों के पाँवड़े बिछाये हुए हैं। यदि उन्हें प्रकृति की गोद पसन्द हो, रचनात्मक कार्य-क्रम में विश्वास हो, अपने चरित्र में पूरी प्रतीति हो, तो वे दस-बीस गाँवों का मंडल बनाकर किसी उपयुक्त केन्द्रस्थल में साहित्य-कुटीर रच सकते हैं। वहाँ समय की बचत और स्वास्थ्य की वृद्धि होगी। दुर्व्यसनों से पिंड छूटेगा और चिन्तन की धारा सदा स्वच्छ बनी रहेगी। स्वदेश के मौलिक रूप की बाँकीझाँकी वहीं मिल सकती है। वहाँ के विशुद्ध वायुमंडल में जो साहित्य-सर्जन होगा, उससे यश-अर्जन भी कुछ कम न होगा।

इस युग में लेखकों और कवियों से यह कहना कि भाषा और भाव की शुद्धता, सुन्दरता और पवित्रता से ही साहित्य की मर्यादा बढ़ती है, बड़ी भारी धृष्टता है। तो भी कर्त्तव्य विवश होकर कहना ही पड़ता है; क्योंकि ध्यान जैसा चाहिए, वैसा इधर नहीं है। यदि उनके सामने महर्षि पतंजलि का यह वाक्य कह दिया जाय कि 'एकः शब्दः सकृदुच्चरितः सम्यक्ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति' तो वे हँसकर अप्रगतिशीलता का आरोप करने लगेंगे। किन्तु, उनको स्मरण रखना होगा कि इसी एक वाक्य में उनकी सारी सफलता निहित है। शब्दों के सम्यक् ज्ञान और सुन्दर प्रयोग में ही उनकी कला की सिद्धि है। सम्यक् ज्ञान और सुन्दर प्रयोग का आशय जितना गम्भीर है, उतना ही विस्तृत भी। लोकहिताय अथवा लोकरंजनाय प्रायः दो ही उद्देश्यों से वे कुछ लिखते होंगे। इनमें से किसी की भी पूर्त्ति मनमाने ढंग की रचना से नहीं हो सकती।

साहित्य-सरिता में जो उद्बुद्ध युग की अनियंत्रित भावनाओं की बाढ़ दिन-दिन उमड़ती जा रही है, उसके दुर्द्धर्ष वेग को रोकना या बाँधना सहसा सम्भव नहीं। तथापि बाढ़ के पानी को स्वास्थ्योपयोगी बनाने के लिए 'निर्मली' के प्रयोग द्वारा उसका परिष्कार कर लेना दुःसाध्य नहीं। तात्पर्य यह कि जो कुछ भी प्रकाशित होकर जनता के सामने आवे, विधिवत् परिमार्जित होकर ही आवे। स्वस्थ भाषा और स्वस्थ विचार से ही स्वस्थ साहित्य का निर्माण हो सकता है। मेरी यह निश्चित धारणा है—भले ही यह भ्रान्त एवं उपहासास्पद कही जाय—कि सुसम्पादित ग्रन्थों और पत्रों से ही साहित्य की श्रीवृद्धि हो सकती है। आजकल अधिकांश पुस्तकें संशोधित नहीं होतीं। लेखक की फटी झोली से प्रकाशक की रंगीन मेज पर—बस दो ही छलाँग में बाजार की हवा खाने चली जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक साहित्य का वैभव और प्रभाव दिन-दिन बढ़ रहा है, परन्तु उसका भाण्डार जिन विपुल वस्तुओं के संचय से सजाया या सम्पन्न किया जा रहा है, उनमें काँच के चमकीले टुकड़े कम नहीं। निश्चय ही, 'लालों की नहिं बोरियाँ' यथार्थ उक्ति है। फिर भी, सजावट की सुन्दरता बढ़ाने के लिए काँच के टुकड़ों की भी आकृति सुडौल और सुहावनी होनी चाहिए।

हमें पुस्तकों और पत्रिकाओं की संख्या-वृद्धि पर न इतराना चाहिए। और, न इस गर्व में फूलना चाहिए कि हमारी हिन्दी में हर साल अन्य भाषाओं से कहीं अधिक पुस्तकें और पत्रिकाएँ निकलती हैं। पुस्तकों और पत्रों के संख्या-बाहुल्य से साहित्य की अभिवृद्धि का अनुष्ठान होता है; पर हमें देखना यह चाहिए कि भाषा और भाव की दृष्टि से वे कहाँ तक लोकोपयोगी हैं। प्रकाशन का केवल संख्या-बल ही साहित्य को शक्तिशाली नहीं बना सकता। हम भारतीयों का संख्या-बल तो भूमण्डल में अद्वितीय है, पर हमारी शक्ति से संसार खूब परिचित है।

समालोचकों से निवेदन

मेरा यह व्यक्तिगत विचार है कि हिन्दी में समालोचना के आदर्श का निरूपण बहुत सोच-समझकर किया जाना चाहिए। हमारे समालोचकों के लिए सिद्धान्तों की जानकारी के साथ-साथ स्वदेश के साहित्य की आलोचना-पद्धति का भी परिज्ञान आवश्यक है। आजकल बहुधा यह देखने में आता है कि हमारे साहित्य के इतिहास में, हमारी विचार-प्रणाली में, हमारी आलोचना-शैली में विदेशी रंग का चटकीलापन बढ़ता जा रहा है। हम विदेशों के साहित्य की कसौटी पर ही अपने साहित्य को परखते हैं। विदेशी विद्वानों के बहुरूपिया सिद्धान्तों ने हमारे साहित्य को इस तरह ग्रस लिया है कि उसके सांस्कृतिक महत्त्व का लोप हो जाने की आशंका-सी होने लगी है। हमें विदेशी साहित्य की महत्ता का प्रशंसक अवश्य होना चाहिए। पर, हमें अपने घर के साहित्य का निरीक्षण करने के लिए अपनी आँखों पर विदेशी साहित्यिकों का चश्मा नहीं चढ़ाना चाहिए। यदि वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली के प्रभाव से विदेशी साहित्य में ही हमारी विशेष गति-मति है, तो हम उनके गुणों से लाभ अवश्य उठायें; किन्तु उससे इतने प्रभावित न हो जायँ कि उसके आगे अपने साहित्य की हीनता स्वीकृत कर लेने में हमें तनिक भी झिझक न हो। हमें दुराग्रह से दूर तो रहना चाहिए, पर स्वाभिमान से सर्वथा वंचित होना समीचीन नहीं।

प्रगतिवाद

खेद है कि इस 'वाद' की दुनिया को हम नहीं जानते। जहाँ तक याद है, यह 'वाद' हिन्दी में 'सुन्दरवन' की ओर से लपका था। पहले के साहित्य में किसी 'वाद' की चर्चा तक नहीं सुन पड़ती थी। पर, आज तो 'वाद' का दुन्दुभि-निनाद साहित्य-जगत् की हरएक दिशा में गूँज रहा है। शायद इस 'वाद' के पनपने योग्य पहले कोई उर्वर मस्तिष्क ही न था, अब तो इस 'वाद' की गृहस्थी खूब आबाद है। देखते-देखते यह रक्त-बीज बन गया। हमारी भारतीयता ही इसके लिए दुर्भावना बन गई है। कुछ लोग तो बड़े प्रसन्न हैं कि हमारे साहित्य की सरस भूमि 'वाद' की खाद से बहुत उपजाऊ हो गई है; लेकिन 'जहरवाद' से फूला हुआ गाल देखने में भले ही लाल हो, चखने में खतरनाक ही होगा!

हमारे अनाड़ी किसानों ने गोबर को चूल्हे में झोंक दिया और बाजारू खाद लेकर पदावार बढ़ा ली। जब उस अन्न के दाने पेट में पहुँचकर करामात दिखाने लगे तब गांधी बाबा की गाई हुई गोबर-गुण-गाथा समझ में आई। मगर होश आने से क्या हुआ, जब चिड़िया चुग गई खेत, रग-रग में रमा हुआ रक्त दूषित होकर संतति-परम्परा को क्षीण करने लगा। मुझे भय है कि 'वाद' का स्वाद भी कहीं हमारी प्रकृति के प्रतिकूल न सिद्ध हो।

इस समय इसकी पैठ और पूछ हमारे यहाँ हर जगह है। इसने हमारे हृदय के प्रत्येक स्तर में घर कर लिया है। कविता, कहानी, उपन्यास, समालोचना—कोई इसके सर्वग्रासी चंगुल से बचा नहीं है। मेरा अपना विश्वास है कि विश्लेषण की प्रक्रिया से जानकारी भले ही बढ़ जाय, आनन्द नहीं उमड़ सकता। कविता और कहानी को आपने प्रगतिवाद का श्रेष्ठ नमूना कह दिया, पर जब हमने नमूने का नींबू निचोड़ा तो रस की एक बूँद भी न टपकी। साहित्य की आत्मा तो रस ही है।

हम अपने प्राचीन साहित्य-मन्दिर में भी 'वाद' का घंटानाद सुनते हैं, पर वह हमें संस्कृति के घंटापथ पर सचेत होकर चलने का संकेत देता है; भूल-भुलैया में नहीं डालता। और, यह तो हमें ऐसा पाठ पढ़ाता है कि अपने यहाँ के दिग्गज साहित्य-स्रष्टाओं के बौद्धिक विकास पर हमारा विश्वास ही नहीं जम पाता।

हमारा कथा-साहित्य

कथा-साहित्य और नाट्य-साहित्य की वृद्धि जिस परिमाण में हो रही है, उसी परिमाण से उनके द्वारा भाषा-भाव की शक्ति-वृद्धि नहीं हो रही। लब्धकीर्त्ति और उदीयमान लेखकों को छाँट लेने के बाद जो कुछ बचा रहता है, उसमें हम भविष्य के लिए सन्तोषवर्द्धक सामग्री नहीं पाते। बरसों से जो शुभ नाम कथा-क्षेत्र में श्रुति-मधुर बन गये हैं, उनकी श्रेणी में बिठाने योग्य कोई नया नाम उपयुक्त नहीं जँचता।

अबतक हम अपने साहित्य की जो स्थिति देख चुके हैं, उसमें निराश होने का कोई कारण नहीं सूझता। कविता, कहानी और नाटक के क्षेत्र तो अभिनव आशा की मधुर ज्योति से जगमगा रहे हैं, किन्तु निबन्ध, समालोचना, यात्रा, विज्ञान, जीवनी, आत्मकथा, बाल-जगत्, नारी-जगत्, हास्यरस आदि से सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य की वृद्धि के लिए अभी हमें बड़ी लगन से प्रयत्न करना पड़ेगा। हमें मिल-जुलकर ऐसे ही साहित्य की रचना पर ध्यान देना चाहिए।

—साप्ताहिक 'उषा' (गया); वर्ष २, अङ्क १०; अक्टूबर, १९४४ ई०

सम्पादक के अधिकार

हिन्दी-संसार में अखिल भारतीय 'सम्पादक-सम्मेलन' और 'पत्रकार-संघ' नाम की संस्थाएँ बहुत दिनों से हैं; पर आज तक उनके द्वारा इस बात का स्पष्ट निर्णय अथवा घोषणा नहीं हुई है कि सम्पादकों के अधिकार क्या हैं। जब अधिकारों की घोषणा ही न हुई तब उनकी रक्षा के उपाय कैसे हो सकते हैं!

हिन्दी-संसार में अधिकांश सम्पादक वेतनभोगी कार्यकर्त्ता हैं। पत्र-प्रकाशक प्रायः वैतनिक कर्मचारी के समान उनके साथ व्यवहार करते हैं। कुछ ही सम्पादक ऐसे हैं जो अपने पत्र के स्वामी या संचालक या सर्वेसर्वा हैं। ऐसे स्वतंत्र सम्पादक बहुत ही कम हैं। उनके अधिकारों का सवाल ही नहीं उठता। किन्तु, जो पत्र-संचालक द्वारा नियुक्त किये जाते हैं अथवा स्वयं प्रार्थनापत्र देकर नियुक्त होते हैं, उनके अधिकारों की रक्षा कहाँ तक होती है, उनकी और कठिनाइयों का ध्यान कहाँ तक पत्र-संचालक रखते हैं, यह विचारणीय प्रश्न है।

मैं पिछले तीस वर्षों से देखता आ रहा हूँ कि हिन्दी के पत्र-संचालक, जिनमें अधिकतर पूँजीपति हैं और जो पूँजीपति नहीं हैं, वे भी पूँजीपति की मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति के शिकार हो ही जाते हैं, सम्पादकों का वास्तविक महत्त्व नहीं समझते उनका यथोचित सम्मान नहीं करते—उनके अधिकारों की रक्षा पर ध्यान नहीं देते—उनकी कठिनाइयों को दूर करने का सपना भी नहीं देखते।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, हिन्दी में तीन ही आदर्श पत्र-संचालक हुए हैं— बाबू चिन्तामणि घोष (इंडियन प्रेस), बाबू रामानन्द चटर्जी (विशालभारत) और बाबू शिवप्रसाद गुप्त (ज्ञानमण्डल)। तीनों ही अब इस संसार में नहीं हैं; किन्तु उनका आदर्श चिरस्मरणीय है। वे अपने पत्र के सम्पादक का जैसा और जितना आदर करते थे, वैसा और उतना आदर करनेवाला आजतक कोई पत्र-संचालक नहीं पैदा हुआ। हुआ होगा, मैंने नहीं देखा-सुना।

पूज्य आचार्य द्विवेदी जी को चिंतामणि बाबू ने 'सरस्वती' के सम्पादन में कितनी सुविधा और स्वतंत्रता दे रखी थी, यह हिन्दी-पत्र-सम्पादकों को अच्छी तरह मालूम है; पर शायद हिन्दी-पत्र-संचालकों को मालूम भी है तो वह नहीं मालूम होने के बराबर है। रामानन्द बाबू ने पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी और पं० श्रीराम शर्माजी को 'विशाल-भारत' के सम्पादन में जो सुविधाएँ दी थीं और उन्हें अपने अधिकारों के उपयोग करने में जो छूट दी थी, वह भी हिन्दी-पत्र-सम्पादक ही जानते हैं, हिन्दी-पत्र-संचालक तो जानते हुए भी नहीं जानते! बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने भी पूज्य पराड़करजी को 'आज' के सम्पादन में और सम्पादकीय अधिकारों के भोगने में जो स्वाधीनता दी थी, उसके विषय में भी वही उपर्युक्त बात कही जायगी। इन तीनों महापुरुषों ने पत्र-संचालक की सहृदयता का जो अत्युच्च आदर्श उपस्थित किया, वह अब कहीं दीख नहीं पड़ता! आज

हिन्दी-पत्रकार-कला दिन-दिन उन्नत होती जा रही है; पर वैतनिक सम्पादकों के अधिकार में कोई वृद्धि नहीं देखने में आती!

कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि आजकल के अधिकांश सम्पादकों में अपने अधिकारों के उपयोग करने की योग्यता ही नहीं है; पर उन्हें यह भी जानना चाहिए कि अधिकारों के उपयोग करने का सुअवसर मिलने पर ही सम्पादकों की योग्यता परखी जा सकती है। कहा जाता है कि आचार्य द्विवेदीजी को आदर्श सम्पादक बनाने का बहुत-कुछ श्रेय चिन्तामणि बाबू को प्राप्त है। यदि वे द्विवेदीजी को सर्वतंत्र स्वतंत्र सम्पादक न रहने देते तो द्विवेदीजी शायद सम्पादकाचार्य नहीं हो पाते। रामानन्द बाबू तो स्वयं ही सम्पादकाचार्य और विश्वविख्यात पत्रकार थे, इसलिए सम्पादक की महत्ता और मर्यादा भली-भाँति समझते थे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त भी स्वतंत्रता के अद्वितीय उपासक थे। उनके समान स्वाधीनचेता पुरुष काँगरेस-मण्डल में भी बहुत ही कम थे। सम्पादक की प्रतिष्ठा का मूल्य आँकने में वे किसी से पीछे न थे।

सारा हिन्दी-संसार जानता है कि आचार्य द्विवेदीजी घर बैठे 'सरस्वती'-सम्पादन करते थे। उनकी सुविधा के लिए उनके घर (दौलतपुर में) डाकखाना खुलवाने में चिन्तामणि बाबू ने पूरी सहायता दी थी। द्विवेदीजी को जब-कभी जिस-किसी पुस्तक या पत्र-पत्रिका की आवश्यकता अनुभूत होती थी, स्वेच्छापूर्वक तुरत मँगा लेते थे और 'सरस्वती'-संचालक को उसका कुल खर्च देना पड़ता था। समालोचनार्थ और परिवर्त्तनार्थ आई हुई सारी पुस्तक और पत्र-पत्रिकाएँ द्विवेदीजी की ही सम्पत्ति होती थीं, जिन्हें संगृहीत और सुरक्षित रखकर उन्होंने अन्त में वह सारी संचित सम्पत्ति 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' को अर्पित कर दी थी। इंडियन प्रेस उनके प्रत्येक छोटे-मोटे आदेश का पालन बड़ी श्रद्धा और तत्परता से करता था। उनकी आज्ञाएँ शाही फरमान समझी जाती थीं। वे चाहते थे तो समालोचना के लिए पुस्तकें खरीद भी लेते थे। 'सरस्वती' को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने के लिए वे सब कुछ करने को परम स्वतंत्र थे। तभी वे हिन्दी के निर्माता और साहित्य-विधाता हो सके।

'विशाल-भारत' के सम्बन्ध में कई बार सुनने में आया कि उसमें बहुत घाटा हुआ है; मगर घाटा सहकर भी रामानन्द बाबू ने सम्पादक के कामों में कभी दखल न दिया—न पुरस्कार-वितरण-सम्बन्धी नीति में हस्तक्षेप किया और न पत्रोन्नति-योजना में किसी प्रकार की बाधा दी। ज्ञानमण्डल के 'आज' में भी पराड़करजी की इच्छा ही प्रधान थी। गुप्तजी तो उनकी स्वास्थ्य-रक्षा की भी चिन्ता किया करते थे।

हिन्दी-संसार में आजकल कौन ऐसा वेतनभोगी सम्पादक है जिसको पत्र-संचालक ने स्याह-सफेद करने का मुख्तारनामा लिख दिया है, मैं नहीं जानता। अगर ऐसा सौभाग्यशाली कोई हो तो उसका और उस पत्र-संचालक का सचित्र-परिचय हिन्दी-संसार को प्राप्त होना चाहिए! मरुस्थल में कहीं कम-से-कम एक भी शाद्वल-भूमि—हरियाली से लहलहाती हुई जगह—नसीब तो हो! कोई तो मेरी भ्रान्त धारणा को खंडित करनेवाला निकल आये!

अभी तक सम्पादकों के अधिकारों की कोई परिभाषा नहीं तैयार हुई है और न कोई सीमा ही निर्धारित की गई है। किन्तु, साधारण रीति से यह स्वभावतः समझा जा सकता है कि सम्पादक अपने स्वास्थ्य और गौरव की रक्षा करते हुए पत्र को सुन्दर, आकर्षक उन्नत एवं लोकप्रिय बनाने के लिए जितने प्रकार के काम कर सकता है, सब उसके अधिकार के अन्तर्गत हैं। जिसमें अनाड़ीपन और निरंकुशता है, उसके अधिकार की चर्चा ही व्यर्थ है। परन्तु, जो अपने उत्तरदायित्व और पद-मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान रखता है, उसको तो अवश्य ही यथोचित अधिकार मिलना चाहिए। उसे पढ़ने के लिए पर्याप्त अवकाश, और साथ ही सुबीता भी, दिया जाय। लेखकों, कवियों और चित्रकारों को यथेच्छ पुरस्कार देने में वह सर्वथा स्वतंत्र हो—निश्चय ही वह अपने पत्र की आर्थिक स्थिति से असावधान न होगा। सम्पादकीय विभाग के सभी कार्यकर्त्ताओं पर एकमात्र उसी का नियंत्रण हो तथा समागत पत्रों और पुस्तकों का स्वत्वाधिकारी भी वही हो। सहकारियों का चुनाव और उनकी पदोन्नति वही करे। पत्र की आर्थिक दशा के अनुसार पत्रोन्नति-योजना के कार्यान्वित करने में उसे पत्र-संचालक का मुँह न जोहना पड़े—आर्थिक व्यवस्था के लिए संचालक से परामर्श कर लेना दूसरी बात है। अपनी या अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की छुट्टी के लिए वह खुद ही जिम्मेदार रहे—पत्र के सम्पादन और नियमित प्रकाशन की जिम्मेदारी रखते हुए। उसकी और उसके सहकर्मियों की वेतन-वृद्धि का विचार उसके सहयोग और सद्भाव के सहारे से ही किया जाय। इसी तरह के और भी साधारण-असाधारण अधिकार हैं, पर मुख्यतः इतने ही यथेष्ट हैं—यदि इतने भी कहीं हिन्दी-जगत् की धरती पर सुलभ हों!

हिन्दी-पत्र-सम्पादकों का संगठन असम्भव जान पड़ता है, इसलिए उपरि-लिखित अधिकारों को चाहे खयाली पुलाव कहिए, चाहे हवाई महल; मगर जबतक सम्पादकों के अधिकार और मान की रक्षा न होगी तबतक हिन्दी-पत्रों की उन्नति भी न होगी। मुझे आशा नहीं है कि अब इस पीढ़ी के पत्र-संचालक इतने उदार और सहृदय होंगे। पहले के सम्पादकों की तरह आज के सम्पादकों में स्वाभिमान भी नहीं है; क्योंकि देश की वर्त्तमान परिस्थितियों ने प्रत्येक व्यक्ति के आत्माभिमान को मुट्ठी में कर लिया है। इसलिए पत्र-संचालकों की मनमानी तबतक चलती ही रहेगी, जबतक वेतनभोगी सम्पादकों में अपने अधिकारों के लिए लड़ने का साहस न होगा। इस साहस के लिए सामूहिक संगठन अपेक्षित है। किन्तु, सम्पादकों का संगठन और मेढ़कों को तौलना एक-सा है!

—साप्ताहिक 'स्वदेश' (पटना); १६ नवम्बर, १६४७ ई०।

बिहार की साहित्यिक प्रगति

नाना प्रकार के अभावों और असुविधाओं से आक्रान्त इस युद्ध-युग में देश तथा समाज की जो भीषण परिस्थिति है, उसपर ध्यान देते हुए यह कहना असंगत न होगा कि बिहार की साहित्यिक प्रगति बहुत कुछ संतोषजनक है। किसी देश अथवा प्रांत की साहित्यिक प्रगति का निरीक्षण करते समय इस बात का विचार करना पड़ता है कि वहाँ के साहित्य-सेवी कैसे हैं और क्या कर रहे हैं। पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति कैसी है, प्रकाशकों और साहित्यिक संस्थाओं में कर्मनिष्ठा कितनी है, उच्च शिक्षा-संस्थाओं में साहित्य की अभिवृद्धि का क्या प्रयत्न हो रहा है, साहित्य का गौरव बढ़ानेवाले कितने साहित्य-सेवियों को प्रोत्साहन तथा आश्रय मिल रहा है, सर्वसाधारण जनता की रुचि एवं प्रवृत्ति कैसी है, साहित्य की शोभा बढ़ानेवाली कितनी सामग्री अन्धकार में पड़ी हुई है और व्यष्टि-रूप से या समष्टि-रूप से साहित्य के अभ्युदय के निमित्त कौन-कौन-से प्रयत्न हो रहे हैं—इत्यादि।

इन सभी बातों पर विचार करते हुए यदि हम बिहार की साहित्यक प्रगति पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें निराश होने का कोई कारण नहीं मिलता; क्योंकि वर्त्तमान अवस्था की कठिनाइयाँ यदि मार्गावरोध न करतीं तो हम आज चारों ओर आशा की ही ज्योति जगमगाती हुई देख पाते। और, यह सर्वथा निश्चित है कि जब कभी इस विभीषिकामय युग का अवसान होगा, बिहार की साहित्यिक प्रगति आज की तरह अवरुद्ध न रहकर द्रुत-वेग से अग्रसर होगी। इस समय उपयुक्त साधनों और सुलभ सुविधाओं के अभाव में भी जो कुछ हो रहा है, वह पर्याप्त न होते हुए भी असंतोषप्रद नहीं है। हमारी आशा की किरणों को दुर्दिन के काले बादल ढँके हुए अवश्य हैं; पर क्षितिज के छोर पर आशा की किरणें झलक रही हैं और उनका झाँकना ही हमें शुभ्र भविष्य के लिए आश्वासन दे रहा है।

काव्य के क्षेत्र में

कवि ही युग के सन्देशवाहक कहे जाते हैं। बिहार के यशस्वी कवियों ने इस प्रांत की साहित्यिक प्रगति को उत्तेजन देने में उत्साहपूर्वक युग का साथ दिया है—बराबर दे रहे हैं। द्विज, दिनकर, प्रभात, वियोगी, मनोरंजन, केसरी, आरसी, नेपाली, रमण, भुवन, शक्र, गुलाब, अरुण, मोहन, सुजन, सुहृद, सहृदय, पांडेय नर्मदेश्वर सहाय, रामदयाल पांडेय, जयकिशोर नारायण सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि प्रसिद्ध कवि सोत्साह साहित्य-समाराधन में संलग्न हैं। सन्तोष का विषय है कि दिनकर जी की प्रशस्त प्रतिभा ने बिहार की काव्य-साधना की ओर समस्त हिन्दी-संसार का ध्यान आकृष्ट किया है, जिससे सुदूरवर्त्ती प्रान्तों में भी बिहार के साहित्यिक गौरव की प्रतिष्ठा हुई है। युद्ध-युग के आरम्भिक दिनों में उनकी 'रसवन्ती' यथेष्ट रस-संचार कर चुकी है और उनके 'हुंकार' की गंभीर ध्वनि आज भी कानों में गूँज रही है। कुरुक्षेत्र, नारी आदि उनकी रचनाएँ जब कभी पुस्तकाकार धारण करेंगी, बिहार की लाली ही रखेंगी। उनका परिचय 'आलोकधन्वा' में पढ़कर बिहार के काव्य-वैभव की वृद्धि का

का पर्याप्त आश्वासन मिलता है। द्विजजी की 'अंतर्ध्वनि', मनोरंजनजी की 'संगिनी', प्रभातजी का 'संवर्त्त', वियोगीजी का 'आर्यावर्त्त', रामदयाल पांडेय का 'गणदेवता', केसरीजी की 'मराली', जानकीवल्लभ शास्त्री की 'गाथा', नेपालीजी की 'पंचमी', भुवनजी का 'मंत्र', गुलाबजी की 'कविता', अरुणजी की 'अरुणिमा', नन्दकिशोर की 'आभा' और 'रणभेरी', शक्रजी की 'अंतर्जलन', आरसीजी का 'जीवन और यौवन',—ये सारी रचनाएँ स्पष्ट बतला रही हैं कि युद्ध-युग में भी बिहार के कवि किंचित् कुंठित नहीं हुए हैं। प्रभातजी का गीतिनाट्य 'संवर्त्त' और वियोगीजी का वीररसात्मक काव्य 'आर्यावर्त्त' तथा जानकीवल्लभ शास्त्रीजी का कथाकाव्य 'गाथा'—तीनों पुस्तकें बिहार की साहित्यिक प्रगति का उत्कर्ष सूचित करती हैं। 'अन्तर्ध्वनि' और 'रसवन्ती', 'संगिनी' और 'मराली', 'आरसी' और 'गणदेवता', 'कम्पन' और 'पंचमी'—ये ऐसी कविता-पुस्तकें हैं, जिन्हें हिन्दी-संसार के सामने उपस्थित करके हम बिहार की काव्य-साधना का महत्त्व प्रदर्शित कर सकते हैं। बिहार के काव्य-कानन में यदि हम 'दिनकर' को गर्जनशील केसरी के रूप में पाते हैं, तो 'केसरी' को पीयूषवर्षिणी कलकंठी के रूप में देखते हैं। संवेदनशील 'द्विज' की अनुभूतिमयी वेदना जैसी मर्मतलस्पर्शिनी और करुणरस-प्रवाहिनी है, प्रतिभा-सम्पन्न 'प्रभात' की हाहाकारमयी क्रान्ति-ज्वाला वैसी ही गगनारोहिणी है। वियोगी जी की बहुमुखी प्रतिभा और सुधामुखी लेखनी ने साहित्य-जगत् की विविध दिशाओं में उनके यश का प्रसार किया है। गद्य-पद्य रचना में वे समान रूप से सिद्धहस्त हैं। यही बात हम 'आरसी' और 'नेपाली' तथा जानकीवल्लभ शास्त्री और जयकिशोरनारायण सिंह के विषय में भी कह सकते हैं। इन चार कवियों की गद्य-पद्यमयी रचनाएँ भी इनके परिपक्व अनुभव और इनकी प्रौढ़ मेधाशक्ति की परिचायिका हैं। पांडेय नर्मदेश्वर और रामदयाल पांडेय की ओजस्विता और तेजस्विता हमारी नसों में तरल रक्त का संचार करती हैं। इधर नेपालीजी ने अपनी कंठकाकली के प्रभाव से भारत के प्रमुख साहित्य-केन्द्रों में बिहार की सजीवता और जागरूकता प्रदर्शित की है, और इधर ही उनकी भाषा का भी कलेवर-परिवर्त्तन हुआ है; जिसके फलस्वरूप ये चलचित्र-जगत् में सम्मान-भाजन हुए हैं। हमारे बहुतेरे कवियों की सुन्दर-सुन्दर रचनाएँ युद्धोत्तर निर्माण-युग की बाट जोह रही हैं। कवि अपना काम किये जा रहे हैं, युग का साथ दिये जा रहे हैं। आशा है कि इन सब कवियों के सतत प्रयत्न से बिहार की साहित्यिक प्रगति उत्तरोत्तर वेगवती होती जायगी। समय पाकर नटवर, कैरव, सुरेन्द्र आदि कवियों का भी मौन-भंग होगा।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में

कथाकार को भी हम युग का कंठस्वर कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। वह मूक जनता की मुखर वाणी है। बिहार के कथाकारों में श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, श्रीराधाकृष्णजी, श्री वियोगीजी, श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', श्री आरसीप्रसाद सिंह, श्री राधाकृष्ण प्रसाद, बी० ए० (ऑनर्स), श्री सूर्यदेव नारायण श्रीवास्तव, श्री मनोरंजन सहाय श्रीवास्तव, श्री नरेश आदि प्रत्यक्ष ही प्रगति-पथ पर आरूढ़ हैं। वियोगीजी और

राधाकृष्णजी पूर्ववत् इस क्षेत्र को उर्वर बनाने में उद्यत हैं। किन्तु, द्विजजी कीर्त्तिशाली कथाकार होकर भी इस समय मौन हैं। लब्धप्रतिष्ठ कथाकार अनूपजी भी पांडुलिपियों के अंडे सेते हुए युद्धोत्तर युग की प्रतीक्षा कर रहे हैं। परन्तु, स्वनामधन्य श्रीमान् राजा साहब (सूर्यपुरा) की ललित लेखनी गंगाप्रवाह से होड़ बदकर विस्मयजनक प्रगति का परिचय दे रही है। पंडित नन्दकिशोर तिवारी की कहानियों का संग्रह 'पद्मराग' अभी हाल ही पुस्तक-भंडार से प्रकाशित हुआ है। श्री बेनीपुरीजी जेल में ही कथा-साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं। श्री सरयू पंडा गौड़ अपनी मौज में मस्त हास्यरस की धारा बहाये चले जा रहे हैं। श्री सुधांशुजी अब आलोचनात्मक निबन्ध-ग्रन्थ प्रस्तुत करने में तल्लीन हैं। श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह इस समय भोजपुरी ग्रामगीतों के उद्धार में व्यस्त हैं। प्रिंसिपल विश्वमोहनकुमार सिंह (जिनका 'जीवन-तट' उपन्यास गत वर्ष निकला है), प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा, प्रोफेसर दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, पंडित हंसकुमार तिवारी आदि लब्धकीर्त्ति कथाकारों की कृतियाँ यदा-कदा यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाती हैं। प्रोफेसर नवलकिशोर गौड़, प्रोफेसर ललितकिशोर सिंह, प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र, श्री राजेश्वर-प्रसाद नारायण सिंह, श्री लक्ष्मीकांत झा, श्री वीरेश्वर सिंह आदि कुशल कलाकारों की रचनाएँ इधर देखने में नहीं आईं। श्री राधाकृष्ण प्रसाद यद्यपि एम्० ए० की परीक्षा की तैयारी में लगे हुए हैं, तथापि उनके दो नये उपन्यास इधर अच्छे निकले हैं। 'टूटती कड़ियाँ' और 'आदि-अन्त' में उन्होंने अपनी कला का संतोषवर्द्धक परिचय दिया है। इस समय प्रकाशन-सामग्री की दुर्लभता के कारण अनेक कथाकारों की रचनाएँ अप्रकाशित पड़ी हैं। केवल सूर्यपुराधीश का प्रकाशन-मन्दिर ही आलोकमय दीख पड़ता है। राजासाहब के अनूठे उपन्यासों ने हमारी साहित्यिक प्रगति को पर्याप्त प्रखरता प्रदान की है। उनकी प्रगतिशीलता पर हमें गर्व है। श्रीराहुल सांकृत्यायनजी भी इस क्षेत्र के उद्भट कलाकार हैं, पर वे तो अब रूस चले! इनके सिवा और भी कई होनहार कलाकार हैं जो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में अपनी प्रगति का प्रदर्शन करते हैं। इस क्षेत्र में भाषा-भाव-सम्बन्धी अनियंत्रित प्रवृत्ति चिन्त्य अवश्य है; पर हमारे पत्रकार और प्रकाशक जबतक इस निरंकुशता पर ध्यान न देंगे, तबतक यह अव्यवस्था बनी ही रहेगी।

निबन्ध-समालोचना-साहित्य

निबन्ध-रचना में हमारे यहाँ के कुछ समर्थ कलाकार बड़े निपुण हैं; परन्तु प्रकाशकों द्वारा प्रोत्साहन न मिलने से उनका जौहर खुल नहीं पाता। ठाकुर लक्ष्मी-नारायण सिंह 'सुधांशु' के समान विद्वान् और चिन्तनशील निबन्धकार यदि दूसरी किसी भाषा के क्षेत्र में होता तो वह भाषा निहाल हो गई होती। हिन्दी में उन्होंने इधर जो एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है—'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त'—वह अपने ढंग का एक अतुलनीय ग्रन्थ है, जो भागलपुर के युगान्तर-साहित्य-मन्दिर से हाल ही प्रकाशित हुआ है। सुना है कि जेल में उन्होंने फिर एक विशाल साहित्यिक ग्रन्थ की रचना की है, जो निकट भविष्य में ही प्रकट होनेवाला है। श्री जानकीवल्लभ शास्त्री का 'साहित्य-

दर्शन' नामक ग्रन्थ, जिसे चारों ओर से हताश होकर स्वयं उन्होंने ही प्रकाशित किया है, पांडित्यपूर्ण निबन्धों का बहुत ही सुन्दर संग्रह है। और, ऐसे ही कई उत्तमोत्तम ग्रन्थ उनके पास अप्रकाशित पड़े हुए हैं; पर खेद है कि आधुनिक परिस्थिति से विवश होकर हमारे प्रकाशक बाजार-भाव का रंग-ढंग देखकर ही फूँक-फूँक कदम बढ़ाते हैं। अध्यापक रामखेलावन पांडेय, एम्० ए० के भी कई आलोचनात्मक निबन्ध-ग्रन्थ अप्रकाशित ही पड़े हैं। श्री जयकिशोर नारायण सिंह के साहित्यिक निबन्ध, चाहे जब कभी प्रकाशित होंगे, हमारे साहित्य का गौरव-वर्द्धन ही करेंगे; पर इस समय इन सब सुयोग्य निबंधकारों की कृतियाँ यदि प्रकाश में आ जातीं तो हमारी प्रगति को काफी बल मिलता। श्री लक्ष्मीकांत झा हमारे बड़े अच्छे निबन्धकार हैं; पर उन्हें शासन-यंत्र-संचालन से ही अवकाश नहीं। यही अवकाशाभाव श्री गोवर्द्धन लालजी गुप्त का भी मार्गावरोध कर रहा है। हमारे ये निबन्धकार सुदक्ष समीक्षक भी हैं; पर बिहार में कोई ऐसा साहित्यिक मासिक पत्र नहीं और न कोई ऐसा उत्प्रेरक पत्रकार ही है जो इन मनीषियों का सदुपयोग करे। तब भी, हमारे समालोचकों में पंडित हंसकुमार तिवारी, प्रोफेसर दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, प्रोफेसर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा, श्री 'मल्लिनाथ' आदि सतत प्रगतिशील दृष्टिगत होते हैं। हाँ, निबन्ध-रचना में प्रोफेसर जगन्नाथप्रसाद मिश्र और प्रोफेसर भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' की कुशलता विशेष उल्लेखनीय है। मिश्रजी के निबन्ध उनकी अध्ययनशीलता के प्रमाण होते हैं। उनके निबन्धों का एक संग्रह (युगदेवता की वाणी) छपरा के 'वाणी-मन्दिर' से प्रकाशित हुआ है और 'माधव' जी के भक्तिरसपूर्ण आध्यात्मिक निबन्धों का भी एक संग्रह (मेरे जीवन-मरण के साथी) वहीं से निकला है। 'माधव' जी का 'संत-साहित्य' भी पटना के ग्रन्थमाला-कार्यालय से प्रकाशित एक उच्च कोटि का आलोचनात्मक निबन्ध-ग्रन्थ है। प्रिंसिपल मनोरंजन प्रसाद सिंह के कई प्रकाशित-अप्रकाशित निबन्ध बड़े महत्त्व के और बिल्कुल नये ढंग के हैं; पर उनके संग्रह या प्रकाशन की ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। इधर उन्होंने व्यक्तिगत भाव के कई सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। अतः इस क्षेत्र में भी बिहार की प्रगति मंद नहीं है; पर कालचक्र की गति का नियंत्रण कौन कर सकता है?

पत्र-पत्रिकाएँ

जो बिहार किसी समय पत्र-पत्रिकाओं के लिए ऊसर क्षेत्र माना जाता था, वही अब अपनी उर्वरता का आशाप्रद प्रमाण देने लगा है। श्री देवव्रत शास्त्री और श्री ब्रजशंकर वर्मा ने क्रमशः 'नवशक्ति' और 'योगी' के द्वारा इस ऊसर को काफी उपजाऊ बना डाला। इस समय 'राष्ट्रवाणी' और 'आर्यावर्त्त' नामक दो दैनिक पत्र मजे से चल रहे हैं। 'राष्ट्रवाणी' केवल राष्ट्रीयता के रंग में ही रँगी रहती है; पर 'आर्यावर्त्त' जब से श्री ब्रजनन्दन 'आजाद' के सम्पादकत्व में निकलने लगा है तब से उसमें साहित्यिकता का भी समावेश हो गया है।

साप्ताहिक पत्रों में नवशक्ति, योगी, हुंकार, उषा, प्रभाकर, तिरहुत-समाचार, मिथिला-मिहिर, मुंगेर-समाचार, गृहस्थ, नारद आदि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार प्रान्त

की सेवा में दत्तचित्त हैं। नवशक्ति, योगी, हुंकार और उषा तो हिन्दी-संसार के अच्छे साप्ताहिकों में गिने जाते हैं। इनका सम्पादन बड़ी तत्परता और सुरुचि के साथ होता है। इनमें गया की 'उषा' पर साहित्यिक रंग की छाप विशेष गहरी है। 'योगी' के महत्त्वपूर्ण लेख, सूझ-भरी टिप्पणियाँ और 'कड़वी-कसैली' का षट्रस स्वाद तथा 'हुंकार' की समयोपयोगी पाठ्य-सामग्री के साथ-साथ 'दो क्षण' की चुहलबाजी बड़ी सुहावनी लगती है। लेखों के चुनाव, मनोरंजक पाठ्य-सामग्री की सजावट, संवाद-संकलन, व्यंग्य-विनोद आदि की दृष्टि से 'प्रभाकर' (मुंगेर) और 'तिरहुत-समाचार' (मुजफ्फरपुर) अच्छे साप्ताहिक हैं। 'उषा' भी कभी-कभी व्यंग्य-विनोद का रसास्वादन कराती है। 'मिहिर' अपने वर्त्तमान सम्पादक श्री सुरेन्द्रजी के परिश्रम से समयानुकूल सुन्दर साप्ताहिक बन गया है। गया का 'गृहस्थ' अब शायद फिर पाक्षिक या मासिक बन गया है। 'नारद' केवल दीर्घजीवी होने के कारण स्मरणीय है। इस नाम का अखबार बहुत ही सुन्दर निकाला जा सकता है; पर यह केवल नीलामी इश्तहारों के लिए ही निकलता है!

पाक्षिक पत्रों में रामगढ़-राज्य द्वारा संरक्षित, पद्मा (हजारीबाग) की, 'बिजली' ही एकमात्र गणनीय है, हजारीबाग की 'भारती' अच्छी होने पर भी अनियमितता के रोग से आक्रान्त है। 'बिजली' सर्वाङ्गसुन्दर पत्रिका है। उसकी 'आकाशवाणी' बड़ी सरल और चित्ताकर्षिणी होती है। उसमें ग्रामसुधार-सम्बन्धी लेख प्रायः बहुत उपयोगी निकलते हैं। उसके वर्त्तमान नये सम्पादक पंडित देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' स्वयं प्रसिद्ध कथाकार और कवि हैं। उनकी देखरेख में 'बिजली' विशेष चमक उठी है।

मासिक पत्रों में 'बालक' का नाम सबसे पहले आता है। वह अठारह बरसों से लगातार बाल-साहित्य के विकास का परम प्रशंसनीय प्रयत्न करता आ रहा है। उसके सुसंपन्न संचालक और सम्पादक रायसाहब रामलोचनशरणजी बाल-साहित्य के मर्मज्ञ एवं अनुभवी स्रष्टा हैं। इधर सात बरसों से पंडित रामदहिन मिश्र काव्यतीर्थ का 'किशोर' भी हिन्दी-भाषी किशोरों में जागृति फैला रहा है। मिश्रजी के सम्पादन-कौशल से 'किशोर' ने हिन्दी-संसार में अच्छी प्रतिष्ठा पाई है। बालकों और किशोरों की प्रगति को सवेग और सतेज करने में 'बालक' और 'किशोर' समस्त हिन्दी-जगत् में अद्वितीय हैं। बिहार की साहित्यिक प्रगति को अखंड गति से अग्रसर करते रहने में 'बालक' ने जो तत्परता दिखाई और फिर 'किशोर' ने उसमें जो शक्ति-संचार किया, वह हमारे इतिहास में बड़े महत्त्व का अध्याय है। किन्तु, इतने पर भी प्रौढ़-साहित्य के उत्थान के लिए एक सुसम्पादित मासिक पत्र की आवश्यकता अत्यन्त अनिवार्य रूप से अनुभूत होती है।

'किसान' और 'गाँव' इस कृषि-प्रधान प्रान्त के उपयुक्त बड़े ही सुन्दर मासिक हैं; पर इधर इसके दर्शन न होने से पुरानी आशंका जाग उठती है। हाँ, दरभंगा-गोशाला से गोपालन-विद्या-मर्मज्ञ श्री धर्मलाल सिंह के सम्पादकत्व में 'नंदिनी' नामक पत्रिका नई निकली है, जो अपने विषय की हिन्दी में निराली चीज कही जा सकती है। उसके दो ही नये अंकों ने उसकी प्रगति की शुभ-सूचना दे दी है। गया का 'गोशुभचिन्तक' भी गोरक्षा-सम्बन्धी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य सुचारु रूप से कर रहा है।

इन सब पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त हाई-स्कूलों और कॉलेजों से निकलनेवाले मासिक और त्रैमासिक पत्रों में भी हिन्दी-विभाग की रचनाएँ देखने से पता लगता है कि अनेक होनहार लेखक और कवि भविष्य के लिए तैयार हो रहे हैं। कई उदीयमान युवक तो हमारे साहित्योद्यान के बड़े सुन्दर आशा-कुसुम हैं, जो अपने विद्यार्थी-जीवन के बाद प्रांत की लाज रखने में पूर्ण समर्थ प्रतीत होते हैं।

खेद है कि स्कूल-कालेजों के इन पत्रों की प्रगति पर हमारे प्रांत के पत्रकार कुछ भी ध्यान नहीं देते। इतना ही नहीं, अनेक हस्तलिखित कलापूर्ण पत्रिकाएँ भी निकलती हैं, जिन्हें हमारे पत्रकारों द्वारा यथोचित प्रोत्साहन मिलना चाहिए और उन्हें सुरक्षित रखने का उद्योग भी होना जरूरी है। पटना-सिटी में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का जो नया संग्रहालय (भारती-मन्दिर) स्थापित हुआ है, उसे इन सब सामग्रियों के संग्रह में तत्पर रहना चाहिए; क्योंकि वह समय आ रहा है जब इन चीजों की खोज और कद्र पूरी तरह होगी।

अन्त में, यह भी कहना ही पड़ता है कि हमारी पत्र-पत्रिकाओं में कई ऐसी भी हैं जो भाषा-भाव की शुद्धता पर विशेष ध्यान नहीं देतीं, यह चिन्ता का विषय है। सरकारी पत्रिकाएँ 'देहात' और 'रोशनी' तो भाषा के लिए अपना खास साँचा बना चुकी हैं, इसलिए उनके सौ खून माफ हैं!

प्रकाशन और साहित्यिक संस्थाएँ

बिहार के सुप्रसिद्ध प्रकाशकों में पुस्तक-भंडार (लहेरियासराय और पटना) तथा ग्रन्थमाला-कार्यालय (बाल-शिक्षा-समिति, पटना) ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। युद्ध-युग के पूर्व इनके द्वारा प्रभूत साहित्य-सर्जन हो चुका है और आधुनिक समय में भी इनके द्वारा साहित्य-निर्माण का कार्य सुव्यवस्थित रीति से हो रहा है, यद्यपि विषम परिस्थितियों के कारण उस कार्य की गति बहुत-कुछ शिथिल-सी जान पड़ती है। पुस्तक-भंडार से यों तो छोटी-बड़ी कई साहित्यिक पुस्तकें इधर भी निकली हैं; पर 'रामचरितमानस' का 'सिद्धान्त-तिलक' नामक सटीक संस्करण, तीन बड़े खंडों में, अतिशय महत्त्वशाली ग्रन्थ, प्रकाशित हुआ है। हिन्दी-साहित्य में वह एक नई चीज है। वहीं से प्रोफेसर हरिमोहन झा, एम्० ए० का 'भारतीय दर्शन-परिचय' नामक अपूर्व ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है, जिसके आठ खंडों में से दो खंड छपकर निकल चुके हैं। इधर ग्रन्थमाला-कार्यालय से पंडित रामदहिन मिश्रजी का रस-छन्द-अलंकार-सम्बन्धी बृहत् ग्रंथ 'काव्यालोक' प्रकाशित हो रहा है, जो अपने ढंग का अकेला होगा। मिश्रजी के साहित्यिक प्रकाशन ने भी बिहार की ओर से हिन्दी को कई अच्छी चीजें दी हैं। सूर्यपुरा का श्रीराजराजेश्वरी-साहित्य-मन्दिर, पटना-सिटी का भारती-मन्दिर और पाटलिपुत्र-प्रकाशन, भागलपुर का युगान्तर-साहित्य-मन्दिर, बाँकीपुर की हुंकार-पुस्तकमाला, छपरा का वाणी-मन्दिर, मुजफ्फरपुर का तारामंडल—ये सारी प्रकाशन-संस्थाएँ वर्त्तमान परिस्थिति से संघर्ष करती चल रही हैं। सबसे पुराना खड्गविलास प्रेस तो मानों शापग्रस्त हनुमान की तरह आत्मबल भूल गया है और विधि-विधानवश कोई जाम्बवान भी नजर नहीं आता। सूर्यपुरा का साहित्य-मन्दिर सबसे अधिक प्रगतिशील है;

किन्तु भागलपुर का साहित्य-मन्दिर संघर्ष में पड़कर श्रान्त हो गया। आरती-मन्दिर की जगमगाहट धीरे-धीरे बढ़ रही है, इधर कई नई पुस्तकें वहाँ से सुन्दर निकली हैं। पाटलिपुत्र-प्रकाशन एक नया काम कर रहा है। पं० गिरिधारी लाल शर्मा 'गर्ग' के सम्पादकत्व में वहाँ से जो विश्वदर्शन-पुस्तकमाला निकल रही है, वह एक अनोखी वस्तु है। हुंकार-पुस्तकमाला भी कविवर वियोगीजी के सम्पादकत्व में अच्छी चीजें तैयार कर रही है। नवशक्ति-प्रकाशन-मन्दिर की क्रियाशीलता में इधर परिस्थितिवश कुछ शिथिलता आ गई है; पर उसकी पुस्तकें बड़े महत्त्व की हैं। सुना है, 'योगी' भी धूनी जगा रहा है। कहीं आगामी वर्ष में भी युद्ध समाप्त न हुआ, तो इस समय भी प्रकाशन की जो प्रगति दीख पड़ती है, वह बहुत मंद पड़ जायगी। तो भी यह मानना पड़ेगा कि अन्य प्रान्तों की अपेक्षा बिहार में प्रकाशन की प्रगति संतोषप्रद नहीं है। पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की खपत का सबसे प्रसिद्ध क्षेत्र होने पर भी बिहार इस दिशा में अभी पिछड़ा ही हुआ है।

साहित्यिक संस्थाओं में मुजफ्फरपुर के सुहृद्-संघ का नाम सबसे पहले आता है; क्योंकि उसकी सजीवता के लक्षण स्पष्ट हैं। उसके उत्साही प्रधान मंत्री श्रीनीतीश्वर प्रसाद सिंह बड़े कर्मठ और उद्योगी हैं। बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपने पूर्व-मंत्री पं० छविनाथ पाण्डेय की अनुपस्थिति के कारण इधर दो साल से शिथिलप्राय हो गया था; पर श्री 'आजाद' जी ने स्थानापन्न मंत्री बनकर उसे बहुत-कुछ सँभाल लिया। सम्मेलन की रजत-जयंती अगले साल होनेवाली है, जिससे आशा होती है कि उसमें पुनः नवजीवन-संचार हो जायगा। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न है, यद्यपि सर्वप्रथम वही बिहार की साहित्यिक प्रगति का मूल-स्रोत रही। हाँ, वहाँ का श्री जैन-सिद्धान्त-भवन अब भी सजीव संस्था है।

प्रान्त-भर में जिला-साहित्य-सम्मेलन, साहित्य-परिषद्, युवक-संघ, सार्वजनिक पुस्तकालय, साहित्य-गोष्ठी आदि संस्थाएँ बड़ी लगन से काम कर रही हैं। शाहाबाद और सारन के जिला-सम्मेलन, मुँगेर की साहित्य-गोष्ठी, हाई-स्कूलों और कालेजों की साहित्य-परिषदें तथा अन्यान्य कई साहित्यिक संघ विशेष तत्परता से प्रगति-पथ पर बढ़ते जा रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहार का साहित्यिक प्रगति, कच्छपगति से ही सही, दृढ़ता और श्रद्धा के साथ लक्ष्य की ओर ही जा रही है। अनुकूल समय की प्रतीक्षा में वह हताश होकर रुकी नहीं है। इससे विश्वास होता है कि परिस्थितियों के सुधरते ही यह प्रगति तीव्रतम वेग से बढ़ चलेगी। तथास्तु।[1]

—साप्ताहिक 'हुंकार' (पटना); १५ अक्टूबर, १९४४ ई०

●

१. यह लेख जयपुर-यात्रा के समय मार्ग में ही लिखा गया था। इसमें और भी बहुत-सी बातें लिखने की इच्छा थी; पर अत्यंत शीघ्रता के कारण दिग्दर्शन-मात्र पर ही संतोष करना पड़ा।

—लेखक (१९४४ ई०)

[२]

साहित्यिक परीक्षाएँ

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं के अतिरिक्त देवघर के गोवर्द्धन-विद्यापीठ और गोरखपुर (गीता प्रेस) की रामायण-प्रसार-समिति की परीक्षाओं का बिहार में दिन-दिन प्रचार बढ़ रहा है। किन्तु, गोवर्द्धन-साहित्य-महाविद्यालय तथा राजेन्द्र-साहित्य महाविद्यालय (सेवदह, पटना) के अतिरिक्त साहित्य का अध्यापन, नियमित एवं सुव्यवस्थित रीति से, कहीं नहीं होता। नालन्दा-विद्यापीठ और लोकमान्य-समिति (छपरा) में भी हिन्दी की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है; पर इन संस्थाओं की इस दिशा में कैसी प्रगति है, इसका विवरण कहीं छपा नहीं। बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को अपने पटनावाले विशाल भवन में एक साहित्य-विद्यालय खोलकर इन साहित्यिक परीक्षाओं के लिए पढ़ाई का प्रबन्ध करना चाहिए। बिहार-विद्यापीठ का राष्ट्रीय शिक्षा-क्रम इस समय शासन-यंत्र द्वारा कीलित है। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा और मुजफ्फरपुर के सुहृद्-संघ को इसकी ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। जबतक प्रान्त के मुख्य-मुख्य केन्द्र-स्थलों अथवा प्रमुख साहित्यिक-संस्थाओं में साहित्य की समुचित शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध न होगा, तबतक इन परीक्षाओं की प्रगति संतोषप्रद नहीं हो सकती।

कॉलेजों के प्रोफेसरों की साहित्य-सेवा

बिहार के सभी कॉलेजों में हिन्दी-साहित्य की पढ़ाई होती है। एम्० ए० क्लास तो केवल पटना-कॉलेज में ही है, इसलिए उसकी पढ़ाई एकमात्र वहीं होती है। पटना, मुजफ्फरपुर, भागलपुर, दरभंगा, छपरा, आरा और गया के कॉलेजों में बी० ए० तक हिन्दी-साहित्य की उच्च शिक्षा दी जाती है। हमारे कॉलेजों में जो साहित्य-परिषदें हैं, उनके द्वारा साहित्यिक प्रगति को बल मिल रहा है। कॉलेजों के प्रोफेसर भी कई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कार्यों में दत्तचित्त हैं।

पटना-कॉलेज के डॉक्टर ईश्वरदत्त जी विद्यालंकार ने 'राष्ट्रलिपि के विधान में रोमन लिपि का स्थान' और 'लिपि-सुधार का प्रश्न' नामक पुस्तिकाएँ लिखकर वर्त्तमान लिपि-समस्या पर पांडित्यपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। उसी कॉलेज के प्रोफेसर श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने 'गुप्तजी के काव्य में कारुण्य की धारा' और 'हरिऔधजी का प्रियप्रवास' नामक समीक्षात्मक ग्रन्थों की रचना करके कॉलेज के छात्रों का बड़ा उपकार किया है। ब्रह्मचारी जी बिहार के कबीर 'दरियादास' के सम्बन्ध में घोर परिश्रमपूर्वक शोध-कार्य कर रहे हैं। जब-कभी उनकी सतत श्रमशीलता का शुभ परिणाम हिन्दी में प्रकट[1] होगा, बिहार की गौरव-वृद्धि ही होगी। उसी कॉलेज के प्रोफेसर जगन्नाथराय जी शर्मा भी गोस्वामी तुलसीदासजी के जगत्प्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य 'रामचरित-मानस' के सम्बन्ध में अनेक अनुसंधानात्मक कार्य कर रहे हैं। उनके गंभीर स्वाध्याय का परिणाम भी हिन्दी में जब प्रकाशित होगा तब बिहार

१. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से 'सन्त दरिया : एक अनुशीलन' ग्रन्थ प्रकाशित हो गया। —लेखक

की साहित्य-सेवा का अवश्य ही मान बढ़ेगा। वहीं के प्रोफेसर विश्वनाथ प्रसादजी भी उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'नजीर' की हिन्दू-संस्कृति-संबंधिनी रचनाओं का संकलन और सटिप्पण संपादन करके हिन्दी को एक अनूठी चीज देनेवाले हैं।

मिथिला-कालेज (दरभंगा) के प्रोफेसर जगन्नाथप्रसाद मिश्रजी तो बिहार-भर के प्रोफेसरों में सबसे बढ़े-चढ़े प्रगतिशील परिलक्षित होते हैं। उनके विविध-विषयक लेखों और भाषणों से पत्र-पत्रिकाओं के नियमित पाठक तथा साहित्यिक संस्थाओं के संचालक भलीभाँति परिचित हैं। वे जैसे अध्ययनशील हैं वैसे ही उद्भट लेखक और वक्ता भी। इन दो विपरीत गुणों का उनमें अपूर्व समावेश दीख पड़ता है।

जैन-कालेज (आरा) के प्रोफेसर भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' भक्ति-साहित्य-सागर के विलोडन में व्यस्त रहकर रत्नराशि निकालते ही रहते हैं। शीघ्र ही उनकी अनुभूति-शक्ति कोई अनमोल मोती देकर रहेगी।

गया-कालेज के प्रोफेसर शिवनन्दन प्रसादजी की कविताओं और समीक्षाओं से पाठक परिचित होंगे। भागलपुर-कालेज के प्रोफेसर माहेश्वरी सिंह 'महेश' तो सुपरिचित कवि और लेखक हैं। उनकी 'युगवाणी' और 'अनलवीणा' का नूतन क्रान्तिकारी स्वर काफी गूँज चुका है। हजारीबाग-कालेज के श्री परमेश्वरप्रसाद सिंह शर्मा छोटानागपुर के प्राचीन हिन्दी-कवियों और उनके ग्रन्थों की खोज कर रहे हैं।

मुजफ्फरपुर-कालेज के प्रोफेसर रामदीन पाण्डेयजी तो उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना, संस्कृतकाव्यानुवाद आदि के द्वारा हिन्दी-सेवा में श्लाघ्य रीति से तत्पर हैं। उनका 'ज्योत्स्ना' नाटक पुस्तक-भण्डार से प्रकाशित हुआ है और 'काव्य की उपेक्षिता यशोधरा' नामक आलोचनात्मक पुस्तक प्रयाग से निकली है। उनके कई ग्रन्थ अप्रकाशित पड़े हुए हैं। उसी कालेज के प्रोफेसर नवलकिशोर गौड़जी एकांकी नाटकों की रचना में विशेष अनुराग के साथ प्रवृत्त हैं। बी० एन्० कालेज (पटना) के प्रोफेसर केसरीकुमार सिंहजी की 'साकेत-समीक्षा' की प्रतीक्षा बड़ी उत्कंठा के साथ हो रही है।

हमारे कई कालेजों के प्रिंसिपल भी प्रसिद्ध साहित्य-सेवी हैं। राजेन्द्र कालेज के श्री मनोरंजन प्रसाद सिंह, जैन-कालेज के श्री बेनीमाधव अग्रवाल, मिथिला-कालेज के श्री विश्वमोहनकुमार सिंह, गया-कालेज के डाक्टर जनार्दन मिश्र, औरंगाबाद-कालेज के श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', मुंगेर-कालेज के श्री केशरीकिशोर शरण आदि की साहित्य-सेवा से पाठक परिचित हैं।

कालेजों के अँगरेजी-विभाग में हिन्दी के कई विद्वान अध्यापक हैं। पटना-कालेज में श्री दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, साइन्स-कालेज में प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र और प्रोफेसर अमरेन्द्र नारायण सिंह, बी० एन्०-कालेज (फिलॉसफी विभाग) में प्रोफेसर हरिमोहन झा, मिथिला कालेज में कविवर 'केसरी', भागलपुर-कालेज में प्रोफेसर रतनचन्द साहित्य-रत्न आदि मुख से अँगरेजी के और हृदय से हिन्दी के ही हैं।

इधर दो-तीन वर्षों से पटना विश्वविद्यालय ने हिन्दी के कुछ प्रोफेसरों को उच्च कक्षाओं के योग्य पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने में लगा दिया है। मैट्रिक-परीक्षा के हिन्दी

पाठ्य-ग्रन्थ विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं और आगे की ऊँची कक्षाओं के लिए तैयार हो रहे हैं।

इन सारी बातों पर दृष्टि रखते हुए हम कह सकते हैं कि हमारे कालेजों से भी बिहार की साहित्यिक-प्रगति प्रचुर शक्ति का संचय कर रही है।

ग्राम-साहित्य का उद्धार

बिहार की जनपदीय बोलियों में जो सरस करुण साहित्य बिखरा पड़ा है, उसके संकलन में भी बिहार के कई साहित्य-सेवी संलग्न हैं। श्रीरामइकबाल सिंह 'राकेश' ने मैथिली और भोजपुरी लोकगीतों का संग्रह तथा सविधि सम्पादन करने में बड़ा सराहनीय प्रयत्न किया है। उनके दो संग्रह निकल चुके हैं, एक प्रयाग के सम्मेलन से और दूसरा पटना के ग्रन्थमाला-कार्यालय से। उनके पास लोकगीतों का अति बृहत् संग्रह तैयार है; पर गुणग्राहक या चाहक कोई नहीं। मोतिहारी के पंडित गणेश चौबे ने भोजपुरी-ग्रामगीतों के अतिरिक्त लोकोक्तियों और मुहावरों तथा उपयोगी ग्रामीण-शब्दों का भी विशाल संग्रह तैयार कर लिया है; पर वे भी प्रकाशक की ताक में पोथा लिये बैठे हैं। शाहाबादी श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह का 'भोजपुरी लोकगीत में करुणरस' नामक सुन्दर ग्रन्थ भी प्रयाग के सम्मेलन से प्रकाशित हो रहा है। शाहाबाद के ठाकुर नन्दकिशोर सिंह ने भी बड़े परिश्रम से भोजपुरी गीतों और कहावतों का संग्रह किया है; किन्तु उनको भी कोई प्रकाशक नहीं मिलता। सारन जिले के सहुली-निवासी श्रीश्यामदेवनारायण जी (दीपाजी) ने भोजपुरी कहावतों का सुन्दर संग्रह तैयार किया है और उन्हें भी प्रकाशक की ही तलाश है।

इस प्रकार कई कर्मठ सज्जनों ने इस उपेक्षित-क्षेत्र में प्रशंसनीय परिश्रम करके ग्राम्य-साहित्य का संचार कर डाला है; पर उनका श्रम अभी सफल नहीं हुआ है। इस दिशा में प्रगति खूब हुई है, पर अभी ब्रह्मरसधारा को हम 'फल्गु' ही कह सकते हैं। कब अन्तःसलिला की रसधारा सर्वजन-सुलभ होगी, ईश्वर ही जानता होगा।

कुछ अन्य साहित्यिक संस्थाएँ

बिहार के यशस्वी तरुण श्री हरेन्द्रदेवनारायण, बी० ए० ने भागलपुर में साहित्य-संघ नामक एक नई प्रकाशन-संस्था खोली है, जिसके द्वारा शान्ति-निकेतन के पण्डित हजारी प्रसाद जी द्विवेदी की 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' और प्रिंसिपल 'द्विज' जी की 'काशी-प्रवास' नामक सुन्दर पुस्तकें तथा अन्य कई कविता-संग्रह और उपन्यास शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले हैं। छपरा के 'साहित्य-सेवक-संघ' से श्रीराहुलजी की कई पुस्तकें निकल चुकी हैं और कविवर वियोगीजी का एक बड़ा उपन्यास शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है। श्रीरामवरण सिंह जी 'सारथी' के उद्योग से पटना-सिटी में एक साहित्य-मन्दिर स्थापित है, जिसमें नवयुग साहित्य-संघ की स्थापना करके उपर्युक्त साहित्यिक परीक्षाओं के परीक्षार्थियों के हितार्थ साहित्यिक व्याख्यान-माला की व्यवस्था हो रही है। सम्भवतः, उन परीक्षार्थियों के लिए

साहित्य-महाविद्यालय भी खुलनेवाला है। पटना की बिहार-हिन्दी-प्रचारिणी सभा अपने कर्मशील मंत्री श्रीपारसनाथ सिंह की कार्यदक्षता से हिन्दी-हिन्दुस्तान की विषम समस्या के समाधान का प्रयत्न करके अपने उद्देश्य में बहुत-कुछ सफल हुई है। †

—साप्ताहिक 'हुङ्कार' (पटना); २२ अक्तूबर, १६४४ ई०

•

विजय-यात्रा

अथ विजयदशम्यामाश्विने शुक्लपक्षे
दशमुखनिधनाय प्रस्थितो रामचन्द्रः।
द्विरदविधुमहाब्जैर्यूथनाथैस्तथान्यैः
कपिभिरपरिमाणैर्व्याप्तभूदिक्खचक्रः ॥*

दसहरे के दिन, भगवान रामचन्द्र ने, लंकागढ़ फतह करने के लिए, अनगिनत बन्दर-भालुओं की फौज के साथ, कूच किया था। जिस समय कूच का नगाड़ा बजा—वहाँ कहाँ नगाड़ा था? केवल—"केहरि-नाद भालु-कपि करहीं, डगमगाहिं दिग्गज चिक्करहीं"—उस समय का दृश्य जब कल्पना करके ध्यान में लाया जाता है, तो सचमुच गर्व से छाती फूल उठती है। वैसी विजय-यात्रा संसार के इतिहास में कहीं देखने में नहीं आती। राम-लक्ष्मण के मन में तो प्रतिहिंसा का भाव था ही—वह तो स्वाभाविक है, छोटे-से-छोटे बन्दर-भालू के मन में भी यही उमंग थी कि रावण मिलता तो उसे खटमल की तरह मसल डालते—"कटकटहिं मर्कट विकट भट बहु कोटि-कोटिन्ह धावहीं।" जहाँ तक मैंने पढ़ा, देखा, ढूँढ़ा, सोचा और समझा है, मैं बड़े जोर के साथ कह सकता हूँ कि हृदय के अन्दर इतनी बड़ी प्रतिहिंसा की भयंकर भावना लेकर पृथ्वी के किसी वीर योद्धा ने कभी कहीं किसी शत्रु पर धावा नहीं किया था। मेरी समझ में इसका एक ही प्रबल-प्रधान कारण जान पड़ता है और वह है केवल सीता-हरण तथा सीता का उद्धार करने की उत्कट अभिलाषा। कुछ इसी प्रकार की भीषण प्रतिहिंसा महाभारत में भीम और अर्जुन के हृदय में दीख पड़ती है, जो द्रौपदी-चीरहरण के कारण ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ी थी। किन्तु, राम-लक्ष्मण की प्रतिहिंसा उससे भी प्रबल और कठोर इसलिए है कि द्रौपदी तो सदा भीमार्जुन की आँखों के सामने ही थी; पर सीता बिल्कुल आँखों से ओझल हो गई थीं और महावीर हनुमान द्वारा उनकी असह्य यातनाओं का पता भी लग चुका था। उस प्राणों से भी अधिक प्यारी सीता को नितान्त अनाथावस्था में बन्दी समझकर भगवान रामचन्द्र का हृदय

---

† इस लेख के शेष दो खण्ड (३—४) नहीं मिल सके जो 'उषा' (गया) और 'बिजली' (पटना) में छपे थे। वे अंक हमारे संग्रह में थे, पर नष्ट हो गये; अन्यत्र भी कहीं नहीं मिले।—लेखक

* हनुमन्नाटक, अंक ७

जैसी प्रतिहिंसा की ज्वाला में जल रहा था, वैसी प्रतिहिंसा की कल्पना तबतक नहीं की जा सकती जबतक परिस्थिति ठीक वैसी ही न हो। उधर छाती के भीतर प्रतिहिंसा-ज्वालामुखी का अतिशय भयंकर प्रस्फोट था, इधर भुजाओं के अन्दर राक्षस-कुल का विध्वंस करनेवाली अजेय शक्ति का प्रलयंकर तूफ़ान प्रतिक्षण उठ रहा था। भला, अथाह बल की ऐसी तीक्ष्ण अमिट खुजली से भरी हुई फड़फड़ाती भुजाओं के साथ संसार के किस वीर ने विजय-यात्रा की थी? भीमार्जुन के हृदय में प्रतिहिंसा के साथ-साथ राज्य का लोभ भी वर्त्तमान था; पर राम-लक्ष्मण ने लंकाराज्याधिकार पाने का कभी स्वप्न भी न देखा। उनमें केवल सीता के उद्धार और सकुल रावण के संहार की ही प्रबल भावना थी। वे राज्य नहीं चाहते थे। पराजय की आशंका भी कभी उनके मन में उत्पन्न न होने पाई थी। उनमें तो एकान्त भाव से दृढ़ आत्मविश्वास भरा हुआ था कि सीता का उद्धार और रावण का समूल संहार करके ही लौटेंगे। विजयोल्लास उनकी नस-नस में उमड़ रहा था। उन्हें अपने बाहु-बल का पूरा और पक्का भरोसा था। इसीलिए, उनकी विजय-यात्रा संसार के इतिहास में बिल्कुल बेजोड़ है—लासानी है। किन्तु, इससे एक बात सिद्ध होती नजर आती है। वह यह है कि जिसके हृदय में प्रतिहिंसा का भाव जितना ही जबरदस्त होगा वह उतनी ही प्रचण्डता के साथ अपने शत्रु को त्रस्त और ध्वस्त कर सकेगा। जान पड़ता है कि जब तक प्रतिहिंसा का जबरदस्त भाव काफी जोर नहीं पकड़ता, तबतक वास्तविक पुरुषत्व उभड़ने नहीं पाता—हृदय के अन्दर विप्लव की आग नहीं धधकती—मस्तिष्क में विद्रोह का तूफान नहीं उठता—आँखों से निष्ठुर क्रान्ति की चिनगारियाँ नहीं निकलतीं। सम्भवतः प्रतिहिंसा विना वीरता निर्जीव है। पुरुषत्व को भड़कानेवाली प्रतिहिंसा तबतक जागती भी नहीं, जबतक हृदय में अटल साहस और धैर्य, चित्त में अविचल शान्ति और स्थिरता, आत्मा में शक्ति और तेजस्विता न हो। राम-लक्ष्मण में ये सभी बातें भरपूर थीं—बल्कि उनमें एक बात और भी अधिक थी—सोने में सुगन्ध। उसे चाहे अतुल बाहु-बल कहिए अथवा प्रचण्ड शस्त्र-बल।

अच्छा, अब भगवान रामचन्द्र की विजय-यात्रा का गौरव तो देखिए। उनकी सेना के विषय में शत्रु-पक्ष का जासूस-दूत (रावण से) कहता है—

अस मैं स्रवन सुना दसकन्धर। पदुम अठारह जूथप बन्दर॥
राम-कृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन-समान त्रैलोकहिं गनहीं॥
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतइ रन माहीं॥
परम क्रोध मींजहिं सब हाथा। आयसु पै न देहिं रघुनाथा॥
सोषहिं सिन्धु सहित झष ब्याला। पूरहि नतु भरि कुधर बिसाला॥
मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा। ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा॥
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहतहहिं लंका॥

ऐसी विशाल सेना के साथ जब भगवान रामचन्द्र ने 'विजय-यात्रा की, तो— "चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे!" अपार सेना के भार से पृथ्वी काँप उठी, गर्द उड़ने से सूरज छिप गया, बन्दर-भालुओं के कटकटाने से आकाश-मण्डल में विकराल शब्द भर गया, लड़ने के लिए अधीर वीरों की उमंग-भरी उछल-कूद से वायु की गति मन्द हो गई। इतना ही नहीं—

सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहिं मोहई।
गहि दसन पुनि-पुनि कमठ-पृष्ठ कठोर सो किमि सोहई।
रघुबीर-रुचिर-पयान-प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ-खर्पर सर्पराज सो लिखत अविचल पावनी॥

गुसांईं जी का यह विजय-यात्रा-वर्णन हनुमानजी की इस उक्ति के आधार पर लिखा गया है—

नृपतिमुकुटरत्नत्वत्प्रयाणप्रशस्तिं
प्लवगबलनिमज्जद्भूभराक्रान्तदेहः।
लिखति दशनटंकैरुत्पतद्भिः पतद्भि—
र्जरठकमठभर्तुः खर्परे सर्पराजः॥*

रामचन्द्र जी से हनुमानजी कहते हैं कि हे भूपशिरोमणि! आपकी सेना का भार शेषनाग भी नहीं सह सके हैं। वीर बन्दर-भालुओं के आकाश में उछलने और पृथ्वी पर कूदने के कारण शेषनाग बार-बार लच जाते हैं—नहीं, असह्य भार की पीड़ा से मूर्छित-से हो जाते हैं। जब-जब मूर्च्छा के झोंके से उनकी गर्दन लचती है तब-तब कच्छपराज की कठोर पीठ को दाँतों से पकड़ लेते हैं, और इतने जोर से पकड़ते हैं कि उस कठिन-कठोर वज्र-पीठ पर उनके चोखे दाँतों से अमिट रेखाएँ खिंच जाती हैं। सो, मालूम होता है कि शेषनाग आपकी इस अद्वितीय विजय-यात्रा का अमर विवरण लिख रहे हैं! (राजाओं की चढ़ाइयों के विवरण अब भी शिला-लेख के रूप में पृथ्वी के अन्दर गड़े पाये जाते हैं। भगवान रामचन्द्र की लंका-चढ़ाई का विवरण भी कमठपीठ-रूपी शिला पर पृथ्वी के नीचे गड़ा पड़ा है, जिसको सहस्रमुखोंवाले शेषनाग ने अपने बजरीले-नुकीले दाँतों की कलम से अमिट अक्षरों में लिखा है।) कैसी सुन्दर भावपूर्ण उक्ति है! कितना ऊँचा भाव है? सचमुच भगवान रामचन्द्र जैसे मर्यादा-पुरुषोत्तम वीर-पुङ्गव की अतुलनीय विजय-यात्रा का अक्षय रेकर्ड तैयार करने के लिए ऐसे ही कागज-कलम चाहिए भी!

—मासिक 'राम' (काशी); विजयाङ्क, विक्रम-संवत् १९८५

●

*हनुमन्नाटक अंक ७, श्लोक ६

लक्ष्मी-पूजा

दीपावली लक्ष्मी-पूजा के लिए प्रसिद्ध पर्व है। यद्यपि यह केवल व्यवसाय-प्रधान वैश्य-जाति का पर्व कहलाता है, तथापि हिन्दू-मात्र को अपने-अपने घर में लक्ष्मी-पूजा करनी चाहिए, ऐसा उपदेश हमारे मान्य धर्मग्रन्थों का है। किन्तु, इस पवित्र शास्त्रादेश का परिपालन केवल व्यापारी ही करते हैं, हिन्दू गृहस्थमात्र नहीं। हिन्दू-गृहस्थों में सैकड़े दस-बीस ही अपने घर में विधिवत् लक्ष्मी-पूजा श्रद्धापूर्वक करते होंगे। अधिकतर दीप-दान मात्र से ही लोग लक्ष्मीजी को फुसला लेते हैं। यह आलस्यपूर्ण प्रवृत्ति और उदासीन मनोवृत्ति धन-धान्याभिलाषी सद्गृहस्थों के लिए श्रेयस्कर नहीं है।

सरस्वती-पूजा से बंगाल को विद्या-वैभव मिला है। गणेश-पूजा से महाराष्ट्र को बुद्धि-बल प्राप्त हुआ है। लक्ष्मी-पूजा से व्यापारी-वर्ग को पर्याप्त सम्पदा मिली है। प्रत्येक गृहस्थ यदि लक्ष्मी-पूजा का व्रत निबाहता तो आर्थिक स्थिति में अवश्य सुधार होता। श्रद्धा और निष्ठा कभी निष्फल नहीं होतीं।

बिहार में भी लक्ष्मी-पूजा, सरस्वती-पूजा आदि का सार्वजनिक रूप से प्रचार हो, तो कल्याण ही होगा। लक्ष्मी-पूजा तो भगवती लक्ष्मीदेवी की प्रसन्नता के लिए ही की जाती है। लक्ष्मी तभी प्रसन्न होती हैं जब लक्ष्मी का सदुपयोग हो। इसीलिए, हमारे धर्मग्रन्थ स्पष्ट बतलाते हैं कि धन की तीन गतियों (दान, भोग और नाश) में दान ही सर्वप्रधान है। दान के भी तीन प्रकार कहे गये हैं—सात्विक, राजस और तामस। वास्तव में सात्विक दान से ही लक्ष्मी सन्तुष्ट होती हैं! सात्विक दान से ही धन का सदुपयोग होता है।

गीता में भगवान ने कहा है कि कर्त्तव्य समझकर, देश-काल-पात्रादि का ठीक विचार करके, अनुपकारी को जो दान दिया जाता है वही सात्विक दान है। महाभारत में भी उन्होंने ही युधिष्ठिर से कहा है कि दरिद्रों या असहायों को ही दान देना चाहिए, समर्थों को नहीं; क्योंकि रोगी के लिए ही औषध और पथ्य की आवश्यकता है—नीरोग के लिए नहीं।

इस प्रकार के आदेशों के रहते हुए भी हमारे देश के वे ही दानी, जो दीपावली में लक्ष्मी-पूजा करके लक्ष्मी की कृपा और प्रसन्नता की आशा-अभिलाषा करते हैं, अधिकतर अपने पारलौकिक कल्याण की भावना से ही दान किया करते हैं। वे देश, काल, पात्र का विचार बहुत कम करते हैं। यदि वे देश-काल-पात्रादि का ठीक विचार रखते, तो केवल उन नगरों में ही बड़े-बड़े मन्दिर आदि नहीं बनवाते जिनमें पहले से ही अनेक मन्दिर आदि बने हुए हैं। काशी, अयोध्या, मथुरा आदि अनेक तीर्थ-नगरों में प्राचीन प्रसिद्ध दर्शनीय मन्दिरों के रहते हुए भी बहुत-से विशाल मन्दिर बनते चले जा रहे हैं। किन्तु, गाँवों में न कोई दानी कभी मन्दिर बनवाता है, न कोई पक्का कुआँ-तालाब।

गाँव में अच्छे पक्के कुओं की, अस्पतालों और स्कूलों की, अच्छे तालाबों और मातृमन्दिरों की, पशुचिकित्सालयों और दातव्य औषधालयों की, अनाथालयों और

विधवाश्रमों की अनिवार्य आवश्यकता है। सौ-पचास गाँवों के मण्डल में किसी उपयुक्त केन्द्र-स्थान पर ऐसी संस्थाओं की सख्त जरूरत है। उनसे बहुत-से दीन-दुखियों का असीम उपकार हो सकता है; किन्तु हमारे लक्ष्मीवानों की दृष्टि में मन्दिर और धर्मशाला के सामने अस्पताल, पुस्तकालय, विद्यालय आदि का कोई महत्त्व नहीं है।

गाँवों के भी अधिकांश धनी मन्दिर-निर्माण को ही सबसे बड़ा पुण्य समझते हैं। उन्हें यह सूझता ही नहीं कि गाँवों में किन चीजों का अभाव है।

केवल अपनी ही मुक्ति और सद्‌गति का ध्यान रखनेवाले दानी सच्चे लक्ष्मी-पूजक नहीं हैं। केवल दीवाली के दिन लड्डुओं का भोग पाकर लक्ष्मी प्रसन्न नहीं हो सकतीं। अपने देश की दशा और काल की गति तथा उपयुक्त पात्र एवं स्थान का ध्यान रखकर जो दानी सच्चे मन से देश-काल की आवश्यकता-पूर्त्ति करेंगे, स्वदेश और युग की माँग पूरी करेंगे, वे ही असल लक्ष्मी-पूजक कहलायेंगे।

इस समय विश्ववन्द्य महात्मा गान्धी का रचनात्मक कार्यक्रम हमारे सामने है? उससे गाँवों के देश भारत का अमित हित हो सकता है। लक्ष्मी-पात्रों को चाहिए कि उस कार्यक्रम-कल्पद्रुम को तन-मन-धन से सींचे। इसी से इस युग में सच्ची लक्ष्मी-पूजा होगी। इसी से गाँव-गाँव में, भारत-माता की नस-नस में, नई शक्ति का संचार होगा। तथास्तु!

—साप्ताहिक 'तिरहुत-समाचार' (मुजफ्फरपुर); वर्ष ३७, अङ्क ३८ (सन् १९४५ ई०)

•

तीर्थ-रेणु

गुरु और गोविन्द दोनों सामने खड़े हैं। किसे प्रणाम करूँ? गुरु को ही करूँगा; क्योंकि गोविन्द से उन्होंने ही परिचय कराया। —कबीरदास

रावण ने रावण को मारा, राम ने नहीं। अपने शत्रु और मित्र को तू अपने में क्यों नहीं देखता? जो तू देखता है, उसे तो अदेख कर देता है, और जो नहीं देखता उसमें विश्वास करता है। यह अज्ञान की प्रबलता है कि पानी को प्यास लगी है।

—तुलसीदास

जब मैं गृहस्थ था, पेट के लिए मारा-मारा फिरता था, तो भी पेट न भरता था; जब गृहत्यागी होकर ईश्वर की शरण में आ गया, तब देखा कि तरह तरह के पकवान हाजिर हैं। —पलटूदास

दुनिया की हाट में राम-नाम का सौदा सबसे बढ़िया है। लोक-परलोक देकर जो चाहे खरीद सकता है। —मलूकदास

ईश्वर-प्राप्ति के दरिया में किसी की किश्ती पार न जा सकी। इस भँवर (भौंर) में हजारों किश्तियाँ डूब गईं, जिनका एक तख्ता भी किनारे पर नजर न आया, अगर तुम चाहो कि इस राह का अंत पावें, तो पहले लौट आनेवाले घोड़े को लँगड़ा कर दो।

—शेखसादी

संसार में दो चीजें हमेशा याद रखने लायक हैं—परमेश्वर और मृत्यु। जो इन्हें नहीं भूलता, वह कभी अपने कर्त्तव्य में नहीं चूकता। —लुकमान हकीम

रोज सोने से पहले तीन बातों का हिसाब कर लो—आज हमसे कोई उत्तम काम बन पड़ा या नहीं, आज मन-वचन-कर्म से हमने कोई पाप तो नहीं किया, करने योग्य कोई काम छूट तो नहीं गया? —अफलातून हकीम

प्रेम ही संसार में प्रबल शक्ति है। फिर भी, उसके ऐसा नम्र कोई नहीं। सत्य और प्रेम एक ही सिक्के के दो चेहरे हैं। —महात्मा गाँधी

आज तक जो कुछ मैंने किया अथवा भविष्य में करने की आशा है, वह केवल मेरी माता की पवित्र शिक्षा का फल है। —नेपोलियन

जिस समय स्नेहमयी माता अपने प्यारे बच्चे को गोद में लेकर बैठती है, उस समय की उसकी स्नेह-स्निग्ध दृष्टि का वास्तविक चित्र अंकित करने में संसार का कौन कुशल चित्रकार समर्थ है! —किंग्सले

कवि, दार्शनिक और सन्त के लिए संसार की सभी चीजें पवित्र हैं—सभी बात उपदेश-गर्भित हैं—सभी दिन पुण्य-काल हैं—सभी मनुष्य देवता हैं। —एमसन

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता); कार्त्तिक, संवत् १९८२ वि०

●

उचित उपदेश

धर्म और अधर्म क्या है?

संसार-भर का उपकार और कल्याण करनेवाला जो सच्चा रास्ता है, वही है धर्म। धर्म की जड़ है—दया। धर्म के पेड़ में मीठा फल फलता है आनन्द। जो पतित होने से बचाता है—वही है धर्म। जो आत्मा को संसार के बोझ से हल्का करे, वही है धर्म। जिसके करने से चित्त शुद्ध और प्रसन्न हो, वही है धर्म। सचाई, क्षमा, शांति, प्रेम, अहिंसा, सन्तोष, साहस, वीरता, स्वच्छता, सुशीलता, कोमलता, नम्रता और उदारता—इन गुणों को एक साथ सानकर (मिला-जुलाकर) जो बने, वही है—धर्म।

जिसमें कायरता भरी हुई हो, वही है अधर्म। जिसको पकड़ते ही आदमी नीचे गिर जाय, वही है—अधर्म। जिसका सहारा लेने से आत्मा अथाह समुद्र के तूफान में

पड़ जाय, वही है—अधर्म। अन्याय के घर में जिसका अड्डा हो, वही है अधर्म। चिन्ता और अशान्ति—इन दोनों का जो घर भरे, वही है—अधर्म। अज्ञान जिसका भोजन है, क्षोभ जिसका सिंगार है, झूठ जिसका हथियार है, पाखण्ड जिसकी सुन्दरता है, घमण्ड जिसकी जागीर है, वही है—अधर्म। क्रोध, पछतावा, मोह, दुःख, कपट और डाह के हवाले जो सौंपे, वही है—अधर्म। वैर-फूट की जो दूकान करे, वही है—अधर्म।

तपस्या क्या है ?

मन से, वचन से, या शरीर से किसी जीव को किसी तरह की कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचाने का नाम है—तपस्या। कर्म के कड़े बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए कोशिश करने को ही कहते हैं—तपस्या। अपने मन की इच्छाओं को उचित सीमा से तनिक भी बाहर न जाने देकर स्वार्थ को छोड़ते जाना ही 'तपस्या' है। हृदय के भावों को सँवारनेवाली और आत्मा के श्रेष्ठ ज्ञान को सिखलानेवाली विद्या में प्रेम करना ही 'तपस्या' है। पाप-ताप को भस्म करनेवाली दिव्य ज्वाला की आहुति है—'तपस्या'।

हिंसा क्या है ?

मन में छल रखकर धोखे के साथ झूठी बातें करते जाना 'हिंसा' है। विना मतलब किसी की शिकायत करना, दूसरे की बुराई ताकना, विपत्ति का मुँह देखते ही धीरज का पल्ला छोड़कर चिन्ता के चपेट में पड़ जाना, दुनिया के दुःखों से दुःखी होकर आत्मा को खेद और ग्लानि में डुबाना, थोड़े ही सुख में इतराना, संसार के आनन्द में मतवाला होकर परमेश्वर को भूल जाना, मुँह से घिनौनी बातें काढ़ना, समय को व्यर्थ ही बिताना, अनीति देखकर हर्षित होना, जगत के जंजाल में जकड़ कर आत्मा की यथोचित उन्नति न करना—यही सब असली हिंसा है। इन्द्रियों के वशीभूत होकर परमार्थ को भूल जाना भारी हिंसा है। सृष्टि के किसी जीव का अनादर करना और उसे तुच्छ समझना भी एक नम्बर की हिंसा है।

उपवास से क्या लाभ ?

अजीर्ण (बदहजमी) इत्यादि डरावने रोगों का नाश करनेवाला उपाय है—उपवास। स्वास्थ्य (तन्दुरुस्ती) को ठीक रखने का साधन है—उपवास। भोजन के सच्चे स्वाद में रुचि को अधिक बढ़ानेवाला है—उपवास। बच्चे को दूध पिलानेवाली माता को उपवास नहीं करना चाहिए। गर्भवती स्त्री, बहुत दिन के रोगी आदमी को उपवास नहीं करना चाहिए। उपवास के बाद, एक बार हल्का (दूध, दही, फल) भोजन करना चाहिए।

पुण्य और पाप क्या है ?

भूखे को अन्नदान देना, प्यासे को अच्छा पानी पिलाना, दरिद्र की दुःख-भरी बातें सुनकर उसे यथाशक्ति सहायता देना, मूर्ख को ज्ञान-दान देना, अबला पर अत्याचार

करनेवाले को दण्ड देना, अवसर पड़े पर नीच-ऊँच सबकी सेवा करना, धूर्त्त को कड़ी कनैठी देना, दुष्टों को कुकर्मों का कड़वा फल खूब चखाना, किसी दशा में अपना अधिकार न छोड़ना, झगड़े की झंझट में द्रव्य की हिंसा न करना, व्याकुल को चेतावनी देना, यही सब कहलाता है—'पुण्य'।

अन्धे (गुमराह) को रास्ता नहीं बतलाना 'पाप' है। अपना कर्त्तव्य भूल जाना और जीवन के उद्देश्य को न समझ रखना 'पाप' है। सेवा करने में कोताही करना 'पाप' है। गिरते हुए को नहीं सँभालना 'पाप' है। किसी के दुःख में हँसना 'पाप' है। बड़ों की आज्ञा न मानना और उनका आदर न करना 'पाप' है। डरपोक बने रहना 'पाप' है। किसी की चीज चुराना 'पाप' है। दूसरे की चिट्ठी चुपके-से पढ़ लेना 'पाप' है। निर्दय हो जाना 'महापाप' है। विश्वासघात करना, नेकी के बदले बदी करना, गो-ब्राह्मण-देवता का अपमान करना और चुगली खाना 'महापाप' है।

ज्ञानी कौन है ?

जो परमात्मा को ढूँढ़ने में लगा रहे, वही ज्ञानी। जिसका चित्त शुद्ध है, वही ज्ञानी। जिसका निर्मल जीवन आदर्श-योग्य हो, वही ज्ञानी। जो निजानन्दरसलीन रहे, वही ज्ञानी। जो जितेन्द्रिय होकर धर्मशास्त्र पढ़ें—वही है 'ज्ञानी'। जो सत्य और न्याय का कट्टर पक्षपाती हो, वही है ज्ञानी। जो जीवमात्र को अपने समान समझे और सबके साथ समान बर्त्ताव निबाहे, वही 'ज्ञानी'। जो किसी धर्म की निन्दा नहीं करे, वही 'ज्ञानी'। जो सबल होकर निर्बल से न भिड़े, जो पंच की कही माने, जो अवसर पर न चूके, बस वही 'ज्ञानी'। 'गीता' पढ़े, सो 'ज्ञानी'।

सफलता क्या है ?

जीता बचे रहने के लिए अन्न खाना, पानी पीना और कुछ सोना भी जरूरी है। मगर इसका मतलब यह कभी नहीं कि खाने-पीने-सोने और गप्पें मारने ही के लिए खाओ, खाने के लिए न जीयो, यह बात गाँठ पारने योग्य है। मनुष्य का शरीर मिला है ढूँढ़ने के लिए सफलता। अपने जीवन को ऐसे साँचे में ढालना कि दूसरे भी देखादेखी अपने को सुधार सकें और अपने भी यश का अमृत पीकर संसार में अमर हो जायँ, यही कहलाती है सच्ची सफलता। सफलता-रानी के महल का बड़ा फाटक है—'काम में तबतक लगे रहना जबतक वह पूरे तौर से सिद्ध न हो जाय'। सफलता चाहनेवालों को चेतावनी है कि 'किसी काम को अधूरा मत छोड़ो'—अधबिच में छोड़ देना नीचता है—अन्त तक कोशिश लड़ाना चातुरी है। अभ्यास के पेड़ का मीठा फल है—'सफलता'!

—मासिक 'गृहस्थ' (गया); माघ, संवत् १९७३ वि० (सन् १९१६ ई०)

नीतिज्ञों के नैतिक उपदेश

We fall to rise, are baffled to fight better,
Sleep to wake.

—*Browning*

स्वर्ग को कौन प्राप्त करता है ?

जो अपने आरब्ध कार्य को सोत्साह सम्पन्न करे। जो कर्मवीर और सहिष्णु है। जिसके हृदय की आराध्य देवी कमनीय करुणा है। जो असंख्य प्रजा का नहीं, किन्तु अपनी इन्द्रियों का स्वामी हो। जिसके एक हाथ में अहिंसा की ध्वजा है और दूसरे हाथ में ऐसा धनकोष जो केवल वास्तविक दुखियों को दुःख से उन्मुक्त कराने में उत्सर्ग किया जाता है।

देह, मन, आत्मा और बुद्धि की शुद्धि कैसे होती है ?

निर्मल जल से शरीर की, सत्य से मन की, ब्रह्मज्ञान और तपस्या से आत्मा की और वेदान्त-विचार से बुद्धि की शुद्धि होती है। भगवान का दिव्य रूप देखने से आँख की, भगवान के यश-कीर्त्तन से जिह्वा की, भगवान का कीर्त्ति-गान सुनने से कर्णपुट की, प्रेम-प्रफुल्ल-पुलक से शरीर की, तीर्थयात्रा से पैरों की, सात्त्विक दान से हाथ की और निष्कलंक मनोरथ से हृदय की शुद्धि होती है।

कौन गृहस्थ विना जप-तप के मोक्ष पाता है ?

जो सचाई और सदुद्योग से उपार्जित धन को अभ्यागतों के आदर-सत्कार में लगाता है। जो गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा में सच्चे मन से लगा रहता है। जो परिमित-व्यया होकर यथाशक्ति उचित दान (सत्पात्र को) देता है। जो पितृ-पूजा-रत और यथा-लाभ सन्तुष्ट है। जो शान्तिपूर्ण परिवार का सुशासक, धर्मनिष्ठ, विद्यानुरागी और आडम्बर-शून्य है! (यही क्या एक गृहस्थ के लिए तपस्या से कम है ?)

धनाभिलाषी क्या त्यागे ?

सबसे पहले दीर्घसूत्रता, तब समय का व्यर्थ नाश करना, फिर पराये का अभ्युदय देखकर जलना और आलस्य से भरी हुई विलासिता। (किन्तु निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध और अधीरता को विना त्यागे तो धन का सपना भी मत देखो।)

विद्या, धन और बल का फल क्या है ?

विद्या का फल है ज्ञान और नम्रता। धन का फल यज्ञ करना और दान देना। (किन्तु इस युग में तो समाज का सुधार और भारत का उद्धार करने के लिए विद्या और धन से अनाथालय, पुस्तकालय और विद्यालय खोलो, मोहान्धों की आँखें खोलो, दिल

की गाँठ खोलो, उन्नति का ताला खोलो, मोहनिद्रा के कपाट खोलो, व्यवसाय की गठरी खोलो, व्यापार-वृद्धि का द्वार खोलो, एकता का शरबत घोलो. देश की जय बोलो।) और, बल का फल है निर्बलों और सज्जनों की रक्षा करना और आततायियों को दण्ड देना।

क्षण और कण किसके लिए अमूल्य हैं?

विद्यार्थी के लिए क्षण अमूल्य है और अर्थार्थी के लिए कण। क्षण-क्षण में विद्या-उपार्जन करे और कण-कण से धन। समय का आदर करे विद्यार्थी और पैसे का धनार्थी।

शोभा कहाँ रहती है?

राजा में क्षमा बनकर, तपस्वी में तेज बनकर, पुरुष में पराक्रम बनकर, नारी में सतीत्व बनकर, फूल में सुगन्ध बनकर, फल में सरसता बनकर, रत्न में कान्ति बनकर, वेश्या में भावभंगिमा बनकर, सरोवर में सरोजिनी बनकर, गायक में तान बनकर, धनिक में दानशक्ति बनकर, विद्वान में वाग्मिता बनकर, मूर्खों में मौन बनकर, घोड़े में वेग बनकर, चन्द्रमा में अमृत बनकर, नदी में तरंग बनकर, वसन्त में कोयल बनकर, पावस में पपीहा बनकर और मेघ में बिजली बनकर 'शोभा' रहती है।

छिपे-छिपे डाका मारनेवाले लुटेरे कौन हैं?

बुढ़ापा, जो रूप को लूटकर बल को क्षीण कर देता है। आशा, जो धैर्य्य को लूटती कम, पर कूटती खूब है। मृत्यु, जो प्रार्थना करने पर एक टका भी नहीं लेती और विना दिये ही अचानक सर्वस्व छीन ले जाती है।

कामासक्ति, जो लज्जा को लूटती और अधम-सेवा, जो उत्तम स्वभाव को लूटती है—दोनों की दोनों उसी पर टूटती हैं जिसकी हिम्मत टूटती और किस्मत फूटती है। लोभ लूटता धर्म को, क्रोध लूटता धन को, कुसंग लूटता ज्ञान को, अभिमान लूटता विद्वान को।

जीतता कौन है?

सुवक्ता विद्वान सभा जीतता है। तेज और मजबूत सवारीवाला रास्ता जीतता है। जितेन्द्रिय स्वर्ग जीतता है। मधुरभाषी लोक जीतता है। जिसके घर में दुधार गाय-भैंस हैं, उसने सारी भोजन-तृष्णाएँ जीत लीं। शीलवान सबको जीतता है।[1]

—मासिक 'जैसवाल जैन' (आगरा); भाद्रपद-शुक्ल २, संवत् १९७६ वि०

१ इस लेख का उत्तरार्द्ध नहीं मिल सका। पत्र का वह अंक नष्ट हो गया और ढूँढ़ने पर भी भी न मिला।—ले०

राम-भक्ति

आजकल राम-भक्ति बहुत सस्ती हो गई है। सैकड़ों पाप करते रहने पर भी लोग रामभक्त का बाना धारण किये फिरते हैं। पूछने पर कहते हैं कि 'राम' का नाम सब पापों का नाशक है। यह मनोवृत्ति देश का सर्वनाश कर रही है।

मनुष्य की बुद्धि तो यही बतलाती है कि राम-नाम के भरोसे पर जान-बूझकर पाप करते रहनेवाले का कभी उद्धार नहीं हो सकता। हाँ, मनुष्य की बुद्धि इस सनातन सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार करती है कि जो मनुष्य अपने पापों के लिए आन्तरिक ग्लानि और पश्चात्ताप करके शुद्ध हृदय से, 'राम' के आगे क्षमा-प्रार्थना और शरण-याचना करते हुए, भविष्य में पापों से बचे रहने की दृढ़ प्रतिज्ञा करता है, वह—यदि वास्तव में उसका पश्चात्ताप सच्चा है, उसके पश्चात्ताप के आँसू सर्वथा निर्मल हैं, तो—रामकृपा अथवा राम-भक्ति का अधिकारी अवश्य हो सकता है।

बहुत-से लोगों की यह धारणा है कि चौबीस घण्टे पाप-कर्मों में लिप्त रहकर यदि एक घड़ी भी 'राम' का सुमिरन कर लिया जाय, तो सब पाप कट जाते हैं। जैसे बहुत दिनों के जमे हुए अन्धकार को दियासलाई की एक काठी की रोशनी नष्ट कर देती है।

न जाने क्यों, मेरी समझ में यह बात नहीं आती। यदि 'राम'-नाम ने इस तरह के पापियों के उद्धार करने का ठेका ले रक्खा है, तो वास्तव में संसार का उससे कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता। मेरी समझ में तो बात यह है कि जो लोग 'राम'-नाम का सहारा पकड़कर कुकर्म करते चले जाते हैं, उन्हें वह नरक के खन्दक में ही ले जाकर गिराता है; क्योंकि राम-भक्ति के दुरुपयोग का इसके सिवा दूसरा क्या फल हो सकता है?

राम-भक्ति सोहन-हलवा नहीं है कि जीभ पर रखते ही अनायास हलक से नीचे उतर जाय। वह बड़ी कठिनता से, बड़ी साधना से, बड़े सौभाग्य से और रामकृपा से ही प्राप्त होती है। तिलक-कण्ठी से और भक्ति-उपासना से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। क्या सोहागिन स्त्री केवल माँग भराने और सिंगार-पटार करने से ही पतिव्रता हो सकती है? आभ्यन्तरिक शुद्धि के बिना बाह्याडम्बर का कोई मूल्य नहीं।

एक बार ऐसे ही एक प्रसंग में महात्माजी ने लिखा था—"हृदय और जीभ को एकरस करके 'रामनाम' कहना ही सच्ची रामोपासना है।" और, यह बात तो स्वयंसिद्ध है कि किसी आदर्श महापुरुष का सच्चा भक्त वही हो सकता है, जो उसके आचरित सिद्धान्तों का पालन करे। महात्मा गांधी का असल भक्त वही हो सकता है जो उनके सिद्धान्तों का पक्का अनुयायी है। उनका चरण छूने से, उनके 'नव-जीवन' का ग्राहक होने से, उनकी अपील पर चन्दा देने से अथवा उनके स्वागत-समारोह में सम्मिलित होने से ही कोई उनका भक्त नहीं कहला सकता। भक्ति इन सबसे परे एक स्वतंत्र वस्तु है। वह हृदय की सम्पत्ति है—दिल की सच्ची लगन है।

आप ही सोचिए। थोड़ी देर अन्तरात्मा के साथ मिलकर विचारिए। अनेक लोकमान्य विद्वानों द्वारा, असंख्य बार, अगणित प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि विलायती कपड़ों में और उन्हें तैयार करनेवाली मशीनों में गौओं की चर्बी का प्रयोग होता है तथा उनके तैयार करनेवाले भी गो-भक्षक ही हैं एवं उनकी आय से मालामाल भी गो-भक्षक ही होते हैं। ऐसी दशा में क्या विलायती कपड़े पहनने और बेचनेवाले लोग भी लम्बा तिलक लगाकर और तुलसी की कण्ठी बाँधकर गोरक्षक 'राम' के भक्त हो सकते हैं? कदापि नहीं।

इसी प्रकार—जो स्वार्थान्ध होकर दूसरों का गला रेतता है; अपने-पराये का विचार छोड़कर लोभवश किसी का धन-अपहरण करता है, वह भला कैसे सर्वस्वत्यागी 'राम' का भक्त कहला सकता है?

आपही प्रकृतिस्थ होकर सोचिए—जो छिपे-छिपे व्यभिचार करता है, जो प्रत्यक्ष वेश्यागामी है, वह भी क्या पहर-भर गोमुखी में हाथ डाले रहकर सच्चरित्र-शिरोमणि एक-पत्नीव्रत 'राम' का भक्त बन सकता है? जो अपना पेट भरने के लिए गरीबों का रक्त चूसता है, बलवान होकर निर्बलों को सताता है, वह क्या ठाकुरबारी बनवा देने से अनाथ-नाथ, दीनबन्धु 'राम' का भक्त हो जायगा? जो अपने सगे भाई के साथ साफ बेईमानी करता है; द्वेषवश उसका अहित करता है, स्वार्थवश उसका पैतृक भाग हर लेता है, वह क्या तुलसी की माला पर राम-नाम जपते रहने से ही एकान्त भ्रातृवत्सल 'राम' का भक्त हो जा सकता है? जो अदालतों में झूठ का जाल बिछाता फिरता है, दगा-फरेब से लोगों को ठगता और अपना मतलब गाँठता चलता है, वह क्या दोनों जून रामायण का पाठ करके ही सत्य-सन्ध भगवान 'राम' का भक्त हो सकता है? क्या ऐसे ही पाखण्डियों के लिए मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम ने ईश्वरत्व को मनुष्यत्व में घुसेड़ा था? कदापि नहीं।

भगवान रामचन्द्र ने केवल लोकोपदेश एवं लोक-कल्याण की सदिच्छा से प्रेरित होकर ही नर-अवतार-धारण किया था। जो उनके आचरणों का प्रतिपालन नहीं करता; जो उनके आदर्श चरित्र का अनुकरण नहीं करता, वह किसी प्रकार राम-भक्त अथवा राम-भक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता—यह सहज ही सहृदय-संवेद्य है।

भला कहिए तो, जिस जगत्प्रसिद्ध वीर 'राम' ने अपने पुरुषत्व के बल से अपनी जन्मभूमि को अत्याचारी राक्षसों से मुक्त करने के लिए राज-सुख-योग भुला दिया था—चक्रवर्त्तित्व तक को लात मार दी थी, उसी पौरुष-पराक्रमशाली 'राम' का भक्त क्या वह मनुष्य कभी हो सकता है, जो लहँगा-चोली और झुलनी-झुमका तथा करधनी-पैजनी पहनकर स्त्रीत्व का नाट्य करके प्रचण्ड विजयी धनुर्धर 'राम' को प्रसन्न करना चाहता है? भला रामचन्द्र-जैसा प्रतापी महारथी परियों के झुण्ड पर आशिक हो सकता है? शिव-धनु-भंग करके वीराग्रगण्य भृगुपति का अभिमान चूर्ण करनेवाले अद्वितीय युद्धवीर 'राम' क्या विलासिनी सखी-सहेलियों के साथ एक भी रात काट सकते हैं? हर्गिज नहीं।

ऐ मनुष्यो! राम-भक्ति की ओट में दम्भ-लीला की रचना छोड़ दो। अपने अज्ञान की विडम्बना से राम-भक्ति को नाहक कलुषित-कलंकित न करो। अगर इस तरह राम को धोखा

दोगे, तो खुद धोखा खाओगे। अपने अन्तःकरण-रूपी वस्त्र को पाप के मल में गँदला करके राम को धोबी का काम मत सौंपो। राम केवल सचाई के साथी हैं—मिथ्या आडम्बर के नहीं। तुम अपने घर में पिता का तिरस्कार करते हो; उन्हें नाना प्रकार के कष्ट पहुँचाते हो, तो बताओ, हर साल रामनवमी में अयोध्या जाकर, राम-दर्शन करने से ही तुम 'आदर्श-मातृ-पितृ-भक्त राम' के उपासक बन जाओगे? तुम व्यासगद्दी पर बैठकर लम्बे-चौड़े उपदेश झाड़ते हो और लुक-छिपकर गोलमाल भी मचाते हो, तो बतलाओ; रामायण की पोथी पर दाहिना हाथ और अपनी छाती पर बायाँ हाथ रखकर बताओ—सचमुच 'राम' का और रामचरित्र का यही उपदेश-सार है? तुम्हारे घर में विधवा सताई जाती है और तुम राम-जन्मोत्सव में रण्डी नचाकर राम-भक्ति की ओट में अपनी वासना की पूर्त्ति करते हो? क्या तुम बता सकते हो, कि रामजी के सामने वेश्या-नृत्य कराने से साकेत-धाम का कौन-सा खण्ड दखल होता है? और, क्यों 'मन में राम बगल में छुरी' रखकर देश को तबाह कर रहे हो? यारो! कतई छोड़ दो 'राम' को और कर लो भर-पेट दुराचार। अपने कुकर्मों के साथ-साथ बेचारे 'राम' को क्यों घसीटते फिरते हो? 'राम' तो मन्दिरों में नहीं, अपने उज्ज्वल चरित्रों में ही निवास करते हैं। जो उनके पवित्र चरित्रों का मनन एवं अनुसरण नहीं करता, वह लाख मन्दिरों में सिर पटके, कभी 'राम-भक्ति' का पात्र नहीं हो सकता।

—साप्ताहिक 'हिन्दूपंच' (कलकत्ता); श्रीरामनवमी, सं० १९८५ वि० (सन् १९२८ ई०)

श्रीकृष्ण की मुस्कान

श्रीकृष्ण का चरित्र अलौकिक है। चाहे जिस दृष्टि से देखा जाय, वह अलौकिक ही है। संसार के रंगमंच पर वह मुस्कराते-मुस्कराते आते हैं, और अन्त तक मुस्कराते-ही-मुस्कराते चले जाते हैं। हर्ष में सब लोग हँसते हैं; पर श्रीकृष्ण तो विषाद में भी हँसते हुए ही मिलते हैं। विपत्तियों के घने बादल घिरे हैं, और उस घोर अन्धकार में भी उनकी मुस्कान की बिजली कौंध रही है। क्या गजब की मुस्कान थी, सारे संसार पर जादू डाल रखा था! कोई अपना दुखड़ा रो रहा है, वे मुस्कराते जा रहे हैं। कोई उनपर संकट लाने की बात में है, वे निर्द्वन्द्व मुस्कराते जा रहे हैं। कोई उनका अपमान करने पर तुला है, वे तब भी मुस्कराते ही नजर आते हैं। न जाने उनके हृदय में कितना आनन्द भरा हुआ था! अच्छा, उस मुस्कान की माधुरी धीरे-धीरे चखिए।

वसुदेव-देवकी बेड़ी-हथकड़ियों से जकड़े हुए हैं—कठोर कारागार में। एकाएक भगवान श्रीकृष्ण प्रकट हुए। वसुदेव-देवकी चकित! कातर दृष्टि से उस दिव्य मूर्त्ति को देखने लगे। अपने इतने बड़े सौभाग्य पर विश्वास न हुआ—घबरा उठे। किंकर्त्तव्य-विमूढ़-से हो रहे। श्रीकृष्ण उनकी आकुलता पर मुस्करा उठे। दन्तद्युति से वह अँधेरी

काल-कोठरी उद्भासित हो उठी। वसुदेव-देवकी अवाक्! जब वे वात्सल्य-विमोहित होकर विनती करने लगे, तो श्रीकृष्ण ने हँसते ही हुए उन्हें ढाढस दिया और फिर वही मायाजाल —झट 'शिशुरोदन ठाना !'

नन्द-यशोदा के घर जाने लगे। वसुदेव सिर पर उठाये चले जाते हैं और यमुना चरण चूमने को बढ़ती जाती है। पिता जल की बाढ़ से ऊबकर त्रस्त हो रहा है, पुत्र मौज से मुस्करा रहा है !!

नन्द-महर के घर तो मुस्कानों की झड़ी बाँध दी। नाना प्रकार के नटखटपन से माता झल्ला रही है, बेटा हँसी की किलकारियाँ छोड़ रहा है। न ठिनकते देर, न हँसते देर। एक ही क्षण में ऊँ ······ऊँ······ऊँ, फिर दूसरे ही क्षण में ही······ही······ही! आह! कैसी गजब की मस्ती थी !!

गोपियाँ उलाहना देने आई हैं और हजरत लुके-छिपे मुस्करा रहे हैं! माँ छड़ी लेकर मुँह से मिट्टी उगलाती है, और आप मुस्करा कर ब्रह्माण्ड-दर्शन का बायस्कोप दिखाने लग गये! माँ ऊखली में बाँधकर घर सँभालने चली गई, आप किलक-किलक कर हँसने लगे कि यमलार्जुन के उद्धार का मौका तो मिला! क्या खूब !!

हाय! दूध पिलाते-पिलाते 'पूतना' ले उड़ी। सब-के-सब हाहाकार कर दौड़ पड़े! जाकर देखते हैं, तो विकराल राक्षसी की छाती पर बैठे-बैठे हँस रहे हैं! धन्य हो महापुरुष !!

प्रलय-काल के मेघ उमड़-घुमड़कर ब्रजमण्डल को बहा देना चाहते हैं। गाय-बछड़े और ग्वाल-बाल त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं। सबके प्राणों के लाले पड़े हैं और जनाब-आली कनगुरिया पर गोवर्द्धन-गिरि उठाये मन्द-मन्द हँस रहे हैं। इन्द्र के आतङ्क से सबकी रूह कब्ज है और आप उसके अहंकार की तुच्छता पर बेफिक्री की हँसी हँस जा रहे हैं!

आँख-मिचौनी खेलते हैं। ग्वाल-बालों को परेशान किये डालते हैं। अपनी बेर तो अनेक-रूप होकर सबको जहाँ-तहाँ पकड़ लेते हैं, पर उनकी बेर मुनि-मन-अगम हो जाते हैं। भला अलख को कौन लखे? बेचारे ग्वाल-बाल जब कुंज-कुंज में फेरा लगाकर हैरान हो बिछोह से रोने लगते हैं, तो कहीं दूर खड़े होकर धीरे से बाँसुरी फूँक देते हैं— उतावले बाल-गोपाल उधर ही दौड़ पड़ते हैं, और जब बिल्कुल पास पहुँच जाते हैं, तब महाशयजी हँसकर फिर भाग निकलते हैं। साथी बेचारे रोते-रोते बेहाल हैं और आपकी हँसी आपके रोके नहीं रुकती! अजब तमाशाई हैं !!

'चीर चुराय कदम चढ़ि बैठे' हैं। गोपाङ्गनाएँ गिड़गिड़ा रही हैं। आप मुस्करा रहे हैं, बाँसुरी छेड़ रहे हैं, शपथों की खिल्ली उड़ा रहे हैं !!

कंस की रंगशाला में जाते हैं। फाटक पर मत्त-मातंग 'कुवलयापीड़' को डटा देख मुस्कराते हैं। खेल में ही उसका काम तमाम कर भीतर घुसते हैं, तो दुष्ट 'मुष्टिक' और 'चाणूर' से भिड़ते हैं। उन्हें भी बड़ी उस्तादी से पछाड़ते हैं और उनकी कुन्दी करके उछलकर कंस के मंच पर जा पहुँचते हैं। कंस भौंचक रह जाता है और आप झट

उसकी चुटिया पकड़कर उसे नीचे घसीट लाते हैं। फिर उसकी छाती पर चढ़कर ठठाकर हँसते हुए कहते हैं,—'कहो मामा ! सब दिन की कसर निकाल लूँ ?' बेचारा कसम खाता है ; पर गरुड़ के पंजे से साँप कहाँ निकल भागे ? बेचारे का मलीदा बना डाला !!

जरासन्ध की सभा में भी वही हाल ! भीम के साथ वह दाव-पेच कर रहा है और आप अलग खड़े-खड़े मुस्करा रहे हैं। मुस्कराते-ही-मुस्कराते इशारा करते हैं और भीम उसे दाँतन की जीभी की तरह चीरकर रख देते हैं !!

भीम को दुर्योधन से लड़ाते समय भी अलग ही खड़े-खड़े मुस्कराते रहे ? जब देखा कि दुर्योधन लोहे का चना है, तब कमर पर हाथ रखकर खड़े-खड़े हँसने लगे ? फिर तो भीम ने उसकी ऐसी कमर तोड़ी कि बेचारा वहीं ढेर हो गया।

जिस समय वे दुर्योधन के घर पर सन्धि का सन्देश लेकर गये, शकुनि और कर्ण उन्हें बन्दी करने की घात में लगे दीख पड़े। कोई सहायक न था, पर ओठों पर मुस्कान खूब थी। मानों गीदड़ों की उछल-कूद देखकर शेर मन-ही-मन हँस रहा हो।

एक बार इसके पहले भी। कौरव-सभा में द्रौपदी का दुकूल-मोचन हो रहा है। दुर्योधन मूँछों पर ताव दे रहा है। कर्ण और शकुनि ठहाके पर ठहाका लड़ा रहे हैं। आप कहीं छिपे-छिपे मच्छरों की मदान्धता पर मुस्कराते जा रहे हैं। जब दुःशासन की बल-दर्पित भुजाएँ शिथिल पड़ जाती हैं, तब ठठाकर हँसते हैं—'लो बच्चू, खींचो दुकूल, मरी नानी !!' किन्तु अहंकार-बधिर कान उस अट्टहास को सुन न सके !

फिर युधिष्ठिर की यज्ञशाला में। शिशुपाल गिन-गिन कर गालियाँ बक रहा है, आप शान्त-भाव से मुस्करा रहे हैं। सारी सभा इस अगाध धैर्य पर स्तब्ध है। भीमार्जुन अगर बीच-बीच में फड़फड़ाना भी चाहते हैं तो मुस्कराकर उन्हें शान्त रहने का इशारा करते हैं। आखिर शिशुपाल को सुदर्शन-चक्र के घाट उतार कर ही दम लेते हैं !!

रुक्मिणी-हरण के समय से शिशुपाल वैरी बना था। उस समय, जब रथ पर रुक्मिणी को चढ़ा लिया, तो आक्रमणकारियों की ओर अदबदा कर देखते और मुस्कराते हुए आगे बढ़े। हँसते-ही-हँसते अँगूठा दिखाकर निकल आये। तब रुक्मिणी की ओर देखकर मुस्कराने लगे। वह भी परमानन्द की निधि पाकर अपने ललाम लोचनों और कमनीय कपोलों के विकास से अपनी अन्तरात्मा की मुस्कान झलकाने लगी !!

इसी प्रकार सुभद्रा-हरण के समय भी जब अर्जुन और सुभद्रा का पारस्परिक प्रेम देखकर सुभद्रा-हरण के लिए अर्जुन को प्रोत्साहन दिया और अर्जुन भी इशारे का सहारा पाकर जब ले उड़े, तब यादवों का बेमतलब फुदकना देखकर आप केवल मुस्कराते ही रह गये;—बलरामजी की जली-कटी सुनकर भी मौन मुस्कान से ही उत्तर दिया !

कहाँ तक उनके मुस्कान की महिमा गाई जाय ? मानो हृदय में आनन्द का खजाना भरा था—कितना भी लुटाते थे, घटता न था। कुरुक्षेत्र में अर्जुन को मोह उत्पन्न हुआ, तब भी मुस्कराये। भीष्म के पास अर्जुन जब पंच-महाकाल-शर माँगने गये, तब भी पितामह के शिविर से कुछ दूरी पर खड़े होकर मुस्कराते ही रहे और जब अर्जुन सफल-मनोरथ होकर शिविर से बाहर निकले तो झपाटे से उनको गलबहियों में समेटकर आगे बढ़ते हुए भी बड़े

जोर का ठहाका मारा। फिर दूसरे ही दिन भीष्म जब प्रलय मचाने लगे तब भक्त-प्रणपालन का व्रत निबाहने की उत्कण्ठा से मुस्कराते ही हुए रथ से उतरे और क्रोध का नाट्य करके चक्र-सहित दौड़ पड़े—भक्त-प्रवर भीष्म निरस्त्र होकर विनती करने लगे और आप चुपचाप मुस्कराते हुए रथ पर लौट आये। 'यह रहस्य काहू नहिं जाना !'

द्रोण-पर्व में अभिमन्यु-वध पर अर्जुन विलाप करते हैं और आप मुस्कराकर फरमाते हैं—'तुम किसके लिए नाहक रो रहे हो? अभिमन्यु अपने को सुयोग्य माता-पिता का सुयोग्य पुत्र प्रमाणित कर गया। तुम्हारे यश को और भी धवलित कर गया!' उधर सुभद्रा छाती पीटती है, तो हँसकर कहते हैं—'तुम्हें तो ऐसा वीर पुत्र जनने पर गर्व होना चाहिए। क्षत्राणी इसी दिन के लिए पुत्र जनती है!'

धन्य हो बैरागी बाबा! जब गोकुल से गोप-गोपी तुम्हारे पास मथुरा में अपना प्रेम-सन्देश भेजते थे, तब भी तो तुम इसी तरह मुस्करा-मुस्करा कर ज्ञान-वैराग्य की बातें बघारा करते थे?

पुनः 'घटोत्कच' के मारे जाने पर जब भीम शोकाकुल हो चीत्कार करने लगे, तब भी आप मुस्कराते ही हुए आश्वासन के वचन बोले,—"क्यों बेकार बालक की तरह बिलख-बिलख कर रोते जा रहे हो? क्या अर्जुन से बढ़कर घटोत्कच प्यारा था? गाढ़े समय पर काम आकर वह तुम्हारा सच्चा बेटा साबित हुआ। उसकी वीर-गति-प्राप्ति पर इतना दारुण विलाप करोगे कायर की तरह? इन्द्र-प्रदत्त कर्ण की 'शक्ति' यदि आज अर्जुन पर समाप्त हुई होती, तो क्या 'घटोत्कच' को देखकर तुम्हें सन्तोष होता? छोड़ो रोना-धोना! अर्जुन के प्राण बच गये, इसके लिए चलो खुशियाँ मनायें!"

कहाँ तक उस आनन्दकन्द व्रजचन्द्र के मन्द-मन्द हास्य को हृदयंगम कराऊँ? कृपया स्वयं ध्यान धरकर देखिए—यमुना-तट, वंशीवट, त्रिभंगी नट, पीत पट, बाँकी लट! सुन्दर श्यामल शरीर की सुषमा! तन-मन-प्राणहारी भ्रूभंगिमा! अमन्द-मन्द मुस्कान की मधुरिमा! "धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं कृष्णस्मितामृतरसम्!"

—साप्ताहिक 'हिन्दूपंच' (कलकत्ता); वर्ष ३, अंक ६, जन्माष्टमी, सं० १६८५ वि०

●

बाँसुरी नहीं, पाञ्चजन्य !

स्मरणातीत काल से, प्रतिवर्ष, भाद्र कृष्णाष्टमी की अर्द्धरात्रि असंख्य श्रद्धालु हिन्दू-हृदयों में उन सभी लोकोत्तर आनन्ददायक दृश्यों की झलक-झाँकी दिखा जाती है, जिन्हें देखने के लिए देव-देवाङ्गनाओं के पुष्प-यान किसी दिन व्रजवसुन्धरा के गगन-मण्डल में अलौकिक इन्द्रधनुषों की छटा छिटका चुके थे।

वह निविड़ निशीथ-काल, वह भादो की भयावनी रजनी। वह रिमझिम बूँदें। कादम्बिनी के क्रोड़ में विद्युल्लता का वह चंचल नृत्य। कालिन्दी-कूल के कुसुमित कदम्ब-

कुञ्ज में छाई हुई निस्तब्धता की नींद उचटानेवाला वह अविरत झिल्ली-झनकार। मनोन्मादी मेघों की वह मृदु-मन्द-मधुर मृदङ्गध्वनि। उमड़ी हुई यमुना के हृदयोल्लास को बाँसों उछालनेवाले झंझावात के झकोरे!

इतना ही नहीं—

तमसाच्छन्न दिशाओं की गोद में कराहता हुआ वह भीषण बन्दीगृह। दुर्द्धर्ष लौह-कपाटों से जकड़ी हुई वह काल-कोठरी। शत-शत शस्त्रधारी सन्तरियों से सुरक्षित वह कठोर कारागार-द्वार।

और उसके अन्दर?

लौह-शृंखला के विकट बन्धन में पड़कर यम-यंत्रणा की अनुभूति से उद्विग्न दो निरीह प्राणी!

हथकड़ियों से जकड़े हुए हाथ जुड़कर ऊपर उठे हुए हैं। करुण-कातर लोचनों की सीपी में आशा के मुक्ता-विन्दु झलमला रहे हैं। मौन मुख-मुद्रा ने दया की भीख लेने के लिए झोली का मुँह फैला दिया है। मूक वाणी प्रतिपल हृत्तंत्री का राग छेड़कर अन्तस्तल की नीरव भाषा व्यक्त कर रही है।

अब कहाँ रुक सकते वे, जो कमलासन और गरुड़ासन छोड़कर पीत-पट फहराते—मुक्ता-माल झुलाते—बाँके अलक लहराते—सुदर्शन ले पैदल ही दौड़ पड़े थे—

"बाहन छोरिकै दौरिकै पायन चायन सों गजग्राह छुड़ायो।
दीन की लाज निबाहिबे को जिन द्रौपदी चीरहू जाय बढ़ायो।"

वही स्वयं पधारे! अन्धकार में आलोक! निराशा में आशा की दिव्य ज्योति! अथाह में अवलम्ब!

आ गये चितचोर माखन-चोर!—नहीं; अनेक-अनेक-जन्मार्जित पाप-चौर!

आ गये मुरली-मनोहर मदन-मोहन!—नहीं; कंस-चाणूर-मर्दन, केशी-पूतना-निसूदन!

आ गये मोर-मुकुटधारी गोपिका-वल्लभ!—नहीं, गोवर्द्धनधारी, देवेन्द्र-दर्प-हारी!

आ गये राधा-राकेन्दु-चकोर, रासलीलाविहारी!—नहीं; नाग-नथैया, बल-भैया, झाँझरी नैया के खेवैया;

'कैवर्त्तकः केशवः' आ गये!

स्मरण रहे, केवल भव-सागर के ही केवट नहीं, रण-महानद के भी कुशल केवट! महाभारत-महार्णव के—आह! कैसा भयंकर रण-महानद!

भीष्म-द्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला।
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला॥

अश्वत्थाम-विकर्ण-घोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी ।
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैः रणनदी कैवर्त्तकः केशवः ॥

× × ×

आज की आधी रात में हम उसी केशव की झाँकी देखेंगे। आज हमारे हृदय में साँवले-सलोने कुँवर-कन्हैया की मन्द मुस्कान का ध्यान न रहेगा; पार्थ-सारथी की प्रचण्ड ललकार की प्रतिध्वनि गूँजेगी।

आज हम चन्दन-चर्चित नीलकलेवर में पीताम्बर की तडित्-रेखा नहीं देखेंगे, गांगेय-शर-जाल-विद्ध नीलगिरि के उत्तुङ्ग शिखरों से प्रवाहित लोहित प्रताप देखेंगे।

आज हम वृन्दावन के निभृत निकुञ्ज का अविरल प्रेम-सन्देश न सुनेंगे, गाण्डीव-गर्जन को गगनभेदी बनानेवाला अमर गीता-सन्देश सुनेंगे।

आज हम भुवन-मोहिनी वंशी की सुरीली तान पर कान न देंगे, पार्थ-रथ की बागडोर पकड़नेवाले हाथों में शोभायमान पाञ्चजन्य के प्रलय-निनाद पर बलि-बलि जायँगे।

हमें कदम्ब-तरुतल की त्रिभंगी छवि भी न चाहिए, हमें तो संग्रामसिन्धु मथनेवाला गांगेय-गर्व-गंजन चक्रधर चाहिए!

हम नवनीत नहीं चाहते, हम चाहते हैं 'नवशक्ति'!

—साप्ताहिक 'नवशक्ति' (पटना); वर्ष १; अंक १, ३१ अगस्त, १९३४ ई०

•

अहिंसा परमो धर्मः

'अहिंसा' ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है' जैन-सम्प्रदाय का यह सिद्धान्त बड़ा ही पवित्र और कल्याणकारी है। अमरकीर्त्ति महावीर प्रभु ने अपने त्यागमय आदर्श जीवन और निष्कलुष चरित्र से संसार को यही शिक्षा दी है कि इस निष्कलंक और मंगलमोदप्रद सिद्धान्त के अपनाने से कहीं कोई भय नहीं रह जाता। उनके दिव्य जीवन का अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि अहिंसाव्रती सर्वथा निर्भय हो जाता है। अहिंसा का सर्वोत्तम प्रसाद है सब प्रकार के भय से मुक्त हो जाना। किन्तु, इस अभयावस्था को पहुँचानेवाला अहिंसा-धर्म सहज ही साध्य नहीं है। उसकी साधना में तन-मन खपाने के लिए अखंड धैर्य चाहिए।

जैनधर्म में श्वासोच्छ्वास के कीटाणुओं तक पर दया दरसाई गई है। किन्तु, महावीर स्वामी के जीवन-चरित्र का अनुशीलन करने से पता लगता है कि केवल जीव-दया से ही अहिंसा की परिभाषा पूरी नहीं होती। 'अहिंसा' बहुत व्यापक अर्थ व्यंजित करनेवाला शब्द है। केवल जीव-वध न हो और जीवों पर दया-दृष्टि रहे, इतने ही में अहिंसा सीमित नहीं है। उसका संकेत और आदेश यह है कि मनसा-वाचा-कर्मणा कोई भी ऐसा आचरण न किया जाय जिससे चराचर जगत का किसी प्रकार किंचिदपि

अपकार हो। प्रायः ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि कर्मणा तो अहिंसा-धर्म आचरित होता है, पर मनसा-वचसा नहीं हो पाता। महावीर प्रभु का जीवन हमें मनसा-वचसा अहिंसक होने की प्रेरणा देता है।

हमलोग मन और वाणी से जितनी हिंसा करते हैं उतनी कर्म से नहीं करते। कर्म में हमारी प्रवृत्ति प्रायः तभी होती है जब मन में उसके लिए उत्प्रेरणा अथवा स्फूर्ति होती है। मन ही सारी इन्द्रियों का अधिष्ठाता अथवा संचालक है। यदि मन में किसी के प्रति वैर-विरोध या ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न हुआ तो निश्चय ही शत्रुता की ओर प्रवृत्ति होगी। फिर तो हिंसा का क्रम चला। क्षुद्र बीज विराट् वट-वृक्ष हो गया!

तपोधन महावीर स्वामी के जीवन से हमें यह सन्देश मिलता है कि सतत साधना की शक्ति से मन को निःसंग और अनासक्त करना मनुष्य का सबसे पहला ध्येय होना चाहिए। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मन का निग्रह ही है। मनोनिग्रह से ही जीवन में भव्यता आ सकती है। इन्द्रियाधिष्ठाता मन का निग्रह हो जाने से किसी प्रकार की हिंसा नहीं हो सकती। मनोविकारों का शमन होने से ही वह अहिंसा-व्रत पूरा होता है जो विश्व-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व, विश्वमैत्री, समदर्शिता आदि दैवी गुणों का मेरुदण्ड है। इसीलिए, उन्होंने इन्द्रिय-संयम अथवा इन्द्रिय-दमन का स्वाचरित आदर्श इस संसार के समक्ष उपस्थित किया। ऐसा कुछ जान पड़ता है कि संसार के जीवों को नाना प्रकार के क्लेशों से संतप्त देखकर उनके कोमल हृदय में दया उत्पन्न हुई और उन्हें प्राणिमात्र का दुःख-द्वन्द्व दूर करनेवाला एकमात्र अमोघ रामबाण अहिंसा-धर्म ही जान पड़ा। इसीलिए मनःसंयम, वाक्-संयम आदि दिव्यास्त्रों का प्रयोग उन्होंने पहले अपने ही जीवन में साधा। बस, उनका परम पावन चरित्र ही मौन उपदेश बन गया।

साधारणतः वाक्-संयम को ही ले लीजिए। अकेला यही यदि सिद्ध हो जाय तो संसार के अनेक उत्पात शान्त हो सकते हैं। हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक साहित्यकार बाबू जयशंकर प्रसाद ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'अजातशत्रु' में एक स्थल पर लिखा है कि 'विश्व के समस्त उपद्रवों का मूल व्यंग्य है।' हमलोग आज अपने देश में सर्वत्र देख रहे हैं कि वाक्-संयम के अभाव से हिंसा की मनोवृत्ति किस तरह बढ़ रही है। यह बात भी सर्व-विदित ही है कि व्यंग्य के ही फलस्वरूप महाभारत छिड़ा था। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के असंयम से हिंसा का प्रसार अनुमित हो सकता है।

अतएव, महावीर प्रभु ने अपने आचरण द्वारा जिस अहिंसा का तत्त्व समझाया है, उसका बहुत प्रचार वर्त्तमान संसार में अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। आज की प्रपीड़ित मानव-जाति को महावीर स्वामी का आलोकमय जीवन ही मार्ग प्रदर्शित करने योग्य है। उनके अहिंसा-व्रत की सत्ता बड़ी मिठास के साथ संसार के महान् मस्तिष्कों में स्थापित होती जा रही है। भविष्य के परदे से उसकी विजय झाँक रही है।

—साप्ताहिक 'जैनगजट' (बम्बई) ; ६ अप्रैल, सन् १९४४ ई०

दिगम्बरत्व की प्राचीनता[1]

श्रीजैनधर्म भारत का एक अत्यन्त प्राचीन एवं जगत्प्रसिद्ध धर्म है। मनुष्य की अन्तः-शुद्धि के विधान में यह विशेष तत्पर है। यदि इसके सम्यक् चारित्रिक उपदेशों या इसकी आध्यात्मिक शिक्षाओं पर मानव-जाति वस्तुतः ध्यान दे, तो संसार में अशान्ति ही न रहे। किन्तु, इस धर्म को तो मानसिक जगत में बसाना पड़ता है, हृदय-लोक में ही यह रम सकता है, मस्तिष्क विलास या तार्किकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं; इसलिए मानव-प्राणी इससे मनोरंजन करने में असमर्थ रहता है। यह दिल-बहलाव का धर्म नहीं है, यह तो तलवार की धार पर चलानेवाला विशुद्ध धर्म है। जो इसकी कसौटी पर खरा उतरना चाहे, वह कठिन-कठोर व्रतों के पालन का दृढ़ संकल्प करे, अन्यथा धर्म का बाना धारण किये फिरना तो दूसरी बात है।

इस धर्म के केवल किसी एक ही सिद्धान्त का पालन करने में कोई सारा जीवन बिता दे तो उसका मानव-जन्म सफल हो सकता है। अहिंसा, जीव-दया आदि में से कोई एक व्रत भी ले लिया जाय, तो जीवन धन्य एवं कृतार्थ हो सकता है। सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा आदि अकेले ही बड़ा भारी काम कर सकते हैं, फिर सबका एकत्र प्रभाव तो अकथनीय ही है।

मनुष्य की अन्तरात्मा को पवित्र करनेवाले मंगलमय सिद्धान्तों से जो धर्म परिपूर्ण है, उसके विषय में कोई कहाँ तक बड़ाई की बात कह सकता है। वह तो अपने सद्गुणों के कारण स्वयं ही जाज्वल्यमान है। ऐसे स्वयं-प्रकाश धर्म को किसी की प्रशंसा का सहारा नहीं चाहिए। यह तो शरत्-चन्द्रिका के समान पृथ्वीतल को शीतल करनेवाला धर्म है। सिर्फ सच्चा अनुयायी चाहिए।

भगवान् श्री महावीर स्वामी अपने त्याग और तप के बल से प्रातःस्मरणीय वन्दनीय अवतारी पुरुष हो गये हैं। इतिहास उनके दिव्य व्यक्तित्व का साक्षी है। वे हमारे बिहार की भूमि को अपने पदार्पण से कृतकृत्य कर गये हैं। उनकी कठोर साधनाओं की केवल स्मृति ही चित्त को विकार-शून्य कर देती है। उनका परम पावन चरित्र मनोमल धोनेवाला वह अखण्ड प्रवाह है, जिसमें मानव-जाति अनन्तकाल तक अपने कल्मष-कलुष का प्रक्षालन करती रहेगी। वे वास्तव में महावीर थे। विश्वविजयी सम्राट् भी मानसिक विकारों और वासनाओं के महायुद्ध में ध्वस्त-परास्त हो भूलुण्ठित हो जाते हैं। उस महायुद्ध के वे यशस्वी विजेता हैं। केवल विजेता ही नहीं, उन्होंने जितेन्द्रियता का मार्ग प्रशस्त कर संसारियों के लिए इन्द्रिय-दमन एवं विकार-शमन का घंटापथ तैयार कर दिया।

जैनधर्म में दिगम्बरत्व की बड़ी महिमा है। हिन्दुओं के सबसे बड़े देवता महादेवजी का नाम ही 'दिगम्बर' है। वे योगिराज हैं, अकाम हैं, सिद्धेश्वर हैं। किन्तु उनके अतिरिक्त भी हिन्दू-पुराणों में अनेक सिद्ध महापुरुषों के दिगम्बर-रूप का वर्णन है और उसीमें

१. इस लेख का कुछ अंश काटकर निकाल दिया गया है; क्योंकि वह असामयिक और अनावश्यक था। —ले०

उनकी महत्ता भी है। यहाँ केवल श्रीमद्भागवत-महापुराण के कुछ स्थलों का दिग्दर्शन-मात्र पर्याप्त होगा। इससे दिगम्बरत्व का तत्त्व हृदयंगम हो सकता है।

(१)

श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय का तीसवाँ श्लोक देखिए। जब सनकादि ऊर्ध्वरेता मुनीश्वर विष्णुलोक में गये, तब वहाँ के द्वारपालों ने उन्हें कैसा देखा ? व्यासजी कहते हैं—

तान्वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान् वृद्धान्दशार्द्धवयसो विदितात्मतत्त्वान्।

—उन आत्मज्ञान-सम्पन्न, दिगम्बर (वातरशना) और वयोवृद्ध होने पर भी पाँच वर्ष के बालकों के समान मालूम पड़नेवाले, चार कुमारों को देखकर······(द्वारपालों ने उन्हें रोका) इत्यादि।

(२)

फिर स्वयं व्यासजी के पुत्र श्रीशुकदेवजी ही दिगम्बर-वेश में घूमा करते थे। वे ही श्रीमद्भागवत के प्रधान वक्ता हैं। सभी ऋषि-मुनि, उनके पिता और पितामह भी, अभ्युत्थान-पूर्वक उन्हें सम्मान देते थे। बाल्यावस्था में ही वे परम सिद्ध हो गये थे। प्रथम स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय में यह सत्ताईसवाँ श्लोक है—

दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं
प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम्।

—अर्थात् उनका वेश दिगम्बर था, मुखमण्डल पर अलकें झूल रही थीं, भुजाएँ लम्बी-लम्बी थीं, देवता-तुल्य तेजस्वी थे······इत्यादि। (शुकदेवजी इसी रूप में राजा परीक्षित के यहाँ पहुँचे)।

(३)

राजर्षि नाभि के पुत्र-रूप में अवतीर्ण साक्षात् ईश्वरावतार श्री ऋषभदेवजी के सम्बन्ध में पंचम स्कन्ध के पाँचवें-छठे अध्यायों में व्यासजी ने लिखा है—

(क) ······शरीरमात्र परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश··· ॥२८॥

—अर्थात् केवल शरीर ही परिग्रह था, पागल की भाँति, नग्न वेश में, बिखरे बाल (भगवान् ऋषभदेव घूमते-फिरते थे) इत्यादि।

(ख) ······कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत ॥३१॥

—अर्थात् लाल केशों की उलझी जटा के बोझ और मलिन शरीर के अवधूत वेश से पागल के समान जान पड़ते थे।

किन्तु, नंगे रहने पर भी, पागल की तरह बोलने पर भी, आचरण में मलिनता दीख पड़ने पर भी, वे अपने ईश्वरत्व को छिपाये घूमते-फिरते थे। व्यासजी छठे अध्याय के छठे श्लोक में स्पष्ट कह देते हैं—

(ग) ....अवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो.. ......॥

—अर्थात् अवधूत वेश, अटपटी बोली और विलक्षण आचरण से वे अपने ऐश्वर्य को छिपाये हुए थे।

तात्पर्य यह कि पारमहंस्य प्राप्त हो जाने पर बाहरी दिखावे की सुधि ही नहीं रहती। परमहंस श्रीरामकृष्ण आदि सिद्ध महापुरुषों के जीवन में हमलोग इसके प्रमाण पाते हैं।

(४)

पुनः भगवान ऋषभदेवजी के ज्येष्ठ सुपुत्र भरतजी के विषय में भी ऐसा ही प्रसंग पाया जाता है। यह वह भरतजी हैं जिनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ, पहले इस देश का प्राचीन नाम अजनाभ वर्ष था। व्यासजी ने लिखा है—

अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति।[१]

—अर्थात् इस भूखण्ड का नाम पहले 'अजनाभ वर्ष' था, पर भरत के समय से ही इसे भारतवर्ष कहते हैं।

इसी बात को व्यासजी ने 'विष्णुपुराण' में भी दुहराया है—

वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।[२]

—अर्थात् जिस देश में भरत की सन्तान बसी हुई है, वह भारतवर्ष कहलाता है।

उन्हीं सिद्ध महापुरुष भरत के सम्बन्ध में व्यासजी लिखते हैं—

शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः......... ॥[३]

—अर्थात् वे जाड़ा, गर्मी, बरसात और आँधी के समय साँड़ के समान नंगे रहते थे (अनावृताङ्ग), उनके अङ्ग हृष्टपुष्ट थे............इत्यादि।

यद्यपि इस तरह के प्रमाणों की, प्राचीन साहित्य में, कमी नहीं है तथापि इतने ही से आप अनुमान कर सकते हैं कि इस धर्म-प्रधान भारतवर्ष में दिगम्बर-वेश का कैसा महत्त्व था। किन्तु, यह वेश उस समय भी केवल सिद्ध योगी-तपस्वियों के लिए ही सुलभ था। सर्वसाधारण के लिए यह तबतक सुशोभन नहीं हो सकता, जबतक आसंगलिप्सा दूर नहीं हो जाती।

सफाई का काम भीतर से शुरू हो सकता है, बाहर से नहीं। भीतर की सफाई हो जाने के बाद बाहर की सफाई आप-से-आप हो ही जाती है। गँवारू कहावत—'मन चंगा, कठौत में गंगा' झूठी नहीं है। मन का निग्रह जबतक ठीक नहीं होगा, तबतक बाहरी परिग्रह का त्याग लौकिक दृष्टि से दम्भ समझा जायगा।

---

१. स्कन्ध ५, अध्याय ७, श्लोक ३—(गीता प्रेस का संस्करण)

२. अंश २, अध्याय ३, श्लोक १—(,,)

३. भागवत, स्कंध ५, अध्याय ९, श्लोक १०—(,,)

दिगम्बरत्व का सिद्धान्त बहुत ही उच्च श्रेणी का है, आधुनिक जगत् का ममता-मोह-मुग्ध मानव उतनी ऊँचाई को तबतक छू या पहुँच नहीं सकता जबतक हृदय के ज्ञानालोक को ढँकनेवाले 'वासनाओं के आवरण' नष्ट नहीं हो जाते। सबसे पहले वासना-वसन उतार फेंकने की जरूरत है, उसके बाद बाहरी परदा खुद फट या उतर जायगा।

हाँ, साधु-संन्यासियों अथवा आत्मदर्शी त्यागी महापुरुषों की बात न्यारी है। वे दिगम्बर-वेश में ही फबेंगे, पूजे जायँगे। सबसे बीहड़ प्रश्न है, वही पंचमहाव्रत और इन्द्रिय-निरोध, यह शर्त्त जबतक पूरी नहीं होती तबतक 'मन न रँगाये, रँगाये जोगी कपड़ा' की आवाज दुनिया में गूँजती रहेगी।

यदि कोई मनुष्य चाहे तो गृहस्थाश्रम में रहकर भी लँगोटी लगा सकता है, पर उससे पहले शरीर-रथ के इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को कँटीली लगाम लगानी पड़ेगी। यह कसौटी ऐसी है कि इसपर करोड़ों में एक ही कोई खरा उतरता है।

पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि शुकदेव को दिगम्बर-वेश में देखकर स्त्रियों ने परदा नहीं किया—नंगी रहकर ही स्नान करती रहीं; पर उसी रास्ते से जब शुकदेवजी के पिता व्यासजी निकले तब स्त्रियों ने अपना नग्न शरीर छिपा लिया—कपड़े से ढँक लिया। इसपर नारदजी से प्रश्न किया गया तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इसका कारण यह बतलाया कि शुकदेव की दृष्टि जितनी निर्मल है उतनी व्यासजी की नहीं है।

यह जो दृष्टि की निर्मलता है, वही घोर जंजाल है। यह जंजाल न हो तो सब लोग साधु-सन्त बन जायँ, फिर संसार स्वर्ग हुए बिना न रहे। किन्तु, दृष्टि का सर्वथा निर्मल होना अत्यन्त कठिन है, परम दुस्साध्य है, तथापि भगवद्गीता का वह वाक्य ढाढ़स बँधाता है, जिसमें अर्जुन के यह पूछने पर कि 'आँधी के समान प्रबल मन'[1] बड़ा चंचल है—कैसे वश में होगा?' भगवान कृष्ण कहते हैं कि 'अभ्यास और वैराग्य'[2] से ही मन मुट्ठी में आ सकता है।'

इस प्रकार, सब तरह विचार करने पर यही निश्चय होता है कि शरीर को दिगम्बर करने से पहले मन को दिगम्बर करना आवश्यक है।

—साप्ताहिक 'जैन-गजट' (बम्बई); २८ अक्तूबर, १९४३ ई०

जाति-गत या समाज-गत विशेषता[3]

सब जातियों में खास तौर से कोई-न-कोई विशेषता हुआ ही करती है। अँगरेज स्वभावतः स्वदेशाभिमानी होते हैं। स्वजात्यभिमान भी उनमें बहुत है। एक अँगरेज दूसरे अँगरेज का अपमान सहन नहीं कर सकता। उनका स्वदेशाभिमान तो यहाँ तक

१. चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

२. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (६/३४-३५)

३. इस लेख के कई वाक्य और कुछ अंश, असामयिक होने के कारण, काटकर निकाल दिये गये हैं। पर कुछ नया नहीं जोड़ा गया है। केवल शीर्षक से 'मारवाड़ी' शब्द हटा दिया गया है।—लेखक

अतिशयता की सीमा पार कर गया है कि वे सारे संसार की उत्तमोत्तम वस्तुएँ संग्रह कर स्वदेश को सर्वाङ्गसुन्दर एवं सर्व-विधि-सम्पन्न बना देने पर तुल गये हैं। ऐसा करने में भले ही उन्हें नीति-अनीति से काम लेना पड़े, पर वे स्वदेश की समृद्धि के लिए सब-कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं। स्वदेश और स्वजाति की रक्षा और वृद्धि के लिए पाप करने से भी वे नहीं हिचकते। चाहे संसार उन्हें स्वार्थी कहे, क्रूर कहे, कुछ परवा नहीं, स्वदेश और स्वजाति का संपोषण और संवर्द्धन होना चाहिए। स्वदेशप्रियता और स्वजाति-प्रेम ने मानों उन्हें अंधा बना दिया है।

बंगाली भाई भी स्वदेश (बंगाल) और स्वजाति (बंगाली) के कट्टर भक्त होते हैं। वे इस बात का अभिमान रखते हैं कि बँगला-भाषा समस्त भारतीय भाषाओं से उन्नत है, वंग-साहित्य के सामने अन्य भारतीय साहित्य अपूर्ण हैं। उन्हें अपने बंकिम, मधुसूदन, रवीन्द्र, रासविहारी, तारकनाथ, रमेशचन्द्र, गिरीश, प्रफुल्लचन्द्र और जगदीशचन्द्र तथा आशुतोष आदि के सामने संसार में दूसरा कोई नजर नहीं आता। वे अपने को सप्तकोटि समझते और वंग-जननी की उपासना करते हैं। उनमें जो बड़े-से-बड़े हैं, जिन्हें सारा संसार जानता है, वे भी बंगाल और बँगला के बाद ही अन्य देश अथवा भाषा का अस्तित्व मानते हैं। समस्त भारत में, नौकरी-पेशे के कारण बंगाली भाई फैले हुए हैं। वे जहाँ-कहीं रहते हैं, अपना खास समाज बना लेते हैं। वे अपनी भाषा और अपनी जातीयता नहीं भूलते। जिस-किसी नगर में दस-बीस बंगाली रहते हैं, अपना एक खास 'क्लब' खोल लेते हैं; अपनी भाषा का पुस्तकालय और नाटक-मंडली तक स्थापित कर देते हैं, सरस्वती-पूजा और दुर्गा-पूजा का महोत्सव भी करते हैं, बंगाल में बाढ़ आने या अकाल पड़ने पर सब लोगों से चन्दे की रकम वसूलते हैं। दूसरों की दृष्टि में यह उनका दोष ही क्यों न हो, पर वे इसीमें अपना गौरव समझते हैं।

मुसलमान-जाति का इतिहास आदिकाल से आजतक एक ही कथा सुना रहा है—"मजहब फैलाने के लिए बड़े-से-बड़ा गुनाह करना भी सवाब है!" भारतवर्ष में सैकड़ों वर्ष तक मुसलमानी सलतनत कायम रही। भारत को अपने शासनाधिकार में रखना उनका गौण उद्देश्य था, मुख्य उद्देश्य तो भारत में इसलाम का झंडा फहराना ही था। धार्मिक कट्टरता ही मुसलमान जाति की प्रकृत विशेषता है। धर्म के सूक्ष्म तत्त्व तक उनकी पहुँच भले ही न हो, पर 'इसलाम' के लिए वे भला-बुरा चाहे जो कर सकते हैं। उनमें प्रबल जातीयता भी है। शादी, गमी, त्योहार, जलसे और सफर में प्रायः देखा जाता है कि अमीर-से-अमीर और गरीब-से-गरीब मुसलमान भी पारस्परिक प्रेम और जातीय सहानुभूति का बहुत खयाल रखता है। खान-पान और हुक्का-पानी में तो वे इतने उदार और सहृदय हैं कि खास-खास मौकों पर उनका भाई-चारे का बर्ताव और सम्बन्ध देखते ही बनता है। अवसर उपस्थित होने पर अपने मजहब और कौम की जिन्दादिली साबित करने के लिए वे इतने उतावले हो जाते हैं कि वर्त्तमान और प्रत्यक्ष लक्ष्य के सिवा उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। वे समझते हैं कि हमारा मजहब और हमारी कौम दुनिया-भर से पाक और आला है।

जातियों की बात जाने दीजिए। सम्प्रदायों की ओर देखिए। हर-एक में एक-न-एक विशेषता जरूर पाइएगा। अपने आर्यसमाजी भाइयों की विशेषता पर विचार कीजिएगा, तो साफ मालूम होगा कि वे धार्मिक विचार में बड़े चोखे हैं। अपने सम्प्रदाय की महत्ता का उन्हें काफी अभिमान है। अपने सम्प्रदाय के मूल एवं मुख्य सिद्धान्तों के अनुसार वे आप भले ही कार्यतः आचरण न करते हों, पर दलील और हुज्जत में वे निश्चय ही पुख्ता हैं। बहस और तर्क करने में वे इतने बहादुर होते हैं कि अपने सम्प्रदाय का महत्त्व सिद्ध करने के लिए हर तरह की युक्तियों से काम लेते हैं। सिक्खों के बाद साम्प्रदायिक कट्टरपन आर्यसमाजी भाइयों में ही नजर आता है। जो सच्चे आर्यसमाजी हैं वे आर्यभूमि, आर्य-भाषा, आर्य साहित्य, आर्य-सभ्यता, और आर्य-धर्म के एकान्त-भक्त और अनन्य उपासक हैं। वे विश्वप्रेम के पीछे फकीर होना पसन्द नहीं करते, बल्कि भारत की वर्त्तमान दशा के अनुकूल ही धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ निश्चित करना उनका प्रधान उद्देश्य है। इसके लिए उनपर चाहे कोई उँगली उठावे या उन्हें कोई उंगली दिखावे, वे अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिए सब-कुछ कर सकते हैं। उनकी यह विशेषता उनके लिए वस्तुतः प्रशंसा की बात है।

सनातनधर्मियों की तो कोई खास विशेषता ही नहीं है; क्योंकि श्रीसनातनधर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है और उसकी शाखा-प्रशाखाओं की गिनती नहीं हो सकती। उसमें अनेक सम्प्रदाय सम्मिलित हैं। एक-एक सम्प्रदाय में अनेकानेक मार्ग निकल गये हैं। जितने पंथ हैं, उतनी ही विशेषताएँ हैं। वैष्णवों में जो आचारी हैं, वे अपनी चीजें किसी को छूने नहीं देते, उनकी चीजों का इस्तेमाल करके कोई सुख-सुविधा का अनुभव नहीं कर सकता। जो शैव हैं, उनमें बहुत-से लोग ऐसे पाये जाते हैं, जिन्हें विष्णु-मन्दिर में सिर झुकाने से एतराज है। इसी प्रकार ऐसे वैष्णव भी कम नहीं हैं जो शिवालय में जाने से हिचकते हैं। कहाँ तक कहा जाय, शाक्तों और स्मार्तों में भी इस तरह के अनेक बखेड़े हैं। वास्तव में ये बातें उन सम्प्रदायों की विशेषताएँ नहीं कही जा सकतीं, पर समय के फेर से आजकल के सम्प्रदायों में इसी तरह की बातें विशेषताएँ समझी जाती हैं। कोई समय ऐसा आनेवाला है जब कि सर्व-धर्म-समन्वय के कारण इन विभिन्न विशेषताओं का लोप हो जायगा और धार्मिक एकता की स्वर्गीय संगीत-लहरी पृथ्वी-तल को प्लावित कर देगी।

जो हो, सनातनधर्म पर यदि समष्टि रूप से दृष्टिपात किया जाता है तब उसकी पवित्र आत्मा की दिव्य ज्योति में अनन्त विशेषताएँ जगमगाती हुई नजर आती हैं। इतना जरूर है कि लौकिक विडम्बनाओं और साम्प्रदायिक आडम्बरों ने उसकी आत्मा का प्रकाश मन्द कर दिया है। उसके पक्के अनुयायियों की सबसे बड़ी विशेषता है शास्त्रार्थ करने के लिए कटिबद्ध रहना। दूसरी विशेषता है पुरानी लकीर पीटना। इसी के कारण श्रीसनातन-धर्म-जैसे अनादि और विशुद्ध धर्म के नाम पर सनातनधर्मियों के समाज में अनेक निन्दनीय एवं घृणित कार्य हो रहे हैं। किन्तु, इतना स्मरण रखिएगा कि इन विशेषताओं को समय के अखंड प्रवाह ने उत्पन्न किया है, असल में ये विशेषताएँ परम्परागत अथवा स्वाभाविक नहीं हैं।

जैसे हमारा-आपका समाज है, वैसे ही पण्डों, पुरोहितों, पुजारियों और भिखारियों के भी अलग-अलग समाज हैं। सभी श्रेणी और सभी व्यवसाय के मनुष्यों ने अपनी-अपनी एक टोली बना ली है। उसी टोली के अन्दर उनका सामाजिक जीवन सीमाबद्ध है। साधुओं, संन्यासियों और महन्तों के समाज भी पृथक्-पृथक् हैं। यदि आप पण्डों के समाज की विशेषताओं का निरीक्षण करने लगेंगे, तो आपके रोंगटे खड़े हो जायँगे।

साधारणतः भिखारियों की विशेषता यह है कि वे सर्वदा सर्वत्र अपने को ब्राह्मण ही बतलाते हैं। आधुनिक साधुओं और संन्यासियों की विशेषता यह है कि वे अयोध्या, हरद्वार, हृषीकेश और प्रयागराज तथा कुरुक्षेत्र ही अपना स्थान बतलाते हैं। उनकी दूसरी विशेषता है गाँजा पीना और तीर्थ-यात्रा अथवा कम्बल आदि के लिए चंदा इकट्ठा करते फिरना। पुरोहितों की विशेषता है—धर्म को पीछे रखकर यजमान की 'हाँ'-में-'हाँ' मिलाना; और पुजारियों की विशेषता है—मुँह देखकर प्रसादी देना तथा टट्टी की आड़ में शिकार खेलना। लगे हाथों महन्तों की विशेषताएँ भी सुन लीजिए। वे उसी को आशीर्वाद देते हैं जो उनके आगे नगद-नारायण रखकर सिर झुकाता है और उसी सुन्दरी को विभूति या तुलसीदल देते हैं जो पुत्र की कामना से उनकी सेवा में उपस्थित होती है। याद रहे, ये विशेषताएँ भी कुटिल काल की गति से ही उत्पन्न हुई हैं और इन कृत्रिम विशेषताओं का अस्तित्व तभी तक है, जबतक वह भावी क्रान्ति-युग परमात्मा के आदेश की प्रतीक्षा कर रहा है।

मारवाड़ी-जाति की जितनी विशेषताएँ हैं, सबका सम्बन्ध हिन्दू-जाति की विशेषताओं से है। किन्तु, जो विशेषताएँ समय के पलटा खाने से उत्पन्न हुई हैं—अर्थात् वर्त्तमान कृत्रिम युग में जिनकी सृष्टि हुई है—वे यद्यपि हिन्दू-जाति से स्पष्ट सम्बन्ध नहीं रखतीं, तथापि कृत्रिमता के आधुनिक युग ने उनका सम्बन्ध हिन्दू-जाति से जोड़ ही दिया है।

हिन्दू-जाति की उदारता जगत्प्रसिद्ध है। उस उदारता को मारवाड़ियों ने बहुत-कुछ प्रश्रय दिया है, दान-धर्म की मर्यादा तो आजकल मारवाड़ियों की उदारता पर ही निर्भर करती है। लोकोपकार के लिए दान देने में उन्हें आगा-पीछा करना नहीं आता। दान देते समय वे किसी प्रकार के भेद-भाव को हृदयस्थ नहीं करते। यह बात दूसरी है कि उनकी दान-प्रणाली में सुधार होने की जरूरत है। पर इस युग में सुधार की गुंजायश कहाँ नहीं है?

जहाँ-कहीं मारवाड़ियों का जमघट है, वहीं गोशाला, दातव्य औषधालय और धर्मशाला तथा अन्नसत्र हैं। अँगरेजी-राज्य के जिस अभ्युदय-काल में मारवाड़ियों के व्यवसाय-वैभव की वृद्धि हुई है, उस समय से लेकर आजतक मारवाड़ियों ने स्वदेशवासियों के कल्याणार्थ अपरिमेय द्रव्य-दान किया है। यदि उनके उस अपरिमित दान का वास्तविक सदुपयोग किया जाता, तो अब तक सार्वजनिक हित के अनेक प्रश्न हल हो गये होते। जो हो, दानशीलता मारवाड़ी-जाति की एक उल्लेखनीय विशेषता है। उसकी यह विशेषता उसकी सम्पत्तिशालिता पर निर्भर बतलाई जाती है; पर क्या मारवाड़ियों के सिवा अन्यान्य

जातिवाले लक्ष्मीपात्र नहीं हैं ? कितनी ही धर्मशालाएँ ऐसी हैं, जिनमें केवल जैन ही रहने पाते हैं। बहुत-सी ऐसी हैं, जिनमें गुजराती ही ठहरते हैं। किन्तु, हिन्दू-जाति की उदारता के नाम पर मारवाड़ियों की प्रायः सभी धर्मशालाओं के द्वार विश्व-संसार के प्राणियों के लिए सदा खुले रहते हैं।

मारवाड़ी-जाति की दूसरी विशेषता है भेप, भाषा, भूषा, भाव और भोजन में भारतीयता की प्रधानता। भारतवर्ष के कोने-कोने में, वाणिज्य के सम्बन्ध से, मारवाड़ी-जाति फैली हुई है। बिलोचिस्तान, बर्मा और सीलोन में भी मारवाड़ी व्यवसायी मौजूद हैं। किन्तु, सर्वत्र उनके पहनाव-पोशाक, खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल और रस्म-रिवाज में उनकी जातीयता के दर्शन होते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि उनकी जातीयता अभी तक निष्प्राण नहीं हुई है। यह जरूर है कि नई रोशनी की सभ्यता का प्रकाश अब उनकी आँखों में भी चकाचौंध पैदा कर रहा है; किन्तु अभी तक उनके समाज में पाश्चात्य-जगत् का शैतान भली-भाँति चौका नहीं लगा सका है। इसका प्रधान कारण यही जान पड़ता है कि वे पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के चक्रव्यूह में अभी उतने नहीं फँसे हैं जितने और समाजवाले। जिस दिन अँगरेजी-शिक्षा का भूत मारवाड़ी-समाज के सिर पर सवार हो जायगा और मारवाड़ी-जाति के नौनिहाल उस शिक्षा के रंग में अच्छी तरह रँग जायँगे, उस दिन मारवाड़ी-जाति की वर्त्तमान विशेषताओं का रूप कुछ और ही हो जायगा। यद्यपि हम उत्तरीय भारतवर्ष के प्रायः सभी छोटे-बड़े शहरों और कस्बों में घूमकर खास तौर से मारवाड़ी-समाज का आचार-व्यवहार देख चुके हैं और साथ ही इस बात का भली-भाँति अनुभव भी कर चुके हैं कि बी० ए० और एम्० ए० पास करके भी मारवाड़ी नवयुवक परिवर्त्तित तथा जातीयता-भ्रष्ट नहीं हुए हैं, तथापि देश की वर्त्तमान परिस्थिति के इस कड़े तकाजे को कोई किसी तरह इनकार नहीं कर सकता कि अब, इस समय, मारवाड़ी-समाज में उच्च व्यापारिक शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि मारवाड़ी-समाज इतना ऐश्वर्यशाली होकर भी अपने समाज के भावी आशा-कुसुम नवयुवकों के लिए उच्च एवं राष्ट्रीयतापूर्ण व्यापारिक शिक्षा की सन्तोषप्रद व्यवस्था नहीं कर सकता, तो उसे यह स्मरण रखना होगा कि अनतिदूर भविष्य में स्कूलों और कॉलेजों की शिक्षा-प्रणाली मारवाड़ी-समाज के लिए भी पूतना बन जायगी। आज जरूरत इस बात की है कि स्वजातीय धर्म—कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य—के अभ्युदय को लक्ष्य बनाकर मारवाड़ी-समाज अपने होनहार बच्चों के लिए, धर्मशालाओं और गोशालाओं की तरह कृषि-विद्यालय तथा वाणिज्य-शिक्षालय आदि का निर्माण करने में भी प्रचुर धन व्यय करे।

दूसरी विशेषता में जितनी बातें सम्मिलित कर ली गई हैं उन सबमें थोड़ा-बहुत देशकालानुसार सुधार और हेर-फेर होना आवश्यक है। हमारी यह मंशा हरगिज नहीं है कि मारवाड़ी-पुरुष पगड़ियाँ पहनना छोड़ दें, मारवाड़ी महिलाएँ घाघरे न पहनें, दूकानों में तोशक और गद्दे की जगह कुर्सी-टेबुल रखे जायँ, गद्दियों पर मीठे तेल के चिराग की जगह जर्मनी के लैम्प जलाये जायँ, हिन्दुस्तानी बही-खाते का ढंग बदलकर

अँगरेजी-रजिष्टरों की शैली स्थापित की जाय, देशी पक्की स्याही और कील की कलम को छोड़कर 'ब्लू-ब्लैक' और 'निब-होल्डर' का व्यवहार किया जाय; फुलके और पापड़ खाना छोड़कर चाय-बिस्कुट की आदत डाली जाय, अथवा लक्ष्मी-पूजा का बखेड़ा छोड़कर प्राचीन पद्धति को धता बताया जाय। यदि ये बातें सचमुच हो ही जायँगी, तो फिर मारवाड़ी-जाति की जो खास विशेषता है, वह निःसन्देह काफूर हो जायगी। हाँ, उन्हें वर्त्तमान युग के दूर-दर्शी कवि के इस कथन पर अवश्य ही ध्यान रखना होगा, ताकि उन्हें कोई पुरानी लकीर का फकीर कहने का साहस न कर सके—

है बदलता रहता समय उसकी सभी घातें नई;
कल काम में आती नहीं हैं आज की बातें कई।
है सिद्धि-मूल यही कि जब जैसा प्रकृति का रंग हो,
तब ठीक वैसी ही हमारी कार्यकृति का ढंग हो॥
प्राचीन हों कि नवीन छोड़ो रूढ़ियाँ जो हों बुरी,
बनकर विवेकी तुम दिखाओ हंस जैसी चातुरी।
प्राचीन बातें ही भली हैं, यह विचार अलीक है,
जैसी अवस्था हो जहाँ वैसी व्यवस्था ठीक है॥

—'भारत-भारती'

परिवर्त्तन ही जीवन का लक्षण है। किन्तु, ऐसा परिवर्त्तन नहीं, जैसा भारतवासियों का हुआ है कि उनके पूर्वज अगर संयोगवश अपनी संतान की दशा देखने के लिए आ जायँ तो पहचान भी न सकें कि वास्तव में ये हमारे ही वंशधर हैं या नहीं। परिवर्त्तन की सीमा वहीं तक रहनी चाहिए जहाँतक समय की अनुकूल धारा के साथ चलकर सामाजिक जीवन शान्ति प्राप्त कर सके और सामाजिक शृंखला में किसी प्रकार का गोलमाल न मचे।

अन्त में हमें यह कहना पड़ता है कि एक ऐसी विशेषता भी है, जो पूर्वोक्त विशेषताओं के मुँह में कालिख पोत देती है। वह है—'धर्मभावना-शून्य व्यवसाय-बुद्धि'! विदेशी वस्तु, चमड़ा और अफीम आदि के व्यापार से राष्ट्र की बड़ी क्षति होती है। यद्यपि और जाति के लोग भी ऐसे स्वदेश-नाशक व्यापारों से लाभ उठा रहे हैं, तथापि सबकी दृष्टि अधिकतर मारवाड़ी-समाज की ओर ही आकृष्ट होती है; क्योंकि शुद्ध शुक्ल वस्त्र पर पड़ा हुआ धब्बा अनायास लोगों की नजरें बाँध लेता है और सर्वाङ्गसुन्दर व्यक्ति की कटी हुई नाक की आलोचना खूब होती है। यदि मारवाड़ी-जाति धर्म-भावना से प्रेरित होकर स्वदेशी व्यापार को उत्तेजना दे, तो उसकी सारी विशेषताएँ उसी तरह खिल उठेंगी जिस तरह शीतल सुप्रभात की स्निग्ध मन्द मलय-वायु के झकोरे से फूलों की सुन्दर कलियाँ मुस्करा उठती हैं। एवमस्तु!

—मासिक 'मारवाड़ी-अग्रवाल' (कलकत्ता); वर्ष ३, आषाढ़ १९८१ वि० (सन् १९२४ ई०)

हित की बात

धर्म-संसार में युग-परिवर्त्तन का जब समय आता है तब वह जगन्नाटक-सूत्रधर परमेश्वर उसी समय के अनुकूल ज्ञान-सामग्री-सम्पन्न एक गुरुगरीयसी आत्मा संसार में प्रेरित करता है—जो बड़े-बड़े अपमानों को शान्त भाव से सहन कर लेता है; विश्व की निस्स्वार्थ सेवा करने में अपनी कीर्त्ति, बुद्धि, देह और सारी अवस्था का स्वाहा कर देता है; संसारियों के हितार्थ सभ्यता का प्रवाह समयानुकूल मोड़ देता है; शीतोष्ण, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मानापमान, प्रतिष्ठा और तिरस्कार, किसी की ओर कुछ ध्यान न देकर परोपकारार्थ अपने सर्वस्व की तिलाञ्जलि दे देता है। वही संसार-विश्रुत महात्मा कहा जाता है। हमारे श्रद्धास्पद महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ऐसे ही व्यक्तियों की गणना के समय 'कनिष्ठिकाधिष्ठित' हो सकते हैं।

स्वामीजी के सिद्धान्त कैसे उज्ज्वल, उदार, उत्कृष्ट, परिमार्जित, स्वाभाविक, अकृत्रिम और नीतिपूर्ण हैं—इस बात का सहज ही सबकी समझ में, भली-भाँति आ जाना बड़ी टेढ़ी खीर है। उनके शुद्ध विचारों में कितनी राष्ट्रीयता भरी हुई है। उनकी बात-बात में कैसी प्रदीप्त प्रतिभा प्रस्फुटित होती है और उनका जीवन-रहस्य कैसा विलक्षण तथा निष्कलंक है—यह सब बातें उसी को सूझ पड़ेंगी जो एकान्त में बैठकर स्वदेश की आधुनिक दुरवस्था पर आठ-आठ आँसू बहायगा।

आज दिन जितने आर्य भाई हैं उनमें सब नहीं तो कम-से-कम सैकड़े नब्बे के हिसाब से ऐसे हैं जो यही समझ बैठे हैं कि स्वामीजी ने केवल सनातनधर्म का ध्वंस करने के ही लिए भारतमाता की गोदी सुशोभित की थी। उनके लिए स्वामीजी केवल ईर्ष्या, द्वेष, कलह, फूट, वैर और विरोध, यही सब 'अमृत-फल' संसार में छोड़ गये। उनसे स्वप्नावस्था में शायद कह भी गये कि खुल्लमखुल्ला मर्यादापुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र और योगीश्वर भगवान कृष्णदेव को समय-समय पर जली-कटी सुनाते रहना; भगवान व्यासदेव ऐसे वेदविशारद को दम्भी और मिथ्यावादी कहकर पुकारना; वाल्मीकि ऐसे बृहत् काव्यात्मक इतिहास-लेखक को लथाड़ते रहना; किसी की कुछ न सुनना, बस, अपनी ही धुन में मस्त रहना!

हाय री आर्यसन्तान! तूने अपने देश के एक उत्तमोत्तम आदर्श पुरुषपुङ्गव के विशद-जीवन से कैसी गन्दी शिक्षा प्राप्त की! उनके विकसित जीवनोद्देश्य से कैसा निकृष्ट निष्कर्ष निकाला!! तूने अपने यहाँ के एक दिग्गज-धुरन्धर धर्मतत्त्ववेत्ता पर कैसा भद्दा कलंक आरोपित कर संसार-बीच नाम हँसाया!!!

पुनरपि, हमारे सनातनी भाइयों की संख्या भी कम नहीं है जो स्वामीजी को कट्टर विधर्मी, उपद्रवी, ज्ञानच्युत और केवल नाम कमानेवाला ही कहकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। उनकी समझ में स्वामीजी का मुख्य उद्देश्य यही था कि देश में घर-घर कलह और घोर अशान्ति का विस्तार हो, धर्म-कर्म का ह्रास हो और ब्राह्मणों की रोजी बन्द हो।

शाबाश सनातनी भाइयो ! छिद्रान्वेषण और व्यर्थ दोषारोपण करने की अच्छी जिम्मेवारी तुमलोगों को मिल गई है। तुम्हीं लोग प्रातःस्मरणीय भगवान गौतम बुद्ध को हिन्दू-धर्म का प्रबल शत्रु मानते हो ! तुम्हीं लोग कबीरपंथी, दादूदयाली, नानकशाही आदि मतानुयायियों को व्यर्थ अपना जानी दुश्मन समझते हो ! धर्म की सत्ता और महत्ता खूब समझे ही बिना आपस में लड़े पड़ते हो ! प्यारे भाइयो ! क्या तुमलोगों की मर्यादा इसी से बढ़ेगी ? तुमलोगों के लिए क्या यही उपयुक्त है ? क्या इसी में तुमलोगों की शोभा है ? हा दैव ! स्वधर्माभिमानी सनातनी भाइयों का हृदय ऐसा संकीर्ण ? ऋषि-सन्तति का मानस ऐसे क्षुद्रादपिक्षुद्र भावों से भरपूर ? उनके नैनों में ऐसी मोह की गाढ़ी रतौन्धी ? उनका अभ्यन्तर इस तरह कलुषित ? उनके विचार ऐसे दूषित ? भावनाएँ ऐसी पतित ? विश्वास ऐसा भ्रष्ट ? ऊपर चिकना और भीतर इतना मनोमालिन्य ?

प्यारे आर्य्य और सनातनी भाइयो ! कबतक तुमलोग दो नाम से पुकारे जाओगे ? वैर-फूट के बीज को कबतक सींचते-उगाते रहोगे ? स्वामीजी के उज्ज्वल उद्देश्यों का गूढ़ रहस्य कबतक समझते रह जाओगे ? उनके सिद्धान्त-रत्नों को कबतक परखोगे ?

तुम्हीं लोगों की सन्तोषजनक संख्या देखकर तो भारतमाता ने आशा की टकटकी बाँधी थी ! किन्तु, दुर्दैव ! बीच ही में ऐसी बेढंगी रार मची कि दिग्दिगन्त में विषाक्त द्वेष-धूम्र फैल गया ! क्या तुम लोगों को कुछ बाहर की भी खबर है ? कबतक कूपमण्डूक बने रहोगे ? अजी होश करो, देखो, स्वामीजी की ही घुड़की सुनकर मुसलमान भाई एकदम जाग पड़े हैं, वे तो अब अपनी कौम में जागृति फैला रहे हैं—

ऐ भाई मुसलमानो ! तुम्हें कुछ भी खबर है।
तुम ख्वाब[1] में हो और जमाने[2] में सेहर[3] है।।
मीठी न कहो नींद को, यह नींद है कड़वी।
यह फन्द वह है जिसमें हलाहल का असर है।।

भाई भारतीयो ! 'आर्य्य और हिन्दू', 'आर्य्य और सनातन'—इन शब्दों का बेकार झगड़ा छोड़ो। स्वामीजी के ज्वलन्त उद्देश्यों को समझो। प्रेमपूर्वक, सच्चे हृदय से, निष्कपट भाव से, आपस में गले मिलो। याद रखो, यदि वही हमारे स्वामीजी कहीं अमेरिका में जन्म लिये होते, इङ्गलैंड और जर्मनी में उत्पन्न हुए होते अथवा अरब या फारस में ही पैदा हुए होते, तो आज दिन वहाँ उनका कितना ऊँचा सम्मान होता ? उनकी अपरिमेय विद्वत्ता का लोहा कौन नहीं मानता ? उनकी मेधाशक्ति कैसी बलीयसी समझी जाती ? उनकी तेजस्विता और मनस्विता की कैसी समुचित प्रतिष्ठा होती ? किन्तु, हा ! हन्त !! मुझे आज तक क्या यह भी मालूम नहीं कि स्वदेश-संजात मनीषियों का किस तरह सम्मान किया जाता है ? अपने देश के अन्दर उपजे हुए विद्वान-विद्रुम का कितना मूल्य होता है ?

१. सपना। २. युग, समय। ३. सुबह, सुप्रभात।

प्यारे भाइयो ! स्वामीजी का मुख्य उद्देश्य यह था कि समूचे भारत के हिन्दू और मुसलमान, आर्य और अनार्य, अपने को भारतीय समझें, भारत में जन्म धारण करने का गौरव और गर्व ग्रहण करें, एकता के दृढ़ सूत्र में बद्ध होकर भेद-भाव को बिसारें, अविद्या का अन्धकार दूरकर तत्त्वज्ञान के सूर्योदय से अपने हृदय-शतदल को प्रफुल्ल करें, जाड्यान्धकार का विनाश कर यथार्थ ज्ञानरूपी चन्द्रमा की सुधा-सिंचित किरण-धाराओं को पीकर अमर होवें। अपरञ्च, सामाजिक कुरीतियों का विधिपूर्वक मूलोच्छेद हो जाय; भारत की कुप्रथाओं का पूर्णतया सम्मार्जन हो जाय; अत्याचार और व्यभिचार के मूल कारणों—बीजों का सर्वथा विनाश तथा अभाव हो जाय; ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन करने के अभ्यास का सारे देश में प्रसार हो जाय; देश के अन्दर वीर, पराक्रमी, वलिष्ठ, धीमान्, प्रज्ञाचक्षु, प्रत्युत्पन्नमति और प्रतिभाशाली सन्तानें उत्पन्न हों, सभी भारतीय परिश्रम में व्यस्त रहें, कार्य्यदक्ष और उद्यमशील हों, दैव के भरोसे न रहें, आलस्य के पंजे में न फँसें, पर-भाग्योपजीवी बनने से बचें और कर्मनिष्ठ हों। अबल का अधिकार सबल न छीने; दुर्बल को बलवान् न सतावें—इत्यादि।

हाय ! ऐसे देशभक्त महर्षि के जाज्वल्यमान सिद्धान्तों से जो लोग अच्छी शिक्षा ग्रहण नहीं करते, उनसे भला क्या आशा की जा सकती है? सच्ची बात तो यह है कि अभी तक तो कितने हमारे आर्य्य और सनातनी भाई ऐसे हैं जो केवल पल्लवग्राही हैं, किन्तु व्यर्थ की धर्म-विडम्बना पसारे फिरते हैं। 'माँगते भीख—चुकाते गाँव का जमा !' स्वामीजी के सिद्धान्तों को तनिक भी समझते तक नहीं, पर आर्य बनकर फूले फिरते हैं और सनातनी बनकर समालोचना-दर-समालोचना करते फिरते हैं। कैसे अचरज की बात है !

स्वामीजी का जीवनोद्देश्य कैसा उच्चाशयपूर्ण था—यह निस्सन्देह अनुभवनीय और अनुकरणीय है। कहने के लिए तो लाखों की संख्या में सनातनी हिन्दू भाई ही हैं जो पुण्यश्लोक तापस-शिरोमणि गौतम बुद्ध को नास्तिक और वेद-विरोधी कहकर पुकारते हैं और गीतामृतवर्षी कृष्णचन्द्र ऐसे योगिराज ज्ञान-निधान भगवान को इन्द्रियासक्त और भोगी-विलासी कहा करते हैं। तो इससे क्या वे वस्तुतः निन्द्य कर्म करनेवाले थे? कौन मूर्खाधिराज उन्हें इस तरह का कलंक लगावेगा? आपलोगों ने सुना होगा कि न्यूटन जब स्वदेश में अपना विचार लेकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुआ तो सभी लोग उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लग गये, चारों ओर से उसे फटकार ही मिली, किन्तु करोड़ों विघ्न-बाधाओं का बड़ी बहादुरी और दिलेरी से सामना करते हुए भी वह अपने उद्देश्य-पथ से विचलित नहीं हुआ और अन्तकाल उसे पूरी सफलता प्राप्त हुई। खैर, अभी लोगों की आँखों में पट्टी बँधी हुई है. मगर याद रहे, भाइयो ! वह दिन अब दूर नहीं है जिस दिन स्वामीजी के उद्देश्यों को आबाल-वृद्ध नर-नारी समझ लेंगे और देश में सुशान्ति की तूती बोलने लगेगी।

यहाँ धर्म-संसार के भीतर जितने कार्यकर्त्ता हैं, उनमें उदारता का अभाव होने से धर्म पर बड़े जोर का धक्का पहुँच रहा है। सब लोग आपस के छिद्रान्वेषण में ही लगे

पाये जाते हैं। धर्मोपदेशक झगड़े और बहस की गठरी लादे फिरते हैं। ज्ञानोपदेश और शान्ति-विस्तारिणी—प्रेम-प्रसारिणी शिक्षा का लेशमात्र भी उनके द्वारा देश में नहीं फैलता। हमारे सनातन धर्मावलम्बियों के ही घर में आज दिन भी—परम्परा की—कितनी ही घिनौनी कुरीतियों की—लकीर पिट रही है। भला उसका संशोधन क्यों नहीं किया जाता? खाली जबानी जमाखर्च से बेड़ा पार लगेगा? बकवाद करने से धर्म की मर्यादा बढ़ेगी? बहस और थोथी जबानदराजी करने से धर्म की नींव टिकाऊ हो सकेगी? हर्गिज नहीं।

प्यारे भाइयो! अच्छी चीज का भी दुष्प्रयोग—दुर्व्यवहार करने से उसकी सच्ची सत्ता की ज्योति मन्द पड़ जाती है। स्वामीजी के अक्षुण्ण सिद्धान्तों को यदि तुम मिल-जुलकर विचारोगे, उसको समयानुकूल ढर्रे पर चलाने की चेष्टा करोगे—तो संभव है कि वेदोक्त धर्म का शरीर इस तरह कलुषित न हो, अन्यथा भारी भय है कि स्वामीजी ऐसे नीतिविचक्षण पुरुषसिंह के उद्देश्यों का कहीं बेतरह दुष्प्रयोग हो गया, तो सन्देह नहीं कि धर्म-कर्म रसातल में चला जाय। सभी लोग उनके सिद्धान्तों के समझने का दावा करते हैं, पर वास्तविक रूप में सब लोग नहीं समझते हैं। स्वामीजी के ज्ञानसागर में जो ऊपर-ही-ऊपर तैरते हैं वे केवल फेन और तृण-काष्ठादि व्यर्थ पदार्थों के भागी होते हैं, किन्तु जो लोग भीतर पैठ कर डुबकी लगाकर ढूँढ़ते हैं वे अवश्य ही मूँगे-मोती पाते हैं।

सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गुः
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।

तुच्छ वस्तु को त्याज्य समझो—सुष्ठु पदार्थ ग्रहण करो, यही महत्ता का चिह्न है।

मेरे प्यारे भाइयो! सोचो तो सही कि स्वामीजी-से पुरुषसत्तम के उपदेश-आदेश को कहाँ तक आपलोगों ने पालन किया, किस तरह उनका सुप्रयोग किया? भला हाथ में आये हुए अनमोल रतन को काँच का टुकड़ा समझकर क्यों फेंकते हो? क्या दोष ही ढूँढ़ निकालने में सिद्धहस्त रहे, गुणावली की ओर दृष्टि भी नहीं फेरी? बस, सीख लो, जो दोषयुक्त रहता है वही दूसरे को दोषमय देखता है, परन्तु जिसका अन्तःकरण विमल और शुद्ध है उसके लिए अखिल ब्रह्माण्ड स्वच्छ दर्पण के सदृश है।

विचारो—देखो—घोर निद्राभिभूत भारतीय धर्मकेसरी के कान ऐंठकर स्वामीजी ने एक खूब कड़ी चपत नहीं जमाई होती तो आज दिन धर्म के अन्दर इतनी जागृति नहीं दीख पड़ती? तमावृत धर्म-संसार आलोकमय कैसे होता? यह तो कहिए कि भला आपने स्वयं कभी अकेले में बैठकर स्वामीजी के सिद्धान्तों को टटोला है? उनके जीवन-आकर से कितने रत्न खोद निकाले हैं आपने? या यों ही बकझक लगाये चलते हैं! स्वामीजी एकता का रद्दा जमा गये और आप उसपर कुदाल मार रहे हैं, झगड़े की नींव डालने के हेतु? खयाल रखिए—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'—'**Religion lies in heart not in discussion**'। गुप्त या प्रकट रीति से भारत के सभी

धर्मावलम्बियों के हृदय में यह बात समा गई है कि स्वामीजी अगर सब मुख्यमान धर्मानुयायियों को खूब अच्छी तरह लताड़ते नहीं, सब धर्मों के मवाद-भरे फोड़े में नश्तर पेश नहीं करते—सबकी नाक पर के फोड़े नहीं दुखाते, सबके अवनति-पथ को कंटक-संकुल नहीं कर डालते, तो आज दिन भारत के सभी धर्मानुयायी इस तरह कान नहीं खड़ा करते, सब धोती झाड़कर उठ खड़े नहीं होते! यह स्वामीजी का ही प्रताप है कि चारों ओर धर्मसभाएँ स्थापित हो रही हैं—हो चुकी हैं और आइन्दा भी होंगी; प्रत्येक वर्ष धर्म की वृद्धि और रक्षा के लिए अनेक चेष्टाएँ और चर्चाएँ की जाती हैं—महोपदेशक तोड़े ऐंठ रहे हैं। सभी लोग, धर्म किस चिड़िया का नाम है—यह समझने लग गये हैं। धार्मिक पत्र और पत्रिकाएँ चारों ओर दृष्टिगोचर हो रही हैं। सब लोग अपने-अपने धर्म को रखवाली करने के उपाय में संलग्न हो रहे हैं। भारतधर्म-महामण्डल और ऋषिकुल ऐसी संस्थाएँ क्या कहीं सुनने में भी आतीं, अगर स्वामीजी की कृपा न होती तो? स्वामीजी की दूरदर्शिता यदि कृपा न करती तो हाथों-हाथ 'सनातनधर्म-पताका' कैसे फहराने पाती? स्वामीजी के मोटे सोंटे की चोट न पड़ती तो सब लोग आलस्यभरी निद्रा-तन्द्रा क्योंकर त्यागते? धर्मभीरु लोग चौकन्ने ही नहीं होते। अस्तु! मोहान्धकार में विललाते फिरते हुए धर्मभीरुओं को स्वामीजी ने वह वह गिन-गिनकर भीतरिये घुम्से लगाये हैं कि जब-जब पुरवैया बहेगी तब-तब वे उस चोट से व्यथित और तदुपरान्त सुखी होंगे।

प्यारे बन्धुओ! सोचो जरा, अगर तुम्हारी दृष्टि में विधवा-विवाह खटकता है तो बाल-विवाह—अनमिल जोड़ी का दुःखभारमय समुद्वहन—क्यों रुचता है? श्राद्ध-खण्डन खटकता है तो उसके अन्दर होनेवाले मर्मभेदी अन्याय और अनर्थ क्यों नहीं खटकते? मूर्त्तिपूजा-खण्डन से दुःख होता है तो 'देवानां-प्रिय' पण्डों का उपद्रव और अत्याचार क्यों नहीं स्मरण हो आता? निरक्षर भट्टाचार्य, विलास-रत, मालपूआ चाभनेवाले, मसनद के बोझ, हट्टे-कट्टे साधू बाबा और देश-दुर्गति से अनभिज्ञ महन्तों के मचाये हुए उत्पात क्यों भूल जाते हैं? पण्डे और बाबा लोगों द्वारा जो अनर्थ और अनाचार दिन-दूना रात-चौगुना फैल रहा है उनकी ओर ध्यान क्यों नहीं दौड़ता? देश के उन मुफ्तखोरों की ओर क्यों नजर नहीं फिरती? प्रयाग के मठाधीश......की कहानी—अभी हाल की ही बात है कि 'अभ्युदय' ने धज्जी उड़ाई है—क्यों नहीं याद पड़ती?

किसी का दिल दुखाना स्वामीजी का सिद्धान्त नहीं था। मगर न जाने क्यों? दुनिया की कुछ ऐसी अटपटी चाल ही है कि जिसमें जो दोष हो, यदि वह दोष उसे ही दिखलाकर सावधान होने की चेतावनी दे दी जाय तो उसे बहुत नागवार गुजरता है। धर्म-संसार की अगर स्वामीजी ने कड़ी समालोचना ही की, तो क्या बुरी बात की? समालोचना यदि सच्ची हो और दिल की सच्ची लगन से निकली हो तो तीखी होने पर भी वह हितकारिणी ही समझी जा सकती है। कड़ी समालोचना का असर बड़ा ही जबरदस्त हुआ करता है। जो मेरा ठीक-ठीक ऐब बतलावे, वही मेरा मित्र।

स्वामीजी-से देशभक्त और समाज-सुधारक के ऊपर व्यर्थ जो आक्षेप मढ़े जाते हैं, वे सर्वथा निर्मूल होते हैं। जो गड़कर इस बात की जाँच-पड़ताल करेगा और पता लेगा उसीको इस बात की खबर होगी कि स्वामीजी का असल उद्देश्य क्या था।

जातीयता और राष्ट्रीयता—एकता और वीरता—ब्रह्मचर्य और मातृभाषानुरागिता—मितव्ययिता और पवित्र शान्ति—विचारशीलता और प्रखर बुद्धिमत्ता—सहृदयता और समप्राणता—गुणग्राहकता और स्वत्व-संरक्षण—अधिकारप्रियता और आध्यात्मिक स्वतंत्रता—सहनशीलता और जितेन्द्रियता—आत्मनिग्रह और समदर्शिता—यही सब मुख्य तथा सुदृढ़ स्तम्भ हैं, जिनपर स्वामीजी के सिद्धान्त-भवन का निर्माण हुआ है।

प्रिय वाचकवृन्द! इन उपर्युक्त गुणों को एक-एक करके समझिए। इनपर विचार दौड़ाइए। माला ठकठकाकर इनका जप-अनुष्ठान कीजिए। स्वामीजी की देशहितैषिता का शुद्धादर्श सामने रख लीजिए। जीवन सार्थक बनाइए। देश का कल्याण कीजिए। मातृभाषा को राष्ट्रभाषा बनाने की चेष्टा करते जाइए। वीर्यरक्षा से शरीर पुष्ट कीजिए। ज्ञानार्जन और विद्याभ्यास से आत्मा की पुष्टि कीजिए। देश की दशा पर आँखों को उमड़ने दीजिए। भ्रम में पड़कर समय नष्ट न कीजिए। अबलाओं का हक मत छीनिए। नारी-जाति के साथ अन्याय का धन्धा मत खड़ा कीजिए। एक नियम संगठित करके समाज के शासक हो जाइए। बस, यही सब स्वामीजी के सर्वव्याधि-विनाशक अमृत-बूटी नामक नुस्खे हैं।[1]

—मासिक 'भास्कर' (मेरठ); भाग ६, संख्या ५-६, विक्रम-संवत् १९७३ (सन् १९१६ ई०)

•

शिक्षा-पद्धति और सनातनधर्म

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के कारण सनातनधर्म का कितना ह्रास हुआ है, यदि इस बात पर विचार किया जाय तो सनातनधर्म की वर्त्तमान अवस्था देखकर शिक्षा-पद्धति की अनुपयोगिता और निस्सारता का भली-भाँति अनुमान किया जा सकता है! किसी देश अथवा जाति की उन्नति का मूल कारण है, उसके बालकों की शिक्षा-प्रणाली। यदि किसी देश की धार्मिक और सामाजिक तथा मानसिक उन्नति देखनी हो तो उसकी शिक्षा-प्रणाली का निरीक्षण करना चाहिए। जिस देश अथवा जाति के बालक जैसा साहित्य पढ़ते हैं, वैसी ही उनके भविष्य की सृष्टि होती है। हमारे देश के बालकों को आजकल जैसी शिक्षा दी जा रही है, वह ऐसी जहरीली है, जो उनके हृदय में जमे हुए पुरातन, पवित्र हिन्दू-संस्कारों को मार डालती है। वे अपने पूर्वजों का गौरव भूल जाते हैं।

---

१. यह लेख सनातनधर्म और आर्यसमाज के संघर्ष-युग के अन्तिम दिनों में लिखकर और छपवाकर आरा नगर में वितरित भी किया गया था। —लेखक

प्राचीन भारतीय सभ्यता का उन्हें तनिक भी अभिमान नहीं। वे नहीं जानते कि भारतीय साहित्य में कैसे-कैसे अमूल्य रत्न पड़े हुए हैं। वे नहीं जानते कि हमारा देश आज से कुछ ही सौ वर्ष पहले कितना उन्नत था। उन्हें इसका भी कुछ पता नहीं कि पहले यह हमारा देश कैसा था और अब उसकी वास्तविक दशा क्या है तथा क्यों है? उन्हें अपनी ही मातृ-भूमि के उत्थान और पतन का इतिहास नहीं मालूम, यह कैसे आश्चर्य और खेद का विषय है।

किन्तु, मालूम हो भी कैसे? इतिहास के नाम से उन्हें जो कुछ पढ़ाया जाता है, वह वास्तव में इतिहास कहे जाने योग्य नहीं। वह तो अज्ञानता और दासता का मंत्र है। वह हिन्दू-जाति के लिए कलंक है। वह बतलाता है कि हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-साहित्य केवल दो-ढाई हजार वर्षों का ही है। वह बतलाता है कि भारतवासी इस देश के निवासी हैं ही नहीं। उनके पूर्वज मध्य-एशिया से आये। पशु चराते थे, मांस खाते थे, असभ्य थे, जंगली थे, रमता और मँगता थे। उन्होंने जो गड़ेरिया-गीत गाया, वही वेद है। उनसे पहले इस देश में आबादी नहीं थी। हाँ, दक्षिण-भारत में कुछ जंगली जातियाँ थीं।

क्या ऐसे इतिहास से हमारे बालकों में कभी आत्माभिमान और स्वदेश-गौरव का भाव जाग्रत हो सकता है? कदापि नहीं। वर्णाश्रम-धर्म के विषय में उस इतिहास में जो कुछ पढ़ाया जाता है, वह और भी निन्दनीय और उपेक्षणीय है। उसमें लड़के पढ़ते हैं कि पहले वर्ण-व्यवस्था कभी थी ही नहीं; क्योंकि आर्य अत्यन्त असभ्य थे, अतएव उनकी आवश्यकताएँ अत्यल्प थीं। ज्यों-ज्यों उनकी आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं, त्यों-त्यों वे ऐसी चेष्टा करने की बात सोचने लगे, जिससे रहन-सहन में सुविधा हो। अर्थात्, जब वे कुछ सभ्य हुए तो समाज-निर्माण की आवश्यकता अनुभव करने लगे। अन्त में कर्मानुसार उन्होंने वर्ण-व्यवस्था निर्द्धारित कर डाली—पुजारी हुए ब्राह्मण, लड़ाकू हुए क्षत्रिय, सौदागर हुए वैश्य और सेवक हुए शूद्र। इस प्रकार वर्ण-विभाग द्वारा उन्होंने समाज-संगठन किया और धीरे-धीरे सभ्य हुए। ऐसी ही अनर्गल बातें और कपोल-कल्पित कल्पनाएँ हमारे उन पूज्य पूर्वजों के विषय में लिखी गयी हैं जिनकी अनादि सभ्यता के शिष्य मिस्र, यूनान, रोम और चीन आज भी संसार के प्राचीन सभ्य साम्राज्यों में बड़े सम्मान और गौरव के साथ परिगणित होते हैं और जो नामशेष हो जाने पर भी आज संसार में भारतीय सभ्यता के यश-स्तम्भ बनकर इतिहास के वक्षस्थल पर विराजमान हैं।

यदि हिन्दू बालक आज मुसलमान बालकों की तरह यह पढ़ते कि हमारे पूर्वज अन्य देशों पर विजय प्राप्त करके बाहुबल से शासन करते थे—युद्धकुशल और घोर पराक्रमी थे—बाँके-लड़ाके वीर और प्रचण्ड प्रतापी थे, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू बालक आज इतने निस्तेज नहीं होते। मुसलमानी और अँगरेजी-शासनकाल का इतिहास बतलाते समय उन्हें केवल एक ही पक्ष की श्रेष्ठता बताई जाती है, उनके सामने हिन्दू-पक्ष की दीनता और हीनता का ऐसा उपाहासास्पद चित्र अंकित किया जाता है कि वे असलियत से बहुत दूर रह जाते हैं, वास्तविकता के ज्ञान से वंचित ही रह जाते हैं। यदि उन्हें बतलाया जाता कि उनके पूर्वज अपने धर्म की रक्षा के लिए किस बहादुरी से

लड़ रहे थे, कितना त्याग दिखाया था, किस प्रकार प्राण देकर धर्म बचाया था तो आज सनातनधर्म ऐसे संकट में न पड़ता कि जो चाहे वही उसका अपमान करने का दुस्साहस कर बैठे। वस्तुतः दूषित शिक्षा-प्रणाली ने ही सनातनधर्म के प्रति हिन्दू-संतान के हृदय में अश्रद्धा उत्पन्न कराई है और जबतक उसमें सुधार नहीं होता अथवा बालकों को उसके सर्वनाशकारी प्रभाव से बचाने का कोई उद्योग नहीं होता, तबतक सनातनधर्म के प्रति लोगों की वह भावना और निष्ठा नहीं हो सकती—जो पहले थी। कितनी लज्जा की बात है कि आज हमारे बालक अपने धर्म और साहित्य तथा सभ्यता और समाज के विषय में तो कुछ नहीं जानते, पर विदेशी सभ्यता और समाज तथा पाश्चात्य धर्म और साहित्य के विषय में बहुत-कुछ जानते हैं; जिसका परिणाम यह हो रहा है कि आत्मगौरव और भारतीयता का भाव छूटता चला जाता है तथा पाश्चात्य नीति-रीति नस-नस में प्रवेश करती जा रही है।

ऐसी स्थिति में आवश्यकता है धार्मिक शिक्षा की और उन कृत्रिम इतिहासों के सुधार की, जिनके कारनामे ऊपर सुनाये गये हैं। धार्मिक शिक्षा के लिए ग्रन्थों का अभाव नहीं है। अतएव, धार्मिक शिक्षा बचपन से ही शुरू होनी चाहिए और उसके पूर्ण रूप से समाप्त होने पर ही स्कूल की शिक्षा का आरम्भ होना चाहिए। धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ उन्हें भावी स्कूली शिक्षा के समय पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों के गुण-दोषों का भी ज्ञान कराना चाहिए, ताकि वे अपने मस्तिष्क और हृदय पर पड़नेवाले उन मार्मिक आघातों से सावधान रहें, जो जातीयता और धार्मिकता के लिए परम घातक हैं। यदि भारत के वे शान्तिप्रिय विद्वान जिनका सरकार पर प्रभाव है, इस बात की चेष्टा करें कि इतिहासों को अबतक के भारतीय पुरातत्त्व शोध के आविष्कारों के आधार पर भी संस्कृत और परिष्कृत कर प्रचलित किया जाय, तोभी हिन्दू-जाति और सनातनधर्म का बहुत-कुछ उपकार हो सकता है। सर्वोत्तम कार्य तो यह होता कि कृत्रिम इतिहासों की जगह वैदिक और पौराणिक युग के इतिहास पढ़ाये जाते तथा रामायण और महाभारत के आदर्श-चरित्र पात्रों की उपदेशपूर्ण जीवनियाँ पढ़ाई जातीं, तो लौकिक उन्नति के साधनों के साथ-साथ पारलौकिक उन्नति के साधन भी बालकों को प्राप्त होते जाते और उनका उभय प्रकार से कल्याण होता। जबतक भगवान राम, कृष्ण, भीष्म, अर्जुन, प्रताप, शिवाजी, रामतीर्थ और विवेकानन्द आदि के परम पावन चरित्रों से हमारे बालक पूर्ण परिचित नहीं हो जाते, जबतक जगन्माता सीता, रुक्मिणी, सावित्री, दमयन्ती, अनसूया, और मीराबाई तथा कृष्णकुमारी की शिक्षाप्रद चरितावली से हमारी कन्याएँ दीक्षित नहीं हो जातीं, तबतक केवल रोमियो-जूलियट और अण्टोनियो-बसेनियो के चरित्रों से धर्म या समाज की रक्षा नहीं हो सकती। अपने-आपको अच्छी तरह जाने विना संसार-भर का ज्ञान उपार्जन करके भी मनुष्य उन्नति नहीं पा सकता। आत्मज्ञान की सब तरह की उन्नतियों की जड़ है—अपने देश के साहित्य का मनन और अपने पूर्वजों की कीर्त्तिगाथा का निरन्तर गान।

—दे० 'भारतमित्र' (कलकत्ता); श्रावण कृष्ण ३, संवत् १९८२ वि० (९ जुलाई, १९२५ ई०)

संस्कृत-शिक्षा की उपेक्षा

बिहार के हाई-स्कूलों की उच्च कक्षाओं में पहले संस्कृत की पढ़ाई अनिवार्य थी; किन्तु अब ऐच्छिक हो गई है। इससे संस्कृत और हिन्दी दोनों की बड़ी हानि हुई है। संस्कृत के अनिवार्य रहने से हिन्दी में सहायता मिलती थी। अब संस्कृत के ऐच्छिक होने से छात्रों को शब्दों के शुद्ध रूप का ज्ञान बहुत कम होता है। स्कूलों से जो छात्र कॉलेजों में आते हैं, उनकी कठिनाई और भी बढ़ जाती है। बी० ए० के तीसरे प्रश्न-पत्र में पचास नम्बर संस्कृत के लिए हैं। उसमें पचीस नम्बर का प्रश्न पाठ्य-पुस्तक से और पचीस नम्बर का अपठित पुस्तक से आता है। अपठित पुस्तक से आये हुए प्रश्न की कठिनाई तो छात्र झेलते ही हैं, पाठ्य-पुस्तक से पूछे गये प्रश्न भी छात्रों के लिए बड़े बीहड़ जँचते; क्योंकि बी० ए० में पहुँचने पर एकाएक उनके ऊपर पचास नम्बर की संस्कृत चट्टान की तरह गिर पड़ती है। खासकर बी० ए० के वे छात्र, जो स्कूल में संस्कृत से बिल्कुल अपरिचित रहे, अचानक संस्कृत का बोझ पड़ जाने से सर्वथा विवश हो जाते हैं। यों तो एम्० ए० के एक प्रश्नपत्र में भी पचास नम्बर संस्कृत के लिए नियत हैं और एम्० ए० के उन छात्रों की भी वही दशा होती है जो स्कूल में संस्कृत न पढ़े हुए बी० ए० के छात्रों की देखी जाती है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए किसी तरह बेचारे छात्र इधर-उधर कुछ टटोल लेते हैं, पर न तो उन्हें संस्कृत की पढ़ाई का कुछ रस मिलने पाता है और न वे संस्कृत का थोड़ा भी वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। आदि से अन्त तक वे अधकचरे ही रह जाते हैं। इससे उनका अमूल्य समय भी नष्ट होता है, पर लाभ कुछ नहीं होता या होता भी है तो नाममात्र का। इसलिए संस्कृत के हितैषियों को इस संकट के दूर करने में तत्पर होना चाहिए।

सांस्कृतिक चेतना

संस्कृत-भाषा से हमलोगों का सांस्कृतिक सम्बन्ध है। संस्कृत-साहित्य में ही भारतीय सभ्यता की रूपरेखा है। संस्कृत से वंचित होकर हम भारतीयता से दूर पड़ जा सकते हैं। संस्कृत के प्रति उदासीन रहने से हममें सांस्कृतिक चेतना नहीं रह सकती। जबतक छात्रों के मन में संस्कृत के लिए अनुराग नहीं उत्पन्न किया जायगा, तबतक वे स्वदेश या समाज के लिए विशेष उपयोगी नहीं हो सकते। जो छात्र हिन्दी पढ़ते हैं वे भी संस्कृत से अनभिज्ञ रहने के कारण विशुद्ध शैली की हिन्दी नहीं लिख पाते। संस्कृत का प्रचार और ज्ञान कम होते जाने से हिन्दी का रूप कैसा विकृत होता जा रहा है, यह बतलाने या सुझाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रान्त में जो विद्वान शिक्षा-विभाग के कोई अधिकारी हैं, उन्हें इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

सुनने में आता है कि संस्कृत के पृष्ठपोषकों या प्रेमियों ने कई बार प्रयत्न किया कि संस्कृत की पढ़ाई हाई-स्कूलों में फिर अनिवार्य कर दी जाय; पर अनेक सत्ताधारियों ने हिन्दी की उन्नति में बाधा पड़ने की आशंका दिखाकर संस्कृत का तिरस्कार कर दिया।

अब भी शिक्षा-विभाग में संस्कृत के समर्थकों की कमी न होगी। इस प्रान्त में भी संस्कृत के हिमायती बड़े-बड़े लोग हैं। सबको मिलकर संघटित रूप से इसके लिए सतत उद्योग करना चाहिए।

हिन्दी और संस्कृत की पढ़ाई

आवश्यकता तो इस बात की है कि संस्कृत और हिन्दी—दोनों भाषाएँ स्कूल से कॉलेज तक में एक साथ ही अनिवार्य कर दी जायँ। इससे छात्रों की सुविधा बढ़ जायगी; उनकी अनेक कठिनाइयाँ सरल हो जायँगी। जो सज्जन संस्कृत को हिन्दी के उन्नति-पथ का कण्टक समझते हैं, वे मेरी समझ में बड़ी भूल करते हैं। संस्कृत-शिक्षा की अनिवार्यता से हिन्दी को बड़ा बल मिलेगा और हिन्दी की शैली भी निखरती चली जायगी। आज के छात्र कल के लेखक, सम्पादक और वक्ता होंगे। उनका उच्चारण और शब्द-ज्ञान, उनकी लेखन-प्रणाली और शब्द-योजना, संस्कृत के प्रभाव से, बहुत परिष्कृत हो जायगी। कॉलेजों की उच्च कक्षाओं के छात्र भी, संस्कृत की गति-विधि से अपरिचित होने के कारण बहुत-से प्रचलित तत्सम शब्दों को शुद्धता के साथ नहीं लिख पाते। शब्दों के शुद्ध प्रयोग में भी उनमें भद्दी भूलें हुआ करती हैं। यह स्थिति दिन-दिन शोचनीय होती जा रही है। परीक्षोत्तीर्ण होकर डिगरीधारी हो जाने पर भी अनेक छात्र अपनी मातृभाषा और राष्ट्रभाषा की शब्द-शक्ति और शब्द-सम्पत्ति से अनभिज्ञ ही रह जाते हैं। फिर जब वे साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आ जाते हैं तब उनकी त्रुटियों से भाषा का बड़ा अहित होता है। आजकल के पत्रों और पत्रिकाओं तथा उत्साही होनहार लेखकों की छोटी-मोटी पुस्तकों में यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है! जबतक स्कूलों में संस्कृत की पढ़ाई अनिवार्य न होगी, तबतक इस अवस्था में कोई सुधार नहीं हो सकता।

संस्कृतानुरागी का कर्त्तव्य

संस्कृत के सबसे प्रबल संरक्षक हमारे प्रान्त में श्रीमन्त मिथिलेश ही हैं। उनका व्यापक प्रभाव संस्कृत का महान् उपकार कर सकता है। मिथिला बिहार में संस्कृत का केन्द्र और गढ़ है। वहीं से इस दिशा में शुभ प्रयत्न का श्रीगणेश हो, तो अत्युत्तम। यों तो समस्त बिहार के संस्कृतानुरागियों को संघ-बद्ध हो संस्कृत के हित-साधन में प्रवृत्त होना चाहिए।

—दैनिक 'आर्यावर्त्त' (पटना); रविवार, २० अगस्त, १९४४ ई०

●

बिहार के कॉलेजों में हिन्दी की पढ़ाई

बिहार में कॉलेजों की संख्या बढ़ रही है। पिछले पाँच वर्षों में कई नये कॉलेज खुले हैं। अगले साल तक कई और नये कॉलेज खुलनेवाले हैं। देखादेखी उत्साह बढ़ता जायगा। यह शुभ लक्षण है। उच्च शिक्षा समस्त प्रान्त में सुलभ हो जायगी। सुविधा के साथ सब श्रेणियों के लोग ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। उच्च शिक्षा-प्राप्त लोगों की संख्या-वृद्धि से बिहार की उन्नति ही होगी।

ऐसा देखने में आता है कि अस्सी प्रतिशत छात्र हिन्दी पढ़ते हैं। यदि वर्न्याक्युलर का अनिवार्य विषय भी ले लें, तो हिन्दी पढ़नेवाले छात्रों की संख्या ६५ प्रतिशत से कम न होगी, अधिक जो हो। लगभग अस्सी प्रतिशत छात्र प्रिंसिपल हिन्दी (ऐच्छिक विषय के रूप में) पढ़ते हैं। आई० ए० और बी० ए० में जो 'प्रिंसिपल' हिन्दी पढ़ लेते हैं, उन्हें हिन्दी-साहित्य का साधारणतः अच्छा ज्ञान हो जाता है। यदि हिन्दी पढ़नेवालों की संख्या ऐसी ही रही या क्रमशः बढ़ी, तो अगले दस वर्षों में बिहार के हर जिले में हिन्दी-साहित्य की प्रगति बहुत अग्रसर हो जायगी, ऐसी आशा झलकती है।

किन्तु, आर्ट-कॉलेजों में ही हिन्दी की पूछ है, कॉमर्स-कॉलेज और साइन्स-कॉलेज में बहुत कम। कॉमर्स और साइन्स में छात्रों के लिए विशेष आकर्षण दीख पड़ता है। पर वहाँ हिन्दी उन्हें ऐच्छिक विषय के रूप में नहीं मिलती। कॉमर्स और साइन्स के छात्र, आरम्भ के दो वर्षों में ही हिन्दी पढ़ते हैं—अनिवार्य विषय वर्न्याक्युलर के रूप में। बी० कॉम और बी० एस्-सी० में वर्न्याक्युलर की पढ़ाई होती ही नहीं। आई० कॉम में भी पचास ही नम्बर की वर्न्याक्युलर है—बीस नम्बर का अंगरेजी से हिन्दी-अनुवाद और तीस नम्बर का हिन्दी-निबन्ध।

हाँ, आई० एस्-सी० और आई० ए० में अनिवार्य हिन्दी की पढ़ाई एक-सी होती है। आई० कॉम के छात्र भी पिछले साल (सन् १९४४ ई०) तक आई० ए० के समान ही सौ नम्बर की अनिवार्य हिन्दी पढ़ते रहे; पर इस साल से कम्पोजीशन (रचना-विधि) की पढ़ाई उनके लिए अनावश्यक समझी गई है। इसीलिए वे भी पचास नम्बर की हिन्दी को प्रायः फालतू ही समझते हैं। वे सोचते हैं कि बी० कॉम में हिन्दी से पिंड छूट जायगा। तब पचास में सत्रह या बीस नम्बर पाकर पास हो लेना कौन कठिन कर्म है। इसलिए, हिन्दी के प्रति उनके मन में शुभेच्छा से कहीं अधिक उपेक्षा ही है। आई० एस्-सी० के छात्र भी ऐसा ही कुछ सोचते हैं। बी० एस्०-सी० में उनका भी हिन्दी से छत्तीस का नाता होगा, इसलिए वे भी पढ़ाई की गहराई में नहीं जाना चाहते। सिर्फ पास होने भर के लिए कामचलाऊ हिन्दी सीख लेना अपना उद्देश्य समझ लेते हैं।

कॉमर्स और साइन्स के विभाग अब कई कॉलेजों में खुल गये हैं और आगे के नये कॉलेजों में भी खुलने की सम्भावना जान पड़ती है। इन दो विभागों में विशेष आकर्षण होने का कारण है अच्छी नौकरी मिलने की आशा। लोगों की ऐसी धारणा हो गई है कि आर्ट कॉलेज में छात्रों को अर्थकरी विद्या प्राप्त नहीं होती। कॉमर्स और साइन्स की

शिक्षा आर्थिक लाभ के विचार से अच्छी मानी जाने लगी है। यदि इस धारणा और इस विचार की प्रबलता बढ़ती ही गई, जैसी कुछ आशा दीख भी पड़ती है, तो प्रिंसिपल हिन्दी के छात्रों की संख्या घट सकती है। और, अगर कहीं वर्न्याक्युलर की पढ़ाई बिल्कुल उठा दी गई, जैसी किंवदन्ती कभी-कभी सुन पड़ती है, तो हिन्दी से असंख्य छात्रों का सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा। आशंकाएँ सर्वथा निराधार नहीं हैं। बिहार के हिन्दी-हितैषी पत्रकारों को इस विषय पर विचार करना चाहिए और हिन्दी की हितरक्षा में तत्परता से सजग रहना होगा।

कॉलेजों में हिन्दी पढ़नेवाले छात्र जबतक विद्यार्थी रहते हैं, कॉलेज के 'मैगजिन' हिन्दी-परिषद् और वाद-विवाद सभा आदि में यथोचित योगदान करते और दिलचस्पी रखते हैं; पर कॉलेज से निकलकर जब किसी जीविकोपार्जन के व्यवसाय में लग जाते हैं, तब हिन्दी को प्रायः भूल जाते हैं। प्रत्यक्ष दीख पड़ता है कि काम-धन्धे में लगे हुए केवल दस प्रतिशत छात्र ही हिन्दी से अनुराग रखते हैं, बाकी नब्बे प्रतिशत छात्र नाममात्र के हिन्दी-प्रेमी रह जाते हैं। हिन्दी के साथ अटूट प्रेम निबाहनेवाले छात्र बहुत कम निकलते हैं। यह हाल प्रिंसिपल हिन्दी पढ़नेवाले विद्यार्थियों का है। वर्न्याक्युलर के रूप में हिन्दी पढ़नेवाले तो सिर्फ परीक्षोत्तीर्ण होने भर हिन्दी से लगाव रखते हैं; बस, पास होते ही या किसी काम-काज में लगते ही हिन्दी से पीछा छुड़ा लेते हैं। देश के भविष्य के कर्णधार नवयुवकों का राष्ट्रभाषा के प्रति ऐसा भाव होना चिन्ता का विषय है।

इतना सब होने पर भी निराशा या निरुत्साह का कोई कारण नहीं दीख पड़ता; क्योंकि प्रिंसिपल हिन्दी पढ़नेवालों में कुछ विद्यार्थी इतने अच्छे मिल जाते हैं कि उन दो-चार-दस से ही सैकड़ों के अभाव की पूर्त्ति हो जाती है और ये ही गिने-चुने छात्र भविष्य के साहित्य-क्षेत्र को उर्व्वर बनाने में समर्थ होते हैं। इन्हीं मुट्ठी-भर होनहार छात्रों में से अधिकांश एम्० ए० में हिन्दी पढ़ने का उत्साह प्रकट करते हैं। किन्तु, खेद है कि हिन्दी में एम्० ए० की पढ़ाई का प्रबन्ध केवल पटना-कॉलेज में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं, इसलिए बहुत-से छात्र मन्दोत्साह-वश निराश होकर अपनी मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति के प्रतिकूल दूसरे ही किसी विषय में एम्० ए० की परीक्षा देने को बाध्य होते हैं।

कम-से-कम मुजफ्फरपुर और भागलपुर के सम्पन्न कालेजों में एम्० ए० की पढ़ाई का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। इससे बिहार की बड़ी भलाई और उन्नति होगी। इन दो सुप्रतिष्ठित कॉलेजों में यदि एम्० ए० तक हिन्दी पढ़ाई जाने लगे, तो बिहार का साहित्यिक उत्कर्ष कुछ दिनों में देखने योग्य हो जायगा। परन्तु, यहाँ तो हिन्दी में बी० ए० ऑनर्स की पढ़ाई भी पटना-कॉलेज तक ही सीमित है। बी० एन्० कॉलेज-जैसी समर्थ संस्था में भी ऑनर्स की पढ़ाई का प्रबन्ध न होना यह साफ साबित करता है कि बिहार आज भी बहुत पिछड़ा हुआ है। बी० एन्० कॉलेज में तो एम्० ए० तक हिन्दी की पढ़ाई होनी चाहिए। ऑनर्स की तो कोई बात ही नहीं। यदि ऑनर्स की भी पढ़ाई इन तीन महान् कालेजों में नहीं हो पाती, तो हिन्दी का बड़ा दुर्भाग्य है। सुनने में आ रहा है कि भागलपुर में ऑनर्स की पढ़ाई में हिन्दी को स्थान मिलनेवाला है।

यदि यह सच हो, तो टी० एन्० जे० कॉलेज की तरह बी० एन्० कॉलेज को भी यह सौभाग्य प्राप्त होना चाहिए और मुजफ्फरपुर तो तब स्वभावतः अधिकारी हो जायगा। जबतक इन तीन बड़े कॉलेजों में ऑनर्स और एम्० ए० की पढ़ाई (हिन्दी में) न होने लगेगी, तबतक बिहार के कालेजों में होनेवाली हिन्दी की पढ़ाई से इस प्रान्त का विशेष उपकार न हो सकेगा।[1] हिन्दी की उच्चतम शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार और विकास होने से ही बिहार आगे बढ़ सकेगा।

—मासिक 'उषा' (गया); नववर्षाङ्क, सन् १९४५ ई०

•

बिहार के हिन्दी-पत्र

सुना है, तारीख ७-८ जुलाई (१९२७ ई०) को गया में बिहार-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन होगा। उसके लिए प्रस्तावित लेखों में एक विषय है—'बिहार के हिन्दी-पत्रों की दशा।' मालूम नहीं, नाहक का रोना रोने के लिए क्यों ऐसा विषय चुना गया। बिहार के हिन्दी-पत्रों की दशा किसको मालूम नहीं है? सब लोग जानते हैं कि बिहार के हिन्दी-पत्र कैसे अच्छे निकलते हैं। दुनिया में देखादेखी उन्नति भी होती है—प्रतिद्वन्द्विता का भाव जोर पकड़ता है; पर बिहार के पत्र तो दूसरों को सरपट दौड़ते देख दुलकी भी नहीं दौड़ते। न टाइप साफ, न छपाई शुद्ध, न भाषा आकर्षक, न विराम-चिह्नों का ठिकाना, न विषयों का चुनाव ठीक, न सामग्री-संकलन सुन्दर—यों ही यत्र-तत्र लेख और संवाद बिखरे पड़े हैं, मानो इधर-उधर का कूड़ा बटोरकर एक जगह रख दिया हो। तारीफ तो यह कि सम्पादक सब-के-सब सुयोग्य हैं; पर बड़े लापरवाह और उत्तरदायित्व-शून्य। उन्हें पत्र-सम्पादन का व्यसन नहीं है, केवल बला टालते हैं।

बिहार के हिन्दी-पत्रों की दशा देखकर बड़ा क्षोभ, बड़ी ग्लानि और लज्जा होती है। पहले तो बिहार में कई अच्छे पत्र थे, पर अभाग्यवश वे सदा चल न सके। यह भी एक विचित्र बात है। अन्य प्रान्तों के पत्र बिहार में खूब खपते हैं; पर बिहारी-पत्र बिहार में ही जड़ नहीं पकड़ने पाते। खैर, जो उखड़ गये, उनकी क्या चर्चा; इस समय जो जड़ पकड़े हुए हैं, उन्हीं की चर्चा ठीक।

सबसे पहले साप्ताहिक 'शिक्षा' को ही लीजिए; क्योंकि वही इस समय सबसे पुरानी पत्रिका है। उसके सम्पादक हैं हमारे आरा-नगर के सुप्रतिष्ठित विद्वान् श्रद्धेय पंडित सकलनारायणजी शर्मा (काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ, विद्याभूषण, प्रोफेसर-कलकत्ता-विश्वविद्यालय) और शायद पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री भी। दोनों सज्जन मेरे सुपरिचित एवं परम माननीय हैं; और केवल बिहार ही नहीं, समस्त हिन्दी-संसार में यथेष्ट और प्रसिद्ध भी हैं—बड़े पुराने लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। किन्तु, दुःख है कि ऐसे विद्वानों की छत्रच्छाया

१. बिहार के सभी कॉलेजों में अब हिन्दी की पढ़ाई सन्तोषजनक रीति से होने लगी है। —ले०

में रहकर भी 'शिक्षा' बिहार का आँसू नहीं पोंछ सकती। हाँ, 'शिक्षा' के प्रकाशक भी बिहार के चिरस्मरणीय हिन्दी-सेवक स्वर्गीय बाबू रामदीन सिंह जी के सुयोग्य पुत्र बाबू रामरणविजय सिंहजी हैं, जो खड्गविलास प्रेस के वर्त्तमान अध्यक्ष हैं। उक्त प्रेस को बिहार का नवलकिशोर प्रेस या इण्डियन प्रेस कहना अनुचित नहीं होगा। उस प्रेस की अमूल्य हिन्दी-सेवाएँ भी बिहार के लिए बड़े गौरव की चीज हैं। ऐसे सम्पादक और प्रकाशक को पाकर तो चाहिए था कि अकेली 'शिक्षा' ही बिहार की लाज रखे। पर, अभाग्यवश वह प्राइमरी स्कूलों तक ही 'शिक्षा' शब्द की परिभाषा समाप्त कर देती है। उसमें पूज्य पंडितजी और शायद शास्त्रीजी की भी कुछ टिप्पणियाँ बड़े मार्के की होती हैं; पर दस पेज रद्दी के अन्दर एक पेज सुन्दर भी होगा, तो कौन पढ़ेगा? साप्ताहिक-पत्र का सम्पादन तो होना ऐसा चाहिए कि वह सर्वसाधारण को पूरा लाभ पहुँचा सके। पर 'शिक्षा' तो सर्वोपयोगी नहीं है, यह निस्संकोच कहना ही पड़ता है। वह तो अपने नाम और उद्देश्य को भी सार्थक नहीं करती, यह और भी दुःख का विषय है। असल बात यह है कि प्रकाशक उसे उच्चकोटि की शिक्षा-सम्बन्धी पत्रिका नहीं बनाना चाहते, यद्यपि उनके पास सभी साधन मौजूद हैं—सुयोग्य सम्पादकद्वय और सुव्यवस्थित एवं सुविख्यात प्रेस। बिहार का दुर्भाग्य! और क्या कहा जाय?

'शिक्षा' के बाद 'देश' पर दृष्टि डालिए; क्योंकि उसके सम्पोषक हैं 'बिहार के गान्धी' परम आदरणीय श्रीमान् बाबू राजेन्द्रप्रसादजी, एम्० ए०, एम्० एल्०। राजेन्द्र बाबू की चरणरेणु-कणा भी शिरोधार्य करने की पात्रता मुझमें नहीं है, फिर भी निर्भय होकर कहे बिना रहा नहीं जाता कि 'देश' के सम्पादन से बिहार के साहित्यिक गौरव की रक्षा नहीं हो रही है और राजनीतिक जागृति के काम में भी वह अपनी श्रेणी के प्रतिष्ठित पत्रों में पिछड़ा हुआ है। यदि राजेन्द्र बाबू चाहें, तो यू० पी० के प्रतापी 'प्रताप' की तरह 'देश' को भी बिहार की एक जबरदस्त संस्था बना सकते हैं; पर जबतक बिहार का अभाग्य है, तबतक वह क्योंकर ऐसा चाहेंगे? यदि उनके जैसे देशमान्य सच्चे नेता के करते बिहार में एक हिन्दी-पत्र अमरत्व न प्राप्त कर सका—आदर्श न बन सका, तो भविष्य में आशा बहुत कम है।

जो हो, अब 'महावीर' का नम्बर आया। इसके सम्पादक भी कम प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हैं। मान्यवर बाबू जगतनारायणलाल, एम्० ए०, बी० एल्० को आज कौन नहीं जानता? वे अखिल-भारतवर्षीय हिन्दू-महासभा के प्रधानमंत्री और बिहार में हिन्दू-संगठन की विजय-वैजयन्ती फहरानेवाले कर्मवीर हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि मुझ पर उनका बड़ा स्नेह है; पर इससे क्या, हिन्दी के नाते तो राजेन्द्र बाबू का भी स्नेह है, उनमें मेरा अत्यन्त पूज्य भाव है, तथापि मैं उनके द्वारा संरक्षित अथवा संचालित पत्र की त्रुटि कहने से बाज नहीं आ सकता; क्योंकि यहाँ श्रद्धा-भक्ति का प्रश्न नहीं है। इसलिए, यहाँ भी यह अप्रिय सत्य कहना ही पड़ता है कि 'महावीर' ने भी बिहार की आशा और अभिलाषा पूरी नहीं की। जगत बाबू-जैसे उत्साही नेता के हाथों में रहकर

अगर 'महावीर' की ध्वजा न फहराई, तो यह समझना कदापि भूल नहीं है कि हिन्दी-पत्रों के लिए बिहार बड़ा दरिद्र है !

बस, महारथियों के विषय में कह चुका, अब कोई उल्लेखनीय पत्र नहीं है। 'मिथिला-मिहिर', 'तिरहुत-समाचार' और 'नारद' के विषय में कुछ कहने की जरूरत नहीं है ; क्योंकि जहाँ बड़े-बड़ों का यह हाल है, वहाँ छुटभैयों की क्या कथा ?

हाँ, अन्त में इतना कहना आवश्यक है कि महारथी तो बिहार की लाज न रख सके; पर एक होनहार 'बालक' ने जरूर उसकी लाज रख ली है। यदि 'शिक्षा', 'देश' और 'महावीर' भी यथेष्ट परिश्रमपूर्वक सम्पादित हों, खूब शुद्धता के साथ स्वच्छ-सुन्दर टाइप में अच्छे कागज पर छपें, भाषा की सुगमता और सरसता के साथ-साथ विराम-चिह्नों की शुद्धता तक पर पूरा ध्यान दें, जनता की नितनूतन ज्ञानवृद्धि और विविध सुविधाओं का भलीभाँति खयाल रखें, एक लाइन की जगह में भी खोगीर की भरती न करें, खूब गठा हुआ सुपाठ्य एवं शिक्षाप्रद तथा मनोरंजक मैटर यथास्थान क्रमबद्ध सजाया करें, तो बिहार की लाज रह सकती है ; अन्यथा नहीं ।

—साप्ताहिक 'हिन्दू-पंच' (कलकत्ता); वर्ष २, अंक ३, ७ जुलाई, १९२७ ई०

●

विशेषांकों का संग्रह

दसहरा, दीवाली, होली, रामनवमी, श्रावणी, जन्माष्टमी आदि शुभ अवसरों पर प्रायः पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक प्रकाशित हुआ करते हैं। कोई पत्र अपने नववर्षारम्भ में भी विशेषांक निकालता है, कोई वर्षान्त में भी। कोई-कोई काँगरेस, साहित्य-सम्मेलन या किसी प्रसिद्ध जयन्ती के अवसर पर, और कोई-कोई किसी जातीय महासभा या महोत्सव या पुण्य पर्व-तिथि आदि के समय। कितने पत्र तो खास-खास विषयों पर ही विशेषाङ्क निकालते हैं—जैसे, अछूतोद्धार आदि। इस प्रकार साल-भर में भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं के अनेक विशेषाङ्क निकल जाते हैं। विशेषांकों का महारोग दिन-दिन बढ़ रहा है। त्योहारों के समय तो चहल-पहल मच जाती है। अब तो विशेषांकों के निकालने में बड़े मजे की होड़ भी मचने लगी। समस्त हिन्दी-संसार में एक प्रकार का नवीन उत्साह, नवीन स्फूर्त्ति, नित-नूतन जागृति और अपूर्व समारोह दिखाई पड़ रहा है। पत्रों की उन्नति की इस घुड़दौड़ में जनता भी खासी दिलचस्पी ले रही है। लोगों में साहित्य-प्रेम का प्रचार होता जा रहा है—पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने की रुचि जाग रही है। शुभ लक्षण हैं !

किन्तु, इस अन्धाधुन्धी में एक बात का ध्यान छूट गया है, और वह अन्त में अत्यन्त पश्चात्तापजनक सिद्ध होगा। मेरी दृष्टि में तो इस तरफ किसी का भी ध्यान नहीं है।

वह बात है विशेषांकों का संग्रह। क्या ऐसा एक भी कोई हिन्दी का संग्रहालय है, जहाँ आजतक के निकले हुए सभी पत्रों के सभी विशेषांक सुरक्षित दशा में एकत्र मिल सकें? कदापि नहीं। खेद है कि अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भी, जो हिन्दी का विराट् संग्रहालय खोलने में लगा हुआ है, इस ओर से उदासीन है। उसके पास भी विशेषांकों का दर्शनीय संग्रह नहीं है, यद्यपि वह चाहता तो आसानी से संग्रह कर सकता था। दुःख है कि काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' के कर्णधारों को भी इस विषय का शौक नहीं है। शायद इन लोगों की दृष्टि में इस संग्रह का कोई महत्त्व ही नहीं है। अच्छा, न हो, मगर सौ-पचास वर्षों के बाद हिन्दी को इस दिन-दिन बढ़ती हुई सम्पत्ति—विशेषांक-समूह—के लिए बहुत पछताना और झींकना पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं।

विशेषांकों का संग्रह इसलिए परमावश्यक है कि उनमें हिन्दी-पत्र-साहित्य के विकास का इतिहास मौजूद है। प्रायः विशेषांकों के लिए खास-खास लेखकों से प्रेरणा करके खास तौर से अच्छे ही लेख लिखवाये जाते हैं और सजावट आदि का भी विशेष ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार, उस समय के अथवा उस विशेष सम्प्रदाय के अधिकतर उत्कृष्ट लेखकों के उत्तम लेख ही विशेषांकों में छपते हैं। कवियों और चित्रकारों की विशेषता अथवा श्रेष्ठता पर भी अधिक ध्यान दिया जाता है। तात्पर्य यह कि उस युग के साहित्य-जगत् में जितने कुशल कलाविद् होते हैं, लगभग उन सबकी प्रतिभा का चमत्कार एकत्र ही प्रदर्शित करने की चेष्टा की जाती है। भिन्न-भिन्न विषयों के मर्मज्ञ विशेषज्ञों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। इस तरह से विशेषांक अपने समय और सम्प्रदाय का दर्पण बन जाता है। उसकी उपेक्षा करना साहित्य के उत्तमाङ्ग पर प्रहार करना है।

मेरी राय में विशेषांकों का संग्रह आगे चलकर बड़ा ही लाभदायक सिद्ध होगा। एक जगह सभी पत्रों के सब तरह के विशेषांकों का संग्रह हो जाने से खोजी साहित्यिकों का बड़ा काम सरेगा। धार्मिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक—सभी तरह के पत्रों के भिन्न-भिन्न विशेषांकों का संग्रह यदि किसी एक मननशील साहित्यिक के हाथ लग जाय, तो वह सोच-समझ कर एक बहुत बड़ा काम—नया और अनूठा काम हिन्दी में कर सकता है। यदि प्रधान पत्रों के प्रमुख विशेषांकों की विवरणात्मक लेख-कविता-चित्र-सूची भी ग्रन्थाकार प्रकाशित की जाय, तो हिन्दी का एक उत्तम रेकर्ड बन सकता है। अनेक छिपे हुए उज्ज्वल रत्न प्रकाश में आ सकते हैं—विस्मृति के गर्भ से असंख्य अमूल्य रत्नों का उद्धार हो सकता है। आशा है, हिन्दी-हितैषी सज्जन मेरी राय पर विचार करने की कृपा करेंगे।[1]

—मासिक 'राम' (काशी); मन्दिर २, पट २, झाँकी २; सन् १९२८ ई०

१. हम लेखक महोदय के विचारों से पूर्णतया सहमत हैं। विशेषांकों का संग्रह प्रत्येक हिन्दी-पुस्तकालय में होना चाहिए। —'राम'-सम्पादक

हिन्दी के दैनिक पत्र

हिन्दी में इस समय एक दर्जन से कुछ अधिक ही दैनिक पत्र निकल रहे हैं; उनमें से मैं पाँच-छह दैनिकों को प्रायः देखा करता हूँ।

'आज', काशी के ज्ञानमण्डल-कार्यालय से निकलता है। मेरे विचार के अनुसार 'आज' ही हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ दैनिक है—इसलिए नहीं कि मैं जिसे बराबर पढ़ता हूँ, वही सर्वोत्तम दैनिक है; बल्कि इसलिए कि उसकी सर्वश्रेष्ठता के पक्ष में बहुमत है। मैं बहुमत का अनुगामी बनकर 'आज' को सर्वश्रेष्ठ दैनिक नहीं मानता, मेरी दृष्टि में वह जँचता ही ऐसा है कि मैं उसे सर्वोत्तम कहने को बाध्य हूँ।

जिन दैनिकों के दर्शन प्रायः होते रहते हैं, उनमें विशेष उल्लेखनीय सिर्फ आठ हैं—विश्वमित्र (कलकत्ता), स्वतंत्र (कलकत्ता), वर्त्तमान (कानपुर), अर्जुन (दिल्ली), लोकमत (जबलपुर), भविष्य (प्रयाग), केसरी (कलकत्ता), भारतमित्र (कलकत्ता); पर इन आठ दैनिकों के सिवा चार-पाँच दैनिक और भी निकल रहे हैं—लोकमान्य (कलकत्ता), हिन्दी-मिलाप (लाहौर), हिन्दू (कराची), हर-हर महादेव (कलकत्ता), स्वाधीनता (कलकत्ता)—जिनके नाम सुनने के सिवा दर्शन कभी नहीं हुए! हाँ, लोकमान्य के दर्शन दो-चार दफे हुए हैं; किन्तु उपर्युक्त आठ दैनिकों में से कोई-न-कोई, कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, मिल ही जाते हैं—बाजार में अखबार बेचनेवालों के पास, या किसी अखबार के ऑफिस में, या किसी पुस्तकालय की मेज पर या किसी अखबार के शौकीन के यहाँ।

इधर दो नये दैनिकों के निकलने की भी सूचना मिली थी—लाहौर से 'जन्मभूमि' और बम्बई से 'तूफान'। शायद दोनों दैनिक निकले भी, और कुछ ही दिनों में बन्द भी हो गये। दर्शन तो न हुए, पर चर्चा सिर्फ सुन पड़ी। 'जन्मभूमि' की सम्पादिका हैं श्रीमती उर्मिला देवी शास्त्री, जो श्रीधर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, एम्० ए० की आदर्श धर्मपत्नी हैं। उनकी शक्ति विश्वसनीय है, अतएव 'जन्मभूमि' का पुनर्जन्म भी सम्भव है। लेकिन, 'तूफान' के विषय में क्या कहा जाय? वह चाहे जब उठकर प्रलय मचा सकता है।

लगे हाथों पुराने दैनिकों को भी याद कर लेना चाहिए। कालाकाँकर का 'हिन्दुस्थान' और 'कानपुर गजट'—शायद सबसे पुराने दैनिक हैं। दैनिक हिन्दी-पत्रों के युग का सुप्रभात यूरोप के गत महायुद्ध[1] के समय हुआ था, रूस-जापान-युद्ध के समय विशेषतः साप्ताहिक 'हिन्दी-बङ्गवासी' का ही बोलबाला था! किन्तु, यूरोप के महायुद्ध ने कई हिन्दी-साप्ताहिकों की नसों में बिजली दौड़ा दी। बम्बई के 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' और कलकत्ता के 'भारतमित्र'—दोनों ने हिन्दी-पत्र-पाठकों के दिमाग में 'एमडन'-जहाज तैराया, हाविटजर की तोपों के गोले बरसाये। 'वेंकटेश्वर' थककर बैठ रहा, 'भारतमित्र' थोड़ी देर सुस्ताकर आगे बढ़ता गया। उस युग में पं० सुन्दरलालजी का दैनिक 'भविष्य' भी अपना काम कर रहा था।

---

१. सन् १९१४—१८ ई०

महायुद्ध का युग बीतते ही असहयोग-अन्दोलन का युग आ धमका। इस युग में 'प्रताप' (कानपुर) और 'अभ्युदय' (प्रयाग) के दैनिक संस्करणों ने खूब रंग जमाया। 'प्रताप' सुसम्पादित निकलता था। 'अभ्युदय' भी बड़ा जोरदार था। 'प्रताप' में कितने ही संग्रहणीय लेख निकले थे। अपने युग के दैनिकों में वह बेजोड़ था। किन्तु, जिस शान से वह निकलता था, उस शान के लायक शायद वह जमाना न था।

राजनीतिक आन्दोलन के युग में जितने दैनिक निकले, उनमें 'आज', 'विश्वमित्र', 'स्वतंत्र', 'अर्जुन', और 'वर्त्तमान' विशेष उल्लेखनीय हैं—ये अब तक देशसेवा में तत्पर हैं; पर जो बन्द हो गये, उनमें 'प्रताप', 'अभ्युदय', 'प्रणवीर', 'वैभव', और 'विक्रम' की याद कभी-कभी दिल को दुखा जाती है। बम्बई के 'प्रणवीर', दिल्ली के 'वैभव' और कानपुर के 'विक्रम'—तीनों में पहला सबसे अच्छा था।

कलकत्ता से दो दैनिक ऐसे अच्छे निकले, जो मरते-मरते अपनी औलाद छोड़ गये। 'साम्यवादी' के गर्भ से 'विश्वमित्र' निकला और 'कलकत्ता-समाचार' के उदर से 'हिन्दू-संसार' उत्पन्न हुआ। 'साम्यवादी' का लड़का बड़ा होनहार निकला। मगर 'कलकत्ता-समाचार' की सन्तान सनातनधर्म-महासागर में डूब गई। 'साम्यवादी' का लड़का अपने पिता की गद्दी पर—कलकत्ता में ही—बैठा रह गया, और 'कलकत्ता-समाचार' का लड़क—'हिन्दू-संसार'—दिल्ली दखल करने चला गया। नतीजा सामने है।

समय-समय पर कई साप्ताहिक पत्रों ने भी अपने दैनिक संस्करण निकाले थे। 'प्रताप', 'अभ्युदय', 'वेंकटेश्वर' आदि की चर्चा ऊपर हो चुकी है; किन्तु 'वेंकटेश्वर' की तरह 'प्रताप' और 'अभ्युदय' किसी विशेष अवसर पर निकलकर फिर बन्द हो जाने के लिए नहीं जारी हुए थे। 'वेंकटेश्वर' युद्ध-समाचारों के वितरण के लिए निकला था; 'प्रताप' और 'अभ्युदय' देश को रोज-रोज उकसाकर जल्दी-से-जल्दी जगाने के लिए निकले थे। वे असफल नहीं हुए, धार पर डटे ही रहे, जूझे भी शान के साथ। हाँ, कुछ दिनों के लिए जिन साप्ताहिकों के दैनिक संस्करण चले थे, उनके नाम भी स्मरणीय हैं—'जयाजी-प्रताप' (ग्वालियर), 'बिहारी' (पटना), 'हिन्दी-समाचार' (दिल्ली), 'सूर्य' (काशी), 'मतवाला' और 'हिन्दू-पंच' (कलकत्ता) तथा 'मनसुखा' (कानपुर)। कोई युद्ध के समय निकला, कोई दरबार के अवसर पर निकला, कोई सत्याग्रह-संग्राम के तुमुल निनाद में तुरही का स्वर मिलाता रहा। किसी का उद्देश्य निन्दनीय नहीं। सबने सामयिक आवश्यकता की पूर्त्ति की।

अच्छा, अब वर्त्तमान दैनिकों की दशा पर कुछ विचार करना चाहिए। 'लोकमान्य' के दो-चार अङ्कों के देखने से बहुत-कुछ सन्तोष ही हुआ; क्योंकि उसकी शैली में नवीनता दीख पड़ी। छोटे-छोटे सुबोध वाक्यों में लिखा हुआ विचारपूर्ण एवं निर्भीक अग्रलेख, 'ताड़ के झाड़ पर से' विलोकते हुए 'सम्पाती' जी महाराज की विनोद-भरी सूझ, कुछ सुपाठ्य लेख, थोड़ी सिनेमा-संसार की भी चर्चा, एक नई समयानुकूल कहानी, एक उद्धृत साहित्यिक लेख। तात्पर्य यह कि वह अपने नवयुवक-सम्पादक पं० रमाशंकर त्रिपाठी के अभिनव उत्साह का छोटा-सा निदर्शन-स्वरूप प्रतीत हुआ। उस समय उसमें कुछ दोष भी स्पष्ट दीख पड़े थे—

छपाई साधारणतः साफ थी; पर छापे की भूलें कम नहीं थीं—शायद एक-दो चित्र भी जो थे सो सिर्फ स्याही के धब्बे!—समाचारों के सजाने में कोई विशेषतापूर्ण कौशल नहीं था। हाँ, संकलित और अनुवादित लेख बड़े महत्त्व के थे; विनोद भी सरस था।

'हिन्दी-मिलाप' अच्छा निकलता है, लेकिन छपाई-सफाई या भाषा की शुद्धता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता! यही हाल 'हिन्दू' का भी है। पंजाब और सिन्ध में हिन्दी-दैनिक का निकलना ही गनीमत है; साफ छपाई और शुद्ध भाषा के लिए वहाँ के दैनिकों को कोसना भलमनसी नहीं! जब मुद्रणकला के प्रसिद्ध केन्द्र 'कलकत्ता' से निकलने-वाले दैनिकों की छपाई भ्रष्ट होती है, तब उन बेचारों का क्या दोष, जो अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए यथाशक्ति देशसेवा कर रहे हैं।

'हर हर महादेव' और 'स्वाधीनता' भी तो कलकत्ता के ही दैनिक हैं, मगर इनकी छपाई और सम्पादन-शैली तो पड़ोसियों की पगडंडी पर भी सफलता से नहीं चल रही है। 'महादेव' जी पड़े है मुसलमानों के पीछे और 'स्वाधीनता' देवी पड़ी हैं अँगरेजों के पीछे! 'महादेव' जी को हिन्दू-संगठन की धुन में छपाई-लँगोटी की खबर ही नहीं है। जब 'महादेव' की यह दशा है, तब 'देवी' जी की आप ही समझ लीजिए।

अब कठोर कर्त्तव्य सामने आया। आठ महारथी आगे डटे हैं। सबके-सब धुरन्धर हैं, यहाँ बन्दा अभिमन्यु के पैरों की धूल भी नहीं। समालोचना आजकल समर से कम भयंकर नहीं है!

हिन्दी-दैनिकों में 'विश्वमित्र' की स्थिति इस समय बहुत अच्छी है। उसके सुदक्ष संचालक बाबू मूलचन्दजी अग्रवाल, बी० ए० बड़े उद्योगी और अध्यवसायी हैं। अपनी ही व्यवसाय-बुद्धि और सच्ची लगन से उन्होंने 'विश्वमित्र' की स्थिति बड़ी सन्तोषजनक बना दी है। किन्तु, उसकी आर्थिक दशा को उन्नत करने में उन्होंने जितनी तत्परता के साथ परिश्रम किया है, उतनी ही लगन के साथ वे उसके सम्पादन पर ध्यान नहीं देते! यह बड़े दुःख की बात है। उसकी नीति शुद्ध राष्ट्रीय है। उसके गरम विचारों में निर्भीकता खूब होती है। लेकिन, उसकी छपाई किसी काम की नहीं होती—उसमें भूलें बहुत रहती हैं; प्रूफ-संशोधन पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। कभी-कभी भाषा भी ऊटपटाँग देखने में आती है। समाचारों का संकलन और सम्पादन तथा उनके सजाने का ढंग भी सन्तोषप्रद नहीं है। रोज-रोज किसी तरह चार-पाँच पन्नों की भरती कर देने से ही दैनिक पत्र सुन्दर नहीं हो सकता। उसे आकर्षक और उपयोगी बनाने के लिए एकाग्र मस्तिष्क की आवश्यकता है। कभी-कभी उसमें कई बड़े ही अच्छे लेख और भाषण प्रकाशित हो जाते हैं, पर वे छपते इतने भद्दे ढंग से हैं कि सारा मजा किरकिरा हो जाता है। जान पड़ता है, मूलचन्दजी स्वयं सम्पादन-कला-कुशल होने पर भी पत्र की उत्कृष्टता पर कुछ ध्यान नहीं देते—केवल व्यवस्था में ही व्यस्त रहा करते हैं। जिन दिनों वे खुद सम्पादक थे और खुद ही अग्रलेखादि लिखा करते थे, उन दिनों जो 'विश्वमित्र' पढ़ चुका है, उसे आज के 'विश्वमित्र' से—सच पूछिए तो—बड़ी निराशा-सी हो रही है। मूलचन्दजी को तो अधिकतर सम्पादन-कार्य में ही समय देना चाहिए। पत्र यदि

सुसम्पादित नहीं है, तो उसकी व्यवस्था चाहे लाख अच्छी हो, कोई लाभ नहीं। यह सच है कि सम्पादन और व्यवस्था दोनों का उत्तम होना अत्यावश्यक है। किन्तु, एक ही आदमी सम्पादन और व्यवस्था का काम अच्छी तरह नहीं कर सकता।

यह सब लोग जानते हैं कि 'विश्वमित्र' का बहुत अधिक प्रचार है और वह गरम दल का कट्टर राष्ट्रीय दैनिक है; पर दृढ़-संकल्प काँगरेस-भक्त होने से ही साहित्यिक समालोचना में उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। और यहाँ निन्दा-प्रशंसा की कोई बात भी नहीं। 'विश्वमित्र' की सच्ची देश-सेवा को कोई इनकार नहीं कर सकता; पर यदि वह मूलचन्दजी के समान विद्वान और व्यवसाय-कुशल संचालक के हाथ में रहकर भी ऐसा नहीं निकलता कि उसकी एक-एक प्रति की फाइल सुरक्षित रखने का लोभ-संवरण न हो, तो साहित्य के नाते निस्संकोच भाव से यह कहना ही पड़ेगा कि मूलचन्दजी उत्तम व्यवस्था के साथ-साथ सम्पादन पर भी विशेष ध्यान न देकर हिन्दी को एक महान लाभ से वंचित कर रहे हैं।

अच्छे-से-अच्छे लेख, उत्तमोत्तम टिप्पणियाँ, बढ़िया-से-बढ़िया समाचार और आवश्यक-से-आवश्यक चित्र भी अगर साफ-सुथरे न छपें—धुँधले अक्षर हों—टूटे-फूटे और उलटे-सीधे टाइप लगे हों—पाँत-की-पाँत बीच में से गायब हों—अक्षरों और मात्राओं में पूर्ण असहयोग हो, तो सम्पादन-सम्बन्धी सारा परिश्रम व्यर्थ है। साधारण-सी सामग्री भी अगर सजी-सजाई, साफ सुथरी और सुघरी-सँवारी हो, तो वह अच्छी जँचती है। लेकिन, बढ़िया-से-बढ़िया मसाला अगर किते से सजा न हो—सिलसिले से सजाया न गया हो—स्वच्छता और शुद्धता से छपा न हो, तो वह कौड़ी के मोल का भी नहीं जँचता; इसे कोई सहृदय साहित्यिक अस्वीकार नहीं कर सकता।

और, 'विश्वमित्र' यदि कोई नगण्य दैनिक होता, तो इतना लिखने की भी कोई आवश्यकता नहीं थी। पर, वह दैनिक-पत्र-महारथियों में से एक है। उसकी लापरवाही पर परदा नहीं डाला जा सकता। उसकी अमूल्य सेवाओं का ध्यान रखते हुए भी उसके गन्दे-भद्दे रूप को देखकर बड़ी झिझक होती है। अच्छी चीजें निकालकर भी रद्दी छपाई से उनकी मिट्टी खराब करना उसके-जैसे महारथी को शोभा नहीं देता। इस समय भी वह जो कुछ अपने पाठकों के सामने रख रहा है, वह भी अगर सफाई और सुघराई के साथ रखे, तो गनीमत है। गुलाबी रेवड़ी में अगर मक्खी की लाश पड़ी हो, तो उससे शुद्ध सोंधा सत्तू कहीं अच्छा है।

खेद है कि 'विश्वमित्र' के भाई 'स्वतंत्र' की भी वही दशा है। अब 'स्वतंत्र' पर भी बाबू मूलचन्दजी का ही प्रभुत्व है। इस समय वे दो-दो प्रसिद्ध दैनिकों के स्वामी हैं। डूबते हुए स्वतंत्र' को उन्होंने ही सहारा देकर उबारा है। पर, वह अब पहला 'स्वतंत्र' नहीं है, अब न उसमें वह ओज है और न वह सजीवता। पंडित अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी अब वृद्ध और रुग्ण होने के कारण उसकी सेवा करने में असमर्थ हो रहे हैं। उनके सम्पादन-काल में जैसा 'स्वतंत्र' निकलता था, वैसे 'स्वतंत्र' का स्वप्न देखना तो अब व्यर्थ ही है; पर दो-दो दैनिकों के संचालन की क्षमता रखनेवाले बाबू मूलचन्दजी

क्या केवल उत्तम व्यवस्था ही कर सकते हैं—सुचारु सम्पादन की सुव्यवस्था नहीं? कर तो वे सब-कुछ सकते हैं—उनकी प्रतिभा और कार्य्य-क्षमता बड़े गजब की है; मगर वे शायद इधर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं पाते। प्रचार-कार्य और विज्ञापन-संग्रह में यदि वे सफल हो सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि वे सुसम्पादन की व्यवस्था में भी सफल न हों। वे चाहें तो हिन्दी में भी 'स्टेट्समैन' और 'इङ्गलिश मैन' के समान सुसम्पादित पत्र निकाल सकते हैं। वे साधन-सम्पन्न हैं, सफल उद्योगी हैं, निपुण सम्पादक हैं, और इसीलिए उनके प्रति इतना उलाहना भी दिया है कि दया करके भ्रष्ट छपाई और खोगीर की भरती से अपने दोनों दैनिकों को बचावें। ज्यों-त्यों मैटर बटोरकर ठसाठस भर देने से पत्र का कलेवर सुन्दर नहीं हो सकता। कोई नवीन पद्धति, कोई अभिनव शैली, कोई परिष्कृत रुचि होनी चाहिए।

यह घोर कलावादी युग है। दुनिया प्रतिक्षण आगे बढ़ती जा रही है। अब पुराने ढर्रे को लोग पसन्द नहीं करते। अखबारों की कापियाँ काफी बिक जाती हैं, यह दूसरी बात है—यह राजनीतिक आन्दोलन के प्रति जनता की उत्सुकता का द्योतक है। साधारण जनता कभी पत्र-सम्पादन की खूबियों और बारीकियों को नहीं परख सकती—हाँ, पसन्द कर सकती है, चाव से अपना सकती है, धीरे-धीरे अभ्यस्त होकर सुरुचिशालिनी भी बन सकती है।

सबसे बड़ी शिकायत तो यह है कि 'विश्वमित्र' और 'स्वतंत्र'—दोनों ही—सरस साहित्य से सर्वथा शून्य रहते हैं। साहित्यिक चर्चा का स्पर्श शायद कभी भूले-भटके कर देते हों, तो सम्भव है; पर अधिकतर वे राजनीतिक मामलों में ही दिलचस्पी लेते हैं। यह सतीत्व तो सराहनीय है; किन्तु खेद है कि यह भी तो निष्कलंक नहीं है! केवल राजनीतिक चर्चा की ही प्रधानता रहे, कोई हानि नहीं; पर वह चर्चा भी तो चन्दन-चर्चित होनी चाहिए—कूड़े-कचरे से कुत्सित किस काम की?

हिन्दी-संसार में अगर सचमुच अखबार पढ़नेवालों की कमी है, तो यह काम समर्थ दैनिकों का है कि वे प्रतिदिन सज-धजकर पाठकों के द्वार पर पहुँचें और अपने चटकीले-भड़कीले रंग-रूप से पाठकों को आकृष्ट करें—अन्य दर्शकों को भी लुभाकर अपना मुरीद बना डालें। लोग बेधड़क कह देते हैं कि हिन्दी-संसार में पत्र-पाठकों की संख्या ही बहुत कम है; पर यह कोई नहीं सोचता कि उनकी संख्या बढ़ाई किस तरह जाय। जिन पाठकों पर हिन्दी-पत्रों का पूरा हक है, उनपर तो अँगरेजी-पत्रों ने धाक जमा रक्खी है; फिर हिन्दी-पत्रों की खपत बढ़ कैसे सकती है! अगर हम बढ़ाना चाहते हैं, तो हमें उनसे निश्चय ही मोर्चा लेना पड़ेगा। उनकी सुविधाओं और अपनी कठिनाइयों के बीच की गहरी खाई से खौफ खाने की जरूरत नहीं है, 'पोर्ट-आर्थर' के किले की इस खाई को तो किसी तरह पाटना ही पड़ेगा।

'स्टेट्समैन' और 'पायनियर' के विज्ञापनों तक में अगर विन्दु-विसर्ग की गलती नहीं पाई जाती, तो हम भी क्यों न ऐसी चेष्टा करें कि हमारे हिन्दी-पत्रों में भी वैसी ही शुद्धता

और स्वच्छता पाई जाय ? मैं खूब समझता हूँ कि इस प्रसंग में बहुत-सी दलीलें पेश की जा सकती हैं—तरह-तरह की कठिनाइयाँ बताई जा सकती हैं; पर अब वैज्ञानिक युग के अमोघ साधनों ने हमारी बहुतेरी कठिनाइयों को हल कर दिया है—अगर हम चाहें, तो 'टाइम्स ऑफ इंडिया' पढ़नेवाले रायबहादुरों और बाबुओं की मेज पर 'स्टेट्समैन' की जगह 'विश्वमित्र' या 'स्वतंत्र' को स्थापित कर सकते हैं।

किन्तु, जबतक हम समाचारों का श्रेणी-विभाग करना नहीं जानते, सारे मैटर को अलग-अलग छाँटकर सजाने की चेष्टा नहीं करते, तबतक हम असफलता के भेड़-धसान में ही पड़े रहेंगे। फाँसी, षड्यंत्र, गोली, हत्या, डकैती, सभा-सम्मेलन, महत्त्वपूर्ण भाषण, महोत्सव, शोक, स्त्री-हरण, दंगा, बाढ़, महामारी, अकाल, नवीन आविष्कार, अद्भुत समाचार, साहित्यिक और सामाजिक तथा धार्मिक जगत्, चिट्ठी-पत्री, प्रश्नोत्तर, मनोरंजन, संकलन-उद्धरण, समालोचन, टिप्पणी—सब तरह के समाचारों और रोचक विषयों को यथास्थान सजाने का कौशल ही हमें सफलता की ओर अग्रसर कर सकता है।

'भारतमित्र' आज लखपतियों के हाथ में रहकर भी निर्जीव-सा हो रहा है। अफसोस! गुप्तजी, चक्रवर्त्तीजी, वाजपेयीजी और गर्देजी का जमाना देखने के बाद आज वह अपना हाल का जमाना भी देख रहा है। 'हिन्दू-संसार' के बन्द हो जाने से उसपर सनातनधर्म की रक्षा का सारा भार आ पड़ा है! इस दृष्टि से उसका अस्तित्व बना रहना आवश्यक तो है; पर जिस रूप में वह चल रहा है, वह अत्यन्त दयनीय है। उसमें कभी-कभी अच्छे धार्मिक लेख भी निकल जाते हैं; पर उन्हें देखकर सम्पादक के आलस्य पर बड़ा क्षोभ होता है। प्रत्येक स्तम्भ में अशुद्धियों की भरमार देखकर तबीयत घबरा जाती है। प्रूफ तो शायद शोधा ही नहीं जाता। भाषा-सम्बन्धी भूलें करने के लिए मानों 'मित्र' को पूर्ण स्वतंत्रता मिल गई है। जो 'भारत-मित्र' किसी समय भाषा का निर्माण करता था, वही आज गलतियों की महफिल में जशन कर रहा है। यदि भाषा की गलतियाँ क्षम्य नहीं हैं, तो छापे की भूलें भी क्षम्य नहीं हो सकतीं ? क्योंकि, उनसे साहित्य-क्षेत्र का वायुमंडल दूषित होता है। यदि सनातन-धर्म की रक्षा की धुन में हिन्दी-भाषा के कलंकित या कत्ल होने की कुछ खबर ही नहीं है, तो फिर ऐसे पत्र को जल्दी-से-जल्दी बन्द कर देना ही श्रेयस्कर है। गन्दी-भद्दी छपाई और उत्तरदायित्व-शून्य सम्पादन से 'भारत-मित्र' की प्राचीन कीर्त्ति पर बड़ा धब्बा लग रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि पत्र में छपनेवाली प्रत्येक पंक्ति पर सम्पादक की गहरी और दुहरी निगाह पड़े; ताकि पाठकों के आगे कतवार न जमा हो।

'केसरी' को लोग हिन्दू-महासभा का पृष्ठ-पोषक कहते हैं; मगर उसके समान निर्बल पत्र से हिन्दू-जाति की कुम्भकर्णी निद्रा नहीं भंग हो सकती। उसपर एक सरसरी निगाह डालकर कोई नहीं कह सकता कि इस गति से वह किसी जन्म में भी हिन्दू-जाति का उद्धार कर सकेगा। यह व्यर्थ टीटागढ़ का देशी कागज और बेचारे ग्राहकों का पैसा खराब कर रहा है। समालोचना की दृष्टि से उसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

हाँ, कलकतिया दैनिकों से युक्तप्रान्तीय दैनिकों की दशा कुछ अच्छी नजर आती है। इनमें भी कभी-कभी प्रेस के भूतों के प्रमाद से भाषा की भूल दीख पड़ती है और छापे की भूलें भी काफी मिलती हैं।

कानपुर का 'वर्त्तमान' भड़कीले शीर्षक चुनने में बड़ा पटु है। उसके 'मनोरंजन'-स्तम्भ में 'मनसुखा' महाशय रोज ही मन को सुखी करते हैं। उनकी निराली ही शैली है। उनकी भाषा में लोच और रवानी होती है। कभी-कभी वे इतने पते की कह जाते हैं कि 'गजब' कहना ही पड़ता है। एक ही बात को लेकर ऐसी-ऐसी चुभीली चुटकियाँ उड़ाते हैं कि दिल लोट-पोट हो जाता है। आकर्षक शीर्षक गढ़ने के सिवा मजेदार मनोरंजन भी 'वर्त्तमान' की एक उल्लेखनीय विशेषता है।

'विश्वमित्र' के 'रमता योगी' महाशय शायद हिमालय की किसी गुफा में चले गये और 'भारतमित्र' के 'मौजी' महाशय ने भी संन्यास ले लिया, अब सिर्फ 'मनसुखा' महाशय के दम का ही भरोसा है; क्योंकि 'आज' के 'बेढब बनारसी' महाशय जब से 'खैराती खाँ' बनकर 'खुदा की राह पर' फेरी लगाने लगे, तब से इधर कभी लौटे ही नहीं, शायद झोली भर जाने पर होली-दीवाली तक लौटें। 'भविष्य' के 'बलई मिश्र' भी गुदगुदाने में कसर नहीं करते, मगर उनके नसीब को कोई क्या करे! हँसाना हँसी-खेल नहीं है। उसके लिए काफी मस्ती चाहिए, और यह मस्ती ईश्वर की देन होती है—दिव्य बूटी छानने से नहीं मिला करती।

हाँ, 'अर्जुन' के 'गांडीव के तीर' कभी-कभी बड़ा मजा दे जाते हैं। वे प्रायः चोखे तो होते हैं, पर विष के बुझाये नहीं। कभी-कभी तो वे जादू-भरी चितवन की-सी चोट करते हैं—तीखी कनखियों की तरह काम करके निकल जाते हैं। फिर भी, 'भारतमित्र' के 'मौजी' और 'विश्वमित्र' के 'रमता योगी' का अभाव अवश्य ही अखरता है; क्योंकि उनका रंग ही कुछ और था—वे अपने फन के उस्ताद थे, इसमें शक नहीं। 'आज' के 'बेढब बनारसी' को देखकर बड़ी आशा बँधी थी; पर वे अन्त में सचमुच बेढब ही निकले। पहले 'खैराती खाँ' बने, पीछे 'किफायतुल्ला खाँ' बन गये!

पूर्वोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त 'वर्त्तमान' में कोई और विशेषता नहीं दीख पड़ती। कामचलाऊ तौर पर उसका सम्पादन कर दिया जाता है। पूरी लगन के साथ नहीं। कभी-कभी उसके संचालक पं० रमाशंकर अवस्थी जी अग्रलेख लिखकर पाठकों को ललचा देते हैं। उसका कलेवर भी छोटा है।

कलेवर तो उसी के बराबर 'भविष्य' का भी है; मगर 'भविष्य' में छोटे टाइपों के कारण मैटर कुछ अधिक अँटता है, और 'भविष्य' छपता भी साफ है—ढूँढने पर छापे की गलतियाँ भी मिल जाती हैं; मगर अभी वह बिल्कुल नया निकला है; इसलिए उसपर विशेष कुछ लिखा नहीं जा सकता। हाँ, इतना कहना आवश्यक है कि उसके सम्पादक-मंडल की ओर निगाह दौड़ाने पर उसके कृश कलेवर से घोर निराशा होती है। उसके संचालक भी बड़े उत्साही और साधन-सम्पन्न हैं; पर जैसी धूम थी, वैसी करतूत सामने नहीं आई—'घन घमंड नभ गरजा घोर, लेकिन फिर भी बरसा थोर'।

ठीक यही हाल जबलपुर के 'लोकमत' का भी है। शुरू में बड़ी शान-बान के साथ निकला; मगर अब वह बावत नहीं रही। 'विन्ध्य के शिखर से' आनेवाली ध्वनि में दूरागत संगीत की तरह कुछ आकर्षण रहता जरूर है; मगर अब पिछली अनेक विशेषताएँ उसे एकदम अनाथ छोड़ गईं। इसके कुछ अनिवार्य कारण भी हो सकते हैं। विषम परिस्थिति में किसी तरह गुजर करना ही पड़ता है। वह मध्यप्रदेश का एकमात्र दैनिक है और उसके सम्पादक पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र अपने प्रान्त के एक प्रभावशाली नेता तथा हिन्दी के यशोधन लेखक हैं। इसलिए, बचपन की तन्दुरुस्ती हासिल न होने पर भी आज वह रुग्ण या शिथिल नहीं है।

किन्तु, 'अर्जुन' में इधर कुछ शैथिल्य-सा आ गया है। 'इन्द्र' जी के सम्पादकत्व में वह कुछ और ही चीज था। उसके अग्रलेखों में अब सम्पादक के व्यक्तित्व की छाप नहीं नजर आती। पर, उसके स्वर में वीरत्व और ललकार आज भी है। उसकी 'भानमती की पिटारी' में कुछ दिलचस्प बातें मिल जाती हैं, जिनमें अधिकांश उपयोगी होती हैं। एक-आध महत्त्वपूर्ण लेख भी रहा करते हैं, जिनसे पाठकों की जानकारी बढ़ सकती है। छपाई भी साफ होती है; मगर छापे की भूलों से खाली नहीं! सम्पादकीय स्तम्भों में यदा-कदा जोरदार-जोशीले लेख मिल जाते हैं; पर विचारों में वह गम्भीरता और प्रौढ़ता नहीं दीख पड़ती।

हाँ, 'आज' के सम्पादकीय लेखों में बड़ी प्रखर विचारधारा मिलती है। उसके स्वनामधन्य सम्पादक पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर स्वयं बड़े गम्भीर और विचारशील तथा स्वाध्यायी पुरुष हैं। उनके अग्रलेखों और टिप्पणियों से ही 'आज' की महत्ता है। प्रतिदिन विचारपूर्ण अग्रलेख लिखना उन्हीं का काम है। कभी वे फालतू बातों से सम्पादकीय स्तम्भ को नहीं भरते। उनके विचार बड़े संयत और घोर मननशीलता के परिणाम होते हैं।

'आज' प्रायः साहित्यिक चर्चा भी किया करता है। उसमें प्रसिद्ध लेखकों के सुपाठ्य लेख, मासिक पत्रों से उद्धृत उत्तम लेख, अन्य भाषाओं से अनुवादित उत्कृष्ट लेख आदि छपते ही रहते हैं। वह कोरा समाचार-पत्र नहीं, बल्कि एक विचार-पत्र भी है। वह कभी चित्र छापने के फेर में नहीं फँसता, भड़कीले शीर्षकों से सनसनी पैदा नहीं करता। उसमें कितने ही लेख इतने सुन्दर निकलते हैं कि उतने अच्छे लेख उच्चकोटि के मासिक पत्रों में ही मिल सकते हैं। उसके कई अग्रलेख और लेख, संग्रह करके, पुस्तक-रूप में छपाने योग्य होते हैं। समाचारों का संकलन भी बड़े ठिकाने का होता है।

परन्तु, मोर का सारा अंग सुन्दर होने पर भी उसके पैर रुखड़े ही होते हैं, यह ईश्वर का सृष्टि-वैचित्र्य है! 'आज' की छपाई सन्तोषजनक नहीं है—अन्य दैनिकों से बुरी नहीं, तो बहुत अच्छी भी नहीं। उसमें प्रायः प्रूफ की गलतियाँ भी रहती हैं, जो उसके मैटर की उत्तमता के आगे बहुत खटकती हैं। कभी-कभी, संयोगवश, उसके टटके समाचारों के साथ एक-आध बासी समाचार भी छप जाते हैं। बहुत-से लोग उसमें चटक-मटक भी ढूँढते हैं; पर वह बाजारू दैनिक नहीं है। उसे बड़े-बड़े नेता और साहित्यसेवी पढ़ा करते हैं। यदि उसकी छपाई में आवश्यक सुधार हो जाय, प्रूफ-संशोधन पर पूरा

ध्यान दिया जाय, समाचारों के प्रकाशन में विशेष सावधानता रखी जाय, तो निस्सन्देह उसका सुन्दर रूप दर्शनीय हो सकता है।

किन्तु, छपाई और प्रूफ के कुछ दोषों के होते हुए भी वही हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ दैनिक पत्र है, और उसकी उस सर्वश्रेष्ठता का श्रेय उसके विद्वान एवं अनुभवी सम्पादक को है, तथा उसके उक्त दोषों की जिम्मेदारी उसके सुसम्पन्न संचालक पर है। दैनिक पत्रों की दुनिया में श्रीमान पराड़करजी अपने ढंग के एक ही सम्पादक हैं। 'आज' की सर्वश्रेष्ठता पर उन्हीं के व्यक्तित्व की छाप है। अगर 'आज' के उदार संचालक शुद्ध और सुन्दर छपाई की व्यवस्था करें, साथ ही पाठकों को कुछ अधिक पाठ्य-सामग्री देने की भी योजना कर दें, तो 'आज' की प्रभावशालिता और प्रतिष्ठा से हिन्दी विशेष गौरवान्वित हो सकती है। एवमस्तु।

—मासिक 'हंस' (काशी); वर्ष २, संख्या ३ ; सितम्बर, सन् १९३१ ई०

●

हिन्दी के साप्ताहिक पत्र

'हंस' की गत तीसरी संख्या में मैंने हिन्दी के दैनिक पत्रों का परिचय दिया था। उस लेख के प्रकाशित हो जाने के बाद दैनिक पत्रों की दुनिया में कुछ हेर-फेर नजर आया। कानपुर का 'वर्त्तमान' पहले बड़े आकार के चार पृष्ठों में छपता था; अब काशी के 'आज' की तरह आठ पृष्ठों का निकल रहा है। अब उसका रूप पहले से अधिक परिष्कृत और सुन्दर हो गया है। प्रयाग का दैनिक 'भविष्य' आर्थिक हानि के कारण इधर बन्द हो गया है और लाहौर के साप्ताहिक 'पंजाब-केसरी' तथा पटना के साप्ताहिक 'महावीर' के दैनिक संस्करण निकलने लगे हैं। पता लगा है कि पटना से 'तार' नाम का एक दैनिक भी एक-डेढ़ महीने तक निकला था, जो अब बन्द हो चुका है।

इस तरह के उलट-फेर होते ही रहते हैं। सम्भव है, साप्ताहिक पत्रों के सम्बन्ध की इन परिचयात्मक पंक्तियों के छप जाने तक उनमें भी कुछ उलट-फेर हो; क्योंकि इस समय हिन्दी बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही है और देशव्यापी अभाव तथा अशान्ति के मध्य से भी नये-नये पत्र निकलते जा रहे हैं। आये दिन अखबारों में किसी-न-किसी नये पत्र के निकलने की सूचना मिलती ही रहती है।

अभी हाल में दो नये साप्ताहिकों के प्रकाशित हो जाने के समाचार मिले हैं— लाहौर से 'आकाशवाणी' और पटना से 'आर्यावर्त्त'। 'आकाशवाणी' तो कुछ साल पहले भी निकलती थी, उसका केवल पुनर्जन्म हुआ है। किन्तु, स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के सम्पादकत्व में 'आर्यावर्त्त' बिल्कुल नया निकला है। 'आकाशवाणी' पहले भाई परमानन्द, एम्० ए० के सम्पादकत्व में निकली थी। इस समय उसके सम्पादक हैं श्रीयुत धर्मवीर एम्० ए०, और जान पड़ता है कि उसका मुख्य उद्देश्य भी हिन्दू-संगठन ही है।

'आर्यावर्त्त' शायद बिहार-प्रान्तीय आर्यसमाज-मण्डल का मुखपत्र है, जैसे संयुक्त-प्रान्तीय आर्य-प्रतिनिधि-सभा का मुखपत्र है आगरा का 'आर्यमित्र' और काशी के आर्यसमाज का मुखपत्र 'सद्धर्मप्रचारक'।

साम्प्रदायिक साप्ताहिकों में आगरा के 'आर्यमित्र' का सम्पादन सबसे सुन्दर होता है और 'सूरत' (बम्बई) के 'जैनमित्र' का सम्पादन सबसे निकृष्ट। 'आर्यमित्र' ३४ वर्षों से निकल रहा है और 'जैनमित्र' का यह बत्तीसवाँ साल है—यह बम्बई-दिगम्बर-जैन-प्रान्तिक सभा का मुखपत्र है, जैसे वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ का मुखपत्र है काशी का 'पण्डित-पत्र' (ब्राह्मण-सम्मेलन)। कभी-कभी 'जैनमित्र' के विशेषांक कुछ अच्छे निकल जाते हैं, और 'आर्यमित्र' के विशेषांक तो प्रायः अच्छे ही होते हैं—खासकर हर साल दीवाली पर निकलने वाले 'ऋष्यंक' तो सर्वथा संग्रहणीय होते हैं।

कई साप्ताहिक ऐसे हैं, जिनके केवल विशेषांक ही कुछ उपयोगी होते हैं; उनके साधारण अङ्कों में कुछ तत्त्व नहीं रहता। ऐसे साप्ताहिकों में 'जयाजी-प्रताप' (ग्वालियर), 'स्वतन्त्र' और 'भारतमित्र' (कलकत्ता), 'महावीर' (पटना) आदि उल्लेखनीय हैं। ग्वालियर-नरेश की वर्षगाँठ पर 'जयाजी प्रताप' प्रतिवर्ष सुन्दर विशेषांक निकालता है, यद्यपि उसमें साहित्यिक रुचि की बहुत कमी रहती है। दीवाली पर प्रायः 'स्वतंत्र' के विशेषांक भी निकला करते हैं; पर उनमें चित्रों और लेखों का सराहनीय संग्रह होने पर भी अब उनका सम्पादन सन्तोषजनक नहीं होता। यही हाल 'भारत-मित्र' और 'महावीर' के विशेषांकों का भी है।

'भारत-मित्र' ५४ वर्षों से निकल रहा है और 'जयाजी-प्रताप' २७ वर्षों से! 'भारत-मित्र' से दो-तीन ही साल पीछे का 'सुबोध-सिन्धु' है, जो खण्डवा (सी० पी०) से निकलता है। 'भारत-मित्र' का पिछला इतिहास बड़ा ही गौरवपूर्ण है; पर जब से वह सनातन-धर्म-महामण्डल के जाल में फँसकर साम्प्रदायिक बना, तब से उसका सम्पादन अच्छे ढंग से नहीं हो रहा है। उसने अपना आकार-प्रकार अब अपने पड़ोसी 'विश्वमित्र' की तरह बदल दिया है; पर उसमें और किसी प्रकार की नवीन विशेषता नहीं नजर आती। न वह कट्टर राष्ट्रीय ही रह गया है, और न एकान्त सनातनी ही। उससे कहीं अच्छा काशी का 'ब्राह्मण-सम्मेलन' (पण्डित-पत्र) है, जो अपने निश्चित ध्येय पर दृढ़ता से डटा हुआ है, चाहे उसके ध्येय से कोई सहमत हो या न हो।

'पण्डित-पत्र' का सखा और पड़ोसी 'सूर्य' भी अपनी नरम नीति पर बड़ी साबित-कदमी से चल रहा है और 'भारत-मित्र' से कहीं अधिक सनातनधर्म की सेवा का ध्यान रखता है। 'सूर्य' में एक पृष्ठ अँगरेजी का अंश भी रहता है, जैसे दरभंगा के 'मिथिला-मिहिर' और ग्वालियर के 'जयाजी प्रताप' में एक-दो पृष्ठ अँगरेजी के रहा करते हैं। 'मिथिला-मिहिर' में मैथिली भाषा के भी दो-तीन पृष्ठ अलग रहते हैं, और 'जयाजी-प्रताप' की भाषा में उर्दू-फारसी के शब्द प्रायः अधिक मिलते हैं।

'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार' (बम्बई) और 'हिन्दी-बङ्गवासी' (कलकत्ता) बहुत पुराने और प्रसिद्ध साप्ताहिक हैं। लगभग तीस वर्षों के बाद 'हिन्दी-बंगवासी' ने कलेवर बदला है।-

वह पहले पलँग की चादर के बराबर था; पर अब वह दो टुकड़ों में बँटकर कम्बल की दोहरी आसनी बन गया है। आजतक उसने कोई विशेषांक नहीं निकाला और न कभी अपने पुराने टाइपों का पिण्ड छोड़ा। विशेषांकों के बदले वह उपहार-वितरण की पुरानी प्रथा का पालन करता आ रहा है। कहीं-कहीं ठेठ देहातों में एकमात्र वही 'अखबार' के नाम से प्रचलित है। होली, रामनवमी, जन्माष्टमी, दसहरा, दीवाली आदि त्योहारों पर प्रति वर्ष एक ही रंग-ढंग के चित्र छापकर अपने सनातन-पन्थी पाठकों को सन्तुष्ट कर देता है। 'वेंकटेश्वर-समाचार' और 'भारत-मित्र' भी प्रायः ऐसा ही करते हैं। वही पुराने चित्र बरसों से छपते चले आते हैं और उनके नीचे वही पुराने ढंग के चित्र-परिचय 'लला फिर आइयो खेलन होरी' इत्यादि! पिछले वर्षों में दीवाली पर 'वेंकटेश्वर' का एक बड़ा सुन्दर विशेषांक निकला था, जिसे देखकर यह आशा बँधी थी कि अब वह अपनी प्राचीन परिपाटी लकीर छोड़कर नवयुग के सुधार-मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए अपना भेष बदलेगा; लेकिन उसके पुराण-पन्थी मालिकों ने शायद उसके जीवन में कोई क्रान्ति पसन्द नहीं की। 'भारत-मित्र' ने तो अपने आकार-प्रकार और नीति में भी क्रान्ति की है; परन्तु वह क्रान्ति उसे आगे बढ़ाने के बदले पीछे ढकेल ले गई!

इधर दो नये राष्ट्रीय साप्ताहिक बहुत अच्छे निकले हैं—अजमेर से 'त्यागभूमि' और खण्डवा से 'स्वराज्य'। मासिक 'त्यागभूमि' का साप्ताहिक रूप में पुनर्जन्म हुआ है; पर 'स्वराज्य' एकदम नया है। 'त्यागभूमि' के सम्पादक पं० हरिभाऊ उपाध्याय हैं और 'स्वराज्य' के पं० सिद्धनाथ माधव आगरकर, बी० ए०। 'त्यागभूमि' की छपाई-सफाई और सम्पादन-शैली कितने ही मासिकों से अच्छी है। उसमें कहानी, गृद्ध-दृष्टि (व्यंग्य-विनोद), बुद्बुद (स्फुट हृदयोद्गार), देशी राज्य, समालोचना आदि स्तम्भों के सिवा विचारपूर्ण सामयिक लेख, कविताएँ और टिप्पणियाँ भी रहती हैं। 'स्वराज्य' की भी छपाई-सफाई और सम्पादन-शैली अच्छी है; किन्तु साप्ताहिकों की परम्परागत शैली से भिन्न कोई उल्लेखनीय विशेषता या नूतनता नहीं है। हाँ, अन्त में 'देवनागर' नाम का जो स्थायी स्तम्भ रहता है, वह अवश्य ही कौतूहल-जनक है। अस्तङ्गत 'देवनागर' के स्मारक-रूप में तो उसे अनावश्यक नहीं कहा जा सकता; पर हिन्दी के साधारण पाठकों के लिए वह निश्चय ही अनावश्यक-सा प्रतीत होता है। उसमें मराठी, गुजराती, बँगला आदि भाषाओं के पत्रों से जो संकलन दिये जाते हैं, उनकी मूल-भाषा को न बदलकर केवल देवनागरी-लिपि का ही चोला पिन्हा देने से हिन्दी के अधिकांश पाठकों की कठिनाई दूर नहीं होती। साधारण पाठकों की तो कोई बात ही नहीं, सुशिक्षित पाठक भी प्रायः भाषा-तत्त्वविद् नहीं हुआ करते। वह 'एकलिपि-विस्तार-परिषद्' का युग सम्भवतः बीत गया। अब उस दिशा में कोई प्रयत्न सफल होगा या नहीं, इसपर पुनः आगरकरजी को ही अच्छी तरह विचार करना चाहिए; क्योंकि उतना स्थान यदि संकलनों के हिन्दी-रूपान्तर के लिए दिया जाय, तो मेरी समझ में पाठकों की दिलचस्पी बहुत बढ़ सकती है।

अजमेर और खंडवा से दो साप्ताहिक और भी निकलते हैं—'राजस्थान-सन्देश' और 'कर्मवीर'। 'सन्देश' के संचालक हैं स्वनामधन्य श्री विजय सिंह जी 'पथिक' और 'कर्मवीर'

के सम्पादक हैं कविवर पं० माखनलालजी चतुर्वेदी। पहले-पहल 'कर्मवीर' जबलपुर से निकला था; पर इस समय वह अपने भूतपूर्व संचालक (स्वर्गीय पं० विष्णुदत्त शुक्ल) और सम्पादक (स्व० पं० माधव राव सप्रे) की स्मृति के रूप में खंडवा से निकल रहा है। इसका सम्पादन बड़े अच्छे ढंग से होता है। इसके सामयिक साहित्य, बिखरी बातें, समय की लहर आदि स्तम्भ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन स्तम्भों के लेखों की भाषा में साहित्यिकता की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। सम्पादकीय स्तम्भों की भाषा में भी जितना ही ओज और कवित्व मिलता है, उतनी ही तेजस्विता और गम्भीर अनुभूति। यह शुरू से ही बड़ा जोरदार पत्र रहा है और अब भी है। इसकी कविताएँ बड़ी मार्मिक, कारुणिक और भावपूर्ण होती हैं। इसके सम्पादक चतुर्वेदीजी जैसे भावुक लेखक हैं, वैसे ही रससिद्ध कवि और गम्भीर विचारक भी। साथ ही, वे बड़े निर्भीक सम्पादक भी हैं। 'कर्मवीर' की सफलता का यही कारण है। 'रतौना' का विराट कसाईखाना बन्द कराने के आन्दोलन में इसने बड़ी निर्भीकता से लड़कर यश प्राप्त किया था। किन्तु, 'राजस्थान-सन्देश' की वर्त्तमान दशा देखकर यह कहना पड़ता है कि 'राजस्थान-केसरी' (वर्धा) और 'तरुण-राजस्थान' (अजमेर) इससे कहीं अच्छे थे। एक तो इसकी छपाई-सफाई भी अच्छी नहीं है, दूसरे इसका सम्पादन भी सुन्दरता और सफलता से नहीं हो रहा है। 'पथिक' जी के संचालकत्व में इसका ऐसा रूप होना एक खेदजनक विषय है।

जैसे राजस्थान में 'त्यागभूमि' और मध्यप्रदेश में 'कर्मवीर' है, वैसे ही बिहार-प्रान्त में 'देश' और पंजाब में 'पंजाब-केसरी' हैं। 'देश' के संस्थापक और संचालक हैं बिहार-रत्न त्यागमूर्त्ति बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी तथा सम्पादक हैं बाबू बदरीनाथ वर्मा, एम० ए०, काव्यतीर्थ। जब से वर्माजी सम्पादक हुए हैं, तब से 'देश' की दुर्दशा का अन्त हो गया है। इस समय 'देश' बड़े सराहनीय ढंग से सम्पादित हो रहा है, छपाई-सफाई भी अच्छी है; केवल प्रूफ-संशोधन की कुछ त्रुटियाँ अबतक रह गई हैं, जिनके कारण कभी-कभी भाषा-सम्बन्धी भूलों का सन्देह भी उत्पन्न हो जाता है। यही बात 'पंजाब-केसरी' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वह स्वर्गीय देशभक्त लाला लाजपत राय की स्मृति में प्रकाशित होता है। उसके सुयोग सम्पादक विद्यालंकार जी की सम्पादन-शैली भी अच्छी है और छपाई भी कामचलाऊ है। किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि छपाई तथा भाषा की शुद्धता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। 'क्यूँ' आदि पंजाबी प्रयोग उतना नहीं खटकते, जितना 'ने' का भ्रमात्मक प्रयोग। उसमें कभी-कभी भावपूर्ण व्यंग्यचित्र और विचारपूर्ण तथा आलोचनात्मक लेख भी छपते हैं।

बनारस से भी एक 'हिन्दी-केसरी' निकलता है, जिसके संचालक बाबू गंगाप्रसाद गुप्त हैं। गुप्तजी एक पुराने अनुभवी सम्पादक हैं; पर उनके रहते ही 'केसरी' गलित-नख-दन्त-सा हो गया है। शायद वह लोकमान्य तिलक के मराठी 'केसरी' का हिन्दी-रूपान्तर बनकर निकला था; किन्तु अपने १७ वर्ष के जीवन में उसने मराठी 'केसरी' के राष्ट्रीय भावों को कहाँ तक हिन्दी-संसार में फैलाया, यह तो उसके पाठक ही बता सकते हैं।

उसके रंग-ढंग से तो इस समय यही प्रतीत होता है कि वह किसी तरह गुप्तजी के साहित्यिक व्यसन की ही पूर्त्ति कर रहा है।

मिर्जापुर का 'मतवाला' भी अपने संचालक और सम्पादक बाबू महादेवप्रसाद सेठ के साहित्यिक व्यसन की ही ज्यों-त्यों पूर्त्ति कर रहा है। उसकी वर्तमान दशा देखकर बड़ा गहरा दुःख होता है; क्योंकि उसके साथ आरम्भ से ही मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वह कलकत्ता से मिर्जापुर आया, और 'स्थान-भ्रष्ट नर' की भाँति शोभा-हीन हो गया।

अब, सचित्र साप्ताहिकों की चर्चा करने से पहले दो 'सादगी में खूबसूरती' रखनेवाले साप्ताहिकों का परिचय देना आवश्यक है। एक तो अहमदाबाद से निकलनेवाला महात्मा गान्धी द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-नवजीवन' है और दूसरा है गोरखपुर का 'स्वदेश'। 'नवजीवन' के विशेष परिचय की कोई आवश्यकता नहीं है। वह सब तरह की समालोचनाओं से परे है। वह समाचार-पत्र नहीं, बल्कि शुद्ध विचार-पत्र है। वह छोटे टाइपों और आठ पृष्ठों में बड़ी सादगी, स्वच्छता और शुद्धता से छपता है। उसमें किसी प्रकार का कोई विज्ञापन नहीं छपता। उसके लेखों में मस्तिष्क के लिए पवित्र भोजन मिलता है। वह स्वाध्याय का एक साधन है। उसके विचारों से आत्मा को शान्ति और तृप्ति प्राप्त होती है। उसके उपदेशों से दुष्ट शंकाओं का नाश और प्रकृत ज्ञान का विकास होता है। उसकी पंक्तियों में हृदय की भाषा निहित रहती है। साहित्य की दृष्टि से उसकी भाषा में कहीं-कहीं कुछ त्रुटियाँ अवश्य मिलती हैं—कुछ चिन्त्य प्रयोग भी देखने में आते हैं—कभी-कभी हिन्दी-उर्दू की विचित्र खिचड़ी भी चखने को मिल जाती है; किन्तु ये सब कर्मनाशा के जल की भाँति उसकी सुरसरि-धारा में मिलकर निर्मल एवं दिव्य हो जाते हैं। उसके पढ़ने से मन में श्रद्धा और हृदय में बल पैदा होता है—चरित्र उन्नत और स्वदेशाभिमान जाग्रत होता है। उसका प्रत्येक अंक सुरक्षित रखने योग्य होता है। उसके शब्द-चित्र इतने चित्ता-कर्षक और मोह-ध्वंसक होते हैं कि अन्य चित्रों के अभाव का कभी खयाल भी नहीं होता। गोरखपुरी 'स्वदेश' में भी कोई विज्ञापन या चित्र नहीं छपते, कभी-कभी एक-दो अदालती नोटिसें छप जाती हैं; बीस पृष्ठों में केवल सुपाठ्य-सामग्री ही सिलसिले से सजी रहती है। इसके सिद्धहस्त सम्पादक पं० दशरथप्रसाद द्विवेदी का अदम्य उत्साह और अटूट परिश्रम सर्वथा अभिनन्दनीय है। वे अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए भी इसको इतने अच्छे ढंग से निकाल रहे हैं कि हिन्दी के सुसम्पादित साप्ताहिकों की श्रेणी में निस्सन्देह इसका एक खास स्थान होना चाहिए।

सचित्र साप्ताहिकों में—केवल बाहरी सुन्दरता, ऊपरी तड़क-भड़क, आकर्षक सजावट और चित्रों की दृष्टि से—बस चार ही अच्छे हैं—'भविष्य' (प्रयाग), 'विजय' (कलकत्ता), 'अभ्युदय' (प्रयाग) और 'हिन्दूपंच' (कलकत्ता)। किन्तु, भीतरी सुन्दरता और आडम्बर-शून्यता की दृष्टि से 'प्रताप' (कानपुर) और 'सैनिक' (आगरा) ही सबसे अच्छे हैं। इन दोनों के बाद कलकत्ता के 'विश्वमित्र' का नम्बर आता है। अन्त में 'स्वतन्त्र' को भी स्थान पाने का अधिकार है, जो अब इधर सचित्र निकलने लगा है।

चित्र-बहुल साप्ताहिकों में 'भविष्य' सर्वोत्तम है। वह गत वर्ष से बड़ी धूमधाम के साथ निकल रहा है। उसकी छपाई-सफाई और सजावट भी सबसे बढ़ी-चढ़ी है। देश के प्रांगण में, देश-विदेश, आहुतियाँ, संसार-चक्र, महिला-संसार, दुबेजी की चिट्ठी, जगद्गुरु का फतवा, केसर की क्यारी, मनोविनोद, प्रश्नोत्तर आदि स्तम्भ बड़े आकर्षक, मनोरंजक, उपयोगी और शिक्षाप्रद हैं। कहानी, कविता, कार्टून, प्रहसन, निबन्ध आदि का भी यथेष्ट समावेश रहता है। बहुत शुद्ध और स्वच्छ छपता है। सम्पादन बड़े जोशीले ढंग से होता है। कविताएँ अधिकतर उर्दू की छपती हैं, जो प्रायः हिन्दी-पाठकों के लिए दुरूह होती हैं। साहित्यिक चर्चा का अभाव बहुत खटकता है। दुबेजी और जगद्गुरुजी मन-बहलाव का मसाला जुटाने में बड़े उस्ताद हैं। रंगमंच और संकलन के स्तम्भों का अभाव दूर हो जाने पर यह सर्वाङ्गसुन्दर बन सकता है।

'विजय' इसी साल से निकलने लगा है। इसमें विश्व-संघर्ष, कथा-कहानी, काव्य-कुञ्ज आदि स्थायी स्तम्भों के सिवा दो-तीन नये ढंग के स्तम्भ भी हैं। जैसे—बाल-परिषद्, व्यापारी-समाज और उर्दू-हिन्दी का गुलदस्ता। 'बाल-परिषद्' में ग्राहक-बालकों के लेख, पहेली, प्रश्न आदि छपते हैं और उन्हें प्रतियोगिता में पुरस्कार भी दिये जाते हैं। 'व्यापारी-समाज' में देशी बाजार की साप्ताहिक रिपोर्ट छपती है, व्यापारिक तथा आर्थिक सूचनाएँ भी रहती हैं। उर्दू की शायरी अच्छी छपती है; लेकिन हिन्दी-पाठकों के लिए बड़ी कठिन और दुर्बोध होती है। हिन्दी की पद्य-रचना पर यद्यपि प्रतियोगिता-पुरस्कार दिये जाते हैं, तथापि कोई-कोई रचना नितान्त निष्प्रयोजन ही छप जाती है। 'मनोरंजन' स्तम्भ में हास्य-रसपूर्ण चुटकुले और 'मन की मौज' में व्यंग्य-विनोद-पूर्ण टिप्पणियाँ रहती हैं। बेशक सम्पादन बड़े परिश्रम और लगन से होता है। सम्पादक पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा कई अखबारों में काम कर चुके हैं और सुपरिचित कहानी-लेखक भी हैं। साहित्यिक चर्चा अथवा समालोचना के लिए कोई स्थायी स्तम्भ नहीं है, यह बहुत बड़ी कमी है। रंगमंच के केन्द्र कलकत्ता का सर्वश्रेष्ठ सचित्र साप्ताहिक होकर भी 'रंगमंच' के स्थायी स्तम्भ से शून्य है, यह तो और भी खेद तथा ग्लानि का विषय है।

'अभ्युदय' २५ वर्षों से निकल रहा है; किन्तु सचित्र इसी वर्ष से हुआ है। इसके चित्र खूब साफ नहीं छपते; मगर लेख आदि बड़े सुन्दर होते हैं। थोड़ी-घनी साहित्यिक चर्चा प्रायः चलती रहती है, लेकिन 'चाबुक' और 'कसौटी' नामक स्तम्भों के लेखों में कभी कभी उच्छृंखलता और हृदयहीनता का आभास मिलता है। इसकी 'सीधी, टेढ़ी, खरी, मजेदार बातें' कभी-कभी बड़ी दिलचस्प होती हैं और कभी-कभी एकदम फीकी। 'साप्ताहिक चित्रावली' में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं रहती। कभी-कभी तो अनावश्यक चित्रों से खोगीर की भरती भी हो जाती है। चूँकि सम्पादक पं० कृष्णकान्तजी मालवीय स्वयं उर्दू के एक अच्छे शायर हैं, इसलिए उर्दू-कविताओं की बड़ी बहुलता रहती है। हिन्दी-कविता का चुनाव प्रायः अच्छा ही होता है; पर यदा-कदा स्थान-पूर्ति के लिए भी अनुपयुक्त कविताओं का उपयोग किया जाता है। सम्पादकीय लेख यशस्वी सम्पादक की प्रतिष्ठा के अनुकूल ही होते हैं। प्रत्येक अंक में एक कहानी और दो-चार उपादेय लेख रहा करते हैं।

'अन्तर्राष्ट्रीय जगत्' एक ज्ञानवर्द्धक स्तम्भ है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर सम्पादक के भी विचार मनन करने योग्य होते हैं।

'हिन्दू-पंच' छः वर्षों से सचित्र साप्ताहिक के रूप में ही निकल रहा है। इसके विशेषांकों का इतिहास बड़ा उज्ज्वल है। स्वर्गीय बाबू रामलाल वर्मा ने इसका प्रकाशन आरम्भ किया था। इसके आदि-सम्पादक स्वर्गीय पं० ईश्वरी प्रसादजी शर्मा ने हिन्दू-संगठन के उद्देश्य से इसे निकलवाया था। बड़े सन्तोष की बात है कि यह आज तक 'ईश्वरी-स्मृति-स्तम्भ' के रूप में विद्यमान है; किन्तु शर्माजी के समय में जो विशेषताएँ इसमें थीं, वे अब इसमें न रहीं; अब कुछ नये ढंग की विशेषताएँ इधर पैदा हो गई हैं। इसके वर्तमान संचालक बाबू मुकुन्दलाल वर्मा को चाहिए कि इसे एक बार फिर चमकाने की चेष्टा करें। इन दिनों इसका सम्पादन सन्तोषजनक रीति से नहीं हो रहा है। सचित्र कहानी, सिनेमा-चित्रावली, धारावाहिक उपन्यास, हास्यरस-पूर्ण पद्य, चौबेजी का चिट्ठा, मजेदार लटके-लतीफे आदि सब कुछ होने पर भी छापे की भूलों के सिवा भाषा की भूलें भी काफी देखने में आती हैं। चित्रों की भरमार से संशोध्य भाषा के छिद्र नहीं छिपाये जा सकते।

कानपुर का 'प्रताप' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ साप्ताहिक है। वह साप्ताहिकों का सम्राट् है। उसका सम्पादन बड़ी सावधानी से होता है। उसमें एक वाक्य भी बेकार या फजूल नहीं छपता। दो-दो पंक्तियों के संवादों और सूचनाओं पर भी सम्पादकीय दृष्टि पड़े बिना नहीं रहती। उसके कुशल सम्पादक पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अमर शहीद विद्यार्थीजी के शोचनीय अभाव में भी, उसका झंडा पहले ही की तरह ऊँचा किये हुए हैं। उसके सम्पादकीय स्तम्भों में हृदय की ज्वाला, मस्तिष्क का तेज, आत्मा की हुंकार-ध्वनि, भाषा का चमत्कार और रणचण्डी की ललकार भरी होती है। वह संतप्तों का साथी और असहायों का आश्रय है। उसकी कविताओं, टिप्पणियों, लेखों और संवादों में देश की सच्ची आवाज, पीड़ितों की करुण पुकार, सर्वतोमुखी क्रान्ति की फुफकार और नवयुग का शुभ सन्देश स्पष्ट सुन पड़ता है। अपने १८ वर्षों के आदर्श जीवन में, नवयुवकों को जगाकर, रियासती प्रजा को उठाकर, अहंकारियों को नीचा दिखाकर, पाखंडियों की पोल खोलकर और त्रस्तों को अभयदान देकर उसने देश की जो सेवा की है, वह हिन्दी-पत्रों के इतिहास में निःसंशय स्वर्णवर्णाङ्कित रहेगी। वास्तव में वह हिन्दी का गौरव है। उसपर हिन्दी को गर्व है।

'सैनिक' सचमुच सैनिक ही है। आजतक उसकी बहादुरी में बट्टा नहीं लगा है। उसके 'प्रतापी' संस्थापक और आदि-सम्पादक पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल एम० ए० अब पं० देवेन्द्र शर्मा को सम्पादन-भार सौंपकर काँगरेस के रचनात्मक कार्य में सपत्नीक लगे रहते हैं। फिर भी, इन दिनों वह बड़ा सुन्दर निकल रहा है। चित्र, कहानी, कार्टून, कृषि, स्वास्थ्य, हास्य-विनोद, देशी राज्य, देश-विदेश, महिला-संसार आदि सब सामग्री यथेष्ठ! छपाई साफ-सुथरी और शुद्ध। विचार बड़े स्पष्ट और निर्भीक। किसानों की सेवा में

संलग्न। सताये हुओं का साथ देने में तत्पर स्वयंसेवक। ग्राम-संगठन का हिमायती। नौकरशाही की नाक का बाल। किन्तु साहित्यिक चर्चा से प्रायः शून्य।

'विश्वमित्र' का केवल आवरण-पृष्ठ ही चित्रमय होता है। वह काफी पाठ्य-सामग्री देता है। 'स्वतंत्र' और 'भारत-मित्र' की तरह वह भी प्रायः अपने दैनिक संस्करण की सामग्री से ही उदर-पूर्त्ति करता है। उसके कुछ लेख बड़े उपयोगी होते हैं। साहित्यिकता का अभाव उसमें भी है। सम्पादन-शैली में कोई चमत्कार नहीं नजर आता। 'स्वतंत्र' भी नये रूप में अवतीर्ण होकर अपने साथ कोई अभूतपूर्व विशेषता नहीं लाया।

'लोकमान्य' (कलकत्ता) और 'अर्जुन' (दिल्ली) के साप्ताहिक संस्करण इधर देखने में नहीं आये। कालाकाँकर के नवीन साप्ताहिक 'दरिद्रनारायण' के भी दर्शन नहीं हुए हैं। इसी तरह और भी कितने ही दुर्लभ-दर्शन साप्ताहिक हैं; किन्तु उनकी गणना से साप्ताहिकों की केवल संख्या-वृद्धि हो सकती है, गौरव-वृद्धि नहीं। अतः अभाग्यवश यहीं 'अनामिका सार्थवती बभूव'!

मासिक 'हंस' (काशी); वर्ष २, अंक ५, नवम्बर, सन् १९३१ ई०

●

पत्र-पत्रिका और साहित्योत्कर्ष

साहित्य-सरिता में जो उद्‌बुद्ध युग की अनियंत्रित भावनाओं की बाढ़ दिन-दिन उमड़ती जा रही है, उसके दुर्द्धर्ष वेग को रोकना या बाँधना सहसा संभव नहीं, तथापि बाढ़ के पानी को स्वास्थ्योपयोगी बनाने के लिए 'निर्मली' के प्रयोग द्वारा उसका परिष्कार कर लेना दुस्साध्य नहीं है। तात्पर्य यह कि जो कुछ भी प्रकाशित होकर जनता के सामने आवे, विधिवत् परिमार्जित होकर ही आवे। स्वस्थ भाषा और स्वस्थ विचार से ही स्वस्थ साहित्य का निर्माण हो सकता है। स्वच्छता से परसा हुआ सत्तू भी रुचिकर होता है; किन्तु मलिनतापूर्ण छप्पन प्रकार नहीं। आजकल के नये शौकीन इस बात पर उचित ध्यान नहीं देते। पुस्तक की बाहरी सजावट में भी सुरुचि और सादगी का खयाल न रखकर प्रायः उद्दीपन-सामग्री का ही उपयोग करते हैं। किन्तु, जब हम आकर्षक बहिरंग पर लट्टू होकर अन्तरंग का निरीक्षण करने लगते हैं, तब बड़ी ग्लानि और निराशा होती है।

मेरी यह निश्चित धारणा है—भले ही यह भ्रांत एवं उपहासास्पद समझी जाय—कि सुसम्पादित ग्रंथों और पत्रों से ही साहित्य की श्रीवृद्धि हो सकती है। आजकल अधिकांश पुस्तक संशोधित-संपादित नहीं होतीं। लेखक की फटी झोली से प्रकाशक की रंगीन मेज पर—बस दो ही छलाँग में बाजार की हवा खाने लगती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य का वैभव और प्रभाव दिन-दिन बढ़ रहा है; परन्तु उसका भाण्डार जिन विपुल वस्तुओं के संचय से सजाया या सम्पन्न किया जा रहा है, उनमें काँच के

चमकीले टुकड़े कम नहीं हैं। निश्चय ही, 'लालों की नहिं बोरियाँ' यथार्थ उक्ति है, फिर भी सजावट की सुन्दरता बढ़ाने के लिए काँच के टुकड़ों की भी आकृति सुडौल और सुहावनी होनी चाहिए।

हमें पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की संख्या-वृद्धि पर न इतराना चाहिए और न इस गर्व में फूलना चाहिए कि हमारी हिन्दी में हर साल अन्य भाषाओं से कहीं अधिक पुस्तकें और पत्रिकाएँ निकलती हैं। पुस्तकों और पत्रों की संख्या-बाहुल्य से साहित्य की अभिवृद्धि का अनुमान तो होता है; पर हमें देखना यह चाहिए कि भाषा और भाव की दृष्टि से वे कहाँ तक लोकोपयोगी हैं। प्रकाशन का केवल संख्या-बल ही साहित्य को शक्तिशाली नहीं बना सकता। हम भारतीयों का संख्या-बल तो भूमण्डल में अद्वितीय है; पर हमारी शक्ति से संसार खूब परिचित है।

इन दिनों बहुत-सी रचनाएँ तो ऐसी देखने में आती हैं जिनके विषय में जीभ हिलाना भी बड़ा भयावह जान पड़ता है। उन्हें पढ़ने से मालूम होता है कि केवल अर्थ-क्लिष्टता पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। कुछ लोग देखादेखी गूढ़ार्थवादी बनने का स्वांग रच रहे हैं। हमारे गौरवालंकार 'प्रसाद', पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार, मिलिन्द, दिनकर, प्रभात, बच्चन, सियारामशरण, उदयशंकर आदि में भले ही कहीं कहीं दार्शनिक पहेलियाँ मिल जाती हों; पर थोड़ी देर ठिठक कर जब हम उनके अभ्यन्तर में पैठने का प्रयत्न करते हैं तब देखते हैं कि नारिकेल-फल के स्फटिक-स्वच्छ जल के समान विमल-शीतल रस का प्याला छलक रहा है। अगर नई पीढ़ी अपनी भावाभिव्यंजना की विकलता नहीं सँभाल सकती, तो कोई चिन्ता नहीं, खुल-खेलें साहित्य-प्रांगण में; मगर सहसा कबीरपंथी न बनें—उठती जवानी की उमंगों का क्रीड़ा-कन्दुक भी न बनें। आरम्भ में तो भाषा की रमणीयता, भाव की बोधगम्यता और अभिव्यक्ति की प्राञ्जलता पर ही विशेष ध्यान रहना चाहिए। इसके लिए हमारे भुवन-मन-मोहन सोहनलालजी एक उत्कृष्ट निदर्शन हैं। 'नवीन' और 'हितैषी', 'द्विज' 'मनोरंजन', 'नैपाली' और 'सुभद्रा कुमारी' भी इस क्षेत्र में अनुकरणीय आदर्श हैं। इनमें भाषा-शैली के तीनों गुण सुलभ हैं। इनकी भावाभिव्यक्ति में जितनी सरलता है, उतनी ही सरसता भी।

आजकल की गद्य पद्य-रचनाओं में भावाभिव्यञ्जन का जो विलक्षण ढंग दीख पड़ता है, उसपर कुछ कहने से कोई लाभ नहीं। हाँ, ऐसे अवसर पर पूज्य आचार्य द्विवेदीजी का स्मरण हो आता है, जो साहित्य की सर्वोपयोगिता के खयाल से निरंकुशों पर कशाघात करने में कभी कुण्ठित न होते थे। सचमुच उनके न रहने से हिन्दी अनाथ हो गई! उसकी पूजा-विधि में कोई नियमितता अथवा सुव्यवस्था नहीं रह गई। आज ऐसा कोई प्रभुत्वशाली सम्पादक नहीं नजर आता, जो भाषा की वेश-भूषा और भाव की हृदयग्राहिता पर किसी प्रकार का नियंत्रण रख सके। यह काम तो 'सरस्वती' और 'सम्मेलन-पत्रिका' के अपनाने योग्य है। 'माधुरी' और 'सुधा' में भाषा-भाव-सम्बन्धी उच्छृंखलता पर कुछ अधिकारी विद्वानों के लेख छपे थे; पर उतने से ही काम न सरेगा, इस विषय में निरन्तर जागरूकता की जरूरत है। आदर्श समालोचक श्रीगुलाबरायजी की देखरेख में 'साहित्य-

सन्देश' जिस प्रकार समालोचना-क्षेत्र को उर्व्वर बना रहा है, उसी प्रकार इस तरफ भी उसे आँख रखनी चाहिए। मासिक और साप्ताहिक पत्र ही सुचारु रूप से यह काम कर सकते हैं। श्रीनिर्मल जी का 'देशदूत' द्विवेदीजी का यह प्रिय कार्य अपने हाथ में ले ले और 'भारत' के सहयोग से 'सम्मेलन' के मुख्य गढ़ में ही इस आन्दोलन का सूत्रपात करे, तो बहुत प्रभाव पड़ेगा। ठाकुर श्रीनाथ सिंह जी निर्द्वन्द्व मनचले यारों की धर-पकड़ मजे से कर सकते हैं। पूरबी छोर पर 'विशाल-भारत', 'विश्वमित्र' और 'जागृति' देखभाल करें। पश्चिमी छोर का यार 'वेंकटेश्वर', 'लोकयुद्ध' 'दैनिक 'हिन्दुस्तान' और साप्ताहिक 'विक्रम' पर रह जाय। इस काम में 'विक्रम' के उग्र पराक्रम का ज्यादा भरोसा है। मध्यप्रान्त और बरार के सजग प्रहरी 'कर्मवीर' की चौकसी पर भी कम भरोसा नहीं है। पंजाब में 'दीपक' का उजाला तो रहेगा ही, पंजाब-प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन का भी सहयोग होना चाहिए। देशी राज्यों में 'जयाजी-प्रताप', 'प्रकाश' और मासिक 'वीणा' तथा 'विक्रम' सावधान रहें। मध्यभारत में 'मधुकर' सम्पादक चतुर्वेदीजी तो चिर-चैतन्य ही हैं। उनके हाथ में तो सबकी नकेल रह सकती है। युक्तप्रान्त में काशी के मासिक 'हंस' और साप्ताहिक 'आज' तथा 'संसार' विशेष सफलता से यह काम कर सकते हैं। बिहार में पं० हंसकुमार तिवारी की 'उषा' इस काम का बीड़ा उठा चुकी है। दक्षिण भारत का जिम्मा वहाँ की 'हिन्दी-प्रचार-सभा' ले लेगी और वहाँ की आवश्यकता के अनुसार 'हिन्दी-प्रचारक' काम सँभालेगा। इस प्रकार सुसंघटित प्रयत्न करने पर ही यह काम हो सकेगा। यदि यह काम लोगों को प्रहसन न प्रतीत हुआ, तो इसका परिणाम निस्संशय हितकर होगा।

—साप्ताहिक 'उषा' (गया) ; १३ अक्टूबर, १६४४ ई०

•

हमारे सामयिक साहित्य की गति-विधि

सामयिक साहित्य का तात्पर्य यहाँ आधुनिक पत्र-पत्रिकाएँ है। पत्र-पत्रिकाओं की गति-विधि का निरीक्षण परीक्षण करना बहुत कठिन काम है। कठिन ही नहीं, संकटापन्न और भयावह भी है—दायित्वपूर्ण तो है ही।

हिन्दी-संसार में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बहुत अधिक है। उस संख्या में कभी न्यूनता भी होती है तो शीघ्र ही नई वृद्धि से उसकी पूर्त्ति हो जाती है। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं का संख्या-बल कभी विशेष घटने नहीं पाता। ऐसी स्थिति में एक ऐसे स्वतंत्र साप्ताहिक पत्र की ही आवश्यकता अनुभूत होती है, जो प्रति सप्ताह सभी पत्र-पत्रिकाओं की गति-विधि का निरीक्षण-परीक्षण करता रहे।

नित-नूतन प्रकाशित होती रहनेवाली विविध-विषयक पुस्तकों की जाँच-परख के लिए भी एक वैसे ही पत्र की आवश्यकता प्रतीत होती है। कभी-कभी किन्हीं पत्र-पत्रिकाओं

में ऐसे आलोचनात्मक लेख नजर आ जाते हैं, जिनमें गिने-चुने पत्रों और कुछ खास पुस्तकों पर संक्षिप्त विचार दीख पड़ते हैं; पर उतने से ही वास्तविक उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। यहाँ तो हमेशा जाँच-पड़ताल जारी रखने की जरूरत है।

'जड़ चेतन गुनदोषमय विश्व कीन्ह करतार'—इसलिए, संसार के सभी क्षेत्रों में उत्तम, मध्यम, और निकृष्ट वस्तुएँ स्वभावतः पाई जाती हैं। हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में भी तीनों श्रेणियाँ देखी जाती हैं। सभी देशों की भाषाओं के साहित्य में यह बात न्यूनाधिक रूप में होगी। भारत की प्रमुख भाषाओं के साहित्य में भी यह बात प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। किन्तु, हिन्दी में जैसी असावधानता इधर दीख पड़ती है, वैसी अन्य भारतीय भाषाओं में भी नहीं—विदेशों की तो बात ही क्या। हिन्दी को हमलोग राष्ट्रभाषा कहते हैं। उसकी प्रतिष्ठा का भी हमें ध्यान रखना चाहिए। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की भाषा, संपादनशैली, सजावट, सर्वोपयोगिता आदि पर हमारा पूरा ध्यान न रहेगा तो राष्ट्र-भाषा की प्रतिष्ठा भी निष्कलंक न रह सकेगी।

दैनिकों और साप्ताहिकों के लिए यह मान लिया जा सकता है कि समय की कमी और जल्दीबाजी तथा सम्पादकीय विभाग के अनिवार्य अभावों के कारण उनमें कुछ त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है; किन्तु, मासिक पत्र-पत्रिकाओं के लिए ऐसा कोई बहाना अच्छा न जँचेगा। हमारे कई दैनिक और साप्ताहिक तो अनेक मासिकों से भी सुन्दर और आकर्षक हैं। पृष्ठ-संख्या अथवा आकार-प्रकार के लिए किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती। दो ही पृष्ठों का दैनिक हो, चार वा आठ पृष्ठों का ही साप्ताहिक हो, पचास ही पृष्ठों का मासिक भी हो, किन्तु सुसम्पादित हो, भाषा और पाठ्य-सामग्री तथा सजावट की दृष्टि से सुरुचि और सच्ची लगन का परिचायक हो। कितने ही पत्रों को देखकर स्पष्ट जान पड़ता है कि भाषा की शुद्धता पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। यात्रा आदि के समय अखबार बेचनेवालों से ऐसे पत्रों के खरीदने पर पढ़ते समय घोर पश्चात्ताप होता है कि व्यर्थ पैसे क्यों नष्ट किये।

कभी-कभी दो-चार पत्रों को एक साथ ही देखते समय ऐसा मालूम होता है कि इनमें कोई विभिन्नता या निजी विशेषता या नवीनता नहीं है। एक ही तरह का समाचार-संकलन, एक ही ढंग से भाषणों का संग्रह, और-और बातों में भी लगभग एक ही तर्ज। यदि कहीं कविता है तो खोगीर की भरती, व्यंग्यविनोद है तो चमत्कार-शून्य! विज्ञापनों के लिए तो कोई नीति या सिद्धांत कहीं है ही नहीं। बस एक ही उद्देश्य है—आर्थिक लाभ। विज्ञापनों की भाषा और उनमें व्यंजित भावों पर यदि विचार किया जाय तो एक वीभत्स होलिकांक के लिए फूहड़ लेख की सामग्री उपलब्ध हो जायगी!

भाषा के सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं के संचालक यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि उसका रूप अभी स्थिर नहीं हुआ है—कोई सर्वमान्य शैली स्वीकृत नहीं हुई है। किन्तु वह तर्क पत्र-पत्रिकाओं के लिए गौरववर्द्धक नहीं है। भाषा या शैली का रूप स्थिर करना या कराना उन्हीं के हाथ में है। यदि वे इस विषय का महत्त्व समझकर आन्दोलन करें, सुझाव पेश करें, लोकमत का संग्रह और प्रकाशन करें, भाषा-तत्त्व-मर्मज्ञों से वक्तव्य लेकर

छाप, समालोचकों को पर्याप्त पुरस्कार एवं प्रोत्साहन दें, विद्वत्समिति का आयोजन करें और निरन्तर इस विषय के प्रश्नोत्तर प्रकाशित कर शंका-समाधान करते-कराते रहें, तो भाषा सम्बन्धी अनेक समस्याएँ सुलझ जा सकती हैं। किन्तु, खेद है कि हमारे पत्र-संसार में संघ-शक्ति का अभाव है और अखिल भारतीय पत्रकार-संघ या सम्पादक-सम्मेलन भी इस दिशा में अग्रसर होता नजर नहीं आता।

ऐसी दशा में सामयिक साहित्य की गतिविधि का परिचय देते समय यही कहा जा सकता है कि अपनी-अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार सभी हिन्दी-सेवा में तत्पर हैं—कोई सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। सामूहिक संघटन अथवा एकता के बिना कोई निश्चित सिद्धान्त बन भी नहीं सकता। सुयोग्य एवं समर्थ पत्रकारों की प्रवृत्ति भी इधर नहीं दीख पड़ती।

साधारण उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि बहुत-से पत्रों में चन्द्र-बिन्दु के स्थान पर भी अनुस्वार का ही प्रयोग हुआ करता है, जिसके लिए बना-बनाया बहाना छपाई की सुविधा का है—नियम तो ऐसा कोई है ही नहीं। संयुक्त और समस्त शब्द भी अलग-अलग छपते हैं, संयोजक चिह्न का भी शुद्ध प्रयोग नहीं किया जाता। लिखावट में शब्दों के रूप की विभिन्नता का तो कहना ही क्या! मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना !! भाषा मानों अनाथा होकर परवश पड़ी कलप रही है। 'मनहुँ म्लेच्छ बस कपिला गाई !' न कोई देखनेवाला है न सुननेवाला।

हाँ, कुछ सावधान पत्रप-त्रिकाओं द्वारा जो साहित्य-सेवा हो रही है, वह शतमुख-श्लाघ्य है। उनकी सेवा से साहित्य की समृद्धि-वृद्धि भी हो रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं। देश और समाज का भी बहुत उपकार हो रहा है। किन्तु, जहाँ सबका कल्याण हो रहा है, वहाँ भाषा बेचारी दिन-दहाड़े सताई जाती रहे, यह निश्चय ही चिन्ता का विषय है। भाषा की साँसत दोनों ओर से हो रही है—दुष्प्रयोगों के कारण भी और छपाई की भ्रष्टता के कारण भी। पत्रकार-कला में प्रूफ-संशोधन का विशेष महत्त्व बतलाया जाता है। मुद्रण-कला में भी प्रूफ-संशोधन की कला का सर्वतोऽधिक महत्त्व माना जाता है। किन्तु, यह सब केवल माना ही जाता है—निबाहा नहीं जाता—मानने ही भर के लिए यह सब है—निबाहने के लिए शायद नहीं !!

जिस भाषा में नागरीप्रचारिणी पत्रिका (काशी), हिन्दुस्तानी (प्रयाग), लोकवार्त्ता (जयपुर), पारिजात (पटना), नया साहित्य (बम्बई) आदि सुन्दर त्रैमासिक पत्र हैं; सरस्वती, माधुरी, विशाल-भारत, विश्वमित्र, वीणा, हंस, मधुकर, साहित्य-सन्देश, सम्मेलन-पत्रिका, कल्याण आदि सुप्रतिष्ठित मासिक पत्र हैं; आज, संसार, विश्वमित्र, विश्वबन्धु, प्रताप, अर्जुन, नवयुग, हिन्दुस्तान, राष्ट्रवाणी, आर्यावर्त्त, देशदूत, लोकमान्य, वेंकटेश्वर, कर्मवीर, नवशक्ति, योगी, हुंकार, उषा, प्रभाकर आदि दैनिक और साप्ताहिक पत्र हैं—उस भाषा पर दुतरफा हमला हो रहा है और सब-के-सब खुली आँखों भाषा की दुर्दशा का तमाशा देख रहे हैं—देख ही नहीं रहे हैं, किसी-न-किसी रूप में क्रियात्मक सहयोग भी दे रहे हैं, यही देखकर निराशा होती है। ऐसा कहना यद्यपि अत्यन्त भयावह है, तथापि इसमें सत्यता

की मात्रा यथेष्ट है। अकारण दोषारोपण अभीष्ट नहीं है, अभीष्ट है केवल भाषा की प्रकृति और रूपरेखा की सुरक्षा। जहाँ बड़े-बड़े धुरन्धर एवं यशस्वी संपादक हैं, सुयोग्य और अनुभवी पत्रकार हैं, विद्वान् और सूक्ष्मदर्शी समालोचक हैं, ख्यातनामा भाषातत्त्वविद् तथा मुद्रणकला-विशेषज्ञ हैं, वहाँ भी ऐसी धाँधली मची हुई है, यही खेद का विषय है। राष्ट्रभाषा के गौरव को यदि सचमुच अक्षुण्ण रखना है, तो इधर ध्यान देना ही पड़ेगा।

कुछ पत्र-पत्रिकाओं को देखकर मन में सहसा यह भाव उदित होता है कि इनका अस्तित्व अनावश्यक है—ये राष्ट्रभाषा के कलंक हैं; किन्तु, यह बात खुलकर कहने का दुस्साहस इस उच्छृंखल युग में वही कर सकता है जो परम निर्लज्ज हो अथवा जिसकी कठोर शास्ति मानने के लिए निरंकुश भी विवश हों। किन्तु, न तो कोई ऐसा निर्लज्ज ही रह गया है और न कोई कठोर शास्ता ही। इसीलिए, रावण के पंजे में पड़ी सीता की तरह भाषा असहाया हो रही है। भाषा की शुद्धता और सुन्दरता से ही साहित्य की शोभा-सम्पत्ति बढ़ सकती है। पत्र-पत्रिकाओं के अस्तित्व की उपयोगिता भी यही है कि साहित्य का सौन्दर्य और वैभव बढ़ता रहे। प्रतिवर्ष कुछ पत्र-पत्रिकाओं के दर्शनीय विशेषांक निकल जाते हैं, जिनमें से कई तो स्थायी साहित्य के कोष में सुरक्षित रखने योग्य प्रतीत होते हैं; किन्तु विशेषांक-प्रकाशन की परम्परा में भी आवश्यकतानुसार तथा समयानुकूल सुधार होना चाहिए। 'कल्याण' ने अपनी परम्परा सुधार ली है, अतः उसके द्वारा आध्यात्मिक और धार्मिक साहित्य के अभावों की पूर्त्ति हो रही है—उपेक्षित अंग भी विकसित किये जा रहे हैं। किन्तु, साहित्यिक अभावों की पूर्त्ति करनेवाले विशेषांक बहुत कम देखने में आते हैं।

साहित्य की कई शाखाएँ तो पल्लव-पुष्पादि से भरी-पूरी हैं, पर कुछ यों ही टूठी भी पड़ी हैं, जिनमें कहीं-कहीं एक-दो अंकुर के सिवा फूल-फल हैं ही नहीं। इस अभाव की पूर्त्ति पत्र-पत्रिकाओं के सतत प्रयत्न से ही हो सकती है। जिन विशेषांकों के प्रकाशन में प्रचुर द्रव्य, पर्याप्त परिश्रम और समय तथा शक्ति लगाई जाती है, उनमें यदि नई उद्भावना-शक्ति और नई सूझ का भी उपयोग किया जाय तो वे सदा के लिए संग्रहणीय बन सकते हैं। साहित्य की श्रीवृद्धि करनेवाली बहुत-सी वस्तुएँ विस्मृति के गर्भ में विलीन होती जा रही हैं और कितनी ही तो सर्वथा लुप्त होकर चिरकाल के लिए अप्राप्य हो गईं; पर अब भी जो बच रही हैं उनके उद्धार की ओर सामयिक साहित्य के विधाताओं का ध्यान नहीं है। कुछ दूरदर्शियों का ध्यान है भी तो उन्हें सहयोगी और अनुयायी नहीं मिल रहे!

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-मंत्री श्री रामनाथ 'सुमन' जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उन गुरुजनों की खोज-खबर लेते रहने की प्रेरणा दी है 'जिनके आशीर्वाद से हिन्दी-साहित्य पनप रहा है'। यह सुझाव सभी प्रान्तों के पत्रों के लिए बहुत हितकर है। किन्तु, हमारे पत्रकार ऐसी छोटी बातों पर क्यों ध्यान देने लगे! 'मधुकर'-सम्पादक श्री चतुर्वेदीजी 'घरेलू जीवनचरित' आदि कई मनोरंजक और शिक्षाप्रद शीर्षकों की सृष्टि करके साहित्य-भांडार में दुर्लभ सामग्री संचित करने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे ही ऐसे शुभ उद्योगों से हमारे सामयिक साहित्य की महत्ता बढ़ सकती है। साप्ताहिक

'आज' ने महापुरुषों और साहित्य-समाराधकों के हस्ताक्षर और अभिमत प्रकाशित करके नया ढंग सुझा दिया है। 'सरस्वती' ने आचार्य द्विवेदीजी की चिट्ठियों का संग्रह क्रमशः प्रकाशित करके बहुत बड़ा ऋण चुकाया। ऐसे काम बहुतेरे यों ही पड़े हुए हैं। जिन कामों के करने से साहित्य का खजाना हर तरफ से और सब तरह से भरा पूरा हो सकता हो, उन्हीं कामों पर यथोचित ध्यान देने से सामयिक साहित्य की गतिविधि संतोषजनक कही जा सकती है।

इस समय हमारे सामयिक साहित्य की गतिविधि में आशा और उत्साह का संकेत तो है; पर असंयत मनोवृत्ति और अपरिष्कृत रुचि के चिह्न भी उसके साथ लगे हुए हैं, और, यह भी केवल असावधानता के कारण—अनभिज्ञता के कारण नहीं। जबतक उत्तर-दायित्व के प्रति यह असावधानता रहेगी, तबतक गति-विधि पर 'विधि-गति वाम' बनी ही रहेगी।

—साप्ताहिक 'योगी' (पटना); दीपावली-विशेषांक, १९४५ ई०

●

हिन्दी के पत्र

मैं हिन्दी की पत्रकार-कला के भविष्य में रंगीन सपने देखा करता हूँ, पर उसके वर्त्तमान में मेरी विशेष श्रद्धा नहीं है। पत्रकार और सम्पादक एक-से-एक हैं, विद्वत्ता और अनुभव में यशस्वी हैं; किन्तु हिन्दी के पत्रों और पत्रिकाओं में बहुत ही कम ऐसे पत्र नजर आते हैं जिन्हें देखकर यह कहा जा सके कि सुसम्पादित और सुमुद्रित है। कोई हिन्दी के अक्षरों और टाइपों को दोषी ठहराता है, कोई पत्र-प्रकाशक—पूँजीपतियों को दोषी कहता है। किन्तु, जहाँ ये दोनों दोष नहीं हैं या कुछ कम हैं, वहाँ भी कोई सन्तोषजनक स्थिति नहीं नजर आती।

हिन्दी आज बहुत उन्नत हो गई है। फिर भी उसमें 'स्टेट्समैन' या 'अमृतबाजार-पत्रिका' या 'आनन्दबाजार-पत्रिका' या 'नेशनल हेराल्ड' के समान दैनिक नहीं हैं—एक भी उनके जोड़ का नहीं है। न जाने व्यवस्था में दोष है या आर्थिक कठिनाई के कारण ऐसा होता है, कुछ कहते नहीं बनता। मासिकों में भी और साप्ताहिकों में भी बाहरी तड़क-भड़क पर जितना ध्यान है उतना भीतरी सजावट और स्वच्छता तथा शुद्धता पर नहीं है। यह आलस्यवश होता है या उदासीनतावश या श्रमशीलता के अभाव से, राम जाने। किसी की लगन और सचाई में सन्देह करना तो अनुचित ही होगा। फिर भी पत्रकारों को इस पर विचार करना चाहिए।

पत्रों की उन्नति के लिए पत्रकारों का संघ भी है। उसके प्रस्ताव और सुझाव वार्षिकोत्सव के कार्य-विवरण में ही रह जाते हैं। पत्रकार-विद्यालय के लिए पत्रकारों की

ओर से नियमित आन्दोलन नहीं होता। पत्रकारों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए भी संगठित उद्योग नहीं होता। पत्रकारों के हित का कोई आन्दोलन जोर नहीं पकड़ता। एक प्रकार की शिथिलता और निर्जीवता व्याप्त हो रही है। भाषा-संस्कार या लिपि-सुधार या भाषा तथा लिखावट की एकरूपता पर भी पत्रकारों का ध्यान नहीं है। सर्वत्र स्वेच्छाचार चल रहा है।

रेडियो और रेलवे तथा सिनेमा द्वारा भाषा की जो दुर्गति हो रही है उसे भी पत्रकार खुली आँखों देखते हैं और संगठित आन्दोलन में उनकी प्रवृत्ति या दिलचस्पी नहीं होती। राष्ट्रीय आन्दोलन या सामाजिक या धार्मिक या साहित्यिक आन्दोलन सुव्यवस्थित रीति से नहीं होते। पत्रकारों की मुट्ठी में जनता है। मगर वह सिर्फ समाचार पढ़कर मन बहला लेती है—कोई सबल प्रेरणा नहीं पाती। पत्रकार चाहें तो सब कुछ कर सकते हैं। किन्तु उनका संघटन कब होगा, राम जाने।

—साप्ताहिक 'उषा' (गया) ; पत्रकार-अंक, वर्ष ६, संख्या १; फरवरी, १९४७ ई०

•

राव से रंक

किसी देश में एक महाप्रतापी राजा रहता था। वह अपने अपरिमित ऐश्वर्य से कुबेर को भी लज्जित करता था। ऋद्धिसिद्धियाँ सदा उसके कोष में सुस्थिर वास करती थीं। आनन्द सदैव उसके सामने हाथ बाँधे खड़ा रहता था। उसने सांसारिक सुखविलासों की सीमा बाँध दी थी।

उस राजा को एक परम प्रवीण मंत्री था। वह मंत्री बड़ा बुद्धिमान और विचार-शील था। उसी के प्रभाव से किसी अपर शत्रु का वश नहीं चलता था। वह अपनी चमत्कारिणी बुद्धि द्वारा समस्त राज्य की रक्षा करता था। उसी के भरोसे सब राजकाज चलता था और वह विलासी राजा सदैव सुख के बोझ से लदा हुआ आनन्द-सागर की तरल तरंगों से चुम्बनालिङ्गन किया करता था।

उस राजा के क्रीड़ोद्यान में सोने के वृक्ष, पौधे और लताएँ रची गई थीं, जिनमें पद्मराग, मूँगे, मोती, मरकतमणि इत्यादि अमूल्य रत्नों के फल-दल-फूल लगे हुए थे, और उन पर हीरे, लाल, पन्ना, नीलम आदि जवाहरों के बुलबुल, शुक, कपोत, तूती, लालमुनिया, मोर और चपल खंजन इत्यादि बहुरंगी विहंगमंडली बैठाई गई था। गाछों को दूध एवं गुलाबजल से सींचा जाता था।

एक दिन वह राजा अपने मंत्री के साथ एक चन्द्रनिभ स्फटिक-जटित सर्वोच्च प्रासाद पर बैठा हुआ था। वह प्रासादश्रेणी शोभा-मूर्त्ति की अङ्गपूर्ति-सी करती जान पड़ती थी। उस प्रासाद के आँगन के मध्य एक बनावटी क्रीड़ावापी थी, जिसके चारों ओर की मेंड़

स्वच्छ विल्लौर के खंडों से खचित थी, और सोपान भी मणिगठित और सुन्दर सुचिक्कण थे। उनमें मरकत मणि के मृणाल-संयुक्त पद्मराग के कमल बनाये गये थे और कहीं-कहीं नलिनीदल पर मोतियों की पंक्ति भी बैठी हुई थी, जिसमें सोने और चाँदी की मछलियाँ पोसी गई थीं। नाना रंगों के जल-पक्षियों का कलरव सर्वदा श्रवण-सुखद और चितचोर था।

अपने अपरिमेय ऐश्वर्य और अतुल वीर्य-पराक्रम को मन-ही-मन समझकर वह राजा गर्वजनित आनन्द के मारे फूलकर मशक बन गया। अमोघ अहंकार के कारण उसके मस्तिष्क में विकट चक्रावली घूमने लग गई।

कोउ नहिं अस जन्मेउ जग माहीं, प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥

वह धनमदोन्मत्त राजा बड़े ही गर्व से अपने प्रिय पार्श्ववर्त्ती मंत्री से बोला कि हे प्रियवर! भला कहो तो, इस समय हमारे सदृश प्रतापशाली और सकल-समृद्धि-सम्पन्न इस जगतीतल पर कौन है? हमने भलीभाँति सोच-विचार कर यही निश्चय कर लिया है कि हमारे समान सुखभोग स्वर्गनिवासियों को स्वप्न में भी दुर्लभ होगा।

राजा की ऐसी गर्वित बातें सुनकर वह मंत्री भले प्रकार समझ गया कि इस जड़मति को भी अभिमान ने अपना दास बना लिया है। उस चतुर मंत्री ने विचार किया कि इस समय सहारा देने से राजा के हृदय-क्षेत्र में गर्वाङ्कुर समुद्भूत हो जायगा।

Every evil should be nipped in the bud. अर्थात् प्रत्येक जघन्य कुकर्म का बीजाङ्कुर प्रारम्भ में ही छिन्न-भिन्न कर देना चाहिए, क्योंकि A stitch in time saves nine. 'अर्थात् ठीक समय पर का एक टोप टाँका हुआ अंत में नौ पैसे का बचाव करता है।' जो निन्द्यकर्म तथा कुत्सित मनोभावना मूल ही में विनष्ट कर दी जायगी वह कदापि पीछे कुछ क्षतिजनक नहीं हो सकती। यदि आरंभ में ही उस कलुषित विषय को मनमाना छोड़ दिया जाय तो अन्तकाल उसकी यही दुर्गति होगी कि वह दूषित व्यवहार दुर्दान्त मूर्त्ति धारणकर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा लेगा और तमाम सद्गुणों पर पानी फेर देगा।

उस नीतिनिपुण मंत्री ने ऐसा पूर्वापर विचार कर राजा से कहा—हे पृथ्वीनाथ! इस निःसार संसार में एक-से-एक बड़े प्रसिद्ध और कुबेरोपम धनाढ्य पड़े हुए हैं। परन्तु, वास्तव में देखा जाय तो सब 'चार दिन की चाँदनी फिर अन्धेरी रात' के सदृश हैं। लक्ष्मी तो किसी की न हुई, न होगी। यह तो चंचला के समान क्षणिक है। कितने प्रतापी शूरवीर, धनी और मनस्वी-तेजस्वी इस रत्नगर्भा वसुन्धरा की रेणुराशि में मिल गये। आप अपने घोर धनमद को मलमूत्रवत् त्याज्य समझकर हृदय से बहिष्कृत कीजिए और उस अघटित-घटन करुणावरुणालय परमात्मा को धन्यवाद दीजिए कि जिसने आपको यह धनजन-अन्न का अप्रतिम भाण्डार समर्पण किया है। 'नामी नर होत गरुड़गामी जू के हेरेते।'

राजा के हृदय में यह सब प्रतिकूल बातें चोखे-चोखे तीरों के सदृश बींधती थीं। वह मारे क्रोध और अहंकार के भूत हो गया। राजाज्ञा पाकर झट एक वधिक ने मंत्री का सिर उतार लिया।

हा ! क्या संसार में ऐसे भी व्यभिचारी मनुष्य हैं जो पूर्वापर का विचार किये विना अपने सर्वस्व तथा जीवनावलम्ब से भी हाथ धो बैठते हैं ? हा ! किसी तत्त्ववेत्ता विद्वान ने बहुत ही उचित बात कह छोड़ी है कि राजा की राय के विरुद्ध होना अपने रक्त में अपना ही हाथ धोना है। यदि राजा दिन को रात्रि कहे तो यह भी कह देना यथार्थ होगा कि हाँ, महाराज ! आप बहुत ठीक कहते हैं, चन्द्र-तारा भी दीख पड़ते हैं। अहा ! विना ठकुरसोहाती के कहीं निर्वाह नहीं है। अहंकार-रूपी मृगेन्द्र ने राजा-रूपी गजेन्द्र का मस्तक विदीर्ण करके सुन्दर गुण-गण-रूपी गजमुक्ताओं को बाहर निकाल लिया।

जब कभी वह राजा बाहर आखेट के लिए जाता था, तो चतुरंगिणी सेना और पार्श्ववर्त्ती मनुष्यों की तो गणना ही क्या थी ? केवल उसी के भोजन और पाकागार की सामग्री सहस्रों ऊँटों पर चलती थी और उसके धन-भांडार की कुंजियाँ भी कई सैकड़ों ऊँटों का बोझ थीं। वह निशिदिन अपनी राज्यश्री की वृद्धि देख अधिक-अधिक गाढ़ मद से मत्त हुआ जाता था।

मंत्री के मरते ही शत्रुओं ने अपना सुअवसर पाकर एकाएक आक्रमण कर दिया और समस्त राज्यसम्पदा ध्वंस करके दर्पदलित राजा को बाँध लिया, और अपने कारागार में ले जा रखा। एक हाँड़ी रसोई पकाने को मिली। एक टाट शयन करने के लिए।

हा ! प्रारब्ध, तेरी कैसी विलक्षण गति है ! कोमलकमल एवं मृदुल मल्लिका-मयी क्षीरफेननिभ स्वच्छ शय्या पर पौढा हुआ शरीर आज रूखे ही टाटों पर लोटपोट कर दिन काट रहा है। जिन अंगों में कुसुमकलित मखमली सेज भी गड़ती थी, वह आज बर्छी की नोक पर नृत्य कर रहा है !!

दैवात् एक दिन उसकी हाँड़ी को कुत्ता ले भागा। वह छाती पीट-पीटकर विलखता था कि हाय ! प्यारे मंत्री ! तुम्हारे विना मेरी क्या दशा हुई ? विना विचारे काज करनेवालों की यही दशा होती है !! शीघ्रता में अनिष्ट काम कर डालनेवालों की क्या अन्तिम दशा ऐसी ही भीषण हुआ करती है !!! हाय ! हमारा प्रताप एक दिन वह था कि हमारे पाक-भवन की सामग्री कई सैकड़ों ऊँटों पर चलती थी और आज हम वही हैं, जिसके सामने क्रूरकर्मा विधाता ने ऐसा दुर्दिन ला दिखाया है कि मेरी हाँड़ी तक कुत्ता ले भागा। हाय ! हमें देखकर वन्यगजव्याघ्रसिंहादि भी भयभीत होकर सामने से भाग जाते थे। परन्तु, आज हमारे ही सामने से कुत्ता भी बरजोरी अपमान करके चला गया। हाय ! किस्मत ने आज कलेजे में लूक-सी लगा दी। All's well that ends well—अन्त भला तो सब भला'। सब दिन सुख में कटे और अन्तिम दिन मेरा क्या ही व्यथाकर हुआ ! हाय ! विधाता ने 'जैसी करनी तैसी भरनी'-वाली उक्ति मेरे ही ऊपर चरितार्थ कर डाली। हे भगवन् ! हे दीनानाथ ! हे अशरणशरण ! संसारमात्र की अन्तिम गति तुम्हीं हो। अब मुझे इस विपत्ति से उबारो—'कृपा दृष्टि की वृष्टि करि हरो विषम मम पीर।'

भगवान की शरण सिवा हमको शरण नहीं।
टाँकी लिखी बाँकी कभी होती हरण नहीं।

भोगे बिना निज कर्म-फल मेरा मरण नहीं।
प्रभु के चरण-शरण बिना पापोद्धरण नहीं।

× × ×

दुख में सब सुमिरन करैं सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करैं तो दुख काहे को होय।

—मासिक 'मनोरंजन' (आरा); वर्ष १, अंक १, जनवरी-फरवरी, १९१३ ई०

•

गोबर की राम-कहानी

मैं सब वनौषधियों का सार हूँ। इसीलिए, मेरा रस पाकर सभी वनस्पतियाँ लहलहा उठती हैं।

मेरे पिता का नाम जठरानलानन्द है और श्रीमती सुरभी मेरी माता हैं।

मेरे जन्मस्थान का नाम लेने से दिन-भर अन्न-जल के दर्शन न होंगे, इसलिए नहीं बताऊँगा।

हाँ, जन्मस्थान का पता बतला सकता हूँ। 'हिन्दी-शब्दसागर' के दूसरे खण्ड के ७८८ पृष्ठ के प्रथम स्तम्भ का चतुर्थ शब्द देखिए। आप ही मालूम हो जायगा कि मेरे जन्मस्थान के आधार पर हिन्दी में अनेक अद्भुत वाग्धाराओं की सृष्टि हुई है।

यदि आप हिन्दी के बदले संस्कृत में मेरे जन्म-स्थान का पता जानना चाहते हैं, तो भी एक श्लोक का चतुर्थ ही चरण स्मरण करना पड़ेगा, जिसमें प्रथम दुर्जन की और तदनन्तर सज्जन की वन्दना की गई है।

आप तो जानते ही हैं कि मैं अस्पृश्यों की योनि में जन्म लेने पर भी गंगाजल के समान पवित्र और पूज्य हूँ। हिन्दू घराने के प्रत्येक मांगलिक कृत्य में मेरी उपस्थिति अनिवार्यरूपेण आवश्यक है। गौरी-गणेश के पिता वेद-शास्त्रों में चाहे जो हों, पर शुभ उत्सवों में तो मैं ही हूँ।

चूल्हे-चौके की तो चर्चा ही क्या, यज्ञ-मण्डप में भी सबसे पहले मैं ही प्रवेश करता हूँ।

अगर आप मुझे गरमागरम काम में लावें, तो मैं साबुन का भी चचा सिद्ध हो सकता हूँ।

दुर्गन्धों के दूर करने में मेरे सामने फिनाइल भी फीका पड़ जायगा। मलिनता का नाश करने में मैं वैसा ही सिद्धहस्त हूँ, जैसा विलासिता का नाश करने में खद्दर!

संसार में जितने प्रकार के भयंकर कीटाणु हैं, सब मेरी चुटकियों के चीलर हैं। जैसे मनुष्यों के लिए महामारी है, वैसे ही कीटाणुओं के लिए मैं हूँ।

धर्मशास्त्र और आयुर्वेद में तो मेरी महिमा का वर्णन है ही, वर्त्तमान संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष 'महात्मा गान्धी' ने भी मेरी महिमा का विशद वर्णन किया है। उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

"गोबर का उपयोग अधिकतर उपलों (कण्डों) के लिए किया जाता है। इसमें जरा भी शक नहीं कि गोबर का यह दुरुपयोग नहीं, तो कम-से-कम उपयोग अवश्य है। यह तो ताँत के लिए भैंस मारने के समान है। अगर एक उपले की कीमत एक पाई होती, तो गोबर का पूरा उपयोग करने से एक उपले के बराबर गोबर की कीमत कम-से-कम दस-गुनी अधिक होती है। आज अगर हम इससे होनेवाली अप्रत्यक्ष हानि का ही अन्दाज लगावें तो वह इतनी अधिक होगी कि उसकी कीमत आँकना ही मुश्किल होगा। गोबर का पूरा-पूरा सदुपयोग तो उसकी खाद बनाने में ही है। कृषिशास्त्र के जानकारों का मत है कि गोबर के जला डालने से ही हमारे खेतों की ताकत घटी है। विना खाद के खेत और विना घी के लड्डू में कोई फर्क नहीं होता, दोनों शुष्क होते हैं। गोबर की खाद के मुकाबले रासायनिक खाद कहीं घटिया होती है। रासायनिक खाद से जहाँ लाभ होता है, वहाँ हानि भी होती है। रासायनिक खाद से खेत में अधिक गेहूँ पैदा होगा, दाना सुन्दर और बड़ा होगा; लेकिन गोबर की कुदरती खादवाले खेत में पैदा होनेवाले गेहूँ तादाद में भले ही कम हों, मिठास और पौष्टिकता में तो रासायनिक खादवालों से कहीं बढ़कर होंगे। यह भी हो सकता है कि इस विषय के वैज्ञानिक शोध के बाद रासायनिक खाद का महत्त्व भी आज की अपेक्षा कहीं अधिक घट जाय; किन्तु यह हो या न हो, इतना तो निर्विवाद है कि गोबर का उपयोग खाद के लिए ही किया जाना चाहिए।"

इससे महत्त्वपूर्ण प्रमाणपत्र और क्या हो सकता है?

लोकोक्तियों में भी यही प्रसिद्ध है कि 'गोबर खाद खेत को परै; सौ मन कोठला में लै धरै।'

कृषि-प्रधान भारत में मेरी अद्भुत शक्ति को लोग भूल गये हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान विस्मृत हो गया है कि पृथ्वी की पुत्री 'उर्वरा' के साथ मेरा विवाह हुआ है। जब तक मेरी पत्नी के साथ मुझे लोग खुलकर न मिलने देंगे तबतक मेरे शाप से दरिद्र ही रहेंगे।

मैं हूँ तो बड़ा रसीला, पर सीधी तरह अपना रस मैं किसी को नहीं देता। अगर आप मुझे कपड़े में रखकर निचोड़िएगा, तो एक बून्द भी न टपकाऊँगा। हाँ, अगर मेरे गरमागरम शरीर पर बारीक कपड़ा रख-रखकर सिर्फ कपड़े को ही निचोड़िएगा तो अलबत्त आपका कटोरा भर सकता है।

मेरे रस से रतौंधी की दवा बहुत अच्छी बनती है। वैद्य महाशयों को मालूम है कि दृष्टिमान्द्य में गोमय तैल कितना उपयोगी होता है। तेल से चौगुना मेरा रस डालकर पकाइए, और जब केवल तेल शेष रह जाय तब उसको शीतल होने पर आँखों में लगाइए। फिर तो आप सम्पाती के समकक्ष बन जायँगे।

आपको मालूम होना चाहिए कि आयुर्वेद का प्रसिद्ध 'मरिचादितैल' मेरे रस के बिना नहीं बनता। इस तैल में प्रायः समस्त चर्मरोगों को विनष्ट करने की अपूर्व शक्ति है, वह मेरे ही रस का प्रभाव है।

'भिलावा' का गुण आप जानते ही हैं कि अशुद्ध रहने पर यह शरीर में खाज और फुन्सियाँ पैदा कर देता है, जिससे शरीर खूब फूल जाता है और लाल हो उठता है। किन्तु, 'भिलावा' को यदि मेरे रस में एक पहर तक उबाल दीजिए तो मैं निश्चय ही इसके उपर्युक्त दुर्गुणों को नष्ट कर दूँगा। मेरे रस के संयोग से यह विषाक्त वस्तु भी शरीर की कान्ति बढ़ानेवाली और भगन्दर तथा बवासीर को नष्ट करने में सफल हो जाती है। इस प्रकार मैं विष को भी अमृत बनानेवाला पदार्थ हूँ।

इतना ही नहीं, मेरे रस में और भी बहुतेरे गुण हैं। सूखी खाज (शुष्क कण्डु) और पामा (कलकल) पर अगर मेरा ताजा रस लगाया जाय तो मैं जादू का असर दिखा सकता हूँ। यही क्यों, यदि आपको बन्दर काट दे, और तत्काल आप को कोई दूसरी दवा न मिल सके, तो मुझे गरमागरम उठाकर अपने क्षत पर लगाइए। फिर देखिए कि मैं कैसा छूमन्तर का प्रभाव दिखाता हूँ।

आप यह न समझिए कि विष को अमृत-तुल्य गुणद बनाने का मेरा दावा झूठा है। भिलावे की तरह जमालगोटे पर भी आप मेरे इस दावे की आजमाइश कर सकते हैं। जमालगोटा यद्यपि एक उपयोगी औषधि है, तथापि अशुद्ध अवस्था में यह वमन एवं विरेचन करानेवाला तथा शरीर में अत्यन्त उग्र दाह उत्पन्न करता है, और कभी-कभी तो अधिक मात्रा होने पर मारक भी सिद्ध होता है। किन्तु, मेरे साथ तीन दिनों तक इसे रख छोड़िए, फिर तो मैं इसके उपर्युक्त दुर्गुणों को चुटकियों में उड़ा दूँगा और तब यह जुल्मी जुल्लाब बनकर वैसे ही पेट की हजामत बना देगा जैसे त्रिवेणी-तट के हज्जाम स्नानार्थियों की बनाते हैं।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि खेत की मिट्टी पर मैं जितना प्रभाव डालता हूँ उतना ही धातुओं पर भी। जो 'स्वर्णपर्पटी' संग्रहणीरोग की सर्वोत्तम औषधि है, वह मेरी ही वेदी पर बनाई जाती है। इसके अतिरिक्त 'पंचामृत-पर्पटी' भी मेरे ही सहारे बनती है, या यों कहिए कि अन्य धातुओं के साथ मिलाकर जहाँ पारद के जमाने का प्रयोग किया जाता है, वहाँ भी, सब जगह मेरी ही वेदी पर जमाया जाता है।

मेरे आर्द्र शरीर के गुणों को देख चुके ?

अच्छा, अब मेरे शुष्क शरीर के गुणों को भी परखिए। मेरा शरीर जब सूखकर काँटा हो जाता है तब भी मैं लोकोपकार ही करता हूँ।

सूख जाने पर 'उपला' या 'कण्डा' कहलाता हूँ। दूध को औंटाने के लिए उपले या कण्डे की आग ही सर्वोत्तम होती है। स्वादिष्ट बाटी बनाने में उपले या कण्डे ही काम देते हैं। उपलों और कण्डों की ही बदौलत इस देश के करोड़ों गरीबों के चूल्हे ज़लते हैं।

खासकर धातुओं के फूँकने में तो केवल कण्डे ही काम में आते हैं। कोयले या बिजली की आग अथवा अन्य रासायनिक ज्वालाओं की सहायता से बनाये गये रसों में उतना गुण-विशेष नहीं आता जितना मेरे कण्डों में फूँके गये भस्मों में।

मेरे सूखे कण्डे में यहाँ तक गुण है कि दाद (दद्रु) पर कोई भी दवा लगाने के पहले अगर उसे कण्डे से खुजला दिया जाय और फिर उसपर दवा लगाई जाय, तो तत्क्षण लाभ होता है।

मैं अपने सूखे कण्डे की गुणावली कहाँ तक सुनाऊँ, उसकी राख तक अनेक गुणों से भरपूर है। त्रिदोष के रोगी की देह पर जब पानी-सा पड़ने लगता है और सारी देह शीतल हो जाती है, तब कण्डे की राख मलने से ही रक्त में पुनः गर्मी आती है। इस प्रकार जलकर खाक हो जाने पर भी मैं मृतप्राय शरीर में जीवन-संचार करता हूँ।

कहाँ तक मैं अपनी गुणगाथा सुनाऊँ? मेरी उपयोगिता को हिन्दुस्तानी लोग एकदम भूल गये हैं। इसीलिए, वे खुली-आँखों गोवंश का ह्रास देख रहे हैं। यदि वे गोमाता की रक्षा और गोमय के सदुपयोग में दत्तावधान हों तो भारत पुनः समृद्ध हो सकता है। मैं अपनी पूजनीया माता की ही भाँति मानवजाति का अन्नदाता और प्राणदाता हूँ। इस बात को दिल में टाँक लीजिए। *

—मासिक 'आयुर्वेद' (काशी); वर्ष १, संख्या १; जुलाई, १९४७ ई०

•

कहानी के चार युग

कहानियों के चार युगों में पौराणिक युग की विशेष महत्ता है। पौराणिक कहानियाँ हमारे पूर्वजों के ज्ञान और अनुभव से भरी हुई हैं। उनका आधार सत्य है। उनका उद्देश्य लोकोपकार है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो आज की कहानियों का आधार भी सत्य ही होता है। कल्पना से गढ़ी हुई कहानी भी कहीं सत्य का अवलम्ब पाकर ही उठती है। लेखक जो कुछ देश और समाज में देखता है, देखकर अनुभव करता है, उसी के बल पर अपनी कहानी खड़ी करता है। देश-देशान्तर में, समाज में, परिवार में, मेले-तमाशे में, यात्रा-प्रसंग में, हाट-बाट में, लौकिक व्यवहार में जो कुछ लेखक देखता-सुनता है उसी से कहानी के लिए प्रेरणा और कथावस्तु प्राप्त करता है। उसकी अनुभूतियाँ उसकी वाणी में ओज और उत्तेजना भर देती हैं। वह कल्पित पात्रों के सहारे अपनी देखी-सुनी अथवा अनुभूत घटनाओं को मूर्त्त रूप दे देता है। उससे लोकरंजन और लोकहित होता है।

---

* गोबर में जहाँ अनेकों गुण हैं, वहाँ कुछ दुर्गुण भी हैं, क्योंकि सारी सृष्टि ही गुणदोषमयी है। धनुर्वात (टिटेनस) के जीवाणु गोबर में रहते हैं। अतः क्षतवालों को गोबर से अपने व्रण को बचाये रखना चाहिए।—'आयुर्वेद'-सम्पादक

हमारे प्राचीन पूर्वजों ने अपने युग में जो कुछ देखा-सुना उसे लोकहित-कामना से लिपिबद्ध कर दिया। पूर्वजों की जानकारियों और अनुभूतियों का भंडार ही साहित्य कहलाता है। मानव-हृदय और मानव-स्वभाव के लिए सबसे बढ़कर आकर्षक, रोचक, सुखकर, हितकर और तृप्तिकर कथा-साहित्य ही है। इसीलिए, भगवान वेदव्यास ने वैदिक साहित्य का विस्तार पुराणों के रूप में किया। मानव-जाति अथवा मानव-समाज के वास्तविक कल्याण के निमित्त ही पौराणिक कथाओं की सृष्टि हुई। उन कथाओं में दैवी और आसुरी शक्तियों के संघर्ष तथा जय-पराजय का वर्णन एवं विवेचन है। सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी वृत्ति के मनुष्यों के आचार-विचार और कार्यकलाप का परिचय देकर शुभाशुभ परिणाम का उल्लेख भी उनमें पाया जाता है। मनुष्य के आधिदैविक अभ्युदय और आध्यात्मिक विकास में भी उनसे सहायता मिलती है। यद्यपि उनमें मनोरंजकता की मात्रा कुछ कम नहीं है, तथापि उनका उद्देश्य केवल मनोविनोद ही नहीं है, बल्कि उनका मुख्य लक्ष्य है मनुष्य को मानवोचित गुणों से सम्पन्न करना, मनुष्य की मानसिक शक्तियों को विकसित करके उसके जीवन को सुखशान्तिमय बनाना और मनुष्यत्व तथा पशुत्व का भेद दिखाकर मनुष्य को कल्याणमार्ग का पथिक बनाना।

केवल यही नहीं कि पौराणिक कहानियों में राजाओं और धनकुबेरों की ही प्रशस्तियाँ हैं। समाज के उपेक्षित वर्ग के लोगों को भी उनमें स्थान मिला है। धनी और समर्थ लोगों का जहाँ वर्णन है, वहाँ भी साधारणजन के कल्याण पर ही निगाह रखी गई है। प्रजा के हित के लिए, समाज के मंगल के लिए, जिसकी प्रभुता और सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं होता, उसकी गुणगाथा कहीं गाई ही नहीं गई। बड़े-बड़े ज्ञानी और सदाचारी शूद्रों की भी कहानियाँ हैं, जिनसे विप्र भी ज्ञानसंचय करते थे। दरिद्रों और भिक्षुओं की नैतिकता भी उन कहानियों में दर्शनीय ही है। उनमें अनाचार और अत्याचार के प्रसंग भी वर्णित हैं, पर उनके भीषण परिणाम भी साथ-साथ प्रदर्शित हैं। मानव-मन के भाव-जगत् का कोई कोना उन कहानियों से अछूता नहीं रह पाया है। आधुनिक युग की कहानियों में मानव-समाज के जितने प्रकार के चित्र मिलते हैं, सब आप उनमें भी देख सकते हैं। हमारे पुराण वस्तुतः कथासाहित्य-सागर हैं और उस सागर में एक-से-एक अनमोल रत्न पड़े हैं। खेद है कि उन रत्नों के सच्चे पारखी इस युग में बहुत कम ही हैं।

पौराणिक युग में कथावाचक को **'सूत'** कहते थे। सूत लोमहर्षण और उनके वंशधर सौति उग्रश्रवा बड़े प्रसिद्ध कथावाचक थे। यों तो वैशम्पायन, शौनक, संजय, मैत्रेय, शुकदेव आदि ऋषि मनीषी भी व्यासगद्दी की मर्यादा बढ़ाते दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु, इन सब में शुकदेव की ज्ञानगरिमा की विशेष महिमा है। देश की राजनीतिक समस्याओं और सामाजिक परिस्थितियों तथा धार्मिक व्यवस्थाओं पर विचार-विमर्श करने के लिए जब नैमिषारण्य में अठासी हजार ऋषि-मुनियों की सभा या काँगरेस हुई तो उसमें शुकदेव ने प्रवचन किया। उस मंडली में शुकदेव के दादा पराशर और पिता व्यास भी थे। जब वीतराग शुकदेव सभा में पधारे तब पराशर और व्यास भी उठ खड़े हुए। इसपर नारद बाबा ने प्रश्न किया कि पुत्र-पौत्र को पिता-पितामह का अभ्युत्थानपूर्वक सम्मान देना

कहाँ तक उचित है ? उत्तर मिला कि हमलोग वयोवृद्ध हैं सही, पर शुकदेव ज्ञानवृद्ध और सच्चा ब्रह्मलीन तपस्वी है। भारत में सदैव ज्ञान और चरित्र की ही श्रेष्ठता रही है। शुकदेव की दृष्टि की निर्मलता और अन्तर्दृष्टि की प्रखरता का वर्णन श्रीमद्‌भागवत के एक कथा-प्रसंग में है। शुकदेव के कथा कहने में अमृतवर्षा होती थी। उनकी वाणी क्रान्तिकारिणी थी, सहसा जीवन का रुख पलट देती थी। किसी कहानी को प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी बनाने के लिए कहानी कहनेवाले में चरित्रबल अपेक्षित है। शुकदेव के श्रीमुख से निकली हुई कहानियाँ अमर हो गई हैं। अनेक युगों के बाद भी वे उसी ताजगी के साथ जीवित हैं। उनकी सत्ता कभी नष्ट होने की नहीं। मानव-जीवन के विविध रूप-रंग की मार्मिक व्याख्या करने में वे सर्वथा समर्थ हैं। आज न वैसा कथा-वक्ता है, न वैसा कथा-श्रोता। वैसी वाणी और वैसी तन्यमता, वैसा हृदय और वैसा विश्वास तथा अनुराग अब दुर्लभ है। कथाकार और पाठक का वैसा मेल आज कहाँ बैठता है।

पुराण-युग में कहानी रचनेवाले और कहनेवाले भिन्न-भिन्न हैं। रचनेवाले ने कहनेवाले की कही हुई कहानियों को भाषाबद्ध किया अथवा कहनेवाले ने रचयिता की लिखी कहानियों का लोकहितार्थ प्रसार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में कहानियाँ लिखी तो जाती थीं, पर पढ़ी नहीं जाती थीं, बस सुनी जाती थीं। इसलिए, कहानी कहनेवाला निश्चित स्थान और समय पर लोकशिक्षा के उद्देश्य से कहना शुरू करता था और श्रद्धालु श्रोता बड़े चाव से सुना करते थे। कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर और शंका-समाधान के भी प्रकरण मिलते हैं, जिनसे पता लगता है कि कथा-श्रवण विशेषतः ज्ञानार्जन एवं ज्ञानवर्द्धन का ही साधन था। मनोरंजन के व्याज से श्रोताओं में लोकमंगल की भावना भरी जाती थी। आत्मोन्नति, आत्मोत्सर्ग, स्वार्थत्याग, परोपकार, जीव-दया, कर्त्तव्यपालन, विश्वबन्धुत्व, पुरुषार्थ आदि विषय ही कथाओं के आधार होते थे। उनमें पार्थिव प्राणी तो पात्र होते ही थे, प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीकों से भी काम लिया जाता था। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने पंचतंत्र, हितोपदेश-जैसी कहानियाँ भी कही हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, मेघ, वायु, समुद्र, पर्वत, नदी आदि के माध्यम से कही गई कहानियाँ विलक्षण और कुतूहलवर्द्धक होने पर भी वैज्ञानिक तत्त्वों से परिपूर्ण हैं।

हमारे आधुनिक समीक्षकों ने कहानी की कला के लिए आज जो कसौटी बनाई है, उसपर हमारी पुरानी कहानियाँ नहीं परखी जा सकतीं; क्योंकि कला की कसौटी तो युगानुसार बदलती रहती है। यों तो हमारी उपनिषदों की कहानियों में कितनी ही ऐसी हैं जो आधुनिक कसौटी की बहुत-सी कनक-रेखाओं की दीप्ति को मन्द कर देंगी। अभी तो हमारी पौराणिक कहानियों का उद्धार ही नहीं हुआ। जब उनकी छानबीन और समीक्षा होगी तब उनका जौहर खुलेगा। पाश्चात्य कसौटी पर उनका मूल्य आँकने से अच्छा होगा कि भारतीय दृष्टिकोण से ही उनपर विचार किया जाय। उनमें भारतीय संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने की अद्‌भुत शक्ति है। उनमें निहित भारतीय संस्कृति ऐसी है जो भूमंडल के किसी देश की संस्कृति से बे-मेल नहीं सिद्ध होगी। उनमें मानवता के कल्याण का अमोघ सन्देश है। उनके सत्यप्रयोग से मानव-हृदय की उदात्त भावनाएँ जगाई जा सकती हैं।

राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करने का काम भी उनसे लिया जा सकता है। हमारे संस्कृत और हिन्दी के महाकवियों ने पुराणों की कहानियों का सहारा लेकर कितने ही ऐसे ग्रन्थ रचे हैं, जिनसे आज भी हमें अपने जीवन के विविध क्षेत्रों में शुभ प्रेरणाएँ मिल रही हैं। यदि हमारे आज के कलाकार भी पौराणिक कथा-साहित्य की अमन्द मन्दाकिनी में अवगाहन करना चाहें, तो वे जन-मन का परिष्कार करने में बहुत दूर तक समर्थ हो सकते हैं।

शुकदेवजी की बहुतेरी कहानियों में ईश्वरीय लीलाओं का भी विशद वर्णन है। उनके भगवच्चरित्र कथन में जो अलौकिकता है वह ईश्वरीय सत्ता की अनुभूति कराने के लिए है। यद्यपि उन्होंने ईश्वरभक्ति को ही सांसारिक क्लेशों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय बतलाया है, तथापि ईश्वरभक्ति के लिए सांसारिक कर्मों से सर्वथा विरक्त हो जाने या गृहत्याग करने की आवश्यकता पर बल नहीं दिया है। उन्होंने एक कथा द्वारा गृहस्थाश्रम में ही रहकर ज्ञान-वैराग्य की साधना और ईश्वर की उपासना करने का विशेष महत्त्व दरसाया है। श्रीमद्भागवत के पाँचवें स्कन्ध में राजा प्रियव्रत की कथा देखिए—

श्रीशुकदेवजी बोले, मनुजी के पुत्र प्रियव्रत बड़े भगवद्भक्त थे। जब उन्हें संसार से अत्यन्त विरक्त देकर मनुजी बहुत चिन्तित हुए और गृहस्थी के चलने का कोई उपाय न देखा, तब उनसे कहा कि अब मुझ वृद्ध को गृहस्थी की चिन्ता से मुक्त करने के लिए राजपाट सँभालो; पर वे दिन-रात आत्मचिन्तन और ईश्वराराधन में ही लीन रहने लगे। तब मनु ने अपने पिता ब्रह्मा से सारा हाल कहा। ब्रह्मा ने स्वयं आकर प्रियव्रत को बहुत समझाया। कहा कि पहाड़ की कन्दरा या जंगल में जाकर तप करने से ही भगवान नहीं मिलते, परिवार में रहकर आश्रित जनों के पालन का कर्त्तव्य निबाहते हुए जो अपने मन को शुद्ध एवं संयत रखता है, वही ईश्वर का कृपापात्र होता है। यदि गृहस्थी को नष्ट करके तुमने अपने लिए मुक्ति पाई ही, तो क्या पाया। तुम्हें सांसारिक प्रपंचों में रहकर ही अपनी इन्द्रियों पर शासन करते हुए भगवद्भजन करना चाहिए। यही मनुष्य के मोक्ष का उत्तम मार्ग है। प्रियव्रत ने पितामह का आदेश पालन कर यश पाया।

ऐसी कहानियाँ शुकदेवजी ने बहुत कही हैं। इनसे मनुष्य को अपनी जीवन-यात्रा के लिए पर्याप्त संबल मिलता है।[1]

—११ जुलाई, १९५१ ई०

आचार्यों का आर्ष-प्रयोग

'ऊषा'[2] के सम्पादकजी ने लिखा है—"बिहार के लिए दूसरे प्रान्तों की धारणा साहित्यिक दृष्टि से अच्छी नहीं रही, न रहती है। बिहार की प्रतिभा उनकी चोटी से सिर ऊपर भी क्यों न उठा ले, वे फिर भी उसकी अवहेलना करते हैं। साहित्य का इतिहास बिहार के ऋण से लदा है, किन्तु साहित्य के दरबार में बिहार की उपेक्षा-सी ही की जाती है।"

१. ऑल-इंडिया-रेडियो के पटना, लखनऊ और इलाहाबाद-केन्द्रों द्वारा एक साथ प्रसारित।

२. देखिए साप्ताहिक 'ऊषा' (गया) का ३ दिसम्बर, १९४३ ई० का अंक।—ले०

उक्त सम्पादकीय वक्तव्य में तीन वाक्य हैं। पहला और तीसरा वाक्य पढ़कर दो बातें याद हो आईं। वही दोनों बातें पाठकों के सामने रखना अभीष्ट है। किन्तु, बीच के वाक्य के सम्बन्ध में भी एक नम्र निवेदन है। वह यह है कि अवहेलना करनेवालों का दोष कम और अवहेला-पात्र का दोष बहुत अधिक है।

पहले और तीसरे वाक्य को ध्यान में रखकर विचार करें।

भोजपुरी भाषा की जन्मभूमि बिहार ही है। इसके क्षेत्र का विस्तार बहुत दूर तक है। मैथिली, मगही, अवधी आदि से इसके बोलनेवाले बहुत अधिक हैं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में भोजपुरी भाषा का नाम लेने से उसी तरह परहेज किया गया है, जिस तरह देवरानी अपने जेठ का नाम लेने से करती है। जैसे नई रोशनी से छत्तीस का नाता रखनेवाली पत्नी अपने पति का नामोच्चार न कर केवल सर्वनाम से ही काम चलाती है, वैसे ही साहित्य के अथवा भाषा के इतिहासकार भी भोजपुरी भाषा का नामोल्लेख न कर 'पूरबी-हिन्दी' से ही काम चलाते हैं।

हमारे इतिहासकार 'पूरबी-हिन्दी' के प्रसंग में 'बिहार' का नाम लेने से भी हिचकते हैं, केवल 'पूरबी जिले' कहकर पतिव्रत निबाह ले जाते हैं।

परम पूज्य आचार्य शुक्लजी ने अपने अनुपम ग्रन्थ (हिन्दी-साहित्य का इतिहास) में लिखा है—

"रामचरितमानस में आये हुए कुछ शब्द और प्रयोग नीचे दिये जाते हैं जो अयोध्या के आसपास ही (बस्ती, गोंडे आदि के कुछ भागों में) बोले जाते हैं—

माहुर=विष। फुर=सच। अनभल ताकना=बुरा मानना। (जेहि राउर अति अनभल ताका)। राउर, रउरेहि=आपको (भलउ कहत दुख रउरेहि लागा)। कूटि=दिल्लगी, उपहास।

इसी प्रकार ये शब्द चित्रकूट के आसपास तथा बघेलखंड में भी (जहाँ की भाषा पूरबी हिन्दी या अवधी ही है) बोले जाते हैं—

कुराय=वे गड्ढे, जो करैल पोली जमीन में बरसात के कारण जगह-जगह पड़ जाते हैं (काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाँव बझाऊ रे—विनय०)।"

मेरा नम्र निवेदन यह है कि ये शब्द बिहार में भी खूब प्रचलित हैं। भोजपुरी में तो ये ज्यों-के-त्यों बोले जाते हैं, इसी रूप में और इसी अर्थ में।

विनयपत्रिकावाली पाँती तो भोजपुरी कहारों की बानी है। वे पालकी का बोझ ढोते समय रास्ते में केवल 'व्यंजना-शक्ति' और 'ध्वनि' से ही काम लेते हैं। बबूल के काँटे देखेंगे, तो 'रुपहला' कहेंगे, भटकँटैया देखने पर 'सुनहला' और ऊँची-नीची जमीन देखकर 'कमर-तोड़'। उक्त वाक्य में भी तुलसीदासजी ने कुमार्ग का निर्देश किया है। भोजपुरिया कहारों की भाषा में 'काँट-कुराय' ऊबड़-खाबड़ कँटीला रास्ता है—'लपेटन' है पैरों में फँस जाने योग्य रास्ते में पड़ी कोई रस्सी या लत्तर या लम्बा लत्ता—'लोटन' है गोल-गोल कंकड़ियाँ, जो रास्ते में इधर-उधर डगरती रहती हैं और जिनपर फिसलकर पालकी के

कहार को धरती पर लोट जाने या ढनमना जाने की आशंका रहती है। 'बझाऊ' है कँटीली झाड़ी या बैरकंटी, अर्थात् बेर की कटी हुई कँटीली डालें, जिनसे फसल-भरे खेत घेरे जाते हैं।

क्या यहाँ यह कहना अनुचित या अप्रासंगिक होगा कि जहाँ 'अयोध्या के आसपास ही' और 'चित्रकूट के आसपास तथा बघेलखंड में ही' लिखा गया, वहाँ बिहार या भोजपुरी को भी एक कोना मिलना चाहिए था? बिहार शायद अयोध्या और चित्रकूट तथा बघेलखंड के आसपास ही है! नक्शा देखना चाहिए। जान पड़ता है कि अवधी के साथ भोजपुरी का नाम फबता नहीं!

श्रद्धेय आचार्य श्यामसुन्दर दासजी ने भी 'रामचरितमानस' की अपनी टीका में, गोस्वामीजी की जीवनी में, 'भृगु-आश्रम और ब्रह्मपुर-यात्रा' शीर्षक के अन्दर, लिखा है—

"**कहते हैं कि एक समय गोसाईंजी भृगु-आश्रम हंसनगर और परसिया होते गायघाट[1] के राजा गंभीरदेव का आतिथ्य स्वीकार करते ब्रह्मपुर[2] में ब्रह्मेश्वरनाथ महादेव का दर्शन करके कान्त[3] नाम के गाँव आये। वहाँ से गोसाईंजी बेलापतौत में आये। वहाँ रघुनाथ सिंह क्षत्रिय से भेंट हुई। गोसाईंजी ने उस स्थान का नाम बेलापतौत से बदलकर रघुनाथपुर रखा। यह स्थान रघुनाथपुर के नाम से अबतक प्रसिद्ध है और ब्रह्मपुर से एक कोस पर है।**"

इस उद्धरण में जो तीन पाद-टिप्पणियाँ हैं, वे श्रद्धेय बाबू साहब की ही हैं। गायघाट, ब्रह्मपुर, रघुनाथपुर, कान्त—सब-के-सब बिहार प्रान्त में हैं, शाहाबाद-जिले के प्रसिद्ध गाँव हैं। हो सकता है कि गोस्वामीजी के समय में ये स्थान युक्तप्रान्त के बलिया-जिले में, गंगा से उत्तर, रहे हों! किन्तु, टीका में जीवनी लिखते समय तो बिहार के शाहाबाद-जिले में, गंगा से दक्षिण ही, रहे होंगे। आज भी ये भोजपुर-प्रदेशान्तर्गत हैं, भोजपुरी के केन्द्र में हैं। क्या गोस्वामीजी का बिहार में आना लिखा जाता तो असह्य हो उठता? एक तो 'गायघाट' का कोई ठिकाना ही नहीं लिखा गया, दूसरे 'हल्दी' के प्रसंग के व्याज से पाठकों को यह भाँप लेने का अवसर दिया गया कि यह भी बलिया-जिले में ही है। आज भी शाहाबाद-जिले में 'गायघाट-सपही' गंगा का नामी स्टीमर-घाट है। 'दीअर' या 'दियारा' के प्रसंग में लोग 'गायघाट-बलिया' भी बोलते हैं; पर इससे बिहार से उसका नाता नहीं टूट जाता। और, ब्रह्मपुर तो शाहाबाद में ही है, जहाँ 'ब्रह्मेश्वरनाथ महादेव' का बिहार-विख्यात मन्दिर है और जहाँ 'शिवरात्रि का बड़ा मेला होता है' जो छतर और ददरी के मेले के बाद बिहार में तीसरे नम्बर का प्रसिद्ध मेला कहलाता है। 'कान्त' का नाम अब 'काँट' है, जो ब्रह्मपुर के पड़ोस में ही है और इसीलिए 'काँट-ब्रह्मपुर' जोड़ा नाम विशेष प्रसिद्ध है। आज भी वहाँ के लोग कहते हैं कि काँट में एक ग्वाला भक्त के बथान में गोसाईंजी ने गोरस पिया था। क्या 'कान्त-

१. गायघाट में अब कोई राजधानी नहीं है। गायघाट का राजवंश जो हैहयवंशी क्षत्रिय है, अब 'हल्दी', जिला बलिया में रहता है।

२. ब्रह्मपुर जिला बलिया में है। यहाँ शिवरात्रि का बड़ा मेला होता है।

३. यह भी जिला बलिया में है, लोग प्रायः इसको कान्त-ब्रह्मपुर कहते हैं। —(उद्धृत)

ब्रह्मपुर' इसलिए बलिया-जिले में है कि बिहार में तुलसीदास के आने से बिहार की भूमि अशुद्ध हो जाती ? 'रघुनाथपुर' तो सदियों से शाहाबाद में ही है, जो आज भी 'ब्रह्मपुर' से एक कोस पर है, और ई० आई० आर० की मेन लाइन का एक मशहूर स्टेशन है। अब भी वहाँ यह बात बड़े गौरव के साथ कही-सुनी जाती है कि गोस्वामीजी ने इस स्थान का नामकरण किया था। यह परम सौभाग्य यदि बिहार के एक गाँव को मिला, तो इससे कोई दुर्घटना कहाँ हुई ?

यह भ्रम न होना चाहिए कि प्रान्तीयता की प्रेरणा से ये बातें लिखी गई हैं। यदि यहाँ ऐसा भ्रम हो, तो वहाँ भी होना चाहिए, जहाँ बेधड़क कुछ-का-कुछ कह दिया गया है। 'मानस' में सैकड़ों शब्द भोजपुरी के भी हैं। किन्तु, कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं पाया जाता कि 'मानस' पर किसी बिहारी भाषा का भी छींटा पड़ा है।

बिहार में गोस्वामीजी स्वयं पधारे थे, उनके ग्रन्थों के असंख्य स्थलों में बिहारी भाषा के शब्द और मुहावरे प्रयुक्त हैं। फिर भी उनकी भाषा पर विचार करते समय कहीं भी बिहार का नामोल्लेख तक नहीं पाया जाता। 'मानस' में भोजपुरी भाषा के शब्दों की भरमार है; पर भोजपुरी निगोड़ी बिहार में जो पैदा हो गई।

अरे, 'जंगम तुलसी' की क्या कथा, 'स्थावर सूर' की रचना में भी भोजपुरी के शब्द मिलते हैं; 'बिहारी' और 'रहीम' भी उसके प्रभाव से नहीं बचे हैं। किन्तु, उपेक्षित बिहार अपनी ही करनी का फल भोग रहा है, दूसरों का क्या दोष ?

—साप्ताहिक 'ऊषा' (गया); विजयाङ्क, सन् १९४३ ई०

●

पूर्व प्रसंगों की आवृत्ति[1]

हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में बिहार की साहित्य-सेवा का बहुत ही कम या अतिशय संक्षिप्त उल्लेख या वर्णन पाया जाता है—वह भी उन्मुक्त हृदय से किया गया नहीं, मन्द स्वर से। इसपर बिहार के हिन्दी-प्रेमी यह कहते सुने जाते हैं कि अन्य प्रान्तों के विद्वान् प्रायः बिहार के साहित्यसेवियों की उपेक्षा करते हैं।

मान लीजिए, वे करते हैं, तो क्या हमारे शिकायत करते रहने से वे ठीक राह पर आ जायँगे ? कभी नहीं।

हम यदि अपनी सेवा का महत्त्व दुनिया को दिखाना चाहते हैं, तो सचाई के साथ संसार के सामने उसे पेश कर दें।

श्री बेनीपुरीजी ने अपनी सम्पादित की हुई 'विद्यापति-पदावली' के 'समर्पण' में 'हिन्दी-नवरत्न' के लेखकों (मिश्रबन्धुओं) को मधुर उपालम्भ दिया है कि उन्होंने 'नवरत्नों' में

१ 'ऊषा' (गया) के विजयाङ्क में छपी सम्पादकीय टिप्पणी के प्रत्येक वाक्य पर इस लेख में विचार किया गया है। इसके पहले का लेख पढ़ जाने पर आशय स्पष्ट हो जायगा। —ले०

विद्यापति को क्यों नहीं सम्मिलित किया। किन्तु, संयत चित्त से विचार करने की बात है कि हमने ही अपने विद्यापति के लिए अभी तक क्या किया है ? अभी तक उनकी ग्रन्थावली नहीं निकली, उनके ग्रंथों की विशद टीकाएँ नहीं छपीं, उनकी रचनाओं का शोध और संस्कार भी यथेच्छ रीति से नहीं हुआ; फिर हम दूसरों से क्यों ऐसी आशा करें कि जिसको हम अपने घर ही में भलीभाँति नहीं पूजते, उसे वे हमसे भी अधिक आदर प्रदान करें ?

मुझे प्रान्तीय पक्षपात की बात साहित्य में अच्छी नहीं लगती। हम यदि विद्यापति को आकाश पर चढ़ाने की शक्ति रखते हैं तो कोई ऐसी शक्ति कहीं नजर नहीं आती, जो उन्हें रसातल भेज सके। हमें सबसे पहले अपना दोष देखना चाहिए, अपनी कमजोरी पर ध्यान देना चाहिए। पर-छिद्रान्वेषण बड़ा गर्हित कर्म है।

आज यदि विद्यापति बंगालियों के पास होते तो वे उन्हें कहाँ-से-कहाँ पहुँचा दिये होते। फिर भी उन लोगों के पास हमसे अधिक विद्यापति-सम्बन्धी साहित्य है। हमारे पास केवल नाम लेने के लिए तीन-चार अच्छी पुस्तकें विद्यापति पर हैं। इतनी छोटी पूँजी पर टिटिहरी आसमान नहीं थाम सकती।

बिहार के अनेक होनहार लेखक और कवि, अपने प्रान्त में कोई अच्छी साहित्यिक पत्रिका न होने के कारण, चारों ओर बिलबिलाते फिरते हैं। जो पत्रिका यहाँ से निकलती भी है, वह अपने प्रान्त की आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं देती, वह समस्त हिन्दी-संसार के प्रतिद्वन्द्विता-क्षेत्र में कूद पड़ती है। अपना घर सँभालकर दूसरे का सँभालना चाहिए। अपने घर में उजाला ही नहीं, दूसरे के घर की दीवाली में दीपदान करने जाना समझदारी का काम नहीं। गृह-देवता पहले तृप्त हों, मन्दिर के देवता बाद।

बिहार के अनेक लेखक ऐसे हैं, जिनके पास अच्छी-से-अच्छी पुस्तकें लिखी पड़ी हैं। बहुतेरे ऐसे हैं जो सहारा मिलने पर अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिख सकते हैं। किन्तु, लिखी हुई पुस्तकों को छापे कौन और बढ़िया पुस्तक लिखावे कौन ? जिसको गरज हो, वह लिखकर खुद छपावे या बाहरवालों के दरवाजे खटखटावे। बाहरवालों को भी तो अपने घर की सुधि लेनी है। वे कहाँतक दूसरों का बोझ उठावें ? बिहार को दूसरे लोग आश्रय नहीं देते, तो उसे स्वयं ही पराश्रित होने का मोह छोड़कर अपने पैरों के बल खड़ा होना चाहिए। किसी से द्वेष करना ठीक नहीं। दूसरे की सम्पदा पर लुभाना या दूसरे के अभ्युदय पर ईर्ष्या करना कभी महत्ता का परिचायक नहीं! हममें कुछ दम हो, तो हम अपनी लकीर बड़ी कर दिखावें, दूसरे की लम्बी लकीर मिटाने से कोई लाभ नहीं।

बिहार ने अपने होनहार युवकों की प्रतिभा को जगाने या उन्हें आगे बढ़ाने के लिए अभी तक यथोचित प्रयास नहीं किया है। इसमें सन्देह नहीं कि वह कुछ-कुछ करने लगा है; पर अभी हमें उतने ही को पर्याप्त न समझना चाहिए। अभी बहुत कुछ करना बाकी है। इसपर सब लोग शान्त-चित्त हो सोचें, सुझावें, सलाह दें।

(२)

भोजपुरी बोलनेवालों की संख्या अन्य प्रादेशिक बोलियों के बोलनेवालों से अधिक है, इसका प्रमाण 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' नामक ग्रन्थ है। उसके विद्वान

लेखक डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं (सन् १९२१ ई० की गणना के अनुसार) —"खड़ी बोली के बोलनेवालों की संख्या ५३ लाख के लगभग है, बाँगरूवालों की लगभग २२ लाख, व्रजभाषावालों की ७९ लाख, कनौजीवालों की ४५ लाख, बुन्देली-वालों की ६९ लाख के लगभग, अवधीवालों की लगभग १ करोड़ ४२ लाख, बघेलीवालों की लगभग ४६ लाख, छत्तीसगढ़ी (मिश्रित रूपों को मिलाकर) बोलनेवालों की ३८ लाख के लगभग, भोजपुरीवालों की पूरे दो करोड़ के लगभग।"—(पृष्ठ ६४-६७)

इधर की दो मनुष्य-गणनाओं के आँकड़े और भी अधिक होंगे, यह बात ध्यान में रखकर इसपर विचार कीजिएगा।

भाषातत्त्वविद् डाक्टर साहब ने अवधी-भाषा के सम्बन्ध में लिखा है—"हरदोई-जिले को छोड़कर शेष अवध की बोली अवधी है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी में तो बोली ही जाती है, दक्षिण में गंगा-पार इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर और मिर्जापुर में तथा जौनपुर के कुछ हिस्सों में भी बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी अवधी बोलते हैं। इस मिश्रित अवधी का विस्तार मुजफ्फरपुर तक है।"—(पृष्ठ ६६)

अन्त के दो वाक्यों पर ध्यान देने से मिश्रित भोजपुरी का प्रसार भी फैजाबाद, गोंडा, बहराइच और प्रतापगढ़ तक बतलाया जा सकता है। 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' में अनेक प्रमाण हैं।

भोजपुरी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"बिहार के शाहाबाद-जिले में भोजपुर एक छोटा-सा कस्बा और परगना है। इस बोली का नाम इसी स्थान से पड़ा है, यद्यपि यह दूर-दूर तक बोली जाती है। भोजपुरी बोली बनारस मिर्जापुर, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा छोटानागपुर तक फैली पड़ी है।"—(पृष्ठ ६७)

सम्मेलन-पत्रिका"[1] में श्रीराममूर्त्ति मेहरोत्रा, एम्० ए० ने 'भारतवर्ष की आधुनिक भाषाएँ' शीर्षक अपने लेख में भी ऐसा ही लिखा है—"भोजपुरी गोरखपुर तथा बनारस-कमिश्नरियों और शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा छोटानागपुर के जिलों में बोली जाती है।"

श्रीगदाधरप्रसाद अम्बष्ठ, विद्यालंकार ने अपने 'बिहार-दर्पण' नामक ग्रन्थ में इसपर विस्तार से विचार किया है। पुरातत्त्व-विशारद श्री नलिनीमोहन सान्याल ने भी 'बिहारी बोलियों का विकास' नामक अपनी पुस्तक में इसपर प्रकाश डाला है। हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बलदेव प्रसाद उपाध्याय, एम्० ए० ने भी बलिया की नागरी-प्रचारिणी सभा के वार्षिकोत्सव में अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए 'भोजपुरी भाषा और भोजपुरी-साहित्य' पर गवेषणापूर्ण विचार प्रकट किये थे।

---

१. अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) से प्रकाशित, वैशाख-ज्येष्ठ, सवंत् १९९८ वि०, भाग २८, संख्या ९-१० (पृष्ठ १७)।

उपर्युक्त भाषातत्त्वमर्मज्ञ डॉक्टर साहब ने स्पष्ट लिख दिया है कि 'भोजपुरी में साहित्य[1] कुछ भी नहीं है।' उनका यह लिखना तबतक तो ठीक ही माना जायगा, जबतक भोजपुरी का साहित्य प्रकाश में नहीं आता। पण्डित रामनरेश[2] त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' का ग्रामगीत-खंड देखने से इस बात का ठीक-ठीक निर्णय किया जा सकता है कि भोजपुरी में साहित्य है या नहीं। यहाँ उदाहरण देने से अनावश्यक विस्तार होगा। उक्त त्रिपाठीजी की पुस्तक 'हमारा ग्राम-साहित्य' भी यदि ध्यान से पढ़ा जाय, तो इस रहस्य का उद्घाटन हो सकता है।

बिहार में कुछ सज्जन भोजपुरी-साहित्य का संकलन करने में लगे हुए हैं। सबसे पहले, आज से पचीस-तीस साल पहले, आरा-निवासी प्रसिद्ध-साहित्यसेवी बाबू ब्रजनन्दन सहायजी ने खड्गविलास-प्रेस की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' में इस विषय की चर्चा छेड़ी थी और 'विरहा-गान' पर उन्होंने सोदाहरण लेख लिखा था। प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र और पं० विजयानन्द त्रिपाठी ने भी इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये थे। मिश्रजी और त्रिपाठीजी को तो कई सुन्दर भोजपुरी कविताएँ कंठस्थ थीं; किन्तु, उन लोगों के साथ जैसे बहुत-सी साहित्यिक सम्पत्ति लुप्त हो गई, वैसे ही वे मनोहर कविताएँ भी। अब भी हम नहीं चेतते।

इधर शाहाबाद के श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह[3] ने इस दिशा में विशेष परिश्रम किया है। उनका एक लेख लगभग दस साल पहले काशी-नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में भी छपा था। उनका विशाल भोजपुरी-गीत-संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। मुजफ्फरपुर के श्री रामइकबाल सिंह 'राकेश' भी ग्राम-गीतों के संग्रह में दत्त-चित्त हैं। उन्हें भी भोजपुरी के बहुत-से अच्छे गीत मिले हैं, जो समय पाकर प्रकाशित होंगे ही। चम्पारन के पंडित गणेश चौबे के पास हजारों भोजपुरी ग्राम-गीत संगृहीत हैं। उनके पोथे कब कैसे छपेंगे, ईश्वर जाने। उनके इस विषय के लेख मासिक 'विश्वमित्र', 'माधुरी' आदि में छप चुके हैं। आरा-निवासी ठाकुर नन्दकिशोर सिंह ने भी भोजपुरी-साहित्य का दर्शनीय संग्रह तैयार किया है; पर इन उद्योगी साहित्यसेवियों को सहारा या प्रोत्साहन देनेवाला कोई नहीं है। सारन जिले के श्री श्यामदेवनारायणजी (दीपाजी) ने भोजपुरी कहावतों का बहुत अच्छा संग्रह किया है; पर उसका ग्राहक कोई नहीं। इस तरह के उद्योग और भी हुए हैं; पर सबका ब्योरा देना निष्प्रयोजन है। अन्धे के आगे रोना बेकार है। जब खोज होगी, उस

---

१. पण्डित कृष्णदेव उपाध्याय, एम० ए० की पुस्तक 'भोजपुरी-ग्रामगीत' अब दो बड़े खण्डों में प्रयाग के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से निकल चुकी है। उससे पता चलेगा कि भोजपुरी में साहित्य कुछ भी है या नहीं।—ले०

२. श्री त्रिपाठीजी ने स्वीकार किया है कि उन्हें सबसे अधिक सुन्दर लोकगीत भोजपुरी-क्षेत्र से मिले हैं।—ले०

३. इनकी एक पुस्तक 'भोजपुरी-लोकगीत में करुण रस' प्रयाग के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित हो चुकी है तथा 'भोजपुरी के कवि और उनका काव्य' नामक विशाल ग्रन्थ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से निकलने जा रहा है।—ले०

खोज का फल प्रकट होगा, तब संसार की दृष्टि स्वतः आकृष्ट होगी। अभी तो यह उपहास सहना ही बदा है कि भोजपुरी में साहित्य कुछ भी नहीं है !!!

किन्तु, वहीं पर पूर्वोक्त डॉक्टर साहब ने लिखा है—"संस्कृत का केन्द्र होने के अतिरिक्त काशी हिन्दी-साहित्य का भी प्राचीन केन्द्र रहा है, किन्तु भोजपुरी-बोली से घिरे रहने पर भी इस बोली का प्रयोग साहित्य में कभी नहीं किया गया। काशी में रहते हुए भी कविगण प्राचीनकाल में व्रज तथा अवधी में और आधुनिक काल में साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में लिखते रहे हैं।" (पृष्ट ६७)

उक्त उद्धरण का यह वाक्य—'इस बोली (भोजपुरी) का प्रयोग साहित्य में कभी नहीं किया गया'—विचारणीय है। इस बोली में भी कविता की गई है और इस बोली के अनेक शब्द भी हिन्दी के प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों में प्रयुक्त हैं। मुसलमानी शासनकाल में सारन-जिले के प्रसिद्ध संत कवि 'बाबा धरनी दास' ने भोजपुरी में कविता की है। उनकी भोजपुरी-कविताओं की पोथी सुलभ है; पर प्रकाशक ही दुर्लभ हैं। इतिहास-प्रसिद्ध बाबू कुँवर सिंह की वीरता का बखान करनेवाला 'कुँवर-पचासा' भोजपुरी में ही है। अनुसंधान से और भी कई ऐसी कृतियों का पता लगता है। किन्तु, इन सबका उद्धार हुए विना उपर्युक्त वाक्य केवल कहने के लिए ही 'विचारणीय' है, वास्तव में तो यथार्थ ही है।

विहार में हस्तलिखित प्राचीन पोथियों की खोज[1] हुई ही कहाँ है? यही काम तो सबसे पहले करने का है। जबतक यह काम न होगा, फिसड्डी रहिए।

(३)

'पूरबी हिन्दी' के सम्बन्ध में उक्त डॉक्टर साहब लिखते हैं—"'खड़ी बोली', बाँगरू, व्रज, कनौजी तथा बुन्देली, इन पाँच को भाषा-सर्वे (लिंग्विष्टिक सर्वे) में 'पश्चिमी हिन्दी' नाम दिया गया है तथा अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी, इन शेष तीन को 'पूरबी हिन्दी' नाम से पुकारा गया है।"

आचार्य शुक्ल ने भी 'पूरबी हिन्दी अर्थात् अवधी' और 'पूरबी बोली या अवधी' लिखा है। किन्तु, उन्होंने संत-कवि 'धर्मदास' के प्रकरण में लिखा है कि इन्होंने 'पूरबी भाषा' का ही व्यवहार किया[2] है।

इसके बाद उन्होंने एक उदाहरण भी (पृष्ठ १०२ में)[3] दिया है। पूरबी भाषा के व्यवहार का प्रमाण-स्वरूप यदि वही उदाहृत कविता है, तो निश्चय ही पूरबी हिन्दी को

१. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से अब प्राचीन हस्तलिखित पोथियों की खोज नियमित एवं व्यवस्थित रूप से हो रही है, जिसके फलस्वरूप कई पुराने बिहारी कवियों का पता लगा है।—ले०

२. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ १०१।

३. मीतऊ मड़ैया सूनी करि गैलो,
अपना बलम परदेस निकरि गैलो,
हमरा के किछुओ न गुन दै गैलो,
जोगिन होई के मैं बन-बन ढूँढ़ौं,
हमरा के बिरह-बैराग दै गैलो,

हम भोजपुरी भी कह सकते हैं, उसमें अवधी और छत्तीसगढ़ी का भी हिस्सा रहे—मुझे कोई आपत्ति नहीं। किन्तु स्पष्ट या प्रत्यक्ष प्रमाण की ओर से आँखें फेर लेना असम्भव है।

आचार्य शुक्लजी ने अपने 'साहित्य-इतिहास' के पचीसवें पन्ने में 'पुरानी बिहारी या पूरबी बोली' लिखा है, जिससे पता लगता है कि पूरबी बोली से उनका अभिप्राय बिहारी भाषा से ही है।

अँगरेजी-विश्वकोष से भी यही बात प्रकट होती है कि 'पूरबी हिन्दी' से भोजपुरी ही अभिप्रेत है। प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी अँगरेज डॉक्टर हार्नली ने एक पुस्तक (ए ग्रामर ऑफ द ईस्टर्न हिन्दी) लिखी है। इस 'ईस्टर्न हिन्दी' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"Here Eastern Hindi means Western Bhojpuri."

अर्थात् 'पूरबी हिन्दी' से यहाँ अभिप्राय पश्चिमी भोजपुरी से है। इन्हीं हार्नली साहब ने डॉक्टर ग्रियर्सन के साथ मिलकर सन् १८८५ ई० में बिहारी भाषा का कोश सम्पादित किया था। ये बारह बरसों तक रॉयल-एशियाटिक-सोसाइटी के मंत्री भी रहे। हो सकता है कि इनको यह सूत्र वहीं मिला हो; क्योंकि सन् १८६८ ई० में ही सोसाइटी के 'जरनल' के तीसरे खण्ड में मिष्टर जे० बीम्स नामक एक अँगरेज विद्वान् ने एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था—"Notes on the Bhojpuri dialect of Hindi spoken in Bihar।" इससे पहले का कोई सूत्र हार्नली साहब को मिलता नजर नहीं आता। बिहारी बोलियों की सबसे पहले छानबीन करनेवाले ग्रियर्सन साहब के लिखे हुए 'बिहारी बोलियों के सात व्याकरण' (Seven Grammars) आठ भागों में १८८३ से १८८७ तक प्रकाशित हुए थे और उनके विराट् ग्रंथ (Linguistic Survey of India) के पंचम खंड का वह द्वितीय भाग भी, जिसमें बिहार की भाषाओं और उप-भाषाओं की चर्चा है, सन् १९०३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसलिए, हार्नली साहब ने पश्चिमी भोजपुरी को ही 'पूरबी हिन्दी' लिखा, इसमें कोई सन्देह नहीं जान पड़ता।

आशय यह कि बिहार के पश्चिमी जिलों (शाहाबाद, सारन, चम्पारन) में बोली जानेवाली भोजपुरी ही 'पूरबी हिन्दी' है। इन जिलों से सटे हुए युक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों में भी भोजपुरी का प्रचार है, इसलिए 'पश्चिमी हिन्दी' (खड़ी बोली, व्रज, बुन्देली आदि) की तुलना में 'पूरबी हिन्दी' शब्द गढ़ लिया गया। अतः केवल अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी को ही 'पूरबी हिन्दी' नाम दिया गया तथा भोजपुरी छाँटकर निकाल दी गई, ऐसा कहना असंगत प्रतीत होता है। स्पष्टतः अवधी आदि के साथ पूरबी हिन्दी में भोजपुरी भी सन्निविष्ट है। यदि उसमें भोजपुरी का समावेश न होता, तो हार्नली साहब की 'पूरबी हिन्दी' (Eastern Hindi) का भाष्य पश्चिमी भोजपुरी (Western Bhojpuri) कभी न किया जाता। 'हिन्दुस्तानी' की तरह 'पूरबी हिन्दी' भी विदेशियों का दिया हुआ उपहार है। असल छूट गया, नकल पकड़ गया। बाहर के बायन में जो स्वाद है, घर के मालपुए में कहाँ?

संग की सखी सब पार उतरि गइलीं,
हम धनि ठाढ़ी अकेली रहि गैलों—इत्यादि।

(४)

'पूरबी जिले' से तो केवल उन्हीं की ओर इशारा जान पड़ता है, जो युक्तप्रांत के पूर्वी छोर पर पड़ते हैं। बिहार के पश्चिमी जिलों का इसमें समावेश नहीं होता। किन्तु, हम यदि इसे मान भी लें तो यह बात अपनी जगह पर ही रह जाती है कि बिहार के स्थान पर भी सर्वत्र 'पूरबी जिले' का ही व्यवहार किया जाता है, जिससे बिहार गौण हो जाता है और गोल-मटोल 'पूरबी जिले' से महत्त्व का काम निकाल लिया जाता है। 'पूरबी हिन्दी' लिखने में गौरव है, भोजपुरी लिखने में हीनता का बोध होता है। पूरबी जिले लिखने से काम निकल जाय, तो बिहार का नामोल्लेख अनावश्यक ही है।

आचार्य शुक्लजी ने विद्यापति की पुस्तक 'कीर्त्तिलता' के प्रसंग में लिखा है—'इस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि यह पूरबी अपभ्रंश है[1]।'

अपभ्रंश पूरबी हो तो कोई हानि नहीं, बिहारी न होना चाहिए; क्योंकि पूरबी का तीर आसाम की बर्मा—सीमा तक जाता है और बिहार तो राजमहल की पहाड़ी तक ही समाप्त है!

इतना ही नहीं, आचार्य शुक्लजी ने अपने साहित्यिक इतिहास के सोलहवें पृष्ठ पर लिखा है—"वज्रयानी सिद्धों का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था।" इस पूरबी भाग की व्याख्या पृष्ठ १४ में है—" ....देश के पूरबी भागों में (बिहार, बंगाल और उड़ीसा में) धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।" फिर नवें पृष्ठ पर लिखा है—"वज्रयान-सम्प्रदाय के .... बौद्ध तांत्रिक .... बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। ...... बिहार के नालन्दा और विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ इनके अड्डे थे।"

किन्तु, यह अड्डा भी 'पूरबी' शब्द में ही गड्डबड्ड होकर रह गया! हिन्दी-भाषा के प्रसंग में पूरबी भाग को बंगाल-आसाम तक खींच ले जाने की कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि बिहार तक ही हिन्दी का क्षेत्र समाप्त है, फिर भी लिखा जायगा 'पूरबी भागों' और 'पूरबी जिलों' ही, बिहार नहीं।

पंडित सदल मिश्र में जो 'पूरबीपन' पाया गया है, वह भी 'बिहारीपन' नहीं है, इसे बहुत बड़ा सौभाग्य ही समझना चाहिए। बौद्ध सिद्धों की भाषा ही पुरानी हिन्दी है, बौद्ध सिद्धों की भाषा ही हिन्दी की जननी है; किन्तु वे पूरब के रहनेवाले थे, बिहार के नहीं, भले ही उनके अड्डे बिहार में थे। यदि वे बिहार के माने जायँगे या कहे जायँगे, तो यह सिद्ध हो जायगा कि हिन्दी का मूल-स्रोत बिहार ही से फूट निकला था, फिर तो ऐसा जलप्लावन होगा कि सारा साहित्यिक इतिहास ही डूब जायगा।

'हिन्दी-भाषा का इतिहास' (पृष्ठ ६७) से यह वाक्य निकालकर बुद्धि की तुला पर तौलने की आवश्यकता है, टीका-टिप्पणी व्यर्थ है—"भाषासम्बन्धी कुछ साम्यों को

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३३।

२. हिन्दी-क्षेत्र का विस्तार पश्चिम में राजस्थान तथा पूर्व में बिहार तक है।
—(हिन्दी-साहित्य का इतिहास, ६७)

छोड़कर शेष सब बातों में भोजपुरी-प्रदेश बिहार की अपेक्षा हिन्दी-प्रदेश के अधिक निकट रहा है।"

भोजपुरी-प्रदेश और हिन्दी-प्रदेश दोनों से ही बिहार भिन्न है; क्योंकि यह पंक्तिपावन नहीं है !!!

साहित्य में इस तरह की धारणा या प्रवृत्ति अच्छी नहीं जँचती। निष्पक्ष भाव से, उदारतापूर्वक, साहित्य-मन्दिर का निर्माण होना चाहिए। मनुष्य का हृदय या हृद्गत भाव कभी मनुष्य से नहीं छिप सकता। प्रगाढ़ साहित्य का सघन आवरण भी हृदय के निगूढ़ तत्त्व को नहीं छिपा सकता। लाख दबाइए, हृदय छप्पर पर चढ़कर चिल्लाता है कि सत्य यहाँ पर है।

बिहार-सम्बन्धी अनेक ऐसे सत्य हैं; जो अन्धकार में छिपे पड़े हैं। उन द्युतिमन्त रत्नों को खान के गर्भ से निकालकर खराद पर चढ़ाने की जरूरत है। बिहार का कल्याण इसी बात में है कि जो उसकी उपेक्षा करें, उन्हें वह अपना परम हितू समझे, उनकी उपेक्षा वह स्वयं न करे, वह अपने-आपको अभद्र प्रमाणित न करे; बल्कि अपना घर चेते, अपनी आँखें खोले, सजग होकर अपनी बिगड़ी सँवारने में लग जाय।

हिन्दी-राष्ट्रभाषा है, बिहार भी राष्ट्र का एक अंग है। बिहार अपने हिस्से की सेवा पूरी करे, मातृभाषा के अभयवरद पाणि-पल्लवों की शीतल छाया उसका सन्ताप दूर करेगी।

—साप्ताहिक 'ऊषा' (गया); वर्ष २, अंक ४१; ७ जनवरी, सन् १९४४ ई०,

•

'शुकोक्ति-सुधासागर'[१]

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितगुणरसे सादरौ नैव कर्णौ
धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति सततं कीर्त्तनस्थो मृदङ्गः॥

लीला पुरुषोत्तम कृष्ण भगवान की ललित लीला कैसी रसीली, रँगीली और मीठी है—यह बात धर्म्मिष्ठ हिन्दूमात्र से छिपी नहीं। सच्चिदानन्द आनन्दकन्द व्रजचन्द की कथा श्रवणसुखदायिनी—सुधावर्षिणी—विश्व-मोहिनी है। सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म योगीश्वर कृष्ण-चन्द्र के नाम किसके कानों में अमृत की बूँद नहीं टपकाते? कालिन्दी-कूल पर सघन सुशीतल छायासमन्वित वंशीवट-तले अतुलित सौन्दर्य्य-सामग्री किसका चित्त उन्मादित नहीं करती? लोकललाम श्यामाश्याम की शरद्-शर्वरी-शोभा किसके नयनों को चकित नहीं कर डालती? भगवत्कथामाला में कितनी मिठास-सुबास है—यह बात कहने की नहीं, बल्कि चिन्ता करने की है। दुर्लभ-मानवजन्म को कृतार्थ करने के लिए भगवच्चरित्र ही प्रधान साधन है!

---

१. अनुवादक—पण्डित रूपनारायण पाण्डेय। प्रकाशक—निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई।

मानव-जीवन का मुख्य लक्ष्य, उपयुक्त उद्देश्य, उस परमपिता का गुणगान और आदेश-पालन है। हिन्दुओं के प्रत्येक पूज्य ग्रन्थों से यही मीठी ध्वनि निकलती है कि ईश्वर ही केवल एक ऐसा पदार्थ है, जिसकी ओर सारी इन्द्रियों की दृढ़ प्रवृत्ति होनी चाहिए। वह महाप्रभु सब सद्गुणों का भाण्डार है। प्रेम, आह्लाद, दया, शोभा, ऐश्वर्य्य, शक्ति—सबका रत्नाकर वही है। बस, उसी की ओर सारी मनोवृत्तियों का झुकाव, लगाव, बढ़ाव होना कल्याणकर है।

श्रीमद्भागवत अष्टादश पुराणों में सर्वप्रिय—सर्वमान्य और सर्वसुलभ ग्रन्थ है। उसकी रचना में कितना लालित्य और माधुर्य्य का प्राचुर्य्य है, यह बताने की बात नहीं रही। द्वैपायन भगवान की परमोत्कृष्ट प्रतिभा का साक्षात् दर्शन भागवत में मिलता है। लावण्य-निकेतन श्यामसुन्दर की मधुर मुरली में कौन सा चलता जादू था—कैसी गजब की शक्ति थी—कितनी सञ्जीवनी शक्ति भरी पड़ी थी—यह बात भागवत से ही प्रकट होती है। नटवर घनश्याम का सरल सुहावना चरित्र करोड़ों बार पढ़-पढ़कर भी मनस्तुष्टि नहीं होती। स्नेहसागर वनमाली का जीवन-रहस्य पढ़ पढ़कर जी नहीं अघाता, मन नहीं अफरता, तबीयत नहीं ऊबती। क्षण-क्षण, पल-पल, निमिष-निमिष उत्तरोत्तर उत्तेजना की वृद्धि होती है।

कृष्ण भगवान पुरुष-पुरातन थे। व्यासजी ने उनके सच्चरित्र-चित्रण में—कला-कौशल्य में—ललित लीलाजाल में और रासरंग में विपुल वैलक्षण्य, अमोघ विद्युत-शक्ति, असाधारण ओजस्विता और परिपक्व प्रेम कूट-कूट कर भर दिया है।

भागवत में वर्णित कथाभाग कैसे मनोज्ञ, हृदयरञ्जक और प्रेमामृतप्लावित हैं—वर्णन-शैली कैसी कल्पनातीत है; यह बात साहित्यप्रेमियों पर भलीभाँति विदित है। इस परम पावन महद्ग्रन्थ का रसास्वादन करने का सौभाग्य जिन लोगों को प्राप्त हो चुका है, वे लोग बरबस होकर कह ही डालते हैं—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।

भागवत के श्रवण और कीर्त्तन करने से सहज ही—

करतल होत पदारथ चारी।

—यह माना जाता है। नस-नस में अजीब मीठा शरबत भरा है। जिसने श्रीमद्भागवत की चाशनी नहीं चखी, उसने व्यर्थ ही माता के यौवन-वन का कुठार होकर धरती को अपने बोझ से दबाया! इस महामहिम पतित-पावन ग्रंथ में एक ऐसी सुन्दर सुरीली तान है जो शंकर की अखण्ड समाधि तक तोड़ चुकी है और मुनियों का भी मन डिगा चुकी है।

जिस वृन्दावन में वसन्त की चोटी काटकर गाड़ दी गई थी, जहाँ की पृथ्वी मारे पुष्पवर्षा के सौरभ-तरंगों से परिप्लावित हो गई थी—कुसुमाञ्जलि की बेतरह छूट से जहाँ पुष्पाचल की रचना हो चुकी है—'राकारजनी जहाँ बरसों तक ठगी-प्रेमपगी रह जाती थी—मानोन्नता लताएँ भर-भर फाँड़ फूल छीटती जाती थीं,—अहा! उस मनोहर वन की दृश्यावली की सच्ची तस्वीर भागवत में ही देखने को मिलती है। जिस नीलाम्बुवाहिनी दिनेश-नन्दिनी के तट पर निविड़ निकुञ्जों में एक अखिलेश्वर प्रेम-देव एक मायामोहिनी की लुनाई

पर लट्टू हो गये थे और जहाँ सितासित का अपूर्व सम्मेलन हुआ था, उसी वृन्दावन के अनन्त यौवन—अनूठे सौन्दर्य और हास-रास-विलास का रसास्वादन भागवत के अध्ययन और मनन से प्राप्त होता है।

भागवत के पठन-पाठन से प्रेम की अजस्र सुधावर्षा दसों दिशाओं में होती है। भक्ति का अगाध समुद्र भागवत में उमड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। भागवत की प्रासंगिक मधुरता—कथावैचित्र्य और सर्वाङ्गसुष्ठुता अनिर्वचनीय है। गोविन्द-गुणगणगायक कितने पंडित महाशय इसी की बदौलत खूब पैसे-रुपये की काट कर रहे हैं। भागवत में जो विस्तीर्ण-प्रेमार्णव है, उसमें से एक-एक कण मात्र ले-लेकर हमलोगों के कितने (अनगिनत) कवि अमर हो चले गये—साहित्य की नस-नस में नित-नूतन-प्रेमरस की प्रगाढ़ धारावली प्रवाहित कर गये।

व्रजवासी दास का 'व्रजविलास' लगभग लाखों आदमी से ज्यादा की जानकारी के अन्दर है। सूरदास तो यावच्चन्द्र-दिवाकरौ युवा ही बने रहेंगे। रसखानि, पद्माकर और भारतेन्दु आदि कविवर तो 'जब लगि गंग जमुन जलधारा'—धरातल पर जीवित रहेंगे ही। इसमें रञ्च-मात्र भी सन्देह नहीं।

किन्तु, हिन्दी का प्राचीन साहित्य भागवत का कितना बड़ा ऋणी है, इसका पता-ठिकाना नहीं चलता। कविकुलकेतु लल्लूलाल जी ने 'प्रेमसागर' लिखा, जो श्रीमद्भागवत का रूपान्तर-मात्र कहा जाता है। हिन्दी-गद्यपाठकों को पहले-पहल यही 'प्रेमसागर' शायद दल्लाल मिला, जिसने भागवतरूपी रत्न का कुछ-कुछ मोल-तोल बतलाया। 'सूरसागर' और 'व्रजविलास' इत्यादि भागवत का परिचय सर्व साधारण में करा चुके थे; मगर गद्यकाल के उदय होते ही लल्लूलाल जी ने झट अमृत का प्याला पी लिया।

लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस में भागवत' का उलथा 'सुखसागर' के नाम से निकला है, उसी का प्रचार बहुत देखने में आता है। भाषा उसकी मीठी, मुहावरेदार, और व्रजमण्डल की बू लिये हुई है। श्रीमद्भागवत का पद्यबद्ध अनुवाद रीवाँधीश रघुराजसिंह जी ने किया है। वह पद्य-भाषा-टीका बम्बई के सेठ क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुई है। नाम उसका है—'आनन्दाम्बुनिधि'। एक 'लघुभागवतामृत' भी उक्त प्रेस से ही निकला है, जो स्वर्गीय पं० बलदेवप्रसाद मिश्र-कृत भाषा टीका है। फिर भी, गोलोकवासी कविवर शालिग्राम जी द्वारा रचित 'शुकसागर' उपर्युक्त प्रेस में छपा है। लखनऊ के 'सुखसागर' से बम्बई का 'शुकसागर' अच्छा और दिलचस्प जँचता है। भाषा, टाइप, कागज—सब की लिहाज से 'शु० सा०' अच्छा कहा जायगा। बनने के लिए तो हजारों पुस्तकें (कृष्ण-कथा वा चरित्र के नाम से) बन गईं—बन रही हैं—आइन्दा भी बनेंगी; किन्तु, भागवत का सच्चा और अद्वितीय अनुवाद, जैसा—थोड़े ही दिन हुए—बम्बई के जगत्प्रसिद्ध निर्णयसागर-मुद्रणालय के उत्साही अध्यक्ष तुकाराम जावजी ने—

शुकोक्तिसुधासागर

—के नाम से निकाला है, वैसा अनुवाद आजतक हिन्दी में नहीं निकला था। श्रीमद्भागवत को यदि 'सुधाकर' कहें, तो यह 'कलितकौमुदी' अवश्य है। यदि वह 'पारिजात-प्रसून' है,

तो यह उसका अखिल 'सौरभ व सौन्दर्य्य' अवश्य है। तुकाराम जी ने मुमुक्षु भक्त जिज्ञासुओं की चिरपोषित मनोकामना की कैसी सर्वाङ्गीण पूर्त्ति की, भला यह भी अब प्रकाश करने की बात रही? हिन्दी-संसार में जो यह ग्रन्थरत्न प्रादुर्भूत हुआ है, इसके लिए 'जावजी' ही साधुवाद के उपयुक्त पात्र हैं। सन्तभक्तों के प्रेमाभिवादन से, भगवान करें, जावजी को ऐसे ही प्रेमामृतस्रावी पुण्यग्रन्थों के प्रकाशित करते रहने का सुअवसर मिलता रहे और दिन-दिन उनकी उत्साह-शक्ति बढ़े।

जिस पुस्तक का परिचय देने के लिए इस अशक्त लेखनी ने आज अतिशय ढिठाई दिखाई है, वह पुस्तक लखनऊ के एक कवि की लेखनी से निकली है। दरअसल तो गंगा हिमाचल की ही कन्या है; किन्तु जह्नुतनया भी कही जाती है। विष्णुपादोद्भवा है सही; मगर भागीरथी भी संसारविश्रुत नाम है। व्यासजी ने ही सर्वप्रथम अमृत का कलसा ढरकाया; मगर लूट पड़ गई—जो जितना पी सका, चाट सका, सूँघ सका, उतने में ही अमरत्व पर अधिकार कर बैठा।

समाधिगत-'नागरी-प्रचारक' तथा 'निगमागमचन्द्रिका' के भूतपूर्व सम्पादक—श्रीमान् पं० रूपनारायण पाण्डेय 'कमलाकर'—के नाम से सारा हिन्दी-संसार परिचित है। उन्होंने ही जावजी के प्रोत्साहन से इस परमोत्कृष्ट ग्रन्थ का सविधि रसास्वादन सभी रसिकों को कराया है। इस अनुवादित ग्रन्थ की भाषा शुद्ध संस्कृत-मिश्रित, परिमार्जित, सजीव, सरस, सौष्ठव-सनी, प्रेम में भीनी और स्वाभाविक है। उर्दू-फारसी तथा अरबी भाषाओं के शब्द इसका कलेवर कलुषित नहीं कर सके हैं।

छपाई के विषय में तो कहना ही क्या है? सूरज को चिराग कौन दिखावे? गूँगा और गुड़ का स्वाद !!! आगरा-निवासी पं० रामेश्वर भट्ट जी की टीका[1] (मानस-रामायण) की पोथी देख लें—वह तमाम घर-घर मिलेगी—वही नमूना काफी है। छपाई की सफाई तो इतनी है कि भारत में—सिवा इण्डियन प्रेस (प्रयाग) के—कोई भी ऐसा यन्त्रालय नहीं, जो उसका दम भरे। वह बात निर्णय की हुई है कि निर्णयसागर 'प्रेमसागर'-सा ही रत्नाकर कहा जा सकता है। क्योंकि, संस्कृत-साहित्य उसका और श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस का ऋण किसी जन्म में नहीं चुका सकता। पुनः अक्षरों की सुन्दरता के आगे तो सभी प्रेस की छपाई पानी भरती है। शुद्धता के विषय में इतना ही कह देना अलम् होगा कि निर्णयसागर प्रेस ने संस्कृत के अगाध साहित्य का उद्धार किया है। संस्कृत के बीहड़-से-बीहड़ ग्रन्थ जहाँ अत्यन्त शुद्ध छपते हैं, वहाँ यदि हिन्दी बेचारी का नखशिख-शृङ्गार नहीं होगा—तो होगा कहाँ?

पुस्तक की जिल्द मजबूत। ग्लेजपेपर के पुश्त पर स्वर्णवर्णाङ्क। शीशे की आलमारी तथा लाइब्रेरी की शोभा बढ़ानेवाली पुस्तक। भट्टजी कृत मानस-तिलक के गुटके से ड्योढ़ा मोटी। मगर साइज उसी का। जिल्द की मोटी दफतीन के ऊपर चिकने रंगीन वस्त्र के आवरण-पृष्ठ पर राधा-श्याम की बाँकी झाँकी है। वृन्दावन का दृश्य है। पयस्राविणी गायों का दिव्यदर्शन है। कदम की छँहियाँ—रसभरी प्रेममिलित गलबँहियाँ—

१. इस टीका की आलोचना भी 'पाटलिपुत्र' में ही छपी थी, पर वह अंक नष्ट हो गया। उसे भी मैंने 'सभा' की प्रणेतृ-समालोचक-समिति के अनुरोध से ही लिखा था।—लेखक

सभी दृश्य सुख सरसानेवाले हैं। पुस्तक की शकल-सूरत देखते ही दिल की कली खिल उठती है और उसके दिल की बात जानने-सुनने के लिए अद्भुत उत्कण्ठा उपजती है। भीतर का मुखपात इतना नफीस—इतना उम्दा—ऐसा चटकीला-रँगीला-भड़कीला और इतना नयनमनोहर है कि तबीयत फड़क उठती है। विविध रंगरंजित टाइटिल पेज। तब एक रंगीन चित्र—"दुर्गम एकस्तम्भ महल में शुकयोगीन्द्र का राजा परीक्षित से भागवत-कथन"—अपूर्व भावोद्दीपक है।

अनुवादक पाण्डेय जी का भी एक रंगीन चित्र है। ग्रन्थकार की एक छोटी भूमिका है, जो ग्रन्थकार के मंजु मानस का दर्पण-स्वरूप है। भक्तों को अपने ऋण-पाश में बाँधनेवाले जावजी की एक चुटकीली चुभीली विज्ञप्ति है। प्रेम, श्रद्धा, पवित्र भाव, सरस स्नेह, भव्यभक्ति से भरा हुआ विनीत ग्रंथकार का सादर 'समर्पण' है—उसी जगद्वन्द्य के अनवद्य चरणों में।

विषयानुक्रमणिका बहुत ठिकाने से दी गई है। लगभग पचीस चित्रों की भी सूची बनी हुई मौजूद है। चित्र बहुत ही साफ और मनोरम हैं। श्रीमद्भागवत का अपरम्पार माहात्म्य भी कई अध्यायों में वर्णित है। उसके पढ़ जाने से साफ यह बात झलक जाती है कि भागवत कैसा अनूप प्रेमात्मक ग्रन्थ है। उसमें भक्ति का कैसा अखण्ड एवं अकण्टक राज्य फैला हुआ है। सरसता और मधुरता की मात्रा कितनी बढ़ी-चढ़ी है। मुग्धकारिता और मनोरञ्जकता का कितना सुदृढ़ प्राबल्य है। उसका मनन, पूजन, निदिध्यासन, अनुशीलन और अवगाहन करने से आत्मा में कैसी विलक्षण स्फूर्ति, चमत्कृत जागृति और विशद शुद्धता का सञ्चार हो जाता है। इसका माहात्म्य किसी सीमा तक नहीं; क्योंकि इसका प्रत्येक रोमकूप भगवान कृष्णचन्द्र के सुयश-सलिल से भरपूर है। रुक्मिणीश राधेश के सौरभीले यशश्चन्दन से इसका सारा अंग पुत गया है।

सरस पद्यावली में 'ग्रन्थकार का परिचय' पढ़कर उसी दम ग्रन्थकार का साक्षात् दर्शन प्राप्त करने की एक लचीली ललक दिल में जाग उठती है। हिन्दी-पद्यों में मंगला-चरण नया ही रंग लाता है। गणेशवन्दना, ब्रह्म, सरस्वती, राधाकृष्ण, शिव-पार्वती, 'सर्व-देव, कवि, सज्जन', वेदव्यास, शुकदेव, गुरुदेव, सबकी वन्दना मीठे पदों में की गई है। यह गीत की तरह गाई भी जा सकती है। जहाँ भागवत की कथा कही-सुनी जाती हो, वहाँ इन गीतों के गान से आनन्द का झरना झरने लगेगा। संस्कृत के लहलहाते हुए पद्यों में ग्रंथकार ने बड़ा ही मधुर मंगलोच्चार किया है।

प्रत्येक अध्याय के आदि में—कहीं-कहीं अन्त में, सब जगह भागवत के प्रसंगानुकूल श्लोक दिये गये हैं। उनका अर्थ भी विस्तारपूर्वक है। कथा का जहाँ जैसा प्रसंग आ पड़ा है, उसी का द्योतक यथास्थान चित्र भी समावेशित है। गूढ़-गूढ़ शब्द तथा भावों के मर्म का विकास करने के लिए अनेक स्थलों में पाद-टिप्पणियाँ बड़ी योग्यता से लिखी गई हैं। टिप्पणियों से कथा का पूर्वापर-सम्बन्ध समझने में सहायता मिलती है। बाहर की भी कई बातें अवगत होती हैं—जैसे, विष्णु-पुराण, महाभारत, गीता इत्यादि। यथास्थान बड़े, छोटे और मँझोले टाइप के अक्षर लगाकर पुस्तक की बखूबी सजावट की गई है।

दशमस्कन्ध वृहदाकार है। उसके, पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध, दो विभाग कर दिये गये हैं। मूल श्रीमद्भागवत के प्रत्येक शब्द और पदपुञ्ज में जितनी माधुरी और प्रसादगुणशालिता है, अनुवादक ने उसकी भलीभाँति रक्षा की है। सारांश यह कि अनुवाद की भाषा भी उसी तरह की मिठास-भरी, रसबोरी, उज्ज्वलतामयी और चित्तप्रसादिका है। भाव, अर्थ, भाषा, कथा, वर्णन-शैली का अङ्ग कहीं से कुछ विकृत हुआ नहीं दिखाई पड़ता है। सर्वतोभावेन सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थ तैयार हुआ है।

सुना जाता है कि पाण्डेय जी समग्र महाभारत का भी ऐसा ही अनुवाद कर रहे हैं। यह बात आनन्द की सीमा फँदाने से बाज नहीं आती। ईश्वर करें, पाण्डेयजी महाभारत को पूरा कर, झटपट श्रीशिवपुराण और देवी-भागवत में हाथ लगायें। सम्भव है, महाभारत-सा दीर्घकाय ग्रंथ का सर्वाङ्ग-मण्डन कर लेने पर उन्हें विश्राम करने की इच्छा उपजे। किन्तु, प्रार्थना है—ऐसी अवस्था में अन्यान्य हिन्दी-हितेच्छु संस्कृत के दिग्गज विद्वानों से और श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस तथा निर्णयसागर (बम्बई) के उत्साही अध्यक्ष महोदयों से—कि वे कदापि शैव-शाक्त-वैष्णव भाइयों को भक्तिप्रसूत परमानन्द से वञ्चित न रहने दें। धर्मग्रन्थों के अनुवाद का प्रकरण तो पूरा होना ही चाहिए। संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों का भी उद्धार होना चाहिए।

जिस प्रकार श्रीमान् द्विवेदीजी ने रघुवंश का अद्वितीय अनुवाद कर हिन्दी-प्रेमियों को भेंट की है, उसी प्रकार यदि किरात, कुमारसम्भव, मेघदूत, नैषध-चरित, भट्टिकाव्य, शिशुपालवध, उत्तररामचरित, अभिज्ञान-शाकुन्तल और कथासरित्सागर इत्यादि महाकाव्यों का अविकल एवं अप्रतिम अनुवाद निकले तो हिन्दी-साहित्य का गौरव अवश्य बढ़ जाने की सम्भावना है। उपर्युक्त चीजें यद्यपि विद्यमान हैं तथापि नया साँचा, नया ढर्रा, नया ढंग और आपादमस्तक नया-ही-नया साज सँजोने का अवसर आ गया है। मुँह देख-कर सौदा दिया जाता है। जैसे गाहक होते हैं, वैसी ही चीजों की माँग घटती-बढ़ती है। प्रान्तिक भाषा अथवा ब्रजभाषा में रचे हुए पद्य-ग्रन्थों से काम अब नहीं चलने का। अखिल-भारतवर्षीय साहित्य हिन्दी का हो जाय—नई सभ्यता और नई रोशनी के मुताबिक—इस जमाने के साँचे में ढल जाय, तब हिन्दी का काम सरे—इसका बाजार सरगर्म हो और दूकानदार चलता-पुर्जा हो जाय।[1]

—साप्ताहिक 'पाटलिपुत्र' (पटना); सं० १९७३ वि०, २ दिसम्बर, सन् १९१६ ई०

●

१. यह पुस्तक-परिचय आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा की प्रणेतृ-समालोचक-समिति की प्रेरणा से लिखा गया था।

—लेखक

'रामचरित-चिन्तामणि'[1]

आधुनिक हिन्दी-संसार में खड़ी बोली की कविता का साम्राज्य विस्तार पा रहा है। जिधर देखिए उधर ही खड़ी बोली की तूती बोलती है। साम्प्रतिक पद्य-साहित्य में खड़ी बोली का खूब बोलबाला है। खड़ी बोली की दुनिया में अनेक काव्य-ग्रन्थों का जन्म हुआ है; किन्तु, उनमें से थोड़े ही ऐसे निकले जिनका जन्म सार्थक हो सका है। 'जो कवित्त बुध नहिं आदरहीं, सो स्रम बादि बालकवि करहीं' के अनुसार बहुत-से यश-लुब्ध कवियों की 'तुकबन्दी' केवल बे मतलब की दिमागपच्ची ही रही।

खड़ी बोली की पद्य रचना में कुछ ही कवियों ने अपनी सिद्धहस्तता दिखाने में सफलता प्राप्त की। किन्तु, अधिकांश उत्सुक यशार्थी लोगों ने निष्प्रयोजन ही प्रयास किया।

जिसकी शब्द-योजना में स्वाभाविक प्राञ्जलता नहीं, जिसकी वाक्य-रचना में अनर्गल भावस्रोत नहीं, जिसके पदों में चमत्कार नहीं, जिसके भावों में नवीनता और नैसर्गिकता नहीं, उसकी रचना सहृदय साहित्यिकों के लिए नीरस ही नहीं, प्रत्युत शल्य-तुल्य है।

खड़ी बोली के यशोधन कवियों का नामोल्लेख हमें यहाँ अभीप्सित नहीं है। उनकी प्रशस्य कविता के विषय में अनधिकार चर्चा करना भी वांछनीय नहीं। यहाँ केवल खड़ी बोली के उद्यान में सद्यः प्रस्फुटित एक महाकाव्य-सुमन-स्तवक की भीनी-भीनी सुगन्ध से पाठकों का मस्तिष्क आमोदित करना ही लक्ष्य है। संभव है कि सुगंध के रसिक भ्रमरों को चुभीले कण्टकों का कष्ट भी यदा-कदा सह लेना पड़े। किन्तु सुगन्ध-लुब्ध भौंरे इसकी तनिक भी परवाह नहीं करते।

खड़ी बोली में खण्डकाव्य पहिले-पहल संभवतः 'जयद्रथवध' ही निकला है। संग्रह-ग्रन्थ तो अनेकानेक निकले; जैसे—कविता-कलाप, कविता-कुसुम-माला और राष्ट्रीय वीणा तथा त्रिशूल-तरंग इत्यादि। कुछ ऐतिहासिक, साहित्यिक, राजनीतिक, और सामाजिक काव्यग्रन्थ भी खड़ी बोली की गौरव-वृद्धि करने के लिए उत्पन्न हुए। जैसे मौर्यविजय, रंग में भंग, विरहिणी व्रजांगना, भारत-भारती इत्यादि। किन्तु खड़ी बोली के अनुरागियों को महाकाव्य का अभाव खटकता ही रहा। खड़ी बोली के अनुरागियों को 'शंकर' की कृपा से 'अनुराग-रत्न' प्राप्त हुआ। कविवर देव और केशव की कविता समझनेवालों ने 'अनुराग-रत्नाकर' में गहरी डुबकियाँ लगाकर सात्त्विक आनन्द प्राप्त किया। तबतक भी महाकाव्य की चोखी चाट लगी ही रही। अन्ततोगत्वा खड़ी बोली के प्रेमियों की चोखी चाट बिहार प्रान्त ने पूरी की।

---

१. रचयिता—कविवर पंडित रामचरित उपाध्याय। प्रकाशक—पंडित रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना।

भागलपुर (बिहार) के चतुर्थ-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन[1] के समय साहित्यिक प्रदर्शनी का जन्म हुआ। पटना के अखिलभारतीय दशम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन[2] के अवसर पर कवि-सम्मेलन का सूत्रपात हुआ। सम्मेलन की महत्ता बढ़ानेवाले ये दोनों काम बिहार में ही हुए। भागलपुर-सम्मेलन के सभापति[3] ने दिल्ली में वह काम कर दिखाया जो आजतक कभी भारत में देखा न गया और उन्होंने ही काँगरेस के मंच से स्वागतकारिणी की स्पीच पहले-पहल हिन्दी में सुनाई। पटना के दशम सम्मेलन के सभापति[4] ने सबसे पहले सत्याग्रह-आन्दोलन में कौंसिल की मेम्बरी से इस्तीफा दिया था। इस प्रकार बिहार का इकबाल सिद्ध होता है। आधुनिक हिन्दी के परिष्कारक और उन्नायक भारतेन्दु के ग्रन्थों का उदय पहले-पहल बिहार में ही हुआ था। इन्हीं कारणों से खड़ी बोली के चन्द बरदाई[5] का 'सबसे पहला महाकाव्य'[6] बिहार के सुप्रसिद्ध खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ। यह सबसे पहला महाकाव्य ज्यों ही आविर्भूत हुआ, त्यों ही खड़ी बोली के खैरख्वाहों में खलबली मची। उसे पढ़कर पाठक परितृप्त हुए। कुछ लोग प्रमोदवश प्रशंसा करने लगे और कुछ लोग प्रमादवश निन्दा करने लगे। किन्तु, कवि का प्रथम प्रयास प्रत्येक पद्यानुरागी को प्रशंसनीय प्रतीत हुआ।

इतने ही में संयुक्त प्रान्त के जिस गढ़[7] से खड़ी बोली के चन्द ने बिहार में अपने महाकाव्य को प्रकाशनार्थ प्रेषित किया था, उसी गढ़ के पासवाले महाराजपुर[8] से खड़ी बोली के तुलसीदास[9] ने अपने महाकाव्य[10] को भी बिहार में ही विकसित होने के लिए विदा किया। ये दोनों महत्त्व के कार्य भी बिहार में ही सम्पन्न हुए। इनका श्रेय भी बिहार को ही प्राप्त हुआ। ये दोनों महाकाव्य बिहार के दो साहित्य-सेवियों की कीर्त्ति-लता के अंक के अलंकार बने। बाबू रामदीन सिंह की कीर्त्तिलता का प्रसून 'प्रिय-प्रवास' हुआ और पंडित रामदहिन मिश्र की कीर्त्तिकान्ता का गलालङ्कार 'चिन्तामणि'। आज उसी 'चिन्तामणि' की चर्चा-चाशनी चखाने के लिए इतना आडम्बर रचा गया है।

अतएव, जिस महाकाव्य के विषय में हम अपना स्वाभाविक हृदयोद्‌गार प्रकट करेंगे, उसके रचयिता के सम्बन्ध में भी एक-दो बातें कहकर आगे बढ़ेंगे। उनका नामोल्लेख निरर्थक है। परिचय भी प्रयोजनीय नहीं। स्वनामधन्य कवि की प्रथम रचना अवश्य देखनी चाहिए। उसकी पहले-पहल की रचना देखने से मालूम हो जाता है कि वह वस्तुतः प्रकृत कवि हैं या खाली खोपड़ी-खखोरन खाँ हैं। इसलिए, पटना के जिस सत्साहित्य-ग्रन्थमाला-कार्यालय से 'रामचरित-चिन्तामणि' महाकाव्य प्रकाशित हुआ है, उसी कार्यालय की 'सूक्ति-मुक्तावली' एवं 'रामचरित-चन्द्रिका' नामक पुस्तकों से चुनिन्दा पद्यों की चाशनी चखाना चाहता हूँ; क्योंकि ये दोनों पुस्तकें 'चिन्तामणि' के रचयिता की ही कीर्त्ति-कला हैं।

१. सन् १९१४ ई०। २. सन् १९२० ई०। ३. महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द)। ४. पंडित विष्णुदत्त शुक्ल (मध्यप्रदेश)। ५. कविवर 'हरिऔध'। ६. 'प्रियप्रवास'। ७. आजमगढ़ (युक्तप्रदेश)। ८. जिला गाजीपुर (युक्तप्रदेश)। ९. पंडित रामचरित उपाध्याय। १०. 'रामचरित-चिन्तामणि'।

केवल 'चिन्तामणि' पढ़कर उपाध्यायजी की अद्भुत कवित्व-शक्ति का परिचय प्राप्त हो सकता है। किन्तु, जिन पदों पर एक महाकवि ने हाथ साफ किया है अपनी कवित्व शक्ति को माँजा है, उन प्रथम-प्रसूत पदों की प्रदर्शनी भी देखते चलिए—

(१) मन! रमा, रमणी, रमणीयता,
मिल गई यदि ये विधि-योग से।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा,
रसिकता सिकता सम है उसे।

(२) सुविधि से विधि से यदि है मिली,
रसवती सरसीव सरस्वती।
मन! तदा तुझको अमरत्वदा,
नव-सुधा वसुधा पर ही मिली।

(३) अमर हो तुम जीव! सहर्ष हो,
कमर बाँध सहो निज भाग्य को।
समर है करना पर काल से,
दम नहीं मन ही मन में भरो।

(४) व्रण की करती खोज मक्खिका दिव्य वदन में;
पता लगाता ऊँट नीम का चन्दन-वन में।
शम्बुक को वक विज्ञ खोजता है मानस में;
रखता मल की चाह कोल भी सुमहानस में।
कान्त काव्य में भी सदा, मैं दुर्गुण को ढूँढ़ता;
मेरे मन में है भरी, कूट-कूटकर गूढ़ता॥

'मुक्तावली' की ये मनोहर रससिक्त सूक्तियाँ सरल, सुष्ठु और सुपाठ्य हैं। ऊपर के तीन पद्य 'विधि-विडम्बना'-विषयक हैं और चौथा समालोचक की सराहना है। कहीं शब्दों का तोड़-मरोड़ नहीं है, निष्प्रयोजन शब्दों का ठूस-ठाँस भी नहीं किया गया है। भाव गहरा, किन्तु सुगम है। रचना-नैपुण्य आप से-आप झलकता है। जरा 'रामचरित-चन्द्रिका' की एक-आध किरण देख लें, इनमें सहृदय साहित्यानुरागियों का जी जुड़ाने योग्य काफी शीतलता है—

'लक्ष्मण'

'धर्म-वृक्ष थे राम, वृक्ष के पत्र रहे तुम;
देश-शीश थे राम, शीश के छत्र रहे तुम।

नीति-नेत्र थे राम, नेत्र के पलक रहे तुम;
ब्रह्मरूप थे राम, रूप की झलक रहे तुम।

'उर्मिला'

तुम्हें बड़ों की प्रिय थी उपासना,
इसीलिए गेह न छोड़ता बना।
जिसे पहाड़ी सम देहली रही,
उसे कभी कानन क्यों रुचे घना।

'विभीषण'

अन्य को अपना, स्वजन को जो पराया मानता,
मूढ़! मानव-नीति को कुछ भी नहीं वह जानता।
पंक से हो दूर पंकज स्वर्ण की पाये मही,
कान्ति उसकी पूर्ववत् तो भी ठहर सकती नहीं।

'कुम्भकर्ण'

न था कपटी न मायावी न लम्पट;
तुझे भाता नहीं था व्यर्थ झंझट।
प्रयोजन था तुझे भोजन शयन से;
न बाहर तू निकलता था अयन से।

'मेघनाद'

रावण ने यदि दिवस बनाया कभी निशा को,
तो तुम ने रवि-सहित दिखाया पूर्व-दिशा को।
रावण का यदि स्वेद-बिन्दु गिरता था रण में,
तुरत वहाँ निज रक्त गिराते थे तुम क्षण में॥

कहाँ तक दिखाता चलूँ। रामायण के प्रधान पात्रों का विचित्र चरित्र-चित्रण पढ़कर अमित विस्मित होना पड़ता है। नई भावना और नई कल्पना की बड़ी बहार है। भव्य भावों की भूरि-भूरि भरमार है। रचना तो यहाँ तक पसंद है कि रसना बिल्कुल बन्द है। पदमैत्री से लालित्य और शब्द-विन्यास से पाण्डित्य प्रकट हो रहा है।

'मुक्तावली' और 'चन्द्रिका' में उपाध्यायजी के स्फुट पद्य संगृहीत हैं। उन्हीं पद्यों से पाठक पता पा चुके कि उपाध्यायजी का महाकाव्य कितना उत्तम, कैसा सुन्दर और किस प्रकार आनन्दवर्द्धक होगा। कम-से-कम हमने तो 'रामचरित-चिन्तामणि' पढ़कर तन्मयता प्राप्त की है। विश्वास भी है कि जो कोई काव्यरसिक इसे पढ़ेगा उसे हार्दिक

आनन्द अनुभूत होगा। चिन्तामणि के अन्दर कोई दोष नहीं है—इतना कहने की धृष्टता नहीं कर सकता। 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।' 'विधि-प्रपंच गुन अवगुन साना।' किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि रसात्मक वाक्य के प्रेमी जितने लोग उसे पढ़ेंगे, उनका हृदय बार-बार थिरक उठेगा।

खड़ी-बोली के कविता-संसार में यह महाकाव्य एक अभूतपूर्व आविष्कार है। तुलसीदास की रामायण के प्रेमियों को इसे पढ़कर बरबस एक प्रकार का अभिनव आनन्द मिलेगा। यदि वे इसे भक्ति-पूर्वक पढ़ेंगे तो अपूर्व आह्लाद से उनका मुग्ध हृदय नाच उठेगा। अलंकार के प्रेमियों को हर जगह अलंकार का मधुर झंकार सुन पड़ेगा। चमत्कारपूर्ण भावों के शोधक कहीं-कहीं तो अत्यन्त भाव-विभोर हो जायँगे। जिन्हें रसों की रुचिरता रुचती है वे कहीं प्राकृतिक वर्णन के अलौकिक सौन्दर्य और माधुर्य पर लट्टू हो जायँगे, कहीं अन्योक्ति की नूतन भावभंगी पर प्रफुल्लित हो जायँगे, कहीं वीररस की सवेग धारा में बह चलेंगे, कहीं उद्धत रण-घोषणा सुनकर रोमांचित हो उठेंगे, कहीं करुणरस की कलकल-कारिणी नदी में गोते लगाने लगेंगे, कहीं शान्ति की शीतल शरज्ज्योत्स्ना में विहरते ही रह जायँगे।

केवल दो रुपये निसार करके पचीस सर्गों में सम्पन्न होनेवाले महाकाव्य का रसास्वादन किया जा सकता है। किन्तु उसके पाठ से जो लोकोत्तर आनन्द उपलब्ध होगा, वह अमूल्य पदार्थ होगा। ढाई रुपये में राज-संस्करण खरीदकर अपने पुस्तकालय की आलमारी सजानेवाले भी सुखी हो सकेंगे। किन्तु, 'चिन्तामणि' पर एक ही जोड़े रुपये न्योछावर करनेवाले अशेष आनन्द के अधिकारी होंगे; क्योंकि वे बाहरी सुन्दरता और ऊपरी चमक-दमक पर कुछ भी ध्यान न देकर केवल अन्तरंग की सुषमा से संतुष्ट होंगे। उन्हें खड़ी बोली के पद्य-पयोधि को मथने के फलस्वरूप एक समुज्ज्वल रत्न मिल जायगा। स्वदेशानुरागियों को आदर्श कर्मवीर मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र का चरित पढ़कर अतीव आप्यायित होना पड़ेगा।

समग्र ग्रंथ में १८०० श्लोक (पद्य) हैं, परन्तु किसी पद्य में कहीं कोई ऐसी जगह नहीं, जहाँ कुछ खटक जाय। प्रेस के प्रेतों के प्रमाद या प्रसाद से चाहे जो हो जाय, पर नवरस के सरस प्रवाह में प्रमादादि प्रवाहित हो जायँगे, ऐसी प्रौढ़ प्रतीति है।

हाँ, जो बात बेढब खटकती है वह यह है, कि इस सद्ग्रंथ की भूमिका अत्यल्प है। इतनी छोटी भूमिका से ग्रंथ के महत्त्व में बट्टा लगता है। दो पेज की भूमिका रसज्ञ पाठकों के लिए रुचिकर या तृप्तिकर नहीं हो सकती। ग्रंथमाला के प्रवीण मालाकार मिश्रजी ने संभवत. शीघ्रता-वश बड़ी भूमिका नहीं लिखी है। किन्तु, उन्हें जो कुछ लिखने का वास्तविक अधिकार है, वे अच्छी तरह लिख चुके हैं। भूमिका तो स्वयं उपाध्यायजी की लेखनी से लिखी जानी चाहिए।

'प्रिय-प्रवास'-जैसे उत्तमोत्तम महाकाव्य की सन्तोषजनक भूमिका पढ़ने से प्रकट होता है कि उसके रचयिता महाकवि ने किस उद्देश्य से प्रेरित होकर ग्रंथ-निर्माण किया। चिन्तामणि-निर्माता को भी उचित है कि अपनी ओर से एक बृहत् भूमिका लिखकर

द्वितीय संस्करण को भूषित करें। हिन्दी-प्रेमी पाठक यदि कृपा करें तो उपाध्यायजी की भूमिका के साथ शीघ्र दूसरा संस्करण हिन्दी-जगत् में प्रकटीभूत हो जाय। यदि पुस्तक की महत्ता-वृद्धि के निमित्त उपाध्यायजी भूमिका लिखने में उदासीनता प्रकट करें तो मिश्रजी अपनी वामन भूमिका की ह्रस्वता हरण करें और किसी अच्छे-से-अच्छे काव्य-मर्मज्ञ द्वारा एक पाण्डित्यपूर्ण प्रस्तावना लिखवावें। साथ-ही-साथ उसमें खड़ी बोली के क्रमिक विकास का इतिहास भी संक्षेप में दिया जाय। ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली जो नालिश हो चुकी है, उसका निर्णय जब न्यायपूर्वक किया जाय, तब इस ग्रंथ की महिमा बढ़ेगी। अस्तु;

अब 'चिन्तामणि' की कविता के कुछ नमूने मन-मुद्रिका के नगीने देख लीजिए और हमारे स्वच्छन्द विचारों को अतिरंजित न समझकर खड़ी बोली का सौभाग्य मनाइए—

परशुरामजी परम ओजस्वी शब्दों में अपना प्रशस्त परिचय देते हैं—

जिसे ईश ने उत्तमांग से प्रकट किया है;
बड़ा जानकर जिसे श्रुति-स्मृति-ज्ञान दिया है;
प्रभुओं पर भी जो प्रभुत्व पाते आते हैं;
जिसके पग के जिष्णु, विष्णु ठोकर खाते हैं
जिसके मस्तिष्क-प्रभाव से, धनुर्वेद जग को मिला।
बस, उसी विप्रकुलकंज में एक फूल मैं हूँ खिला॥

रामचन्द्रजी सन्ध्याकालीन दृश्यवर्णन करते हुए कहते हैं—

अस्ताचल पर गिरकर दिनमणि चूर्ण हुआ क्या?
व्योम उसीके सुभग कणों से पूर्ण हुआ क्या?
खण्डित हो साम्राज्य निबल ज्यों हो जाता है;
अनुज! व्योम क्या उसी दृश्य को दिखलाता है?
या ये तारे हैं उगे; एक अन्य से भिन्न हो
जहाँ फूट फैली रहे, क्यों न देश वह खिन्न हो।

मन्दोदरी अपने अभिमानी पति को समझाती है—

स्वमहिषी यदि पा कर वे लड़ें
तब नहीं हटिए रण से कभी;
बुध नहीं पहले अरि मारते
लगुड़ से गुड़ से यदि कार्य्य हो।

उसके उत्तर में रावण ने श्रीरामचन्द्रजी की निन्दा करते हुए कहा—

प्रकट में वह साधु समान है
कुटिलता पर है उसमें भरी।
सुजन है वह क्यों जिसकी प्रिये!
द्विरद के रद के सम नीति है॥

पुनः :—

हँसि बोलेउ दसमौलि तब, कपि कर गुन बड़ एक।
जो प्रतिपालै तासु हित, करै उपाय अनेक॥

तुलसीदास के इस दोहे के समान रावण अंगद से कहता है—

कवल-दायक के गुणगान में,
निरत तू रह वानर! सर्वदा।
समर है सुखदायक शूर को
कब रुचा रण चारण को भला?

मेघनाद अपने पिता को सगर्व आश्वासन देकर शान्त करता है—

मरण हो रण में मम आज ही;
चरण छूकर के नृप आपका।
शपथ हूँ करता, रिपु-रक्त से।
न अवनी-तल शीतल जो करूँ॥

रामचन्द्रजी रावण को रणभूमि में तिरस्कृत वाक्य कहकर फटकारते हैं—

पर-कलत्र छिपाकर मूढ़! तू
प्रकट क्या करता निज वीरता?
विविध यत्न करै पर विश्व में,
बल यशस्कर तस्कर का नहीं।

अपने प्रजारंजक सम्राट् से एक शोकातुर विप्रदेव कहते हैं—

मृत मेरा सुत आज न यदि जीवित होवेगा;
राम! तुम्हारा प्रजावर्ग मृत हो सोवेगा।
मेरे सुत को अभी युक्ति कर अतः जिला दो
मुधा मिला मत सही, तृषित को सुधा पिला दो॥

जब लव-कुश दोनों भाइयों ने कहा कि--

सीता सती है, धर्म-लतिका, हम उसीके फूल हैं,
दुखमूल हैं, कुल-शूल हैं, इससे नियति प्रतिकूल है।

तब तो इतना सुनते ही—

रघुनाथ के उर में अचानक बात की गोली लगी,
लज्जाटवी के बीच में चिंताग्नि की ज्वाला जगी।

बस, सजल-नयन करुणाकातर राम ने—

उनको लगाकर अंक में, रघुनाथ मुख हँसने लगा,
उजड़ा हुआ साकेत मानों आज फिर बसने लगा।
हयमेध के दो फल मनों कोमल रघुत्तम को मिले,
पाकर अनभ्रा वृष्टि मरु के सर मनों सरसिज खिले।

—मासिक 'धर्माभ्युदय' (आगरा); ३, भाग ३, संख्या ११, नवम्बर, सन् १९२० ई०

●

कविता-कौमुदी [द्वितीय भाग][1]

इस नाम की एक पुस्तक प्रयागस्थ हिन्दी-रत्नमाला-कार्यालय से प्रकाशित हुई है। प्रकाशक और सम्पादक हैं, वही हिन्दी-संसार के सुपरिचित कविवर पं० रामनरेश त्रिपाठी। त्रिपाठीजी (अखिल-भारतीय) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रचार-मंत्री भी हैं। आपकी हिन्दी-रत्नमाला में जो प्रथम ग्रंथ-पुष्प गुम्फित हो चुका है, उसके प्राणोन्मादी सौरभ से हिन्दी-जगत् आमोदित हो उठा है। उसके संवर्द्धित एवं परिष्कृत रूप को तीसरी बार देखकर किस हिन्दी-प्रेमी की छाती नहीं फूलती? ऐसे अपूर्व संग्रहों को प्रकाशित करके त्रिपाठीजी ने वस्तुतः हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। सभी साहित्यानुरागी उनके ऋणी हैं। काव्य-प्रेमियों को त्रिपाठीजी का चिरकृतज्ञ होना चाहिए।

कविता-कौमुदी के दूसरे भाग की प्रतीक्षा करते-करते हिन्दी-संसार अत्यन्त उत्कण्ठित हो गया था। कौमुदी की यह दूसरी कमनीय किरण उत्सुक कविता-मर्मज्ञों के सतृष्ण लोचनों को तृप्त करेगी। किन्तु, कौमुदी की पहली और दूसरी किरण बिहार के कवियों को अँधेरे (?) में से टटोल निकालने में त्रिपाठीजी को समर्थ नहीं बना सकी है।

'कविता-कौमुदी' के प्रथम भाग में केवल मैथिलकोकिल विद्यापति को ही स्थान मिला है। बिहार के कवियों में विद्यापति का स्थान सबसे ऊँचा माना जाता है। प्रथम भाग के पढ़नेवाले कम-से-कम बिहारी सज्जन तो अवश्य ही समझते होंगे कि सिवा

१. प्रथम भाग की आलोचना भी मेरी ही लिखी छपी थी; पर वह मिल न सकी, कहीं नष्ट हो गई।—ले०

विद्यापति के इस बिहार-प्रान्त में कोई दूसरा कवि ही नहीं। हुआ भी हो तो उसकी गणना नहीं की जा सकती। किन्तु; ऐसा समझना भूल है। बिहार में कवियों और काव्यानुरागियों की उतनी कमी नहीं थी जितनी हम अपनी भूल या अज्ञता से समझ लेते हैं, बिहार के हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा जा रहा है। उसके प्रकाशित होने पर हमारा यह अज्ञानान्धकार मिट जायगा। अनतिदूर भविष्य में वह इतिहास[1] प्रकट होगा। अतएव, कविता-कौमुदी के प्रथम खण्ड में बिहार के पुराने कवियों को स्थानापन्न होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है, तो इसमें आश्चर्य अथवा ग्लानि का कोई विषय नहीं।

त्रिपाठीजी ने कौमुदी का प्रथम संस्करण जब निकाला था तब वह बहुलांश में अधूरा था। द्वितीय संस्करण में त्रिपाठीजी की जानकारी बहुत बढ़ी हुई दीख पड़ी। तृतीय संस्करण में हिन्दी के ख्यातनामा कवि पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा ने छत्तीसगढ़ के तीन-चार कवियों को विस्मृति के गर्भ से निकालकर त्रिपाठीजी के समक्ष उपस्थित किया है और उन्होंने भी कविता-कौमुदी को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिए उदारता एवं सहृदयता के साथ उन कवियों को सम्मान प्रदान किया है। मिश्रबन्धुओं के प्रसिद्ध ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण जब प्रकाशित होने लगेगा, तब मिश्रबन्धुओं को 'सरस्वती' का वह अंक अवश्य देखना पड़ेगा जिसके पृष्ठ ६२ में पं० भवानीशंकर याज्ञिक का लिखा हुआ 'गुजरात-प्रान्त के हिन्दी-कवि'—शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है; क्योंकि वह लेख मिश्रबन्धुओं के लिए जितनी अमूल्यता रखता है उतनी और किसी के लिए नहीं। यदि हम बिहारी अपने प्रान्त के कवियों को अन्धकार के गर्त से निकालकर प्रकाश में ले आना चाहते हैं तो हमें ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि हमारे बिहारी कवियों की उत्कृष्ट रचनाओं का एक बृहत् संग्रहात्मक ग्रन्थ निकल जाय, जिसमें उनकी संक्षिप्त जीवनी भी रहे।

हम अपने परम मित्र बाबू शुकदेव सिंह (पुस्तकालयाध्यक्ष, आरा नागरी-प्रचारिणी सभा) के सहयोग से बिहार के हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिख रहे हैं सही, किन्तु; सर्वतोभावेन सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की इच्छा से हमलोग उतनी शीघ्रता के साथ हिन्दी-संसार में अभी उसे नहीं भेजना चाहते। तब तक 'बिहार के हिन्दी-कवि' और 'बिहार के हिन्दी-लेखक' नाम की दो बड़ी पुस्तकें[2] हमलोग हिन्दी-संसार को उपहार-स्वरूप देने की चेष्टा कर रहे हैं। पहली पुस्तक तो बिल्कुल 'कविता-कौमुदी' के ढंग की होगी, दूसरी का तर्ज 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' से मिलता-जुलता रहेगा। जब पहली पुस्तक का संसार-प्रवेश हो जायगा तब तो त्रिपाठीजी बिहार को कभी अन्धेरे में नहीं छोड़ सकेंगे। कविता-कौमुदी के दोनों भागों में उनको बरबस बिहारी कवियों के लिए जगह बनानी पड़ेगी। ईश्वर करें, वह दिन शीघ्र आवे।

१. 'बिहार का साहित्यिक इतिहास' (हिन्दी) बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित होनेवाला है। —लेखक

२. इन दोनों पुस्तकों की संगृहीत सामग्री सन् १९३४ ई० के भीषण भूकम्प के समय पुस्तक-भंडार (लहेरियासराय, दरभंगा) में नष्ट-भ्रष्ट हो गई। अतः पुनः संग्रह-कार्य का श्रीगणेश किया गया, जो अब पुस्तक-रूप में निकलने जा रहा है। —लेखक

कौमुदी के प्रथम भाग में स्थान पाने योग्य क्या एक भी कवि बिहार में नहीं हुआ है ? क्या विद्यापति को छोड़कर इस बिहार का मुखोज्ज्वलकारी कवि कोई नहीं ? ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता। न तो हम समालोचक की हैसियत से यह लेख लिखते हैं और न द्वेष या ईर्ष्या की प्रेरणा से। हम इस आशा से लिखते हैं कि त्रिपाठीजी इधर ध्यान देंगे और द्वितीय भाग के द्वितीय संस्करण में बिहार का तिरस्कार न होने देंगे। कौमुदी के प्रथम भाग में बिहार में कवियों को त्रिपाठीजी उसी प्रकार प्रतिष्ठित करेंगे जिस प्रकार छत्तीसगढ़ के कवियों को उन्हें करना पड़ा है। चौथे संस्करण में ही सही, हिन्दी-कवियों के समाज में बिहार के प्रतिनिधि-कवि अवश्य रहेंगे। यदि नहीं रह सकेंगे या रखे जायेंगे, तो त्रिपाठीजी को आजन्म बिहार उलाहना देगा।

प्रथम भाग कौमुदी में बिहार के दिवाकर भट्ट, चन्दनराम राधावल्लभ, ठाकुर और अजान आदि कवियों में से किसी को कहीं स्थान नहीं मिला, क्योंकि बिहारियों ने इन्हें आलोक में ले आने का प्रयत्न ही नहीं किया है। त्रिपाठीजी कहाँ तक दिमाग और द्रव्य का दिवाला करावें। दुःख है कि द्वितीय भाग ने त्रिपाठीजी को दोषी ठहराये जाने योग्य बना दिया ; कारण यह है कि त्रिपाठीजी ने जानते हुए भी गलती करने की कोशिश की है। न तो हम त्रिपाठीजी की जानकारी को परिमित कहकर पाप बटोरना चाहते हैं और न कोई हिन्दी-प्रेमी उनके ज्ञान-भाण्डार को अपूर्ण कहने का दुस्साहस कर सकता है। परन्तु, हम इतना अवश्य कहेंगे कि बिहार की ओर त्रिपाठीजी ने बड़ी उदासीनता दिखाई है।

इसमें पहली त्रुटि हमें यह खटकती है कि त्रिपाठीजी ने अपने-आपको एकदम अँधेरे में रखकर हिन्दी का इतिहास ही बिगाड़ दिया है। अपने ही व्यक्तित्व को अपने ही सम्पादकत्व में प्रत्यक्ष करना अनुचित है—इसलिए त्रिपाठीजी अपना परिचय नहीं दे सके, यदि ऐसा कहा जाय तो यह कोई समीचीन तर्क नहीं। जहाँ तक हमारी ओछी समझ काम देती है, वहाँ तक हम इतना कहेंगे कि 'हिन्दी-कोविदरत्नमाला' में बाबू श्यामसुन्दर दासजी अपनी जीवनी नहीं प्रकाशित करके हिन्दी का इतिहास बिगाड़ते हैं। धन्यवाद है मिश्रबन्धुओं को, जिन लोगों ने 'मिश्रबन्धुविनोद' को विशेष अधूरा न रहने दिया। यदि त्रिपाठीजी हिन्दी के इतिहास की सर्वांगीण पूर्त्ति करना चाहते हैं, तो उन्हें हिन्दी-प्रेमियों का अनुरोध अवश्य पालन करना चाहिए। यद्यपि जौहर छिपाने से नहीं छिपता, तथापि उसे छिपाना ही घोर अनौचित्य है। आगामी संस्करण में उन्हें अपनी जीवनी और रचना को भी स्थान देना चाहिए। त्रिपाठीजी अपने किसी मित्र के द्वारा इस त्रुटि की पूर्त्ति करा सकते हैं, जैसा कि उन्होंने पंडित सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी स्वनामधन्य हिन्दी-लेखक कविवर पं० बदरीनाथ भट्ट द्वारा लिखवाकर न्यायसंगत कार्य्य किया है।

दूसरी त्रुटि जो हमें बेतरह खटकती है, वह यह है कि इस भाग में किसी स्त्री-कवि को स्थान नहीं मिला है। स्त्री-जाति की ऐसी उपेक्षा उचित नहीं। महिलाओं को इस तरह बहिष्कृत करना त्रिपाठीजी के लिए न्यायोचित कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि स्त्री-शिक्षा के वे प्रेमी और पक्षपाती हैं। श्रीमती सुभद्रा देवी, श्रीमती तोरन देवी (लली) और स्वर्गीया श्रीमती बुन्देलाबाला आदि महिला-कवियों का तिरस्कार करके त्रिपाठीजी ने,

पूरी-पूरी जानकारी रखते हुए भी, उदासीनता दिखाई है। केवल श्रीमती सत्यबाला देवी की एक कविता ५४२ पृष्ठ में छपी है। क्या पूर्वोक्त देवियों की कविताएँ त्रिपाठीजी को सुरुचिपूर्ण, भावमयी तथा उपयुक्त नहीं जँची हैं? उन देवियों की कविताएँ सभी प्रसिद्ध हिन्दी-पत्रों में प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं। अतः उन्हें दुष्प्राप्य कहकर भी त्रिपाठीजी अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते।

काशी की 'आर्य्य-महिला' के प्रथम अङ्क में धर्म-सावित्री महारानी नरसिंह गढ़ की जो 'श्रीकृष्ण-चिन्तन' शीर्षक कविता है वह क्या 'कौमुदी-कुंज' की शोभा नहीं बढ़ा सकती थी? 'आर्य्य-महिला' के द्वितीय भाग की चतुर्थ संख्या में पटना की श्रीमती सरस्वती[1] देवी की जो कविता (नारी और पुरुष), ३५६ पृष्ठ में, छपी है, वह क्या कौमुदी-कुंज की सघनता नहीं बढ़ा सकती थी? क्या स्त्रियों की भावमयी कविता ढूँढ़ने पर भी त्रिपाठीजी को न मिली? यदि केवल स्थान-संकोच या पुस्तक के आकार के विस्तार-भय से यह आक्षेप-योग्य कार्य्य किया गया हो, तो त्रिपाठीजी को अपनी भूमिका या प्रागुक्ति में महिलाओं से क्षमा की प्रार्थना करते हुए इस बात की आशा देनी चाहिए थी कि अगली बार स्त्री-कवियों का यथेष्ट सम्मान किया जायगा। और नहीं, यदि आलस्यवश अथवा समयाभाव एवं असावधानता के कारण हमारी आराध्य देवियों की अवमानना की गई हो, तो महिलाओं के स्वत्वप्रेमियों को त्रिपाठीजी से घोर अनुरोध करना चाहिए कि वे अपनी भूल स्वीकार करके स्त्रियों के प्रोत्साहनार्थ उनका एक अलग ही संग्रह[2] निकाल दें।

तीसरी त्रुटि हमें यह खटकती है कि बिहार का तो तिरस्कार किया ही गया है, संयुक्त-प्रान्त के कुछ सम्भ्रान्त कवियों को भी पर्दानशीन ही रखा गया है। हम समझते हैं कि काशी-निवासी बाबू जयशंकर प्रसाद जी एक प्रतिभाशाली एवं प्रकृत कवि हैं। उनकी स्वाभाविक कविता कितनी रसीली और चुभीली तथा चमत्कारपूर्ण होती है, यह हिन्दी-प्रेमियों से छिपा नहीं है। 'प्रसाद' जी की कविता जैसी प्रसाद-गुणशालिनी होती है वैसी ही ओजस्विनी और अमृतवर्षिणी भी। आश्चर्य है कि त्रिपाठी जी उन्हें एकदम भूल गये। बेचारे को कौमुदी-कुंज की छाया में भी कहीं जगह नहीं मिली है।

पुनः सोहिलामऊ (हरदोई) के ठाकुर श्री हरिपाल सिंह को अंधकार में छोड़कर कौमुदी ने अपनी सार्थकता में बट्टा लगाया है। 'कवि' के चैत्र १९७८ वाले अङ्क में ठाकुर साहब की जीवनी प्रकाशित हो चुकी है। उनकी उत्तम कविताएँ प्रायः हिन्दी के अच्छे-से-अच्छे पत्रों में छपती हैं। कोई ऐसा कारण नहीं, जिसे लेकर त्रिपाठीजी अपनी इस भूल की मरहम-पट्टी कर सकें।

सब तो सब, जिस कवि 'मयंक' के अस्त होने से वर्त्तमान कवि-समाज अन्धकारमय हो गया है उस 'मयंक' को बिल्कुल छोड़कर न जाने 'कौमुदी' कैसे जीवित रहना चाहती है?

---

१. 'मिश्रबन्धु-विनोद' के तीसरे भाग के १४१७ पृष्ठ में श्रीसरस्वती देवी स्त्री-कवि हैं। वे नगवा (आजमगढ़) की रहनेवाली हैं। 'विनोद' में और भी स्त्री-कवि हैं।—लेखक (१९२१ ई०)

२. हिन्दी की महिला-कवयित्रियों पर एक बड़ी-सी पुस्तक पंडित ज्योति प्रसाद 'निर्मल' की लिखी निकल चुकी है।—लेखक

उस 'मयंक' के अस्त होते ही राष्ट्रीय कविता के प्रेमी पस्त हो गये। एक बार समस्त हिन्दी-संसार हतचेत हो गया ! न जाने 'मयंक' को त्रिपाठीजी ने क्यों भुला दिया ! वह तो हिन्दी के हृदय में हीरे के हार के समान सुशोभित था ! किन्तु, कंचन को काँच की कद्र भी मिली होती तो सन्तोष का विषय था।

'मयंक' के साथ-साथ 'अशंक', 'कवीन्द्र', 'रसिकेन्द्र' और 'अलमस्त' आदि[1] समस्त कवियों को धता बताया गया है। न कहीं 'प्रवीण' का पता है और न कहीं 'श्रीसुजान' का नामोनिशान है। 'कवि-किंकर' और 'कवि'-सम्पादक रूपनारायण सिंह आदि की चर्चा तो बेकार है। वीर-रस की कविता रचने में निपुण पं० सुखराम चौबे (कवि गुणाकर) का तो पता ही नहीं है। अगस्त, १६१५ ई० की 'सरस्वती' से यदि 'पाठकों के प्रति पुस्तक की प्रार्थना'-शीर्षक उनकी कविता ले ली गई होती तो उनके कवित्व का परिचय प्राप्त हो जाता।[2]

—मासिक 'चैतन्य-चन्द्रिका' (पटना-सिटी); चैत्र, १६७८ वि० (सन् १६२१ ई०)

●

'वीर अभिमन्यु'

गत मंगलवार की रात को काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय की नाट्य-समिति ने स्थानीय मदन-थियेटर के रंगमंच पर 'वीर अभिमन्यु' का अभिनय किया। यह अभिनय गुजरात के बाढ़-पीड़ित भाइयों की सहायता के लिए किया गया था। इसमें अधिकांश विश्व-विद्यालय के कॉलेज-छात्र ही सम्मिलित हुए थे। व्यवस्था बहुत अच्छी थी। दर्शकों की उपस्थिति भी खासी थी। सीन-सीनरी और पोशाक-पहनावे में भी विशेष कसर न थी। सम्भवतः जल्दी में अभिनय की तैयारी की गई थी। फिर भी एक तरह से सफलता-पूर्वक अभिनय सम्पन्न हुआ। और क्यों न हो, जहाँ बी० ए०, एम्० ए० के छात्रों और विद्वान् प्रोफेसरों का उत्साहपूर्ण सहयोग है, वहाँ तो सफलता रखी है। फिर, अभिनय जिस पवित्र एवं प्रशंसनीय उद्देश्य से किया गया है, वह उद्देश्य सर्वथा अभिनन्दनीय एवं सम्प्रति अनुकरणीय भी है।

मैं अभिनय के सम्बन्ध में कुछ नम्र निवेदन करना चाहता हूँ—केवल साहित्य के नाते। कारण, बाढ़-पीड़ितों की सहायता और साहित्यिक मनोरंजन दोनों ही उद्देश्य से मैं अपने कुछ साहित्यिक मित्रों ('सुप्रभातम्'-सम्पादक श्री केदारनाथ शर्मा, काव्यतीर्थ और 'सूर्योदय'-सम्पादक श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री आदि) के साथ अभिनय देखने गया था। आशा है, कोई सज्जन इसे मनोविनोद के सिवा कटु समालोचना समझने की कृपा न करेंगे।

---

१. इन कवियों का पूरा नाम अब स्मरण नहीं। खोज करने से पता लग जायगा।—ले०

२ इस लेख का उत्तरार्द्ध नहीं मिल सका। यदि कहीं मिल गया, तो आगे कभी छपेगा।—ले०

सबसे पहले मैं बड़ी विनय के साथ यह कहूँगा कि अभिनय में आदि से अन्त तक करीब-करीब सभी पात्रों के नाट्य और स्वर में बहुत-कुछ पारसीपन था। यहाँ पारसीपन की परिभाषा की आवश्यकता नहीं है, वह सहज ही सहृदय-संवेद्य है। हाँ, अत्यन्त संक्षिप्त रीति से इतना ही कहा जा सकता है कि अस्वाभाविक स्वर में, शब्दों पर अनावश्यक जोर देकर, अप्राकृतिक रूप से अंग-संचालन कर पात्रों का बोलना ही पारसी धुन है। बोल-चाल के बीच-बीच में पद्य और साथ ही उनके कहने का ढंग तथा अनवसर गानों की भरमार भी पारसी-शैली के अन्तर्गत है। यदि बिना पद्य का कोई साहित्यिक नाटक (वीर अभिमन्यु) हिन्दी में नहीं है, तो पारसी-शैली पर रचे हुए पद्य-बहुल नाटक को भी विश्वविद्यालय के सुयोग्य अध्यापक तथा होनहार छात्र वर्त्तमान परिष्कृत रुचि के अनुसार बना अथवा खेल सकते हैं। इस बार जल्दबाजी में ऐसा कुछ न हो सका, तो कोई बात नहीं, आइन्दा हो सकता है।

मेरी समझ में, अच्छा तो यह होता कि विश्वविद्यालय के छात्र कभी-न-कभी कहीं दूर की ट्रिप में जाते ही होंगे—एक-दो दफे प्रोफेसर और छात्र मिलकर बँगला, मराठी और गुजराती रङ्गमञ्चों पर होनेवाले अभिनयों को देख आते। कलकत्ता, पूना, बम्बई या अहमदाबाद-जैसे सुदूरवर्त्ती स्थानों में केवल अभिनय-दर्शन के उद्देश्य से प्रोफेसरों और छात्रों के जाने का प्रस्ताव करके मैं, लोगों की दृष्टि में, मूर्खता तो जरूर कर रहा हूँ, पर वास्तव में यदि इसपर विचार किया जाय, तो उपकार के सिवा कोई हानि की बात न सूझेगी। मेरे कहने का आशय यह कदापि नहीं है कि बँगला या मराठी रङ्गमञ्चों की नकल हिंदी में की जाय। नहीं, मेरा अभिप्राय यह है कि उनकी उन्नत शैली एवं नवयुग-धारा की गति परख कर तथा इस पारसी ढंग से उनका मिलान कर जो उत्तम जँचे, वही ग्रहण किया जाय। यदि उनमें कुछ विशेषता हो, उनसे कुछ सीखने योग्य वस्तु मिल सकती हो, तो कोई कारण नहीं है कि उसे स्वीकार करने में हम झेंपें। खैर, अब मैं सरसरी तौर से अभिनय पर विचार करता हूँ।

मंगलाचरण के बाद ही यवनिका-पतन हुआ। शायद यह कोई नया ढंग अब पैदा हुआ है। मुझे इस आविष्कार का ज्ञान नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण का स्वांग समयानुकूल होना चाहिए था। उनके नटवर-वेश और महाभारतीय वेश में अन्तर है। द्रोणाचार्य का वेश अच्छा तो था, पर सजावट में कुछ कसर थी। कवच पोला बँधा था, छाती ठोकने पर ठन-ठनाता था! पाण्डव-सभा में गान बहुत सुन्दर रहा। खैरियत हुई कि 'छमाछम' से परहेज किया गया। नकुल के साफे की लम्बी पूँछ अनैतिहासिक जान पड़ती थी। युधिष्ठिर अपने ढंग के अच्छे अभिनेता मालूम हुए; पर भीम में भीमत्व का अभाव था। सहदेवजी में तो क्षत्रियत्व का पता ही न था—उदास कैदी की तरह शान्त!

प्रथम अंक के चौथे दृश्य में (जहाँ अभिमन्यु पत्नी-प्रेम और क्षात्रधर्म के संघर्ष का भाव व्यक्त करने में कुछ शिथिल रहा) बम्बई की सड़क का दृश्य अच्छा नहीं लगा। हाँ, अगर लेटरबक्स न होता, और उसपर अँगरेजी अक्षर न होते, तो किसी तरह काम चल जाता। वहाँ अगर मैदान या शिविर का दृश्य होता तो ठीक फबता।

जो हो, यही चौथा दृश्य अभिमन्यु की सच्ची कसौटी था। इस कसौटी पर खरा साबित होने के लिए अभिमन्यु ने बड़ी चेष्टा की। प्रथम प्रयास में सफलता तो शायद ही होती है, पर अभिमन्यु का उत्साह स्तुत्य है। थोड़ी ही चेष्टा से वह अच्छा अभिनय कर सकता है। जैसे भीम में ऐंठ की कमी थी, वैसे ही अभिमन्यु में फड़क की। पर भीम तो शायद चेष्टा करके भी भीमत्व नहीं प्रगट कर सके। हाँ, अभिमन्यु ने अपना थोड़ा-बहुत जौहर कई जगह दिखाया। फिर उत्तरा का पार्ट भी बुरा नहीं हुआ। उसमें स्त्रीत्व था। पर वह पाँचवें दृश्य में लगातार भिन्न-भिन्न तीन-तीन गाने गा गई, जिनमें 'बाँके नैन' आदि पद भी थे। शायद एक कोई रसीली गजल भी थी! उसी दृश्य में उत्तरा की एक सखी ने अभिमन्यु से खूब कहा कि 'हमें भी चक्रव्यूह-भेदन सिखाइए'!

छठे दृश्य में राजा बहादुर का पार्ट निहायत बढ़िया रहा। स्वाभाविकता और सामयिकता दोनों बातें थीं, पर मूल अभिनय से उसका सम्बन्ध मिला देने से कुछ अप्रासंगिक मालूम होता था। फिर भी, उसने 'ब्राह्मण और युद्ध' की उपमा 'रसगुल्ले और ज्वर' के साथ खूब दी। राजा बहादुर को अपनी चरबाँक स्त्री से पंजे लड़ाने की भी अच्छी सूझी।

इसके बाद सातवें दृश्य में 'चक्रव्यूह' का दृश्य ठीक नहीं था; सैनिकों की जगह पत्थरों की दीवार शायद 'अभावे शालिचूर्णम्' थी। किंतु, व्यूह का मुख्य द्वार तोड़कर अभिमन्यु प्रवेश कर गया और धड़ाका नहीं हुआ, यह शायद स्टेजमाष्टर की भूल है। द्रोण को अभिमन्यु कभी 'आप' और कभी 'तुम' कहता था और अपने पिता को बार-बार केवल 'अर्जुन'! दुर्योधन ने भी कई बार आचार्य को 'तुम' कहा। इसी दृश्य में, दुःशासन को परास्त करने के बाद, अभिमन्यु के अभिनय में ओजस्विता आई—उसका हौसला बढ़ा हुआ मालूम पड़ा और रोप भी जाग उठा। यहीं अभिमन्यु का जौहर खुला। अभिमन्यु का अभिनय अन्त तक क्रमशः अच्छा होता गया।

दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में उत्तरा की कलाई-घड़ी कुछ खटकती थी, और उसने 'प्रह्लाद कवि' का जो यह कवित्त कहा—'आजु आली माथेते सु बेंदी गिरै बार-बार, मुख पर मोतिन की लरी लरकति हैं'—सो बड़े मौके की चीज रही। इसका अगला चरण न कहकर उसने बड़ी निपुणता दिखाई। यदि वह चरण भी कह देती तो प्रत्यक्ष रसभंग हो जाता; क्योंकि उसमें कवि का नाम है और परदेशी पति की ओर संकेत है।

खैर, तीसरे दृश्य में युधिष्ठिर और भीम ने अच्छा पार्ट अदा किया। तोभी, भीम में शिथिलता बहुत थी। अर्जुन की अंतिम प्रतिज्ञा खूब प्रभावशालिनी हुई। चौथे दृश्य में 'योगमाया' के अन्दर तनिक भी चमत्कार नहीं देख पड़ा। वह शिथिल रही। उस समय श्रीकृष्ण का त्रिभंगी बाना और अधर पर मुरली ठीक जँची नहीं—सुदर्शनचक्र अलबत्त मेल खाता। फिर, अर्जुन का विलाप निस्सन्देह करुणोत्पादक हुआ, और उस समय कृष्ण का मुस्कुराना इतना स्वाभाविक था कि मंच पर साक्षात् आनन्दमूर्त्ति श्यामसुन्दर ही खड़े जान पड़े। उस मुस्कान में श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व की झलक थी।

इसके बाद कैलास के दृश्य में आरती-गान के समय घड़ियाल बजाकर 'हर-हर महादेव' गाते हुए प्रोफेसर रॉनल्ड निक्सन, एम्० ए०, (केंटब०) सादे हिन्दुस्तानी भेष में

बहुत ही अच्छे फबे। अन्त में जय-जयकार के बाद हड़बड़ाकर प्रस्थान करने में उन्होंने खूब स्वाभाविकता दिखाई। एक खासा विनोद रहा। किन्तु, जूता पहने हुए ही अर्जुन ने शिवजी से पाशुपत-अस्त्र लेकर कैलास-दृश्य की पूरी सफलता में थोड़ी कसर डाल दी। सो, सब कसर राजा बहादुर ने कुछ देर बाद ही पूरी कर दी।

यदि रंगमंच की मर्यादा का ध्यान रखें, तो राजा बहादुर महाशय एक सफल प्रहसन-अभिनेता हो सकते हैं। उनके अन्दर नाट्य-कला का बीज है। इस दूसरे अंक के अन्तिम दृश्य में विलपती हुई अधीरा उत्तरा ने श्रीकृष्ण से अन्तिम भीख माँगने में यथेष्ट करुणा उत्पन्न की।

इसी प्रकार, तीसरे अंक के पहले दृश्य में द्रोण के ब्राह्मणत्व का तेज खूब चमका। दुर्योधन को फटकारते समय द्रोण का आत्मगौरवशाली अभिनय वस्तुतः हृदयस्पर्शी हुआ।

सारांश यह कि प्रधान पात्रों का अभिनय शुरू में कुछ उखड़ता हुआ-सा तो जान पड़ा, पर वास्तव में धीरे-धीरे जमता ही गया और अन्त में जाकर अभिनय एक प्रकार से सफल ही हुआ। पात्रों की स्वर-भंगिमा, वेश-भूषा और नाट्य-प्रदर्शन पर यदि रिहर्सल में ही कड़ी निगाह रखी गई होती, तो इससे भी ऊँचे दर्जे की सफलता निश्चित थी। आशा है, विश्वविद्यालय की नाट्य-समिति के विद्वान् संचालक इस तुच्छ निवेदन पर टुक विचार करने की दया दरसावेंगे।

—दैनिक 'आज' (काशी); शनिवार, सौर २५ भाद्रपद, सं० १९८४ वि० (सन् १९२७ ई०)

•

आचार्य शुक्लजी की सर्वप्रथम मौलिक रचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी का जन्म सन् १८८४ ई० (संवत् १९४१) में हुआ था। इस शताब्दी के आरंभ (सन् १९०१ ई०) में ही, १६-१७ वर्ष की अवस्था में, काशी के लंदन-मिशन हाईस्कूल से उन्होंने एण्ट्रेंस की परीक्षा पास की थी। उसी वर्ष उनकी सबसे पहली कविता 'मनोहर छटा' प्रयाग की 'सरस्वती' (भाग २, सं० १०, पृष्ठ ३४२) में छपी। कहा जाता है कि उनकी सबसे पहली रचना 'हास्य-विनोद' नामक नाटक है, जिसे उनके किसी मित्र ने पढ़कर हँसते-हँसते फाड़ डाला और जिसे उन्होंने तेरह वर्ष की अवस्था में लिखा था। उन्होंने लिखा तो था 'पृथ्वीराज' नाटक भी, जो अधूरा ही रह गया और छपा भी नहीं। अतः उनकी सर्वप्रथम प्रकाशित रचना 'मनोहर छटा' ही है, जो पद्य में है।

गद्य में उनकी सबसे पहली रचना है—'प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा', जो दिसम्बर, १९०२ ई० की 'सरस्वती' (भाग ३, सं० १२, पृष्ठ ३७१) में छपी। यह शुक्लजी का मौलिक लेख नहीं है, पादटिप्पणी में उन्होंने लिख दिया है—'डा० राजेन्द्र लाल मित्र के लेख के आधार पर।' यह चार पृष्ठों का लेख बहुत ही सुन्दर है। 'आधार पर' लिखा गया है, अतः अर्द्ध-मौलिक कहा जा सकता है। इसकी भाषा में कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जो

शुक्लजी की आगे की रचनाओं में नहीं दीख पड़ते। उदाहरणार्थ, शीर्षक में 'पहिरावा' शब्द ही देखिए। आगे चलकर उन्होंने 'पहनावा' लिखा है। इस लेख में 'देखकर' और 'लेकर' के बदले 'देखके' और 'लेके' लिखा है, जैसा आगे की उनकी शैली में नहीं मिलता। आज भी हम वयोवृद्ध साहित्यसेवी श्री हरिकृष्णजी जौहर की शैली में 'देखके', 'लेके' पाते हैं; पर शुक्लजी की शैली में हम आगे चलकर 'देखकर' ही पाते हैं। अस्तु;

उनकी सबसे पहली मौलिक गद्य-रचना एक कहानी है—'ग्यारह वर्ष का समय।' यह कहानी सितम्बर, १९०३ ई० की 'सरस्वती' (भाग ४, संख्या ९, पृष्ठ ३०८-१७) में छपी है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष (सन् १९०० ई०) में, जिस वर्ष 'सरस्वती' पत्रिका का जन्म हुआ था, उस वर्ष, वह एक सम्पादक-मण्डल के अधीन थी। सन् १९०१ ई० में उस मण्डल के प्रधान बाबू श्यामसुन्दरदासजी ही एकमात्र सम्पादक रह गये और सन् १९०३ ई० से द्विवेदीजी (पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी) सम्पादक होकर आये।

इसी वर्ष (१९०३ ई० में) द्विवेदीजी के सम्पादन-काल का श्रीगणेश हुआ था। द्विवेदीजी के द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' की सारी पाण्डुलिपि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। उसे देखने से ज्ञात हुआ कि अधिकांश लेखकों की शैली पर द्विवेदीजी का अमिट प्रभाव पड़ा है; क्योंकि प्रत्येक रचना को वे अपने साँचे में ढाल लेते थे—उसपर अपना गहरा रंग चढ़ा देते थे। इसीलिए, बहुत-सी रचनाओं के प्रकाशित रूप अपने मूल रूप से बहुत-कुछ भिन्न हैं। किन्तु, कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिनकी शैली के परिष्कार में द्विवेदीजी की लेखनी को विशेष श्रम या कष्ट नहीं उठाना पड़ा। शुक्लजी ऐसे ही कुछ लेखकों में हैं।

बड़े आश्चर्य की, किन्तु साथ ही बड़े गौरव की भी, बात है कि सन् १९०३ ई० में ही, जब शुक्लजी लगभग बीस वर्ष के रहे होंगे, उनकी गद्य-शैली बहुत प्रौढ़ हो चुकी थी। उनके अन्तिम समय की गद्य-रचनाओं से उस आरम्भिक समय की गद्य-रचना का मिलान करने पर यह बात मन में बैठ जाती है कि शुक्लजी आरम्भ से ही बड़ी समर्थ लेखनी लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे।

उपर्युक्त कहानी (ग्यारह वर्ष का समय) में 'उँगली उठाके, जाके, लेके' आदि-जैसे प्रयोग कहीं-कहीं अवश्य मिलते हैं; पर 'दिखाके' और 'आके' के बदले 'दिखाकर' और 'आकर' प्रयोग भी मिलते हैं। हाँ, 'पूछपाछ'-जैसे एक-दो शब्द भी अवश्य हैं, पर आगे की रचनाओं में हम 'पूछताछ' ही पाते हैं। कहानी में 'जान-पहिचान, दहिनी ओर, पहिले ही, भली-भाँति, भले प्रकार' आदि प्रयोग भी मिलते हैं; पर आगे की रचनाओं में 'जान-पहचान, दाहिनी ओर, पहले ही, भली प्रकार' आदि प्रयोग ही मिलते हैं। इस प्रकार के सूक्ष्म अन्तर तो द्विवेदीजी की भी पहली और पिछली शैलियों में मिलते हैं। किन्तु, हम देखते हैं कि शुक्लजी ने लगभग चालीस वर्ष

पहले जिस शैली को अपनाया था, उसी को अन्त तक निबाहा और उसे परिमार्जित भी किया। कहानी की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"पावस की जरावस्था थी। मार्ग के दोनों ओर की कृषि-सम्पन्न भूमि की शोभा का अनुभव करते और हरियाली के विस्तृत राज्य का अवलोकन करते हमलोग चले। प्रस्तुत ऋतु की प्रशंसा भी हम दोनों बीच-बीच में करते जाते थे। अहा! ऋतुओं में उदारता का अभिमान यही कर सकता है। दीन कृषकों का अन्नदाता और सूर्य-ताप-तप्त पृथ्वी को वस्त्रदान देकर यश का भागी यही होता है। इसे तो कवियों की 'कौंसिल' से 'रायबहादुर' की उपाधि मिलनी चाहिए। यद्यपि पावस की वृद्धावस्था का समय नहीं है, किन्तु उसके यश की ध्वजा फहरा रही है। स्थान-स्थान पर प्रसन्न सलिल-पूर्ण ताल अद्यापि उसकी पूर्व-उदारता का परिचय दे रहे हैं।"

पूरी कहानी इसी प्रकार की संस्कृत-बहुल भाषा में है। उसमें तत्सम शब्दों का ही बाहुल्य है। भाषा पर शुक्लजी का अपना ही रंग है। यद्यपि आरम्भिक रचना होने के कारण शैली में वैसी प्रखरता नहीं है, जैसी आगे की रचनाओं में देख पड़ती है, तथापि वह पर्याप्त प्रांजल और प्रसाद-गुणपूर्ण है। उनकी शैली कहीं भी बोझीली नहीं जान पड़ती, प्रत्युत मत्त-कुञ्जरगामिनी-सी मनोहारिणी प्रतीत होती है। उनकी शब्द-योजना और भाव-व्यंजना का संयोग दूध-बताशे के समान है।

किन्तु, कहानी में केवल भाषा की ही बहार है, कथानक पुराने ही ढंग का है। यह स्वाभाविक भी है। उस समय की सभी मौलिक कहानियाँ लगभग इसी ढंग की मिलती हैं। उन्हीं दिनों पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी की सबसे पहली मौलिक कहानी 'इन्दुमती' भी 'सरस्वती' में ही छप चुकी थी, जो हिन्दी की सबसे पहली मौलिक कहानी मानी जाती है। उसमें भी गोस्वामीजी की संस्कृत-बहुल भाषा की ही छटा देख पड़ती है। घटना-वर्णन अथवा कथावस्तु में तात्कालिक प्रवाह का ही संकेत है।

आज हिन्दी में कहानी की कला दिन-दिन विकसित होती जा रही है। आज की कसौटी पर उक्त कहानी की जाँच नहीं हो सकती। अपने समय की कसौटी पर वह जितनी खरी उतरी है, उतनी अब नई कसौटी पर नहीं उतर सकती। पर, हमें देखना यह है कि अपने युग में उसने जो स्थान अधिकृत किया है, वह स्थान कितना ऊँचा है और उसपर वह कैसी फबती है। इस दृष्टि से हम उस कहानी को सर्वथा उपयुक्त पाते हैं। उसकी वर्णन-शैली में विलक्षणता है, घटनाक्रम में आकर्षण और कौतूहल उत्पन्न करने की शक्ति है। चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता के साथ-साथ मनोवैज्ञानिता का भी पुट है। यद्यपि वह प्रसादान्त है, विषादान्त नहीं, तथापि पूरी कहानी पढ़ जाने के पश्चात् चित्त पर एक मधुर स्मृति की छाप लगी रह जाती है। संक्षेप में उसका रूप इस प्रकार है—

स्वयं लेखक महाशय अपने कुछ मित्रों के साथ एक खँड़हर में घूमते-फिरते चले जाते हैं। चाँदनी रात है। एक श्वेतवसन-धारिणी स्त्री देख पड़ती है। उस श्वेत-परिच्छद-धारिणी का अपूर्व सौन्दर्य देखकर मित्र स्तंभित और चकित रह जाते हैं।

मित्र-मण्डली बड़ी कठिनता से उसके पास पहुँचती है। एक मित्र महोदय उसका वृत्तान्त पूछते हैं। वह कहने लगती है—

"एक रात गंगा की बाढ़ में यह बस्ती डूब गई। लोग व्याकुल हो उठे। संयोगवश एक नाव आ गई। सब हड़बड़ा कर चढ़ने लगे। मेरे ससुर (चन्द्रशेखर मिश्र) तो चढ़ गये, पर मेरे पति लुप्त हो गये या धारा में बह गये। मैं मायके में थी। मेरे ससुर मेरे पति की खोज में वहाँ पहुँचे। कहीं भी उनकी खोज न मिली। मेरे दुख की सीमा न रही। भाई की पत्नी अलग सताने लगी। मैं घर छोड़कर निकल पड़ी और अपने पति के उजड़े गाँव में आ पहुँची। उन्हीं के ध्यान में मग्न होकर मैं यहाँ रहने लगी और तभी से एकान्त-सेवन कर रही हूँ।"

इसके पश्चात् वह मित्र महाशय कहानी कहने लगते हैं—

"मिश्रजी के पुत्र एक बहते हुए छप्पर पर बैठ गये। गंगा में एक बंगाली व्यापारी की नाव मिली। उसने उन्हें चढ़ा लिया। बंगाली के घर पहुँचकर कई वर्ष वहीं रहे। वहाँ जब उसके लड़के का ब्याह हुआ तब उन्हें भी अपने ब्याह की सुध आई। चल पड़े स्वदेश की ओर। ससुराल में पहुँचे। बड़े साले से ज्ञात हुआ कि बहू चली गई। तबसे निराश होकर संसार में भटकने लगे। तुम पूछोगी, अब वे कहाँ हैं, तो यह वही अभागा तुम्हारे सम्मुख बैठा है।"

इतना सुनते ही वह सुन्दरी बेसुध-सी होकर गिरने लगी। शेष कहानी की पूर्त्ति करनेवाले उसी मित्र ने सँभाला। स्त्री ने हाथ दिखाने को कहा, जिस पर एक काला तिल था। उन्होंने चट अपना हाथ फैला दिया, स्त्री कुछ काल तक उसी काले तिल की ओर देखती रही। फिर मुख ढाँपकर सिर नीचा करके बैठ रही। लज्जा का प्रवेश हुआ; क्योंकि वह एक हिन्दू रमणी का उसके पति के साथ प्रथम संयोग था।

यहीं कहानी समाप्त होती है। यही है 'ग्यारह वर्ष का समय'—जो पति-पत्नी के विछुड़न की अवधि है। उस रात को स्वयं लेखक भी उसी खँड़हर में अपने मित्र का अतिथि रहा, जो सवेरा होते ही 'प्रसन्न-चित्त' घर लौटा।

कहानी की घटना वैसी ही है जैसी प्रायः संसार में देखी-सुनी जाती है। ऐसी घटनाएँ समाचार-पत्रों में कभी-कभी छपती भी हैं। कल्पना अकृत्रिम है। आदर्श महान है, इसमें एक आर्य महिला का उदात्त चरित्र अंकित है, दाम्पत्य-प्रेम का उज्ज्वल चित्र है। पति-प्रेमपरायण स्त्री वियोग-विह्वल होकर एकान्तवासिनी तपस्विनी बन गई है। पत्नी की स्मृति में तल्लीन पति भी निरन्तर अन्यमनस्क-सा रहता है। बरसों पश्चात् दोनों अचानक मिलकर निहाल हो जाते हैं। पत्नी अपने पति के हाथ का काला तिल परख कर सलज्ज नववधू बन जाती है। घूँघट सरकाकर तुलसी की निम्नाङ्कित पंक्तियों को सार्थक कर देती है—

प्रभुहिं, चितै; पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।
तिनहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ संकोच सकुचति बर बरनी॥

बहुरि बदन-विधु अञ्चल ढाँकी। पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥

यद्यपि कहानी पूर्णतः सच्ची-सी प्रतीत होती है, जो कहानी की एक बहुत बड़ी विशेषता है, तथापि लेखक ने अपने-आपको पाठक की आँखों से ओझल नहीं रखा है। यदि वह नाटक के सूत्रधार की भाँति नेपथ्य में छिपा रहकर सूत्र-संचालन कर सकता, तो कला की और भी सौन्दर्य-वृद्धि हो जाती। किन्तु, लेखक ने स्वयं ही इसे 'आख्यायिका' कहा है और आख्यान-लेखक को हम प्रायः रंगमंच पर स्वगत कहते देखते हैं। इस दृष्टि से कहानी अपने युग की परम्परा का प्रतिबिम्ब, अतएव अनवद्य है।

आचार्य शुक्लजी का जन्म संवत् १९४१ की आश्विन-पूर्णिमा को ग्राम अगोना, डाकघर कलवारी, जिला बस्ती में हुआ था। सन् १८९२ में वे अपने पिताजी के साथ मिर्जापुर आये। वहाँ १८९८ में उन्होंने मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। वे सदा अपनी कक्षा में प्रथम रहे। मिर्जापुर में उनका सत्संग पंडित विन्ध्येश्वरी प्रसाद तथा बाबू काशी-प्रसाद जायसवाल से और काशी में केदारनाथ पाठक से हुआ। पढ़ने का उन्हें व्यसन था। अतः सन् १९०१ ई० में लंदन मिशन स्कूल से एण्ट्रेंस परीक्षा पास करके ये प्रयाग गये; पर घर की कुछ समस्याओं के कारण प्रयाग की कायस्थ-पाठशाला में एफ्० ए० में नाम लिखाकर भी उन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। सन् १९०६ ई० में उन्होंने वकालत की परीक्षा की; पर सफल न हो पाये। फिर मिशन स्कूल में सन् १९०८ ई० तक अध्यापक रहे और वहाँ से सन् १९०८ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कोश के सहायक सम्पादक बनाकर बुलाये गये। उसी समय काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में निबन्ध-शिक्षक के रूप में उनकी नियुक्ति हुई और फिर हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक और सन् १९३७ ई० में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बने। २ फरवरी, १९४१ ई० को सहसा हृद्गति बन्द हो जाने से उनका काशी में देहावसान हो गया।

उनकी रचनाओं में 'हास्यविनोद' (नाटक, अप्राप्य); पृथ्वीराज नाटक (दो अङ्क केवल); अपने सहपाठी मित्रों पर व्यंग्य-कविताएँ; 'सरस्वती', 'समालोचक' आदि पत्रों में अनेक कविताएँ; 'इंडियन पिपल' और 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में अनेक अँगरेजी लेख; अनेक ग्रन्थों का अनुवाद; सूर, तुलसी और जायसी पर विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ; अनेक निबन्ध ('चिन्तामणि' तथा 'विचार-वीथी' में संकलित); तुलसी-ग्रन्थावली, जायसी-ग्रन्थावली तथा सूर के भ्रमर-गीत का सम्पादन, हिन्दी-साहित्य का इतिहास आदि प्रसिद्ध हैं।

—मासिक 'साहित्य-सन्देश'[1] (आगरा); श्रीशुक्ल-स्मृति-अंक, सन् १९४२ ई०

●

१. यह लेख काशी के मासिक 'बासन्ती' में भी उद्धृत हुआ था। देखिए—वर्ष १, अंक ९; भाद्रपद संवत् २०१२ वि० (अक्तूबर, १९५५ ई०)।

'लालतारा' : एक दृष्टि

हिन्दी का जो नया साहित्य प्रतिदिन तैयार होता जा रहा है, उसमें कभी-कभी कुछ ऐसी अच्छी चीजें भी निकल आती हैं, जिनसे साहित्य के भाण्डार की शोभा बढ़ती नजर आती है। साहित्य की शोभा उसी पुस्तक से बढ़ती है, जो भाषा और भाव की दृष्टि से सुन्दर तथा उपयोगी होती है।

ऐसी ही पुस्तक अभी हाल में पटना के अजन्ता प्रेस से नई निकली है—श्री बेनीपुरीजी की कहानियों या कल्पना-कणों का संग्रह 'लालतारा'। इस पुस्तक का यह दूसरा संस्करण गत मास बड़े आकर्षक रूप में प्रकाशित हुआ है। पहला संस्करण आज से ग्यारह वर्ष पहले निकला था। लेकिन, एक दशाब्दी के बाद भी यह चीज नई ही है। भविष्य में भी इनकी चिर-नवीनता बनी ही रहेगी।

कोई रचना तभी चिर-नवीन समझी या मानी जाती है, जब उसकी भाषा-शैली सजीव, भाव-व्यंजना-शैली चमत्कारपूर्ण और वर्णन-शैली चित्ताकर्षिणी होती है। साथ ही, उसका विषय शाश्वत होना चाहिए, उसके विचार चिरंतन होने चाहिए और उसका उद्देश्य भी जन-मन-रंजन के साथ-साथ लोक-कल्याणकारी होना अत्यावश्यक है।

इसी दृष्टि से मैंने 'लालतारा' को चिर-नवीन कहा है; क्योंकि इसमें उपर्युक्त गुणों के दर्शन होते हैं। भाषा तो इसकी चपल खंजन की तरह फुदकती चलती है, उसमें लक्षणा और व्यंजना की मात्रा भी काफी है, वर्णन-कौशल भी उचित मात्रा में ही है। कुछ उदाहरण देखिए—

पहली कहानी में, जिस पर पुस्तक का नामकरण हुआ है, एक पंक्ति है—'खपरैल के बीच-बीच फूस है, ठीक उसी तरह, जैसे उसकी स्त्री की पुरानी चूनर में ननकिलाट के पेबन्द।'

तीसरी कहानी 'हलवाहा' में यह पंक्ति—'तेरी तरह पूँछ तो बहुत हिलाई, अब जरा सींग फटकारने की अकल भी मुझे दे···ओ मेरे जीवनसंगी!'

चौथी कहानी 'पनिहारिन' में भी—'मेरे सिर पर पानी का घड़ा है, मेरी छाती पर अमृत के कलसे हैं। जो मेरा पानी पीता रहा है, उसका बच्चा ही मेरे अमृतकलश का सुधारस पीयेगा। इस अमृतकलश का सम्बन्ध भी तो मेरी उदर-दरी से है, जिसे भरने के लिए रोज एक मुट्ठी अन्न चाहिए। जिनके पेट के लिए एक मुट्ठी अन्न की व्यवस्था नहीं, उनके हृदय में प्रेम का यह पारावार क्यों लहराया गया?'

फिर कहती है—'भगवन्! मुझसे यह गागर नहीं ढोई जाती···मेरी रक्षा करो। या तो मेरे सिर से यह गागर उतारो या अपनी यह विराट् गागर—विश्व—को फोड़ दो। नहीं फोड़ोगे? ··तो, यह एक दिन फूटेगी ही। याद रखो—छोटी कंकड़ी की चोट से बड़ी-बड़ी गागरें फूट चुकी हैं।'

पाँचवीं कहानी 'जीवन-तरु' सबसे बड़ी है। इसका एक स्थल देखिए—'यह गाँव किसानों का है। छोटे-छोटे किसान; लेकिन संपन्न, खेती में थोड़ी मेहनत, ज्यादा उपज!

फिर, लोगों के जीवन में मस्तानापन क्यों न दिखे ?...लेकिन वह मस्तानापन नहीं, जो शहरों में भड़कीली पोशाक, सिर पर झबरीले बाल, चेहरे पर नजाकत और नफासत एवं मधुशाला और मधुबाला की चसक आदि के रूप में दीख पड़ता है। गाँवों के मस्तानापन का रूप है कुश्ती लड़ना, भंग छानना, घोड़े और मेढ़े पालना, बाँस की लाल लाठियाँ लेकर झूमते हुए मेले-ठेले में जाना या ढोलक-मंजीरे लेकर दरवाजे पर ही रागों की टाँग तोड़ना।'

इस पुस्तक में केवल कहानियाँ ही नहीं हैं, कुछ उमंग-तरंग, कुछ सूझ-बूझ और कुछ स्फुट विचार भी हैं, जो कहानियों के ही लिबास में सामने आते हैं। उनका अभिनय वास्तव में दर्शनीय है।

सातवीं रचना 'हँसिया-हथौड़ा' की इन पंक्तियों पर ध्यान दीजिए—"हँसिया-हथौड़ा संसार-रथ के दो पहिए हैं। दोनों बढ़ रहे थे। हँसिया—'दुनिया को दिखा दूँगी, मैं संचय की ही देवी नहीं, संहार की धात्री भी हूँ।' हथौड़ा—'निर्माण का कार्य हमसे खूब लिया गया। दुनिया अब जरा हमारा प्रहार भी देखे।"

आठवीं रचना 'कुदाल' की ये पंक्तियाँ भी स्वयं बोलती हैं—'आज वह रत्नगर्भा की छाती देखकर किस रत्न को अतल से निकालना चाहता है? देवों-दानवों ने जल-तल के सभी रत्न प्राप्त कर लिये—उच्चैःश्रवा, ऐरावत, लक्ष्मी, अमृत। थल-तल के अछूते रत्न आज पहली बार सृष्टि का प्रकाश देखेंगे। उसके पसीने की बूँदों की तरह रत्न जगमगा उठेंगे—चकमक, झलमल। आज उसने इसीलिए कुदाल उठाई है।'

नवीं रचना 'डुगडुगी' एकांकी नाटक है। इसमें जो दृश्य अंकित हैं, वह आज के युग का एक स्वाभाविक चित्र उपस्थित करता है। एक बूढ़ा किसान अपनी सयानी-सुहानी बेटी 'सोना' का पत-पानी बचाने के लिए आत्म-बलिदान करता है, जिसकी बहादुरी का नमूना आज भी देहात में मिलता है। खासकर ग्रामीण पाठकों के लिए यह बड़ी ओजस्विनी रचना है। यों तो बेनीपुरीजी की अनेक रचनाओं में प्रायः ग्राम्य दृश्यों और घटनाओं के बड़े अनूठे वर्णन मिलते हैं; पर विशेषतः इस पुस्तक में अधिकतर सामग्री प्रकृति के विशाल क्षेत्र और ग्राम-जगत् से ही ली गई है।

दसवीं रचना है 'गेंदा'। ग्यारहवीं 'हरसिंगार' और बारहवीं 'गुलाब' है। भला इन फूलों को अनुभूतिशील लेखक ने कितनी बारीक निगाह से देखा है! 'गेंदा' की इन पंक्तियों में एक शाश्वत भावना मुखरित है—"उस दिन फूलों की मजलिस जुटी थी। नाना रंग, नाना ढंग के वस्त्राभूषणों से सजे पुष्पकुमार और कुसुम-कुमारियाँ एकत्र हुई थीं। एक गम्भीर सवाल आ गया था। हेमंत आ रहा था। इसके बाद ही शिशिर का प्रारंभ होगा। इस निष्ठुर हेमंत में, इस दारुण शिशिर में, क्या पृथ्वी पुष्पशून्य रहेगी? क्या ऐसा होना पुष्पकुल के लिए शोभनीय होगा? पुष्पराज ने कहा—'कुमारियो, कुमारो, अब मैं जानना चाहता हूँ; हममें से कौन वह बड़भागी है, जो इस गाढ़े अवसर पर पुष्पकुल की मर्यादा रखेगा? जो पुष्पकुल के रत्नरूप थे, उनकी ओर लोग एकटक देखने लगे। यह हैं कमल—पुष्पकुल के सर्वश्रेष्ठ पुत्र, जिनकी कीर्ति-कथा गाते-गाते कविकुल की वाणी नहीं थकती। यह हैं गुलाब, कमल के छोटे भाई, किन्तु उनसे भी ज्यादा जनप्रिय, बहुप्रशंसित! यह हैं

चंपारानी, जिनका रंग देख-देख संसार की कामिनियाँ अपनी हीनता अनुभव करती हैं। उम्मीद थी, ये लोग आगे बढ़कर अपने साहस से सबको चकित कर देंगे। किन्तु यह क्या? यह श्मशान का सन्नाटा था। पुष्पराज ने कहा—शर्म की बात है, डूब मरने की बात है। उस कुल को पृथ्वी में रहने का कोई हक नहीं, जो इस प्रकार नपुंसकता दिखलावे। जिस वंश के लोग केवल बगीचे खोजें, रंगमहल खोजें या हरे जंगल का नग्न-शृंगार खोजें, वह वंश दुनिया में टिक नहीं सकता। सब सुनकर गड़े जा रहे थे आत्मग्लानि से। उसी समय एक तरफ से आवाज आई—इस तरह मत बोलिए पुष्पराज, पुष्पकुल में केवल नाजनीन छोकरियाँ और नाजुकबदन अलबेले ही नहीं रहते। मैं तैयार हूँ हेमंत से मुकाबला करने को, शिशिर की चुनौती स्वीकार करने को। उसके जर्द चेहरे पर अभिमान की लाली थी। समूची मजलिस में जयध्वनि होने लगी। वह कौन था? हम उसे गेंदा कहते हैं। वह अमर फूल है। वह अमरता, जो कष्टसहन, त्याग और बलिदान से ही मिलती है।"

सज्जनो! क्या ऐसी ही पैनी दृष्टि से आपने गेंदा को कभी देखा है? यह तो बेनीपुरीजी की ही मर्मभेदिनी दृष्टि है, जिसने गेंदा में जनकपुर की रंगभूमि के 'लखन लाल' की झाँकी देख ली और दिखा भी दी। सचमुच, सच्चे कलाकार की आँखें बहुत गहराई तक पैठती हैं।

कहीं-कहीं उक्तियाँ भी बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं और, भाषा की सादगी में भी खासी खूबसूरती है। जैसे, ग्यारहवीं रचना 'हरसिंगार' में—'समूचे थाल में उजली-उजली खीलें बिखरी हैं, जिनकी जड़ों में लालिमा चमक रही है। लाली, जिसकी जड़ में हो, वह उजलापन। रक्तदान से ओतप्रोत उज्ज्वल बलिदान।'

पुनः—

'गाँव-भर की बच्चियों की भीड़ आज मेरे आँगन में लगी हुई है। आज मेरे आँगन में फूलों की हाट लग रही है। अजीब खरीद-फरोख्त। सौदागरन आज लुटाने पर तुली है, भोली खरीदारन आँचल भरने पर। भाव-ताव का नाम नहीं।'

'गुलाब' शीर्षक रचना में एक चिरंतन भाव या विचार बड़े कलात्मक ढंग से व्यक्त किया गया है। ऐसे ही भाव लोकमंगलकारी होते हैं। गुलाब कहता है—

'बहुत दिन गुजरे, तुम्हारे एक आदमी के सर पर किसी ने काँटों का ताज रख दिया। आजतक तुम उसकी गाथा-कथा कहते-सुनते चले आते हो। वह तुम्हारा शहीद-शिरोमणि हो गया। किन्तु, मेरी ओर देखो, मैं तो खुद काँटों का ताज हूँ—अनगिनत काँटों के ऊपर खिला, हँसता-विहँसता। उनके सिर पर काँटे थे—मैं काँटों के सिर पर हूँ। सिर पर काँटा रखना बड़ा करतब है या काँटों के सर पर रहना? तुम्हीं सोचो। और, रहना ऐसा कि न होठों की हँसी में कमी आये, न मुँह की लाली में। उस हालत में भी अपनी गुणगाथा का उन्मुक्त हाथों वितरण करना।'

यद्यपि इस पुस्तक की प्रत्येक रचना का विषय भिन्न है, तथापि कोई विषय ऐसा नहीं, जिसकी सचाई में कभी बट्टा पड़े। कठोर सत्य में भी एक अजीब मिठास है। कहने के ढंग में एक निराली खूबी है।

चौदहवीं रचना 'जवानी' की जवानी यह सुनिए—"मैं सीमाओं को तोड़ूँगा, बन्धनों को काटूँगा, मैं संसार को छा लूँगा—उसपर अपना रंग चढ़ाकर छोड़ूँगा। तुम्हारी हरी-भरी दुनिया डूबती है, डूबने दो; तुम्हारे शत-सहस्र वर्षों के परम्परा-वृक्ष उखड़ते हैं, उखड़ने दो। अजी, संसार आपादमस्तक हरा-भरा हो, इसके लिए कुछ हरे पौधों को खाद बनना ही होगा। यह ठूँठ रूख गिरेगा नहीं, तो नये बिरवे पनपेंगे कैसे? फिर ईंधन भी तो चाहिए ही। हमारे नये भवन के लिए लकड़ियाँ कहाँ से आएँगी?"

अंतिम रचना 'दीपदान' में लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट है—'महलों पर शत-सहस्र दीप-मालिकाएँ देख, वह बोल उठे—वाह! किन्तु, मैंने ज्योंही उस ओर नजर की, मेरी आँखें झिप गईं। मेरी पगली पुतलियों ने कुछ विचित्र ही दृश्य देखा। मनुष्य की कलेजी को काट-कूट कर दीये बनाये गये हैं, उसमें उनका हृदय-रक्त भर दिया है, उनके अरमानों की बत्ती बनाई गई है, जो बिना दियासलाई लगाये ही निर्धूम जल रही है।'

इस तरह के अनेक उदाहरण देकर इस पुस्तक की और भी कितनी ही विशेषताएँ बतलाई जा सकती हैं। जैसे, इसकी एक सराहनीय विशेषता है—लोकभाषा के अर्थगर्भित शब्दों का उपयुक्त प्रयोग। ऐसे जनप्रिय शब्दों की योजना इतनी सहृदयता के साथ की गई है कि वाक्यगत भाव सहज ही मुखर हो उठता है। जनता की बोल-चाल की भाषा से सारगर्भ शब्दों का चुनाव करके लेखक ने हिन्दी की शब्द-संपत्ति के साथ-साथ व्यंजना-शक्ति भी बढ़ाई है।

भारत की वास्तविक जनता जिन गाँवों में रहती है, उन गाँवों की कोई ऐसी चीज ही नहीं, जिस पर लेखक की मार्मिकतापूर्ण दृष्टि न पड़ी हो। देहाती शृंगार रस, देहाती करुण रस, देहाती वीर रस आदि के वर्णन अथवा चित्र इतने सुहावने हैं कि कहीं ग्राम्यदोष नहीं आने पाता, यह बेनीपुरीजी की सुरुचि तथा रसज्ञता का बोधक है।

पहली ही कहानी की दो सीधी-सादी पंक्तियाँ देखिए—'इस गाँव के कितने ही स्थल हैं, जहाँ पर उसके प्रणय-चिह्न अदृश्य कूचियों से अंकित हैं—बाबुओं की अमराई, तालाब का कछार, सरसों के खेत, गाँव की अँधेरी गलियाँ।'

भाषा कहीं भी अलंकार-भार से बोझिल नहीं है, फिर भी वह अलंकृत-सी ही लगती है। मुहावरे भी अपनी जगह पर खूब फबते हैं। लेखक का लक्ष्य या उद्देश्य या सिद्धांत ठौर-ठौर की उक्तियों और सूक्तियों में व्यंजित होता-सा जान पड़ता है। लोक-संग्रह की भावना तो सर्वत्र प्रत्यक्ष है। रसिकता यदि उमड़ती भी है, तो मर्यादा को नहीं लाँघती। लेखक की मस्ती हर जगह झलकती है।

बेनीपुरीजी ईश्वरदत्त प्रतिभा के धनी हैं। वर्त्तमान बिहार के गद्यकारों में हिन्दी-संसार का ध्यान आकृष्ट करनेवाले, सबसे सफल और अग्रणी वे ही हैं। उनका 'लाल-तारा' भी साहित्याकाश में क्रांति की लाली लिये चमक रहा है, इसलिए प्रगति के पथ पर उसकी रोशनी मीठी लगती है।

—साप्ताहिक 'हुङ्कार' (पटना); २१ अगस्त, सन् १६४६ ई०

•

भारतेन्दु-अर्द्धशताब्दी[1]

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र सन् १८८५ ई० की छठी जनवरी को गोलोकवासी हुए थे। अतएव, सन् १६३५ ई० की छठी जनवरी को उनकी पचासवीं निधन-तिथि पड़ेगी। इस प्रकार, भारतेन्दु-अर्धशताब्दी-महोत्सव के लिए अब कुल नव महीने का समय है। किन्तु, हिन्दी-संसार में अभी तक इस बात की कहीं कोई चर्चा नहीं हो रही है।

देश के सिर पर संकटों का झुण्ड मँड़राता ही रहता है। बरसों से नाना प्रकार की सार्वजनिक और सार्वदेशिक विपत्तियाँ आ रही हैं। फिर भी धर्म, समाज, साहित्य और राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाले सारे काम किसी-न-किसी रूप में होते ही जा रहे हैं। ऐसी दशा में इस बात की उपेक्षा करने का कोई विशेष कारण नहीं है।

अभी तक समय हाथ से निकला नहीं है। भारतेन्दु-अर्धशताब्दी का महोत्सव काशी में ही मनाया जाना चाहिए। अन्य स्थानों में भी छोटे-बड़े उत्सव हो सकते हैं, पर अखिल भारतीय समारोह काशी में ही होना उचित है। यों तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समस्त हिन्दी-संसार के हैं, पर काशी की उनपर विशेष ममता है।

सुना है कि भारतेन्दुजी की सारी रचनाओं को सुसम्पादित ग्रन्थावली के रूप में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा प्रकाशित करनेवाली है। अभी इतना समय है कि अगले दिसम्बर तक भारतेन्दु की सारी रचनाएँ पुस्तकाकार में तैयार हो जायँ। 'सभा' ही हिन्दी की सबसे अधिक प्रतिष्ठित और विश्वसनीय संस्था है। आज तक जितने बड़े कामों में उसने हाथ डाला, सबमें उसे सफलता ही मिली।

गतवर्ष अजमेर में आर्यसमाजी भाइयों ने बड़े उत्साह से श्रीमद्दयानन्द-अर्धशताब्दी मनाई। उसी प्रकार कलकत्ता में बंगाली भाइयों ने राममोहन-शताब्दी मनाई। अजमेर और कलकत्ता में जो कुछ हुआ, उसका कार्यक्रम अभी ताजा है। योजना तैयार करने में उससे सहायता ली जा सकती है।

---

१. इस लेख के कुछ अंश, असामयिक होने से, निकाल दिये गये हैं।—लेखक

बहुत दिनों से सुनने में आ रहा है कि भारतेन्दुजी के दौहित्र और हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री ब्रजरत्नदास ने भारतेन्दुजी की एक सर्वाङ्गपूर्ण प्रामाणिक जीवनी लिखी है, जो प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकाडमी' के दफ्तर में अप्रकाशित[1] पड़ी है। यदि वह इन नव महीनों के अन्दर प्रकाशित हो गई, तो अर्धशताब्दी-महोत्सव के अवसर पर निस्सन्देह एक अच्छी चीज होगी, पटना के खड्गविलास प्रेस से जो भारतेन्दु-जीवनी निकली है, उसके लेखक स्वर्गीय श्री शिवनन्दन सहाय ने बरसों परिश्रम और छान-बीन करके उसका परिष्कृत एवं परिवर्द्धित संस्करण[2] तैयार किया था। उसका प्रकाशन भी अर्ध-शताब्दी के समय तक अवश्य हो जाना चाहिए।

बंगाली भाइयों का उत्साह और साहित्यानुराग देखिए कि राजा राममोहन राय की सम्पूर्ण ग्रन्थावली प्रकाशित करने के लिए वे कितना बड़ा आयोजन कर रहे हैं। कलकत्ता की वंगीय साहित्य-परिषद् ने उसके प्रकाशन के लिए कम-से-कम तीन साल का समय निश्चित किया है। स्वनामधन्य सम्पादकाचार्य श्री रामानन्द चटर्जी उसके प्रधान सम्पादक बनाये गये हैं। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी आदि यशस्वी विद्वान उसके सहकारी सम्पादक हैं। राजा राममोहन राय ने संस्कृत, हिन्दी, बँगला, फारसी, अँगरेजी आदि भाषाओं में जितनी चीजें लिखी हैं, सबकी खोज हो रही है और लन्दन के ब्रिटिश-म्यूजियम तक में अनुसन्धान कराया जा रहा है। राजा साहब की एक-एक चिट्ठी-पत्री तक का संग्रह किया जा रहा है। गत बड़े दिन की छुट्टियों में, राममोहन-शताब्दी के अवसर पर, 'अमृतबाजार-पत्रिका' में इसका पूरा विवरण प्रकाशित हुआ था। उससे भी लाभ उठाया जा सकता है। क्या हम हिन्दी-भाषी अपने बंगाली भाइयों से किसी विषय में कुछ शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकते? अपने साहित्य-विधाताओं का सम्मान करना हमारा प्रधान कर्त्तव्य है।

साहित्यिक आन्दोलनों के सफल कर्णधार पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी को अपने लोकप्रिय प्रतिष्ठित पत्र 'विशाल भारत' द्वारा भारतेन्दु-अर्धशताब्दी का आन्दोलन शुरू करना चाहिए। जैसे उन्होंने भारत-मित्र-जयन्ती और वसन्तोत्सव का आन्दोलन चलाया है, वैसे ही इसको भी सहारा दें। उन्हें बड़ी अच्छी स्कीमें भी सूझती हैं और साहित्य-निर्माताओं के सम्मान में उनकी विशेष अभिरुचि भी है। यदि अगले साल का आरम्भ होते ही अर्ध-शताब्दी न मनाई जा सकी, तो काशी के निवासी और समस्त देश के हिन्दी-भाषा-भाषी फिर आगे आनेवाले पचास वर्षों तक पछताते रहेंगे।

—दैनिक 'आज' (काशी); १५ मार्च, १९३४ ई०

●

१. अब वह पुस्तक वहीं से प्रकाशित हो चुकी है।—लेखक

२. यह संवर्द्धित संस्करण नहीं प्रकाशित हुआ। इसे मैंने स्वयं देखा था। अब यह अप्राप्य है।
—लेखक

काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा और बाबू श्यामसुन्दर दास

इस सभा का जन्म ता० १६ जुलाई (सन् १८६३ ई०) को हुआ था। इसके जन्मदाता हैं बाबू श्यामसुन्दर दास, पंडित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह। इसके निरन्तर आन्दोलन करने पर संयुक्त-प्रान्त की सरकार ने ता० २१ अप्रैल (सन् १६०० ई०) को देवनागरी-लिपि को कचहरियों की लिपि स्वीकार की थी।

हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों की खोज के लिए संयुक्त-प्रदेश की सरकार ने सन् १६०० ई० में इसको ४००) रुपये दिये थे। फिर १६०१ ई० से ५००) रुपये वार्षिक देने लगी। सन् १६१६ ई० से यह रकम १०००) रुपये वार्षिक हो गई, और सन् १६२२ ई० से अब २०००) वार्षिक मिलता है। इस खोज की रिपोर्ट भी छपी है। साथ-साथ सभा ने प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया है। अबतक ३२ प्राचीन ग्रन्थ निकल चुके हैं।

सन् १६०८ ई० में एक 'हिन्दी वैज्ञानिक कोश' भी सभा ने निकाला था, जिसका संशोधित और संवर्द्धित संस्करण पुनः तैयार हो रहा है। 'हिन्दी-शब्द-सागर' अभी हाल में तैयार हुआ है। इसका प्रस्ताव पहले-पहल सन् १६०७ ई० में 'मिष्टर ग्रीव्ज' ने किया था। शुरू में पं० बालकृष्ण भट्ट (स्व०), पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू रामचन्द्र वर्मा, बाबू जगन्मोहन वर्मा (स्व०), बा० अमीर सिंह (स्व०) और लाला भगवान 'दीन' को यह कार्य सौंपा गया था। ये लोग उप-सम्पादक थे और मुख्य सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास। बीस वर्षों के निरन्तर परिश्रम के बाद यह कोश इस साल तैयार हुआ है। इसकी तैयारी में एक लाख चार हजार रुपये लगे हैं। इसमें ४००० से भी अधिक पृष्ठ और ९३,११५ शब्द हैं।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य के अलावा सभा ने मनोरंजन-पुस्तकमाला, सूर्यकुमारी-पुस्तकमाला, देवीप्रसाद-ऐतिहासिक ग्रन्थमाला और बाला-बख्श-ग्रन्थमाला आदि का प्रकाशन भी बड़े अच्छे ढंग से किया है। शाहपुरा के महाराजकुमार उम्मेद सिंह जी ने अपनी स्वर्गवासिनी धर्मपत्नी के नाम पर सूर्यकुमारी पुस्तकमाला के लिए २०,०००) रुपये दिये थे। फिर जोधपुर के स्वर्गीय मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ ने भी ऐतिहासिक पुस्तकमाला के लिए १२,२५०) दिये थे। इन रुपयों से हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपकार हो रहा है।

अबतक संयुक्त-प्रदेश की सरकार ने सभा को ६४,६२३) की सहायता दी है। प्रयाग के सर तेज बहादुर सप्रू ने भी सभा-भवन में बिजली की रोशनी और पंखे लगवाने के लिए २४५०) रुपये के लगभग सहायता दी है। कुछ नरेशों और हिन्दी-प्रेमियों के दान की रकम भी उल्लेखनीय है—रीवाँ-दरबार ४४००), बर्दवान-नरेश २०००), कोटा-नरेश २०००), काशी-नरेश २०००), स्व० राजा कमलानन्द सिंह २०००), स्व० चिन्तामणि घोष (इण्डियन प्रेस, प्रयाग) २०००), छत्रपुर-दरबार १३००), बीकानेर-नरेश १०००), स्व० अयोध्या-नरेश १०००), नेपाल-नरेश १०००), नाथद्वारा के महन्थजी १०००) रुपये।

अब सभा के वर्त्तमान दो-मंजिले भवन के पिछवाड़े जो नया भवन बनने जा रहा है, जिसकी नींव गत वसंत-पंचमी के दिन पूज्य मालवीय जी ने रक्खी है, उसके लिए ४०००) रुपये पर जमीन खरीदी जा चुकी है। वहाँ ६० फुट चौड़ा और १०० फुट लम्बा एक हॉल बनेगा, जिसके चारों ओर दूसरी मंजिल पर १२ फुट चौड़ी गैलरी रहेगी। इसके लिए काशी के रईस रायकृष्ण जी ने अपना १५,०००) की लागत का एक मकान भी, जो इसकी जमीन के एक कोने में पड़ता है, सभा को विना मूल्य दे दिया है। इस नई इमारत के लिए सभा ने ७८,०००) का खर्च कूता है, जिसमें से ५८,०००) रुपये के लिए युक्तप्रान्त की सरकार से अपील की गई है और शेष २०,०००) रुपये पबलिक-चंदे से जुटाने का उद्योग हो रहा है।

सभा के वर्त्तमान भवन की नींव सन् १६०२ ई० के दिसम्बर में काशी-नरेश ने रक्खी थी। उस समय १०७ फुट लम्बी और १३४ फुट चौड़ी जमीन ३५००) में खरीदी गई थी। इसी जमीन पर यह भवन बना है। सन् १६०४ ई० के आरम्भ में संयुक्त-प्रान्त के तत्कालीन छोटे लाट सर जेम्स लाटूश ने इस भवन का उद्घाटन किया था। उस समय यह एक ही मंजिल का बना था और इसके बनाने में ३१,५००) रुपये खर्च हुए थे। फिर गत वर्ष युक्तप्रान्तीय सरकार ने भवन को दो-मंजिला बनवाने के लिए २३,०००) रुपये की सहायता दी। किन्तु दो-मंजिला बनवाने में खर्च हुए हैं २८,०००) रुपये। और, भवन को नये ढंग से सुसज्जित करने के लिए ६०००) के नये-नये फरनीचर (लकड़ी के असबाब) भी खरीदे गये हैं। बिजली की रोशनी और पंखे भी लग चुके हैं। आज इस भवन की शोभा अपूर्व है। हिन्दी की ऐसी सर्वाङ्गसुन्दर संस्था देखकर छाती फूल उठती है।

आज इस सभा के आर्य-भाषा-पुस्तकालय में १०,००० से भी अधिक हिन्दी की छपी पुस्तकें हैं, और २०० से अधिक हस्तलिखित तथा १६०० से अधिक विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थ हैं। इस आर्यभाषा-पुस्तकालय की स्थापना बाबू गदाधर सिंह ने की थी। उन्होंने उस समय अपनी २००० पुस्तकें इसमें दी थीं। फिर श्रद्धेय पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने भी अपना अमूल्य ग्रंथ-संग्रह इस पुस्तकालय को दे दिया। अब ऊपरी मंजिल के एक बड़े कमरे में हिन्दी-म्यूजियम खोलने का आयोजन हो रहा है। भवन की पिछली मंजिल में हिन्दी-प्रेमियों और साहित्य-सेवियों के ठहरने के लिए अतिथि-शाला भी बनाई गई है। सभा-भवन में साहित्य-सेवियों और हिन्दी-प्रेमियों के फोटो तथा तैलचित्रों का भी दर्शनीय संग्रह है।

वास्तव में यह सभा हिन्दी-संसार की वंगीय-साहित्य-परिषद् है। इसके विशाल भवन और इसके विशाल कार्यों को देखकर बड़ा संतोष और गर्व होता है। हिन्दी का उपकार इसके बराबर किसी संस्था ने शायद ही किया होगा। आज जिस साहित्य-सम्मेलन की बदौलत सारे भारतवर्ष में हिन्दी की तूती बोल रही है, उसकी जननी भी यही सभा है। इसी के उद्योग से सन् १६१० ई० में, महामना मालवीयजी की अध्यक्षता में सम्मेलन का पहला अधिवेशन हुआ था। हिन्दी की प्राचीन एवं प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका 'सरस्वती' भी इसी सभा के उद्योग एवं परामर्श से प्रकाशित हुई थी। फिर तुलसीकृत रामायण का

संशोधित एवं सुसम्पादित प्रामाणिक संस्करण भी सभा के उद्योग से ही निकला था। हिन्दी का एक बृहत् और प्रामाणिक व्याकरण भी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है। आज जो प्राचीन शोधपूर्ण त्रैमासिक पत्रिका सभा से निकल रही है, वह हिन्दी में पुरातत्त्व और इतिहास-विषयक बस एक ही पत्रिका है, जो अँगरेजी के रिसर्च-जर्नलों के सामने भी रखी जा सकती है।

यह 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' पहले-पहल सन् १८९६ ई० में निकली थी। उस समय भी इसका त्रैमासिक ही रूप था। किन्तु, ग्यारह साल के बाद यह मासिक रूप में निकलने लगी। जब हिन्दी-संसार में मासिक पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई, तब फिर इसने अपना पूर्व-रूप ग्रहण कर लिया और सन् १९१० ई० से त्रैमासिक हो गई; किन्तु इस बार इसने केवल खोज और इतिहास को ही अपनाया है, जिसकी हिन्दी में बड़ी जरूरत थी

इस प्रकार, सभा द्वारा हिन्दी-हितार्थ अनेक बड़े ही ठोस काम हुए हैं और हो रहे हैं तथा आगे भी होंगे। ऐसी संस्था की यथाशक्ति सहायता करना प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी का कर्त्तव्य है।

धन्य हैं बाबू श्यामसुन्दर दास, जिनके एकान्त परिश्रम, सच्ची लगन और अदम्य उत्साह का यह परिणाम है। गत वसंत-पंचमी को 'हिन्दी-शब्दसागर' की समाप्ति पर बड़े समारोह से जो कोशोत्सव मनाया गया था, उसमें प्रथम ही दिन विद्वद्वर डॉक्टर भगवान दासजी, एम्० ए० ने बहुत ठीक कहा था—

"आपके यहाँ कई प्रकार के मेध—जैसे अजमेध, महिषमेध, अश्वमेध, गोमेध और नरमेध इत्यादि हुआ करते थे, जिनमें से 'अजमेध' आज दिन भी कभी-कभी हो जाता है। 'अजापुत्रं बलिं दद्यात्'। पर इन सबसे अधिक आवश्यक 'नरमेध' है, जो उठ गया है। कैसा नरमेध? दूसरे नर का हनन नहीं, अपने प्राण का होम-हवन—आत्मत्याग। बिना यज्ञ के किसी बड़े कार्य में सफलता नहीं मिलती। नरमेध-यज्ञ से ही भारतवर्ष के पुनरुद्धार का कार्य हो सकता है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की उन्नति श्री श्यामसुन्दर दासजी के नरमेध का—आत्मबलि का—फल है। किसी काम में यदि एक आदमी भी तन-मन से लगा रहे, तो वह अवश्य ही पूरा होता है। कारण, उसकी लगन से प्रेरित होकर दूसरे लोग उसके सहायक होते हैं। ऐसा योगदर्शन में कहा है कि जो स्वाध्याय में तन-मन देता है उसको सिद्ध लोग दर्शन देते हैं, उसके कार्य में सहायता देते हैं। सो, श्यामसुन्दर दासजी को निरन्तर नागरी-स्वाध्याय में निरत देखकर उस विद्या के सिद्ध—जैसे गौरीशंकर हीराचंदजी, स्व० महामहोपाध्याय सुधाकरजी आदि अनेक सज्जनों ने इनकी सहायता की है। ....भाषा के एक-एक शब्द में सभ्यता का इतिहास भरा रहता है। यही कारण है कि लोग अपनी-अपनी भाषा को दाँतों से पकड़े रहते हैं। इसलिए, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा यदि वाणी पर अधिक जोर दे, तो उचित ही है। जिससे हमारी बोली मिलती है, उससे हमारा मन मिलता है। जिसकी बात हमारी समझ में नहीं आती, उसका हृदय भी हमारी समझ में नहीं आता—उसपर अविश्वास ही रहता है। इससे

एक बोली का प्रचार एका बढ़ाने का अच्छा प्रकार है। हिन्दू-समाज में एका बढ़ाने के लिए हिन्दी का प्रचार ठीक ही है।"

डाक्टर भगवानदासजी के इस भाषण से सभा के जन्मदाता बाबू श्यामसुन्दर दासजी के आत्मत्याग की महिमा स्पष्ट झलकती है। किन्तु, पं० रामनारायण मिश्र के निम्नलिखित वाक्यों से बाबू साहब के आत्मत्याग का गौरव और भी बढ़ जाता है। कोशोत्सव में भाषण करते हुए मिश्रजी ने कहा था—

"नागरी-प्रचारिणी-सभा और श्यामसुन्दर दास पर्यायवाची शब्द हो गये हैं। एक का नाम लीजिए, दूसरा याद आता है। सभा ने एक बार निश्चय किया था कि उनको शब्द-सागर के लिए पाँच हजार रुपये दिये जायँ। उसको उन्होंने तुरन्त अस्वीकार किया।"

कोश का जिक्र करते हुए मिश्रजी ने पुनः कहा था—"हिन्दी-भाषा का अकारादि क्रम से पहला कोश रोमन-अक्षरों में सन् १७७३ ई० में लन्दन में छपा था। इसको 'फर्गुसन' नामक एक सज्जन ने तैयार किया था। इसके बाद कई और कोष छपे—एक पेरिस में, एक मद्रास में और एक लन्दन में। देवनागरी-अक्षरों में पहला कोष 'पादरी एडम' ने तैयार किया था, जो सन् १८२६ ई० में कलकत्ता में प्रकाशित हुआ था। यह बात सौ वर्ष पहले की है। फ्लैन, प्लैटस, बेट आदि अँगरेज सज्जनों ने इसके अनन्तर अपने-अपने कोश छपवाये। उनमें से दो-एक अच्छे भी थे; परन्तु बृहत् रूप से कोश-सम्पादन करने की आयोजना में सफलता नागरी-प्रचारिणी सभा को ही हुई। शायद ही किसी दूसरी भाषा के पहले कोश में इतनी सफलता हुई हो। सभा के संचालकों ने परमेश्वर के नाम पर इसको आरम्भ करने का साहस किया था। पहला चन्दा १०००) रुपये का स्वर्गवासी सर सुन्दरलालजी ने उदारतापूर्वक दिया था। इस रुपये के आते ही काम शुरू कर दिया गया और आज आपकी सेवा में पूर्ण कोश उपस्थित है, जिसपर एक लाख से अधिक रुपया खर्च हुआ है। इस पूर्णाहुति के समय कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह प्रकाशित किया गया है। इसमें भिन्न-भिन्न साहित्यिक विषयों पर विद्वान हिन्दी-प्रेमियों के लेख हैं और इसका सम्पादन महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी ने किया है। कोश के प्रधान सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दासजी ने किसी प्रकार का पुरस्कार लेना स्वीकार नहीं किया। अतः यही संग्रह उनको समर्पित किया गया है।"

इसी प्रकार हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य विद्वद्वर ध्रुवजी ने भी सभा के इस कोश-कार्य की प्रशंसा करते हुए कोशोत्सव के अपने भाषण में कहा—

जो बात अबतक हिन्दुस्तान की किसी दूसरी भाषा में नहीं हुई है, वह हिन्दी में हो गई—वह बात इस 'शब्द-सागर' का बनना है। मद्रास-सरकार ने तमिल-भाषा का कोश तैयार करने के लिए वहाँ के विश्वविद्यालय को दो लाख रुपये की सहायता दी थी। पर उस दो लाख रुपये से वहाँ जो कार्य हुआ वह प्रायः रद्दी हो गया। सरकार को पुनः दो लाख रुपये की सहायता देनी पड़ी, जिस पर कोश बनाने का काम अब वहाँ शुरू हुआ है। सभा ने कोश तैयार कर लिया है और इस प्रकार सभा कम-से-कम चार लाख का काम कर चुकी है। अतः उसके इस कार्य को मैं भगीरथ-प्रयत्न कहता हूँ।

फिर इसके बाद ही राय बहादुर पं० लज्जाशंकर झा, एम्० ए० के भाषण के इन शब्दों पर भी ध्यान दीजिए—

"बाबू श्यामसुन्दर दास मनस्वी पुरुष हैं। उन्होंने कोश के महान कार्य को आरम्भ कर समाप्त कर दिया है। मुझे आशा है कि अँगरेजी-साहित्य में जिस प्रकार 'वेब्स्टर' साहब का नाम अमर हो गया है, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य में आपका और आपके सहकारियों का नाम अमर रहेगा।"

बस, अन्त में उदार पाठकों से मेरा सविनय अनुरोध है कि वे उपर्युक्त स्मारक-संग्रह-ग्रन्थ को अवश्य देखें। निस्सन्देह वह ग्रन्थ एक संग्रहणीय पदार्थ है—उसका मूल्य ५) रुपया है। रूस और फ्रांस के विद्वानों के लेख भी उसमें छपे हैं।

एक बात बड़े सन्तोष की है कि कोशोत्सव में 'शब्द-सागर' के तीन जीवित उप-सम्पादकों को (पंडित रामचन्द्र शुक्ल, बाबू रामचन्द्र वर्मा और लाला भगवान 'दीन' को) एक दुशाला, एक सोने की घड़ी और एक फाउण्टेन-पेन तथा एक सेट पूरा सजिल्द 'शब्द-सागर' भेंट-स्वरूप दिया गया है। हिन्दी-लेखकों का ऐसा सम्मान वस्तुतः आधुनिक साहित्य-जगत् में एक अपूर्व आनन्ददायक घटना है।[1]

—मासिक 'सरोज' (कलकत्ता); पुष्प १, दल ११; चैत्र, १९८५ वि० (सन् १९२८ ई०)

●

काशी की नागरी-नाटक-मंडली

प्रयाग की 'हिन्दी नाट्य-समिति' कलकत्ता की हिन्दी-नाट्य-परिषद्, काशी की भारतेन्दु-नाटक-मंडली, कलकत्ता की हिन्दी-नाट्य-समिति आदि नाटक-मंडलियों की तरह यह भी साहित्यिक संस्था है।

काशी की नागरी-नाटक-मंडली का नाम, आज से दस-बारह वर्ष पहले, मैंने उस समय सुना था, जब हिन्दू-विश्वविद्यालय का शिलान्यास-महोत्सव संपन्न हो रहा था। सुनने में आया था कि उस अवसर पर 'मंडली' ने विश्वविद्यालय के शिलोद्घाटन-महोत्सव में आये हुए राजे-महाराजों से लगभग पचास हजार रुपये के चंदे का वचन अथवा संकल्प प्राप्त किया है। किन्तु, नाटक-विषयक अनेक अनुसन्धानों के सिलसिले में—बरसों बाद—मुझे पता लगा कि वह अफवाह नहीं, सच्ची बात है।

वास्तव में, मंडली के अभिनय से सन्तुष्ट होकर नाट्य-शाला के निर्माण के निमित्त कश्मीर, जोधपुर, अलवर, किसनगढ़, कोटा, दतिया, झालापाड़, बलरामपुर, गिद्धौर आदि राज्यों के अधिपतियों ने ४८,६००) का वचन दिया था, जिसमें से अबतक २२,८००) रुपये 'मंडली' के कोष में आ चुके हैं और नाट्य-मंदिर-निर्माण के खाते में जमा हैं।

---

१. इस लेख में सभा-भवन और श्री श्यामसुन्दर दासजी का चित्र भी छपा था।—लेखक

अब 'मंडली' के कार्यकर्त्ता प्रयत्न कर रहे हैं कि बाकी रुपये भी शीघ्र मिल जायँ। यदि उदाराशय नरेशों ने अपना वचन पूरा किया—जैसी कि पूरी आशा है—तो निकट-भविष्य में ही काशी में एक अच्छी-सी हिन्दी-नाट्यशाला[1] बन जायगी, इसमें सन्देह नहीं। 'मंडली' के उत्साही कार्यकर्त्ताओं को चाहिए कि वे शीघ्रातिशीघ्र अपनी इस मंडली को ही हिन्दी की सबसे पहली रंगशाला[2] बनवाने का यश और गौरव प्राप्त करावें।

इस समय मंडली के सभापति हैं—बनारस के प्रसिद्ध रईस राजा मोतीचंदजी सी० आई० ई०; अतएव उन्हें भी यह बात अवश्य ही याद रखनी चाहिए कि उनके समय में यदि 'मंडली' ने हिन्दी का सर्वप्रथम रंगमंच तैयार कराने का गौरवशाली श्रेय प्राप्त कर लिया, तो 'मंडली' के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वह भी अमर हो जायँगे। सच तो यह है कि राजा साहब-जैसे प्रभावशाली धनकुबेर के लिए यह एक अदना-सा काम है।

राजा साहब का परिवार संयुक्त-प्रांत का 'बिड़ला'-परिवार है—उसमें एक ऐसे दानवीर 'युगलकिशोर बिड़ला' हैं—देशभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त, जिनके शुभनाम के साथ त्यागमूर्त्ति सेठ जमनालाल बजाज के सिवा और किसी का नाम नहीं लिया जा सकता। गुप्तजी की दानवीरता का अक्षय यश-स्तम्भ 'काशी-विद्यापीठ' है, जिसके लिए उन्होंने दस लाख रुपये दिये हैं, और जिसमें उच्च राष्ट्रीय शिक्षा हिन्दी-माध्यम द्वारा दी जाती है। उनके आदर्श हिन्दी-प्रेम का जीता-जागता उदाहरण सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-दैनिक 'आज' है और है 'ज्ञानमंडल प्रेस', जिसके पुस्तक-प्रकाशन-विभाग द्वारा हिन्दी की कई बे-जोड़ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

इतना ही नहीं, राजा साहब के ही परिवार में वह स्वनामधन्य बाबू गोकुलचंद जी भी हैं, जिन्होंने अपने स्वर्गीय भाई मंगलाप्रसादजी की स्मृति-रक्षा के निमित्त, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को, एक मुश्त ४०,०००) रुपये देकर, प्रतिवर्ष १२००) रुपये का 'मंगला प्रसाद-पारितोषिक' वितरण करने का गौरव प्रदान किया है।

और, स्वयं राजा साहब भी कुछ कम उदार व्यक्ति नहीं हैं। वह प्रायः लोकोपकार के कामों में मुक्तहस्त हो खर्च किया करते हैं। अखबारों के नियमित पाठकों को संभवतः स्मरण होगा कि अभी हाल में—गत शीतकाल में—आपने पंजाब के एक भारत-प्रसिद्ध नेत्र-चिकित्सक को अपनी कोठी में ठहराकर सैकड़ों नेत्र-ज्योति-विहीन असहाय गरीबों को—भोजन, कंबल, दूध, फल, सेवा-शुश्रूषा आदि की पूर्ण व्यवस्था

---

१. वह नाट्यशाला अब कबीरचौरा के पास बनकर तैयार हो गई है।—ले०

२. बिहार-प्रान्त के छपरा नगर में भी 'शारदा-मन्दिर' और 'महेन्द्र-मन्दिर' नामक दो नाट्यशालाएँ हैं। प्रथम का निर्माण 'कुरुक्षेत्र' नाटक के लेखक श्रीजगन्नाथ शरणजी वकील (स्व०) ने कराया था और द्वितीय का निर्माण देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसादजी के अग्रज स्व० महेन्द्रप्रसादजी के स्मारक के रूप में हुआ था। दोनों 'मन्दिर' पुराने हैं।—ले०

के साथ—दुर्लभ नेत्र-चिकित्सा का सुअवसर प्राप्त करने का सौभाग्य प्रदान किया था। आपकी इस तरह की लोक-सेवाएँ अगणित हैं। लोकहितैषणा की प्रेरणा से आप सदा कुछ न-कुछ करते ही रहते हैं। तो क्या आपके सभापतित्व में 'मंडली' की अभीष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती ? मंडली के कार्यकर्त्तागण यदि तत्परता से आपका ध्यान इधर आकृष्ट किये रहे, तो निश्चय ही काशी में एक उत्तम हिन्दी-नाट्यशाला बन सकती है। तथास्तु ;

इस मंडली का जन्म सन् १९०९ ई० में हुआ था। इसके संस्थापकों में तीन सज्जन मुख्य हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के घराने के स्वर्गीय बाबू बृजकांतजी, बनारस के प्रसिद्ध साह-घराने के श्रीयुत कृष्णदासजी और काशी के प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी तथा कुशल अभिनेता श्रीयुत हरिदासजी माणिक।

आरंभ में इसका नाम पड़ा था—'नागरी-नाट्य-कला-प्रवर्त्तक मंडली', जो कुछ ही दिनों बाद दो शाखाओं में विभक्त हो गई—एक तो खुद यही, और दूसरी 'भारतेन्दु-नाटक-मंडली।'[१]

इस 'मंडली' ने सबसे पहले—आरंभ में—ता० २७ जुलाई (सन् १९०९ ई०, मंगलवार) को, भारतेन्दुजी के एक नाटक का अभिनय किया था, जिसमें इसके अन्यतम संस्थापक श्रीयुत हरिदासजी माणिक ने परम प्रशंसनीय नाट्यकौशल प्रदर्शित किया था और उसी अभिनय में पं० धर्मदत्तजी गुर्जर ने भी अपने पार्ट में बड़ी सफलता दिखलाई थी।

फिर, इस सफल श्रीगणेश के चार-पाँच महीने बाद ही, ता० २७ नवम्बर को, 'मंडली' ने अपना दूसरा खेल दिखलाया—'महाराणा प्रताप'—जिसके दर्शकों में काशी-नरेश, गिद्धौर-नरेश, मझौली-नरेश, राजा मुन्शी माधोलाल, राजा मोतीचन्दजी, राजा साहब 'बस्ती' आदि गण्यमान्य व्यक्तियों ने उपस्थित होकर 'मंडली' को विशेष प्रोत्साहन एवं साहाय्य प्रदान किया था। फलतः इसी साल सुप्रसिद्ध हिन्दीभक्त स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द के सुयोग्य वंशधर राजा नित्यानन्द सिंह भी 'मंडली' में शामिल हो गये।

इसी प्रकार, काशी-नरेश को स्वाधीनता का अधिकार प्राप्त होने के अवसर पर, तीसरी बार, 'सम्राट् युधिष्ठिर' खेल खेला गया, जिसमें केवल २००) की सहायता प्राप्त हुई—और, चौथी बार, काशी में हिन्दू-विश्वविद्यालय का डेपुटेशन आने पर, पुनः 'महाराणा प्रताप' खेलकर विश्वविद्यालय के लिए २२५) रुपये का चंदा दिया गया। हाँ, संयुक्त-प्रांत के बाढ़-पीड़ितों के सहायतार्थ भी ता० ६ जनवरी (१९२६) को, 'अत्याचार' नामक नाटक का अभिनय करके ४२०) रु० भेजा गया था। इस प्रकार के सार्वजनिक सेवा-कार्य प्रायः अबतक होते ही रहे हैं। इस तरह से यह मंडली अपने को साहित्यिक संस्था के साथ-साथ एक लोकोपकारिणी संस्था भी सिद्ध करती रही है।

खैर, इसी क्रम से, दिनों-दिन 'मंडली' की उन्नति होती गई। काशी के धनीमानी रईस इसके सहायक होते चले गये। यहाँ तक कि काशी के स्वनामधन्य विद्वान् बाबू भगवानदासजी, एम्० ए० ने भी अपने योगदान एवं सहानुभूतिपूर्ण साहाय्य से 'मंडली'

---

१. भारतेन्दु-नाटक-मंडली (काशी) का परिचय भी मैंने लिखा था, पर वह लेख भी न मिल सका !
—ले०

का विशेष उत्साह-वर्द्धन किया। फिर तो 'मंडली' बड़ी लगन और स्फूर्त्ति से सार्वजनिक सेवा और जनता का मनोरंजन करने लगी। और, जब हिन्दू-विश्वविद्यालय के जन्मोत्सव के पुण्य-काल[1] में राजे-महराजों ने इसकी नींव पक्की कर दी। तब, उसके बाद ही, नियमानुसार इसकी रजिष्ट्री करा दी गई। उसी समय से हर साल इसके सभी कार्य-कर्त्ताओं का चुनाव आदि—नियमपूर्वक होने लगे।

इस मंडली की सबसे पहली रिपोर्ट सन् १६२२ ई० में छपकर प्रकाशित हुई थी, जिसमें पिछले पाँच वर्षों का—ता० १ जनवरी, सन् १६१७ ई० से ता० ३१ दिसम्बर, सन् १६२१ ई० तक का—संक्षिप्त कार्य-विवरण भी प्रकाशित किया गया था। उसके बाद से प्रतिवर्ष इसका वार्षिक विवरण नियमित रूप से छपकर प्रकाशित होता है, और बड़े संतोष की बात है कि सन् १६२५ ई० से वह सचित्र तथा विशेष सुन्दर निकलने लगा है।

अबतक इस मंडली ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर निम्नलिखित नाटकों के अभिनय किये हैं—महाराणा प्रताप, सम्राट् युधिष्ठिर, सम्राट् अशोक, महाभारत, भीष्म पितामह, वीर बालक अभिमन्यु, भक्त सूरदास, बिल्वमंगल, संसार-स्वप्न, कलियुग, पाप-परिणाम, अत्याचार आदि।

मंडली के कुशल अभिनेताओं में निम्नलिखित सज्जनों के नाम उल्लेखनीय हैं—स्वर्गीय पं० राधाकुमार व्यास, स्व० पं० काशीनाथ (बच्चूजी), स्व० बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री, स्व० बाबू श्यामसुन्दर दास, बाबू हरिदासजी माणिक, बाबू आनन्दप्रसाद कपूर, पं० मंगलीप्रसाद अवस्थी, बाबू बनारसी दासजी खन्ना, बाबू ठाकुरदासजी, बी० ए०, एल्० एल्० बी०; बाबू शिवप्रसाद एम्०, एस्-सी०, एल्० टी०; पं० श्रीकृष्ण शुक्ल 'विशारद', पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री, पं० विश्वेश्वरनाथ, बी० ए०, बाबू रलया रामजी इत्यादि।

बाबू आनन्दप्रसाद कपूर इस मंडली के मुख्य संचालक हैं। उनकी अभिनय-कुशलता दर्शनीय है। आजकल वह बम्बई की 'शारदा-फिल्म-मैनुफैक्चरिङ्ग कंपनी' में हैं। रेशमी साड़ी, फिसाने-अजायब आदि फिल्मों में उनका नाट्य-कौशल वस्तुतः देखने ही योग्य है। वह हिन्दी-रंगमंच के एक रत्न हैं।

अब, मंडली के केवल एक अभिनय ('अभिमन्यु') पर स्थानीय पत्रों की सम्मतियों का सार-भाग, बानगी के तौर पर, उद्धृत करके मैं अपना स्वतंत्र विचार व्यक्त करूँगा। दो प्रसिद्ध साप्ताहिकों और एक सुप्रतिष्ठित दैनिक की सम्मति पर्याप्त होगी।

दैनिक 'आज' (२-२-१६२२ ई०)

"—तीनों ही दिन खासी भीड़ रही, और अभिनय बहुत अधिक लंबा होने पर भी दर्शक अन्त तक उत्सुक दृष्टि से देखते रहे। 'अभिमन्यु' का पार्ट मंगलाप्रसाद और 'जयद्रथ' का बनारसीदास ने बहुत अच्छा किया। सबसे अधिक सफलता बाबू

१. सन् १६१६ ईसवी।

आनन्दप्रसाद कपूर को 'अर्जुन' का पार्ट करने में हुई। उनकी अभिनय-कुशलता देखकर दर्शक-मंडली मुग्ध हो गई।"

'भारत-जीवन' (६-२-१६२२ ई०)

"मंडली दिन-प्रति-दिन उन्नति कर रही है। प्रत्येक पात्र ने अपना-अपना पार्ट उत्तमता से दिखलाया। कितने ही पात्रों को दर्शकों और रईसों की ओर से स्वर्ण और रौप्य पदक दिये गये। बाबू आनन्दप्रसादजी ने 'अर्जुन' का पार्ट बहुत ही उत्तमता से दिखलाया। एक विशेषता और थी कि जितने पात्र स्टेज पर आये, सब स्वदेशी वस्त्र में थे, किसी के शरीर पर विदेशी वस्त्र नहीं दिखलाई पड़ा।"

'हिन्दी-केसरी' (८-२-१६२२ ई०)

"अभिनय बड़ा ही सुन्दर हुआ। ऐक्टरों ने बड़ी ही योग्यता से अपना-अपना पार्ट किया। बाबू आनन्दप्रसाद कपूर ने अपने 'अर्जुन' के पार्ट से दर्शकों को मोहकर चित्रवत् कर दिया। फूलदार किनारियों से युक्त रंग-विरंगे खद्दर के ड्रेस मखमल पर जरी के काम के ड्रेसों से बढ़कर मालूम होते थे।"

मैंने भी मंडली का एक अभिनय देखा है। देखने से यह अनुभव हुआ कि अभी मंडली के अभिनयों में पारसीपन की बू बाकी है। किन्तु, विवेचना-बुद्धि ने स्पष्ट बतलाया कि इसके लिए 'मंडली' नहीं, हमारा समाज दोषी है। मंडली के पास काफी फंड हैं, सुयोग्य स्टेज-मैनेजर हैं, निपुण हारमोनियम मास्टर हैं, अच्छे-से-अच्छे ड्रेस हैं, सुन्दर सीन-सीनरी हैं; पर साहित्यिक दृष्टि से अभिनयों में दिलचस्पी लेनेवाले पात्रों का बड़ा टोटा है। और, जो पात्र साहित्यिक सुरुचि के परिचालन में दक्ष हैं, वे दर्शकों की निकृष्ट मनोवृत्ति से लाचार हैं।

फिर भी, मैं 'मंडली' के संचालकों से इतनी प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे जनता की कुप्रवृत्ति का अनुकरण करना छोड़कर लोक-रुचि का परिष्कार करने की ओर विशेष ध्यान दें। सीन-सीनरी और पोशाक-पहनावे की तड़क-भड़क से जनता को प्रभावान्वित करने या मोहने का जितना प्रयत्न किया जाता है, उतना ही यदि पात्रों के अभिनय पर भी ध्यान दिया जाय, तो जनता का चित्त गौण वस्तु की ओर से हटकर मुख्य वस्तु की ओर आकृष्ट हो सकता है। उत्तम अभिनय से साधारण दृश्यावली भी प्रभावशालिनी बन जाती है।

गत वर्ष ता० २८ अप्रैल के दैनिक 'आज' में 'जासूस'-सम्पादक बाबू गोपाल राम गहमरी ने अपने एक यात्रा-सम्बन्धी लेख में प्रसंगवश लिखा था—

'बयालीस वर्ष पहले की बात है, जब काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'बलिया' में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक स्वयं 'हरिश्चन्द्र' बनकर खेला था; जिसमें हिन्दी के सुलेखक—'दुःखिनी बाला' के लेखक बाबू राधाकृष्ण दास-सरीखे हिन्दी-सेवक और रविदत्त शुक्ल जैसे कवियों ने पार्ट लिया था। उस समय पर्दा और सीनों का सुन्दर जमाव नहीं था, लेकिन जो-कुछ स्टेज उस समय बना था—बजाज के कपड़े तानकर जो काम भारतेन्दुजी ने

कर दिखाया था. उसकी महिमा योरपियन लेडियों तक ने गाई थी। उस समय के कलक्टर साहब की मेम ने आँसुओं से भरा रूमाल निचोड़कर जब साहब की मार्फत भारतेन्दुजी से आग्रह किया था कि रानी शैव्या का श्मशान में विलाप अब धीरज छुड़ा रहा है—सीन बदला जाय; तो इसपर 'सत्य-हरिश्चन्द्र' बने हुए भारतेन्दु ने स्वयं 'ओवर-ऐक्ट' किया था और दर्शक-मंडली में करुणा के मारे त्राहि-त्राहि मच गई थी। पात्रों का शुद्ध उच्चारण हमने उसी समय हिन्दी के नाटक-स्टेज पर सुना था। जहाँ हिन्दी के बड़े-बड़े जर्रार लेखक रहते हैं, वहाँ भी हिन्दी के नाटक हमने देखे हैं; लेकिन उनके पात्रों का उच्चारण और चरित्र-चित्रण देखकर यही कहना पड़ता था कि अच्छे-अच्छे नाटक लिखे रहने पर भी हिन्दी का प्रसार नाटकों के स्टेज पर होने को अभी बहुत दिन बाकी है।"

इस उद्धरण के देने का मेरा अभिप्राय यह है कि सबसे पहले पात्रों की भाषा, ध्वनि, अंगभंगी आदि में शुद्धता और स्वाभाविकता लाने का पूर्ण प्रयत्न होना चाहिए। उसके बाद साज-सामान का नंबर है। सर्वाङ्ग-सुन्दरी शकुन्तला के लिए वल्कल-वसन भी सौन्दर्य-वर्द्धक ही थे।

अस्तु; मैंने मंडली की कुछ कठिनाइयाँ भी सुनी हैं, जिनमें अच्छे पात्रों का न मिलना सर्वप्रधान है। किन्तु, जो दो-चार अच्छे पात्र उसके पास हैं, उनका भी तो वह सदुपयोग नहीं कर रही है, जिससे औरों में उत्साह पैदा हो। इस समय उसके पास जितने होनहार और कुशल अभिनेता हैं, उतने ही पात्रों से वह हिन्दी-रंगमंच का गौरव बढ़ा सकती है। उसको चाहिए कि सेवा-समिति अपने 'बालचर-मंडल' से जिस तरह दूर-दराज की यात्रा कराती है, उस तरह वह भी अपने चुने-चुनाये पात्रों को कलकत्ता, बम्बई, पूना आदि नगरों में भेजकर उन्हें बँगला, गुजराती और मराठी रंगमंचों के अभिनय देखने का सुअवसर प्रदान करे। इससे पात्रों का अनुभव बढ़ेगा। वे अपनी विवेचना-बुद्धि से उत्तम और निकृष्ट का संग्रह-त्याग करके बहुत-कुछ लाभ उठावेंगे। केवल पेशेदार पारसी कम्पनियों के तर्ज पर मचलने से हिन्दी-साहित्य का वास्तविक उपकार नहीं हो सकता। मंडली के पास द्रव्य है, इसलिए वह मजेदार ट्रिप से अपने पात्रों को खूब लाभान्वित कर सकती है। जब उसके अभिनयों पर नया रंग चढ़ जायगा—वे परिष्कृत और सुरुचिपूर्ण बन जायँगे—वे लोगों में श्रद्धा के भाव उत्तेजित करने लगेंगे—उनमें सब-कुछ आदर्श नजर आने लगेगा, तब आप-से-आप भद्र-समाज उसकी ओर टूट पड़ेगा। पारसी धुन से लोगों का हिचकना स्वाभाविक है।

चूँकि यह मंडली हिन्दी-संसार की नाटक-मंडलियों में सबसे अधिक सम्पन्न है—इसकी आर्थिक स्थिति संतोषजनक है, इसलिए इसको अपने सामने एक उत्तम संग्रहालय का आदर्श भी रखना चाहिए। उसमें नाटक-सम्बन्धी सभी वस्तुओं का संग्रह होना चाहिए। यथा—सभी भाषाओं के नाटक-ग्रन्थ, देश-देशान्तर के नाटक-लेखकों और प्रसिद्ध अभिनेताओं तथा नाट्य-मंदिरों के चित्र, नाटक-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ, नाटक-मंडलियों की रिपोर्टें,

भिन्न-भिन्न देश-समाज की नाटकीय वेश-भूषा और साज-सज्जा, अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में अबतक प्रकाशित हुए नाटक-सम्बन्धी लेख और समालोचनाएँ, नाटक-विषयक अन्यान्य ग्रन्थ आदि।[1]

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); श्रावण, ३०५ तुलसी-संवत् (सन् १९२८ ई०)

●

प्रयाग की हिन्दी-नाट्य-समिति

हिन्दी की जितनी नाटक-मण्डलियों का पता लगा है, उनमें प्रयाग की 'हिन्दी-नाट्य-समिति' ही सबसे पुरानी मिली है। इसके बाद की स्थापित कई हिन्दी-नाटक-मण्डलियों की छपी हुई रिपोर्टें मेरे पास मौजूद हैं, पर इस समिति की कोई छपी रिपोर्ट मेरे पास नहीं है—बहुत खोज-ढूँढ़ करने पर भी कहीं इसकी एक भी छपी रिपोर्ट नहीं मिली। अतएव इस समिति के कुछ पुराने सदस्यों से पूछताछ करने पर जो बातें मालूम हुई हैं, उन्हीं को मैं पाठकों की सेवा में उपस्थित करता हूँ।

बात बहुत पुरानी है—लगभग सन् १८९८ ई० के जमाने की। यह इंदर-सभा, गुलबकावली और लैला-मजनू का युग था। प्रयाग के तीन हिन्दी-प्रेमी उत्साही बालकों ने विचार किया कि शुद्ध हिन्दी में नाटक खेलना चाहिए। वे तीन बालक कौन थे? एक तो पं० माधव शुक्ल, जो अब हिन्दी के स्वनामधन्य राष्ट्रीय कवि हैं। दूसरे थे स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट के द्वितीय सुपुत्र (स्व०) पं० महादेव भट्ट, जो अभिनय-कला में बड़े ही कुशल थे। और, तीसरे थे अल्मोड़ा-निवासी कोई गोपालदत्त त्रिपाठी, जिनके विषय में मुझे कुछ विशेष जानकारी हासिल नहीं हुई है।

खैर, निश्चित हुआ कि रामलीला के अवसर पर नाटक अवश्य ही खेला जाय। अभिनय के प्रबंध का कुल भार पं० माधव शुक्ल को सौंपा गया। उन्हीं को एक नया नाटक भी लिखकर तैयार करना पड़ा। उन्होंने तुलसीकृत रामायण के आधार पर 'सीता-स्वयंवर' नामक नाटक लिख डाला।

इसके बाद कई हमजोली मित्रों की एक मंडली संगठित हुई। उसमें श्रद्धेय पं० बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट, महामना मालवीयजी के सुपुत्र पं० रमाकान्त मालवीय, वर्त्तमान 'अभ्युदय'-सम्पादक पं० कृष्णकान्त मालवीय, (स्वर्गीय)

१. इस लेख में सात चित्र भी छपे थे—(१) माननीय राजा श्रीमोतीचन्दजी [जन्म-संवत् १९३३ वि०]; (२) 'जूही और सम्मो' ['अत्याचार' नाटक का एक दृश्य, दाहिनी ओर बाबू आनंदप्रसाद कपूर]; (३) 'कलियुग'-नाटक में दुःख से पागल हुए बाबू आनंदप्रसाद कपूर; (४) 'पाप-परिणाम'-अभिनय में विषयी वेषधारी श्रीयुत संकठाप्रसाद शर्मा; (५) 'दुर्गादास'—डाकू की हत्या की घात में ['पाप-परिणाम'-अभिनय के पात्र श्रीमंगलीप्रसाद अवस्थी]; (६) 'सम्राट् अशोक'-अभिनय में 'हँसोड़ मिश्र' के वेश में श्रीयुत बनारसीदास खन्ना; (७) 'पाप-परिणाम' में वियोगिनी के वेश में श्रीयुत मदनमोहनलाल कपूर। —लेखक

बाबू वेणी प्रसाद गुप्त, बाबू देवेन्द्रनाथ बनर्जी आदि मित्र सम्मिलित हुए। पं० माधव शुक्ल और पं० महादेव भट्ट तो इस मंडली के प्राण ही थे।

संगठित मित्र-मंडली का नामकरण हुआ—'श्री रामलीला-नाटक-मंडली'। किन्तु, रामलीला के साथ-साथ, आरंभ ही से शुक्लजी और भट्टजी का यह भी उद्देश्य था कि प्रसंगवश लीला में वर्त्तमान राजनीति की भी आलोचना की जाय। उन लोगों ने प्रथम अभिनय के एक प्रसंग में ही तत्कालीन राजनीति का थोड़ा पुट रख दिया। यद्यपि आरंभिक अभिनय बड़े उत्साह से संपन्न हुआ, तथापि थोड़ा-सा विघ्न पड़ ही गया। उस विघ्न की कथा विचित्र है—

'सीता-स्वयंवर' पहला खेल था। पात्रों की उमंग-तरंग अगाध थी। दर्शकों का ठट्ट दर्शनीय था। माननीय मालवीयजी, पूज्य भट्टजी, पं० श्रीकृष्णजोशी आदि महानुभाव दर्शकों में विराजमान थे। धनुष-भंग का प्रकरण था। राजा लोग शिवजी का धनुष उठाने में असमर्थ होकर हताश हो बैठे। इसी प्रसंग पर शुक्लजी की बनाई हुई एक जोशीली कविता राजा जनकजी के मुख से निकल पड़ी, जिसका आशय कुछ इस तरह का था—

"ब्रिटिश-कूटनीति के समान कठोर इस शिव-धनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे टस-से-मस भी न कर सके। यह अत्यन्त दुःख का विषय है। हाय!"

फिर क्या था, आफत मच गई। मालवीयजी महाराज उन दिनों पूरे माडरेट थे—उठ खड़े हुए! ड्राप-सीन गिरवा दिया! भट्टजी आदि ने उन्हें बहुत समझाया, किन्तु वह शान्त न हुए! आखिर, उस दृश्य को बन्द ही कर देना पड़ा! फिर भी अभिनेताओं और मंडली-सचालकों का उत्साह कम न हुआ।

यह रामलीला-नाटक-मंडली लगभग सन् १९०७ ई० तक कायम रही। यद्यपि मंडली के तीनों संस्थापकों पर ही सारे कार्य का भार रहता था, तथापि पं० माधव शुक्ल ही मुख्य संचालक थे और हर एक काम में अथ से इति तक वह प्रधान भाग लेते थे। पं० महादेव भट्ट के जिम्मे चिट्ठी-पत्री आदि लिखने का काम था और पं० गोपालदत्त रिहर्सल के लिए पात्रों को एकत्र कर पार्ट वगैरह बाँटने का काम करते थे।

शुक्लजी को तो मंडली की हर एक बात में नवीनता लाने की धुन सवार रहती थी। उन्होंने भाषा, भेष, भूषा, भाव आदि में सामयिकता एवं नवीनता का समावेश करके मंडली की ओर जनता को भलीभाँति आकृष्ट कर लिया। थोड़े ही दिनों में मंडली की यथेष्ट प्रसिद्धि हो गई।

जनता में यथेष्ट प्रसिद्धि होने पर भी, आखिर मंडली तो बालकों ही की थी, बातों-ही-बातों में एक बार कुछ खटपट हो गई। मालवीयजी के घराने के लड़के अलग हो गये! तब शुक्लजी, भट्टजी आदि ने फिर से नवीन संगठन किया। यह संगठन सन् १९०८ ई० में हुआ और इस संगठित समुदाय का नाम पड़ा—'हिन्दी-नाट्य-समिति'। इस प्रकार इस समिति का जन्म आज से बीस-बाईस वर्ष पहले हुआ था—यद्यपि इसका बीज उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ही पड़ चुका था।

जिन दिनों इसका बीज-वपन हुआ था, उन दिनों हिन्दी की किसी साहित्यिक नाटक-मंडली का अस्तित्व सुनने में भी नहीं आया था, वल्कि रामलीला-नाटक-मंडली के जन्म के बहुत दिनों बाद जौनपुर और लखनऊ में जाकर पं० माधव शुक्ल ने ही हिन्दी नाट्य-संस्थाओं की स्थापना की थी। उस समय शुद्ध हिन्दी के नाटकों के प्रचार में विशेष रूप से प्रोत्साहन देनेवाले एकमात्र श्रद्धेय पं० बालकृष्ण भट्टजी ही थे। उन्हीं के उत्साहित करते रहने से प्रयाग के होनहार बालकों ने हिन्दी में नाटक खेलने का आयोजन किया था। यहाँ तक की प्रत्येक नाटक में वह स्वयं सूत्रधार का पार्ट करते थे और कई दफे पं० श्रीकृष्ण जोशी ने भी किया था।

किन्तु, इस समिति के प्राण-स्वरूप श्रद्धेय भट्टजी का स्मरण करते समय उन उत्साही नाटकानुरागियों को कदापि नहीं भुलाया जा सकता, जिनके सहयोग से हिन्दी-नाटकों के प्रचार में बड़ा सहारा मिला था। उनमें (स्वर्गीय) प्रधानचन्द्रप्रसाद, बाबू भोलानाथजी, बाबू मुद्रिकाप्रसाद,[१] पं० लक्ष्मीनारायण नागर, मैत्रेय बाबू आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनमें प्रायः कॉलेज-छात्र ही अधिक थे, जो अपनी शिक्षा समाप्त कर अब जहाँ-तहाँ जीविकोपार्जन में लगे हुए हैं।

अस्तु, नव-संगठित 'हिन्दी-नाट्य-समिति' में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक उत्साह था। बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, पं० सत्यानन्द जोशी, पं० मुरलीधर मिश्र और स्वर्गीय कविवर 'प्रेमघनजी' के ज्येष्ठ पुत्र (नाम याद नहीं!) आदि अपूर्व उत्साही युवक सम्मिलित थे। चूँकि रामलीला-नाटक-मंडली में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'सत्य हरिश्चन्द्र'-नाटक खेला जा चुका था, इसलिए समिति ने भारतेन्दुजी के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्ण दास का 'महाराणा प्रताप' नाटक खेलना तय किया। सौभाग्यवश उस समय बाबू राधाकृष्ण दास भी जीवित थे। यद्यपि क्षयरोग-ग्रस्त होने के कारण वह नितांत अस्वस्थ थे, तथापि अभिनय देखने के लिए, समिति के साग्रह निमंत्रण पर, काशी से प्रयाग आये थे। उनके साथ और भी कई हिन्दी-प्रेमी सज्जन थे। 'हिन्दूपंच'-प्रवर्त्तक (स्वर्गीय) बाबू रामलाल बर्मन भी उन्हीं के साथ पधारे थे। अपूर्व समारोह था।

पं० माधव शुक्ल ने 'महाराणा प्रताप'-नाटक में, जहाँगीर के पार्ट में, अपनी बनाई हुई कुछ नई कविता जोड़ दी थी। उसे बाबू राधाकृष्ण दास ने बहुत पसंद किया और यहाँ तक कहने की उदारता दिखाई कि 'पुस्तक यदि छप न गई होती तो शुक्लजी के इस नवीन परिवर्द्धित अंश को मैं अवश्य ही उसमें सधन्यवाद जोड़ देता।'

खैर, 'महाराणा प्रताप' बड़ी सफलता से अभिनीत हुआ। 'प्रताप' का पार्ट शुक्लजी ने किया था। 'भामाशाह' का पार्ट किया था मिर्जापुर-निवासी श्रीप्रमथनाथ, बी० ए० ने। 'मालती' थे बाबू देवेन्द्रनाथ बनर्जी और 'गुलाब' पं० लक्ष्मीकांत भट्ट तथा 'कविराज' पं० महादेव भट्ट। यों तो इन सभी पात्रों का नाट्य-कौशल देखकर दर्शक बड़े प्रसन्न हुए; पर शुक्लजी और पं० महादेव भट्ट के अभिनय से सहृदय दर्शक विशेष प्रभावित हुए।

---

१. मुद्रिकाप्रसाद बिहार-प्रान्त के—शाहाबाद जिले के—निवासी थे। —लेखक

'महाराणा प्रताप' के अभिनय के साथ एक प्रहसन भी खेला गया था। उसमें एक मुशायरा हुआ था। मिसरा था—'नहूसत का कौवा उड़ा चाहता है।' उसमें भट्ट-भ्राताओं का अभिनय-कौशल देखने ही योग्य था! पं० महादेव भट्ट ने तो सचमुच अपनी बगल से 'नहूसत का कौवा' उड़ाकर कमाल कर दिया था! चारों ओर 'समिति' की सफलता की धूम मच गई। तत्कालीन पत्रों में भी खासी चर्चा रही।

क्रमशः इस 'समिति' ने कई अच्छे नाटक खेले और इसमें उत्तरोत्तर अच्छे-अच्छे लोग शामिल होते गये। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के छठे अधिवेशन (प्रयाग) के समय, इस 'समिति' ने शुक्लजी का बनाया हुआ 'महाभारत' नाटक (पूर्वार्द्ध) खेला था। उक्त अधिवेशन के सभापति थे सौम्यमूर्त्ति बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०। इन पंक्तियों का लेखक भी आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा का प्रतिनिधि होकर उक्त अधिवेशन में सम्मिलित हुआ था। अतएव प्रत्यक्षदर्शी के नाते, मैं जोर देकर इतना कह सकता हूँ कि आजतक मैंने किसी हिन्दी-रंगमंच पर वैसा सफल एवं प्रभावशाली अभिनय नहीं देखा है।

उस अभिनय में शुक्लजी ने 'भीम' का पार्ट करने में अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया था। शुक्लजी की अभिनय-कुशलता देकर दर्शकों के सामने महाभारतीय कौरव सभा का वास्तविक चित्र अंकित हो गया था। फिर पं० महादेव भट्ट ने तो 'धृतराष्ट्र' के पार्ट में इतनी स्वाभाविकता दिखाई कि जिन सहृदय साहित्यिकों ने उस सफल अभिनय को देखा है, वे उस अतीत घटना की कल्पना करके आज भी मुक्तकंठ से धन्य-धन्य कह उठेंगे। अत्यन्त दुःख का विषय है कि हिन्दी-संसार में पं० महादेव भट्ट-जैसे कुशल अभिनेता का कुछ भी सम्मान न हुआ! और, अब उनके सम्मान की चर्चा ही क्या, जब कि वह स्वर्गवासी हो चुके; परन्तु आवेगा कोई समय अवश्य, जब हिन्दी की किसी भावी नाट्यशाला में उनका चित्रोद्घाटन बड़े समारोह से किया जायगा!

हाँ, उसी अभिनय में पं० रासविहारी शुक्ल का 'दुर्योधन' का पार्ट भी बड़े कमाल का हुआ था। यदि मैं बलपूर्वक इतना कह सकता हूँ कि पं० माधव शुक्ल-जैसा 'भीम' और पं० महादेव भट्ट-जैसा 'धृतराष्ट्र' आजतक मैंने किसी हिन्दी-रंगमंच पर नहीं देखा है, तो मैं यह भी जोर देकर कहना चाहता हूँ कि पं० रासविहारी-शुक्ल जैसा 'दुर्योधन' भी मैंने कहीं नहीं देखा है। तारीफ तो यह कि उस अभिनय के सभी प्रधान पात्रों का नाट्य सर्वथा दर्शनीय, हुआ था। बाबू प्रमथनाथ भट्टाचार्य ने 'युधिष्ठिर' के पार्ट में जो शांति-प्रियता दिखाई, वह कुछ कम प्रशंसनीय नहीं थी, और शकुनि की भूमिका में पं० लक्ष्मीकांत भट्ट ने भी धूर्त्तता का सच्चा स्वांग दिखाकर छोड़ा। पं० लक्ष्मीकांतजी वास्तव में बड़े ही सुयोग्य और सुदक्ष अभिनेता हैं; पर खेद है, हिन्दी-रंगमंच उनके कौशल से कृतार्थ होने का सुयोग नहीं पा रहा है!

जो हो, उक्त अभिनय में (स्वर्गीय) बाबू पुरुषोत्तम नारायण चड्ढा (बच्चेजी) का 'अर्जुन' का पार्ट, बाबू रामकृष्ण सूरि का 'संजय' का, पं० वेणी शुक्ल का 'विदुर' का और बाबू देवेन्द्रनाथ बनर्जी का 'द्रौपदी' का तथा एक अन्य सज्जन का (नाम याद नहीं!) 'विकर्ण' का पार्ट भी ऐसा हृदयग्राही हुआ था कि साहित्यिक-मंडली में जिस प्रकार सम्मेलन के

उस अधिवेशन में पठित पं० जगन्नाथ प्रसादजी चतुर्वेदी के 'अनुप्रास अन्वेषण'-शीर्षक विनोदात्मक निबंध की गर्म चर्चा रही, उसी प्रकार 'समिति' के सफल अभिनय की चर्चा का बाजार भी गर्म रहा।[१]

किन्तु, प्रसंगवश, यहाँ मुझे शुक्लजी से भी कुछ कहना है। इसमें शक नहीं कि वह जैसे अच्छे अभिनेता हैं, वैसे ही अच्छे नाटककार भी। उनका हरिश्चन्द्र, भीम, महाराणा प्रताप और सिकन्दर का पार्ट जिसने देखा है, वह निस्संकोच कह सकता है कि वीर-रस का नाट्य करने में उन्हें अजीब कमाल हासिल है। ईश्वर ने उन्हें खासा डील-डौल भी दिया है। उनका ग्रांडील शरीर रंगमंच पर बड़ा ही भव्य मालूम होता है। इसी प्रकार उनकी कविताएँ भी बड़ी ओजस्विनी और वीरत्वपूर्ण होती हैं। उनका 'महाभारत' नाटक हिन्दी में एक अनूठी चीज है। वैसा वीर-रस-पूर्ण साहित्यिक नाटक हिन्दी में शायद ही कोई हो। उसकी भाषा में पौरुष का गंभीर निनाद सुन पड़ता है। उसकी कविताएँ रोमांचकारिणी होती हैं। यद्यपि अब वह नाटक अप्राप्य है तथापि उसके गुणों से अधिकांश पाठक सुपरिचित हैं।

बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि शुक्लजी ने उत्तरार्द्ध आजतक नहीं लिखा। यदि वह केवल वीररसात्मक नाटक लिखने में ही अपना जीवन खपा देते, तो निस्सन्देह आज हिन्दी के रंगमंच पर वीर-रस की विजय-दुंदुभी बजती होती। वह बरसों से कलकत्ता में रहते हैं, मैं जब वहाँ 'मतवाला-मंडल' में था, तब प्रायः उनसे मिलकर अनुरोध किया करता था कि 'महाभारत' का उत्तरार्द्ध लिख डालिए। किन्तु, उन्होंने शायद आलस्यवश आजतक कुछ नहीं किया। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी को एक रत्न से वंचित कर रखा है। वह और कुछ न करके केवल नाटक ही लिखा करते, तो एक सफल और सुकीर्त्तिशाली नाटककार बनकर हिन्दी का असीम उपकार करते। उनकी लेखनी में पुरुषार्थ को उत्तेजित करने की अद्भुत शक्ति है, सामाजिक क्रान्ति कराने की बिजली भी मौजूद है। उनके अन्दर वस्तुतः वीरत्व का माद्दा है।

---

१. 'माधुरी' के छठे वर्ष के प्रथम अङ्क (विशेषांक) के पन्द्रहवें पेज के दूसरे कालम में, अपने 'वंगीय रंगमंच'-शीर्षक लेख में, इस समिति के दो सफल अभिनयों की चर्चा मैंने की थी, जो क्रमशः साहित्य-सम्मेलन के पंचम और षष्ठ (लखनऊ और प्रयाग के) अधिवेशनों में अभिनीत हुए थे। सौभाग्यवश मैं लखनऊवाले सम्मेलन में भी पूर्वोक्त 'आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा' के प्रतिनिधि-रूप में पहुँच गया था, और मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा सन्तोष होता है कि प्रयाग के अभिनय की भाँति लखनऊ के अभिनय में भी इस 'समिति' ने सराहनीय सफलता पाई थी, तथा जिस प्रकार उस (पंचम) अधिवेशन में किये गये कविवर 'पूर्ण' जी के व्यंग्यविनोदपूर्ण कवितामय भाषण की चर्चा साहित्यिकों में सरसाती रही, उसी प्रकार प्रतिनिधियों में इस समिति द्वारा अभिनीत 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक की चर्चा भी चहल-पहल मचाती रही। अबतक के सम्मेलनों की रिपोर्टें पढ़ने से ज्ञात होता है कि इस 'समिति' ने लखनऊ और प्रयाग में अपने सफल अभिनयों से साहित्यिकों को जैसा तृप्त किया था, वैसा किसी नाट्य-समिति ने सम्मेलन के किसी अधिवेशन में नहीं किया है। 'समिति' के रेकर्ड में यह बात बड़े गौरव की है, और संभवतः इसका अधिकांश श्रेय कविवर पं० माधव शुक्ल को ही प्राप्त है।—लेखक

कहते हैं, असहयोग-काल में उनको जेल ही में जब अपने एकमात्र युवक जामाता की आकस्मिक मृत्यु का हृदय-विदारक संवाद मिला, और साथ ही घरवालों की यह प्रेरणा भी हुई कि क्षमा-प्रार्थना करके घर चले आइए—सब लोग अधीर और व्यग्र हैं, तब उन्होंने उत्तर दिया था कि 'हम सत्य हरिश्चन्द्र और महाराणा प्रताप का पार्ट करनेवाले व्यक्ति हैं, विपत्ति-वज्र से मर्माहत होकर भी प्रतिज्ञाच्युत नहीं हो सकते!'

इस घटना से शुक्लजी की नाटक-विषयक तन्मयता और उनके हृदय की बलिष्ठता सहज ही प्रकट होती है। उनकी वाणी और लेखनी, दोनों ही, हिन्दी रंगमंच को धन्य बनाने योग्य हैं; पर न जाने क्यों, अपनी रचनाओं में उत्साह की ज्वाला भरने की पूर्ण शक्ति रखते हुए भी वह हतोत्साह-से जान पड़ते हैं! उनके पास राष्ट्रीयता और वीरता को विभूषित करने योग्य जो दिव्य विभूति है, उसे वह हिन्दी-माता के चरणों में उत्सर्ग करना नहीं चाहते क्या?

असहयोग-आन्दोलन के युग में शुक्लजी के मस्तिष्क ने अद्भुत चमत्कार दिखलाया था। अनेक राष्ट्रीय भाव-पूर्ण चित्रों का जो भव्य प्रकाशन कलकत्ता से हुआ था, उसमें उन्हीं की प्रेरणा मुख्य थी, और अधिकांश प्रभावशाली चित्रों की कल्पना खास उन्हीं के दिमाग की उपज थी। उन चित्रों ने एक युग-निर्माण किया था। राष्ट्रीय हलचल में निस्संशय उनके योगदान का भी ऐतिहासिक महत्त्व माना जायगा। तो क्या चित्रों की भाँति वह असहयोग-आन्दोलन-संबंधी नाटक नहीं लिख सकते थे? जनता के हृदय में साहस उमड़ानेवाली जो जादू की पुड़िया उनके पास है, उसे वह हिन्दी-साहित्य के भांडार में नहीं रख सकते थे? इन प्रश्नों का उत्तर तो वही दे सकते हैं, या पं० लक्ष्मीकान्त जी भट्ट, जिन्हें उनकी इन सारी विशेषताओं के साथ-साथ उनके अमार्जनीय आलस्य का भी पता है।

गत वर्ष शुक्लजी और पं० लक्ष्मीकान्तजी भट्ट जब काशी आये थे, तो मैंने उनसे पुनः निवेदन किया था कि शुक्लजी के समर्थ होते हुए भी हिन्दी में वीर-रसात्मक नाटकों का अभाव बहुत खटकता है; उन्हें चाहिए कि अपनी लेखनी को फिर गरजावें। साथ ही; एक प्रस्ताव भी सामने रक्खा था कि शुक्लजी एक ऐसी पेशेदार हिन्दी-नाटक-कंपनी खड़ी करें; जिसमें केवल हिन्दी के साहित्यसेवी ही अभिनेता हों और केवल हिन्दी के शुद्ध साहित्यिक नाटक खेले जायँ। ऐसे हिन्दी-प्रधान नाटक-संघ का आयोजन करने से हिन्दी का प्रचार भी बढ़ेगा और बहुत-से साहित्यानुरागी युवकों को नाट्य-कला द्वारा जीविका-उपार्जन करने की सुविधा भी मिल जायगी। और भी, अनेक प्रकार के लाभ होंगे। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियाँ हिन्दी-प्रधान प्रान्तों के मुख्य-मुख्य नगरों में घूमकर जनता की रुचि भी बिगाड़ती हैं और साहित्य के नाटक-जैसे महत्त्वपूर्ण अंग पर क्रूरतापूर्ण कुठाराघात भी करती हैं, सो तो न हो सकेगा। मुझे विश्वास है कि पेशेदार शुद्ध साहित्यिक-नाटक-कम्पनी खुलने पर हिन्दी-रंगमंच का तो निश्चय ही कायाकल्प हो जायगा।

शुक्लजी ने इस प्रस्ताव को बहुत पसन्द किया और कहा कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन यदि इस तरफ ध्यान दे, तो बहुत-कुछ काम हो सकता है।

किन्तु, मेरी राय में हिन्दी-हित-संबन्धी हरएक बात के लिए 'सम्मेलन' को ही गिरफ्तार करना ठीक नहीं। यदि स्वयं शुक्लजी ही आत्मविश्वास के साथ कलकत्ता में इस बात का उद्योग करें कि व्यावसायिक मंतव्य से एक शुद्ध साहित्यिक हिन्दी-नाटक-संघ कायम होकर पेशेदार पारसी कम्पनियों की तरह भारतवर्ष के नगर-नगर में भ्रमण करे, तो निश्चय ही उनको हिन्दी-प्रेमी धनाढ्यों से काफी सहायता मिल सकती है, और मुझे विश्वास है कि बहुत-से साहित्य-सेवी भी उनके इस आयोजन में सहर्ष सम्मिलित होंगे।

मुजफ्फरपुर के होनहार युवक कवि श्रीललित कुमार सिंह 'नटवर'—जो वीर-रस और हास्यरस के बड़े निपुण अभिनेता हैं—बहुत दिनों से ऐसी किसी साहित्यिक कम्पनी की ताक में हैं, तथा उन्हीं की तरह बहुत-से छिपे-रुस्तम और भी निकल आवेंगे।

खैर; अब, अन्त में, उक्त 'समिति' के बारे में कुछ और जानने योग्य बातें।

सन् १६१६ ई० में शुक्लजी को, जीविकोपार्जन के लिए प्रयाग छोड़कर कलकत्ता जाना पड़ा। तो भी, पं० महादेव भट्ट, पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, पं० रासविहारी शुक्ल, पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र आदि सज्जन बड़े उत्साह से 'समिति' को अच्छी तरह चलाते रहे। समय-समय पर शुक्लजी भी कलकत्ता से प्रयाग चले आते थे। परंतु, समिति के जीवन-धन पं० महादेव भट्ट के स्वर्गवासी होने पर पूर्ववत् उत्साह न टिका रह सका—यद्यपि आज भी पं० रासविहारी शुक्ल, पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, बाबू बद्रीप्रसाद खन्ना आदि के बचे-खुचे उत्साह से 'समिति' किसी तरह जीवित है। ईश्वर करे, वह फिर फूले-फले। बड़ी अच्छी बात हो, यदि 'साहित्य-सम्मेलन' अपने नगर की इस प्राचीन साहित्यिक संस्था के पुनरुद्धार का प्रयत्न करे।

हाँ, शुक्लजी सन् १६१६ ई० में जब कलकत्ता चले गये, तो वहाँ भी नाटक का व्यसन उनके साथ ही लगा रहा। आखिर कलकत्ता में भी उन्होंने 'हिन्दी-नाट्य-परिषद्' स्थापित करके ही कल की। 'परिषद्' का उद्देश्य भी प्रयाग की 'नाट्य-समिति' के अनुकूल ही रहा—राजनीतिक जागृति का आवाहन! वास्तव में 'परिषद्' ने कलकत्ता में बड़ा जागरण फैलाया।[1]

गत राष्ट्रीय आन्दोलन के समय 'परिषद्' के ४२ नवयुवक सदस्यों को जेल की सजा हुई थी। इसके अतिरिक्त परिषद् के सभापति बाबू पद्मराज जैन और मंत्री बाबू भोलानाथ बर्मन तो एक-एक वर्ष के लिए जेल गये ही, 'परिषद्' के जन्मदाता और जीवन-सर्वस्व शुक्लजी भी तीन-तीन बार श्रीकृष्ण-जन्मस्थली के अतिथि हुए। अतएव यदि ऐसा कहा जाय की प्रयाग कि 'हिन्दी-नाट्य-समिति' का पुनर्जन्म कलकत्ता

१. इस परिषद् का परिचय भी मैंने लिखा था, पर वह लेख नहीं मिल सका।—लेखक

की 'नाट्य-परिषद्' के रूप में हुआ, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। मैंने कलकत्ता में 'परिषद्' के भी कई अभिनय देखे हैं।'

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); मार्गशीर्ष, ३०६ तुलसी-संवत् (सन् १९२९ ई०)

•

पुस्तकालय का सदुपयोग

आजकल देश में पुस्तकालयों की संख्या दिन-दिन बढ़ रही है। यह शुभ लक्षण है। किन्तु, हमारे देश की जनता अभी तक पुस्तकालय का सदुपयोग करना अथवा उससे वास्तविक लाभ उठाना नहीं जानती। अधिकतर जनता शिक्षित भी नहीं है। पर जो शिक्षित हैं, उनमें भी पुस्तकों और पुस्तकालय के अनुरागी बहुत कम हैं। सुशिक्षित लोग भी पुस्तकों के पढ़ने और उनकी रक्षा करने में बड़े असावधान हैं। साधारण जन यदि उच्चकोटि का साहित्य पढ़ने में दिलचस्पी न दिखावें तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि वे विवेक-शून्य हैं, उनमें प्रायः विवेचना-शक्ति नहीं है, वे सत् और असत् का विचार करने में असमर्थ हैं। किन्तु, सुशिक्षित लोग भी पुस्तकालय से भ्रष्ट अथवा अश्लील साहित्य की ही माँग करते हैं। उच्चस्तर का साहित्य पढ़नेवालों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। ऐसे सुरुचि-सम्पन्न पाठक उँगलियों पर गिने जा सकते हैं।

हमारे समाज में अभी शायद आदर्श पाठक पैदा ही नहीं हुए हैं। अधिकांश पुस्तकालय कुरुचिपूर्ण प्रवृत्ति के पाठकों से परिचित हैं। इसके सिवा, उत्तरदायित्व-हीन पाठकों से बहुतेरे पुस्तकालय परेशान और तबाह हो चुके हैं। मलिन मनोवृत्ति के पाठकों के कारण ही अश्लील साहित्य की खपत अधिक हो रही है। सत्साहित्य का प्रचार तब तक संभव ही नहीं, जबतक रुचिभ्रष्ट शिक्षित-समाज नहीं सुधरेगा। जो लेखक लोभवश अथवा स्वार्थान्ध होकर अवांछनीय साहित्य रचते हैं उनकी पुस्तकों का बहिष्कार यदि पुस्तकालयों द्वारा हो, तो समाज के कल्याण की कुछ आशा की जा सकती है। नहीं तो पुस्तकालयों की संख्या बढ़ते जाने से समाज की नसों में जहर फैलते जाने का ही भय है। पराधीन भारत में जैसे विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जाती रही, वैसे ही अनिष्टकर साहित्य की होली जलाने का आन्दोलन शीघ्र होना चाहिए।

पुस्तकालय का सदुपयोग आजकल कम हो रहा है, दुरुपयोग ही अधिक होता है; क्योंकि उसके माध्यम से गाँव-गाँव में अशिष्ट साहित्य का प्रचार होता जा रहा है। यदि आर्य-संस्कृति, भारतीय भावना और राष्ट्रीय चेतना का प्रसार न हो सका, तो पुस्तकालय

१. इस लेख में पाँच चित्र भी छपे थे—(१) नागरी-प्रवर्द्धिनी सभा के सदस्य और हिन्दी-नाट्य-समिति के पात्र, (२) द्रौपदी-चीर-हरण के समय क्रुद्ध भीम के प्रति दुर्योधन, (३) पंडित माधव शुक्ल, (४) हिन्दी-नाट्य-समिति (प्रयाग) का अन्तिम ग्रुप, (५) हिन्दी-नाट्य-परिषद् (कलकत्ता)—सन् १९१७ ई०।—ले०

का कोई महत्त्व नहीं, उससे कोई लाभ नहीं, उसकी उपयोगिता केवल समाचार-पत्र-पाठकों से नहीं सिद्ध हो सकती। पुस्तकालयों की संख्या-वृद्धि अनुदिन हो रही है, तब भी सत्साहित्य के रचयिताओं और प्रकाशकों की यह शिकायत बनी हुई है कि अशोभन साहित्य के प्रकाशकों का माल अधिक खपता है। अच्छी पुस्तकों के विक्रेता भी सुरुचिपूर्ण पाठकों का टोटा अनुभव करते हैं। यदि पुस्तकालयों से वितरित होनेवाली पुस्तकों की छानबीन की जाय तो पता लगेगा कि कैसी रुचि के पाठकों की संख्या अधिक है।

पुस्तकालय-संघों को चाहिए कि वे सभी सम्बद्ध पुस्तकालयों में केवल स्वस्थ साहित्य का ही संग्रह, संचय एवं वितरण कराने पर ध्यान रखें। समाज की बिगड़ी हुई रुचि का परिष्कार करने में ही पुस्तकालय का सदुपयोग किया जाय। अनैतिकता फैलानेवाले असत्साहित्य का प्रचार जिस पुस्तकालय के सहारे होता हो, उसको सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न होना आवश्यक है। पुस्तकालय-संघों की ओर से पुस्तकालयों को कड़ी चेतावनी देकर सावधान किया जाय कि वे अनैतिक साहित्य का पूर्ण बहिष्कार करके समाज का मंगल करें। यदि अस्वस्थ साहित्य की समीक्षात्मक सूची प्रचारित करके पुस्तकालयों और पाठकों को सजग कर दिया जाय तो समझदार लोगों के सँभल जाने की आशा है।

पुस्तकालयों से पुस्तकें ले जाकर पढ़नेवाले लोग भी पुस्तकों के साथ सभ्य व्यवहार करना सीखें। प्रायः देखा जाता है कि पाठकों के घर से जब पुस्तकें वापस आती हैं तब उनकी सूरत बदल जाती है। अनेक पुस्तकालयों की असंख्य पुस्तकें अपने पाठकों की असभ्यता और हृदयहीनता के फलस्वरूप दुर्दशाग्रस्त हो जाती हैं। किसी की जिल्द टूट गई, किसी के पन्ने गायब हो गये, किसी की सीवन उधड़ गई, कोई मसली हुई या गँदली होकर लौटी। पुस्तकालय को यदि हर साल एक हजार रुपये की नई पुस्तकें खरीदनी हैं तो पुस्तकों की मरम्मत कराने में भी पाँच सौ रुपये लगाने पड़ते हैं। पाठकों की असावधानता के कुफल भोगनेवाले पुस्तकालयों के कटु अनुभव यदि संकलित अथवा एकत्रित किये जायँ तो भीषण परिणाम प्रकट हो सकते हैं। हमारा पाठक समाज यदि पुस्तकालय का सदुपयोग करना सीख जायँ तो हम नाना प्रकार की आर्थिक हानि और मानसिक ग्लानि से बच सकते हैं।

हमें पता है कि बहुतेरे असंस्कृत पाठकों ने अनेक पुस्तकालयों का कलेजा काढ़ लिया है—कितनों को खोखला कर दिया है। पाठकों की उत्तरदायित्वहीनता के कारण बहुत-से सार्वजनिक पुस्तकालय उजड़ चुके हैं और आज भी उनका वह क्रम चल रहा है। नतीजा यह हुआ है कि पुस्तकालयों में साहित्यिक शोध के लिए अनुसन्धायकों को आवश्यक सामग्री नहीं मिलती। पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें खण्डित और दुर्लभ हैं, पुस्तकों के प्रथम संस्करण भी अप्राप्य हैं।

शोध और समीक्षा के इस युग में यदि पुस्तकालय का सदुपयोग करना अभीष्ट है तो बड़े और पुराने पुस्तकालयों की विवरणात्मक पुस्तक-पत्रिका-सूची प्रकाशित कराई जाय, जिससे साहित्यिक अनुसंधान करने में सुविधा हो। पुरानी पत्रिकाओं और अलभ्य पुस्तकों

की रक्षा पर भी पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं और महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के संरक्षण की नियमित व्यवस्था हो तो पुस्तकालय की उपादेयता बढ़ जाय।

पुस्तकालय-संघ की ओर से दैनिक और साप्ताहिक पत्रों की फाइलों के संग्रह का भी प्रयत्न या प्रबन्ध होना चाहिए। इसके लिए सम्बद्ध पुस्तकालयों को ऐसा सुझाव दिया जा सकता है कि वे अपनी शक्ति एवं सुविधा के अनुसार एक-एक दैनिक-साप्ताहिक-मासिक चुनकर सुरक्षित रखें। सभी पत्रों का संग्रह एक ही पुस्तकालय में होना असंभव है; पर एक-एक पत्र अलग-अलग सुरक्षित रहे और इसकी जानकारी के लिए पुस्तकालय का पता और पत्र का नाम प्रकाशित कर दिया जाय तो खोज के काम में बड़ी सहायता मिलेगी।

—त्रैमासिक 'पुस्तकालय' (पटना); विशेषांक- वर्ष १, अंक ३-४; अगस्त, १६५५ ई०

•

क्रान्ति का अमर सन्देश

ऐ भारतीय युवक! तू सावधान हो जा, सम्हल जा, मैं आ रही हूँ—देख, तेरे सिर के ऊपर मँड़ला रही हूँ—आँखें खोल, तेरे चारों तरफ छा गई हूँ—होशियार हो जा, दहल मत, कातर मत हो; कान देकर दसों दिशाओं में मेरा हाहाकार सुन ले। पहचान तो, मैं कौन हूँ?

बेटा, अधीर मत हो, घबरा मत, शान्त हो; मैं तेरे ही लिए दौड़ी आ रही हूँ—अगाध सिन्धु की उत्ताल तरंगें पार कर मैं तुझी को गोद में भरने के लिए आई हूँ। आ बेटा, 'प्रताप' की आह मिटा बेटा, 'शिवा' का मोह छुड़ा बेटा, 'गोविन्द' का हाय हटा बेटा; मेरा लल्ला, मेरा हीरा! तू सकपकाता क्यों है? तू सहमता क्यों है?

मेरा कलेजा! जरा दम धर, तनक ढाढ़स कर, मैं चुटकियों में तुझे चंगा कर दूँगी—ले, मेरी अजस्र स्नेहधारा पी—च्वुः-च्वुः - पी-पी मेरा बब्बो, पी; यह दूध की धार नहीं है बेटा—अमृत की घुट्टी है—ले, पी; तेरी नसों में बिजली दौड़ जायगी—तेरी कायरता काफूर हो जायगी—तेरी भीति भाग खड़ी होगी—जरा अपने कम्पित अधरों को टिका कर इसका एक घूँट भी तो पी सही; फिर देख इसके करामात—पल-भर में काया पलट हो जायगा—बस अभी-अभी तेरे पैरों में अंगद-पैज की दृढ़ता होगी, तेरी भुजाओं में भीमार्जुन की सम्पुट-शक्ति होगी, तेरी छाती में विश्वविजयी रघु का रक्त होगा, तेरी आँखों में त्रिशूली त्र्यम्बक का तेज होगा, तेरी मुट्ठी में वज्र-मुष्टि-प्रहारी हनुमान का अमोघ संघात होगा, तेरी वाणी में इन्द्रजित् के घन-घोष की तरह वज्र-निर्घोष होगा, तेरी ललकार में लड़ाके लक्ष्मण की-सी फुफकार होगी, तेरी एकाग्रता में एकलव्य की-सी अटलता होगी, तेरी हरएक साँस से झंझावात की सृष्टि होगी।

सच कहती हूँ, बात मान, तू सचमुच पल-भर में प्रलय का पुतला बन जायगा। तेरी आँखों से चिनगारियाँ बरस कर भीति-भर्त्सना को भस्म कर देंगी, तेरे भुजदंडों पर

ताल की ठोंक पड़ते ही दिशाएँ थर्रा उठेंगी, तेरे ओठों के दाँतों से चाँपते ही तूफान बरपा हो जायगा—हिमालय तेरे चरणों पर सिर टेकेगा, समुद्र की लहरें तेरे पैर पखारेंगी, मेघ उमड़-घुमड़कर तेरा अभिषेक करेंगे, बिजलियाँ तेरी आरती उतारेंगी, तारे टूट-टूटकर तेरे गले का हार आ बनेंगे, चाँद-सूरज तेरे विजय-मुकुट के मणि बनकर जगमगायेंगे और धरित्री तुझे धारण कर धन्य होगी।

अच्छा! अब कहीं तेरी रगों में खून का दौरा हुआ! हाँ, देख रही हूँ—तेरे हृदय का यह सजीव स्पन्दन, तेरे रोम-रोम का यह जीवन्त स्फुरण मैं खूब अनुभव कर रही हूँ—तेरे भावों का यह ज्वलन्त जागरण, तेरे विचारों का यह उत्तुंग उत्थान मैं गौर से सुन रही हूँ—तेरी आकांक्षाओं का यह ताण्डव गान, तेरी आहों का यह प्रलय-संगीत बड़े ध्यान से परख रही हूँ—तेरे लक्ष्य की सवेग गति को, तेरे राष्ट्र की नाड़ी को, तेरी उद्वेग-भरी मनोवृत्ति को। अच्छा, शान्त रह, मैं तुझी को अपना अस्त्र बनाकर अग्निमय खेल खेलूँगी।

—मासिक 'युवक' (पटना); वर्ष १, अंक २; फरवरी, १९२९ ई०

●

स्वतंत्र होने से पहले

हमलोग अनायास कहा करते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्त करना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है; पर हममें से कोई यह नहीं कहता कि स्वतंत्रता को भी ईश्वर ने यह जन्मसिद्ध अधिकार दे रखा है कि अमुक-अमुक गुणों से युक्त पात्र को ही तू अपना सकती है। हमलोग स्वतंत्र होने के लिए बड़े उत्सुक हैं; पर स्वतंत्र होने की पात्रता हममें है या नहीं, यह सोचने की उत्सुकता हममें नहीं है।

जो जातियाँ स्वतंत्र हैं, उनके गुणों पर ध्यान न देकर हम अधिकतर उनके दोषों पर ही ध्यान देते हैं। अधिकांश लोग तो यह कहते हैं कि जबतक हम स्वतंत्र न हो लेंगे, तबतक स्वतंत्र जाति के लक्षण हममें न आ सकेंगे। नेता भी कहते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्त होने पर ही परतंत्रता-जनित दोष दूर किये जा सकेंगे। यद्यपि ये बातें सर्वथा तथ्यहीन नहीं हैं; तथापि यह विचार करने की आवश्यकता है कि स्वतंत्र होने के बाद हम अपने कौन-कौन-से दोष दूर करेंगे और स्वतंत्र होने के पहले हमें अपने किन दोषों का निवारण करना चाहिए।

पात्रता के लिए प्रेरणा

किन्तु, मेरी समझ में तो स्वतंत्र होने के बाद का कार्यक्रम सोचना मनमोदक खाना होगा। सबसे पहले तो यही सोचना चाहिए कि स्वतंत्र होने के पहले हमें क्या-क्या करना चाहिए। स्वतंत्र हो जाने की चिन्ता से बढ़कर हमें स्वतंत्रता की पात्रता के लिए चिन्ता करनी चाहिए; किन्तु ऐसी प्रवृत्ति हमलोगों में नहीं देख पड़ती। सौभाग्यवश कुछ

भारतवासी ऐसे अवश्य हैं, जो स्वतंत्रता और उसकी पात्रता प्राप्त करने की चिन्ता में ही प्रतिक्षण लीन रहा करते हैं, पर सर्वसाधारण जनता में अभी यह चिन्ता व्याप्त नहीं हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि जनता को स्वतंत्रता की पात्रता प्राप्त करने के लिए उत्साह और प्रेरणा दी जाय। यदि सहसा सब लोगों से अनुरोध किया जाय कि स्वार्थत्यागी और बलिदानी वीर बनो, तो एकाएक लोग वैसे नहीं हो सकते। बड़ी-बड़ी बातों तक लोगों को पहुँचाने के लिए उन्हें छोटी-से-छोटी बातों की सीख देने की आवश्यकता है। ऐसा करने में किसी प्रकार की कानूनी रुकावट भी नहीं है। वैधानिक बाधा तो केवल ऐसी बातों के प्रचार करने में है जिनसे उत्तेजना वा द्रोह-द्वेष फैलने की आशंका हो।

यदि ग्राम-संगठन या ग्राम-सुधार किया जाय तो रचनात्मक कार्यक्रम में बड़ी सहायता मिल सकती है। देश के लाखों आदमी दुर्दशाग्रस्त हैं। अविद्या के घोर अन्धकार में भटकनेवाले करोड़ों ग्रामवासी अपना अत्यन्त साधारण कर्त्तव्य भी भूल बैठे हैं। उन्हें निरन्तर प्रेरणा मिलती रहे तो वे अवश्य ही सन्मार्ग पर आरूढ़ हो सकते हैं। किन्तु, असंख्य गाँवों में अभी संगठन या सुधार का कोई काम नहीं हुआ है। उन्हें सच्चे पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता है। एक-दो बार गाँव में जाकर व्याख्यान झाड़ आने से कोई लाभ न होगा। वहाँ लोगों के बीच स्थायी रूप से निवास करके बड़ी मिठास के साथ नियमित कार्य करने की आवश्यकता है। काम की कमी नहीं है, काम करनेवालों का अभाव है। जो कार्यकर्त्ता हैं भी, उनमें से बहुत ही कम लोगों का ध्यान गाँवों की ओर है। बहुतेरे कार्यकर्त्ताओं ने तो ग्रामीणों में असंतोष और अश्रद्धा की सृष्टि कर दी है। जहाँ-कहीं विश्वसनीय और सच्ची लगन के कार्यकर्त्ता हैं, वहाँ काम भी अच्छा हो रहा है। पर, ऐसे गाँव उँगलियों पर गिन लेने योग्य हैं। आदर्श कार्यकर्त्ताओं की टोली तैयार करने के लिए कई बार प्रयत्न भी हुए हैं; पर सच्ची धुन के कर्मठ व्यक्ति बहुत कम निकले हैं।

आत्मविश्वास का अभाव

हमारे देश के होनहार और उत्साही नवयुवक स्कूल-कॉलेजों से निकलते ही छोटी-मोटी नौकरियों की खोज में लग जाते हैं। उनके मन में ग्रामीणों की उदारता और सरलता का विश्वास नहीं रहता। वे समझते हैं कि गाँवों में रहने से जीविका नहीं चल सकती; किन्तु ऐसी समझ का कारण है आत्मविश्वास का अभाव। यदि सच्ची लगन का विनयी कार्यकर्त्ता हो तो गाँववाले उसे पूजने लगेंगे। उन लोगों के मन में यह दृढ़ विश्वास जमा देने की आवश्यकता है कि हम सर्वान्तःकरण से, निष्पक्षता के साथ, ग्रामीणों की सेवा में ही जीवन बिताना चाहते हैं।

यह तो निश्चित ही है कि गाँवों में जाकर कार्यक्षेत्र तैयार करने के लिए अटल संकल्प और साहस तथा अध्यवसाय की आवश्यकता पड़ेगी; किन्तु नौकरियों के लिए जितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं, उतनी अपमानपूर्ण कठिनाई वहाँ न झेलनी पड़ेगी। आज जो इने-गिने युवक आरम्भिक झिझक छोड़कर गाँवों में अपना कार्यक्षेत्र तैयार कर चुके हैं, वे नौकरी करनेवालों से अच्छी स्थिति में हैं। उन्हें आर्थिक लाभ कुछ कम भले

ही हो; पर शारीरिक सुख और मानसिक शान्ति कम नहीं है। फिर ग्रामसेवा के लिए कटिबद्ध होनेवाले के लिए देशसेवा का अनुराग और स्वार्थ-त्याग की प्रवृत्ति पहली शर्त्त भी है। ऐसे लोक-सेवक जबतक गाँव-गाँव में फैलकर कार्य-तत्पर नहीं हो जाते, तबतक हमलोगों की कल्पना-जल्पना का कोई महत्त्व नहीं।

नागरिकों के लिए भी कार्यकर्त्ता

यदि सच पूछिए, तो ग्रामीणों की तरह शिक्षितों और नागरिकों में भी काम करनेवालों की आवश्यकता है। जो लोग सभ्य कहलाते हैं, अखबार पढ़ा करते हैं, बाबू बने फिरते हैं; उनकी दशा कम शोचनीय नहीं। वे स्वच्छता के साधारण नियम भी नहीं जानते, या जानते भी हों तो उनके पालन का आग्रह नहीं रखते। नागरिकता की गन्ध तो सौ में दो-चार में ही पाई जाती है। ज्ञान तो बहुतों को है, पर व्यवहार में लाने की प्रवृत्ति कम लोगों में देखी जाती है।

विश्वास न हो, तो रेल का सफर करके देख लीजिए, हाट-बाट में परख लीजिए, अनेक स्थलों में गहरी निगाह डालने से वास्तविकता सूझ जायगी। इएटर क्लास में प्रायः शिक्षित सभ्य बाबू लोग ही सफर करते हैं। उन्हें थूकने का भी शऊर नहीं, दूसरों की सुविधा का ध्यान नहीं, स्त्रियों के सम्मान का ज्ञान नहीं। मैंने एम्० ए० पास सज्जनों को मुसाफिरखाने के बीच में और प्लेटफार्म पर पान की पीक थूकते देखा है। कितने ही सफेदपोश बाबू लोग मूँगफली और केले-सन्तरे डब्बे में ही छीलते हैं, पूरियाँ खाकर पत्तल आगे के प्लेटफार्म पर ही फेंकते हैं—पीछे को लाइन पर नहीं; और ऊपर से स्टेशन की सड़ी मलाई का पुरवा भी झुँझलाकर पटक देते हैं।

इस तरह के अनेक दृश्य घाटों पर और मेलों में देख पड़ते हैं। जब लिखे-पढ़े लोगों का यह हाल है, तब देहातियों की शिकायत का कोई अर्थ नहीं। कौन कह सकता है कि इलाहाबाद स्टेशन पर राष्ट्रपति मौलाना आजाद केले के जिस छिलके पर फिसलकर घायल हुए थे, वह किसी बाबू का प्रसाद था या किसी गँवार देहाती का? किन्तु, राष्ट्रपति के पैरों में अचानक चोट आ जाने से राष्ट्रीय कार्यक्रम में बाधा उपस्थित हो गई, उसका जिम्मेवार कौन?

इसी प्रकार, यदि हम देश की अनेक बातों पर ठंडे दिल-दिमाग से विचार करें तो स्पष्ट मालूम होगा कि हमलोग सहसा स्वतंत्रता की रंगशाला में प्रवेश करके सफल अभिनय ही करना चाहते हैं, 'रिहर्सल' या अभ्यासक्रम की कुछ भी आवश्यकता नहीं समझते। हमलोग यह सोचते हैं कि स्वतंत्र होने के बाद एक साथ ही सारे सुधार कर डालेंगे। स्वतंत्र होते ही साल-भर में समाज को कानून की गंगा में दबोचकर विशुद्ध बना लेंगे, शिक्षा को भी विधान की दिव्य अग्नि में तपाकर चमका लेंगे, वैवाहिक सुधार तो देखते-देखते कर लेंगे। किन्तु, यह धारणा अच्छी नहीं है। इस तरह की मनोवृत्ति से कल्याण की आशा नहीं। इससे तो यही पता लगेगा कि हमारे हृदय में अभी वह पवित्र ज्वाला धधकी ही नहीं है।

राष्ट्रीय भावना की कमी

रंग-ढंग से भी कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। धनी-मानी लोग धन की राशि पर अजगर बने बैठे हैं, देशोद्धार और समाज-सुधार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य अधूरे पड़े हैं। कितने ही काम ऐसे हैं जिनमें किसी प्रकार का राजनीतिक अथवा वैधानिक भय नहीं है; पर हमारे धनीधोरी लोग देश की आवश्यकता समझते ही नहीं। दुर्भाग्यवश गुप्त दानियों के लिए तो 'अनामिका सार्थवती' हो गई है। नौजवानों में भी फैशन का घुन लग गया है। जब उन्हें शील और चरित्र का ही कम ध्यान है, तब देश का विशेष ध्यान कब रह सकता है।

रईसों और कमासुत लोगों में भी गिने-चुने ही ऐसे हैं जिन्हें अपने देश, अपने वेश और अपनी भाषा के गौरव का अभिमान है। वे लोग शान के लिए कोई अँगरेजी अखबार खरीदते हैं, पर हिन्दी का छूते भी नहीं और बेहयाई को चपतियाकर कह बैठते हैं—हिन्दी में कुछ है भी कि पढ़ें!

पाठक स्वयं ही अपने आसपास के लोगों का गम्भीरतापूर्वक निरीक्षण करके देखें कि 'स्वदेशी'-व्रत का संकल्प कितने लोग सचाई से निवाहते हैं। अपने साहित्य और अपनी संस्कृति की महत्ता पर कितने लोगों की अचल आस्था है, देश की दुर्गति के प्रति कितने लोगों की वास्तविक सहानुभूति है। व्यापारी लोग 'दिन प्रति लाभ लोभ अधिकाई' के शिकार हैं, देश गया 'तेलहण्डा'-तले। किसान तो बस सरकार के सिर दोष मढ़कर दूध के धुले बन जाते हैं; कहते हैं कि कानूनी गोरख-धन्धे के कारण अदालती लड़ाई लड़नी पड़ती है; मगर यह बात सोलहो आने सच नहीं है। नागरिकों को सिनेमा के शौक से छुट्टी नहीं। पढ़े-लिखे लोग समझ बैठे हैं कि उन्नति का आलोक पश्चिम से आया, हम तो असभ्यता की अँधेरी रात में भटक रहे थे। विद्वान् लोग कहते हैं कि विदेशी से ही प्रगतिशीलता की ज्योति आई, हमारे पूर्वज और उनके विचार अप्रगतिशील हैं। तात्पर्य यह कि राष्ट्रीय भावनाएँ अभी बहुतों के हृदय में उद्बुद्ध नहीं हुई हैं।

इसी के लिए ग्रामों और नगरों में सामूहिक उद्योग की आवश्यकता है। ऐसे शुभ उद्योग कई बार हुए भी हैं; पर अभी जन-जन के मन में राष्ट्रीय गौरव की विशुद्ध भावना बद्धमूल नहीं हुई है। जिनके हृदय में राष्ट्रीय चेतना जाग चुकी है, वे अपनी शक्ति-भर जूझ रहे हैं; पर उन्हें जनता के चौमुखे सहयोग की आवश्यकता है। असंख्य हृदयों में पनपी हुई राष्ट्रीय भावना क्रूरता से कुचल दी गई है; फिर भी लोगों का हृदय निर्बीज नहीं हुआ है; पर अभी उसके लगातार पोषण की आवश्यकता है। इसी के लिए शान्तिप्रिय कार्यकर्त्ताओं की माँग है, जो देश और समाज के कोने-कोने में जाकर लोगों को कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा दें। किन्तु, कर्त्तव्य-पालन के लिए उनके सामने ऐसे सुझाव न रखें कि उन्हें हिचक या आतंक हो। उनसे ऐसे सरल अभ्यासों का श्रीगणेश कराया जाय जो उनके लिए सुगमतापूर्वक साध्य तो हों ही, उन्हें शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक लाभ पहुँचानेवाले भी हों।

छोटी-छोटी बातों की शिक्षा

अभी तो हमें देशवासियों को पहले बहुत-सी छोटी-छोटी बातें भी सिखाने का अवसर नहीं मिला है। लोग स्वच्छता और स्वास्थ्य तथा शिष्टाचार की साधारण-से-साधारण बातें भी नहीं जानते। हमें सिखाने में कोई झुँझलाहट न हो तो उनके जीवन को सुखमय, सुव्यवस्थित और शान्तिपूर्ण बनाने के लिए अभी बहुत-कुछ सिखाना है। वे महामारियों से बचानेवाली सामान्य बातें भी नहीं जानते। खेती-बारी में लाभ पहुँचानेवाली नई-नई बातों से वे अनभिज्ञ हैं। समय का सदुपयोग करना तो वे जानते ही नहीं। भोजनादि के विषय में वे पूरे असावधान हैं। टिकट कटाने का ढंग उन्हें नहीं मालूम। मन्दिर में जायँगे तो हल्ला करेंगे; सभा में जायँगे तो असहिष्णुता का प्रदर्शन करेंगे। फिजूलखर्ची के बारे में उनकी बहुत ही थोड़ी जानकारी है। गृह-निर्माण-कला की अनभिज्ञता उनके परिवार का संहार कर रही है। पशु-चिकित्सा न जानने से वे अपने गोधन की रक्षा नहीं कर पाते। अन्धविश्वासों में फँसकर वे पौरुषहीन और निर्बुद्धि हो गये हैं। विदेशी सभ्यता की चकाचौंध में वे स्वदेशाभिमान और भारतीय संस्कृति को भूलते जा रहे हैं।

आशय यह है कि इसी तरह के अनेक दोष हमलोगों में घर किये हुए हैं, जिनका मार्जन किये बिना स्वतंत्रता की सुपात्रता नहीं प्राप्त हो सकती। यदि इन छोटी-मोटी बातों की उपेक्षा न करके हम सजग होने की ठान लें, तो ईश्वर की दया से स्वतंत्रता के बीज-वपन एवं अङ्कुरसिंचन के लिए सरस, उर्वर क्षेत्र तैयार होने में देर न लगेगी।

—साप्ताहिक 'आज' (काशी); वर्ष ७, अंक १; १७ जुलाई, १९४४ ई०

•

देश का ध्यान

स्वतन्त्र देशों के लोग प्रत्येक कार्य करते समय अपने देश की भलाई और बड़ाई का ध्यान रखते हैं। किसी के साथ बातचीत या कोई व्यवहार करते समय इस बात का वे सदा ध्यान रखते हैं कि हमारी बातें सुनकर या हमारा व्यवहार-बर्ताव देखकर उस व्यक्ति के मन में हमारे देश के प्रति घृणा या हेय धारणा न हो। दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार का विशेष अभाव होने से अधिकांश लोगों को स्वदेश की प्रतिष्ठा और कीर्त्ति का ध्यान नहीं रहता। यदि हमारे देश के लोगों के मन में स्वदेश के गौरव की भावना सदा बनी रहती तो आज देश की ऐसी दुर्गति न होती। जबतक पग-पग पर देश का ध्यान रखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति हममें नहीं दिखाई पड़ती तबतक देशोद्धार की आशा भी पूरी होती नहीं नजर आती। खान-पान में, बोल-चाल में, रहन-सहन में, वेश-भूषा में, उठने-बैठने में, लिखने-पढ़ने में, चलने-फिरने में, पूजा-पाठ में, लेन-देन में, जीवन के सभी व्यवहारों में, सब तरह के लौकिक और सामाजिक आचरणों में अपने देश की सभ्यता, संस्कृति एवं विशेषता का ध्यान रखना

बड़े महत्त्व का विषय है। किन्तु, हमारे यहाँ के सुशिक्षित जन भी इस महत्त्व के विषय पर टुक ध्यान नहीं देते। विदेशियों के स्वदेशाभिमान की बातें हम प्रायः देखते, सुनते और पढ़ते हैं; परन्तु उनपर न कभी ध्यानपूर्वक विचार करते हैं और न कभी तदनुसार आचरण ही करते हैं।

धन का अपव्यय

सामाजिक और धार्मिक कार्यों में देश की दशा का ध्यान बहुत कम लोगों को रहता है। देश की भलाई और उन्नति के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य द्रव्याभाव के कारण अपूर्ण पड़े हुए हैं और विवाह, श्राद्ध आदि में अपव्यय का कोई ठिकाना नहीं है। प्रतिवर्ष हमारे देश के दानी लोग करोड़ों रुपये अपना परलोक सँवारने के लिए दान देते हैं; पर वास्तविक लोकोपकार का ध्यान बहुत कम दानी रखते हैं। मन्दिर और धर्मशाला बनानेवाले बड़े-बड़े दानी देश-काल का ध्यान छोड़कर केवल अपने ही लिए पुण्य और यश कमाने के उद्देश्य से अन्धाधुन्ध रुपये खर्च करते हैं। वे कभी सपने में भी यह नहीं सोचते कि इस समय देश में मन्दिरों और धर्मशालाओं से कहीं अधिक विद्यालयों और पुस्तकालयों तथा गोशालाओं और अस्पतालों की आवश्यकता है। इस तरह की कितनी ही देशोपकारिणी संस्थाएँ द्रव्याभाव से अवनत दशा में पड़ी हुई हैं और धनी दानी लोग परलोक की ओर आँखें उठाये थैली की पेंदी काटते चले जा रहे हैं। अनाथालयों और विधवाश्रमों से मन्दिरों की संख्या सौगुनी अधिक होगी, फिर भी अधिकांश दानी और धनी उधर ही ध्यान देते हैं। इसका कारण यही है कि उन्हें देश का ध्यान नहीं है।

देश में बहुत-से ऐसे धन-सम्पन्न परिवार हैं, जिनमें धन का उपभोग करनेवाले व्यक्ति बहुत कम हैं या हैं ही नहीं। कितने ही धनाढ्य परिवारों में निस्सन्तान विधवाएँ गृहस्वामिनी हैं जिनका कोई उत्तराधिकारी नहीं। ऐसे धनी परिवारों के धन की जो दुर्दशा होती है, वह सबकी आँखों के सामने है। यदि कोई देशहितैषी ऐसे परिवारों के स्वामी या स्वामिनी से धन का देशहितार्थ सदुपयोग करने की बात कहे तो उनपर उस बात का कोई असर नहीं होता। उनमें सैकड़े दो-चार ही ऐसे होते या ऐसी होती हैं जो देश की वर्त्तमान आवश्यकताओं की पूर्त्ति पर ध्यान देते या देती हैं। अधिकतर वे स्वार्थसिद्धि और परलोक-चिन्ता में ही संलग्न रहकर धन खर्च करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि देश के लोगों की धार्मिक धारणा अत्यन्त संकुचित और सङ्कीर्ण हो गई है।

हमारे धर्मशास्त्रों में सभी तरह के पुण्यों से बढ़कर परोपकार और लोक-सेवा की महिमा बखानी गई है। जीवदया और जनसेवा से जितना परलोक बन सकता है, उतना और किसी पुण्य से नहीं, यह बात हमारे धर्मशास्त्र पुकार-पुकार कर कह रहे हैं; फिर भी जन-समुदाय के कल्याण की चिन्ता छोड़कर लोग व्यक्तिगत कल्याण के फेर में ही पड़े रहते हैं। इस देश में हजारों मन्दिर ऐसे हैं जिनके निर्माताओं ने देवोत्तर सम्पत्ति का कोई स्थायी प्रबन्ध नहीं किया है। परिणाम यह देखा जाता है कि अनेक मन्दिरों की रक्षा और उनमें पूजापाठ, राग-भोग तथा उत्सव का कोई नियमित प्रबन्ध नहीं है। सनातनधर्म-महासभा और हिन्दू-महासभा के कर्णधार देश-भर के देवालयों की दुर्दशा खुली आँखों देख रहे हैं;

पर वे इस दिशा में कोई संघटनात्मक कार्य नहीं करते। हिन्दू-जाति के लोग इस देश पर अपना स्वत्व स्थापित करने को बहुत उत्सुक हैं; पर इसकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्त्ति पर उनका ध्यान जैसा चाहिए, वैसा नहीं है।

इस कृषि-प्रधान देश के मेरुदण्ड-स्वरूप असंख्य गाँवों में अविद्या का भी अन्धकार छा रहा है; पर ज्ञान का प्रकाश फैलाने की चिन्ता पाँच प्रतिशत धनिकों में भी नहीं दिखाई पड़ती। स्वदेशी चिकित्सा की समुचित व्यवस्था न होने से अनेक गाँवों के मनुष्य और पशु अकाल काल-कवलित हो रहे हैं और समर्थ दानी लोग उन्हीं तीर्थस्थानों में नये-नये मन्दिर बनवाते चले जा रहे हैं, जहाँ मन्दिरों की कोई आवश्यकता ही नहीं है—गाँवों के केन्द्र-स्थानों में मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय अथवा दातव्य औषधालय स्थापित करने की सूझ किसी में पैदा ही नहीं होती। इसका प्रत्यक्ष कारण है देश का ध्यान न होना।

जनता की स्थिति

जिस देशानुरागी का मन हर घड़ी देश के ध्यान में लीन रहता है, वह पग-पग पर छोटी-से-छोटी बात में भी, देश का ध्यान रखता है। वह कभी कोई काम ऐसा नहीं करता जिससे देश की हानि अथवा अप्रतिष्ठा हो। दूसरों की नजरों में वह जँचाना चाहता है कि मैं सभ्य देश का निवासी हूँ। वह अपने देश की लाज रखने के लिए कष्ट, कठिनाई और असुविधा सहर्ष झेलता है। पर, जिसके मन में देश का ध्यान नहीं है, वह अपने आचरण से सर्वत्र ही देश की हीनता और अपकीर्त्ति का कारण बनता है। यदि किसी से उसका मत नहीं मिलता तो उसे अपमानित करने के लिए वह अपनी मनुष्यता तक छोड़ देता है। सिद्धान्त-सम्बन्धी विरोध व्यक्तिगत शत्रुता का कारण बनकर समाज को दूषित करता है। मतभेद से उत्पन्न द्रोह अथवा कलह घोर वैमनस्य का बीज-वपन कर रहा है। राजनीति, धर्म, समाज, साहित्य, सब में पारस्परिक द्वेष अनर्थ कर रहा है। मतभेद को कोई अस्वाभाविक नहीं कह सकता; परन्तु प्रतिस्पर्धा जो ईर्ष्या की जननी बन बैठी है, उसे कोई देशप्रेमी या देशध्यानी पसन्द नहीं कर सकता।

इस समय देश में चारों ओर चुनाव की चुनौती की चर्चा चल रही है। कुछ ही दिनों में पता लग जायगा कि देश का ध्यान कितने लोगों को है। 'लोगों' से यहाँ मतलब साधारण जनता से नहीं है, जनता को बहकानेवालों से है—जनता को भ्रमजाल में डालनेवालों से है। जनता को तो देश का ध्यान अवश्य है, पर वह जागरूक नहीं है। यदि जनता में देश का ध्यान सजग होता तो वह अपना हिताहित पहचान सकती—उसपर मायावी लोगों का जादू कभी न चलता। किन्तु, जनता के हृदय में देशहित की चेतना सुषुप्त दशा में पड़ी हुई है। उसे निरन्तर जगाये रखनेवाले सन्देशवाहक प्रायः जनता तक बहुत कम पहुँच पाते हैं। आज भी असंख्य गाँव ऐसे हैं, जहाँ अखबारों की पहुँच नहीं है। जहाँ कहीं उनकी पहुँच है भी, वहाँ उनसे लाभ उठानेवाले बहुत कम हैं। यात्रा-मार्ग की सुविधा न होने से प्रभावशाली व्यक्तित्ववाले सच्चे नेता गाँवों में नहीं पहुँच पाते। जब देश की

अधिकांश जनता गाँवों में ही रहती है तब गाँवों की ऐसी उपेक्षा न होनी चाहिए। ऐसी दशा में ग्रामीण जनता से देश का ध्यान छूट जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

किसी सभा या महोत्सव में एकत्र हुई जनता का क्षणिक उत्साह देखकर देश की जागृति का अनुमान कर लेना बहुत सहज है, किन्तु जनसमाज की आन्तरिक स्थिति का भलीभाँति पर्यवेक्षण करने पर स्पष्ट विदित हो सकता है कि लोग अपने नित्य के आचरण से देशहित का कार्य कहाँ तक साधते हैं। समय के सदुपयोग से देश को किस प्रकार लाभ पहुँचाया जा सकता है, यह तो यहाँ के सुशिक्षित लोग भी बहुत कम जानते हैं, अशिक्षित जनता की कौन बात। जीवन के अमूल्य क्षणों का उपयोग करते समय कितने लोगों को देशहित का ध्यान रहता है, यह हमलोग प्रतिदिन हर जगह देखते हैं। हमारा सामाजिक जीवन ऐसा असंयत हो गया है कि जो कोई समय का सदुपयोग करना भी चाहता है वह मुश्किल से कर पाता है। देशहित के कामों में जितनी विघ्न-बाधाएँ आज दिखाई पड़ती हैं उनके मूल कारण अधिकतर हमारे देशवासी ही हैं। यदि सब लोग देश का ध्यान रखें तो विपक्षियों की एक नहीं चल सकती। इस समय जिसके पास जो कुछ भी शक्ति है, उसे उसका उपयोग देशवासियों को देश का ध्यान बँधाने में करना चाहिए।

रहन-सहन कैसा हो ?

अब वह समय आ गया है जब प्रत्येक देशवासी को प्रतिक्षण देश का ध्यान रखना चाहिए। हर एक काम में भारतीयता का ध्यान बना रहे तो अनायास देशहित का पक्ष पुष्ट होगा। हम बाजार में निकलें तो स्वदेशी वस्तुओं पर ही ध्यान दें, यात्रा करने चलें तो स्वदेश की सभ्यता की मर्यादा का ध्यान रखें, सभा में जायँ या मेले में, तीर्थ-स्थान में जायँ या किसी दूसरे सार्वजनिक स्थान में, धर्मशाला में रहें या मुसाफिरखाने में—सब जगह इस बात का ध्यान रखें कि कोई हमें असभ्य देश का निवासी न कहने पावे। मन्दिर और अस्पताल में भी जहाँ पूर्ण शान्ति की रक्षा होनी चाहिए, हम हल्ला करने में नहीं हिचकते। इन सभी स्थानों में हमारा आचरण देखकर कोई स्वतंत्र देश का निवासी यही समझता है कि भारतवासियों के मन में स्वतन्त्रता पाने की तो उत्कट इच्छा है, पर स्वतन्त्रता का उपयुक्त पात्र बनने की प्रवृत्ति नहीं है। सिनेमा-घर में, प्रदर्शनियों में, घुड़दौड़ के मैदान में, रेल के डब्बे में, स्टेशन के प्लेटफार्म पर, बड़ी-बड़ी दूकानों तथा ऐसे अनेक स्थलों में हम अपने अवांछनीय आचरणों की आलोचना करते हुए स्वतंत्र देशवासी विदेशियों को देखते हैं, पर हमारा ध्यान उधर नहीं जाता; क्योंकि देश का ध्यान हमसे वैसा ही छूट गया है जैसे आधुनिक वैज्ञानिकों से मानव-जाति के कल्याण का ध्यान छूट गया है।

सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हमारे देश की शिक्षा-पद्धति हमारे मन में स्वदेशी-भावना नहीं भर पाती—स्वाभिमान नहीं जगा पाती। जो कुछ स्वदेशी भाव हममें दिखाई पड़ता है, वह स्वदेशी भाषा के अखबारों के सतत उद्योग का फल है; नहीं तो हमारे अभागे देश के शिक्षक और अध्यापक भी बहुत कम ऐसे देखने में आते हैं जो अपने छात्रों

में स्वदेशानुराग या स्वदेशाभिमान भरते हों। पाठ्य-पुस्तकों ने हमारी कई पीढ़ियाँ नष्ट की हैं और अभी तक वह सर्वनाश का क्रम चल ही रहा है। ऐसी स्थिति में सर्वजन-सुलभ और सर्वजनसुखद साहित्य का प्रकाशन अत्यावश्यक प्रतीत होता है। छोटी-से-छोटी बात का भी सरलतापूर्वक ज्ञान करानेवाली एक-एक पैसे की सर्वाङ्गसुन्दर पुस्तकें जनता में प्रचारित की जायँ, जिन्हें देखते ही लोग पढ़ने को उत्सुक हो उठें। अथवा शहर के मुहल्ले-मुहल्ले में, देहात के गाँव-गाँव में, समय-समय पर सर्वोपयोगी व्याख्यान या प्रवचन हों या अखबार पढ़ सुनाये जायँ। इस तरह के और भी संघटनात्मक प्रयत्न किये जा सकते हैं। जब तक सार्वजनिक जागृति के लिए कोई स्थायी योजना नहीं बनेगी और उसकी सफलता के लिए देशभक्तों की टोली देश के कोने-कोने में न फैल जायगी, तब तक देश पूर्णतया प्रबुद्ध नहीं हो सकता। यदि हम सचमुच सोच देखें तो साफ मालूम होगा कि हमारे अधिकांश कष्ट और सङ्कट केवल हमारी अज्ञता और असावधानता के कारण उत्पन्न हुए हैं और होते हैं। यदि हम हर हालत में देश का ध्यान बनाये रखें तो हमारे दुःखों का भी अन्त हो और देश का भी कल्याण हो।

—साप्ताहिक 'आज' (काशी); कार्त्तिक सं० २००२ वि० (१८ अक्टूबर, सन् १६४५)

●

स्वतंत्रता से उत्साह नहीं—आशा?

जिस स्वतंत्रता का स्वागत सारे देश में काफी धूमधाम से हो रहा है, उसके शुभागमन से देशवासियों में जैसा उत्साह उमड़ना चाहिए वैसा उत्साह उमड़ता नजर नहीं आता। इसका कारण प्रत्यक्ष है। जिस स्वतंत्रता के लिए देश ने वर्षों संघर्ष किया, संकट झेला, बलिदान किया, वह न मिल सकी। हमारा संकल्प अखण्ड स्वतंत्रता पाने का था, पर यह खण्डित ही मिली। किन्तु, उसके मिलने के समय में देश की जैसी परिस्थिति थी, वैसी स्थिति में वही मिल सकती थी, सो मिल ही गई। 'अर्ध तजहिं बुध सरबस जाता'—हमारे दूरदर्शी नेताओं ने बंगाल और पंजाब के बहुमत का मान रखकर भविष्य को आशा का आलोक दिया और वर्त्तमान को गोरी सत्ता से मुक्त किया। अतएव, इस खंडित स्वतंत्रता में भी उत्साह का मूल इतना ही नजर आता है कि हमारा प्यारा देश विदेशी प्रभुत्व से छुटकारा पा गया। यद्यपि जनता में इस बात की चर्चा और आशंका अब भी है कि भारत-भूमि विदेशी सत्ता से अभी सर्वथा शून्य नहीं हुई है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं जान पड़ता कि विभाजित हिन्दुस्तान से, जिससे हमारा विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध है—गोरी सत्ता विदा हो गई। अँगरेज-जाति से हमें किसी प्रकार की घृणा न थी। हमें घृणा थी अँगरेजी शासन-पद्धति से—साम्राज्यवाद और शोषण-प्रणाली से। उसीसे पिण्ड छुटा है, इसीसे उत्साह भी है।

हमारे कुछ भाई इस स्वतंत्रता के लिए उत्साह प्रकट करना अनावश्यक और अनुचित समझते हैं। इसके लिए एक प्रकार से काँगरेस को कोसते भी हैं। उनकी देशभक्ति की प्रखरता में कोई सन्देह नहीं। भगवान् करे, उनका स्वप्न भी मूर्त्त हो जाय। किन्तु, इसमें कोई शंका नहीं दीख पड़ती कि उनकी कल्पना में जैसा अखण्ड भारत बसा हुआ है वैसा ही भारत काँगरेस का भी अभीष्ट है। उस अभीष्ट की सिद्धि काँगरेस का भी लक्ष्य है। काँगरेस के वर्त्तमान उत्साह में उस लक्ष्य-सिद्धि की आशा का आलोक भी है। किन्तु, विचारने योग्य बात यह है कि काँगरेस को मंजिल की ओर छरीदा नहीं बढ़ना है। उसके आगे-पीछे और अगल-बगल तरह-तरह की जकड़बन्दियों की ढीली-गीली गठरियाँ लटक रही हैं। बेड़ी-कड़ी से बँधे हाथ-पैरवाले तैराक का 'इङ्गलिश-चैनल' तैर जाना कोई साधारण सफलता नहीं है—कुछ आसान काम भी नहीं है। यह सब सोच-समझकर हमें काँगरेस के उत्साह-प्रवाह में अपने मन की उमंग-तरंग को सहृदयता से मिला देना चाहिए। इससे उसका बल बढ़ेगा। उसीके बल के प्रभाव से हम आज का सुदिन देख सके हैं।

अब, जब देश के दुर्दिन बीत चले और सुदिन बहुरने को हैं, हमें यह सोचना चाहिए कि जितनी स्वतंत्रता हमें मिली है उतनी का भी सदुपयोग कैसे किया जाय। स्वतंत्रता प्राप्त करने में देश ने चाहे जितना उत्तरदायित्व निबाहा हो, पर अब उतने ही से काम न चलेगा। अब देशवासियों का उत्तरदायित्व पहले से भी अधिक गंभीर हो गया है। किसी अभीष्ट वस्तु के प्राप्त कर लेने में ही गौरव नहीं है, वास्तविक गौरव तो उसके उपभोग एवं उपयोग की प्रणाली स्थिर करने में है।

किसी भी सुन्दर और प्रिय वस्तु के भोगने के लिए यथोचित योग्यता—शक्ति और बुद्धि, सुरुचि और लगन चाहिए। आज हमें अपने-आपको टटोलकर देखना है कि स्वतंत्रता भोगने की पात्रता हममें कितनी है—पुरुषार्थ कितना है। जिसका शरीर दुर्बल है, चरित्र दुर्बल है, मन दुर्बल है वह संसार का कोई आनन्द भोग नहीं सकता। अगर हमें सचमुच स्वतंत्रता भोगना है तो हम अपनी दुर्बलताओं से पिण्ड छुड़ायें—स्वार्थ-साधन की प्रवृत्ति, जो हमारी वर्त्तमान दुर्बलता है, छोड़ने का संकल्प और अभ्यास करें। अब जितनी सुख-सुविधा हम अपने लिए चाहते हैं उतनी ही दूसरों को भी भोगने दें—हम यह समझें कि स्वतंत्रता का सुख भोगने का अधिकार जितना हमको है, उतना ही दूसरों को भी। जब तक देशवासियों की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति इस तरह की न होगी तबतक स्वतंत्रता पाने का कोई अर्थ नहीं। स्वतंत्रता की चरितार्थता इसी बात में है कि प्रत्येक मनुष्य यह समझने लगे—मनुष्य के प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है, मनुष्य का अधिकार क्या है, युग की माँग क्या है, देश की आवश्यकता क्या है और मातृभूमि का कल्याण किस बात में है। यह भावना पग-पग हमारे साथ रहे। तभी हम स्वतंत्र-देशनिवासी कहला सकेंगे। तभी हमारा 'योग-क्षेम' कायम रहेगा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति का हर्षोल्लास व्यक्त करने के बाद हमारा ध्यान इस बात के विचार पर दृढ़ता से टिकना चाहिए कि स्वतंत्र देश के निवासियों का आचार-व्यवहार, बोल-चाल, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, शिक्षा-दीक्षा, चाल-ढाल, शील-स्वभाव, मनोभाव और

आदर्श कैसा होता है—हममें उन सबकी कितनी मात्रा है—हम कैसे उन गुणों से अपने को सुसज्जित कर सकते हैं—इत्यादि। अब हमें अपने को ऐसा बनाना है कि स्वतंत्र देशों के निवासी हमारे नवनिर्मित देश को देखकर स्वदेश (विदेश) लौटें तो हमारी प्रशंसा करें—हमारी स्वतंत्रता की पात्रता का लोहा मान लें। हमारा आचरण ही यह प्रमाणित करेगा कि स्वतंत्रता का उत्तरदायित्व सँभालने की क्षमता हममें है या नहीं। हमें वैसे ही आचरण का अभ्यासी बनना पड़ेगा। उस अभ्यास का श्रीगणेश तत्क्षण ही होना चाहिए।

हमारे लेखक और कवि अब अपनी लेखनी सँभालें—देश के नवनिर्माण में उनके सत्परामर्श की आवश्यकता है। हमारे पत्रकार अपनी दृष्टि का विस्तार क्षितिज के छोर तक करें, बल्कि उसके पार भी,—संघर्ष से श्रान्त देश में उनको नवजीवन-संचार करना है। हमारे शिक्षक और अध्यापक अपना स्वर बदल डालें—छात्रवर्ग के मस्तिष्क से उन्हें दूषित शिक्षा-प्रणाली का कुत्सित प्रभाव बहिष्कृत करना है। हमारे राष्ट्र-धन बालक और युवक कटिबद्ध हो जायँ—मातृभूमि की पुकार वायुमंडल में गूँज रही है। तुरत अनुशासन-पथ पर कूच करना है। हमारे जननायक शहर की चिकनी सड़कों पर मोटर दौड़ाना छोड़ गाँवों के खेत-खलिहानों की ओर मुड़ें—किसानों और मजदूरों की समस्याएँ उनकी बाट जोह रही हैं। हमारे धनी-मानी दानी अब देशदशानुसार दान-प्रणाली सीखें—उन्हें मन्दिर और धर्मशाला की जगह विद्यालय और पुस्तकालय बनवाना है। हमारे व्यापारी देशहित पर ध्यान रखकर व्यवसाय करना सीखें—उन्हें घरेलू उद्योग-धन्धों पर भी पूँजी लगानी है। इसी प्रकार, हमारे प्रकाशक भी चेतें—उन्हें साहित्य को उन्नत और सम्पन्न करना है। सब लोग अपने-अपने काम सँभालें—अपनी-अपनी जिम्मेवारी समझें, स्वतंत्रता के स्थायित्व की यही शर्त्त है।

भले ही मन-माफिक आजादी न मिलने से कुछ हौसला पस्त पड़ गया-सा जान पड़ता है, लेकिन आशा तो अवश्य ही है कि कर्त्तव्य-बुद्धि जगने पर मनोरथ सफल होकर ही रहेगा।

—साप्ताहिक 'योगी' (पटना); १५ अगस्त, १९४७ ई०

•

बाहर सिद्ध, भीतर विद्ध

आज १५ अगस्त को भारत के भाग्याकाश में अगस्त्य उदित हुआ। यह दिन हमारे इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

हमारा उद्देश्य सिद्ध है, किन्तु हृदय विद्ध है!

दुनिया जानती है, भारत स्वतंत्र हो गया! किन्तु देश के खण्डित होने से हमारा हृदय बिंधा हुआ है। सदियों से जो हमारे साथ थे, आज बिलग हो गये। हम अपने घर में उत्सव मना रहे हैं, वे अपने घर में अपने भाग्य को कोसते होंगे—उनके दिल की

धड़कन क्षण-क्षण बढ़ती जाती होगी। हम कैसे चैन की वंशी बजायें, जब वे बेचारे सिर धुन रहे हैं। इधर हृदय तो विंधा हुआ है ही, उधर देश का दिल भी कुरीतियों और कमजोरियों से छिदकर छलनी बना हुआ है। अँगरेजों से हम निबट चुके, अब इनसे हमें पिण्ड छुड़ाना है। नाना प्रकार की सामाजिक कुरीतियाँ देश को खोखला बना रही हैं। तरह-तरह की नैतिक कमजोरियाँ हमारी मनुष्यता की गर्दन चाँपे हुई हैं। अनेक धार्मिक अन्धविश्वास हमारी आँखों पर काला पर्दा डाले हुए हैं। हमारे स्वार्थों ने देश की भलाइयों पर घेरा डाल रखा है। हमारे स्वार्थ की लगातार मार से समाज बेचारा पनप नहीं पाता। साहित्य और धर्म भी उसी के शिकंजे में बेबस तड़प रहे हैं। इस बात को हिये की आँखों से देखना होगा। स्वतंत्रता ने जितना वलिदान हमसे लिया उससे अधिक वलिदान हमें अब करना पड़ेगा। सबसे पहले वलिवेदी पर स्वार्थ-पिशाच को चढ़ाना होगा। वह घर-घर में घुस गया है, जन-जन के तन-मन में रम गया है, बात-बात में घर कर गया है। उसका बहिष्कार और संहार किये विना क्या स्वतंत्रता टिक सकेगी?

स्वतन्त्रता-दिवस का यही तकाजा है कि हम आत्मनिरीक्षण और आत्मपरीक्षण करें—अपना बाना सँभालें, अपने आप को टटोलें और तौलें। आज का उत्सव मना लेने के बाद ही गम्भीरतापूर्वक सोचें—हममें कितनी खामियाँ हैं, हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त त्रुटियाँ कैसे दूर होंगी, हम किस तरह के आचरण से अपने को स्वतन्त्रता का उपयुक्त पात्र सिद्ध कर सकेंगे, स्वतन्त्र देश के निवासी कहलाने के लिए हमारे सभी लौकिक व्यवहारों में कितनी सफाई और सचाई की आवश्यकता है, अपनी दुर्बलताओं पर हम कैसे विजय प्राप्त करेंगे?—इत्यादि।

यह सब सोचकर हमें आज ही अपना कर्त्तव्य निश्चित करना होगा। फिर दृढ़प्रतिज्ञ होकर कर्त्तव्य-पथ पर सोत्साह अग्रसर होना पड़ेगा। हमारी सफलता हमारी बाट जोह रही है। हमारे कूच करने भर की देर है, मंजिल सामने नजर आ रही है। हमें सेवाव्रती हनुमान की तरह संकल्प करना होगा—'रामकाज किन्हें बिना मोहि कहाँ बिस्राम!'

देश और समाज, साहित्य और धर्म के कल्याण का कार्य ही 'रामकाज' है। हम शीघ्र 'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना' चल पड़ें, अन्ध-परम्पराओं और कुप्रथाओं की लंका के भस्म होते देर न लगेगी।

हम बाहरी धूमधाम और ऊपरी चहलपहल पर लट्टू न हों, अन्दरूनी हलचलों पर निगाह डालें, तह में बैठकर देखें—बाहर-बाहर हम सर्वथा सिद्ध हैं, लेकिन भीतर-भीतर बुरी तरह विद्ध हैं। टुक सोचिए तो सही। कुछ कीजिए तो सही। आगामी वर्ष का १५ अगस्त आप से साल-भर का लेखा-जोखा तलब करेगा।

—दैनिक 'आर्यावर्त' (पटना); १५ अगस्त, १९४७ ई०

पन्द्रह अगस्त का यथार्थ महत्त्व—आत्मनिरीक्षण का दिन

आज सबसे पहला स्वतन्त्रता-दिवस है। देश को बन्धन-मुक्त हुए साल-भर हो गया। सदियों बाद आजादी मिलने के कारण खुशियाँ मनाने से अभी हमारा जी नहीं भरता। हम खूब खुशियाँ मनायें। जीवित जाति का यह भी एक लक्षण है। मगर आनन्दोन्माद में कर्त्तव्य को भूल जाना जीवित और स्वतन्त्र-जाति का लक्षण नहीं है। आज हम अपनी ओर निहारें—अपने-आप को टटोलें और खुद मालूम करें कि हमने साल-भर में अपनी जीवितावस्था का क्या प्रमाण दिया है—स्वतन्त्र देश के नागरिक का कौन-सा कर्त्तव्य-पालन किया है।

हमारे सामने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि अनेक और नाना प्रकार की समस्याएँ हैं। इन सब समस्याओं को हल किये बिना हम स्वतन्त्रता का सच्चा आनन्द नहीं भोग सकते—उसे कायम रखने योग्य भी नहीं हो सकते। आज अपने-आप से पूछें कि इनमें से एक भी समस्या का कोई हल इस साल निकाल सके हैं हम। अगर नहीं निकाल सके हैं तो कारण क्या है। 'यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।' आज यही गौर करना है।

हम चाहे किसी वर्ग के हों—शासक हों या शिक्षक, व्यापारी हों या राजकर्मचारी, विद्यार्थी हों या परमार्थी, कृषक हों या श्रमिक, बालक हों या युवक; जो कोई भी हों—आज अपनी छाती पर हाथ रखकर अन्तरात्मा से सच-सच पूछें कि स्वतन्त्रता पाने के बाद साल-भर में हमने कौन-सा ऐसा काम किया है जिससे देश या समाज या साहित्य को लाभ पहुँचा है। क्या साम्प्रदायिकता से विशाल समाज में सद्भाव और मिठास लाने के योग्य हमारा आचरण रहा है? क्या हमने अपनी वाणी और लेखनी का संयम निबाहा है? क्या समाज-सुधार में एक अंगुल भी हम आगे बढ़े हैं? क्या देश एवं समाज के ललाट से एक भी कलंक-रेखा मिटाने में सफल हुए हैं? क्या अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा एवं वृद्धि के लिए हमने कोई कदम उठाया है? ऐसे ही ऐसे बहुतेरे प्रश्न हैं। इनमें से किसी एक का भी उत्तर हमें देना होगा और उस उत्तर की सचाई को जाँचना भी होगा हमें ही। अगर इस तरह आज हम आत्मपरीक्षण में दत्तचित्त हों तो आज का दिन निश्चय ही सार्थक होगा।

आज हम सरकार की या नेतागण की या अखबारों के काम की नाप-जोख न कर, अपने-आपको ही तौल कर देखें कि एक साल के अन्दर हम क्या कर सके हैं। यदि किसी कारण हम कुछ भी देश-हितार्थ नहीं कर सके हैं, तो आगे हमें क्या करना चाहिए—इसका निर्णय करके हम निश्चित कार्य में संलग्न हो जायँ। अपने 'योगक्षेम' के लिए कार्य-व्यस्त रहते हुए भी हम अपने समय का शेषांश भी देश और समाज के हित-साधन में किस

तरह लगा सकते हैं, इसी पर ठंडे दिल से विचार करना आज का हमारा ध्येय है। तभी हम स्वतंत्रता भोगने के वास्तविक अधिकारी सिद्ध होंगे।

हर एक व्यक्ति अपनी शक्ति और सुविधा के अनुसार भी काम करने के लिए कटिबद्ध हो जाय तो काम की कमी नहीं है, काम करनेवालों की कमी जरूर है। देखने में तो यही आता है कि समाज के कुछ ही व्यक्तियों को देश के मंगल का ध्यान है, बाकी सब लोग स्वार्थ-साधन में ही प्रवृत्त हैं। जो धनी हैं, वे देश के कल्याण का ध्यान रखकर अपने धन का उपयोग नहीं करते। जो दानी हैं, वे देशोपकार के खयाल से दान नहीं देते। जो गरीब हैं, वे पहले अपनी गरीबी और अभाव को दूर करने के लिए स्वराज्य-सुख में हिस्सा बटाना चाहते हैं। जो नौकरी-चाकरी करते हैं, वे अपने कर्त्तव्य का ध्यान कम और अपनी आमदनी का ध्यान ज्यादा रखते हैं। जो किसान और मजदूर हैं, वे पहले अपने लिए सारी सुविधाएँ करा लेना चाहते हैं। तब कहीं देश की ओर आँखें उठाने को राजी हैं। किसी की शिकायत है कि जीवनोपयोगी सामग्रियों की घोर महँगी के रहते हुए देशोन्नति के काम अग्रसर नहीं हो सकते। किन्तु, बीज बोने से पहले या बीज बोते ही फल पाने की आशा में तत्काल ही व्यग्र हो जाना उचित नहीं है। अभी हमने देश या समाज या साहित्य के लिए किया ही क्या है? यह ग्रामप्रधान देश है, पर हमने एक गाँव को भी नहीं सुधारा है। समाज में सैकड़ों कुरीतियाँ हैं, पर हमने एक भी कुप्रथा नहीं मिटाई है। साहित्य को भी हमने व्यावहारिक जीवन का अङ्ग नहीं बनाया है। फिर हम स्वतंत्र देश के नागरिक किस अर्थ में हैं?

हम तो प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि कोई चोरबाजारी और नफाखोरी में मस्त है, कोई घूसखोरी में मौज ले रहा है, कोई अपनी चुपड़ी रोटी और बघारी दाल की चिन्ता में हाथ-पाँव मार रहा है, कोई परलोक सुधारने की धुन में नकली धर्म के नाम पर पानी की तरह रुपये बहा रहा है, कोई लापरवाही के साथ फिजूल-खर्ची में जीवन-यापन कर रहा है। कहीं भी किसी को स्वार्थ-सिद्धि से अवकाश नहीं। क्या इस तरह की असावधानता और गफलत से हम स्वतंत्रता की रक्षा कर सकेंगे?

दिन-भर स्वार्थान्ध रहकर रात में सोते समय भी क्या हमने किसी दिन यह सोचा है कि देश या समाज के निमित्त हमसे कुछ बन पड़ा है या नहीं? अगर नहीं बन पड़ा है, तो हमें मनुष्य कहलाने के लिए भी थोड़ा लज्जित और खिन्न होना चाहिए। आज हमें अपनी स्वार्थपरता और अकर्मण्यता पर पछताकर आत्मशुद्धि करनी चाहिए। और, आगे के लिए कोई ऐसा मार्ग चुनना चाहिए, जिस पर चलकर हम देश के कुछ भी काम आ सकें।

आत्मशोध की यह तिथि हर साल आवेगी और हमारी प्रगति के सम्बन्ध में हमसे जवाब-तलब करेगी। इस साल वह पहली बार आई है, इसलिए हमारी भूल-चूक को तिरस्कार की हँसी में छिपा कर सिर्फ चेतावनी दे जा सकती है। लेकिन, अगली बार वह क्षमा भी न कर सकेगी। हमें अपनी करनी का फल भोगना ही पड़ेगा।

इसलिए, हमको आज अपनी जाँच करनी है—अपने साल-साल-भर के जीवन का सिंहावलोकन करना है, और भविष्य के हेतु मार्ग-निर्धारण भी करना है। यही आज के दिन का यथार्थ महत्त्व है।

आज देश या समाज या साहित्य की सेवा के लिए जो उत्सुक हैं, उनके सामने कोई शर्त्त पेश करने की जरूरत नहीं। कोटि-कोटि कण्ठ से 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' गाने पर भी तबतक झण्डा ऊँचा नहीं रह सकता जबतक देश के सामने पड़े हुए कामों में से हम अपने लिए एक-एक चुन नहीं लेंगे। यदि प्रतिदिन सुबह-शाम देश की मंगल-कामना के साथ कोटि कण्ठ से सच्ची ईश्वर-प्रार्थना भी निकला करेगी, तो वह भी लाभदायक ही सिद्ध होगी। प्रतिक्षण देश-हितचिन्तन की प्रवृत्ति ही हमें सेवाकार्य में संलग्न होने की प्रेरणा देगी। उसी प्रवृत्ति में हमारी निवृत्ति है। आज हम उसी के लिए ईश्वर से प्रार्थना करें; किन्तु प्रार्थना से पूर्व आत्मनिरीक्षण अत्यावश्यक है।

—दैनिक 'संसार' (काशी); १५ अगस्त, १९४८ ई०

◎

स्वतंत्रता की मनोवृत्ति ?

आज हम खुशी से झण्डा फहरावें, जलूस निकालें, जोशीले व्याख्यान झाड़ें, दीवाली मनावें, अपनी साध पूरी करने में कोई कसर न रहने दें। मगर हमारी मनोवृत्ति यदि न पलटी हो, उसमें कुछ भी कोर-कसर रह गई हो, तो हम अपने को सँभालें, जोश की बागडोर दृढ़ता से थामें, थोड़ी देर के लिए भी प्रकृतिस्थ होकर विचार करें।

दासतावाली मनोवृत्ति बनी है

कर्त्तव्य-ज्ञान हुए बिना मनोवृत्ति नहीं बदलती। हमें कर्त्तव्य-ज्ञान है? म्युनिसिपैलिटी और जिलाबोर्ड के मेम्बर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं? आज तो वे भी जुलूस में शामिल होकर 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' गा रहे हैं! सभी व्यापारियों ने अपनी-अपनी दूकान पर तिरंगा फहराया है; पर वे क्या इसके सच्चे अधिकारी हैं? वे ही छाती पर हाथ रखकर कहें; जनता भी स्पष्ट कहे, कौन सच्चा अधिकारी है स्वतंत्रता-दिवस मनाने का? स्थानीय स्वराज्य तो हम ठीक तरह चलाते ही नहीं, राष्ट्रीय स्वराज्य कैसे चला लेंगे? अभी हमारी दासतावाली मनोवृत्ति अपनी जगह पर डटी हुई है। उसे अपदस्थ करके स्वतंत्रतावाली मनोवृत्ति जबतक न जमेगी तबतक सारे प्रदर्शन पाखंड-प्रपंच हैं।

प्रदर्शनों में राजकर्मचारी भी शरीक हैं। वे भी अपने दिल और ईमान से पूछें कि उनकी मनोवृत्ति पहले की अपेक्षा इधर कुछ भी बदली है। थाना-काँगरेस और जिला-काँगरेस के कार्यकर्त्ता तथा पदाधिकारी भी परमात्मा को साक्षी मानकर साफ-साफ

बतलावें कि गाँवों की जनता को उन्होंने क्या सुख-सुविधा पहुँचाई है। आज हरएक भारतवासी अपनी अन्तरात्मा से पूछे। अगर जवाब माकूल हो, तो उसपर आज ही अच्छी तरह गौर करें।

म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर और पदभोगी अपनी लापरवाही से शहर की गन्दगी बढ़ाकर चेचक और हैजे से जनता को तबाह करते हैं, फिर भी वे कौन-सा मुँह लेकर स्वतंत्रता-दिवस मना रहे हैं? जिला-बोर्डवाले भी देहात की सड़कों पर कभी ध्यान नहीं देते—तरह-तरह के बहाने गढ़कर पिण्ड छुड़ाते हैं—ग्रामीण जनता और पशुओं के कष्ट की चिन्ता सपने में नहीं करते; फिर भी वे आज के उत्सव में अपने मुँह की लाली दिखा रहे हैं। क्यों?

जनता को चूसकर व्यापारियों ने जो रुपये बटोरे हैं, उन्हीं में से खर्च कर आज वे दीवाली मनाकर देशभक्ति दिखावेंगे और चन्दा देकर काँगरेस के सहायक कहलावेंगे। क्या उनके हृदय के किसी कोने में कहीं लज्जा भी है? क्या वे स्वतंत्रता-दिवस मनाने योग्य रह गये? क्या ऐसे-ऐसे महानुभावों के सहयोग से स्वतंत्रता-दिवस की पवित्रता और महत्ता ठीक-ठीक कायम रह सकेगी?

ऊपर राम-राम, भीतर सिद्ध काम

किन्तु, हमारे भोलेभाले देश में 'ऊपर राम-राम, भीतर सिद्ध काम' की बड़ी महिमा है। यहाँ वह पापी भी गंगा नहाकर तर जाता है, जो दिन-रात बेईमानी-शैतानी में ही डूबा रहता है। यहाँ के हिन्दू भी गाय-बैल पर घोर निर्दयता करके तीर्थ-व्रत कर लेते हैं और दूध के धुले बन जाते हैं। विचित्र है यह देश!

ईश्वर की दया से पतितपावन बापू आ गये थे इस देश का उद्धार करने के लिए। उन्हें भी यह ले बीता और आज भी उनके हत्यारों के लिए चन्दे उगाहे जा रहे हैं। ऐसे सज्जन भी स्वतंत्रता-दिवस के महोत्सव में नारे लगा रहे होंगे। मगर जबतक लोगों की मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति नहीं बदल रही तबतक सारी तैयारियाँ सिर्फ दम्भलीला हैं।

आज गाँवों में भी उत्सव हो रहे हैं। वहाँ के किसान और मजदूर अगर कष्ट में हैं तो अपनी करनी और नीयत के फल ही भोग रहे हैं। उनकी मनोवृत्ति और प्रवृत्ति में भी रंचमात्र परिवर्त्तन नहीं हुआ है। मुकद्दमेबाजी, फिजूलखर्ची, झूठ-फरेब, ठगी, चोरी, डाह और वैर-विरोध का दौरदौरा वहाँ भी कम नहीं है। आज का दिन अदावत और मनमुटाव मिटाने का है। मगर यह काम कोई न करेगा, सब लोग सिर्फ उत्सव मनाकर फिर कुमार्ग पकड़ लेंगे। ऐसे उत्सव से लाभ ही क्या? ऐसे उत्सव में रुपये खर्च करने से फायदा ही क्या?

जिसको देखिए वही शहरों में व्याख्यान झाड़ रहा है; गाँवों में प्रचार-कार्य करने कब कोई गया है? रचनात्मक कार्यक्रम की चिन्ता किसको है? जिसको उसकी चिन्ता है और जो उसका महत्त्व समझता है, वह तो चुपचाप यथाशक्ति काम कर रहा है और वह उत्सव के प्रदर्शन में हल्ला मचाने भी शायद ही आवेगा। मगर जो लोग आज गला

फाड़ेंगे, झंडा-गान करेंगे, दीवाली मनावेंगे, वे ही भला सोचें कि वे किस अधिकार से ऐसा कर रहे हैं—क्यों जनता को गुमराह कर रहे हैं ?

मनोवृत्ति बदलें

स्वतंत्रता की मनोवृत्ति हर जगह परखी जाती है। रेल और जहाज में, सफर करते समय, स्टेशनों के प्लेटफार्म पर और मुसाफिरखाने में, एक्का-रिक्शे की सवारी में, अस्पताल में, स्कूल में, कॉलेज में, कचहरी में, लेन-देन में, खान-पान में, बोल-चाल में, प्रत्येक लौकिक व्यवहार में, प्रत्येक जीवन-प्रसंग में, सर्वत्र ही उसकी परख होती है।

हिन्दी राजभाषा घोषित हो गई और हमारे शिक्षित सज्जनों के पत्र-व्यवहार और बोल-चाल में कहीं उसको स्थान ही नहीं मिल रहा है। ऐसे ही फैशनदार बाबू लोग उत्सव मनाने में जमीन-आसमान एक कर डालेंगे। क्या इस तरह हम सच्चा उत्सव मना रहे हैं ?

आज के दिन का यही तकाजा है; आज की यही माँग है, वर्त्तमान समय की यही पुकार है—हम सर्वप्रथम अपनी मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति बदलें, तभी स्वतंत्रता-दिवस मनाना सार्थक होगा। एवमस्तु !

—दैनिक 'प्रदीप' (पटना); स्वाधीनता-अङ्क, १५ अगस्त, १९४८ ई०

•

'दैहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा'

आज विजयादशमी है। आज ही भगवान रामचन्द्र ने लंका पर चढ़ाई की थी। आज हरएक हिन्दू-घराने में दुर्गा-पूजा होती है। आज ही देश-भर की रामलीलाओं में रावण-वध होता है। क्षत्रिय राजाओं के यहाँ शस्त्र-पूजन और शस्त्र-प्रदर्शन भी होता है।

आज का दिन अत्यन्त उत्साहवर्द्धक है। आर्य-संस्कृति के उपासक आज शक्ति और शौर्य की महिमा से साहस-संचय करेंगे। अमोघ-वीर्य राम का लंका-विजयोल्लास और दुर्गतिनाशिनी दुर्गा का प्रलयंकर रणचण्डी-रूप आज ध्यान में धरने योग्य है। यही आज की माँग है।

हिन्दुओं के यहाँ दो बार दशहरा होता है। एक ज्येष्ठ शुक्ला दशमी को गंगा-दहशरा और दूसरा आश्विन शुक्ला दशमी को विजया-दशहरा। गंगा-दशहरा पापनाशक है, दुर्गापूजा-दशहरा शत्रुनाशक। मनसा-वाचा-कर्मणा किये गये दशविध महापापों का नाशक होने से ही 'दशहरा' कहा जाता है। 'दश-पाप-हरा यस्मात्तस्माद्दशहरा स्मृता'। किन्तु, आज का दशहरा शत्रुनाशन-संकल्प के लिए ही है। यह भी दीनता, भीरुता, अकर्मण्यता, शिथिलता, परमुखापेक्षिता, स्वार्थपरता, संकीर्णता, अनवधानता, असमर्थता, आत्मवंचकता आदि दस पापों का हरण करनेवाला है।

आज हम स्वतंत्र भारत में यह दशहरा मना रहे हैं। इसलिए, हमें अपने इन दस पापों का नाश करके शत्रुनाशन-संकल्प करना चाहिए। आज प्रत्येक भारतवासी अपने अन्तःकरण में अनुभव करे—अपनी वाणी से घोषित करे—अपनी लेखनी से अंकित करे कि हम अब दीन नहीं हैं, कायर नहीं हैं, आलसी नहीं हैं, निकम्मे नहीं हैं, पराश्रित नहीं हैं, स्वार्थलोलुप नहीं हैं, साम्प्रदायिकता से दूर हैं, सजग हैं, सबल हैं, आत्मविश्वासी हैं। इतना ही नहीं, इसके साथ-ही-साथ, मन में दृढ़ व्रत भी धारण करें कि हमारा जो शत्रु होगा वह निश्चय ही मौत का कलेवा होगा।

पहले तो शत्रु हम किसी को मानते ही नहीं। हम जानते ही नहीं कि संसार में कोई हमारा शत्रु भी है। हमारा लक्ष्य तो विश्वबन्धुत्व है। हम तो सर्वान्तःकरण से विश्वमैत्री के अनन्य उपासक हैं। भूतमात्र का कल्याण ही हमारा ध्येय है। मन-वच-कर्म से हम जगन्मङ्गल के साधक हैं। तन-मन-धन से लोकोपकार करना ही हमारा सिद्धान्त है। किन्तु, इतने पर भी यदि कोई बरबस हमारा वैरी बनता है या हमसे रार ठानने का हौसला रखता है या ईर्ष्या-द्वेषवश अपने दिल में शत्रुता पालता है, तो उसके अहंकार की जड़ हम पाताल से भी उखाड़ फेंकेंगे। इसी प्रतिज्ञा की शपथ लेने का दिन आज आया है।

आज हम किसी शत्रु की कल्पना नहीं करेंगे, केवल शस्त्रशक्ति को जाग्रत करेंगे। शत्रु की कल्पना वह करता है जिसकी नीयत खोटी होती है। अजात-शत्रु बने रहना ही जिसका मुख्य लक्ष्य है, वह शत्रु का सपना भी नहीं देख सकता। हम उस भारत-संघ की प्रजा हैं, जिसमें मानव-मात्र अपने जन्मसिद्ध अधिकारों का स्वाधीनतापूर्वक उपभोग करता हुआ निर्द्वन्द्व रहता है। भूमण्डल के सभी राष्ट्रों और देशों के हम हितैषी हैं। मैत्री-भाव से हम तो सबके सहायक होने के इच्छुक हैं; किन्तु जो हमसे अदबदाकर अदावत मोल लेता है या जान-बूझकर वैर बिसाहता है, वह हमारी तलवार के साये में बसनेवाली मौत को निमंत्रण देता है।

अव्वल तो हमें किसी को छेड़ने से कोई मतलब नहीं, मगर अनावश्यक छेड़े जाने पर हम छक्के छुड़ा देने का दम और दावा रखते हैं। हम किसी के अभ्युदय पर डीठ नहीं लगाते और न किसी के वैभव पर कभी दाँत ही गड़ाते हैं। हम तो स्वयं ही अपने योगक्षेम से पूर्ण सन्तुष्ट हैं। अपने ही समान हम सभी के उत्कर्ष के अभिलाषी हैं। हमारी सभ्यता और संस्कृति की यही विशेषता है। हमारे इतिहास और साहित्य की यही घोषणा है। किन्तु, जो हमारी उन्नति को अपनी आँखों की जलन बनावेगा, उसे अपने झंडे को अपना कफन भी बनाना पड़ेगा। इसी प्रकार की भावना को आज हृदय-मन्दिर में स्थापित करना चाहिए। तब यह शुभ पर्व हमें गर्व और गौरव देगा। तब हम उन आँखों की चर्बी उतार सकते हैं जिनमें हम काँटे की तरह खटकते हैं।

भारत के नौजवानों को भविष्य का इतिहास बनाना है। पिछली भूल-चूक का भी लेखा लगाना है। उन्हें देखना है कि हमारे राष्ट्र पर कोई आँच न आये। उन्हें राष्ट्र की सूच्यग्र भूमि को भी परपदाक्रान्त न होने देना चाहिए। उनकी हिम्मत-बहादुरी ही राष्ट्र

की ढाल है। उनके सामने शत्रुंजयी वीरों की परम्परा है। उनके पीछे समस्त राष्ट्र के धन-जन की शक्ति है। वे मस्ती से आगे बढ़कर शत्रु-मान-मर्दन का बीड़ा उठावें। आज ही उसकी शुभ साइत है। आज ही मृत्युञ्जयी बनने की पुण्य तिथि है। आज का सुदिन चरितार्थ हो।

महाकवि तुलसीदास की एक चौपाई का उत्तरार्द्ध इस लेख का शीर्षक है। पूर्वार्द्ध (निज भुजबल मैं बयरु बढावा) से इस लेख को कुछ मतलब नहीं। यह बात कई बार डंके की चोट कही गई है कि भुजबल होने पर भी भारत किसी से वैर बढ़ाना नहीं चाहता। हमारे भुजबल की शोभा वैर बढ़ाने में नहीं है, दुष्ट-दलन में है, अत्याचार शमन में है, शान्ति-संस्थापन में है। हमारा भुजबल तो पीड़ितों को पनाह और त्रस्तों को त्राण देता है। हमारा भुजबल तभी जागता है जब अन्तरात्मा और मानवता कह उठती है—'का चुप साधि रहा बलवाना ?' हमारे भुजबल का एकमात्र उद्देश्य है बस भू-भार-भंजन या खल-दल-गंजन। हमने दुनिया की आँखों में उँगली देकर अपने भुजबल का उद्देश्य सुझा दिया है। फिर अगले कदम पर भी हमारा भुजबल वही उद्देश्य सिद्ध कर दिखावेगा।

यही हमारा आज का प्रण है कि मातृभूमि की छाती पर व्रण नहीं रहने देंगे। यह विजया का उन्माद-प्रमाद नहीं है, राम और दुर्गा की अजेयता की ध्यान-धारणा है। इसीलिए, हम प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि आज के दिन का वास्तविक महत्त्व समझते हुए तुलसी की इस अर्द्धाली की टेक मन में धारण करें—'देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा !'

—दैनिक 'आर्यावर्त्त' (पटना); विजया-विशेषांक, १० अक्टूबर, १९४८ ई०

•

सर्वोदय-दिवस

पूज्य बापू की निधन-तिथि ३० जनवरी को सर्वोदय-दिवस मनाने का आदेश काँगरेस ने दिया है। उस दिन उपवास कर केवल प्रस्ताव द्वारा संकल्प करने की अनुमति है, भाषण करने की नहीं। संकल्प भी बापू के रचनात्मक कार्यक्रम की पूर्त्ति के निमित्त।

उपवास, प्रस्ताव, संकल्प, शपथ, प्रतिज्ञा आदि करने का हमें अच्छा अभ्यास है। बापू के जीवन-काल में भी अनेक बार व्रत-ग्रहण करने की रस्म पूरी हो चुकी है। बापू की निर्मम हत्या के बाद, शोक-सप्ताह में, अनेक सभाओं में, ऐसे ही शुभ संकल्प की प्रेरणा मिली थी। अखबारों में, रेडियो में, लेखों में, भाषणों में, वक्तव्यों और संदेशों में, देशवासियों को बार-बार इसी बात का स्मरण कराया गया था कि बापू के अधूरे काम को पूरा करना ही सच्ची श्रद्धांजलि है।

अब, आज, हम देखें कि बापू की दिवंगत आत्मा की तृप्ति के लिए साल-भर कितना काम हुआ और आगे क्या करना है या क्या करना चाहिए। यदि रचनात्मक कार्यक्रम की दिशा में १९४८ कुछ आगे बढ़ा होगा तो १९४९ के भी बढ़ने की आशा हो सकती है।

हम सोचें, समझें, लेखा-जोखा ठीक करें, सिर्फ रस्म-अदाई से काम न चलेगा। जीते-जी बापू हमसे धोखा खा चुके हैं, मरने पर उन्हें धोखा देना उचित नहीं।

सर्वोदय-दिवस के कार्यक्रम में सूत्रयज्ञ है; पर वह एक ही दिन का प्रदर्शन-मात्र होगा। गाँव-नगर और हरिजन-बस्ती की सफाई भी बस एक दिन होकर ही रह जायगी। यह रस्म-अदाई किसी काम की नहीं। एक दिन के क्षणिक उत्साह या आवेश से ठोस या स्थायी काम न होगा।

बापू का उद्देश्य था गाँवों को सुन्दर, स्वच्छ, आदर्श और स्वावलम्बी बनाना। उनके इस उद्देश्य की सिद्धि तभी होगी जब जगह-जगह दृढ़संकल्प कार्यकर्त्ताओं की टोलियाँ बनेंगी। शहरों के हर मुहल्ले में और गाँवों में फावड़ा-दल, टोकरी-दल, झाड़ू-दल बनाये जायँ। इन दलों में वे लोग रहें, जिन्हें नगर या गाँव की सफाई का छोटा-सा काम करने में भी कोई हिचक या झिझक न हो।

इस साल सिर्फ सफाई का ही काम हाथ में लिया जाय। समस्त राष्ट्र की गन्दगी दूर करके शुद्ध वायुमण्डल बनाया जाय। बापू को स्वच्छता बहुत प्रिय थी। स्वच्छता ही सभ्यता की पहली निशानी है। स्वच्छ वातावरण में रहने से जनता के शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ उसका मानसिक स्वास्थ्य भी सुधरेगा।

जब बड़े कहलानेवाले लोग, लिखे-पढ़े और सफेदपोश लोग, फावड़ा, टोकरी और झाड़ू लेकर दल बाँधे सफाई करने निकलेंगे, तब टोले-मुहल्ले के सभी नर-नारी प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर अपने कर्त्तव्य के पालन में सहज ही प्रवृत्त होंगे।

हमलोग स्वतंत्र हो गये हैं सही, मगर सफाई के साधारण नियमों को भी नहीं जानते। सिर्फ म्युनिसिपैलिटी की शिकायत अखबार में छपवाने से गली या मुहल्ला साफ-सुथरा नहीं रह सकता। हर मुहल्ले के लोग मिल-जुलकर यह काम अपने हाथ में लें। इसमें सभी श्रेणी के लोग शरीक हों। किसी पर दबाव डालना अनुचित होगा। जो स्वेच्छापूर्वक जनसेवा के लिए तैयार होंगे, वे निश्चय ही अपनी धुन और लगन से भले आदमियों को भी खींच लेंगे। जो भले आदमी नहीं होंगे, वे भी कुछ दिनों में भलेमानस बन जायँगे। सेवा की शक्ति अमोघ होती है।

थाना-काँगरेस-कमिटी, जिला-काँगरेस-कमिटी, टाउन-काँगरेस-कमिटी आदि के सदस्य और पदाधिकारी सफाई-टोलियों के अगुआ अथवा मुखिया बनें। वे लोग आगे-आगे चलें। उनके कन्धे पर कुदाल और हाथ में टोकरी-झाड़ू देखकर जनता की श्रद्धा उमड़ेगी, अनुयायियों की बाढ़ आ जायगी।

यह सफाई का प्रोग्राम साल-भर चलाया जाय। रोज सब लोग कम-से-कम एक घंटा समय दें। प्रति सप्ताह मुहल्ले-मुहल्ले, गाँव-गाँव मीटिङ्ग हो, सफाई के कामों का सिंहावलोकन हो, लोगों को नये सुझाव दिये जायँ। जो हरिजन सफाई के काम पर नियुक्त हैं, उन्हें सहयोग, सहायता, सहानुभूति और सद्भाव से सन्तुष्ट रखा जाय। दल के मुखिया घर-घर जाकर भी घरों की सफाई देखें और उचित सलाह दें। समर्थ लोगों

से एक पैसा मासिक चन्दा लेकर सफाई-पैसा-फण्ड भी खोला जा सकता है। इससे मुहल्ले की सूरत बदल जायगी।

बापू के आश्रम में पाखाना साफ करने का नियम था। उनके आदर्शों के अनुकूल वही चल सकता है जो सफाई के सारे काम निस्संकोच कर सकता हो। यदि ऐसे लोग बीड़ा उठावें तो सर्वोदय की आरम्भिक सीढ़ियाँ पार हो जायँगी। एक ही काम ठानकर उसे पूरा करना लाभदायक होगा। जब यह काम रास्ता पकड़ लेगा तब, दूसरी बरसी पर, दूसरा काम ठाना जायगा। पहला कदम दृढ़ होगा, तो अगला कदम भी विश्वास और साहस के साथ आगे बढ़ेगा। एक साथ ही कई काम उठा लेने से कोई भी पूरा न होगा। इसलिए पहली बरसी पर कोई एक ही काम हाथ में लिया जाय। सफाई का काम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और बापू का इष्ट भी।

हमारे शहरों और गाँवों की गलियों तथा नालियों की गन्दगी से नाना प्रकार के रोग जन-समाज को जर्जर करते जा रहे हैं। एक तो अधिकांश लोगों को पौष्टिक खाद्य नहीं मिलता, दूध-घी से तो असंख्य लोग वंचित हैं, दूसरे यह असह्य गन्दगी कोढ़ में खाज का काम कर रही है। यदि लोगों को निवास-स्थान भी स्वच्छ मिले तो कुछ दिन नीरोग रहकर जी सकते हैं। हैजा, प्लेग, मलेरिया, चेचक आदि महामारियाँ अधिकतर उन्हीं स्थानों में अड्डा जमाती हैं, जो कूड़ाखाना बने रहते हैं। सफाई का आन्दोलन यदि व्यापक हुआ तो देश और समाज का आशातीत कल्याण होगा। बापू की दिवंगत आत्मा इस आन्दोलन को अवश्य आशीर्वाद देगी।

केवल संकल्प या सन्देश-पाठ करने से ही सर्वोदय-दिवस सफल न होगा। कोई एक कार्यक्रम चालू करके साल-भर निबाहने की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करने से ही वास्तविक काम हो सकेगा। आलस्य और अकर्मण्यता से पिण्ड छुड़ाने का ही संकल्प करना आवश्यक है, फिर तो बापू के रचनात्मक कार्यक्रम का कोई एक अंग या भाग आगे बढ़ाया जा सकता है। यदि ग्रामोद्धार की ओर हमारी दृष्टि केन्द्रित हो जाय तो बापू की यह पहली बरसी आदर्श रीति से सफल होगी।

—दैनिक 'नवराष्ट्र' (पटना); गान्धी-अङ्क, ३० जनवरी, १९४९ ई०

•

नीयत से बरकत

सर्वोदय का अर्थ है सबका अभ्युदय, सबका कल्याण, सबकी भलाई और उन्नति। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'—सब सुखी हों, सब नीरोग हों।[1]

मसल मशहूर है—'जैसी करनी वैसी भरनी'। जैसा हम बोयेंगे वैसा काटेंगे। हमारी नीयत अच्छी होगी तो हमारी बरकत भी निश्चय होगी। अगर नीयत दुरुस्त नहीं, सब गुड़ गोबर!

१. इन्दौर-राज्य के 'राऊ' नामक स्थान पर डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में सर्वोदय-सम्मेलन हाल

सर्वोदय का संकल्प करते समय सबसे पहले अपने मन में यह भाव जगाना होगा कि हम अब ऐसा ही काम करेंगे जिससे सबकी वृद्धि हो, सबका उपकार हो। सबकी नेकी की नीयत जन-जन के मन में हो, यह बहुत बड़ी बात है। ऐसा हो तो युग बदल जाय।

सर्वोदय के सिद्धान्त को अपने आचरण में उतार कर युग को बदलना है। यह अत्यन्त महान् कार्य है। केवल मन से भी परोपकार का चिन्तन हो, और वह चिन्तन क्षणिक न होकर मन को निरन्तर अपने में रमा ले, तो वाणी भी चिन्तन की संगिनी बन जायगी। फिर चिन्तन और वाणी की सुन्दर जोड़ी देखकर विचार भी पीछे लग जायगा। यही त्रिवेणी आचरण को प्रयाग बना देगी।

रामधुन से ही कल्याण

जहाँ-कहीं जन-मन में शुभ संकल्प हो, वहीं तीर्थराज हैं। किन्तु, संकल्प के साथ यह धारणा लगी हुई हो कि 'संकल्प-मात्रेण मदीयसिद्धिः'। संकल्प कर देने मात्र से बापू की आत्मा तृप्त न होगी। संकल्प को कार्य-रूप में परिणत करना होगा।

हम यदि सर्वोदय चाहते हैं, हम यदि बापू का ध्यान धारण करके हार्दिकता से 'तृप्यन्ताम्' कहना चाहते हैं तो हमें रामधुन से वायुमण्डल को गुँजाना होगा। वायुमण्डल बहुत दूषित हो गया है। धनलिप्सा से, स्वार्थपरता से, पदलोलुपता से, असहिष्णुता से, अहंता से, वायुमण्डल विषाक्त हो रहा है। ऐसे वायुमण्डल में सर्वोदय नहीं हो सकता। रामधुन से ही वायुमण्डल परिष्कृत होगा। शुद्ध-स्वच्छ वायुमण्डल में रहने से ही गति मति पवित्र होगी।

परन्तु देश में ऐसे लोग भी हैं जो राम-धुन पसन्द न करेंगे। रामधुन में साम्प्रदायिकता नहीं है। फिर भी अपने-अपने विश्वास के अनुसार सभी लोग ईश्वर-प्रार्थना कर सकते हैं। जब नित्य कोटि-कोटि हृदय से ईश्वर-प्रार्थना की लहर उठेगी तब सर्वोदय-समुद्र की व्यापकता बहुत बढ़ जायगी। यह ईश्वर-प्रार्थना व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं होगी, वह होगी—सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय। कोटि-कोटि कण्ठ से निकली हुई सर्वोदय की प्रार्थना ध्रुवमेव अमोघ होगी। उसकी सफलता सर्वथा निश्चित है।

जब सब लोग सबका भला चाहने लगेंगे, हर कोई दूसरे का उत्कर्ष चाहने लगेगा, तब सर्वत्र मंगल-ही-मंगल दीख पड़ेगा। यदि सर्वोदय की भावना इतनी व्यापक न भी हो, कुछ ही लोग स्वार्थ से परमार्थ में बाधा न देने को कटिबद्ध हो जायँ, तो भी समाज का नैतिक स्तर क्रमशः ऊँचा उठ सकता है। नगर-नगर के हर मुहल्ले में, गाँव-गाँव में, एक-एक भी परमार्थी पुरुष जंगल के एकाकी चन्दन-वृक्ष का काम करेगा।

यदि सर्वोदय-दिवस पर सौभाग्यवश समाज को ऐसे अमूल्य पारस मुट्ठीभर भी मिल गये, तो बापू का अधूरा काम पूरा करके सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की जा सकेगी। सर्वोदय के निमित्त कुछ ही कृतसंकल्प व्यक्ति जगह-जगह के समाज में पारस का काम करेंगे। और,

---

में ही सम्पन्न हुआ है। सर्वोदय किसे कहते हैं और इसका क्या लक्ष्य है, इस लेख में सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है।—आर्यावर्त-सम्पादक

यह कोई जरूरी नहीं है कि ऐसे व्यक्ति केवल काँगरेस के कर्मक्षेत्र से ही आवें, सर्वसाधारण जन-समुदाय से भी निकलकर ऐसे व्यक्ति अग्रसर हो सकते हैं।

सर्वोदय का लक्ष्य ग्रामोद्धार

चाहे जो भी मैदान में आवें, उन्हें ठीक समझ लेना होगा कि सर्वोदय का मुख्य लक्ष्य ग्रामोद्धार ही है और हो सकता है। बाहरी भूत से देश उद्धार पा चुका, भीतरी भूत से अभी ग्रस्त ही है। बाहरी अगर प्रेत था, पिशाच था, तो भीतरी महाप्रेत और ब्रह्मपिशाच है। बापू के मन्त्रबल से प्रेतगण को हम भगा सके, पर अब दैत्य-दल से घर में ही जूझना है। नाना प्रकार की मलिनता, कुरीति और अनीति के हम शिकार हो रहे हैं। इन्हें मिटाये बिना सर्वोदय सपना है।

सर्वोदय-दिवस को सार्वजनिक सभा में जाकर संकल्प करने का प्रश्न नहीं है। जो कोई जहाँ भी हो, घर में या हाट-बाट में, कम-से-कम पन्द्रह मिनट भी प्रकृतिस्थ हो, स्वस्थ चित्त से बापू की ध्यान-धारणा में तन्मय होकर, सर्वोदय-संकल्प की सफलता के लिए, ईश्वर से प्रार्थना करे और यह ईश्वर-प्रार्थना दोनों जून नित्य ही हो—पाँच ही मिनट सही। इस प्रकार, सर्वोदय की भावना के चिन्तन-मनन से, मनोवृत्ति तदनुकूल होगी, प्रवृत्ति भी बढ़ेगी। अहर्निश साधना के बिना सर्वोदय के लिए कार्यक्षमता नहीं प्राप्त हो सकती। मनसा-वाचा-कर्मणा सर्वोदय में सारा जीवन अथवा जीवन के कुछ क्षण लगाना अनवरत अभ्यास से ही सम्भव है।

'सर्वोदय' शब्द बहुत सुन्दर है। उसका भाव भी बड़ा पवित्र और आकर्षक है। किन्तु, जीवन में उसका प्रयोग अत्यन्त कठिन है। उसके साँचे में जीवन को ढालना पुराकृत पुण्य के प्रभाव से ही सम्भव है। पूर्वपुण्य का उदय उसी समय से होता है जिस समय से मन में शुभ संकल्प उदित होने लगते हैं। बापू की पहली बरसी पर यदि समस्त राष्ट्र का पुण्योदय हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। शर्त्त यही है कि आज हम सच्चे मन से सर्वोपकार का व्रत धारण करें—आज से आगे बराबर सर्वहितचिन्तन और सर्वहितसाधन में यथाशक्ति अपना समय लगाते रहने की शपथ लें। यह शपथ, यह प्रतिज्ञा बापू की दिवंगत आत्मा को तृप्त करेगी, हमारी श्रद्धा ही हमारी समृद्धि बनकर लौट आवेगी।

स्वार्थपरता छोड़ें

हमारे देश में प्रायः सर्वत्र यही देखने में आता है कि अधिकांश लोग अपनी भलाई पहले चाहते हैं। अगर अपनी भलाई के बाद भी दूसरे की भलाई चाहते तो कुछ भलमनसी होती। परन्तु, दूसरे की भलाई करना तो दूर रहे, दूसरे की भलाई मन में भी नहीं लाते। जो दूसरे की भलाई कभी सोचता तक नहीं, केवल अपनी ही भलाई की धुन में मस्त रहता है, उसकी भलाई क्षणस्थायी होती है, चिरस्थायी नहीं।

गाँवों में लोग ठीक समय पर वर्षा चाहते हैं, हर साल अच्छी पैदावार चाहते हैं, मगर अपनी नीयत ठीक रखना कोई नहीं चाहता। निर्बल को सबल सताता है। कोई

किसी की सम्पन्नता देखकर जलता रहता है। ईर्ष्या-द्वेषवश नये-नये झगड़े गढ़े जाते हैं। अगणित अनर्थ होते ही रहते हैं। तब भी लोग चाहते हैं कि पहलौंठी बेटा ही हो, जवान बेटा न मरे, रोग न हो, धन न घटे! मगर जबतक स्वार्थान्धता रहेगी तबतक गोसैंयाँ को गुहराने से कुछ भी लाभ न होगा। सर्वोदय भी तबतक असम्भव है जब-तक लोग सदाचार का महत्त्व नहीं मानते।

जहाँ ईश्वर को लोगों ने फुटबॉल बना दिया है, जहाँ ईमान को लोगों ने ताक पर रख दिया है, जहाँ चोरबाजारी और नफाखोरी का अखण्ड राज्य है, जहाँ घूसखोरी और चुगलखोरी का दौरदौरा है, जहाँ विविध भ्रष्टाचार सीमोल्लंघन कर गये हैं, वहाँ सर्वोदय कैसा? सर्वोदय का स्वांग रचना हो तो रच लीजिए, मगर असली सर्वोदय तो तभी होगा जब हमलोगों का नैतिक स्तर ऊँचा होगा, हमारे राष्ट्रीय चरित्र का धरातल ऊपर उठने लगेगा। नीयत से ही बरकत होती है।

—दैनिक 'आर्यावर्त्त' (पटना); २० मार्च, १९४९ ई०

•

स्वतन्त्रता-प्रदीप अखण्ड जले!

स्वतंत्रता की यह दूसरी जयन्ती भी आई और गई, परन्तु अभी तक यह आशा दृढ़ न हुई कि ऐसी ही सैकड़ों हजारों जयन्तियाँ मनाने का सौभाग्य हमें प्राप्त होता रहेगा। अभी तक देश की गति-विधि में कोई ऐसा आशाजनक परिवर्त्तन नहीं दीख पड़ता, जिससे इसके निकटस्थ उज्ज्वल भविष्य पर सहसा विश्वास जम सके। राजनीति, धर्म, समाज, साहित्य चाहे जो भी क्षेत्र ध्यान में देखिए, आशा और विश्वास तथा उत्साह के पैर कहीं जम नहीं पाते। यद्यपि सदियों के पददलित और शोषित देश को दो ही साल में जाग्रत एवं उन्नत देखने की उत्सुकता सर्वथा स्वाभाविक नहीं, तथापि आशापूर्त्ति के शुभ लक्षणों की दर्शनोत्कण्ठा तो अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। कहा जाता है कि जैसे कई साल के लगातार सामूहिक प्रयत्न से सदियों की गुलामी दूर हुई, वैसे ही अब कई साल के लगातार सामूहिक प्रयत्न से देश की आन्तरिक स्थिति सुधरेगी। किन्तु, ऐसा कुछ होता प्रत्यक्ष दीखता नहीं जिससे ढाढ़स या दिलासा हो।

दिवाली, किन्तु अँधियाली

अखबार में, रेडियो में, सभा में, विज्ञप्ति में, घोषणा में, वक्तव्य में, हर तरफ आशाओं और आश्वासनों की दीवाली जगमगाती नजर आती है; मगर अमावस की अँधियाली अपनी जगह पर कायम है। देश का अपार धन प्रतिदिन खर्च हो रहा है—कागज में, छपाई में, लिखाई में, डाक-महसूल में, उत्सव में, जुलूस में, लाउडस्पीकर में, लेकिन भ्रष्टाचार अपनी मौज में, अपनी राह चला जा रहा है। असंख्य दिमाग, लेखनी,

वाणी, मशीन और कारीगर अपनी शक्ति प्रचुर मात्रा में रोज ही खर्च कर रहे हैं, मगर जनता को चूसनेवाले और अनाचार फैलानेवाले किसी की ओर झाँकते भी नहीं। राष्ट्रोन्नति में लगनेवाले अमूल्य क्षण इस तरह बेरहमी से बरबाद किये जा रहे हैं कि देखकर दिल दहल उठता है। समय, शक्ति, द्रव्य, विचार और प्रतिभा का घोर अपव्यय-सा प्रतिदिन प्रतिक्षण होता जा रहा है, मगर देश चेतता नहीं।

जान पड़ता है कि पूज्य बापू की तपस्या के वरदान-रूप में मिली हुई स्वतंत्रता को लोग मुफ्त का माल समझ मनमाने ढंग से गुलछर्रे उड़ा रहे हैं! जनता सिर्फ सरकार पर दोष थोपकर निश्चिन्त हो जाती है, खुद कुछ करना-धरना नहीं चाहती। ग्राम-पंचायतों की बड़ी धूम है और गाँवों में वैर-विरोध के नये-नये अखाड़े खुल रहे हैं। पैसे के अभाव की शिकायत हर जगह होती है, मगर सिनेमा और अदालत की भीड़ कम नहीं होती—शादी की फिजूलखर्ची सरपट चाल से जा रही है—मेले-तमाशे की चहल-पहल दिन-दिन ओज पर है। देश के सार्वजनिक कामों के लिए किसी के पास पैसे नहीं, लेकिन छूटकर मौज-मजे लूटने की गुंजाइश सबको है।

सबको अपनी चिन्ता

लाखों-करोड़ों परलोक-खाते खर्च हो जायँ भले ही, देश की आवश्यकताएँ खटाई में पड़ी रहें। मानो किसी को चिन्ता ही नहीं कि राष्ट्र-निर्माण के लिए राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का कुछ कर्त्तव्य भी है। व्यापारी अपने नफे के नशे में चूर, अफसर अपनी आमदनी में मस्त, धनी सिर्फ तिजोरी भरने के फेर में, किसान केवल अन्न की महँगी की ताक में, गाँव-वाले बस झगड़ा-फसाद में मगन, और शहरवाले अपने ही राग-रंग में लीन; देश और समाज जहन्नुम जायँ, बला से! सदियों का भूखा स्वार्थ स्वतन्त्रता का गोलगप्पा अन्धा-धुन्ध मुँह में झोंक रहा है। युगों की अतृप्त वासनाएँ अनायास सरस सामग्री पाकर नाक तक डुबो रही है। सबके भीतर जैसे हाय समा गई है। संयम और संतोष पनाह माँगते-फिरते हैं।

ऐसी दशा में भी हमारा बाहरी आडम्बर बेहयाई को गलबहियाँ दिये पाखंड-पथ पर झूमता निकल रहा है। बलिहारी है! हमारे बड़े नेताओं के संदेश हमारे बहरे कानों पर घहराते हैं, पत्रकारों के सुझाव आँखों को कड़वे लगते हैं, वक्ताओं के उपदेश झट कानों की राह नापते हवा में गुम हो जाते हैं; फिर भी हमें चाहिए स्वतन्त्रता का असली सुख सुबह-शाम के अन्दर ही। हम अपनी अंटी नहीं खोलेंगे, सरकार को गरज हो तो स्कूल-कॉलेज खोलती फिरे। हम अपना सोना टोकासन-भर नीचे मिट्टी में गाड़ेंगे, शिक्षा और साहित्य की भी मिट्टी खराब होती हो, तो होती रहे। हमको बस बैठे-बिठाये स्वतन्त्रता का महाप्रसाद तुरत दे दीजिए, नहीं तो असंतोष की आँधी उठाकर तूफान मचा देंगे। भला ऐसा निकम्मा देश कहीं सुख-चैन का अधिकारी हुआ है? बोवेंगे बबूल, चाबना चाहेंगे बम्बइया!

पदाचार का सिंहासन

देश का, समाज का, साहित्य का कुछ काम तो कोई करेगा नहीं, मगर सुविधा चाहिए भरपूर सबको। ऐसी स्वार्थान्धता से स्वतन्त्रता नहीं टिक सकती। वह त्याग और

तप के रथ पर आई है, इसलिए सदाचार के सिंहासन पर ही विराजेगी, भ्रष्टाचार की भकसी में वह तभी तक है जबतक उसे निकल भागने की राह नहीं सूझती। वह पल-पल ऊबती-सी नजर आती है। ऐसा अनुभव करनेवाला ही उसका त्राण कर सकता है।

आज ऐसा ही अनुभव करने का दिन है। आज सब लोग सोचें कि स्वतन्त्र राष्ट्र का रूप कैसा होना चाहिए—स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिक के क्या लक्षण हैं—स्वतन्त्र राष्ट्र के ग्राम और नगर कितने स्वच्छ और प्रसन्न होते हैं—स्वतन्त्र राष्ट्र के समाज में कितनी सुरुचि और सुरक्षा तथा व्यवहार में कितनी सचाई और शिष्टता होती है। सब लोग न सही, कुछ लोग भी सोचें, समझें, समझावें, सुझावें, यथाशक्ति तन-मन-धन लगावें। जो ऐसा न कर सकें वे इतना भी तो करें कि घड़ी-भर शुद्ध, एकाग्र मन से यह ईश्वर-प्रार्थना हो जाय—हे प्रभो! हमारे देशवासियों को सन्मति और सन्मार्ग दो जिससे स्वतन्त्रता-प्रदीप अखंड जले।

—दैनिक 'प्रदीप' (पटना); १५ अगस्त, १९४९ ई०

•

'मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी'

स्वतन्त्रता की दूसरी बरसगाँठ सर्वाङ्गपूर्ण स्वतन्त्रता का उपहार लेकर आई है। किन्तु, हमलोग भला कौन-सा उपहार देकर उसका स्वागत करेंगे? उसका यथार्थ स्वागत करने की पात्रता भी हममें होनी चाहिए न! हम उसका अभिनन्दन करेंगे, और वह हमसे प्रश्न करेगी—"तुमने स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिक का कौन-सा गुण अपनाया है? क्या समय का सदुपयोग करना सीखा है? क्या समय का वास्तविक मूल्य पहचाना और आँका है? क्या राष्ट्र के प्रति अपने किसी कार्य द्वारा किसी प्रकार की सहानुभूति दिखाई है? क्या राष्ट्र में सुव्यवस्था और शान्ति स्थापित होने देने के लिए कोई उद्योग किया है?"—इत्यादि अनेक प्रश्न वह पूछेगी, वल्कि पूछ रही है, अन्तःकरण के कानों से सुनिए, भीतर ऐसी कोई आवाज गूँज रही है। क्या हम ऐसे प्रश्नों के उत्तर ठीक-ठीक देने को तैयार हैं? हम क्यों न आज अपने-आपमें यही पूछें?

हाँ, प्रभात-फेरी की पवित्रता के हम कायल हैं। लेकिन आज प्रभात-फेरी, और कल से ही फिर तुम्बाफेरी कैसी? 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' सचमुच बड़ा सुहावना लगता है आज। मगर, झण्डा झुकाने का कर्म जो कल से ही शुरू हो जायगा, उसका 'गुणगान' क्या ऐसा ही सुहावना लगेगा? 'इनकलाब : जिन्दाबाद' के बुलन्द नारे सुनकर आकाश जो अट्टहास कर रहा है और उससे जो दिग्दिगन्त गूँज रहा है, उसे क्या हम सुन रहे हैं? आज की लम्बी-चौड़ी सलामियाँ क्या हमें अपनी खामियाँ देखने देती हैं? हम दम्भ के स्तम्भ पर अशोक की प्रशस्तियाँ न लिखते तो बहुत अच्छा होता।

निश्चय ही हमारे प्रस्ताव बड़े जोशीले होते हैं। उनमें बड़ी-बड़ी योजनाएँ निहित रहती हैं। उनमें सुधार के मन्तव्य भी बड़ी दृढ़ता से व्यक्त होते हैं। किन्तु, क्या उनपर

अन्तरात्मा की मुहर भी लगी होती है ? अगर लगी होती तो हमारे बने काम कभी न बिगड़ते। बिगड़े काम इतने अधिक हैं कि उँगलियों पर उनकी गिनती नहीं हो सकती। उनकी सिसकियाँ हम चारों ओर सुन सकते हैं। गाँव में, शहर में, थाने में, जिले में, दफ्तर में, जहाँ-कहीं देखिए आशा झींख रही, विश्वास कुढ़ रहा है, साहस कलप रहा है, उत्साह मन्दाग्नि-पीड़ित है, कर्त्तव्य कोढ़ी हो गया है, क्या इन सब पर पर्दा डालकर हम स्वतंत्रता देवी को चकमा देना चाहते हैं ?

फिर सुख कैसे सुलभ हो ?

भारत ग्राम-प्रधान देश कहलाता है। ग्रामोद्धार होने पर ही भारतोद्धार होगा। किन्तु, जहाँ ग्रामोद्धारक और ग्रामवासी दोनों उदासीन हैं, वहाँ ग्रामोद्धार की चर्चा ही क्या ! गाँववालों को सड़क चाहिए, नहर चाहिए, कुआँ चाहिए, और भी बहुत-कुछ चाहिए, मगर सब-कुछ सरकार की ही ओर से मुफ्त मिलना चाहिए। संघशक्ति से कुछ भी करना-धरना अभीष्ट नहीं। एक तो संघशक्ति के संघटन की नीयत ही नहीं होती, और अगर नीयत होती भी है तो व्यक्तिगत स्वार्थों के संघर्ष से संघबद्धता आने ही नहीं पाती। यदि कोई कहे कि यह अशिक्षा अथवा अविद्या का प्रभाव है, तो यह काफी जोर देकर कह देना पड़ेगा कि विशेषतः शिक्षित और समझदार कहलानेवाले ही अपनी स्वार्थ-लोलुपता से बेचारे अपढ़ों को भड़का देते हैं।

सिर्फ अखबारों और सरकारी रिपोर्टों से ही देश की भीतरी हालत नहीं खुल सकती, भीतरी हिस्से में पैठकर असली अन्दरूनी हालत को गहरी निगाह से देखने पर ही भेद खुल सकता है। गाँववाले अपने अभावों का पचड़ा गावेंगे, मगर उन्हें दूर करने के उपाय नहीं करेंगे। अगर उनके लिए कोई दूसरा ही आकर उपाय कर दे, तो भी वे आलस्यवश उससे पूरा लाभ नहीं उठावेंगे। वे ऐसे हमदर्द की तलाश में रहेंगे जो रसोई तो बना ही दे, मुँह में कौर भी खिला दे। ऐसे लोगों के लिए भी दुनिया के किसी कोने में सुख सुलभ है ?

स्वतन्त्रता का सुख मिले तो कैसे ?

गाँवों में सब गरीब ही नहीं हैं। हाँ, गरीबों की संख्या बहुत अधिक है। कितने ही गरीब ऐसे हैं जिनकी गरीबी का यथार्थ चित्रण बड़े-बड़े महाकवि भी नहीं कर सकते। सब बुराइयों की जड़ अगर दरिद्रता है तो धनाढ्यता भी है। धनाढ्य भी गाँवों में काफी हैं। मगर धनाढ्यों के दिल में दरिद्रों के लिए दया का बहुलांश में अभाव है। जो जबरदस्त और दबंग हैं, वे निर्बल को कुचल डालना चाहते हैं। जो कुलीन और सम्पन्न हैं, उनमें अधिकांश शोषक-वर्ग में हैं। परोत्कर्ष के प्रति घोर असहिष्णुता बहुतेरों की प्रकृति बन गई है। असंख्य जनों के पास फालतू धन सड़ रहा है, भोगनेवाला कोई नहीं, खुद भोगने का शऊर ही नहीं, लेकिन अगर कहिए कि सार्वजनिक हित के कामों में लगाइए, तो जूड़ी-बुखार आ जायगा !

जो निहायत गरीब हैं वे भी गरीबी से उबरने की कोशिश नहीं करते। तरकीब भी बतलाइए तो अनसुनी कर देंगे। हाथ-पैर हिलाने को कोई राजी नहीं, सबको घर-बैठे ही सुख चाहिए। काफी आमदनीवाली नौकरी सब चाहते हैं, मगर ईमानदारी और नेकनीयती से नाता रखना कोई पसन्द नहीं करता। हजार-लाख में एक पक्का ईमानदार मिल जाय, तो समझिए कि समुद्र-मन्थन से अमृत निकल आया। भला स्वतन्त्रता की क्या बिसात जो ऐसे लोगों को सुखी कर सके? अदना-सी अदावत के लिए जहाँ सेंध की दुहाई फिरती है—खेत की कटाई और खलिहान की फुँकाई होती है, वहाँ पंचायत का पाञ्चजन्य फिस्स हो जाय तो आश्चर्य ही क्या? जहाँ के लोग दूध-घी में मिलावट के आदी हैं, जानबूझकर हलफबयानी में गंगा पी जाते हैं, धेले के सौदे में ईमान का गला टीपते हैं, वहाँ स्वतन्त्रता का सुख तो तभी नसीब हो सकता है जब सृष्टि की नियमावली बदल जाय।

कन्हैया रीझे तो कैसे?

जातीय पक्षपात का रोग अलग मोर्चाबन्दी कर रहा है। चोर-बाजारी में चुस्त-चालाक चण्डालचौकड़ी जुटी हुई है। घूसखोरी में एक-से-एक घाव घमसान मचा रहे हैं। नफाखोरी के नये-नये नुस्खे निकलते जाते हैं। भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़ होने पर भी भय के भूत की भबकियाँ दी जा रही हैं। "काहि-काहि को धारौं नाँव, कमरी ओढ़े सिगरो गाँव!" जिधर देखिए, जिसको घूरिए, बस, घने घी में अपनी पाँचों अंगुलियाँ डुबोने की ताक में लगा हुआ है।

स्वतन्त्रता की भला ऐसी विडम्बना? वह भी क्या समझेगी कि पड़ा है पाला एक विकट राष्ट्र से! ऐसा राष्ट्र, जिसके नागरिक होने का दम भरते सभी हैं, पर जिसके मान के रक्षक कोई ही कोई। ऐसा राष्ट्र जिसके घर-घर में सिर्फ बातों के बधावे बजते हैं, मगर काम-काज की मातमपुर्सी भी नहीं की जाती। ऐसा राष्ट्र, जो मनमोदक खूब खाता और चरणोदक खूब पीता है, मगर करता-धरता खाक-पत्थर नहीं। क्या ऐसा ही रहकर वह आज का महोत्सव मनाना चाहता है? तब उसने आज के महिमामय महोत्सव का महत्त्व नहीं समझा है।

आज का महोत्सव आत्मशुद्धि माँगता है। जो 'अन्तःशाक्ता बहिःशैवाः सभामध्ये तु वैष्णवाः' हैं, उन्हें वह नहीं चाहता। वे तो उसकी धवलिमा पर कालिमा पोत देंगे। तो क्या इसका यह मतलब कि आज राधा नाचेंगी ही नहीं? सो कैसे होगा? पिछले ही साल तो वे नौ मन के बिना ही नाच चुकी हैं, फिर इस साल भी क्यों न अन्धेरे में ही नाचें? किन्तु वे कुँवर 'कन्हैया' को रिझा न सकेंगी! अपने मन-'मोहन' को मोह न सकेंगी!

—दैनिक 'आर्यावर्त्त' (पटना); सोमवार, १५ अगस्त, १९४९ ई०

●

सन्मार्ग

'सन्मार्ग' के पाठक नित्य 'सन्मार्ग' पढ़ते हैं। पर क्या वे कभी किसी दिन 'सन्मार्ग' शब्द के अर्थ पर भी ध्यान देते हैं? क्या कभी वे सोचते-विचारते हैं कि अखबार का नाम 'सन्मार्ग' क्यों रखा गया? आखिर पत्र-सञ्चालक ने कुछ सोच-समझकर ही यह नाम रखा होगा। तो क्या पत्र-पाठक को यह नहीं सोचना-समझना चाहिए कि ऐसे नामकरण का उद्देश्य क्या है? अथवा, नित्य 'सन्मार्ग' पढ़ना और कुमार्ग पर चलते रहना ही पाठकों ने तय कर लिया है? अगर नहीं किया है, तो आज दूसरे स्वतंत्रता-दिवस के शुभ अवसर पर वे अपनी छाती पर हाथ रखकर सोचें और कहें—अगर खुलकर कह न सकें तो अपनी अन्तरात्मा से ही पूछें कि स्वयं उन्होंने सन्मार्ग को कहाँ तक अपनाया है। अगर नहीं अपनाया है; तो यह बतलाने की कृपा करें कि उनकी गाढ़ी कमाई के पैसे पानी में पड़े या किसी काम के भी साबित हुए?

याद रखना चाहिए कि पैसा, समय, शक्ति और प्रतिभा किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है, वह राष्ट्र की सम्पत्ति है। अगर हम पैसा बरबाद करते हैं तो राष्ट्रीय धन का नाश करते हैं। अगर हम समय नष्ट करते हैं तो एक राष्ट्रीय सम्पत्ति का संहार करते हैं। अगर हम अपनी किसी प्रकार की शक्ति का दुरुपयोग करते हैं तो राष्ट्रीय शक्ति का क्षय होता है। अगर हम अपनी प्रतिभा से लोकहितकर कार्य नहीं साधते तो राष्ट्र के अनमोल खजाने को तहस-नहस करते हैं। हमारे पैसे और समय पर, हमारी शक्ति और प्रतिभा पर, हमसे पहले हमारे राष्ट्र का हक है। अगर हम उस हक को हड़पते हैं तो राष्ट्र के साथ विश्वासघात करते हैं। आज दूसरे स्वतन्त्रता-दिवस पर इसीके लिए प्रायश्चित्त करना होगा।

सब लोग कहते हैं कि यह दुनिया मुसाफिरखाना है। हरएक आदमी एक मुसाफिर है। सबको एक मंजिल तक पहुँचना है। जीवन-यात्रा के लिए कोई रास्ता तो चाहिए ही। वह रास्ता भी सुगम होना चाहिए, ऐसी ही सबकी इच्छा होती है। लेकिन आफत यह है कि सारे सुगम रास्ते खाई खन्दक की ओर ले जाते हैं। सुख-शान्ति की ओर जानेवाले सभी रास्ते बड़े बीहड़ हैं। अब सुगम और बीहड़ रास्तों में से आप या हम किसको सन्मार्ग समझते हैं? सन्मार्ग का सीधा-सा मतलब है—सत्पथ, सचाई या भलाई की राह, अच्छा रास्ता, शुभ पन्थ। यदि आप सुगम पथ को सन्मार्ग समझे बैठे हैं तो निश्चय ही धोखे में हैं। सम्भव है, यह धोखा आज या कल न खुले, मगर परसों तो खुल कर ही रहेगा। किन्तु, यदि आपने बीहड़ रास्ते को ही सन्मार्ग समझकर चुना है, तो सदा सजग रहना होगा; क्योंकि सुगम रास्ते के अन्त में खन्दक है और बीहड़ रास्ते के दोनों ओर लगातार! बस, चुन लीजिए इच्छानुसार!

रोज ही आप 'सन्मार्ग' पढ़ते होंगे। पर क्या कभी कुछ गुनते भी हैं? जो सिर्फ पढ़ता है, गुनता कुछ नहीं, वह पढ़ता ही नहीं या बेकार पढ़ता है। पढ़ना और गुनना—दोनों अभिन्न संगी हैं। जो गुने बिना पढ़ता है वह उकठा काठ गढ़ता है। जो

गुनकर पढ़ता है वह यश का दमामा मढ़ता है। जो कभी नहीं गुनता, वह अन्त में सिर धुनता है। अब, सोच लीजिए कि खुद आपने आज तक क्या किया है। जिन्होंने सचमुच गुनकर 'सन्मार्ग' पढ़ा है, वे आज की शुभ घड़ी में अपना लेखा-जोखा दुरुस्त करें और उसमें कहीं बट्टा पड़े तो आगे के लिए चेतावनी लें। हाँ, जिन्होंने विना गुने ही पढ़ा है वे आज के पावन पर्व पर यथामति संकल्प करें।

सच पूछिए, तो सन्मार्ग वही है जिससे होकर हमारे आदर्श पूर्वज जा चुके हैं। वे बड़े पुरुषार्थी थे। पुरुषार्थ केवल पुण्य-बल से ही प्राप्त होता है। उनका पुण्य-बल अत्यन्त प्रबल एवं दृढ़ था। हमारा पुण्य-बल बहुत ही क्षीण हो गया है। हमारे पौरुष का दिन-दिन ह्रास होता जा रहा है। हमारी सन्तान कुरूप, मन्दमति, निस्तेज, अल्पायु और क्षीणवीर्य होती जा रही है। हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति क्रमशः घटती जाती है। इन सबका एकमात्र मुख्य कारण यही है कि पूर्वजों का सन्मार्ग हमसे छूट गया है। भगवद्-भजन को हम फालतू काम या पाखण्ड समझने लगे हैं। सचाई या ईमानदारी को हमने व्यावहारिक जीवन से विदा कर दिया है। स्वार्थान्ध होकर हम मातृभूमि का अन्धाधुन्ध अपकार कर रहे हैं। हमने खुली आँखों देखा कि महात्मा गान्धी ने नियमित ईश्वर-प्रार्थना की, अमोघ-शक्ति से सदियों की गुलामी तोड़ दी; मगर तब भी ईश्वर-प्रार्थना के अलौकिक चमत्कार पर हमारा विश्वास नहीं जमता। ऐसी स्थिति में दुःख, रोग, अभाव, अशांति का प्रसार न होगा तो और क्या होगा? वास्तव में हम यदि अपना मंगल मनाते हैं, तो हमें लोक-कल्याण की कामना से सब काम करना चाहिए। अपने नित्य के आचरण में पग-पग पर अपने राष्ट्र के अभ्युदय का ध्यान रखना ही असली सन्मार्ग है। उसी पर आरूढ़ होने का संकल्प ग्रहण करना इस दूसरे स्वाधीनता-दिवस का सर्वप्रधान कार्यक्रम है।

—दैनिक 'सन्मार्ग' (कलकत्ता); १५ अगस्त, १९४९ ई०

●

'चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी'[१]

हमलोग नित्य ही प्रत्यक्ष देखते और अनुभव करते हैं कि आज मनुष्य की गति-मति तो नीची हो गई है, मगर उसकी अभिलाषाएँ बड़ी ऊँची-ऊँची हैं। यदि मनुष्य की महत्त्वाकांक्षाओं के अनुसार उसकी बुद्धि और चाल-ढाल भी होती तो वह सुख से वंचित न रहता। आज मनुष्य सुख-शान्ति पाने के लिए निरन्तर अथक परिश्रम कर रहा है, पर उसे वास्तव में वह पाता नहीं, और सुख-शान्ति के नाम से जो कुछ पाता भी है, वह वास्तविक सुख-शान्ति है ही नहीं; क्योंकि उत्तम पदार्थ उत्तम साधनों से ही मिलता है, और सुख-शान्ति

१. गोस्वामी तुलसीदास की एक चौपाई का आधा अंश, जिसका दूसरा चरण है—'मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी'।—लेखक

की प्राप्ति के लिए जिन साधनों का प्रयोग या उपयोग किया जा रहा है, उन साधनों से सच्ची सुख-शान्ति कभी किसी को मिली नहीं है !

मनुष्य नीरोग रहना चाहता है, परन्तु आरोग्य के नियमों के अनुकूल आचरण नहीं करता—स्वादेन्द्रिय का वशंवद किंकर बना रहता है—इन्द्रिय-लोलुपता और विषयासक्ति के कारण विवश-व्याकुल रहता है। वह सुन्दर, स्वस्थ और आयुष्मान् संतान चाहता है; पर संयमशीलता और सदाचार से मुँह मोड़े रहता है। वह हर तरह से अपनी ही भलाई और उन्नति चाहता है, दूसरे की भलाई और उन्नति की बातों में उसकी विशेष दिलचस्पी नहीं। वह स्वार्थ-सिद्धि की धुन में ऐसा मस्त रहता है कि परार्थ-सिद्धि की भावना उसके अन्तःकरण में नहीं उठती। वह सदा ठीक समय पर वर्षा चाहता है, हर साल अच्छी पैदावार चाहता है, प्रति वसंत के समय अपने बाग में प्रचुरता से आम की फसल चाहता है; अपने प्रत्येक व्यवसाय में लाभ की ही आशा रखता है; पर इन सब के लिए जिन मानवोचित सद्गुणों और सद्वृत्तियों की अनिवार्य आवश्यकता है, उनकी ओर टुक ध्यान न देकर मनमाने ढंग से ही आचरण करता है। वह चलेगा अपनी ही इच्छा और प्रवृत्ति के अनुकूल तथा चाहेगा कि सारी संभावनाएँ हमारी ही मनोवृत्ति के अनुकूल हों। ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होगा ही।

करनी की भरनी

मनुष्य की जैसी नीयत होती है वैसी ही उसकी बरकत होती है। वह अपनी ही करनी की भरनी पाता है। हमारे शास्त्रों ने मनुष्य के जीवन पर उसके पुराकृत कर्मों का प्रभाव माना है। वर्त्तमान जीवन में भी मनुष्य को अपने आचरणों के प्रभाव की झाँकी मिल जाती है। हम जिस प्रकृति की गोद में रहते हैं उसपर भी हमारी भली-बुरी प्रकृति का प्रभाव पड़ता रहता है और तदनुसार सुख-दुःख भी उत्पन्न होते रहते हैं। कुत्सित प्रकृति का मनुष्य सारे प्राकृतिक वातावरण को मलिन एवं गर्हित बना देता है। इसी तरह साधु-प्रकृति मनुष्य अपने चारों ओर पवित्र वायुमण्डल बना लेता है। रूप-हटिया और सन्त-कुटिया के वायुमण्डल का सद्यः प्रभाव उसमें जाते ही अनुभूत होने लगता है।

भूकम्प और तूफान भी सकारण होते हैं; पर उनके मूल कारणों की खोज हम कभी नहीं करते, हमारा ध्यान ही उधर नहीं जाता। अतिवृष्टि और अनावृष्टि, महँगी और महामारी भी अकारण नहीं होती। हमारी दूषित प्रकृति, बिगड़ी नीयत अनैतिकता और दुष्प्रवृत्ति, हमारे विकृत विचार और हमारा अवाञ्छनीय आचरण—ये हमारे दुःखों, अभावों और रोगों के कारण हैं। समाज का अंगभूत प्रत्येक व्यक्ति जिस दिन इस रहस्य को समझने और इन बातों को महसूस करने लगेगा उस दिन हमारे संकटों का अन्त होने में विलम्ब न होगा।

सत्प्रयत्न की आवश्यकता

सच पूछिए, तो व्यष्टिगत सुख से देश सुखी नहीं होता। समष्टिगत सुख से ही कोई देश सुखी होता या कहलाता है। वह समष्टिगत सुख देशवासियों के सामाजिक जीवन

की निर्मलता पर ही निर्भर है। यदि हमारा सामाजिक जीवन कलुषित है तो सामूहिक सुख भी सपना ही रहेगा। आज सबकी इच्छा है कि हमारा राष्ट्र समुन्नत, समर्थ और समृद्ध हो। किन्तु, उसके लिए जैसे सत्प्रयत्न की आवश्यकता है, वैसा कहाँ हो रहा है। न कोई समय का मूल्य पहचानता है, न हमारे धनी लोग किसी सत्कार्य के लिए देशहितार्थ मुक्तहस्त हो दान करते हैं, न समाज और साहित्य के अभ्युदय के लिए कोई स्वार्थ-त्याग करना चाहता है, न परमार्थ के लिए कोई स्वार्थ का बलिदान करने को प्रस्तुत है, न कोई जनता के अभाव-अभियोगों की चिन्ता ही सहानुभूति-पूर्वक करता है; फिर किस तरह देश की विषम समस्याएँ हल हो सकती हैं? राम-राज्य के सुनहले सपने सब देख रहे हैं; पर इसकी कोई कल्पना भी नहीं करता कि राम-राज्य की प्रजा कैसी होनी चाहिए।

हमारे पुराने ग्रन्थों में राम-राज्य के भव्य चित्र अंकित हैं। उनसे देश की आधुनिक स्थिति का मिलान करने से साफ पता लग जायगा कि हम केवल मनमोदक से भूख मिटाना चाहते हैं, जो सर्वथा असम्भव है। घोर भ्रष्टाचार के युग में राम-राज्य की कल्पना चन्द्र-खिलौना लेने के हेतु बाल-हठ के समान निष्प्रयोजन है। जबतक देशवासियों के मन में यह धारणा बद्धमूल नहीं होती कि चारित्रिक धरातल ऊँचा होने से ही स्वराज्य-सुख नसीब होगा तबतक आज की चौमुखी हाय-हाय नहीं शान्त होगी।

गाँव से शहर तक के लोगों की जैसी मनोदशा है वैसा ही परिणाम नाना रूपों में प्रकट हो रहा है—जिसे हम चाहे बाढ़ कहें, अवर्षण कहें, अकाल कहें, महामारी कहें, भूचाल कहें या दैवी विपत्ति कहें। मनोबल और आत्मबल हम खोते जा रहे हैं। इन्हें प्राप्त करने के साधनों में हमारा विश्वास नहीं रह गया। फिर आध्यात्मिक अभावों के साथ पार्थिव अभाव क्यों न बढ़ेंगे?

श्रद्धा का अभाव

आज के युग में मनुष्य ने मानव-हृदय की अमूल्य निधि 'श्रद्धा' खो दी है। न शास्त्र में श्रद्धा, न गो-विप्र में श्रद्धा, न देवता और गुरुजन में श्रद्धा, न पूर्वजों और सार्वजनिक संस्थाओं में श्रद्धा, न अपनी सभ्यता और संस्कृति में श्रद्धा। 'श्रद्धा' नाम की वस्तु विद्या के क्षेत्र से निकल गई, लौकिक व्यवहार के क्षेत्र से निकल गई, सामाजिक शिष्टता और अनुशासन के क्षेत्र से निकल गई, जातीय गौरव के आधार व्रत-त्योहारों के अन्दर से निकल गई, जीवन के कर्म-क्षेत्रों से भी निकल गई। आज श्रद्धा अन्ध-विश्वास के अन्धकार में भटक रही है। उसे हम करावलम्बन नहीं देते, उसका परिष्कार नहीं करते। उसकी उपेक्षा में ही हमें संतोष है। उसे अपदस्थ होते देखकर भी हम उदासीन हैं। किन्तु, श्रद्धा ही जिन्दगी की पगड़ी पर कलँगी है। उसके बिना मनुष्यता निर्गन्ध किंशुक है।

कठोर साधना आवश्यक

आज प्रजातन्त्र का पूर्ण गौरव पाकर भी यह देश अपने परतन्त्रता-युग से भी पीछे खिसक गया है। पराधीन भारत भी आज जैसा पतनोन्मुख न था। तब भी आज सब

लोग स्वतन्त्रता-जन्य सुख के लिए लालायित हैं। प्रजातन्त्रात्मक देश के लोगों को जितनी सुख-सुविधा मिल सकती है, उतनी ही आज यहाँ सबको मिलनी चाहिए। यही सबकी चाह है, यही सबकी माँग है, यही चतुर्दिक् की पुकार है। किन्तु, स्वर्ग-सुख या सुराज-सुख की कामना के साथ उसकी पात्रता भी चाहिए। बहुमूल्य मणि के लिए स्वर्ण-संपुट की आवश्यकता होती है, जस्ते की डिबिया की नहीं। हमें अपने में सुपात्रता लाने का अनवरत प्रयास करना चाहिए। पहले हमें सुयोग्य अधिकारी बनना है। उसके लिए समवाय रूप से साधना करनी पड़ेगी। साधना के आरंभ में कष्ट और अन्त में सुख है।

यदि हम प्रजातंत्रात्मक देश का सारा सुख-सौभाग्य चाहते हैं तो हमें वैसे देश के नागरिक का बाना भी धारण करना पड़ेगा। नागरिकता और सभ्यता को वास्तविक रूप में अपनाये बिना केवल अधिकारों के लिए ही दावा करते रहना सुशोभन नहीं कहा जा सकता। और, जब हम वस्तुतः नागरिक बन जायँगे तब हमारे स्वत्वों और सुखों को जबरदस्ती कोई रोक नहीं सकता। सच तो यह है कि सुख या अधिकार माँगने से मिलता भी नहीं। वह योग्यता या पात्रता ढूँढ़ता है। सद्गुणी के पास प्रतिष्ठा स्वयं आ जाती है। सुख हमेशा ही पुण्यात्मा की तलाश में रहता है। जैसे सांसारिक भोगों को भोगने के लिए उत्तम शारीरिक स्वास्थ्य परमावश्यक है वैसे ही राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों को भोगने के लिए नैतिक स्वास्थ्य की आवश्यकता है। हम अपना नैतिक बल बढ़ावें और सारे अधिकार पावें। स्वतंत्रता-जन्य लाभों की उपलब्धि हमारी नैतिकता की शक्ति पर ही निर्भर है।

सुख कैसे मिले ?

आज इस देश में चारों ओर नैतिक अधःपतन के दृश्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। तब भी स्वराज्य-सुख के अभाव की शिकायत हर तरफ है। सुख कहीं ऊपर से नहीं टपकता और न कहीं बाहर से दौड़ा आता है। यह भीतर से ही पैदा होता है और अन्दर से ही निकलकर बाहर फैलता है। अब आज हम अपने अन्दर ढूँढ़कर देखें कि सुख के उत्पन्न होने योग्य कहीं एक इंच भी जगह है या नहीं। जहाँ दुर्भावों और दुर्गुणों का जमघट है वहाँ सुख रहे तो किस कोने में ? जहाँ मानवोचित गुणों की छाया नहीं वहाँ सुख जायगा किस लिए ? संसार में मानव-जीवन केवल सुख की खोज में ही व्यग्र है। किन्तु, जान पड़ता है कि उसकी प्राप्ति के उपयुक्त साधनों को आज के मनुष्य ने अहंकार-वश ठुकरा दिया है। परमात्मा उसकी शुद्ध चेतना को जाग्रत करें।

—दैनिक 'राष्ट्रवाणी' (पटना); दीपावली-अंक ; सन् १९४९ ई०

प्रजातंत्र और शिक्षा

आज प्रजातंत्र, जनतंत्र, लोकतंत्र, गणतंत्र आदि शब्दों की गूँज से सारे देश का वायुमण्डल भर गया है। शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और नागरिकता की चर्चा चारों ओर होने लगी है, ये शुभ लक्षण हैं। इन बातों से देश के उज्ज्वल भविष्य का भान होता है। जान पड़ता है कि शिक्षा के अनेक साधनों का उपयोग अब किया जायगा। पराधीनता की अवस्था से स्वतंत्रता की स्थिति तक शिक्षा में कुछ तो प्रगति हुई ही है। किन्तु, उस प्रगति से साहित्य का जो कुछ विकास हुआ हो, सभ्यता भी कुछ कदम आगे बढ़ी हो; पर संस्कृति अभी सजग नहीं हुई है।

स्वच्छता का महत्त्व

भारतीय संस्कृति में सबसे अधिक महत्त्व स्वच्छता का है। उसको हम शुद्धता या पवित्रता भी कह सकते हैं। वह बाहरी और भीतरी—दोनों प्रकार की है। शारीरिक और मानसिक स्वच्छता से देश की ऊँची-नीची संस्कृति का पता लग सकता है। जिस देश के लोगों में जितनी ही बाहरी-भीतरी मलिनता होगी, वह उतना ही असभ्य माना जायगा। हमारी अब तक की शिक्षा से जन-साधारण की यह मलिनता दूर नहीं हुई है। किन्तु, अब ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जो देशवासियों के जीवन को बाहर और भीतर से स्वच्छ कर दे। हमारी गंदी आदतें छूट जायँ, हमारे दिल की गन्दगी दूर हो जाय, हमारे जीवन के चारों ओर शुद्धता का संस्कार व्याप्त हो जाय, हमारे आचरण और व्यवहार में कहीं से अपवित्रता की गन्ध न मिले, तब कहीं सच्चे अर्थ में कहा जा सकेगा कि हम गणतंत्री देश के नागरिक हैं। ये गुण शिक्षा से ही आ सकते हैं। हमारी शिक्षा-पद्धति ही ऐसी होनी चाहिए कि हम बाहर-भीतर से निर्मल हो जायँ।

संस्कृति का अमृत

अभी यह कोरी कल्पना कही जायगी। किन्तु, राम-राज्य का सपना भी एक प्रकार की कल्पना ही है। राम-राज्य का जहाँ-कहीं वर्णन मिलता है, उससे पता चलता है कि उस राज्य के नर-नारी कैसे शरीर और स्वभाव के थे। यदि राष्ट्र के नर-नारियों में शारीरिक सौन्दर्य अपेक्षित है, तो वह शिक्षा द्वारा ही सम्भव भी है। यदि राष्ट्र के लोगों में मानवोचित गुणों का विकास करना अभीष्ट है, तो शिक्षा द्वारा ही उसकी सिद्धि हो सकती है। हमारे शास्त्रों में दिनचर्या और जीवन-यापन का जो विधि-विधान है, वह मनुष्यता को चरितार्थ करने के लिए ही है। हमारी दिनचर्या और जीवन-निर्वाह की शैली देखकर ही हमारी संस्कृति की महत्ता आँकी जा सकती है। यदि उनमें हम कुछ परिष्कार देखना चाहते हैं, तो हमें सांस्कृतिक शिक्षा-प्रणाली का सहारा लेना ही पड़ेगा। उसी से राष्ट्र की प्रजा के जीवन की सभी दिशाओं को प्रकाश मिलेगा। जबतक शिक्षा के प्याले में संस्कृति का अमृत न घोला जायगा, तबतक राष्ट्र का जीवन दिव्य न होगा।

सदाचारिता और मनुष्यता

हमारे देश के लोगों को केवल पुस्तकीय शिक्षा की ही आवश्यकता नहीं है, उन्हें छोटी-से-छोटी व्यावहारिक बात की भी शिक्षा देने की जरूरत है। विविध विषयों अथवा शास्त्रों का ज्ञान बढ़ाने के लिए तो शिक्षा दी ही जाती है, सदाचारिता और मनुष्यता सिखाने के लिए भी कुछ प्रयास होना चाहिए। विद्वानों से देश उतना सुखी न होगा जितना ईमानदारों और सच्चरित्रों से! इसका यह आशय नहीं कि विद्वानों में ईमानदारी और सच्चरित्रता की कमी होती है। इसका संकेत इतना ही है कि हमारी वर्त्तमान शिक्षा हमें उचित मात्रा में सचाई नहीं सिखाती। आज की शिक्षा से जीवन के हर पहलू में सचाई की सुरभि नहीं व्यापेगी। उससे हमारा ईमान, दिमाग, रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल, भाव-बर्ताव सब कुछ विकृत हो गया है। प्रजातंत्री या गणतंत्री देश को अपना नाम सार्थक करने योग्य शिक्षा-क्रम अपनाना होगा।

ज्ञान-प्राप्ति और आचार-संस्कार

प्रजातंत्र की हवाई बातें हर तरफ खूब हो रही हैं; मगर महज मामूली बात पर ध्यान दिया जाय तो कहना पड़ेगा कि लोगों को अभी थूकने का भी शऊर नहीं है। मल-मूत्र-विसर्जन के ढंग से भी शिक्षा के गुण-दोष परखे जा सकते हैं। जहाँ समाज में अविश्वास, सन्देह, भय, आशंका, अन्ध-परम्परा, छल-प्रपंच, ईर्ष्या-द्वेष, बेईमानी-शैतानी भी कम-बेश हर-एक परिवार को ग्रसे हुए हैं, वहाँ प्रजातंत्र आसमान में भले ही मँड़राता रहे; धरती पर कैसे उतर सकता है; अगर धरती पर आयगा भी तो दुर्घटना-ग्रस्त वायुयान की तरह! इसलिए, ज्ञान-विज्ञान बढ़ानेवाली शिक्षा के साथ-साथ हमें ऐसी शिक्षा भी चाहिए, जो आचार-क्षेत्र को उर्वर करे, हमें पशु-कोटि से मनुष्य-कोटि में लावे। म्लेच्छ को मानव बनावे और प्रत्येक नागरिक में प्रजातंत्री भावना की अनुभूति भरे।

—मासिक 'बिहार-सन्देश' (पटना); वर्ष १, संख्या ८-९; २६ जनवरी, १९५० ई०

•

प्रजातंत्री देश का सबसे पहला काम

जंगल-पहाड़, नदी-समुद्र, बाग-बगीचा, खेत-खलिहान, सड़क-मकान आदि का नाम देश या राष्ट्र नहीं है। देश या राष्ट्र में बसनेवाले नर-नारी ही देश या राष्ट्र हैं। जिस राष्ट्र में रहनेवाले लोग जैसे होंगे, वह राष्ट्र भी वैसा ही होगा। जहाँ के देशवासी परिश्रमी, साहसी और अध्यवसायी होंगे, वहाँ की बंजर भूमि भी उपजाऊ होकर लहलहाने लगेगी। पर जहाँ के देशवासी आलसी, अकर्मण्य और हतोत्साह होंगे, वहाँ की पैदावार जमीन भी ऊसर हो जायगी।

हमारा भारत राष्ट्र बहुत बड़ा है, उपजाऊ है, प्राकृतिक वैभव से भरा-पड़ा है, सब तरह की उन्नति के सभी साधनों से सर्वथा सम्पन्न है। किन्तु, यह सब-कुछ होते हुए भी यह आज नाना प्रकार के अभावों का गढ़ भी है। इसका मूल कारण क्या है? यही आज सब को सोचना है।

प्रजातंत्र की घोषणा तो हो गई; पर यदि हमने घोषणा के क्षण में ही यह नहीं सोचा कि प्रजातंत्री देश के नागरिक या निवासी के क्या लक्षण हैं तो घोषणा फिस हो जायगी।

आज या अब, सबको गंभीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि हमलोग प्रजातंत्रात्मक देश के सच्चे नागरिक कैसे कहला सकते हैं—जनतंत्री राष्ट्र के निवासी में जो गुण होने चाहिए, वे हममें हैं या नहीं।

मेरी समझ में, आज के नये भारत की जनता का सबसे पहला काम यह होना चाहिए कि सब लोग समय का सदुपयोग करना सीखें—संकल्प करें दृढ़ता के साथ कि अपने अमूल्य समय का एक क्षण भी नष्ट न करेंगे, नष्ट नहीं होने देंगे। बस, 'एकहि साधे सब सधे'।

जो समय का मूल्य नहीं जानता, नहीं समझता, वह परिश्रमी है तो क्या, साहसी है तो क्या, अध्यवसायी है तो क्या, सर्वगुण-सम्पन्न होकर भी, समस्त साधनों से संवलित होने पर भी, खाक-पत्थर कुछ नहीं कर सकता, सुख और प्रकाश तो उसके लिए सिरजे ही नहीं गये।

किन्तु, केवल अपने ही समय का सदुपयोग करना नहीं सीखना है; दूसरों के समय का मूल्य आँकना भी सीखना पड़ेगा। न हम अपना समय खोवें और न दूसरे का नष्ट करें। साथ ही, यह भी अच्छी तरह समझ लेना है कि समय खोना कहते किसे हैं और समय का सदुपयोग किया कैसे जाता है। यह समझने के लिए कुछ तो बुद्धि चाहिए ही। और, मनुष्य कहलानेवाले किसी भी प्राणी को ईश्वर ने इतनी बुद्धि से वंचित नहीं किया है।

हमारे देश के लोगों को अगर सचमुच कुछ सीखना है तो वह यही और इतना ही कि समय का सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग किस प्रकार किया जाता है अथवा किया जाना चाहिए। जीवन का हरएक क्षण किसी ऐसे ही काम में लगे जिससे राष्ट्र की वर्त्तमान समस्याओं के समाधान में सहायता पहुँचे। इसी बात की भावना और इसी बात का ध्यान सदैव बना रहे, यही अब मुख्य कर्त्तव्य है।

भारत कृषि-प्रधान देश है। फिर भी कहा जाता है कि अपने पोषण के योग्य यहाँ अन्न नहीं उपजता। पर, हमारे किसान यदि अपने साल-भर के समय का ठीक-ठीक उपयोग करें तो अधिक अन्न उपजाने का आन्दोलन कुछ ही दिनों में सफल हो सकता है। किसानों का बहुत-सा समय बेकार बैठे रहने में बीत जाता है। गाँवों के बाहर के खेत तो आबाद होते हैं, पर गाँवों की बस्ती के भीतर जो खँड़हर होते हैं वे भी साग-भाजी

से आबाद किये जा सकते हैं। खँड़हरों की आबादी से बस्ती के अन्दर की गन्दगी दूर हो जा सकती है।

फालतू गपशप और झगड़ा-फसाद में गाँववालों का बहुत समय नष्ट हो जाता है। यदि वे कुँओं और गलियों की सफाई तथा बस्ती के सँवारते रहने में लगे रहें, तो वे अनेक प्रकार के भयंकर रोगों से बचे रहेंगे। स्नान-भोजन और विश्राम के सिवा जो समय बच रहता है, उसका हरएक क्षण यदि किसी-न-किसी उपयोगी काम के करने में ही लगता रहे, तो किसी प्रकार का अभाव कभी खल ही नहीं सकता। गाँववाले ही जब अपनी बस्ती को सुधारने-सँवारने का बीड़ा उठा लेंगे तब उनके समय का आप-से-आप सदुपयोग होता चलेगा—साग-सब्जी और फूल-पत्ती से बस्ती की शोभा भी बढ़ेगी; महामारियों से पिण्ड भी छूटेगा।

यदि काम करते रहने की सच्ची लगन हो तो कामों की कोई कमी नहीं है। घर में ही बहुतेरे काम ऐसे हैं जिन्हें आलस्यवश न करने से हमारा घर साफ-सुथरा और सुन्दर नहीं दीख पड़ता। हमारे देश के जो लोग विदेश-यात्रा से लौटते हैं, वे वहाँ के गाँव और शहरों की सफाई तथा सजावट की बड़ी प्रशंसा करते हैं। पर, हम उनके वर्णनों को पढ़-सुनकर भी कोई प्रेरणा नहीं पाते। हमें भी अब कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि विदेशों के जो लोग हमारे देश में भ्रमण करने आवें, वे स्वदेश लौटकर हमारे ग्राम-नगरों की सफाई और सजावट की भी प्रशंसा करें। ऐसा तभी होगा जब हम समय का महत्त्व समझने लगेंगे।

चाहे हम किसी पेशे के आदमी हों, गाँव में रहते हों या शहर में, हम अपने और दूसरे के समय का वास्तविक मूल्य समझने की चेष्टा करें। हम अपने में ऐसी प्रवृत्ति पैदा करें कि हमारे जीवन का कोई क्षण व्यर्थ नष्ट न हो। हम अपनी मनोवृत्ति ही ऐसी बना लें कि अपना समय नष्ट होने पर, या दूसरे का समय नष्ट करने में स्वयं कारण बनने पर, अपने मन में घोर ग्लानि का अनुभव करें। यदि हम कोई अनिष्ट करके भी पछताते नहीं, तो हमारा सुधार असंभव है।

जब हम ही देश हैं, हम ही राष्ट्र हैं, तब हमारा ही जीवन देश या राष्ट्र का जीवन है। हमारा जीवन सुन्दर होगा तो राष्ट्र का भी होगा। हमारा जीवन निकम्मा होगा तो राष्ट्र भी निकम्मा होकर रहेगा। जीवन निकम्मा तभी होता है जब समय के सदुपयोग का ज्ञान और ध्यान नहीं रहता। सुन्दर वह तब होता है जब क्षण-क्षण को अशर्फियों से तौलता है। जन-जन में बसे ही सुन्दर जीवन से राष्ट्र समृद्ध एवं दीर्घायु होगा। इसलिए, प्रजातंत्री देश का सबसे पहला काम है—समय का सदुपयोग करने में तत्पर होना—कृतसंकल्प होना।[1]

—दैनिक 'नवराष्ट्र' (पटना) : प्रजातंत्र-अङ्क ; २६ जनवरी, १९५० ई०

१. यही लेख साप्ताहिक 'रोशनी' (पटना) में भी उद्धृत हुआ था। उसका शीर्षक था—'आजाद देश का पहला कर्त्तव्य'। देखिए—'रोशनी'—वर्ष १५, अंक ३० : स्वाधीनता-अङ्क ; १५ अगस्त १९५२ ई०।
—लेखक

प्रजातंत्र और साहित्य

भारत में प्रजातंत्र-सत्ता स्थापित होने के बाद से साहित्य की प्रगति का अध्ययन करने पर ऐसा अनुभव हो रहा है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार राष्ट्रभाषा हिन्दी की समृद्धि और उसके अभ्युदय के लिए नाना प्रकार के महत्त्वपूर्ण प्रयत्न कर रही है; किन्तु अबतक उसने जनता को अनैतिकता के गर्त्त में गिरानेवाले अवांछनीय साहित्य का मार्ग अवरुद्ध करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया है। प्रजातंत्र देश में ऐसे साहित्य का प्रचार वैधानिक रीति से रोकना चाहिए, जिस साहित्य से जनता का नैतिक पतन होता हो अथवा जनता चरित्रभ्रष्ट होती हो।

हिन्दी-साहित्य की गतिविधि परखते रहनेवाले साहित्य-सेवी प्रतिदिन यह अनुभव कर रहे हैं कि कुछ लोग जनता को दुर्व्यसन और दुर्वासना के जाल में फँसाकर खूब पैसे कमा रहे हैं। अवस्था यहाँ तक पहुँच गई है कि जनता को पथभ्रष्ट करनेवाले गन्दे साहित्य के मुकाबले सत्साहित्य का प्रचार हो ही नहीं पाता। जनता के भाव, विचार, ज्ञान, चरित्र, मनोबल और उत्साह को उन्नत तथा परिष्कृत करनेवाले साहित्य की जो सृष्टि करते हैं, वे आर्थिक कठिनाइयों में फँसे हुए हैं; पर जो लोग जनता का मनोरंजन करने के बहाने से उसको विष के घूँट पिला रहे हैं, वे माल मार रहे हैं।

सत्साहित्य की रचना करनेवाले साहित्यकारों को यह बात बहुत खलती है कि जो लोग जनता के मन में दूषित प्रवृत्ति पैदा कर रहे हैं उनको हमारी राष्ट्रीय सरकार छेड़ती तक नहीं है। जनता के जान-माल की रक्षा की जिम्मेदारी जितनी सरकार पर है उतनी ही चरित्र-रक्षा की भी है। लाखों विद्यार्थी, जो देश के वास्तविक मूल-धन हैं, अनिष्टकर साहित्य पढ़कर नैतिक ह्रास के शिकार हो रहे हैं। कुरुचिपूर्ण कहानियाँ और अत्यन्त निन्दनीय उपन्यास तथा कुत्सित भाव-विचार फैलानेवाले मासिक पत्र आज हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र को मलिनता का भाण्डार बना रहे हैं। जनता की रुचि और मनोवृत्ति दिन-दिन बिगड़ती जा रही है। यह घोर पतन का भयावह तमाशा खुली आँखों देखते रहना किसी देशहितैषी साहित्यानुरागी के लिए सर्वथा असह्य है।

हमारे देश की अधिकांश जनता अशिक्षित है। वह अपना हित-अहित नहीं परख सकती। ऐसी अबोध जनता के दिल-दिमाग और पैसे से जो लोग मनमाना खिलवाड़ कर रहे हैं, उनकी नकेल थामना हमारी सरकार के ही बस की बात है। उसी पर इसका उत्तर-दायित्व भी है। जबतक भ्रष्ट साहित्य का अनर्गल प्रचार सुदृढ़ हाथों से रोका नहीं जायगा, तबतक देश के सारे सांस्कृतिक आन्दोलन और कार्य निरर्थक ही सिद्ध होंगे।

जनता के चरित्र को चौपट करनेवाले साहित्य से यदि सरकार को असंख्य करोड़ की आमदनी भी होती हो, तो भी आमदनी का कोई दूसरा रास्ता सोच निकालना चाहिए। इफरात आमदनी के लोभ से जनता के नैतिक पतन का रास्ता साफ करते जाना कदापि उचित नहीं है।

सरकार को चाहिए कि वह साहित्य-क्षेत्र को शुद्ध और स्वच्छ बनाने के लिए अशिष्ट एवं अभद्र साहित्य का प्रचार लोक-कल्याण की भावना से शीघ्रातिशीघ्र रोक दे। साहित्य की शुद्धता और स्वच्छता से ही जनता का नैतिक उत्कर्ष संभव है।

यदि जनता के मानसिक धरातल को ऊँचा करना अभीष्ट है, यदि जनता के चारित्रिक स्तर को ऊपर उठाना आवश्यक है, तो भ्रष्टता फैलानेवाले उपन्यासों और नाटकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की खबर लेनी होगी।

यह कहना अनावश्यक है कि सिनेमा के तमाशे भी साहित्य की सीमा के ही अन्तर्गत हैं। और, जनता पर उनका ही प्रभाव अधिक है।

मासिक 'बिहार-सन्देश' (पटना); वर्ष २, अंक ८-९; २६ जनवरी, १९५१ ई०

•

युगान्तर कैसे होगा?

युगान्तर का सरल अर्थ है युग-परिवर्त्तन। युग के परिवर्त्तन का मतलब है बुरे युग का बदलकर अच्छा होना। अच्छा युग भी बदलकर बुरा हो सकता है। तब भी लोग कहते हैं कि युग-परिवर्त्तन हो गया। किन्तु युगान्तर का प्रयोग अधिकतर अच्छे भाव में ही किया जाता है। यदि सदियों की गुलामी के बाद आजादी आ गई तो कहा जाने लगा कि युगान्तर हो गया। भ्रष्टाचार का युग बीत जाने पर सदाचार का युग आ जायगा तो युगान्तर ही कहा जायगा। बुराई जब अच्छाई में बदल जाती है, तभी युगान्तर होने की चर्चा चल पड़ती है।

आज भी सारे देश में फैली हुई घोर अनैतिकता से खिन्न होकर हरएक भला आदमी अनायास कह उठता है कि क्रान्ति के बिना युगान्तर नहीं होगा। क्रान्ति तो प्रायः तभी होती है जब मनुष्य के भीतर का ब्रह्म जाग उठता है। वह सजग तो सदैव है, पर प्रकृति के प्रतिकूल परिस्थिति होने पर विद्रोही बन जाता है।

सन् १९४२ ई० में ९ अगस्त को जन-जन में व्याप्त ब्रह्म विद्रोह कर उठा। क्रान्ति मची, युगान्तर प्रत्यक्ष हुआ।

साधारणतः लोग मानते हैं कि आजकल बारह वर्ष का युग होता है। सनातनियों की धारणा के अनुसार ब्रह्मबीसी, विष्णुबीसी और शिवबीसी नामक तीन युग चक्रवत् आते-जाते रहते हैं। पहला रचनात्मक है, दूसरा उन्नतिशील और तीसरा संहारात्मक। प्रत्येक की अवधि बीस वर्ष है। इस तरह हरएक बीसी के बाद हेर-फेर होता है। यह कलियुगी हिसाब है। हमारे पौराणिक युग तो विराट हैं। उनमें होनेवाले परिवर्त्तन भी बड़े व्यापक हैं। किन्तु, आज के अल्पायु मानव का युग बहुत छोटी परिधि का है। तब भी उसमें होनेवाले परिवर्त्तन का कुछ अनुभव होता ही है।

आज जो विकास-योजनाएँ कार्यान्वित हो रही हैं, सांस्कृतिक सम्मेलन हो रहे हैं, सर्वोदय-संघ स्थापित हो रहे हैं, भूदान-यज्ञ और जीवन-दान-संकल्प हो रहे हैं, ग्राम-पंचायत और श्रमदान की व्यवस्था हो रही है, गोवध-निषेध और नैतिकता के लिए भी जहाँ-तहाँ आवाज बुलन्द हो रही है, जनता की आध्यात्मिक उन्नति के भी नाना प्रयत्न हो रहे हैं, आश्रमों और सत्संगों के काम भी बराबर चालू हैं, वे सब-के-सब युगान्तर का ही आवाहन करते हैं। आज हमारे सभी सत्प्रयासों का लक्ष्य यही है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति और युगान्तर हो।

किन्तु, कोई प्रयत्न तबतक सफल नहीं होता जबतक मनुष्य तदनुकूल आचरण नहीं करता। यदि हम युगान्तर का आह्वान मनसा-वाचा-कर्मणा नहीं करते तो हमारे लाखों प्रयत्न व्यर्थ हैं। मन-वचन-कर्म के सम्मिलित प्रयास से ही लक्ष्यसिद्धि होती है। इन तीनों के हार्दिक सहयोग के विना कोई काम नहीं सधता। इनमें मन का स्थान सर्वप्रथम है, यह ध्यान में रखना चाहिए। आज हरएक सभा-मंच से शुभ वचन निकलते हैं, हरएक क्षेत्र एवं दिशा में शुभ कर्म के उद्योग हो रहे हैं, पर क्या हरएक का मन भी सचाई और निस्पृहता के साथ उधर संलग्न है?

यही विकट प्रश्न आज विचारणीय है। इसी प्रश्न के समुचित समाधान से युगान्तर की आशा बलवती हो सकती है। आज किसी क्षेत्र या किसी दिशा में ईमानदारी अपने पैर नहीं जमा पाती। ईश्वर की आँखों में धूल झोंकने के प्रयत्न पग-पग पर हो रहे हैं। श्रद्धा-भक्ति में बाहरी आडम्बर और विडम्बना घुस गई है। आचार-विचार की शुद्धता सर्वथा उपेक्षित है। सर्वत्र स्वेच्छाचार का बोलबाला है। मन पश्चिम जा रहा है, वचन पूरब की ओर, कर्म दक्षिण दिशा में, फिर तो उत्तरोत्तर ह्रास होना ही चाहिए। उत्थान तो तभी संभव है जब नदी-नहर के निर्माण के साथ-साथ जनलोक का चरित्र-निर्माण भी होता चले। जड़ों के साथ चेतनों का नवनिर्माण न होने से राष्ट्र का अभ्युत्थान या अभ्युदय कैसे साध्य हो सकता है?

हमारी राष्ट्रीय चेतना सोई, अलसाई-सी दीख पड़ती है। हमारा राष्ट्रीय चरित्र शिथिल और दूषित हो रहा है। हम अँगड़ाइयाँ ले-लेकर ऊँघते चले जाते हैं। नाना प्रकार के विकारों से हमारे हृदय और मस्तिष्क आक्रान्त हैं। स्वार्थ-साधन से लोकमंगल परास्त है। राष्ट्र का कल्याण अधिकांश लोगों की दृष्टि से ओझल हो गया है। त्याग और सेवा की भावना मुट्ठी-भर लोगों में बच रही है। फिर ईमान की सस्ती और निष्ठा की महँगी के इस युग में युगान्तर का स्वप्न कैसे साकार होगा?

—साप्ताहिक 'युगान्तर' (झरिया, मानभूमि); दीपावली-विशेषाङ्क; सन् १९५४ ई०

●

तुलसीदास का एक सोरठा

श्रीरामचरितमानस के बालकाण्ड में, शिव-पार्वती विवाह की कथा से पहले, मदन-दहन-प्रसंग, में एक सोरठा है—

धरा न काहू धीर
सबके मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर
ते उबरे तेहि काल महँ॥

संसार की वर्त्तमान गति-विधि इस 'सोरठा' पर गंभीरतापूर्वक विचार करने में प्रवृत्त करती है। आधुनिक युग की परिस्थितियाँ इस 'सोरठा' की ओर ध्यान आकृष्ट करके कुछ सोचने-समझने के लिए वाध्य करती हैं।

इस 'सोरठा' के अन्त में जो 'काल' है वह अब बहुत दूर नहीं जान पड़ता। प्रत्यक्ष घटनाओं का अध्ययन-मनन करने से इस 'सोरठा' के संकेत का स्पष्ट आभास मिलता है।

यह कहना बड़ा कठिन है कि 'काम' के कुपित होने का समय आ गया है या आगे आनेवाला है; पर ऐसे युग के पैरों की आहट मिल रही है जिसमें मनुष्य के धैर्य की अग्नि-परीक्षा होगी। वैसा युग निकट भविष्य में आनेवाला है या इस समय भी वह क्षितिज के छोर पर झाँक रहा है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी ऐसी आशंका रह-रहकर मनुष्य के मन को घेर रही है कि भावी युग में महात्मा तुलसीदास के इस 'सोरठा' की अन्तिम पंक्ति सम्भवतः चरितार्थ होकर रहेगी।

'सोरठा' की अन्तिम पंक्ति पर इस युग के बहुतेरे लोगों की आस्था नहीं होगी; क्योंकि जो लोग प्रतिदिन अथवा प्रायः तुलसीकृत रामायण पढ़ा करते हैं, उनका भी ध्यान इस पंक्ति पर नहीं टिका है या टिका भी हो तो उन्होंने जनता को अबतक सावधान नहीं किया है। मैं कोई भविष्य-द्रष्टा नहीं हूँ कि अधिकारपूर्वक भविष्यवाणी कर सकूँ; पर अन्तरात्मा जिस पर लगातार ठोकर देती रहती हो, उसकी ओर जनता का ध्यान खींचना आवश्यक प्रतीत होता है।

आगामी वर्ष, सन् १९५७ ई० में, क्रान्ति होने की चर्चा प्रायः सुनाई पड़ती है। वह क्रान्ति कैसी होगी, होगी या नहीं होगी, कब से होगी, कहाँ से होगी, उसका फल क्या होगा—इत्यादि बातों पर कोई ठीक राय नहीं दे पाता। परन्तु, आशंका प्रकट करने में कोई हिचकता भी नहीं। जो हो, भविष्य तो भगवान की मुट्ठी में है। परन्तु, वर्त्तमान को ऐसा बनाना कि भविष्य अनुकूल हो, मनुष्य का ही काम है। भविष्य प्रायः वर्त्तमान का ही परिणाम अथवा रूपान्तर होता है। वर्त्तमान का सदुपयोग करना सबके हाथ में है।

इस देश की अधिकांश जनता अशिक्षित है। बहुत-से लोग तो गुमराह भी हैं। कितनी ही बातों में जनता अभी अँखफोर भी नहीं हुई है। जनता में दूरदर्शिता की भी

कमी है। जनता के हितैषी जन-कल्याण के काम में लगे हुए हैं। किन्तु, कल्याण के मार्ग पर चलने की निष्ठा का अभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। ऐसी दशा में, अपढ़ लोगों की भी समझ में आने योग्य तुलसीदास का उपर्युक्त 'सोरठा' उपयुक्त अवसर पर याद करा देना उचित जान पड़ा।

—दैनिक 'नवराष्ट्र' (पटना); दीपावली-अङ्क; २ नवम्बर, १९५६ ई०

•

कुछ सुकुमार आँसू

सत्ययुग से कलियुग तक सुकुमार आँसुओं की एक धारा बहती आ रही है। भगवान जाने, यह धारा करुणा-सागर के चरणों तक कबतक पहुँचेगी!

सत्ययुग के सुकुमार आँसुओं में सबसे अधिक हृदय-द्रावक हैं 'शैव्या' के आँसू, जो इतने दर्द-भरे हैं कि सत्यसन्ध हरिश्चन्द्र के हृदय को भी हिलाकर ही छोड़ते हैं। उन आँसुओं में 'राजा से रंक'-वाली कहानी के सिवा कुछ और भी है—सुख-सर्वस्व और जीवन-सर्वस्व के वियोग के बाद हृदय-सर्वस्व के वियोग की मर्म-वेदना!

त्रेता में जनकनन्दिनी के आँसू ऐसे उमड़ चले हैं कि दूसरे आँसुओं की कहीं गति ही न रह गई है। दण्डकारण्य के पशु-पक्षियों और वृक्ष-वल्लरियों को भी प्रभावान्वित करनेवाले वे आँसू!

किन्तु, अयोध्या के राजमहल के किसी एकान्त कक्ष में कुछ मूक आँसू भी बहते रहे थे—पतिगतप्राणा तपस्विनी उर्मिला के आँसू!

द्वापर में द्रौपदी और दमयन्ती के आँसू—दोनों ने अनाथा की तरह कलप-कलपकर, बिलख-बिलखकर, इतना रोया है कि याद करते ही दिल हिल जाता है। द्रौपदी रोई कौरव-सभा में, दमयन्ती रोई जनशून्य एकान्त वन में। दोनों लज्जा ढकने में असमर्थ, दोनों जूए की मार से घायल, दोनों पति-परित्यक्ता, दोनों सर्वथा अवलम्ब-हीना!

किन्तु, अभिमन्यु की नव-वधू 'उत्तरा' के आँसुओं में कुछ और ही बावत है। अभिमन्यु के रण-प्रस्थान के समय के उसके आँसुओं का मूल्य कौन आँक सकता है?

कलियुग तो आँसुओं का भाण्डार ही है। स्वेच्छाचारी विदेशी विधर्मी शासकों के नाना प्रकार के अत्याचारों से पीड़ित हुई जनता और कुल-वधुओं के आँसू में सारा इतिहास डूबा पड़ा है। और, बाल-विधवाओं के आँसू तो इतने उमड़ते जा रहे हैं कि जान पड़ता है—सारी हिन्दू-जाति एक दिन उसमें डूब जायगी।

—'मोतियों की लड़ी' (काशी); सन् १९२७ ई०

•

बिहार की सर्वश्रेष्ठ गोशाला

भारत में गोरक्षिणी-संस्थाओं की जो दयनीय दशा है, वह सर्वविदित है। किन्तु, उनकी दुरवस्था का मुख्य कारण जहाँ अव्यवस्था और द्रव्याभाव है, वहाँ जनता की उदासीनता भी है। मारवाड़ी, गुजराती आदि व्यापार-प्रधान जातियों के अतिरिक्त भारत की कोई जाति गोरक्षा में श्रद्धा और सुरुचि के साथ तत्पर नहीं है। राजा-रईसों को गोरक्षिणी-संस्थाओं की सहायता का कुछ ध्यान ही नहीं है। व्यवसायी वैश्यों के घर में विवाहादि शुभ अवसरों पर गोरक्षा के निमित्त यथाशक्ति दान देने की भी प्रथा है; पर राजा-रईसों के यहाँ यह भी नहीं है। सरकारी संरक्षण तो है ही नहीं। जिला-बोर्ड या लोकल-बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी की सहायता भी नाममात्र की होती है। ऐसी स्थिति में गोरक्षिणी-संस्थाओं का अव्यवस्थित एवं दुर्दशाग्रस्त होना स्वाभाविक है। जब कृषिप्रधान देश होने पर भी भारत में गोचर-भूमि का सर्वथा अभाव है, तब गोभक्त-नामधारी इस देश के गोधन की दुर्गति आश्चर्यजनक कैसे कही जा सकती है।

हिन्दू-जाति भी गोरक्षा से विमुख हो गई है, यह सबसे बढ़कर दुःख की बात है। गोधन के ह्रास का सबसे बड़ा कारण हिन्दुओं की अश्रद्धा ही है। प्राचीनकाल में घर-घर गोग्रास की जो प्रथा थी, वह अब नहीं रही। किसान बड़े गोपालक कहे जाते हैं, पर वे भी स्वार्थी बन गये हैं। बूढ़ी, लाचार और निकम्मी गौओं को निर्वासित करने में किसान भी नहीं हिचकते। जिस गाय-बैल की कमाई बरसों खाते हैं, उसके असमर्थ हो जाने पर उसे गोरक्षिणी-संस्था में भी नहीं पहुँचाते। वृद्ध माता-पिता का तो घर में आदर ही नहीं, गाय-बैल की बात कौन पूछे। यह देश-दुर्दशा की चरम सीमा है।

विदेशों में गोरक्षा की जो व्यवस्था है, उसकी चर्चा करना आवश्यक है। विदेशियों को हम गोभक्षक कहते हैं; पर उनकी गोपालन-प्रणाली से जो परिचित हैं, वे उन्हें गोपालक ही कहेंगे। स्वनामधन्य पंडित रामनारायण मिश्र (काशी) ने अपने योरप-यात्रा-विवरण में स्पष्ट लिखा है कि योरप के देशों में जैसा शुद्ध और मधुर गो-दुग्ध सुलभ है, वैसा भारत में शायद ही कहीं मिल सके। राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू जब इंगलैंड गये थे, तब वहाँ की सुरक्षित गोचरभूमि और गौओं की प्रशंसा अपने यात्रा-वर्णन में लिखकर उन्होंने खुले शब्दों में कह दिया था कि भारत का गोरक्षक होने का गर्व निराधार है। यह ठीक है कि भारत दरिद्र है, योरप और अमेरिका धन-सम्पन्न हैं। किन्तु, भारत केवल गोरक्षा करने में दरिद्र है, विवाह और श्राद्ध में अपव्यय करने में दरिद्र नहीं है। प्रचुर धनव्यय करके सैकड़ों निरर्थक कार्य हिन्दू-समाज में होते हैं; पर गोरक्षा का महत्त्व किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं करता।

इस देश में गोरक्षा को अपने उद्देश्यों में सम्मिलित करनेवाली अनेक महासभाएँ भी हैं; पर आज तक वर्त्तमान युग की उन्नत एवं वैज्ञानिक गोपालन-पद्धति का अध्ययन करने के लिए कोई गोभक्त-दल विदेशों में नहीं भेजा गया। कुछ लोग जो इस उद्देश्य से वहाँ गये भी, यहाँ लौटकर संगठित रूप से कुछ न कर सके—सामूहिक रूप से देश की गोरक्षिणी

संस्थाओं का वास्तविक हित-साधन न हो सका। हमारी गोरक्षाभिमानिनी महासभाएँ गोधन-साहित्य भी तैयार न करा सकीं—गोपालन-विधि और गोबर का उपयोग बतानेवाली एक-एक पैसे की सस्ती पुस्तिकाएँ भी भारत के घर-घर में न पहुँचा सकीं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी में गोधन-साहित्य की जो अवस्था है, वह हिन्दी-प्रेमियों से छिपी नहीं। गोलोकवासी पंडित गंगाप्रसादजी अग्निहोत्री का जीवन गो-साहित्य-रचना में ही बीत गया, पर उनका उत्तराधिकार ग्रहण करनेवाला कोई न निकला। उन्हीं के प्रान्त (मध्यप्रदेश) के 'लखनादौन' के निवासी श्री शोभारामजी धेनुसेवक अब भी लगन लगाये हुए हैं; पर प्रचार-कार्य के साथ ही साहित्य-रचना का कार्य विधिवत् सम्पन्न नहीं हो सकता—यह एक व्यक्ति की शक्ति से परे का काम है। साधु-संन्यासी और मठाधीश भी इस देश में असंख्य हैं; पर कैलासवासी आत्माराम संन्यासी का उत्तराधिकारी कोई नहीं—अपनी ही मुक्ति के पीछे सब विह्वल हैं, गोमाता की मुक्ति किसी को अभीष्ट नहीं।

इन सारी बातों का परिणाम प्रत्यक्ष है। भारत-सन्तान विशुद्ध गो-दुग्ध के अभाव से अल्पायु और रोगी होती जा रही है। गोबर की खाद को महात्मा गान्धी भले ही सर्वश्रेष्ठ खाद बतलावें, पर सरल और सस्ती रीति से भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ाना भी किसी को पसंद नहीं—ऐसा घोर आलस्य और जड़ता है इस देश में।

एक तो यहाँ गोरक्षिणी-संस्थाओं की संख्या ही बहुत कम है, दूसरे—जो इनी-गिनी संस्थाएँ हैं भी, उनकी प्रबन्ध-शैली अत्यन्त शोचनीय है। जिन लोगों ने बम्बई की गोवर्द्धन-संस्था, सैदपुर (कलकत्ता) का पिंजरापोल, काशी और कानपुर की गोशालाएँ देखी हैं, वे ही समझ सकते हैं कि अन्यान्य स्थानों की गोशालाओं में कौन-सी त्रुटियाँ हैं। यह कहा जा सकता है कि जहाँ धनी व्यवसायियों की संख्या अधिक है, वहाँ की गोशाला का उन्नत एवं सुव्यवस्थित होना कोई बड़ी बात नहीं; पर यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ सुसम्पन्न सद्गृहस्थ हिन्दुओं का जत्था है, वहाँ की गोशाला का कुप्रबन्ध दयनीय नहीं है। आर्थिक दृष्टि से तो भारत की सभी जातियों का कर्त्तव्य है गोरक्षण; पर गोरक्षा के नाम पर पड़ोसी जातियों से वैर बिसाहनेवाली हिन्दू-जाति का कर्त्तव्य सर्वोपरि है। गोरक्षा की आड़ में जो विद्वेष और वैमनस्य इस देश में फैल रहा है और उससे जो सर्वनाशकारी अशान्ति बढ़ रही है, वह देशोद्धार के मार्ग में बड़ी भारी चट्टान है, जिसे टालने का दायित्व सबसे पहले हिन्दुओं पर ही आता है।

यहाँ मैं एक ऐसी गोरक्षिणी संस्था का सचित्र परिचय दे रहा हूँ, जो केवल बिहार में ही नहीं, अन्य प्रान्तों की ऐसी संस्थाओं में भी अत्युच्च स्थान की अधिकारिणी होने योग्य है। बिहार में तो ऐसी गोशाला दूसरी नहीं है; पर अन्य प्रान्तों में भी एकाध ही कोई है। इस संस्था का नाम 'दरभंगा-गोशाला-सोसाइटी' है।

सन् १८८१ ई० में श्रीमान् मिथिलेश महाराज सर लक्ष्मीश्वर सिंह बहादुर ने इसकी स्थापना की थी। सन् १८८१ ई० से सन् १९२५ ई० तक इस गोशाला ने १,२३,६५० अनाथ एवं वृद्ध गौओं का भरण-पोषण किया। सन् १९२६ ई० से, जब से वर्त्तमान दरभंगा-नरेश महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह बहादुर मिथिला की गद्दी पर बैठे हैं,

इस संस्था की आशातीत उन्नति हुई है और इसका कार्यक्षेत्र भी बहुत विस्तृत हो गया है। सन् १९३० ई० में, सन् १८६० ई० के सोसाइटीज-रजिस्ट्रेशन-ऐक्ट के अनुसार, इस संस्था की रजिस्ट्री हुई। और, उसी वर्ष नेपाल-सरकार ने 'नीगौल'-नामक गाँव में, इस संस्था को चार सौ एकड़ गोचर-भूमि दान दी। यह गाँव नेपाल-राज्य के 'म्होतरी' जिले में है, जो मिथिला की सीमा के पास ही है।

इस संस्था का प्रचार-कार्य बड़ा प्रशंसनीय है। इसके कई प्रचारक मैजिक लालटेन पर भाषण देते फिरते हैं। प्रचार से प्रभावान्वित होकर मुसलमान भाइयों ने अबतक सवा सात सौ बूढ़ी गायें इस संस्था को दी हैं। पाली हुई गाय के बेचने की प्रथा भी कम होती जा रही है। जिला-भर के मवेशीखानों (Cattle-pounds) को इस संस्था ने अपने संचालकत्व में ले लिया है। बम्बई की 'जीव-दया-प्रचारिणी मंडली' (Humanitarian League) की ओर से समस्त बिहार में प्रचार-कार्य इसी संस्था की देखरेख में होता है। हाई स्कूलों के छात्रों के लिए गोरक्षा-सम्बन्धी लेख-प्रतियोगिता और पुरस्कार-योजना का प्रबन्ध भी 'मंडली' की ओर से यही संस्था करती है।

इस संस्था की चार मुख्य शाखाएँ हैं—नीगौल (नेपाल-राज), निरमली (भागलपुर-जिला), रखवारी और गंगवारा (दरभंगा-जिला) इसके पास बड़े-बड़े चरागाह भी हैं, जिनमें आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से नई-नई घास उपजाई जाती है। जिले के कई गाँवों में भी इसकी छोटी-मोटी शाखाएँ खुल गई हैं। इसने किसानों को पालने के लिए कितने ही गाय-बैल दिये हैं, जिन्हें वे बेच नहीं सकते। इस तरह के गाय-बैल दरभंगा-जिले में २५० और नैपाल-राज्य में ४०० वितरित हुए हैं। ऐसे पशुओं में कान पर नवीन यंत्र द्वारा नम्बर दिया हुआ है। संस्था के इन्सपेक्टर इन पशुओं की बराबर जाँच पड़ताल किया करते हैं।

घर-घर में गोग्रास-पात्र रखवाकर उसमें भोजन के पूर्व गोग्रास निकालने की प्रथा भी इसी संस्था ने चलाई है। उत्कृष्ट वंश के साँड़ों द्वारा गोवंश के विकास एवं वृद्धि का प्रबन्ध भी इसने बड़े अच्छे ढंग से किया है। नागरिकों को शुद्ध दूध पहुँचाने के लिए इसके दुग्धालय में बहुत सुन्दर प्रबन्ध है। स्वच्छ बोतलों में मुहरबंद करके खास तरह की साइकिलों पर नगर में दूध वितरित होता है, जिसके साथ छपे हुए मूल्यांकित टिकट भी रहते हैं। मक्खन आदि का भी ऐसा ही प्रबन्ध है। संस्था की इस सुव्यवस्था को देखकर ही दरभंगा-म्युनिसिपैलिटी ने दूध बढ़ाने के लिए इसे दो हजार रुपये दिये हैं और जिला-बोर्ड ने गाँवों में उत्तम साँड़ रखने के लिए चार हजार रुपये देकर भविष्य में भी इसकी यथोचित सहायता करते रहने का आश्वासन दिया है।

इसके पशु-चिकित्सालय में सुयोग्य डाक्टर नियुक्त हैं, जो संस्था के पशुओं के अतिरिक्त बाहर के पशुओं के लिए भी निःशुल्क औषध-वितरण करते हैं। इस पशु-सेवा से यह संस्था दिन-दिन लोकप्रिय होती जा रही है और जिले में गोरक्षा-सम्बन्धी जागृति भी फैल रही है। जनता में गोरक्षण का भाव जगाये रखने के लिए समय-समय पर नाना प्रकार के उत्सव, समारोह आदि भी होते रहते हैं। वंग-बिहार-गोशाला-सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन

जगद्गुरु शंकराचार्य के सभापतित्व में और बिहार-प्रान्तीय गोरक्षा-सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन महामना मालवीयजी की अध्यक्षता में इसी संस्था के प्रयत्न से यहाँ हुआ था। एक बार महाकवि हरिऔधजी के सभापतित्व में गोरक्षा-कवि-सम्मेलन भी हो चुका है। उस अवसर पर कविवर का जो भाषण हुआ था, वह पुस्तकाकार में मुद्रित है और गोभक्तों के पढ़ने योग्य एक अच्छी चीज भी है। इस संस्था ने गोरक्षा-सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशन का भी श्रीगणेश किया है। अभी हाल ही में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक पंडित गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इन्द्र' विद्यावाचस्पति की लिखी हुई 'गोरक्षा'-नामक एक उपयोगी पुस्तक यहाँ से प्रकाशित हुई है। और भी कई पुस्तकें छप रही हैं। यहाँ से 'गो-पालन'-नामक एक सचित्र मासिक पत्र भी निकलता था; पर अब उसके स्थान पर पुस्तक-प्रकाशन की ही व्यवस्था की गई है।

सन् १९३२ ई० में इस संस्था की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई थी। उस समय एक विराट प्रदर्शिनी का भी आयोजन किया गया था, जिसमें प्रान्तीय कृषि-विभाग, जिला-बोर्ड, म्युनिसिपैलिटी आदि का पूर्ण सहयोग होने से बड़ी सफलता मिली थी। सन् १९३४ ई० के भीषण भूकम्प में इस संस्था के सभी भवन चूर्ण हो गये थे; परन्तु दरभंगा-नरेश की वदान्यता से पुनः इसके सारे भवनों का निर्माण इतने सुन्दर रूप में हो गया कि आज इसकी शोभा देखते ही बनती है। नई शैली के सुदृढ़ भवनों से इसकी छटा ही निराली हो गई है। विगत वर्ष काशी के यशोधन कलाविद् श्री राय कृष्णदासजी, महाकवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त और भारतेन्दुजी के भ्रातुष्पौत्र डाक्टर मोतीचंद्रजी पी-एच्० डी० एक बारात में दरभंगा आये थे, तो मैं उनलोगों को यह संस्था दिखाने ले गया था। इसे देखकर वे परम संतुष्ट हुए और यहाँ तक कहा कि उत्तर-भारत में यह गोशाला अपने ढंग की अकेली और आदर्श संस्था है। इससे पहले भारतीय भीम प्रोफेसर राममूर्त्ति, डाक्टर मुञ्जे, कुमार गंगानन्द सिंह आदि प्रसिद्ध पुरुषों ने भी इसे देखकर यही सम्मति प्रकट की थी।

गोलोकवासी रायसाहब नथमलजी बेरोलिया इस नगर के एक प्रतिष्ठित धनाढ्य मारवाड़ी थे। उन्होंने भी इस संस्था के नये भवनों के निर्माण में प्रचुर द्रव्य व्यय किया था। जीवदया-मण्डली (बम्बई), मारवाड़ी-रिलीफ सोसाइटी (कलकत्ता), मारवाड़ी-पंचायत (कलकत्ता), बिहार-भूकम्प-कोष आदि से भी सामयिक सहायता प्राप्त हुई थी। इससे भी इस संस्था का महत्त्व स्पष्ट विदित होता है। जो कोई एक बार इसे देख लेता है, उसकी सहानुभूति आकृष्ट हुए विना नहीं रहती।

इस संस्था ने आजीवन सभ्यों का एक खाता खोला है। इस कोष में पाँच सौ रुपये से अधिक दान देनेवाले सभ्यों के तैलचित्र इसके कार्यालय की दीवारों पर जड़े गये हैं। प्रतिवर्ष जो तिरंगा गोशाला-तिथिपत्र (कलेंडर) निकलता है, उसमें इन सभी सभ्यों के चित्र छपे रहते हैं। सभ्यों के चित्रों की गैलरी में नगर के अधिकांश धनी-मानी व्यक्तियों के तैल-चित्र लगे हुए हैं, जिन्हें पुस्तक-भंडार (लहेरियासराय) के सिद्धहस्त चित्रकार श्री उपेन्द्र महारथी ने बनाया है। सभ्यों से जो द्रव्य प्राप्त होता है, वह गोशाला के स्थायी कोष में जमा हो जाता है। उसका ब्याज-मात्र ही गोरक्षा में व्यय होता है। यह संस्था की उन्नति का एक प्रधान साधन है।

इसके पुस्तकालय में गोरक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों का बृहत् संग्रह है। कदाचित् ऐसा गोरक्षा-साहित्य-संग्रह देश की अन्य गोशालाओं के पास न होगा। भारतीय भाषाओं की पुस्तकों के अतिरिक्त योरप और अमेरिका के गोरक्षा-साहित्य का भी यहाँ दर्शनीय संग्रह है। पुस्तकालय के साथ एक वाचनालय भी है, जिसमें अनेक हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं के सिवा अन्य भाषाओं के गोरक्षा-सम्बन्धी पत्र भी पढ़ने को मिलते हैं। पुस्तकालय, वाचनालय तथा कार्यालय में नाना प्रकार में मानचित्र, गो-जाति-संबंधी आँकड़े, उपदेश-वाक्य आदि टँगे हुए हैं, जिन्हें देखने और पढ़ने से गो-जाति की सच्ची दशा का ज्ञान होने के साथ-ही-साथ गोपालन-विधि और गो-सेवा-महिमा भी मालूम हो जाती है।

वाचनालय के मुख्य द्वार पर दोनों ओर दान-दाताओं की नामावली संगमरमर पर खुदी हुई लगी है। वहीं नवागन्तुक के हस्ताक्षर और सम्मति-प्रकाशन के लिए एक रजिष्टर, पेन्सिल तथा 'यथाशक्ति दान' का डिब्बा रक्खा रहता है—ऐसे डिब्बे नागरिकों के यहाँ और चीनी की मिलों में भी रक्खे गये हैं, जिनसे सैकड़ों रुपये की सालाना आमदनी है। सबसे बड़ी बात यह है कि श्रीमान् मिथिलेश की छत्रच्छाया सदा घनी बनी रहती है, फिर इसके अभ्युदय की क्या बात! राजाश्रित संस्था की उन्नति में बाधा क्या? ऐसी-ऐसी संस्थाओं को तो राजाश्रय का ही अवलम्ब होना चाहिए। यदि इस देश की सभी रियासतों में ऐसी सार्वजनिक गोशालाएँ हो जायँ, तो भी गोरक्षा का बहुत बड़ा काम हो सकता है।

इस संस्था को धनी मारवाड़ियों और दरभंगा-राज का तो सहारा है ही, पर इसकी सर्वतोमुखी उन्नति का अधिकांश श्रेय इसके सुदक्ष व्यवस्थापक श्री धर्मलाल सिंह को है। आप गोपालन-विद्या में पारंगत हैं और दिन-रात इस संस्था की सेवा में तत्पर रहते हैं। भारत की प्रमुख गोशालाओं का निरीक्षण और देशी तथा विदेशी गोधन-साहित्य का अवलोकन करने से आपका अनुभव बहुत बढ़ गया है, जिसका लाभ यह संस्था उठा रही है। ऐसे लगनवाले परिश्रमी व्यवस्थापक से कोई भी संस्था अमर हो सकती है। गोभक्तों और गोशाला-संचालकों को इस संस्था का परिदर्शन करना चाहिए। इस समय यह संस्था १६०० पशुओं का पालन कर रही है।[१]

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); भाद्रपद, सं० १९९६ वि० ; सितम्बर, १९३९ ई०

•

१ इस लेख में चार चित्र छपे थे—(१) बिहार की सर्वश्रेष्ठ गोशाला का भव्य भवन, (२) श्रीमान् दरभंगा-नरेश सर कामेश्वर सिंह बहादुर, (३) श्रीबुधूलाल केजड़ीवाल—संरक्षक, (४) गीड़-जाति का एक साँड़। —ले०

वर्तमान नेपाल

जब से हिन्दू-संगठन की आवाज बुलंद हुई है, तब से हिन्दू-राज्य नेपाल की चर्चा जोरों से चल पड़ी है। अभी हाल में नेपाल-सरकार ने अपने राज्य से गुलामी की प्रथा उठा देने की जो घोषणा की है, उससे संसार की आँखों में नेपाल का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। कलकत्ता में इस साल नेपाल-सम्राट् का जन्म-महोत्सव भी बड़ी धूमधाम से मनाया गया है। लाला हरदयाल और श्रीयुत सावरकर ने भी हिन्दू-संगठन के कार्यकर्त्ताओं को आदेश दिया है कि हिन्दू-राष्ट्र नेपाल को हिन्दू-संगठन का मेरुदण्ड बनाना चाहिए। वास्तव में इस समय नेपाल ही एक ऐसा सर्वतंत्र स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य है, जिस पर प्रत्येक हिन्दू को गर्व होना चाहिए। प्राचीन हिन्दू-सभ्यता के आदर्श की झलक अभी तक नेपाल में ही देखी जाती है। कलकत्ता के सुप्रसिद्ध अँगरेजी मासिक पत्र 'मॉडर्न रिव्यू' में नेपाल पर एक सचित्र लेख निकला है। हम यहाँ हिन्दी पाठकों के लिए उसका आवश्यक अंश संकलित करते हैं; और अन्यान्य स्थलों से भी कुछ जानने योग्य बात संग्रह किये देते हैं।

भारतवर्ष की उत्तरीय सीमा नगराज हिमालय से आच्छादित है। उसी के अन्दर नेपाल-राज्य का विस्तार है। नेपाल-राज्य के उत्तर में तिब्बत है, दक्षिण में युक्त-प्रान्त और बिहार के उत्तरीय जिले हैं, पूर्व में दार्जिलिंग और सिक्कम तथा पश्चिम की ओर अलमोड़ा और नैनीताल हैं। पूर्व से पश्चिम तक राज्य की लंबाई ४५० मील है और चौड़ाई १५० से १६० मील तक। कुल रकबा ५४००० वर्गमील है। जन-संख्या ५६,००,००० है। प्रति वर्गमील लगभग १०० मनुष्यों की बस्ती है। गोरखा, नेवार, मागर, किरात और भूटिया आदि जातियाँ बसती हैं। राजधानी में अधिकतर गोरखों और नेवारों की बस्ती है।

आदिम इतिहास किस्से-कहानी के रूप में चला आता है। शुरू में कुछ दिन गौड़ (बंगाल) और कांची (कांजीवरम्) के राजों ने राज्य किया। तब आये गुजरात के अहीर और पूर्व-देश के किरात। किरातों का सातवाँ राजा महाभारत में पाण्डवों की ओर से लड़ा और कुरुक्षेत्र ही में मारा गया था। सम्राट् अशोक जब नेपाल में गये थे, तब किरातों का राज्य था। किरात-राज्य के बाद सोमवंशी (चन्द्रवंशी) और सूर्यवंशी क्षत्रियों ने नेपाल में राज्य किया। उसी समय भगवान् शंकराचार्य नेपाल गये थे, और हिन्दू-धर्म का सुधार किया था। तदुपरांत नौआकोट के ठाकुरों का राज्य हुआ। सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में अंशुवर्मन-नामक राजा नेपाल में राज्य करता था। नवीं शताब्दी में नान्यदेव अपने साथ नेवारों को ले आये, जो मंगोल-जाति की एक शाखा थे। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में बंगाल के राजा विजयसेन ने नेपाल को जीत लिया। सन् १३२४ ई० में अयोध्या के हरिसिंहदेव नेपाल की तराई में सिमराँवगढ़-नगर बसाकर बस गये। धीरे-धीरे नेपाल की सारी तराई पर उनका अधिकार हो गया। फिर चौदहवीं शताब्दी के अन्त में वहाँ जयस्थितिमल्ल-नामक राजा का राज्य स्थापित हुआ।

इसी समय के लगभग, चित्तौरगढ़-पतन के बाद, मेवाड़ के राणा-वंशी क्षत्रिय यहाँ आये, और नेपाल के पश्चिम ओर 'गोरखा' नामक स्थान में बस गये। उन्हीं के एक वंशधर पृथ्वीनारायण शाह ने नेपाल पर दखल जमाया। उस समय नेपाल का नाम कान्तिपुर था। यह सन् १७६८ ईसवी की घटना है। पृथ्वीनारायण शाह ही सबसे पहले गोरखा-नरेश हुए। नेवारों के अन्तिम राजा जयप्रकाशमल्ल थे। इन्हीं पृथ्वीनारायणशाह के वंशधर आजतक नेपाल पर शासन करते आ रहे हैं। वर्त्तमान नेपाल-सम्राट् हैं हिज मैजेष्टी महाराजाधिराज त्रिभुवनवीर विक्रमशाह देव बहादुर जंगबहादुर शमशेरजंग। इनके पूर्ववर्त्ती सम्राटों के नाम ये हैं—सिंह प्रताप शाह, राणा बहादुर शाह, गीर्वाणयुद्ध शाह, राजेन्द्र विक्रमशाह, सुरेन्द्र विक्रमशाह और पृथ्वीवीर विक्रमशाह।

नेपाल की राजधानी 'काठमांडू' है। यह 'काष्ठ-मंडप' का अपभ्रंश है। कहते हैं, राजधानी में पहले एक ही वृक्ष के काष्ठ से एक पूरा मकान तैयार होता था, इसीलिए यह नाम पड़ा। जो हो, काठमांडूनगर पहाड़ की तलहटी पर कंकणाकार पर्वत-शृंखला से घिरा और समुद्र-तल से ४,७५० फीट की ऊँचाई पर बसा है। पहाड़-पहाड़ियों की अधिकता से यहाँ कोई बड़ी नदी नहीं है; फिर भी राजधानी की तिलड़ी करधनी की तरह तीन नदियाँ हैं। तीनों का संगम 'शंखमूल' नाम से प्रसिद्ध है। यह संगम राजधानी से दो मील दूर है। वहाँ का प्राकृतिक दृश्य अतीव सुन्दर—अत्यन्त रमणीय है। राजधानी से तीन मील दूर, कुछ पूर्व की ओर, 'मनोहरा'-नामक एक सुन्दर नदी बहती है।

राजधानी की बस्ती बहुत घनी है, और घनी बस्ती होने के कारण ही नगर के धनी-मानी, अमीर-उमरा और रईस-सरदार बाहर की ओर बसने चले जाते हैं। इस प्रकार इमारतों की संख्या बढ़ने से राजधानी का रकबा भी बहुत बढ़ता चला जाता है। बड़े-बड़े लोगों ने नगर के बाहर जो आलीशान इमारतें बनवाई हैं, और राज्य की ओर से सार्वजनिक हित के लिए अनेक संस्थाओं के जो भव्य भवन बने हैं, उनके बीच 'सिंह-दरबार' की अद्भुत शोभा है। सिंह-दरबार ही वर्त्तमान प्रधान मंत्री का मुख्य निवास-स्थान है, और यही सदा के लिए नेपाल का 'गवर्नमेंट-हाउस' होगा। वहीं सम्राट् का महल भी है, जिसे नारायण हिट्टी-दरबार कहते हैं। इसके सामने लम्बा-चौड़ा मैदान अजायबघर और चिड़ियाखाना है। पुराना राजमहल राजधानी के अन्दर 'हनुमान-ढोका' पर है। नये राजमहल के आसपास—राजधानी की बस्ती से बाहर—पुस्तकालय, दरबार-स्कूल, त्रिभुवनचन्द्र-कॉलेज, संस्कृत-पाठशाला, सरकारी अस्पताल, वीर-अस्पताल, श्रीचन्द्र-बिजली-घर, श्रीचन्द्र दातव्य औषधालय और सैनिक अस्पताल आदि की शानदार इमारतें हैं। उक्त संस्कृत-पाठशाला के सामने ही 'टुंडीखेल'—नामक सुविस्तृत मैदान है, जहाँ सैनिकों की कवायद हुआ करती है।

राजधानी के बीचो-बीच एक अत्यन्त विशाल घड़ियाल-स्तम्भ (घंटाघर) है। वह ठीक 'रानी-पोखरी' के सामने पड़ता है, और कॉलेज की इमारतों के पास ही है। उसके दूसरी ओर टुंडीखेल-मैदान के सामने लगातार कतार में अस्पताल और फौजी छावनियों की

बारकें हैं। उसी पंक्ति में, कुछ दक्षिण की ओर, एक अति विशाल दसमंजिला धौरहरा है, जिसे आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व, भीमसेनथापा-नामक तत्कालीन राजमंत्री ने बनवाया था। बागमतीनदी पशुपतिनाथ के मन्दिर की ओर पड़ती है। उसके दक्षिण-तट पर अँगरेजों और भारतवासियों के लिए अतिथि-शालाएँ बनी हैं।

नगर-भर में हिन्दू-देवताओं के स्थान और मन्दिर हैं। सब मन्दिरों और देव-स्थानों में पशुपतिनाथ और गुह्येश्वरी भगवती, जो बागमतीनदी के किनारे हैं, अधिक प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित तथा पूज्य हैं। वागमती नगर से लगभग डेढ़ कोस दूर है। उसका जल बड़ा स्वच्छ, मधुर और शीतल है। राजधानी में तो थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही देवालय मिलते हैं। काशी की तरह वहाँ भी असंख्य मन्दिर हैं।

तराइयों में यत्र-तत्र बहुत-से बौद्ध-मन्दिर और स्तूप भी हैं, जिनमें शंभुनाथ और बौद्धनाथ विशेष प्रसिद्ध हैं। पशुपतिनाथ का मन्दिर काञ्चन के कलश से मंडित है। मन्दिर के अन्दर कोई प्रवेश नहीं कर पाता। बाहर से झाँकी-दर्शन होते हैं। मूर्त्ति बड़ी दिव्य है। पूजा षोडशोपचार-विधि से होती है। राग-भोग और सेवाराधन बिलकुल राजसी ठाट का होता है। बड़े भारी-भारी विजय घंट मन्दिर के मण्डप में लटक रहे हैं। पीतल का विशाल नंदी बड़ा सुन्दर है। सम्राट्, सम्राज्ञी, प्रधान मंत्री, प्रधान सेनापति तथा बड़े-बड़े ओहदेदार और राजघराने की स्त्रियाँ प्रायः दर्शनार्थ चौकड़ी या मोटर पर आया करती हैं। मन्दिर के पास पुलिस का प्रबन्ध अत्यन्त शिष्ट, सभ्य और शांतिपूर्ण रहता है। शिवरात्र के समय भारतवर्ष के असंख्य यात्री जाते हैं। सम्राट् या पशुपतिनाथ के दर्शनार्थियों में किसी साधारण-से-साधारण यात्री को भी तनिक कष्ट नहीं होने पाता। सम्राट् नवयुवक हैं—बड़ी सौम्य सुष्ठु मूर्त्ति है। किन्तु, वीर वेष है। प्रधान मंत्री और प्रधान सेनापति तो वीरता और सादगी की प्रत्यक्ष मूर्त्ति हैं। देखकर एक बार हिन्दुत्व के गौरव से छाती फूल उठती है।

लोगों का यह मिथ्या भ्रम है कि नेपाल में बाहरी कोई जाने नहीं पाता। राजधानी में कपड़े के व्यवसायी मारवाड़ी बहुत हैं। पंजाबी भी बहुत हैं, जो मिठाइयों की दूकानें करते हैं। वहाँ के नेवार-जातिवाले भी अच्छे धनाढ्य व्यापारी हैं। बिहारी बढ़ई भी बहुत हैं और मुसलमान दूकानदार भी कम नहीं हैं। कई पुश्तों से मुसलमान वहाँ बड़ी शान्ति एवं संतोष के साथ रह रहे हैं। उनकी दो मसजिदें भी राजधानी में हैं। भारत की अन्य कई जातियाँ भी हैं। कितने ही मैथिल तथा बंगाली देवोत्तर एवं ब्रह्मोत्तर-संपत्तियों के अधिकारी हैं। अभी हाल में प्रधान मंत्री ने एक प्रकार की सम्पत्ति को, जो धनी पुजारियों और माल-मस्त महन्तों के पेट में जाती थी, अनाथालय और कुष्ठाश्रम तथा दरिद्रालय के लिए दे दिया है। खैर, शिवरात्र के समय लाखों दर्शनार्थी पशुपतिनाथ-धाम की यात्रा करते हैं। उनके लिए राज्य की ओर से खास तौर से अनेक प्रकार की सुविधाएँ कर दी गई हैं। कोई रुकावट नहीं है। सिर्फ नेपाल की सीमा पर एक पासपोर्ट (प्रवेश-पत्र) लेना पड़ता है, जिसके लिए किसी तरह की फीस नहीं ली जाती।

वर्त्तमान नेपाल की उन्नति का सूत्रपात गत (उन्नीसवीं) शताब्दी में हुआ। उस समय प्रधान मंत्री थे महाराजा वीर शमशेर। आज हैं महाराज चन्द्र शमशेर जंगबहादुर राणा। आप ब्रिटिश-सेना के भी अवैतनिक सेनाध्यक्ष हैं। आप ही की कृपा से दासत्व-प्रथा का मूलोच्छेद हुआ है। आप बड़े तेजस्वी वीर, निर्भीक साहसी और उत्साही कर्मवीर हैं। राज्य के समस्त विभागों की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल और छानबीन करके आपने उनमें समयानुकूल सुधार किये हैं। युग और देश की परिस्थिति के अनुसार कानून नये साँचे में ढाल दिये गये हैं। कितनी धाराएँ तो बिल्कुल पलट ही दी गई हैं। और भी, बहुत-से अदालती सुधार हुए हैं। आपके समय में एक हाइकोर्ट की भी स्थापना हुई है, जिसके प्रधान विचारपति (Chief Justice) हिज एक्सेलेंसी कमांडिंग जनरल धर्मशमशेर जंगबहादुर राणा हैं। एक कौंसिल भी बनी है, जिसके मेम्बर कुछ तो राजघराने के लोग हैं, कुछ छोटे-मोटे राजा-रईस हैं और कुछ सरकारी ऑफिसर भी हैं। अपील के लिए जो प्रिवी-कौंसिल है, उसे 'निकसारी अड्डा' कहते हैं। बड़ी कौंसिल (एसेंबली) के सभापति हैं माननीय सुप्रदीप्त मान्यवर जनरल सर तेजशमशेर जंगबहादुर राणा के० सी० आइ० ई०, के० बी० आइ०।

इनके अलावा और भी कितने ही ऑफिस हैं। यथा—मुल्की अड्डा, मुल्की बंदोबस्त, मंडेश बंदोबस्त, भंसार (कष्टम ऑफिस), मुन्शीखाना (फॉरेन ऑफिस), रकम बंदोबस्त, कुमारी चौक (एकाउंटेंट जनरल), मुल्की खना (खजाना), पुलिस, टकसाल-घर और रजिष्टरी ऑफिस इत्यादि।

प्रधान मंत्री महाराजा बहादुर के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं। बड़े काजी मान्यवर मरीचिमान सिंह सी० आइ० ई० हैं। सरदार नारायण भगत होम-सेक्रेटरी हैं। सुब्बा मुरलीधर उपरैती बी० ए०, एल्-एल्-बी० और खरीदार योगमामणि आचार्य एम्० ए० क्रमशः कानून और डाक-विभाग के प्रधान ऑफिसर हैं। धार्मिक संस्थाओं के अध्यक्ष हैं हिज होलिनेस धर्माधिकार बड़ा गुरुजी तर्कराज राजगुरु पंडितजी। वहाँ के सबसे बड़े सिविलयन ऑफिसर काजी ही हैं, जिनकी अधीनता में सरदार, मीर सुब्बा, सुबा खरीदार, मुखिया, बहीदार और कारिंदे आदि हैं। केवल नर-हत्या और गोहत्या के अपराधी को ही फाँसी दी जाती है; किन्तु ब्राह्मण और स्त्री प्राणदंड से सर्वथा मुक्त हैं। शासन के किसी विभाग या राज्य के किसी दल-विशेष में किसी प्रकार का मतभेद अथवा अनबन होने पर अंतिम निर्णय स्वयं प्रधान मंत्री करते हैं। उनका निर्णय इतना न्यायपूर्ण होता है कि दोनों पक्ष संतुष्ट हो हो जाते हैं। यही कारण है कि प्रजा को वह संतान-तुल्य मानते हैं और प्रजा उन्हें पिता-तुल्य।

वर्त्तमान प्रधान सेनापति हैं हिज एक्सेलेंसी सुप्रदीप्त मान्यवर जनरल सर भीमशमशेर जंगबहादुर राणा, और जंगी लाट हैं माननीय जनरल युद्धशमशेर जंगबहादुर राणा। प्रधान मंत्री के ज्येष्ठ पुत्र सुप्रदीप्त मान्यवर जनरल सर मोहन शमशेर जंगबहादुर राणा सेना-व्यवस्था-विभाग के प्रधान हैं। सेना का शिक्षण और संचालन अँगरेजी तरीके पर होता है। वर्दी भी अब नये फैशन की कर दी गई है। सैनिकों की वेतन-वृद्धि भी हुई है।

एक फौजी स्कूल खोला गया है, जिसके अध्यक्ष हैं मान्यवर कर्नल भैरव शमशेर जंगबहादुर राणा, सी० आइ० ई० । सन् १९०८ ई० में ४५ हजार पैदल सेना और ढाई हजार तोपें थीं। इसके अलावा सुरक्षित (रिजर्व) सेना भी बहुत थी। पर, तब से आज तक सेना में बहुत वृद्धि हुई है। एक हजार घुड़सवारों की एक नई सेना तैयार हुई है। पाँच वर्ष तक चाहे जो सैनिक शिक्षा प्राप्त कर सकता है; पर सेना में भर्ती होना उसके लिए अनिवार्य नहीं होता। इससे नेपाली युवक युद्ध-कुशल होते हैं और राष्ट्र का बल भी बढ़ता है। फौजी बाजों के कप्तान ने इंगलैंड में शिक्षा पाई है। महायुद्ध के समय नेपाली सेना ब्रिटिश सरकार को दी गई थी। उनके नायक थे प्रधान मन्त्री के द्वितीय पुत्र माननीय सुप्रदीप्त मान्यवर सर बब्बरशमशेरजंग बहादुर राणा। नेपाली सेना अफरीदियों के साथ बड़ी वीरता और सफलता से लड़ी थी। उसके फलस्वरूप केवल सिपाहियों और ऑफिसरों को पदक एवं पुरस्कार ही नहीं मिले, नेपाल-सरकार को भारत-सरकार की ओर से दस लाख रुपयों की वार्षिक मंजूरी भी मिली। वास्तव में गोरखे बड़े ही कट्टर लड़ाके हैं—मुठभेड़ में उनका सानी नहीं मिलता।

सेना-विभाग की तरह शिक्षा-विभाग की भी बड़ी अच्छी दशा है—क्रमशः उन्नति ही होती जा रही है। पहले-पहल सन् १८८० ईसवी में अँगरेजी हाई स्कूल स्थापित हुआ था। उसका कलकत्ता-विश्वविद्यालय से सम्बन्ध था। सन् १९१८ ईसवी में त्रिभुवनचन्द्र-कॉलेज खुला। इसमें बी० ए० तक की पढ़ाई होती है। इसके प्रिंसिपल हैं मान्य सरदार बटुकिष्टो मित्र, एम्० ए०। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर हैं माननीय जनरल बहादुर शमशेर जंग बहादुर राणा। उनके सहकारी हैं मेजर शिवप्रसाद थापा, बी० एस्-सी०। आज से तीस वर्ष पूर्व जहाँ एक ग्रेजुएट था, वहाँ अब कोड़ियों हैं। पाँच नेपाली छात्रों ने कलकत्ता-विश्वविद्यालय से अँगरेजी, अर्थशास्त्र, इतिहास और संस्कृत आदि में एम्० ए० पास किया है, और तीन पास हुए हैं कलकत्ता मेडिकल कॉलेज से एम० बी० परीक्षा में। कुछ छात्र रुड़की और शिवपुर से इंजीनियर होकर भी निकले हैं। नेपाल-सरकार के खर्च से आज भी हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक नेपाली छात्र कानून, विज्ञान, कला, कृषि, आयुर्वेद, वाणिज्य आदि की शिक्षा पा रहे हैं। प्रधान मंत्री ने पाँच छात्रों को जापान भेजा था। ये बड़े कुशल इंजीनियर, भूगर्भतत्त्ववेत्ता, कृषि-विशारद और शस्त्र-यंत्री होकर आये हैं।

यह सब-कुछ होते हुए भी, खेद है, वहाँ कोई कन्या-विद्यालय नहीं है। किन्तु, फिर भी उच्च और मध्यम श्रेणी के लोगों की लड़कियाँ निरक्षर नहीं हैं। शायद ही सौ में एक अपढ़ मिले। उच्च जाति की लड़कियों में धड़ल्ले से अँगरेजी-शिक्षा का प्रचार होता जा रहा है! साथ-ही-साथ उन्हें संगीत और कला-कौशल की भी शिक्षा मिलती जा रही है।

राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में बहुत-सी निःशुल्क प्रारंभिक पाठशालाएँ भी खुल गई हैं। इससे साधारण जनता में यथेष्ट शिक्षा-प्रचार हो रहा है। इतनी ही नहीं, नेपाल की समस्त शिक्षा-संस्थाएँ निःशुल्क हैं? यहाँ पर इतना और कहने का लोभ-संवरण करना

कठिन है कि 'भूमि-कर' अथवा 'मादक-वस्तु-कर' के सिवा वहाँ और कोई भी 'कर' नहीं है। इनकम-टैक्स का तो पता ही नहीं!

लगभग दस वर्ष हुए, 'गोरखाली भाषा' की उन्नति के लिए 'गोरखा-भाखा-प्रकाशिनी समिति' नाम की सभा बनी थी। उसके संचालक हैं सुब्बु राममणि आचार्य दिच्छिल। उसके द्वारा छात्रों के हितार्थ भिन्न-भिन्न विषयों की सैकड़ों पुस्तकें रची और अनुवाद की गई हैं।

राजधानी के 'वीर-अस्पताल' के प्रधान डाक्टर हैं के० एल्० गुप्त। उनके नीचे छोटे-बड़े ६ असिस्टेंट हैं। एक नेपाली विशेषज्ञ नेत्र-चिकित्सक भी है। वह समस्त भारत के नेत्र-चिकित्सालयों में भ्रमण कर चुका है। जेल का डॉक्टर अलग है। मिस एन्० सेन, एम्० बी० लेडी-डॉक्टर हैं। उन्हें भी एक सहकारिणी मिली है। रसायनशाला अत्यन्त सुसम्पन्न और सुसज्जित है। एक्स-किरण-प्रयोग के लिए हाल में एक इमारत बनी है, जिसमें सब प्रकार के यन्त्र लन्दन से लाकर फिट कर दिये गये हैं। कप्तान केसरजंग थापा, जो कलकत्ता-मेडिकल-कॉलेज और देहरादून में शिक्षा पा चुके हैं, उक्त अस्पताल के अध्यक्ष हैं। लन्दन के एक डॉक्टर के परामर्श से उक्त अस्पताल में ही एक यन्त्र-चिकित्सा-भवन बना और अप-टु-डेट चिकित्सा-शस्त्रों से सुसज्जित किया गया है। राज्य-भर में १८ अस्पताल और १४ दातव्य-औषधालय हैं। एक मेडिकल स्कूल भी खुला है, जिसमें साधारण श्रेणी के डॉक्टर तैयार किये जाते हैं। उसमें निकले हुए कई छोटे-मोटे डॉक्टर प्रजा की प्रशंसनीय सेवा कर रहे हैं। उसी स्कूल का एक डॉक्टर गत महायुद्ध में अपनी सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप ब्रिटिश-सरकार से ओ० बी० ई० की उपाधि पा चुका है।

इसी प्रकार इंजीनियरिंग-विभाग भी उन्नतिशील हो रहा है। पहले एक बंगाली सज्जन चीफ इंजीनियर थे। उन्होंने ही कलकत्ता के गवर्नमेंट हाउस के नमूने पर स्वर्गीय प्रधान मंत्री का दरबार-महल बनाया था। किन्तु, अब शिवपुर, पटना, पूना और रुड़की के पास-शुदा नेपाली इंजीनियर बड़ी कुशलता से काम कर रहे हैं। इस कला के संबंध में कमांडिंग कर्नल कुमार नरसिंह राणा सी० ई० और कर्नल किशोर नरसिंह राणा सी० ई० के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनों सज्जन इंगलैंड और अमेरिका के इंजीनियरिंग-एसोसिएशन के अवैतनिक सदस्य हैं। सात पुश्तों से नेपाल में बसनेवाले एक बंगाली ग्रेजुएट महाशय अभी हाल में सिविल-सर्विस में लिये गये हैं। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में वे किसी प्रांत के गवर्नर नियुक्त होंगे। राज्य में सबके लिए उदार भाव है।

प्रधान मंत्री के तृतीय पुत्र माननीय सुप्रदीप्त मान्यवर जनरल सर कैसर शमशेर राणा जंगबहादुर म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन हैं। म्युनिसिपैलिटी बड़ी मुस्तैदी से काम कर रही है। राजधानी में जमीन के अन्दर नालियाँ नहीं थीं। सड़कें भी पुराने ढंग की थीं। अब नालियाँ और सड़कें बहुत ही सुन्दर बन रही हैं। सड़कों पर गिट्टियाँ जमाने के लिए इंजिन भी मँगा लिये गये हैं। ब्रिटिश-भारत के 'रक्सौल' (चंपारन रेलवे-स्टेशन (बी०एन्० डब्ल्यू० आर०) से नेपाल-राज्य के अन्दर तक पक्की सड़क पीटी जा रही है। मोटर

लॉरी दौड़ाने की भी व्यवस्था हो रही है। पहाड़ों को खोदकर रास्ते निकालने के लिए इँगलैंड और भारत से बड़े अच्छे-अच्छे इंजीनियर बुलाये गये हैं। राजधानी से १८ मील दूर 'भीमफेड़ी' तक तो पहले से ही मोटर चल रही है। वर्त्तमान प्रधान मंत्री के समय में राज्य-भर में काठ और लोहे के अनेक पुल बने हैं। साथ ही, यात्रियों की सुविधा के लिए मार्ग में अनेक धर्मशालाएँ भी बनी हैं।

सन् १८८२ ई० में राजधानी में पानी का नल लगा था। उसे 'वीर धारा' कहते हैं। यह स्वर्गीय प्रधान मंत्री की कीर्त्ति है। उसके बाद भीमफेड़ी, भिच्छाकर, भटगाँव और पाटन में भी जल-कल बनी है। पाटन की जल-कल वर्त्तमान प्रधान मंत्री की स्वर्गीय बड़ी महारानी के नाम पर उत्सर्गीकृत है। इन जल-कलों के बनने से प्रजा का बड़ा उपकार हुआ है। जब पानी का नल न था, तब पहाड़ का पानी लग जाने से असंख्य मनुष्य अनेक रोगों के शिकार होकर मौत के मुँह में चले जाते थे।

राजधानी से सात मील दूर फरपिंग में बिजली-घर भी बन गया है। अमेरिका और इंगलैंड के इंजीनियरों ने इसे बनाया है। अब नेपाली इंजीनियर चला रहे हैं। राजधानी की गली-गली में रात-भर बिजली की रोशनी जगमगाती रहती है। पहाड़ी दृश्य के साथ-साथ यह विद्युत्प्रकाश का मनोरम दृश्य बड़ा ही सुहावना प्रतीत होता है।

वर्त्तमान युग की सभ्यता के समग्र प्रसादों से परिपूर्ण होकर नेपाल-राज्य इस समय सर्वथा दर्शनीय बन रहा है। अब तो झूला-रेल भी बन रही है। मिस्टर आर० एस्० अंडरहिल एम्० ए० (कैंटब०) की देखरेख में काम भी शुरू हो गया है। प्रधान मंत्री ने इसके लिए बीस लाख रुपयों की मंजूरी दी है।

पहले सूखा चमड़ा राज्य से बाहर—विदेशों में—चला जाता था। अब एक भारतीय ने चमड़े की फैक्टरी खोली है। बिजली के प्रवेश से ही यह सुविधा प्राप्त हुई है। नाज कूटने, छाँटने, दलने और पीसने की मशीनें अब बिजली से ही चलती हैं। सोडावाटर, लेमनेट भी बनता है। ब्लॉक भी बनने और छपने लगे हैं। प्रेस भी खुल गया है। बिजली-भवानी की इन सारी विभूतियों के साथ-साथ टेलीफोन भी राजधानी से वीरगंज तक लग गया है। उपर्युक्त 'रक्सौल' के पास ही वीरगंज है। यह ब्रिटिश-भारत की सीमा के पास, नेपाल की दक्षिणी सीमा पर, एक समृद्धिशाली नगर है। यहाँ नेपाल-सरकार का अस्पताल, जेल, कचहरी, डाकखाना और थाना आदि हैं। व्यापार का एक प्रधान केन्द्र भी है। यहीं से नेपाल-राज्य में प्रवेश करने के लिए परवाना (आज्ञापत्र) मिलता है। कुली और ताँगे, तंजाम आदि सवारियाँ भी मिलती हैं।

कृषि की उन्नति के लिए एक बहुत बड़ी नहर निकाली जा रही है, जिसमें अबतक १४ लाख रुपये खर्च हो चुके हैं। बहुत-सी खानें भी हाल में मिली हैं। कोयले की तो एक बहुत बड़ी खान मिली है। आशा है, नेपाल-राज्य की व्यापारिक उन्नति में वह बड़ा काम देगी। आजकल बन्दूकों और गोले-बारूद के कारखाने केवल नेपाली इंजीनियरों की देखरेख में बड़े मजे से चल रहे हैं। कर्नल भक्तबहादुर हाल ही में जापान से हथियार वगैरह बनाने की शिक्षा पाकर आये हैं। इन्होंने एक हाविटजर-तोप बनाई है, जो

२००० गज दूर तक गोला फेंक सकती है। नेपाली शस्त्रागारों में अब टोंटेदार बन्दूकें भी बहुत अच्छी बनने लगी हैं।

पुलिस का संगठन भी बहुत बढ़िया है। हजारीबाग (बिहार) से कई ग्रेजुएट शिक्षा पाकर आये और बड़ी तत्परता से काम कर रहे हैं। कैदियों को नये-नये ढंग के काम सिखाये जा रहे हैं। जेल का पुराना मकान तोड़कर नया दुतल्ला पक्का मकान बनवाया गया है। जेल की बनी चीजों की आमदनी से कैदियों के सुधार का उपाय किया जाता है।

नेपाल की प्रचलित भाषा 'गोरखाली' नागराक्षरों में ही लिखी जाती है। अक्षरों की बनावट करीब-करीब हिन्दी से मिलती-जुलती है। चाँदी का 'मोहर' नामक नेपाली सिक्का ब्रिटिश-भारत के ।=)। के बराबर होता है। सोने के सिक्के अशर्फी कहलाते हैं। ताँबे के पैसे भी चलते हैं। ब्रिटिश-भारत के भी सिक्के सर्वत्र प्रचलित हैं।

ब्रिटिश-भारत में नेपाल-सम्राट् का बड़ा सम्मान है। उन्हें गोरी सरकार ३१ तोपों की सलामी देती है। प्रधान मंत्री के लिए २१ और प्रधान सेनाध्यक्ष के लिए १६ तोपों को सलामियाँ दगती हैं। सन् १६२३ ई० की २१ वीं दिसम्बर को काठमांडू-राजधानी में अँगरेज-सरकार और नेपाल-सरकार में मित्रता का एक संधिपत्र भी लिखा जा चुका है। उसमें अन्यान्य बातों के साथ-साथ यह भी तय हो चुका है कि नेपाल-सरकार विदेशों से जो अस्त्र-शस्त्र या गोले-बारूद अथवा दूसरी तरह के माल मँगावेगी; उनपर किसी प्रकार का 'कर' न लग सकेगा। मगर अस्त्र-शस्त्र वहीं तक, जहाँ तक भारत के लिए खतरनाक न हों!!! इसी प्रकार, सन् १८५४ ई० में तिब्बत के साथ भी नेपाल की संधि हुई थी। उसके अनुसार तिब्बत-सरकार प्रतिवर्ष १०,०००) रुपये नेपाल को देती है, और नेपाल का एक राजप्रतिनिधि तिब्बत की राजधानी 'लासा' में रहा करता है।[1]

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष ४, खंड १, संख्या ५; मार्गशीर्ष, ३०२ तुलसी-संवत्

●

१ इस लेख में सत्रह चित्र छपे थे—(१) नेपाल के महाराजा श्री ५ श्रीत्रिभुवन विक्रमशाहदेव, (२) प्रधान मंत्री के निवास-स्थान सिंह-दरबार का फाटक, (३) महल—सिंह-दरबार, (४) तपस्थली—महाराज सर जंगबहादुर का निवास-स्थान, (५) नेपाल के महाराजाधिराज के महल का पूर्वी दृश्य, (६) हनुमान-ढोका महल के प्रांगण के भीतर दो मंदिर, (७) भीमसेन का धौरहरा, (८) बौद्धनाथ का मंदिर, (९) पशुपतिनाथ के मंदिर का दृश्य, (१०) लेफ्टिनेंट-जेनरल महाराजा चन्द्र शमशेर जंगबहादुर राणा, जी० सी० बी०, जी० सी० एस्० आई०, जी० सी० बी० सी०, डी० सी० एल्०, (११) महाराज चन्द्र शमशेर जंगबहादुर राणा आनरेरी जेनरल ब्रिटिश आर्मी, (१२) काल भैरव की मूर्त्ति, (१३) भटगाँव का पंचमंजिला मंदिर, (१४) भटगाँव-दरबार का प्रांगण, (१५) गोसाईं-स्थान-पर्वत—नेपाल में सबसे पवित्र स्थान, (१६) रेजिडेन्सी, (१७) रेजिडेण्ट के बँगले से पहाड़ियों का दृश्य।

बड़ोदा

भारत में तीन बड़ी मराठा-रियासतें हैं—बड़ोदा, ग्वालियर और इन्दौर। तीनों में बड़ोदा सबसे बड़ी रियासत है।

वह बम्बई-सूबे की एक बड़ी शानदार रियासत है। मुगल-राज्य के अन्तिम समय में छत्रपति शिवाजी महाराज के साथी दामोजी गायकवाड़ ने इस राज्य की स्थापना की थी। उनके बाद उनके भतीजे मिलाजी राव गद्दी पर बैठे। फिर उनके मारे जाने पर उनके पुत्र दूसरे दामोजी राजा हुए। वह बड़े ही योग्य राजा थे। उनके ऐसा योग्य इस समय के महाराज के सिवा और कोई नहीं हुआ।

सन् १८१७ ई० में अँगरेजी-राज्य के साथ बड़ोदा का समझौता हुआ। पर, कुछ दिनों के बाद थोड़ा मनमुटाव हो गया। बात यह हुई कि उस समय खुन्दी राव के बाद गद्दी पर बैठनेवाले मल्हार राव के राजकाज में बड़ी गड़बड़ी मच गई थी। इसीलिए, अँगरेजी-सरकार ने सन् १८७५ ई० में एक जाँच-कमीशन बैठाकर मल्हार राव को गद्दी से उतार दिया। फिर उनके मरने पर उनकी रानी ने बम्बई-सूबे के नासिक जिले में रहनेवाले एक साधारण गृहस्थ के बालक को गोद लिया, और अँगरेजी-सरकार की सलाह से राजा सर टी० माधव राव को रियासत की देखभाल करने का भार सौंप दिया। वही गरीब गायकवाड़-वंश का छोटा-सा बालक आज ८०६६ वर्गमील में फैली हुई रियासत का मालिक और १६,५२,६६२ प्रजा का भाग्य-विधाता है। आज उसी भाग्यवान बालक को लगभग २० लाख प्रजा बड़ी भक्ति के साथ श्री महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ बहादुर नाम से याद करती है।

महाराजा बहादुर ने अपनी प्यारी प्रजा की भलाई और सुविधा के लिए कितने ही अच्छे-अच्छे काम किये हैं। रियासत-भर में राज्य की ओर से रेल निकाल दी है, कानून बनाकर छोटी उमर में बालकों का विवाह करना रोक दिया है। देशी कारोबार की उन्नति के लिए कई कारखाने और स्कूल खोल दिये हैं, और प्रजा को अपने सुधार के लिए उपाय करने का उचित अधिकार भी दे दिया है। आज बड़ोदा-राज्य की प्रजा को जितने अधिकार और सुख-सुभीते मिले हुए हैं, उतने और किसी देशी राज्य की प्रजा को नहीं।

सबसे बड़ाई की बात यह है कि महाराजा बहादुर ने अपनी प्रजा को सब तरह से लायक बनाकर उसका हक दे दिया है। इसीलिए, आज बड़ोदा-राज्य में जितना शिक्षा का प्रचार है, उतना एक-आध के सिवा और किसी देशी रियासत में नहीं। वहाँ सभी बालकों को स्कूल में भर्ती होना ही पड़ता है। विद्या पढ़ना उनके लिए वैसा ही जरूरी है जैसा खाना-पीना। उन्हें सबसे बढ़कर आसानी यह पड़ती है कि स्कूलों में किसी तरह की फीस नहीं लगती। इस तरह बिना किसी फीस या रुकावट के उनको शिक्षा मिल जाती है।

रियासत की राजधानी बड़ोदा-नगर में है। नगर बड़ा ही सुन्दर और साफ-सुथरा है। चौड़ी सड़कें, बिजली की रोशनी, पानी का नल, रँगीले-सजीले मकान, हरे-भरे खुले मैदान,

बढ़िया-से-बढ़िया बगीचे—शोभा के सारे समान मौजूद हैं। राजमहल कई हैं। सबसे सुन्दर 'लक्ष्मी-विलास' महल है। वह इतना भड़कीला और सुहावना है कि देखते ही बनता है। सचमुच वह राजधानी का सिंगार है—सभी सुन्दर मकानों का सिरताज है। इतना ही नहीं, सारे संसार के सुन्दर-से सुन्दर राजमहलों में उसकी गिनती की जाती है, विलायती अखबारों में भी उसकी तारीफ के पुल बँध चुके हैं।

राजधानी में देखने लायक और भी कई चीजें हैं। जैसे—कला-भवन, व्यायाम-मन्दिर, कामाठी-बाग का अजायबघर और चिड़ियाखाना, अछूत-आश्रय, राज-पुस्तकालय, स्त्रियों का ट्रेनिङ्ग कॉलेज आदि। उनमें से कुछ का यहाँ थोड़े में वर्णन किया जाता है—

कला-भवन में तरह-तरह की कारीगरी सिखाई जाती है। बढ़ई, लुहार, सुनार, रंगसाज, जुलाहा, कुम्हार—सबका काम सिखाया जाता है। पहले विद्यार्थी भी भर्त्ती होते थे, पर अब नहीं हो पाते! इसकी इमारत में कई लाख खर्च हुआ है।

व्यायाम-मन्दिर में बालकों और नौजवानों को कुश्ती लड़ना, लाठी चलाना, तलवार भाँजना, मुद्गर हिलाना, दण्ड-बैठक करना, तैरना आदि सिखाया जाता है। तरह-तरह की कसरत बताई जाती है। प्रधान उस्ताद हैं प्रोफेसर माणिक राव। उन्होंने जुम्मादादा नामक अपने मुसलमान उस्ताद के नाम पर इसे खोला था। जुम्मादादा बालब्रह्मचारी थे। उनकी यही इच्छा थी कि इस देश के बालक ब्रह्मचारी और बलवान हों। इस मन्दिर पर महाराजा साहब की भी कृपा है। खुद वह भी कसरत के बड़े प्रेमी हैं। मन्दिर की शाखाएँ पूना, बम्बई, नासिक, सूरत, कानपुर आदि नगरों में भी हैं। इसकी इमारत भी अच्छी है। इसमें पुराने और नये हिन्दुस्तानी हथियारों का अच्छा संग्रह है। यह पचीस वर्ष से स्थापित है। इसके अखाड़े में अनेक पहलवान तैयार हो चुके हैं। अजायबघर के दो हिस्से हैं। एक हिस्से में विचित्र-विचित्र वस्तुओं का संग्रह है। दूसरे में बारीक कारीगरी की चीजें रखी हुई हैं और चिड़ियाखाने में देशी तथा विदेशी पशु-पक्षियों का देखने योग्य संग्रह है।

अछूत-आश्रम सन् १९०८ में खुला था। इसमें अछूत लड़के-लड़कियों को लिखाने-पढ़ाने का भी इन्तजाम है। उन्हें वेद और गीता का पाठ भी पढ़ाया जाता है। महात्मा गान्धी ने एक बार इसको देखकर कहा था कि भारत के कोने-कोने में ऐसा आश्रम खुलना चाहिए। इस समय बड़ोदा-राज्य में लगभग सत्तर-अस्सी हजार अछूत बालक-बालिकाएँ पढ़ रहे हैं। शायद ही वहाँ कोई ऐसा गाँव हो, जहाँ अछूत-पाठशाला न पाई जाय।

राज्य-पुस्तकालय का दरवाजा सबके लिए खुला रहता है। सब लोग इससे लाभ उठाते हैं। इसमें बालकों और स्त्रियों के लिए अलग विभाग हैं। बालकों के योग्य पुस्तकें, चित्र, उपयोगी खेल, किण्डर-गार्टन के समान आदि का अच्छा प्रबन्ध है। दिन-रात सैकड़ों लड़के आकर पढ़ते और मन बहलाते हैं। स्त्रियाँ भी इस सरस्वती-मन्दिर में आकर ज्ञान प्राप्त करती हैं। अपढ़ लोगों को विद्या-प्रेमी बनाने के लिए तरह-तरह से उपदेश देने का बन्दोबस्त किया गया है। संस्कृत-विभाग में हाथ के लिखे पुराने ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। वाचनालय में सभी भाषाओं के प्रसिद्ध पत्र आते हैं। किन्तु, इसमें केवल

सभी विषयों की अच्छी-अच्छी पुस्तकों का संग्रह ही नहीं है; अच्छी-से-अच्छी पुस्तकें यहाँ से छपकर निकलती भी हैं। सबसे अच्छी बात यह है कि इसके साथ एक चलता-फिरता पुस्तकालय भी है। चुनी हुई पुस्तकें रियासत के गाँव-गाँव में घुमाई जाती हैं। जिसको जिस पुस्तक की जरूरत होती है, वह लेकर पढ़ता है। इसी प्रकार नई-नई पुस्तकें देकर पहले की पुस्तकें वापस ले ली जाती हैं। यह सिलसिला बराबर जारी रहता है। इसके लिए कोई चन्दा या फीस नहीं है। इस रीति से रियासत-भर में इस पुस्तकालय द्वारा विद्या का प्रचार किया जाता है। सारी प्रजा इस ज्ञान के खजाने से सहायता पाती है।

महारानी-गर्ल-हाई स्कूल में स्त्रियों को इतिहास, भूगोल, अँगरेजी आदि की शिक्षा के साथ-साथ सीना-पिरोना, भोजन बनाना, कसीदे काढ़ना, बच्चों का लालन-पालन करना आदि भी सिखाया जाता है।

बड़ोदा-कॉलेज में विज्ञान पढ़ाने का बहुत अच्छा प्रबन्ध है। यह बम्बई प्रान्त में ऊँचे दर्जे का कॉलेज गिना जाता है। इमारत मुसलमानी ढंग की है। साथ साथ एक हाई स्कूल और होष्टल भी है।

एक स्कूल बहरे, अन्धे और गूँगे के लिए भी है। उसमें रियासत से बाहर के लोग भी पढ़ सकते हैं। स्त्रियों के लिए एक ट्रेनिङ्ग कॉलेज है। उसमें स्त्रियों को विद्या पढ़ाने की रीति सिखाई जाती है। उससे स्त्री-शिक्षा के प्रचार में बड़ी सहायता पहुँचती है। उसमें हिन्दी-भाषा द्वारा ही उन्हें शिक्षा दी जाती है। एक विधवा-आश्रम भी है। उसमें विधवाओं को उनके योग्य लाभदायक कारीगरी सिखाई जाती है। इसी प्रकार आर्यसमाज के गुरुकुल में बहुत-से बालक ब्रह्मचारी धार्मिक शिक्षा पाते हैं। राज-अस्पताल में स्त्री-पुरुष रोगियों की दवा-दारू और सेवा-टहल का खूब बढ़िया इन्तजाम है। सब तरह से बड़ोदा एक आदर्श रियासत है।

—मासिक 'बालक' (लहेरियासराय, दरभंगा); वर्ष १, अंक ३; चैत्र, १९८३ वि०

●

प्रवासी-भवन

बिहार-प्रान्त के शाहाबाद जिले में 'सहसराम' एक मशहूर कस्बा है, जहाँ शेरशाह का प्रसिद्ध मकबरा देखने योग्य है। 'मुगलसराय' से 'गया' जानेवाली रेलवे-लाइन पर 'सहसराम' (ई० आई० आर० का) एक अच्छा स्टेशन है। उससे कुछ पच्छिम एक 'कुदरा' स्टेशन पड़ता है, जिसको लोग 'जहानाबाद' भी कहते हैं; क्योंकि स्टेशन इसी नाम की बस्ती के पास है। 'कुदरा' से आठ मील उत्तर एक गाँव 'बहुआरा' है—बस्ती बहुत ही छोटी है—चारों ओर दूर-दूर तक फैला हुआ खुला मैदान है—कहीं कोई बाग-बगीचा या जंगल-झाड़ नहीं—धनहर खेतों के चकले, लड़ाई के मैदान की तरह, खुले पड़े नजर आते हैं।

गर्मियों की लू में वह स्थान अगर राजपूताना की मरुभूमि की तरह धधकता होगा, तो बरसात में कश्मीर की पहाड़ी तराई की तरह लहलहाता भी होगा। जिस समय खेतों में खड़ी हरी फसल के ऊपर से खुली हवा सर्राटे के साथ लहराती हुई निकल जाती होगी, उस समय कोसों तक धरती-माता की सुगापंखी साड़ी का अंचल फहरा उठता होगा। फिर, जाड़े में भी जब खेतों की फसल पक कर तैयार होती होगी, पृथ्वी माता सुनहली ओढ़नी ओढ़कर साक्षात् अन्नपूर्णा-देवी के रूप में प्रकट दीख पड़ती होगी।

उसी 'बहुआरा' के निवासी पं० भवानीदयालजी दक्षिण अफ्रिका में रहते हैं। उनके उद्योग से दक्षिण अफ्रिका में हिन्दी-भाषा का खूब प्रचार हुआ है। वहाँ उन्होंने बरसों तक 'हिन्दी' नामक साप्ताहिक पत्रिका निकालकर विदेशों में बसनेवाले भारतवासियों में हिन्दी-भाषा का अच्छा प्रचार किया है—वहाँ कितनी ही हिन्दी पाठशालाएँ खुल गई हैं, कितने ही हिन्दी-पुस्तकालय स्थापित हो चुके हैं। नेटाल, फिजी, ट्रिनिडाड, मारिशस, केनिया आदि स्थानों में—जहाँ हजारों-लाखों हिन्दुस्तानी बरसों से जा बसे हैं—हिन्दी-भाषा, हिन्दी धर्म और हिन्दी-भाव का प्रचार करके उन्होंने अनगिनत हिन्दुस्तानियों के हृदय में भारत-माता की याद कायम रखी है। अपने मातृभूमि 'भारत' से सैकड़ों कोस दूर—समुद्र पार रहकर भी, जिस लगन के साथ उन्होंने अपनी मातृभाषा 'हिन्दी' की ध्वजा फहराई है, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय—थोड़ी है।

उन्हीं पं० भवानीदयाल ने अपने जन्म-स्थान 'बहुआरा' में 'प्रवासी-भवन' की स्थापना की है। 'प्रवासी'-शब्द का अर्थ है 'विदेशों में बसनेवाला'। जो भारतवासी कई पुश्त से विदेशों में जा बसे हैं, उन्हें 'प्रवासी भारतवासी' कहते हैं, और उन्हीं के स्वदेश-प्रेम को हमेशा ताजा रखने के लिए पंडितजी ने इस 'प्रवासी-भवन' की नींव डाली है। सन् १६२५ ई० के दिसम्बर महीने में इस भवन की बुनियाद पड़ी, और बनते-बनते लगभग आठ महीने में इसकी सूरत खड़ी हुई। ता० २ जुलाई, १६२६ ई० को बिहार के सर्वप्रिय नेता श्रीमान् बाबू राजेन्द्र प्रसादजी, एम्० ए०, एम्० एल्० ने इसको खोला। उस समय बड़े धूमधाम से उत्सव की तैयारी हुई, और उसी अवसर पर महात्मा गाँधी का लिख भेजा हुआ शुभ सन्देश भी पढ़-सुनाया गया। ता० ७ अप्रैल, १६२७ ई० को यह भवन बन कर पूरा तैयार हुआ, और ता० १० अप्रैल, १६२७ ई० (चैत की रामनवमी) को बड़े ठाट से इसका प्रथम वार्षिक उत्सव मनाया गया। दोनों उत्सवों में बाहर से अनेक देशभक्त पधारे थे—उस समय छोटी-सी देहाती बस्ती ('बहुआरा') की शोभा देखने ही योग्य थी।

गत ता० २२ जून (१६२७) को पं० भवानीदयालजी के छोटे भाई श्री देवीदयालजी मेरे पास पंडितजी का निमंत्रण लेकर एकाएक आ पहुँचे। मैं काशी से उसी दिन, दो बजे दिन की गाड़ी से चलकर रात को दस बजे 'बहुआरा' पहुँचा। चाँदनी रात में प्रवासी-भवन की विचित्र शोभा थी। दूसरे दिन, प्रातःकाल ही से भाई भवानीदयालजी मुझे प्रवासी-भवन दिखलाने लगे। दुमंजिले भवन में नीचे 'श्री दुखन-पाठशाला' और ऊपर 'श्री दयाल-पुस्तकालय' है! 'दरबन' (नेटाल—दक्षिण अफ्रिका) के सुप्रसिद्ध रईस श्रीयुत 'ए० दुखन' ने भाई भवानीदयालजी को शिक्षा का प्रचार करने के लिए दो सौ पौंड

(लगभग ३०००) का दान दिया था; इसलिए उन्हीं के नाम पर पाठशाला खोली गई है, जिसमें आसपास की देहात के गरीब बालकों को बिना फीस के शिक्षा दी जाती है। और, पुस्तकालय में छोटी-बड़ी लगभग डेढ़ हजार हिन्दी और अँगरेजी की पुस्तकें हैं, जिनमें एक हजार के करीब प्रवासी-साहित्य-सम्बन्धी हैं। आलमारियों में बड़े ही अच्छे ढंग से पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाओं की सजिल्द फाइलें नम्बरवार सजाई गई हैं। पुस्तकों की सूची भाई भवानीदयालजी ने बहुत ही सुन्दर रीति से अपने हाथों लिखकर तैयार की है—प्रवासी भारतवासियों से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के नाम पर लाल-हरी पेंसिल का निशान लगा हुआ है। इसके सिवा दक्षिण अफ्रिका, केनिया, न्यूजीलैंड, फिजी-द्वीप आदि के प्रवासी भारतवासियों से सम्बन्ध रखनेवाले जितने उपयोगी कागज-पत्र हैं; उनकी फाइलें अलग-अलग खूब बढ़िया बनवाकर ठिकाने से रखी गई हैं। उनमें बड़े ही महत्त्व की चिट्ठी-पत्रियाँ और अखबारों की कतरनें हिफाजत के साथ रखी हैं, जिनका मूल्य मैं अनाड़ी क्या समझता—अगर हिन्दी-संसार में उनका मूल्य समझनेवाला कोई है, तो बस पंडित बनारसी प्रसादजी चतुर्वेदी, जिन्होंने प्रवासी भारतवासियों के हित के लिए अपनी जिन्दगी निछावर कर दी है। वास्तव में वही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो इस भवन के पुस्तकालय से कुछ लाभ उठा सकते हैं। उन्होंने 'हिन्दी' के एक विशेषांक में एक ऐसे ही 'प्रवासी-भवन का स्वप्न' देखा था—लेख लिखा था। अब अगर वह इस भवन को प्रत्यक्ष देख लें तो अपने सच्चे विचार-स्वप्न की सफलता पर प्रसन्न हुए बिना न रहेंगे।

हाँ, प्रवासी-भवन में अभिनन्दन-पत्रों का संग्रह भी देखने लायक है। भाई भवानीदयालजी को आज तक विदेश और स्वदेश में जितने मानपत्र मिले हैं, उनमें अधिकांश हाथ के ही लिखे हुए हैं। उनकी लिखावट और सजावट इतनी सुन्दर है कि देखते ही बनता है—उनके चतुर चितेरे-लेखकों की हाथ की सफाई देखकर एक बारगी मेरा दिल फड़क उठा। विदेशों में मिले हुए कई मानपत्र ऐसे हैं, जो अँगरेज और मद्रासी लेखकों द्वारा देवनागरी अक्षरों में लिखे गये हैं; पर ऐसे सजीले और स्वच्छ-सुन्दर हैं कि देखकर आश्चर्य तथा आनन्द का ठिकाना नहीं रहता—कला की दृष्टि से वास्तव में एक चीज हैं।

अन्त में, फाइलों और मानपत्रों की प्रदर्शनी देख चुकने पर, मैंने चित्रों की प्रदर्शनी देखी—एक बड़े बक्स को खोलकर भाई भवानीदयालजी ने सैकड़ों फोटो दिखलाये, जिनमें मुख्य-मुख्य प्रवासी भारतवासियों, उनके नेताओं, विद्यालयों और जातीय उत्सवों के फोटो देखकर तथा उनका परिचय सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ—अपने देश से हजारों कोस दूर रहते हुए भी उनके हृदय में भारतवर्ष के लिए कितना प्रेम है—भारतीयता का कितना अभिमान है—जागृति का कैसा भाव है!

इसके बाद भाई भवानीदयालजी से देश-विदेश और हिन्दी-साहित्य पर कुछ बातचीत हुई, और उसी दिन—ता० २३ को—उनसे विदा होकर मैं पाँच बजे शाम को काशी के लिए रवाना हुआ, तीन बजे रात को विश्वनाथपुरी में पहुँच गया।

पंडित भवानीदयालजी ता० २० जुलाई को दक्षिण अफ्रिका चले गये। वह इस बार वहाँ हिन्दी-भाषा और हिन्दू-धर्म का प्रचार करेंगे।

—मासिक 'बालक' (लहेरियासराय); वर्ष २. अंक ७; सावन १९८४ वि०

•

महाराणा प्रताप की वीरता और देश-भक्ति

किसी महापुरुष के सद्गुणों की सबसे बढ़कर खरी पहचान यही है कि उसका विपक्षी और विरोधी भी उसके गुणों का कायल हो—प्रशंसक हो। पूज्य महात्मा गान्धी की सचाई की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि कुटिल नौकरशाही भी उनकी सचाई की कायल है—भले ही वह प्रत्यक्ष में उसे स्वीकार न करे। गुण की बड़ाई तो तभी है, जब शत्रु भी उस पर मुग्ध हो जाय।

महाराणा प्रताप की वीरता और देशभक्ति पर सम्राट् अकबर भी मुग्ध था। वह तो यहाँ तक तैयार था कि महाराणा यदि जबानी भी सुलह करना स्वीकार कर लें तो भविष्य में उनपर चढ़ाई न की जायगी और उनका सब-कुछ वापस कर दिया जायगा। किन्तु, महाराणा अपनी टेक के पक्के थे—अपनी आन से एक बार विचलित होकर भी आत्म-ग्लानि-पूर्वक सँभल गये।

लोक-ललाम भगवान रामचन्द्र की सुन्दरता केवल इसी कारण लोकोत्तर एवं अनुपम नहीं थी कि जनकपुर-निवासी नर-नारी उन्हें देखकर मोहित हो गये, अथवा वनमार्ग में गाँव-गँवई के लोग-लुगाई तथा राही-बटोही भी उन्हें देखकर अपने भाग्य की बड़ाई करने लगे; बल्कि उनकी अतुलनीय सुन्दरता की कसौटी यह है—

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी॥
सचिव बोलि बोले खर-दूषन। यह कोउ नृप-बालक नर-भूषन॥
नाग-असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥[1]

इसी प्रकार महावीर हनूमान की वीरता का लोहा केवल पहाड़ों के उठाने से ही नहीं माना जा सकता। उसकी कसौटी लङ्का के रावण-युद्ध में देखिए—

मुष्टिक एक 'ताहि' कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र-प्रहारा॥
मुरुछा गई बहुरि सो जागा। कपि बल बिपुल सराहन लागा॥

ठीक इसी प्रकार महाराणा प्रताप की वीरता और देशभक्ति की सच्ची परख भी उनके कट्टर विरोधी और विपक्षी—किन्तु, सगे छोटे भाई 'शक्ति सिंह' के प्रशंसात्मक वाक्यों से

---

१. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, खर-दूषण-युद्ध।

भलीभाँति हो जाती है। यह घटना महाराणा प्रताप के जीवन में बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है।

हल्दीघाटी के भीषण संग्राम से लौटे हुए महाराणा प्रताप, अकेले, शून्य पहाड़ी मार्ग से, मरणासन्न प्रभु-भक्त 'चेतक' पर सवार, जा रहे हैं। दो मुगल-सैनिक गुप्त रूप से उनका पीछा कर रहे हैं। सबके पीछे मुगल-पक्षी 'शक्तिसिंह' छिपे-छिपे चले आ रहे हैं। उनके हृदय में पश्चात्ताप की ज्वाला धधक रही है। सोचते हैं, मैं भी तो एक राजपूत ही हूँ; अपने ऐसे लड़ाके बहादुर भाई से बिछुड़कर मुगलों की चापलूसी कर रहा हूँ—धिक्कार है मेरे क्षत्रियत्व को! मैं कुल-कलङ्क क्यों महाराणा का भाई हुआ!'

ग्लानि और लज्जा से व्यथित शक्ति सिंह ने देखा, घात में लगे हुए मुगल-सैनिक, महाराणा के पास तक, पहुँच चुके हैं। जल्दी से घोड़ा बढ़ाया और आवाज देकर महाराणा को ठहराया।

महाराणा ने पीछे घूमकर देखा तो आश्चर्य-चकित हो रहे। सोचा, 'मनुष्य स्वार्थवश कितना नीच हो जाता है! मुझे अकेला और असहाय जानकर शक्तिसिंह स्वयं बदला चुकाने आ रहे हैं। हाय री राजपूत-जाति!'

महाराणा लम्बी साँस खींचकर पहाड़ियों को गुँजाते हुए बोले—'आओ भैया शक्तिसिंह! बदला चुकाने का ऐसा सुअवसर फिर न मिलेगा!'

वास्तव में शक्तिसिंह बदला चुकाने नहीं, बल्कि महाराणा की वीरता और देश-भक्ति की पूजा करने आ रहे थे। महाराणा की वाणी सुनकर लज्जा और ग्लानि में डूब गये—शत-कोटि बिच्छुओं के डंक से मर्माहत होकर सिर नीचा कर लिया।

व्याकुल-प्राण शक्तिसिंह फुर्ती से आगे बढ़े। पहले उन दोनों मुगल-सैनिकों को तलवार के घाट उतारा, फिर झट आगे बढ़कर घोड़े से कूद पड़े, और कटे रुख की भाँति महाराणा के चरणों में गिर सिर टेक कर अचेत-से हो रहे।

महाराणा के नेत्रों से स्नेह-गद्गद अश्रुधारा फूट चली। उन्होंने पथ-भ्रष्ट भाई को उठाकर छाती से लगा लिया। उन्हें शक्तिसिंह के प्रति कही हुई अपनी पिछली बात पर बड़ा पछतावा होने लगा। उनकी छलछलाई आँखों से आँसू की बूँदें शक्तिसिंह के नत मस्तक पर टपकने लगीं। शक्तिसिंह सर्वथा स्तब्ध थे।

थोड़ी देर तक इसी करुण दशा में रहने के पश्चात् दोनों भाइयों का अंग-शैथिल्य दूर होने लगा। शक्तिसिंह सजग होकर कातर दृष्टि से महाराणा के मुख की ओर निहारने लगे। महाराणा ने हताश हृदय से कहा—'भाई शक्ति! मेवाड़ का भाग्य फूट गया। राजपूती शान आज रणचण्डी की भेंट चढ़ गई!'

महाराणा का गला रुँध गया। शक्तिसिंह की जबान न हिली। वह एकटक मेवाड़ के उस सान्ध्य-सूर्य को देख रहे थे। तबतक महाराणा फिर बोले—'भाई शक्ति, हल्दीघाटी की इस लड़ाई में क्षात्र-शक्ति का संहार हो गया। अब मेवाड़ का उद्धार असंभव है!'

कहते-कहते महाराणा की बड़ी-बड़ी आँखें छलछला उठीं। शक्तिसिंह में एकाएक स्फूर्त्ति आई। वे पुलकित होकर बोले—'भैया! आप के मुँह से यह कैसी बात? इस

युद्ध में वास्तविक विजयी आप ही हुए हैं। आपकी प्रचण्ड वीरता और दुर्दमनीय देशभक्ति ने मुझ-जैसे कुलाङ्गार अधमाधम राजपूत के हृदय में भी श्रद्धा और उत्साह भर दिया है—क्षात्र-तेज और स्वदेशाभिमान की बिजली मेरी नस-नस में दौड़ा दी है। विश्वास कीजिए, शत्रु-दल में भी आपके अलौकिक देश-प्रेम और अविरल पराक्रम का बखान हो रहा है। आपके शत्रुओं के हृदय पर आपकी बहादुरी और दिलेरी की गहरी छाप पड़ गई है। मुगल-सैन्य का प्रत्येक योद्धा मुक्तकण्ठ से इस बात को स्वीकार कर रहा है कि ऐसा निर्भीक और साहसी वीर आजतक कहीं देखने में नहीं आया। यवन-योद्धाओं में इस समय हर तरफ बस आपकी ही चर्चा है, सबकी जबान पर आपकी ही बड़ाई है। क्या यह आपकी सच्ची विजय नहीं है? आज शत्रु-पक्ष के योद्धाओं के हृदय पर आपकी अजेय शक्ति ने जो सिक्का जमा लिया है—और आपकी हिमालय-सदृश दृढ़ता ने जो अकबर-सरीखे प्रतापी सम्राट् के ललाट में सिकुड़न पैदा कर दी है, वह क्या राजपूतों के लिए गर्व और गौरव का विषय नहीं है? दुर्द्धर्ष शत्रु के हृदय पर अपनी तेजस्विता का आतङ्क स्थापित कर देना क्या किसी विजय से कुछ कम है?'

महाराणा की निराशा काफूर हो गई। उनका रक्ताक्त शरीर कण्टकित हो उठा। उनके ताजे घावों से पुनः रक्त की धारा बह चली। एक बार फिर उन्होंने शक्तिसिंह को अपने शिथिल भुजदण्डों के बीच चाँपकर हृदय से लगा लिया, और यह कहकर विदा किया कि 'जाओ भैया शक्तिसिंह! तुम आज निराशा के अन्धकार में उज्ज्वल आशा की किरण बनकर आये, शायद विधाता को अभी यही स्वीकार है कि राजपूतों के शस्त्र-झङ्कार और स्वातंत्र्य-निनाद से अरावली-गिरि की तलहटियाँ तबतक गूँजती रहें, जबतक मेवाड़ का उद्धार न हो!'

—मासिक 'महारथी' (दिल्ली); प्रताप-अंक; वैशाख, १९८६ वि०; मई, १९२९ ई०

●

विजयाङ्क कैसा हो?

हिन्दी के पत्रों का जब से जन्म हुआ, तब से—शायद 'प्रयाग-समाचार' और 'बनारस-गजट' के जमाने से—लेकर आजतक प्रायः सभी पत्रों ने हर साल विजया के अङ्क में विजयादशमी पर लेख लिखा होगा; लिखा है; लिखते जाते हैं; और आगे भी लिखेंगे। मगर अबतक जो लेख लिखे और छापे जा चुके हैं, उनमें निन्नानवे फी सदी लेखों में ज्यादातर बस दो ही बातों का मद्दा महा गया है—'दुर्गापूजा या शक्ति-पूजा' और 'श्रीरामचन्द्र की लङ्कायात्रा'। इनके अलावा, बहुत हुआ तो किसी ने इतना और कह दिया है कि "पुराने जमाने में इसी विजयादशमी के रोज क्षत्रियों के घर हथियारों की पूजा होती थी, जिससे सारा देश एक कोने से दूसरे कोने तक हथियारों की झनकार से गूँज उठता था, और आज वही देश निहत्थों की आह से गूँज रहा है"। इसी तर्ज के भावों को उलट-फेर कर आजतक अनेक लेखक पछाड़ चुके हैं! पुराना रोना रोकर बूटी का नशा किरकिरा न करूँगा।

अव्वल नम्बर 'दुर्गा-पूजा' पर अब क्या लिखना बाकी है? 'हिन्दी-बंगवासी' 'भारत मित्र' 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' आदि तो बरसों पहले ही इस विषय पर शास्त्र, पुराण—देवी भागवत, दुर्गासप्तशती आदि चाट चुके हैं। भला कोई नये सिरे से अब नई बात क्या सुझायेगा? अच्छा होता कि पुराने—खासकर समाधिस्थ—पत्रों के विजयांक से ही 'शक्तिपूजा'-सम्बन्धी उपयोगी लेख चुन-चुनकर आजकल के विजयांक अपना अधिकांश कलेवर अलंकृत किया करते। साहित्य का जीर्णोद्धार भी होता और जनता का मनोरंजन तथा ज्ञानवर्द्धन भी। साथ ही, तकाजों से लेखकों का भी पिंड छूटता।

फिर दोयम नम्बर—'श्रीरामचन्द्र की लंकायात्रा' पर ही आखिर अब कौन-सी नई बात लिखी जाय? वाल्मीकीय, अध्यात्म, तुलसीकृत आदि रामायणों का अक्षर-अक्षर तो यारों ने चुग डाला है। अब कोई नई बात कौन कहाँ से पैदा करे?

पुराने पत्रों की फाइलों का पता लगाकर इस विषय के उन पुराने लेखों को ज्यों-का-त्यों—मनोरंजक टीका-टिप्पणियों और उनके लेखकों के चित्रों के साथ संग्रह कर क्यों न प्रकाशित कर दिया जाय? क्या वैसे विजयांक से पाठकों का उपकार या मनोरंजन न होगा? सबसे पहले एक बार ऐसा करके देखो। सच कहता हूँ, वह विजयांक एक 'रेकर्ड' होगा!

तिरंगे चित्रों के खर्च को उड़ाकर पुराने पत्रों की फाइलों से लेखों की नकल कराने में वही रकम लगाई जाय। एक ढंग ऐसा भी हो सकता है कि एक साल के विजयांक में केवल 'भारत-मित्र' की पुरानी संख्याओं का ही जीर्णोद्धार किया जाय। उसके सबसे पुराने अङ्कों में विजया-साहित्य-रस निचोड़कर विजयांक के कूँजे में भर दिया जाय। फिर क्रमशः दूसरे साल 'हिन्दी-बंगवासी', तीसरे साल-'श्रीवेंकटेश्वर समाचार'; इसी प्रकार 'हिन्दी-प्रदीप', 'उचित-वक्ता', 'विहार-बन्धु' इत्यादि।

मगर याद रहे, इसमें खर्च से अधिक सोत्साह परिश्रम की आवश्यकता होगी। वर्त्तमान साहित्य में नई चीज भी तो होगी?

अब सोयम नम्बर 'पुराने जमाने में हथियारों की झनकार और इस जमाने में निहत्थों की आह'-वाली बात। इस पर क्या लिखूँ? लिख दूँ कि पुराने क्षत्री हथियारों की झनकार पर उमंगों से भर जाते थे और आजकल के क्षत्री सिर्फ चूड़ियों और पायलों की झनकार पर ही उमंगों से भरते हैं? मगर देशी रजवाड़े और ताल्लुकेदार क्षत्री खोपड़े पर एक रोआँ न रहने देंगे। याद है, अंगद का वचन? 'तदपि कठिन दसकंठ सुनु, छत्रि जाति कर रोष!'

इतना लिख चुकने पर जब बूटी का रंग जमा तब एक नई बात सूझी—'पुराने जमाने में जिस दिन विजयादशमी होती थी, उस दिन शस्त्रों की झनकार से भारत की दिशाएँ गूँज उठती थीं; पर इस नये जमाने में तो अब सच्ची विजया उसी दिन होगी, जिस दिन निहत्थे भारतीयों की बेड़ियों की झनकार से केवल भारत ही नहीं; बल्कि अखिल भूमण्डल ही झंकृत हो उठेगा।'

—साप्ताहिक 'हिन्दू पंच' (कलकत्ता); विजयांक; सन् १९२५ ई०

'मुक्ता-मंजूषा'[1]

हिन्दी का सबसे बड़ा दुर्भाग्य

हिन्दी के बहुतेरे समालोचक सज्जन भारत की अन्य उन्नत भाषाओं और यूरोपीय भाषाओं से हिन्दी की तुलना करते समय हिन्दी को बड़ी हेय दृष्टि से देखते हैं। इसपर कुछ लोग उन्हें कोसते हैं, और कुछ लोग उन्हें अनभिज्ञ भी कहते हैं। पर सच तो यह है कि किसी का मुँह कोई बन्द नहीं कर सकता। जिसे गाली बकने की आदत है, उससे आप गीता के श्लोक सुनने की आशा क्यों करते हैं? ललाट पर चन्दन का तिलक है, पैर में पीब-भरा घाव है। अगर चन्दन के टीके पर न बैठकर मक्खी स्वभावतः घाव पर जा बैठे, तो क्या आप उसे इसलिए मार डालेंगे, कि वह कम्बख्त चन्दन के टीके पर क्यों न बैठी? ब्रिटिश-सरकार अत्यन्त शक्तिशालिनी है। उसे रोज ही लोग जली-कटी सुना रहे हैं। पग-पग पर उसकी फजीती हो रही है। पर वह कहाँ-कहाँ मच्छर पर तोप भिड़ाती फिरे? हाँ, अगर कहीं मलेरिया का मच्छर मिल जाता है, तो वह जरूर उसके लिए 'क्रप' कारखाने की तोप खरीद लाती है और उसे 'घेण्ट' तथा 'एण्टवर्प' के किलों की तरह बम्बार्ड करके ही दम लेती है। कुछ इसी प्रकार का उद्योग हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी-लेखक पण्डित जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' एम्० ए० ने आरम्भ किया है। वे कलम-कुदाल लेकर हिन्दी-संसार के सभी गंदे गड्ढों को भर देने चले हैं, ताकि मलेरिया फैलानेवाले मच्छर कहीं रहने ही न पावें। उन्होंने प्रयाग के सचित्र अर्द्ध-साप्ताहिक 'भारत' में पूर्वोक्त-शीर्षक का एक ललकार-भरा लेख लिखा है। लेख निःसन्देह विचारपूर्ण है। उसे उन्होंने बड़ी गवेषणा से लिखा है, और उसमें दिमागदार आलोचकों की शंकाओं का समाधान भी खूब किया है। वे लिखते हैं—

"मेरा यह स्पष्ट अभियोग है कि हमारे आधुनिक साहित्य के अधिकांश समीक्षक हमारी अनुभूति-सीमा के भीतर तो क्या, पास भी अभी तक नहीं आ सके हैं। वे अभी बहुत दूर खड़े हैं और बार-बार आमंत्रित किये जाने पर भी पास आने की उदारता नहीं दिखाते। वे पास आयें, सचाई और सहानुभूति के साथ नवीन अनुभूति का साहचर्य प्राप्त करें, तभी देख सकते हैं कि इस नवीनता के भीतर 'सत्यं, शिवं और सुन्दरं' है या नहीं। बिना किसी की रचना को मनोयोगपूर्वक पढ़े, बिना उसकी वास्तविकता का स्पर्श किये, योंही कुछ कह देना एक ऐसी आत्म-प्रवंचना है, जो मानवता के मूल पर ही कुठाराघात कर देती है। मैं ऐसे समालोचकों को जानता हूँ, जिन्हें आधुनिक साहित्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है, साहित्य की इस नवीन प्रगति के साथ जिनकी अनुभूति का कोई सम्पर्क है ही नहीं। पर वे भी, अपने अधिकार-स्वर की सबलता का दुरुपयोग करते हुए यह कहते तनिक भी नहीं झिझकते कि 'आजकल के साहित्य में कुछ नहीं है'। यह केवल अन्याय और अत्याचार ही

१. मासिक 'हंस' (काशी) में इसी नाम का एक स्थायी स्तम्भ था, जिसमें देश-विदेश की विभिन्न भाषाओं के पत्रों में छपे लेखों से महत्त्वपूर्ण अंश संकलित किये जाते थे। —ले०

नहीं, एक भयंकर दुराचार भी है और साहित्य की रक्षा तथा वृद्धि के लिए सबसे पहले इसी का संहार करना चाहिए। दस में नौ नवीनता-विरोधी समालोचक, अध्यापक, सम्पादक और पाठक ऐसे ही मिलेंगे, जो किराये के शब्द लेकर अपने आलोचनात्मक अभिमत प्रकट किया करते हैं—उनके पास कोई पूँजी है ही नहीं। हिन्दी के नये साहित्य में कुछ न पा सकनेवालों में से ऐसे कितने समालोचक हैं, जिन्होंने गम्भीरतापूर्वक गत दस वर्षों के हिन्दी-साहित्य का वास्तविक अध्ययन किया है—कम से-कम एक बार भी जो हमारे मुख्य-मुख्य लेखकों की सब रचनाएँ पढ़ गये हैं? कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ानेवाले ही ऐसे कितने मिलेंगे, जो किसी लेखक की एक कृति का वास्तविक मर्म जानने के लिए उसकी समस्त रचनाओं से परिचय प्राप्त करने की आदत रखते हों? कितने ऐसे सम्पादक हैं, जिन्हें हमारी साहित्यिक स्थिति का सच्चा ज्ञान प्राप्त है? लेकिन निष्ठुर और ध्वंसात्मक आलोचना करना ये सब के-सब खूब जानते हैं। और, इसी अनध्ययन का परिणाम है कि हमारे इन विश्व साहित्य-प्रेमियों की मनोवृत्ति जहाँ उन्हें रवि बाबू के 'गोरा' में कला के चरम उत्कर्ष का दर्शन कराती है, वहीं प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' को कला की समाधि के रूप में दिखाने को विवश होती है। वे एक बंगाली कवि के 'अशब्द पद-ध्वनि' (Silent foot-steps) का मर्म सहज ही समझ जाते हैं; पर हिन्दी के नवीन कवियों के—

हृदय के प्रणय कुंज में लीन, मूक कोकिल का मादक गान। (पल्लव)

—उनकी समझ में बिलकुल नहीं आता। और किसी भाषा-भाषी कवियों द्वारा ये शब्द प्रयुक्त हों, तब तो कोई बात ही नहीं; परन्तु हिन्दी में न तो वे बेचारे 'मूक वेदना' का अर्थ समझते हैं न 'विकल वेदना' का! वे बेवकूफ बनाने की नीयत से, मुँह चिढ़ाकर पूछते हैं—'क्यों साहब? वेदना भी क्या विकल होती है? यह क्यों? कैसे?' उन्हें यही नहीं मालूम कि वेदना जीवन की एक अविच्छेद्य संगिनी होने के नाते, ठीक हमारी ही तरह खाती है, खेलती है, गाती है, हँसती है, रोती है, तड़पती है, और समय आने पर चुपचाप मर भी जाती है। मानव-हृदय की इस स्पष्ट अनुभूति की भी जो उपेक्षा कर सकता है, वह और क्या नहीं कर सकता? इससे बढ़कर साहित्यिक असहृदयता और कौन-सी होगी?

"मुझे आश्चर्य और दुःख तो उस समय होता है, जब मैं देखता हूँ कि If thou speakest not, I will fill my heart with thy silence and endure it—'यदि तुम बोलोगे नहीं तो तुम्हारी नीरवता ही से मैं अपने अन्तर को अभिभूत कर उसे सहन कर लूँगा।' (गीताञ्जलि)—जैसी पंक्तियों पर भक्ति-गद्गद होकर लोट-पोट हो जानेवाले कलाविद्—

मौन मुकुल में छिपा हुआ जो रहता विस्मय का संसार।
सजनि! कभी क्या सोचा तूने यह किसका शुचि शयनागार?

(पल्लव)

आदि सुन्दर पंक्तियों का भाव समझने में कैसे चूक जाते हैं। दूसरे अगर लिख देते हैं कि—'The light of thy music illumines the world'—'तुम्हारी

संगीत-ज्योति से विश्व जगमगा उठता है' (गीतांजलि), **तो ये लोग कैसे समझ जाते हैं ; और हिन्दी का एक कवि जब कहता है कि—**

मेरे तिमिर-भरे अन्तर में, एक बार फिर ढार प्यार के नव प्रकाश की धार।

—तो इनकी समझ इन्हें छोड़कर न जाने कहाँ और क्यों भाग जाती है। जो लोग किसी और भाषा-भाषी के मुँह से –In the rainy gloom of July nights on the thundering chariot of clouds he comes, comes, overcomes'— **'आषाढ़ की रात के बरसाती अँधियारे में कड़कते हुए जलद-रथ पर वह आता है. आता है, बराबर आता है।** (गीतांजलि)

— सुनकर अवाक् हो जाते हैं, अनुभूति की गहराई में डूब-से जाते हैं, वही हमारे 'प्रसाद' जी के मुँह से—

शशि-मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये—
जीवन की गो-धूली में, कौतूहल से तुम आये।

(आँसू)

—जैसी सरल सुन्दर वाणी सुनकर इस तरह नाक-भौं सिकोड़ने का अभिनय कैसे कर सकते हैं! यह सब साहित्यिक अनाचार देखकर मेरी यह धारणा उत्तरोत्तर दृढ़ होती जा रही है, कि ये लोग हमारे साहित्य के क्षेत्र में केवल जयचंद का काम करने आये हैं, इसके अतिरिक्त ये और कुछ कर ही नहीं सकते।"

समालोचक सज्जनों पर उक्त अभियोग स्थापित करने के बाद 'द्विज' जी अब सम्पादकों की ओर मुड़ते हैं। उनकी राय-शरीफ में बे-नथे समालोचकों को प्रश्रय देकर सम्पादक लोग ही अपना रूपक जमाना या अपने पत्र को हड़कम्पी बनाना चाहते हैं। इसलिए 'द्विज' जी समालोचकों की गर्दन छोड़कर झट सम्पादकों का गला पकड़ लेते और कहते हैं—

"किन्तु सारा दोष इन्हीं (समालोचकों) का नहीं है। ये बेचारे भी विवश हैं। यह काम न करें तो और करें क्या? क्योंकि यह तो ये खूब जानते हैं कि स्वयं कोई सुन्दर कविता, कहानी, नाटक या निबन्ध लिखना इनके लिए संभव नहीं—क्योंकि जबतक ये टालस्टाय, रोमाँ-रोलाँ, शॉ, रवीन्द्र आदि विश्व-साहित्यिकों के टक्कर की चीज लिखनेवाली क्षमता नहीं प्राप्त कर लेते, तबतक भला कैसे क्या लिखेंगे? —तो इस बेकारी के युग में बैठे-बैठे क्या करें? बेचारे तबतक इसी बात की चेष्टा कर रहे हैं कि हिन्दी संसार इन्हें अपना अभिभावक स्वीकार कर ले। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ये हिन्दी के लेखकों और सम्पादकों को गालियाँ सुनाते हैं और कोई-कोई सम्पादक हाथ जोड़-जोड़कर इनसे गालियों की भीख माँगने में तनिक भी संकोच नहीं करते। इसलिए, मैं इस प्रवृत्ति के पोषक सम्पादकों को भी इस साहित्यिक दुराचार का उत्तरदायी ठहराता हूँ। ये लोग ऐसा क्यों करते है यह एक खुला हुआ रहस्य है। इन्हें भी हमारे इन कला-मर्मज्ञों की तरह नवीनता के भीतर 'कुछ नहीं' देखने की बीमारी तो है ही, साथ ही, अन्य भाषा-भाषी बड़े लोगों के आगे घुटने टेककर अपनी हीनता स्वीकार करते हुए, बड़प्पन की झूठी भीख माँगने की भी

इनमें गन्दी आदत है। जो लोग हिन्दी का एक शब्द भी नहीं समझ सकते, उनके आगे ये क्रीतदास की तरह जा बैठते हैं और उनसे हाथ जोड़कर, दाँत निपोड़कर, भक्ति-विह्वल स्वर में पूछते हैं—'प्रभो! हिन्दी की नवीन साहित्य-धारा के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है?' और प्रभो उपेक्षा की हँसी हँसते हुए उत्तर देते हैं—'लोग नकल तो कर रहे हैं, पर अभी उनके प्रयास में बहुत ही बचपन है।' सम्पादक महोदय मुग्ध होकर चले आते हैं। इसी विषय को लेकर संपादकीय टिप्पणी लिख डालते हैं—दुनिया को दिखला देते हैं कि हमें अपनी हीनता पर गर्व है; क्योंकि मेरे प्रभो ने इसकी सत्ता स्वीकार कर ली है। हाय रे तुम्हारा सुख और दासत्व-भावना से भरा हुआ अभागा उल्लास! क्या इसी बिरते पर राष्ट्रभाषा के संरक्षक बनना चाहते हो?"

इसी प्रसंग में एक दूसरे विद्वान् साहित्यसेवी की यह सम्मति भी विचारणीय है—

"यह तो कोई भी नहीं कहता कि हिन्दी-साहित्य की वर्त्तमान प्रगति सर्वथा निर्दोष है, हम सभी जानते हैं कि उसमें कितने ही दोष हैं, कितनी ही त्रुटियाँ हैं और उन्हें दूर करने की चेष्टा यथाशक्ति कर रहे हैं। लेकिन जब हमारे कुछ भाई जो अपनी बहुज्ञता और महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए हिन्दी-साहित्य को रद्दी की टोकरी में फेंकने के ही लायक बताते हैं, उसकी गद्य-रचना को मर्महीन और पद्य-रचना को कोरी तुकबन्दी कहने लगते हैं, तो बड़ा खेद होता है। हमारे ये आलोचक शायद समझते हैं, कि 'सत्य, शिव और सुन्दर' का अर्थ वे ही समझते हैं, बाकी हिन्दी लिखनेवाले उससे अनभिज्ञ हैं। कहना आसान है, कर दिखाना मुश्किल है। केवल सत्य की हाँक लगाने ही से कोई सत्यवादी नहीं हो जाता। हिन्दी-साहित्य ने विषम परिस्थितियों के होते हुए भी गत थोड़े दिनों में जो उन्नति की है, उसकी ओर से आँखें बन्द कर लेना अनुदारता की पराकाष्ठा है। 'मायावाद', 'छायावाद', 'कायावाद' की चाहे जितनी निन्दा कीजिए; पर जितनी तड़प और मर्म को स्पर्श करनेवाली भावना छायावाद की एक मामूली कविता में है, उतनी प्राचीनता कविता के पोथों में भी नहीं मिलती। हम तो कहते हैं, कविता अगर है तो वह छायावाद ही में है। स्थूल और प्रत्यक्ष में कविता कहाँ? प्रखर सूर्य में कविता नहीं है, कविता है सूर्य के उस रूप में जब वह क्षितिज के नीचे होता है और उसकी लालिमा आकाश को रँग देती है। कविता की आत्मा है अभिलाषा और अभिलाषा उस वस्तु की होती है जो दूर है, अस्पष्ट है, जिसकी धुँधली छाया ही हम देखते हैं। हमारे सामने आकर वह वस्तु कविता के क्षेत्र से निकलकर स्थूल हो जाती है। हस्तगत वस्तु की अभिलाषा क्या? और जहाँ अभिलाषा नहीं, वहाँ कविता कहाँ? मैं 'महादेवी' के एक पद पर 'भूषण' और 'बिहारी' की सारी कृतियाँ कुरबान करने को तैयार हूँ। प्रसाद, पन्त, निराला, द्विज, मिलिन्द और अन्य नये कवियों ने कवित्व का मर्म जितना समझा है और उसे जितनी सुन्दरता से व्यक्त किया है, वह राजाओं की भटई करनेवाले, उनकी काम-वासनाओं को उत्तेजित करने का ठीका लेनेवाले कवि क्या समझ सकते थे। हमारे कुछ आलोचकों को छायावाद में कुछ अर्थ, कुछ सार नहीं मिलता। ठीक है। नरसिंहे के आदी कानों को सितार के स्वरों में क्या आनन्द आयगा? हमें तो आज 'हौं है' और 'कीधौं' 'ताहि' और 'कैं' और 'कौं' की बहार पर हँसी आती है।

हरेक वस्तु का एक समय होता है। उस कविता का भी एक समय था। पर आज उन कवियों को आदर्श बनाकर खड़ा कर देना रस का गला घोटना है।"

—(हिन्दी से)

यूरोप का पतन

जून के 'नैरंग खयाल' में डाक्टर मोहम्मद अबदुल हक साहब डी० एस्-सी० ने सिद्ध कर दिया है कि यूरोप पतन की ओर जा रहा है और इसका कारण उसकी नास्तिकता है। उन्होंने दिखाया है कि पाश्चात्य देशों की स्त्री-पुरुष विवाह की जिम्मेदारियों से दूर रहना चाहते हैं, और पूरब के देशों में कुछ जागृति होने के कारण अब यूरोप का व्यवसाय उतने जोरों से नहीं चलता, जितना पहले चलता था; इसलिए बेरोजगारी बढ़ रही है। यही नहीं, सभी राष्ट्र एक-दूसरे को अविश्वास और शंका की दृष्टि से देखते हैं।

लिखते हैं वे—

"महामना डाक्टर अकबाल ने एक शेर में कहा था कि यूरोप की सभ्यता अपनी ही तलवार से आत्मघात करेगी। यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हो रही है। पूँजीपति और मजदूर, ग्राहक और दूकानदार का संघर्ष, उद्योग धन्धों की शिथिलता और बेरोजगारी, यह सब कठिनाइयाँ पश्चिमी संस्कृति से उत्पन्न हुई हैं। जब पश्चिमी देशों ने दूसरे महाद्वीपों को अपने जाल में फँसा लिया, तो उनके व्यापार में असीम वृद्धि हुई, जिसका लाजमी नतीजा यह हुआ कि हर बड़े नगर में विशाल कारखाने, इमारतें और दफ्तर बन गये। इन कारखानों और दफ्तरों को सुचारु रूप से चलाने के लिए क्लर्क, प्रबन्धक, टाईपिष्ट आदि की जरूरत हुई। पर, पुरुष अधिक संख्या में फौजों और जहाजों में नौकर थे, इसलिए स्त्रियों को मर्दों की जगह काम करना पड़ा। इस तरह स्त्रियाँ जो सदा समर[1] के पहले गृह-प्रबन्ध और संतान-रक्षा का काम करती थीं, अब पुरुषों की भाँति स्वच्छन्द रहने लगीं, इसका परिणाम यह हुआ कि—

(१) स्त्रियाँ अविवाहिता रहने लगीं।

(२) विवाहिता स्त्रियाँ भी घर के प्रबन्ध को अपमानजनक समझने लगीं, और घर के कामों के लिए सेवक रखे जाने लगे।

बेरोजगारी के अतिरिक्त वहाँ और भी अनेकों कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं। इटली और फ्रांस में दिन-दिन लाग-डाँट बढ़ती जाती है। फ्रान्स की आबादी दिन-दिन घटती जा रही है। इटली की आबादी बढ़ रही है। इटली के पास ऐसे उपनिवेश नहीं हैं, जहाँ वह अपनी फालतू आबादी को भेज सके। फ्रान्स के पास उपनिवेशों की कसरत है; इसलिए इटली फ्रान्स के उपनिवेशों पर दाँत लगाये हुए है। इटली का डिक्टेटर मुसोलिनी बार-बार ताल ठोंककर फ्रान्स को उत्तेजित करना चाहता है; जैसे वह लड़ाई का बहाना खोज रहा हो। फ्रान्स और इंगलैंड दोनों इन ललकारों को सुनते हैं; पर कोई जवाब नहीं दे सकते। इसका कारण यही है कि महासमर के पश्चात् से फ्रान्स और इंगलैंड में वह

१. सन् १९१४-१८ ई० का योरपीय युद्ध।

मैत्री नहीं रही, जो लड़ाई के पहले थी। जर्मनी और फ्रान्स में परस्पर और भी गहरा द्वेष है। दोनों एक-दूसरे को फूटी आँखों भी नहीं देख सकते। जर्मनी को अपंग कर देने में लोकार्नी की सन्धि ने कोई कसर न छोड़ी; लेकिन इन तमाम कठिनाइयों में भी जर्मनी ने अपनी आर्थिक और सैनिक दशा बहुत-कुछ सँभाल ली है। जर्मनी की यह समृद्धि फ्रान्स को पूरी नींद सोने नहीं देती। उधर इटली और जर्मनी में संधि की चर्चा हो रही है। इससे फ्रान्स और भी घबराया हुआ है। तुर्की और रूस को भी इस संधि में मिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। लोकार्नी में जर्मनी को अशक्त करने के लिए, पोलैण्ड का जो राज्य बनाया गया था, उसे फिर मिलाकर, जर्मनी और रूस में मिला देने के स्वप्न भी देखे जा रहे हैं।

ऐसी दशा में पश्चिमी संस्कृति कितने दिनों तक जीवित रहेगी? जिसका आधार संघर्ष पर हो, वह चिरस्थायी नहीं हो सकती।" —(उर्दू से)

भारत का राजनीतिक भविष्य

मई के 'ज़माना' में इस विषय पर मुन्शी अनन्त प्रसाद निगम ने एक आलोचनात्मक लेख लिखा है। सत्याग्रह-संग्राम की चर्चा करने के बाद आप हिन्दू-मुस्लिम एकता के विषय में कहते हैं—

"जब कि कराँची-काँगरेस ने गान्धी-इर्विन समझौते का समर्थन कर दिया है और देश में पूरी तरह इसपर अमल होने लगा है, तो लोग गोलमेज की तरफ आँखें लगाये बैठे हैं। महात्मा गान्धी ने आपस के झगड़ों को मिटाने के लिए हिन्दुओं को सलाह दी है कि उन्हें मुसलमानों की माँगों को बिना रद्दोबदल मंजूर कर लेना चाहिए। अगर यह सलाह मान ली जाय, तो यह सारा झगड़ा कितनी जल्द शान्त हो जाय! यद्यपि हिन्दुओं को यह एतराज हो सकता है कि मुसलिम माँगों के स्वीकार करने में हिन्दुओं की हानि है; लेकिन वास्तव में यह समय का फेर है। अगर जरा गहरी दृष्टि से देखिए, तो क्या स्वराज्य की विभूतियाँ केवल सरकारी नौकरियों और व्यवस्थापक सभाओं की मेम्बरी तक ही समाप्त हो जाती हैं? स्वराज्य का असली उद्देश्य देश की आर्थिक और जातीय उन्नति है, और देश में जो उन्नति होगी, उसमें किसी जाति की विशेषता न रहेगी। नौकरियों और मेम्बरियों का महत्त्व तो आजकल है, इसलिए कि हमें अपने इल्म और हुनर से तरक्की करने का कोई रास्ता नहीं खुला हुआ है। अगर थोड़ी-सी कुर्बानी करके हम उस उद्देश्य को प्राप्त कर सकें, तो हमें उससे मुँह न मोड़ना चाहिए।

अलबत्ता मुसलमानों के देशानुराग की परीक्षा का अब समय आ गया है। इसमें अब किसी को सन्देह नहीं है कि प्रथम निर्वाचन ही ने समस्या को इतना जटिल बना रखा है और न इसी में अब ज्यादा सन्देह है कि इससे मुसलमानों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। फिर इस पृथकता में क्या जादू है, जिसने कुछ मुसलिम नेताओं को उसका उपासक बना दिया है। मौलाना शौकत अली जो कई साल पहले भारत के लिए एकता को परमावश्यक समझते थे, आज पृथक निर्वाचन का राग कितने जोरों से अलाप रहे हैं; लेकिन हर्ष की बात है

कि मुसलिम राष्ट्रवादियों का दल, संख्या और प्रभाव में, दिन-दिन उन्नति कर रहा है और वह दिन दूर नहीं है, जब मौलाना शौकत अली और उनके सहयोगियों की आवाज नक्कारखाने में तूती की ही आवाज रह जायगी।"

—(उर्दू से)

एक अँगरेज योगी और महात्मा गान्धी

बम्बई से अँगरेजी का एक सचित्र साप्ताहिक निकलता है। उसका नाम है 'टाइम्स ऑफ इण्डिया'। उसके २८ जून १६३१ ई० वाले अङ्क में एक कौतूहलवर्द्धक लेख छपा है। उसके लेखक हैं कोई एफ्० आर० डारुवाला महाशय। उन्होंने एक अँगरेज योगी से पूना के पास एक गाँव में भेंट की है। योगी बाबा का नाम मि० जार्जलीक है। वे अस्थायी रूप से पूना के पास 'मुंडवा' नाम के गाँव में रहते हैं। वे बरसों तिब्बत के बीहड़ पहाड़ों और जंगलों में रह चुके हैं। उन्होंने डारुवाला महाशय से अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"१३ वर्ष की उम्र में मैंने अपने घर और माता-पिता को यार्कशायर (इङ्गलैंड) में छोड़ दिया। वहाँ से मैं जर्मनी चला गया। जर्मनी से इंगलैंड लौटने पर भारत में आकर एक गुरु से योग-विद्या सीखने की इच्छा हुई। एक दिन मुक्ति-फौज (Salvation army) के साथ अवैतनिक कर्मचारी होकर जहाज पर रवाना हुआ। सन् १६२४ ई० की बात है। कुछ दिनों के बाद मुक्ति-फौज से अलग होकर कुछ योगियों के साथ मिल गया और इधर-उधर घूमने लगा।"

महात्मा गान्धी के विषय में प्रश्न करने पर योगी लीक ने लेखक को यह उत्तर दिया—

"महात्मा गान्धी योगिराज हैं। तिब्बत के योगी उनकी बड़ी चिन्ता और चर्चा करते हैं। वे दिव्यधाम के स्वामी हैं।"

इसके बाद लेखक ने योगी बाबा को एक अखबार की कतरन दिखलाई। उसमें गत वर्ष के मई मास का एक अद्भुत समाचार छपा था। लिखा था—'जेल के अधिकारियों की आँखों के सामने से महात्मा गान्धी जेल में से अदृश्य हो गये थे।'

इस अफवाह (खबर) को पढ़कर योगी बाबा मुस्कराते हुए बोले—'यह तो कुछ नहीं है। अगर महात्माजी चाहें तो सारे संसार को अपने पैरों पर झुका सकते हैं।'

इसके बाद डारुवाला महाशय ने प्रश्न किया—'विगत महायुद्ध के बाद से संसार में नाना प्रकार की अशान्ति मच रही है। जान पड़ता है, संसार का अन्तिम दिन समीप है।'

इसपर योगी बाबा ने साधु सुन्दर सिंह नाम के एक योगी की—जिनसे योगी लीक की तिब्बत जाते समय नैपाल की एक पहाड़ी गुफा में भेंट हुई थी—बात का हवाला देते हुए कहा—

"आज से एक-डेढ़ बरस के अन्दर संसार में एक बड़ा भारी महायुद्ध होगा। खून की नदियाँ बहेंगी, लड़ते-लड़ते मनुष्य थक जायँगे। तब एक 'अवतार' होगा, जिससे संसार में शान्ति स्थापित होगी। यह निश्चित है कि यह 'अवतार' हो चुका है और हमी लोगों के बीच है। वह अवतारी पुरुष ईश्वरीय (विश्व) धर्म की स्थापना करेगा। उसका उद्देश्य

होगा संसार-भर के लोगों को मिलाना, सब मतों और सम्प्रदायों को एक शृंखला में बाँधना, मनुष्यों के पारस्परिक भेद-भाव को मिटाना, अशान्ति, युद्ध और रक्तपात को दूर करना।"

इसके बाद योगी बाबा ने एक बड़ी विचित्र बात और बताई। बातों ही के प्रसंग में आप डारुवाला महाशय से कहने लगे—

"तिब्बत के दुर्गम पहाड़ों में हर साल विराट महोत्सव होता है। किन्तु, उसमें सर्वसाधारण जन सम्मिलित नहीं हो सकते; क्योंकि उन्हें वहाँ का रास्ता ही नहीं मालूम। देश-भर के योगी उस उत्सव में एकत्र होते हैं। उसमें भगवान् बुद्ध की वैसी ही मूर्त्ति प्रकट होती है जैसी दक्षिण-भारत और बर्मा में शिलाओं पर खुदी हुई मिलती है। मैंने (योगी लीक ने) स्वप्न में उस स्थान के रास्ते का पता पाया था। वहाँ पहुँचकर मैंने चार सौ वर्ष के एक बूढ़े साधु को देखा था। तिब्बत के योगियों में सात मुखिया हैं, जिनमें चार यूरोपियन हैं और उन चारों में दो अँगरेज हैं। दो के नाम खूब प्रसिद्ध हैं लार्ड मोर्या और कुथुमी।"

इसी सिलसिले में योगी लीक ने अपना एक और अनुभव सुनाया—

"कुछ दिनों तक तिब्बत के बर्फीले पहाड़ों में बिना खाये-पिये घूमता फिरा। घूमते-घूमते कई दिन बीत गये। छठे या सातवें दिन एक साधु से भेंट हुई। मैंने उनसे कुछ खाने को माँगा। उन्होंने हाथ से बैठने का इशारा किया। मैं बैठ गया। इतने में बिना किसी तरह की सूचना या संकेत के तीन अन्य साधु कुटी में से निकल आये। वे उसी साधु के पास आकर खड़े हो गये और फिर बिना कुछ कहे-सुने चले गये। कुछ ही मिनटों के बाद वे भोज्य-सामग्री से सजे हुए थाल लेकर आये। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने साधु महाराज से पूछा—'ये लोग आपकी बात कैसे ताड़ गये?' उन्होंने मुझे समझाया— बिना बोले भी अपने विचार का प्रकाशन दूसरे के दिमाग पर बड़ी आसानी से डाला जा सकता है। इसी तरह अपने मनोगत भावों को दूसरे के मस्तिष्क पर प्रतिबिम्बित करके ही बातचीत करने का काम लिया जाता है।"

—(अँगरेजी से)

संस्कृत में यूरोपियनों का पाण्डित्य

मद्रास से 'इंडियन रिव्यू' (Indian Review) नाम का एक अँगरेजी मासिक पत्र निकलता है। उसके सम्पादक मि० नटेसन बड़े विद्वान और यशस्वी हैं। उसमें छोटे-छोटे बड़े ही उपयोगी लेख निकला करते हैं। अनेक विषयों पर उसके नोट भी बड़े मनोरंजक और सुपाठ्य होते हैं। जून, १९३१ ई० के अङ्क में एक पादरी ने संस्कृतज्ञ विद्वान यूरोपियनों का परिचय देते हुए चार पेज का एक सुन्दर लेख लिखा है। उससे मालूम होता है कि ईसाई मिशनरियों में संस्कृत के कैसे अच्छे-अच्छे विद्वान थे। पूरे लेख का आनन्द तो 'रिव्यू' में ही मिल सकता है, लेकिन कुछ खास बातें यहाँ पर दी जाती हैं—

"बेनफी साहब का कहना है कि गोआ-प्रान्त (पोर्चुगीज भारत) की मिशनरियों ने सोलहवीं सदी के अन्त से पूर्व ही संसार को वेदों के साथ हिन्दू-धर्म का सन्देश सुनाया था। फ़ादर—मिगल-दी-अलमोदा ने १६८९ ई० में पहिला वैदिक ग्रन्थ प्रकाशित किया था, जो

संभवतः संस्कृत-भाषा का सर्वप्रथम मुद्रित ग्रन्थ है। यह गोआ के सेण्टपाल सेमिनरी के एक मिशन प्रेस में छपा था।

"फादर हेनरिच राथ (Heinrich Roth) का नाम संस्कृतज्ञ यूरोपियनों में पहले लिया जाता है। आप जर्मन थे। १६२० ई० में पैदा हुए थे। १६५० ई० में गोआ पहुँचे। एशिया के अनेक भागों में घूमकर आप आगरा में १६४३ ई० से रहने लगे। वहीं छह वर्ष तक आपने संस्कृत का अध्ययन किया। आपने दो ग्रन्थ बनाये। एक विष्णु-अवतार पर संस्कृत में और दूसरा संस्कृत-भाषा पर लैटिन में। उन ग्रन्थों में संस्कृत के शब्द, वाक्य, श्लोक आदि नागराक्षर में लिखे गये थे।

"फादर हेनरिच राथ के भारत आने से भी ४० वर्ष पहले फादर रावर्ट-डी-नोबीली मदुरा में अड्डा जमाये हुए थे, जहाँ पर भारत-भर के विद्वान् ब्राह्मणों का प्रसिद्ध संघ और केन्द्र था। वे तमिल, तेलुगु और संस्कृत में धड़ल्ले से संघ के ब्राह्मणों से बातें करते थे। संस्कृत और तमिल-साहित्य के अलावा वे हिन्दू और जैन दर्शन-शास्त्र तथा धर्मशास्त्र के भी पण्डित थे। वे १६०६ ई० के अन्त में मदुरा पहुँचे थे। १६०७ ई० के अगस्त में वे मदुरा के पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए चैलेंज देने के योग्य हो गये। उन्होंने कई संस्कृत-ग्रन्थ भी लिखे थे, जिनमें मनुस्मृति, आपस्तम्ब-सूत्र, स्कन्द पुराण, कादम्बरी, पाराशरस्मृति, तैत्तिरीय संहिता आदि के उद्धरण भरे थे। सन् १६४० ई० में उनके समस्त ग्रन्थों के साथ उनकी कुटिया जला दी गई! वे दो बरसों तक कैद रक्खे गये!! आज उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं!!!

"फादर जे० फ्रांसिस पोन्स सन् १६९४ ई० में भारत आये। शुरू में तेलुगु-मिशन में रहते हुए वे संस्कृत पढ़ने लगे। जब वे बंगाल-मिशन के प्रधान नियुक्त होकर चन्दरनगर में आये (सन् १७३१-३२ ई० में), नदिया के संस्कृत-पण्डितों से उनका परिचय हुआ। वे शीघ्र ही संस्कृत में निपुण हो गये। १७३८ ई० में उन्होंने लैटिन में एक संस्कृत-व्याकरण लिखकर पेरिस भेजा था, जिसके संस्कृत-शब्द बँगला-अक्षरों में लिखे गये थे। सन् १७५२ ई० के अन्त या '५३ ई० के आरम्भ में उनका देहान्त हुआ।

"फादर जीन कालमिटी सन् १७२६ ई० में भारत आये। वे जीवन-भर तेलुगु-प्रान्त में रहे और वहीं १७३६ ई० में मरे। वे धारा-प्रवाह संस्कृत बोल और लिख सकते थे। उन्होंने ईसाई मत के प्रधान सिद्धान्तों को संस्कृत में कविता-बद्ध किया था। उपर्युक्त फादर नोबीली तो केवल तीन ही वेद के ज्ञाता थे और आप चारों वेदों के। आप ही ने १७३४ ई० और '३८ ई० में भी चारों वेदों को फ्रांस में भेजा था। आप फ्रेंच मिशनरी थे।

"इसी प्रकार, फादर कुर्डोक्स और फादर जॉन अर्नेष्ट हक्सलेडेन भी। कुर्डोक्स १७३२ ई० में भारत आये थे। १७३८ ई० तक आप तेलुगु-प्रान्त में रहे। पाण्डिचेरी में १७७६ ई० में मरे। आपने संस्कृत-शब्द-शास्त्र में अनेक महत्त्वपूर्ण अन्वेषण किये थे। उक्त फादर अर्नेष्ट १७७५ ई० में भारत आये थे। आप १६८१ में हंगरी में पैदा हुए थे। मालाबार प्रान्त के किसी स्थान में १७४२ ई० में आपका देहान्त हुआ। आप उपर्युक्त

फादर पोन्स और केलमिटी के समकालीन थे, पर उन लोगों से आपका कोई पत्र-व्यवहार नहीं मिलता। हाँ, इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि आपके संस्कृत-ज्ञान ने ट्रावंकोर के ब्राह्मण पण्डितों को चकित कर दिया था। आपने भी लैटिन में एक संस्कृत-व्याकरण लिखा था।"

कलकत्ता की इम्पीरियल लाइब्रेरी

कलकत्ता का अँगरेजी मासिक 'माडर्न रिव्यू' जगत्-प्रसिद्ध पत्र है। उसके स्वनामधन्य सम्पादक श्रीयुत् रामानन्द चटर्जी हिन्दी में 'विशाल-भारत' जैसा सर्वाङ्गसुन्दर साहित्यिक मासिक-पत्र निकालते हैं। उनके पत्र 'रिव्यू' के जून (१९३१) के अङ्क में मौलवी के० एम्० असदुल्ला बी० ए०, एफ्० एल्० ए० (इम्पीरियल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन) ने कलकत्ता की इम्पीरियल लाइब्रेरी पर चार पेज का एक बड़ा गवेषणापूर्ण लेख लिखा है। उसमें से कुछ जानने योग्य बातें यहाँ दी जाती हैं—

"कलकत्ता ब्रिटिश-साम्राज्य का दूसरे नम्बर का महानगर है। वह पूर्वीय जगत् का लन्दन है। उसकी एक यूनिवर्सिटी तो प्रसिद्ध है ही, दूसरी भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान है, और वह 'इम्पीरियल लाइब्रेरी' है।

"लार्ड विलियम बेंटिक ने सर चार्ल्स मेटकाफ को जब अधिकार सौंपा तो सर चार्ल्स ने बड़ी कौंसिल द्वारा भारतीय प्रेस-ऐक्ट की बहुत-सी रुकावटों को दूर कर दिया। इसलिए, वे भारतीय प्रेसों के मुक्तिदाता कहलाये और उनके प्रशंसकों ने उनकी स्मृति को स्थायी बनाने का इरादा किया। सन् १८३५ ई० के अगस्त में सर जे० पी० ग्रैंट की अध्यक्षता में एक सभा हुई। उसी में 'कलकत्ता-पब्लिक-लाइब्रेरी' नाम की संस्था स्थापित की गई। उसके लिए स्थान नियत हुआ डॉक्टर एफ्० पी० स्ट्रांग का मकान, जो एस्प्लेनेड रोड में था। इसी भवन में १८४१ ई० की जुलाई तक लाइब्रेरी रही। उस तारीख से जून १८४४ ई० तक फोर्ट विलियम के कालेज और राइटर्स-बिल्डिङ्ग में किताबें रक्खी जाती थीं। एक दूसरी संस्था और भी थी—'कृषि-समिति', जिसके औजारों और बीजों के रखने के लिए एक इमारत की जरूरत पड़ी। सन् १८३८ ई० की फरवरी में सोचा यह गया कि ऐसी एक ही कोई इमारत बनाई जाय, जिसमें दोनों संस्थाओं की चीजें रखी जा सकें। गवर्नमेंट ने हेयर स्ट्रीट और स्ट्रैंड रोड के मोड़ पर जगह दी। चन्दे से ७० हजार रुपये भी एकत्र किये गये। १९ दिसम्बर, १८४० ई० को बड़ी धूमधाम से नींव रक्खी गई। डाक्टर जेम्स ग्रैंट ने आधार-शिला रक्खी। कौंसिल के सभी मेम्बर और गवर्नर-जेनरल उस समय उपस्थित थे। १८४४ ई० में मेसर्स बर्न कम्पनी ने इमारत पूरी कर दी। उसका नामकरण हुआ, 'मेटकाफ-हॉल'। इमारत दो-तल्ला थी। नीचे कृषि-समिति की प्रदर्शनशाला रही और ऊपर कलकत्ता-पब्लिक-लाइब्रेरी। जनता की उदासीनता से इमारत बे-मरम्मत होकर गिरने लगी। सन् १८९९ ई० तक यही हाल रहा। सौभाग्यवश लार्ड कर्जन भारत के वायसराय होकर आ गये। उनके मन में इम्पीरियल लाइब्रेरी स्थापित करने की उत्कट अभिलाषा थी। भारत-सरकार के सेक्रेटेरियट में भी एक अच्छी लाइब्रेरी थी। लार्ड कर्जन ने दोनों

को सम्मिलित कर देना चाहा। २४ फरवरी, १८९९ ई० को इस दिशा में उद्योग भी आरम्भ हो गया।

"सन् १८३५ ई० में जब कलकत्ता-पब्लिक-लाइब्रेरी स्थापित हुई, तब गवर्नमेंट ने ४७५० पुस्तकें फोर्ट-विलियम-कॉलेज से ऋण-स्वरूप दी थीं, जिनमें से लगभग ३०० ग्रन्थ १८७१ ई० में 'इण्डियन म्यूज़ियम' को दे दिये गये। १८५१ ई० के जून में लाइब्रेरी की रजिष्ट्री हुई। २३ अगस्त, १८७१ ई० को प्राइवेट स्टॉक-कम्पनियों के रजिष्ट्रार के ऑफिस में भी रजिष्ट्री हुई। १८७३ ई० में एक उपसमिति बनी कि जिसके द्वारा इसकी व्यवस्था में उन्नति की जाय।

"सन् १८९९ ई० में कलकत्ता पब्लिक-लाइब्रेरी को सेक्रेटेरिएट की इम्पीरियल लाइब्रेरी के साथ मिला देने का जो उद्योग आरम्भ हुआ, लार्ड कर्जन ने उसे पूरा करके ही छोड़ा। बड़ी कौंसिल में 'इम्पीरियल लाइब्रेरी-ऐक्ट १९०२' नाम का एक बिल पेश होकर पास हुआ और भारत-मंत्री की स्वीकृति से एक लाइब्रेरियन का पद भी बनाया गया, जिस पर परीक्षार्थ पाँच बरसों के लिए लन्दन के ब्रिटिश-म्यूज़ियम के मि० जॉन मैकफर्लेन नियुक्त हुए। इमारत की मरम्मत हुई, किताबों की सूची बनी, १९०२ ई० के अन्त तक सारा काम फिट हो गया। ३० जनवरी, १९०३ ई० को एक लाख पुस्तकों के साथ वायसराय ने नई इम्पीरियल लाइब्रेरी का उद्‌घाटन किया।

"इस संस्था का सारा अधिकार केन्द्रीय सरकार के हाथों में है। लगभग तीन लाख ग्रन्थों का समुदाय संगृहीत हो जाने से जब 'मेटकाफ हाल' में इसके लिए प्रशस्त स्थान न रहा, तब १९२३ ई० के अन्त में लाइब्रेरी उठकर अपने वर्तमान नये भवन में चली आई। सन् १९३० के आरम्भ तक भारत-सरकार इसका खर्च देती रही, पर उसके बाद अब बंगाल-सरकार इसके वाचनालयों के लिए २० हजार रुपया वार्षिक सहायता देने लगी है। इसमें तीन वाचनालय हैं—एक सर्व साधारण जनों के लिए, एक खास-खास लोगों (रिसर्च-स्कॉलरों) के लिए और एक स्त्रियों के लिए। वाचनालय प्रतिदिन खुले रहते हैं। सिर्फ शनिवार को सुबह दस बजे से शाम सात बजे तक और रविवार तथा छुट्टियों के दिन सिर्फ दो बजे दिन से पाँच बजे शाम तक। १९२९-३० साल में करीब ४१ हजार पाठक इन वाचनालयों में आये और इनमें रक्खी हुई पुस्तकों के सिवा लाइब्रेरी की २६ हजार पुस्तकें पाठकों द्वारा काम में लाई गईं।

"इस इम्पीरियल लाइब्रेरी में अरबी और फारसी के हस्तलिखित ग्रन्थ बड़े मूल्यवान हैं। बर्दवान जिले के जमीन्दार मौलवी सईद सदरुद्दीन ने सन् १९०४ ई० में कुछ खास शर्तों के साथ वह अमूल्य संग्रह भेंट किया था। इस संग्रह में ४८५ अरबी और ४६० फारसी के बहुमूल्य ग्रन्थ हैं। इनमें से कोई भी ग्रन्थ कलकत्ता के बाहर नहीं जाने पाता। इस मूल्यवान संग्रह में सर्वश्रेष्ठ है 'तारीख-ए-'हिरात' (अफगानिस्तानी हिरात का इतिहास)। यह ग्रन्थ आठवीं सदी (हिजरी) के आरम्भ में लिखा गया था। इसके लेखक ने इसमें वर्णित घटनाओं को अपनी आँखों देखा था। लाइब्रेरी की ओर से यह प्रकाशित होनेवाला है।

"भारत के किसी भी भाग में रहनेवाला कोई भी बालिग आदमी यहाँ से पुस्तकें लेकर पढ़ सकता है। मेम्बरी या चंदे का कोई कायदा ही नहीं है। जो पुस्तक जिसे चाहिए, उसकी पूरी कीमत जमा करके, एक महीने की अवधि के लिए उसे वह ले सकता है। पुस्तकें बी० पी० से भी भेजी जाती हैं।

"१५ से २० हजार तक की रकम हर साल पुस्तकें खरीदने के लिए सरकारी सहायता के रूप में मिलती हैं। राष्ट्रसंघ (जेनेवा) के प्रकाशित ग्रन्थ इसे मुफ्त ही मिलते हैं। बंगाल की प्रकाशित बहुत-सी पुस्तकें भी बिना मूल्य आती हैं। गत चार वर्षों में उपहार-स्वरूप मिली हुई पुस्तकों की संख्या १२ हजार रही। १९२९-३० ई० में पार्लियामेंट और भिन्न-भिन्न देशी-विदेशी सरकारों की रिपोर्टें सात हजार से भी अधिक मुफ्त मिली थीं। भिन्न-भिन्न भाषाओं के ३१६ पत्र आते हैं। इनमें कुछ वाचनालयों में रखे जाते और कुछ माँगने पर दिये जाते हैं। इनमें करीब आधे पत्र तो प्रकाशकों द्वारा मुफ्त मिलते हैं।

"भारतीय भाषाओं के ग्रन्थों में सबसे अधिक ग्रन्थ बँगला के हैं। संस्कृत, हिन्दी उर्दू आदि के ग्रन्थ भी बहुसंख्यक हैं। ग्रंथकार और विषय के विभाग के क्रम से पुस्तक-सूचियाँ बनाई गई हैं। पत्र-पत्रिकाओं की भी सूची है। एक दर्जन से भी अधिक ऐसी बड़ी-बड़ी सूचियाँ हैं। सब-की सब छपी हुई हैं और बिकती हैं या पुस्तकों की तरह वितरित भी होती हैं। कलकत्ता से बाहर के पाठक मजे में इन पुस्तक-सूचियों को खरीद कर लाभ उठा सकते हैं। खेद है कि इतनी सुविधाओं के रहते हुए भी, जैसा चाहिए वैसा लोग इससे लाभ नहीं उठाते—विशेषतः बंगाल के बाहर के लोग।" —(अँगरेजी से)

—मासिक 'हंस' (काशी); वर्ष १, संख्या १२, संवत् १९८८ वि० (सन् १९३१ ई०)

•

अदृश्य के चरणों में

वासांसि व्रजचारिवारिजदृशां हृत्वा हठादुच्चकै—
र्यैः प्राग्भूरुहमारुरोह स पुनर्वस्त्राणि विस्तारयन्।
व्रीडाभारमपाचकार सहसा पाञ्चालजायाः स्वयं
को जानाति जनो जनार्द्दनमनोवृत्तिः कदा कीदृशी ॥

तुम परम पिता, मैं तुम्हारी कोटि-कोटि सन्तानों में से एक! तुम क्षीरसागरशायी, मैं तुम्हारे दिये हुए दो बूँद दूध का पला एक पुतला। तुम सत्य, ज्ञान और आनन्द के निधि; मैं उस निधि के एक बिन्दु का चातक। तुम शक्ति और शोभा के भाण्डार, मैं एक क्षुद्र भिक्षुक! तुम कल्पद्रुम, मैं याचक। तुम मोक्ष और कल्याण के दाता, मैं दोनों के लिए अयोग्य पात्र!

प्रभो ! कुछ भी तो नहीं है—न श्रद्धा है, न भक्ति है, न प्रेम है, न विश्वास है, न निष्ठा है, न ज्ञान है, न कोई अनुष्ठान है, न पुण्य-संचय किया है, 'न जानामि योगं जपं नैव पूजां'—सब तरह से हीन हूँ—गया-बीता हूँ, फिर भी इच्छा है कि तुम्हारे ही चरण-पल्लवों की शीतल छाया में ये प्राण-पखेरू विश्राम करें। जरा इस उपहासास्पद दुस्साहस पर भी तो रीझो।

जानते हो, मैं तुम्हें क्यों भजता हूँ? तुम्हें भजता इसलिए हूँ कि स्वार्थ-सिद्धि हो, धन-धान्य मिले, सुख-शान्ति मिले, भुक्ति-मुक्ति मिले, धरा-धाम मिले, राज-पाट मिले—कुछ-न-कुछ मिले जरूर, और ऐसा मिले कि फिर तुम्हारी कोई जरूरत न रहे। क्या माया-पति होकर भी तुम इस मायावी स्वार्थी की चालबाजी नहीं समझते?

अगर तुम कुछ देने योग्य न होते, तो कम-से-कम मुझे तो तुम हरगिज न सूझते। चूँकि, मेरी दृष्टि में तुम बहुत बड़े दाता देख पड़ते हो, इसीलिए मैं तुम्हारे पीछे पड़ा हुआ हूँ। शायद एक-तिहाई से भी अधिक दुनिया इसीलिए तुम्हारा पिण्ड नहीं छोड़ती कि तुम बहुत बड़े—बड़े-से-बड़े—सबसे बड़े दाता हो। 'मलूकदास के अजगर' को तुम्हीं रोजी पहुँचाते हो। पत्थर की चट्टान के अन्दर पड़े हुए कीड़े को तुम्हीं खूराक देते हो, नेत्रहीन और पक्षहीन वृद्ध विहंग तुम्हारा ही आश्रित है और मातृगर्भ का कोमल बच्चा तुम्हारे ही सहारे से जीता है। कहाँ तक गिनाऊँ?

जल दिया तुमने, पीकर जी रहा है सारा संसार। थल दिया तुमने, आश्रय पा रहा है सारा संसार। हवा भी दी तुम्हीं ने, प्राणिमात्र की जीवनाधार। सूर्य-जैसा तेजस्वी प्रकाश, चन्द्रिका-जैसी अमृतमयी ज्योति, वर्षा-जैसी जीवन-दायिनी ऋतु, वसन्त-जैसा हृदया-ह्लादक, धेनु-जैसी साक्षात् लक्ष्मी, हाथी-घोड़े-जैसे सुन्दर वाहन—सब दिये, क्या नहीं दिये?—फल दिये, फूल दिये, अन्न दिये, वस्त्र दिये और सबसे बढ़कर दिया इन सारे ऐश्वर्यों के उपभोग करने का ज्ञान।

कौन देगा इतना? तुम्हारे सिवा इतना वैभव है ही किसके पास? यही समझकर तुम्हारा नाम लेता हूँ। विपत्तियों से घिर जाता हूँ, चारों ओर से हताश हो जाता हूँ, हर तरह से असहाय हो जाता हूँ—क्या करूँ? ऐसे ही समय में तुम्हारी याद आती है, ऐसे ही समय में तुम्हें पुकारता हूँ—फिर कभी तुम याद ही नहीं पड़ते, ऐसा क्यों? क्या एकमात्र विपद्बन्धु तुम्हीं हो?

जहाँ देखता हूँ—सम्पत्ति में तुम छिपे हो और विपत्ति में प्रकट! यह कैसा खेल? गज को ग्राह ने पकड़ा, द्रौपदी को दुःशासन ने छेड़ा, ध्रुव को माता ने फटकारा, प्रह्लाद को पिता ने—पाण्डवों को कौरवों ने—सुग्रीव को बालि ने—व्रजवासियों को कंस ने—गो-विप्रों को रावण ने—सताया, तुम सब जगह थे; पर कहीं किसी उत्सव में तुम्हारा पता ही नहीं लगता। सच कहो, हे निर्बलों के बल! हे दीनों के अवलम्ब! हे पीड़ितों के बन्धु! भला, आनन्दकन्द होकर भी तुम केवल विपत्ति में ही क्यों प्रकट होते हो? क्या इसीलिए तुम जगदेकबन्धु कहलाते हो?

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता); श्रावण, संवत् १६८२ वि०, (सन् १६२५ ई०)

ईश्वर-प्रार्थना का अभ्यास

ईश्वर की प्रार्थना का, मनुष्य के जीवन में, बड़ा महत्त्व है। मनुष्य का जीवन, अनेक प्रकार की कठिनाइयों, नाना प्रकार के रोगों और संकटों से भरा हुआ है। सफलता और असफलता, लाभ और हानि, हर्ष और विषाद, सुख और दुःख मनुष्य के जीवन के साथी हैं। मनुष्य अपने जीवन में कभी डर से कराहता है, कभी निराशा से घबराता है, कभी विघ्न-बाधाओं से चकराता है, कभी आनन्द में मग्न होकर मुस्कुराता है। इस तरह मनुष्य के जीवन में सुख-दुःख की आँख-मिचौनी होती रहती है।

ऐसे प्रकाश और अन्धकार तथा धूप और छाँह से भरे जीवन में ईश्वर-प्रार्थना से बड़ा सहारा मिलता है। जो ईश्वर में विश्वास ही नहीं करता वह सुख में फूलता और अपने सुख को अपने परिश्रम अथवा भाग्य का फल मानता है, तथा दुःख में अधीर होकर नाना प्रकार के तर्क करता है। किन्तु, ईश्वर में विश्वास करनेवाला मनुष्य हर हालत में ईश्वर-प्रार्थना से काम लेता है। वह सदा ईश्वर-प्रार्थना के बल पर निश्चिन्त रहता है।

मनुष्य के लिए ईश्वर-प्रार्थना का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। बालपन से जिस काम की लगन लग जाती है, वह काम आगे बराबर आसान होता जाता है। उस काम में लगने से मन को कभी हिचक नहीं होती। वह काम धीरे-धीरे स्वभाव बन जाता है। इसलिए, यदि बालपन से ही ईश्वर-प्रार्थना में मन रम जाय, तो आगे के जीवन में उन्नति और सुख-शान्ति का ताँता बँधा रहेगा।

जो ईश्वर-प्रार्थना का अभ्यासी होता है, वह अपने मन में कोई अभिलाषा रखकर ईश्वर से प्रार्थना नहीं करता। वह अपना मनोरथ और भविष्य ईश्वर को ही सौंप देता है। सदा ईश्वर-प्रार्थना करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। जो अपना कर्त्तव्य मानकर ईश्वर की प्रार्थना करता है, उसकी सभी इच्छाएँ आप-से-आप पूरी होती जाती हैं। अपनी इच्छा पूरी करने या कराने की नीयत से जो प्रार्थना करता है, वह अपना कर्त्तव्य नहीं पालता।

ईश्वर-प्रार्थना जब मनुष्य की प्रकृति बन जाती है, तब बहुत आनन्द आता है। ईश्वर-प्रार्थना का सदा अभ्यास करते रहने से ही उस आनन्द का अनुभव हो सकता है। वह लिखकर या कहकर नहीं बतलाया जा सकता।

जो मनुष्य सच्चे मन से नित्य ईश्वर-प्रार्थना करेगा वह दिन-दिन कल्याण की राह पर आगे बढ़ता जायगा। उसके जीवन में क्लेश भी आवेगा तो देखते-देखते कट जायगा। संकट में धीरज नहीं छूटेगा, साहस नहीं टूटेगा। विपत्ति में उसको अनायास सहायक मिल जायँगे। सभी अच्छे गुण अनायास उसके पास आ जायँगे।

ईश्वर-प्रार्थना के लाभ नहीं गिनाये जा सकते। वे लाभ केवल दृढ़ विश्वास से ही प्राप्त होते हैं। ईश्वर में जिसका विश्वास ही नहीं, उसके साथ तर्क या हुज्जत नहीं करना चाहिए। युक्ति या उपाय से ईश्वर में विश्वास नहीं कराया जाता। शुद्ध हृदय में वह विश्वास शीघ्र जम जाता है।

ईश्वर-प्रार्थना के लिए प्रातः-संध्या का समय तो ठीक ही है। परन्तु, दिन-रात का हरएक क्षण-पल इसके लिए अनुकूल है। जहाँ रहो, जैसे रहो, जब चाहो, मन-ही-मन ईश्वर-प्रार्थना करते रहो। उस प्रार्थना की शक्ति और महिमा का तुम्हें स्वयं अनुभव होगा।

—मासिक 'वीर बालक' (जमालपुर, मुँगेर); वर्ष ३, अंक ७ (सन् १९५५ ई०)

•

बिहार की साहित्य-साधना—गद्य के क्षेत्र में

केवल हिन्दी में ही नहीं, संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश और मागधी तथा मैथिली में भी बिहार के साहित्यकारों की पुरानी गद्य-रचनाएँ मिलती हैं। बाणभट्ट से ज्योतिरीश्वर ठाकुर तक और सदल मिश्र से बेनीपुरी तक गद्य-रचना की परम्परा अटूट मिलती है। किन्तु, बिहार में अबतक प्राचीन पोथियों की खोज का काम यथेष्ट तत्परता से नहीं हुआ है। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी और नेपाल की राज-लाइब्रेरी तथा काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से एकाध पुरानी पुस्तकें मिल या निकल गईं तो उससे इतिहास की कड़ियाँ नहीं जुड़ सकतीं। अभी अनेक पुस्तकों की खोज और छपाई के लिए लगातार कोशिश करने की जरूरत है।

प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का अबतक जो पता लगा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकतर पद्य-ग्रन्थों की ही रचना पहले हुआ करती थी। इससे जान पड़ता है कि गद्य की पुस्तकों की पांडुलिपियाँ, कभी तैयार ही नहीं की जाती थीं। प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, मैथिली आदि में गद्य की पुरानी पुस्तकें हैं, जिनके नाम और लेखक का पता लगता है, वे अभी तक छप ही नहीं सकी हैं। बहुतों के तो अस्तित्व का भी पता नहीं है। किन्तु, इतना तो अनुमान होता ही है कि पद्यात्मक रचनाओं के बाहुल्य के बीच गद्य की धारा भी बराबर चलती रही है, भले ही उसकी गति मन्द रही हो। इस देश में संग्रहालयों का अभाव होने से अप्रकाशित पुस्तकों की तो बात ही क्या, भारतेन्दु-युग में छपी हुई गद्य-पुस्तकों के भी दर्शन दुर्लभ हैं। यहाँ तक कि अत्यन्त आधुनिक द्विवेदी-युग की कितनी ही महत्त्वपूर्ण मुद्रित गद्य-पुस्तकें अब कहीं नहीं मिल रही हैं। फिर भी, उल्लेखनीय गद्य-पुस्तकों के नाम तो सुने ही जाते हैं।

महाकवि विद्यापति के प्रपितामह-भ्राता ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्ण-रत्नाकर' और आरानिवासी पं० सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' अथवा 'चन्द्रावती' को ही बिहार की गद्य-साधना का उद्‌गमस्थल मानकर अभी तक सन्तोष करना पड़ रहा है, क्योंकि सुनी-सुनाई गद्य-रचनाओं के उल्लेख से कोई प्रामाणिक और विश्वसनीय बात नहीं प्रकट हो सकती।

जहाँ तक हिन्दी-गद्य का सम्बन्ध है, अठारहवीं सदी के आरम्भिक वर्षों (१७०३) का लिखा एक पुराना शिलांकित गद्यलेख बिहार के भगवान मिश्र मैथिल का मिलता है, जो मध्यप्रदेश के बस्तर-राज्य के दन्तावारा ग्राम में पाया गया था और जिसका उल्लेख 'मिश्र-

बन्धुविनोद' के दूसरे भाग में तथा द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' में मिलता है। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों (१८०३) में पं० सदल मिश्र ने जो गद्य-रचना की, उसका पुराना अविकसित रूप भगवान मिश्र के शिलालेखवाले गद्य में झलकता है। एक सौ वर्ष अथवा पूरी एक शताब्दी का अन्तर पड़ने पर भी दोनों मिश्रमहोदयों के गद्य इस बात का अनुमान एवं अनुभव कराने में सहायक होते हैं कि प्राकृत में लिखे जैन धर्म के गद्य-ग्रन्थों और पाली में लिखी जातक-कथाओं की गद्यशैली किस प्रकार बिहार के जन-समाज के अनवरत व्यवहार-क्रम में पड़कर हिन्दी की गद्य-परम्परा का निर्माण करने में समर्थ हुई है। यह अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन-मनन एवं अनुशीलन-परिशीलन का विषय है, अतः श्रमसाध्य एवं समयसापेक्ष है।

पंडित सदल मिश्र के बाद लगभग साठ-सत्तर वर्षों तक बिहार की साहित्य-साधना में विशेषतः पद्य की ही प्रधानता रही, कोई उल्लेखनीय गद्य रचना प्रकट न हुई। पद्य भी व्रजभाषा की शैली में ही लिखे गये, छिट-फुट गद्यरचनाएँ भी जो प्रकट हुईं, वे जैनधर्म के अनुयायियों के द्वारा लिखी हुई कुछ धार्मिक नियमावली-सी चीजें थीं, जो केवल व्यक्तिगत उपयोग के लिए लिखी गई होंगी। कैथी अक्षरों अथवा शिरोरेखाविहीन नागराक्षरों में लिखी रामकृष्ण की और पुराणों की कुछ कथाएँ भी गद्य में लिपिबद्ध हुईं, पर वे भी साहित्य-सृष्टि करने के अभिप्राय से नहीं लिखी गईं, बल्कि आपस की बैठकबाजी में पढ़ सुनाने के उद्देश्य से याददाश्त के रूप में ही थीं, जिनका कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं आँका जा सकता। वस्तुतः आधुनिक गद्य-युग भारतेन्दु-काल से ही आरम्भ होता है। उससे पहले की जो गिनी-चुनी गद्य-रचनाएँ नसीब होती हैं, वे अनामिका को ही सार्थक करनेवाली हैं। संभव है कि अब आगे आनेवाले समय में खोज होने पर कुछ ऐसी मौलिक गद्य-रचनाएँ मिल सकें, जो रचनात्मक प्रेरणा अथवा धारणा से लिखी गई हों। कुछ ज्यौतिष और आयुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाली पुरानी पोथियाँ यत्र-तत्र देखने में आई हैं, जो खास पढ़े या सीखे-सुने विषय को चिरस्मरणीय बनाये रखने अथवा वंश-परम्परा के लिए व्यवहारोपयोगी बनाने के लक्ष्य से लिखी गई थीं। ऐसी गद्य-रचनाएँ ज्यौतिषी और वैद्य-घरानों में ही हैं, जिनकी न अपनी कोई शैली है और न भाषा की प्रकृति अथवा उसके नियमों की रक्षा का निर्वाह। इससे स्पष्ट है कि गद्य-साधना का जो अरुणोदय सदल मिश्र के समय देख पड़ता है वह अपराह्न-पर्यन्त अर्थात् उन्नीसवीं सदी के तीसरे चरण तक, बदरीले वातावरण से ही ढका रहा और वह वातावरण प्रायः पद्य के प्रभाव से अभिभूत था।

हिन्दी-गद्य के प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल का श्रीगणेश तो सन् १८६३ ई० में ही हो चुका था, जब उनकी अवस्था तेरह वर्ष की थी, पर उनका वास्तविक रचना-काल सन् १८६८ ही माना जाता है, जब वे अठारह वर्ष के नवयुवक ही थे और लगभग तेईस वर्ष की युवावस्था में, अर्थात् सन् १८७३ ई० में, उन्हें यह अनुभव हुआ कि हिन्दी नये साँचे में ढली है, जिसका उल्लेख भी उन्होंने कर दिया है अपनी डायरी में। वही सन् १८७३ बिहार में भी आधुनिक गद्य का सुप्रभातकाल है। सन् १८७२ में बिहारशरीफ-निवासी पं० मदनमोहन भट्ट और उनके प्रिय भाई पं० केशवराम भट्ट के सत्प्रयत्न से कलकत्ता में 'बिहारबन्धु' नामक साप्ताहिक पत्र का जन्म हुआ, जो अधिकतर बिहार के हिन्दी-पाठकों

और हिन्दी-लेखकों के बल पर ही चलता रहा। जब वह पत्र सन् १८७४ ई० में बिहार की तात्कालिक राजधानी कलकत्ता से वर्त्तमान राजधानी पटना में चला आया तब बिहार की गद्य-साधना में नवजीवनशक्ति का संचार हुआ। यों तो इससे भी कुछ साल पहले सरकारी शिक्षा-विभाग के निर्देशक पं० भूदेव मुखोपाध्याय और उनके द्वारा प्रोत्साहन पाये हुए पटना के कुछ पाठ्यपुस्तक-लेखक बिहार में गद्य को एक सीमित क्षेत्र में तैयार करने में लगे हुए थे, पर 'बिहारबन्धु' के जन्मदाता सम्पादक भट्टबन्धुओं ने उस सीमित क्षेत्र को बहुत विस्तृत और उर्वर कर दिया।

भारतेन्दु-युग के बिहारी गद्यकारों में भारतेन्दुसखा महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह ने 'बिहारदर्पण' लिखा, जिसकी प्रशंसा स्वयं भारतेन्दु ने भी की थी। बाबू शिवनन्दन सहाय ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी लिखी, जो हिन्दी में अब तक अपने ढंग की अकेली मौलिक जीवनियाँ हैं। सूर्यपुरा के राजराजेश्वरीप्रसाद सिंह जी बड़े ललित गद्य के लेखक थे, जिनकी काव्यात्मक गद्य-शैली में कवीन्द्र रवीन्द्र की 'चित्रांगदा' का अनुवाद उनकी ग्रंथावली में प्रकाशित है। इनके अतिरिक्त 'विद्याधर्म-दीपिका' नामक मासिक पत्रिका के सम्पादक चम्पारननिवासी पं० चन्द्रशेखरधर मिश्र और 'मोतीचूर' मासिक पत्र के सम्पादक मुन्शी हसन अली भी उस युग के सुपरिचित गद्यकार थे। यों तो पं० दामोदर शास्त्री, पं० रुद्रदत्त सम्पादकाचार्य, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० बिहारीलाल चौबे आदि की साहित्य-साधना भी बिहार के गद्य-क्षेत्र में बड़े महत्त्व की सिद्ध हुई। उसी युग में बाबू बालमुकुन्द गुप्त के मतानुसार 'द्वितीय भारतेन्दु' पं० प्रतापनारायण मिश्र भी, अधिकतर समय पटना में ही बिताते थे, क्योंकि उनका प्रिय मासिक 'ब्राह्मण' पटना के खड्गविलास प्रेस में ही छपता था और उनकी अधिकांश रचनाएँ भी वहीं छपी थीं, इसलिए बिहार उनका कार्यक्षेत्र ही बन गया था। वे गद्य के सिद्धहस्त लेखक और महारथी थे।

द्विवेदी-युग में बिहार के गद्यकारों की सेवाएँ अत्यन्त गौरवपूर्ण हैं। पं० रामावतार शर्मा, पं० सकलनारायण शर्मा, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, पं० भुवनेश्वर मिश्र, पं० विजयानन्द त्रिपाठी, पं० चन्द्रशेखर शास्त्री आदि विद्वान् गद्यकारोंने बिहार का बहुत गौरव बढ़ाया। पं० रामावतार जी ने 'यूरोपीय दर्शन' लिखा, सकलनारायण जी ने 'हिन्दी सिद्धान्त प्रकाश' लिखकर तथा 'शिक्षा' के सम्पादन द्वारा गद्य-संस्कार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। जायसवालजी 'सरस्वती' के प्रतिष्ठित लेखकों में थे। भुवनेश्वर मिश्र ने पहला मौलिक उपन्यास 'घराऊ घटना' नाम से लिखा। विजयानन्द जी ने संस्कृत से हिन्दी अनुवाद करने में अपूर्व पांडित्य प्रदर्शित किया। चन्द्रशेखर शास्त्री ने वाल्मीकीय रामायण, श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि के स्वाभाविक अनुवाद में गद्य पर अपना सुदृढ़ प्रभुत्व दिखला दिया। उसी युग में हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के चमत्कारपूर्ण व्यंग्य-विनोद से हिन्दी-संसार सजीव बना रहा। बाबू व्रजनन्दनसहाय के 'सौन्दर्योपासक' उपन्यास को 'सरस्वती' में राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी ने हिन्दी का सबसे पहला मौलिक साहित्यिक उपन्यास कहा था। पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा केवल बिहार के ही नहीं, समस्त हिन्दी-संसार के गद्यकारों और पत्रकारों में प्रशंसनीय प्रतिष्ठा के अधिकारी

हुए थे। 'मेघदूत-विमर्ष' के लेखक पं० रामदहिन मिश्र, प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र, पं० जनार्दन झा 'जनसीदन', श्री पारसनाथ सिंह आदि 'सरस्वती' के प्रायः नियमित लेखक और आचार्य द्विवेदी जी के कृपापात्र बड़े सफल गद्यकार थे, यद्यपि ये खड़ी बोली के पद्य भी लिखा करते थे। 'कमला' और 'प्रजाबन्धु' के सम्पादक पं० जीवानन्द शर्मा और 'सत्ययुग' के सम्पादक पांडेय जगन्नाथप्रसाद, 'संपत्तिशास्त्र' के लेखक पं० राधाकृष्ण झा आदि बड़े प्रौढ़ गद्यलेखक थे।

द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध कुछ कम महत्त्वपूर्ण न रहा। इस उत्तरकाल में भी बिहार के गद्यकारों की साहित्य-साधना संतोषप्रद रही। देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य बदरीनाथ वर्मा, पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, 'हरिश्चन्द्रकला' और 'किसान' के संपादक श्री नरेन्द्रनारायण सिंह, बाबू कालिका प्रसाद, पं० नन्दकिशोर तिवारी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह आदि के द्वारा बिहार में कई पत्र सम्पादित और कई ग्रन्थ निर्मित हुए, जिनकी गद्य-शैली बहुत प्रभावशालिनी सिद्ध हुई। उससे होनहार नवयुवक लेखकों को प्रेरणाएँ मिलीं। पूज्य राजेन्द्र बाबू की 'आत्मकथा' और 'बापू के कदमों में' नामक पुस्तकों ने हिन्दी-गद्य को एक नई दिशा सुझाई है। राजा साहब की गद्य-शैली ने अपना एक नया ही मार्ग निकाला है, जो बड़ा हृदयग्राही और चित्ताकर्षक है। इन दोनों गद्यकारों की भाषा-शैली ने बिहार की ओर से हिन्दी-संसार को एक अनूठी गद्य-रचना-पद्धति प्रदान की है। राजा साहब ने हिन्दी-गद्य को उर्दू की चुस्ती, मस्ती लोच और फड़क दी है और उसमें वे अभिव्यंजना के नये प्रकार भी लाने में समर्थ हुए हैं।

आधुनिक युग के शिक्षा-प्रचार-क्षेत्र में श्री रामदहिन मिश्र और श्री रामलोचनशरण ने छात्रोपयोगी सरल गद्य और शिक्षा-सम्बन्धी पाठ्य विषयों पर सुबोध गद्य-पुस्तकें लिखने में बड़ी सफलता प्रदर्शित की है। बाल साहित्य का निर्माण इनके उद्योग से बहुत हुआ है। इसमें श्रीबेनीपुरी जी का सहयोग विशेष उल्लेख्य है।

बिहार के आधुनिक गद्यकारों में विशेष रूप से कुछ ऐसे विशिष्ट लेखकों का नामोल्लेख होना अत्यावश्यक है, जिनकी गंभीर, ललित, सरस और ओजस्विनी रचनाओं से बिहार का मस्तक उन्नत हुआ है और जिनके विचारों से हिन्दी-जगत् प्रभावित भी हुआ है। ऐसे लेखकों में श्री जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव, श्री बेनीपुरी, श्री वियोगी, श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र, श्री राधाकृष्ण, श्री नलिन विलोचन शर्मा, श्री रामधारी सिंह दिनकर, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, श्री जयकिशोर नारायण सिंह, प्रोफेसर नवलकिशोर गौड आदि ने काफी कीर्त्ति और ख्याति पाई है। इनके गद्य में ओज और प्रसाद गुणों के साथ गंभीरता और सरसता भी रहती है।

वर्त्तमान पीढ़ी के गद्यकार नई पीढ़ी या उगती पीढ़ी को, पर्याप्त चिन्तन-मनन-सामग्री दे रहे हैं। यों तो व्यंग्य-विनोद, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयों पर भी बिहार के गद्यकारों की काफी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं और होती जा रही हैं। आगे आनेवाला समय ही बतलावेगा कि बिहार के गद्यकारों से हिन्दी की कितनी सेवा बन पड़ी।

—ऑल इंडिया रेडियो (पटना); सन् १९५१ ई०

साहित्य-चर्चा*

१—'समग्र केलकर-वाङ्मय'

यह एक ग्रन्थ का नाम है। महाराष्ट्र-प्रान्त के प्रसिद्ध नेता श्री नृसिंह-चिन्तामणि केलकर की समग्र रचनाओं का इसमें संग्रह है। इसके बारह खंड हैं। तेरहवें और चौदहवें खंड भी निकलनेवाले हैं; क्योंकि ग्रन्थकार प्रसिद्ध साहित्यसेवी हैं और बराबर लिखते ही चले जा रहे हैं। बारहो खंड का दाम ५०) है। सभी खंड सजिल्द हैं और मेज पर उन्हें सजाने के लिए प्रकाशक ने लकड़ी का एक सुन्दर 'केस' भी बनवा रखा है, जो प्रत्येक खरीदार को मिलता है। इस ग्रन्थ का प्रकाशक है मनोहर ग्रन्थमाला-कार्यालय, १६६।३३ सदाशिव पेठ, पूना। इसमें १२५०० पृष्ठ हैं। इसमें श्री केलकर के लिखे नाटक, इतिहास-ग्रन्थ, जीवनचरित आदि तो हैं ही—उनके स्फुट लेखों का भी सम्पूर्ण संग्रह है। मराठी 'केसरी' में उन्होंने जितने राजनीतिक लेख लिखे थे (यहाँ तक कि सम्पादकीय अग्रलेख और टिप्पणियाँ भी), सबका इसमें संकलन किया गया है। इसमें उनकी दार्शनिक और हास्य-व्यंग्य-सम्बन्धी रचनाएँ भी हैं। तात्पर्य यह कि उनकी एक-एक पंक्ति बहुमूल्य समझकर इसमें सुरक्षित कर दी गई है। बङ्गाल के नेता देशबन्धु दास जिस प्रकार राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में समान रूप से लब्ध-प्रतिष्ठ थे, उसी प्रकार महाराष्ट्र में श्री केलकर भी हैं। सम्भवतः श्री केलकर के सिवा किसी भारतीय लेखक को आज तक यह सौभाग्य प्राप्त न हुआ कि अपने जीवन-काल में ही अपनी समस्त रचनाओं को सर्वाङ्ग-सुन्दर ग्रन्थावली के रूप में देख ले। हिन्दी के किसी लेखक को तो मरने के बाद भी ऐसा सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। बँगला में वसुमती-साहित्य-मन्दिर (कलकत्ता) से बंगभाषा के स्वर्गीय साहित्य-सेवियों की अनेक ग्रन्थावलियाँ निकली हैं। हिन्दी में इस तरह के एक-दो प्रयत्न हुए भी हैं तो अधूरे ही। भारतेन्दु-ग्रन्थावली काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा से निकलने लगी; पर पूरी न निकल सकी। भारतेन्दु-सखा 'प्रेमघन' जी की ग्रन्थावली हिन्दी में कहाँ है? पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० किशोरीलाल गोस्वामी आदि अनेक हिन्दीभक्तों की ग्रन्थावलियों का प्रकाशन अत्यावश्यक है। किन्तु, अन्य भाषाओं में ऐसे शुभ उद्योग देखकर भी हिन्दीवाले कुछ करते-धरते नहीं नजर आते। 'समग्र केलकर-वाङ्मय' के समान अमूल्य ग्रन्थ हिन्दी में देखने का कब सौभाग्य प्राप्त होगा? इस तरह के प्रश्न का ठीक उत्तर अभी वर्षों बाद मिलेगा। —साप्ताहिक 'नवशक्ति' (पटना); अप्रैल, १६३८ ई०

२—दैनिकों के साप्ताहिक विशिष्ट संस्करण

अँगरेजी के कुछ दैनिक ऐसे हैं जो प्रति रविवार को अपना एक विशिष्ट अङ्क निकालते हैं। उसमें वे अच्छे-अच्छे लेखकों से लिखवा कर विविध विषय के रुचिकर लेख छापते हैं, जो अधिकतर सचित्र होते हैं। हिन्दी में अभी यह प्रणाली नहीं चली है।

*इस शीर्षक के अन्तर्गत अनेक छोटे-मोटे साहित्यिक लेख और संक्षिप्त साहित्यिक टिप्पणियाँ कई सामयिक पत्रों में छपी थीं; पर वे सब नहीं मिल सकीं, जो मिलीं सो ही छपीं।—लेखक

दैनिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता) सोमवार को कुछ पृष्ठ-संख्या बढ़ा देता है और दैनिक 'हिन्दुस्तान' (दिल्ली) कभी-कभी अतिरिक्त अङ्क निकाला करता है। दैनिक 'हिन्दी-मिलाप' (लाहौर) भी यदा-कदा ऐसा करता है। किन्तु, 'स्टेट्समैन', 'अमृतबाजार पत्रिका' आदि अँगरेजी-दैनिकों के जैसे 'सण्डे नम्बर' निकला करते हैं, वैसे हिन्दी के किसी दैनिक के नहीं निकलते। यद्यपि हिन्दी-दैनिकों की स्थिति ऐसी नहीं है कि वैसा प्रयास करें, तथापि सप्ताह में एक दिन उन्हें अपने पाठकों को कुछ ऐसा उपहार देना चाहिए, जिससे वाचकों का विशेष मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन हो सके। इस शैली का आरम्भ करने में मासिक पत्रों से दैनिकों को बड़ी सहायता मिल सकती है। जहाँ-जहाँ दैनिक पहुँचते हैं, वहाँ मासिक बहुत कम पहुँच पाते हैं। मासिकों में सर्वसाधारण जनता के लिए बहुत कुछ उपयोगी मसाला मिल सकता है। अँगरेजी-दैनिकों के रविवार-संस्करण से तो बहुत अच्छी सामग्री मिल सकती है। इससे दैनिकों की लोकप्रियता बढ़ सकती है। और जनता का भी बड़ा उपकार हो सकता है। दैनिकों के पास 'संकलन' के लिए काफी स्थान रहता है। आखिर अँगरेजी-पत्रों से हिन्दी-दैनिकों को बहुत-कुछ सहारा मिलता भी है। फिर क्यों न यह रीति हिन्दी में भी चले कि सप्ताह में किसी निश्चित दिन को दैनिकों के सुसम्पादित विशिष्ट संस्करण निकला करें, जिनमें मुख्य-मुख्य समाचारों के अतिरिक्त पढ़ने योग्य सुरुचिपूर्ण लेखादि भी रहें। धीरे-धीरे पाठकों में ऐसी रुचि पैदा हो सकती है जिससे आगे चलकर दैनिकों के इस नवीन प्रयास में विशेष सफलता हो। स्वास्थ्य, विज्ञान, कृषि, उद्योग-धन्धा, कला-कौशल, जीव-जन्तु, पशु-पालन, पशु-चिकित्सा, ग्रामसुधार आदि अनेक लोकोपकारी विषयों की चर्चा से दैनिकों के साप्ताहिक संस्करण सर्वोपयोगी बन सकते हैं। हमारे देश की जनता इतिहास-भूगोल की महत्त्वपूर्ण बातें बहुत ही कम जानती है। ऐसा देखा गया है कि भूगोल का ज्ञान कम रहने से देश-विदेश के समाचारों के समझने में लोगों को बड़ी कठिनाई होती है। दैनिकों के विशिष्ट संस्करण इस कठिनाई को धीरे-धीरे दूर कर सकते हैं। दैनिक 'आज' में 'नोटबुक के पन्ने' और दैनिक 'विश्वमित्र' में 'विविध वार्त्ता', 'समाज-चर्चा' आदि शीर्षकों में प्रायः अच्छी पाठ्य-सामग्री निकल जाती है, जो इस समय 'अभावे शालिचूर्णम्' से कुछ अच्छी ही है। परन्तु, फिर भी विशिष्ट साप्ताहिक संस्करणों की आवश्यकता प्रतीत होती ही है। यदि हिन्दी-दैनिकों के संचालक और सम्पादक इस विषय पर विचार करें, तो उन्हें जनता के लाभ के साथ-साथ अपना लाभ भी सूझ सकता है। साथ ही, हिन्दी के पत्र-संसार में एक नई आकर्षक प्रथा भी प्रचलित हो जायगी।

—सा० 'नवशक्ति' (पटना); जून, १६३८ ई०

३ — हिन्दी-गद्य-साहित्य और बिहार

बिहार ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है, उसका इतिहास अभी तक अँधकार में छिपा हुआ है। उस इतिहास की अनेक बातें विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुकी हैं। उस इतिहास की बहुत-सी सामग्री जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी है, जिसका पता लगाना या पता

पाना अत्यन्त कठिन है। बिहार में कोई ऐसा संग्रहालय नहीं, जहाँ पुरानी पुस्तकों और पत्रिकाओं का अच्छा संग्रह हो। अनुसंधान और अनुशीलन के योग्य हिन्दी का एक भी सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तकालय यहाँ नहीं है। कुछ सार्वजनिक और व्यक्तिगत पुस्तकालयों में दर्शनीय संग्रह है अवश्य; पर उसकी छानबीन करके आवश्यक सामग्री निकालने के लिए किसी त्यागी और धुनी साहित्यसेवी को अपना जीवन अर्पित कर देना पड़ेगा। पुरानी हस्तलिखित पोथियों की खोज भी बिहार में भली-भाँति नहीं हुई है, इसलिए इतिहास का सूत्र क्रमबद्ध नहीं मिलता।

बिहार के साहित्यिक इतिहास का जो आरम्भिक युग है उसको घोर अंधकार के भीतर से टटोल निकालना बहुत कठिन काम है। जबतक पुरानी पोथियों की खोज अच्छी तरह नहीं हो जाती और प्रान्त के प्रमुख पुस्तकालयों का विधिवत् मन्थन नहीं होता, तबतक इतिहास क्रमबद्ध तैयार नहीं हो सकता। बिहार के साहित्यिक इतिहास के सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय और निश्चित तथा प्रामाणिक बात कहना संभव नहीं है। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब विश्वस्त सूत्रों से सामग्री-संकलन करके शृङ्खलाबद्ध इतिहास तैयार किया जाय। किन्तु, यह काम बैठे-विठाये नहीं हो सकता। इसके लिए बिहार प्रान्त का लगातार दौरा करके साहित्यिक पैमाइश करनी पड़ेगी। यह काम मिश्नरी स्पिरिट से करना होगा। इसमें एक-दो कर्मठ और कष्टसहिष्णु साहित्यकार को सच्ची लगन से लग जाना पड़ेगा।

हिन्दी-गद्य-साहित्य के विकास और उत्थान में बिहार के लेखकों ने उल्लेखनीय योग-दान किया है। किन्तु, उन लेखकों के सत्प्रयास का विवरणात्मक और विश्लेषणात्मक इतिहास आज तक लिखा ही नहीं गया। छिट-पुट जो प्रयत्न हुए उनसे कोई शृंखला नहीं बन सकी। संगठित रूप से कभी कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसलिए, हिन्दी-साहित्य के वर्त्तमान इतिहासों में बिहार के गद्यकारों की साहित्यसेवा का यथोचित वर्णन नहीं मिलता। इसमें इतिहासकारों का विशेष दोष नहीं। दोष वास्तव में हमारा ही है। हमने अपने घर के अन्धकार को दूर करने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया। जबतक हम अपने गद्यकारों को प्रकाश में नहीं लाते तबतक उनपर संसार की दृष्टि नहीं पड़ सकती। हमारे घर के अन्धकार में टटोलने के लिए बाहर के लोग साहस नहीं कर सकते। हमें स्वयं ही दीप जलाना होगा और संसार के सामने अपने गद्यकार-रत्नों को उपस्थित करना होगा।

खोज करने और पता लगाने से हस्तलिखित और प्राचीन मुद्रित पद्यात्मक पोथियाँ तथा पुस्तकें तो मिलती हैं; पर गद्य की नहीं मिलतीं। गद्य की जो छपी हुई पुरानी पुस्तकें मिलती हैं, उनसे पता लगता है कि बिहारी लेखकों में कई अच्छे गद्यकार हो चुके हैं। जब कभी बिहार का साहित्यिक इतिहास हिन्दी-जगत् के सामने प्रकट होगा, तब बिहार के गद्य-कारों की साहित्य-सेवा का महत्त्व मालूम हो जायगा। गद्य-साहित्य के आरम्भिक युग से ही बिहार के गद्यकार उल्लेखनीय साहित्य-सेवा करते आये हैं और आज तो बिहार में कई ऐसे प्रौढ़ गद्यकार हैं, जिनकी ख्याति समस्त हिन्दी-संसार में फैली हुई है।

—साप्ताहिक 'नवशक्ति' (पटना); अगस्त, १९३८ ई०

४—सामयिक पत्रों में राम-भक्ति की बाढ़

श्री रामनवमी के अवसर पर अनेक पत्रों में राम-भक्ति का वर्णन दृष्टिगोचर हुआ है। हिन्दी के सामयिक पत्र प्रायः रामनवमी और कृष्णाष्टमी के अवसर पर राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का गुणगान किया करते हैं। वीर-पूजा अथवा आदर्शपूजा की भावना से निःसन्देह राष्ट्रीयता पुष्ट होती है। किन्तु, ईश्वर-भक्ति और अन्धविश्वास में छत्तीस का नाता है। हमारे देश के ईश्वर-भक्तों को यह भी सुझाने की जरूरत है कि भगवद्भक्ति की सफलता के लिए सदाचार की भी आवश्यकता है। सदाचार से रहित भगवद्भक्ति निर्गन्ध कुसुम के समान है। भक्ति की आड़ में मनमानी करना भगवान को धोखा देना या ठगना है।

वस्तुतः जिसे भक्ति कहते हैं, वह कोई और ही चीज है। तिलक लगाना, पर्दे की आड़ में रसोई जीमना, किसी को भी अपना बासन-बसन न छूने देना, गोमुखी में पहर-भर हाथ डाले रहना, मनुष्य के स्पर्श से घृणा करना या बचते फिरना—केवल यही राम-भक्ति की निशानी नहीं है। घंटा हिलाने, तुलसी-जल चढ़ाने, राग-भोग अर्पित करने और दोनों जून आरती उतारने से, यदि सचमुच रामजी प्रसन्न होते, तो रामभक्तों की भीड़ से भारत का इंच-इंच भर जाता। देखने में आता है कि रामभक्त के सब बाहरी चिह्न मौजूद हैं; पर भीतरी गुणों का सर्वथा अभाव है। फिर भी राम-भक्ति की ठेकेदारी बनी ही हुई है। शायद इस युग में रामजी भी बदल गये।

सामयिक पत्रों को सुयोग पाकर जनता के ध्यान में यह बात लानी चाहिए कि असली राम-भक्ति क्या है। हम सगे भाई से बेईमानी और दगाबाजी करते हैं, तो भी हम आदर्श भ्रातृवत्सल राम के भक्त होने का दावा करते लज्जित नहीं होते। हम घर में अपनी पत्नी को सताते हैं, तो भी एकपत्नीव्रत राम के भक्त कहलाते नहीं सकुचाते। हम जबर्दस्ती निर्बल की धन-धरती हर लेते हैं, तो भी अनाथ-नाथ दीनबन्धु राम के भक्त बने फिरते हैं। हम पराई लुगाइयों पर डीठ लगाते हैं, तो भी अहल्योद्धारक राम के उपासक कहलाने से नहीं हिचकते। हम अदालतों में झूठ-फरेब का मकड़ी-जाल बुनते हैं, तो भी सत्यसन्ध राम के भक्त का बाना धारण किये फिरते हैं। हम एक-एक बिस्वा जमीन के लिए घोर-से-घोर पाप कर गुजरते हैं, फिर भी सर्वस्वत्यागी राम के दास कहलाते ही हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य दुनिया में और क्या होगा?

देहातों में लोग ढोलक-झाल लेकर जब रामायण गाने बैठते हैं, तो गला फाड़कर आकाश फाड़ देते हैं—रामायण का अर्थ करने लगते हैं, तो वेदांत बघार कर धर देते हैं—समझते हैं कि घड़ी-भर के राम-गुण-गान से सारे पुरखे तर गये; मगर घर में जो असहाय विधवा को सताते हैं—बूढ़े माँ-बाप को कुवाच्य कहते हैं—भाई से बखरा-बाँट करने में साफ गंगा पी जाते हैं—अनेक दुर्व्यवहारों से अपनी विवाहिता को कलपाते हैं—किसी का गल्ला फुँकवाते और किसी का खेत कटवाते हैं—मामूली से मामूली स्वार्थ साधने के लिए गाय की पूँछ और भागवत की पोथी उठा लेते हैं—बूढ़ी निकम्मी गौओं को कसाई के घर की राह दिखा देते हैं, उसका हिसाब नहीं लगाते। चाहे लाख कुकर्म करें, रामायण गा दिया—

दिया—भजन-प्रभाती गा दिया—रामजी की छठी में रण्डी नचा दिया—गंगा नहाकर तिलक लगा लिया, बस भवसागर से बेड़ा पार हुआ—मुक्ति ससुरी घर के ताक पर रक्खी है। धन्य है हमारी रामभक्ति !

रामभक्ति की ओट में आज सारे देश में जो अत्याचार हो रहे हैं, उनसे कोई अनजान नहीं है, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम को लोगों ने मिट्टी का खिलौना बना लिया है। उनके आदर्श चरित्र का महत्त्व गया चूल्हे-भाड़ में। सिर्फ अपने पापों पर पुचारा देने से मतलब है। भला, वह समर्थ महापुरुष थे, उनका अनुकरण कौन कर सकता है। ऐसी भावना और ऐसी बुद्धि रखते हुए भी, यदि हम रामभक्त हैं तो समुद्र में विन्ध्याचल के तैरने में कोई सन्देह नहीं है।[1]

—मासिक 'राम' (काशी); मन्दिर २, पट १, झाँकी १; चैत्र, १९८५ वि०, सन् १९२८ ई०

५—हिन्दी-संसार की होली

हर साल की तरह इस साल भी हिन्दी-पत्रों ने होली मनाई। बूढ़े 'हिन्दी बङ्गवासी' और 'वेङ्कटेश्वर समाचार' ने भी कन्धे से गुलाल की झोली लटकाई। 'वर्त्तमान' (कानपुर), 'विश्वमित्र', 'जागृति' (कलकत्ता), 'हिन्दी मिलाप' (लाहौर), 'तरंग' और 'अलबेला' (काशी), 'मदारी' (प्रयाग) आदि के होलिकांकों को निचोड़ने पर मुश्किल से रस का प्याला भरा; क्योंकि इनमें भी नवीनता की मात्रा अन्दाज से ही है—जितना दाल में नमक होना चाहिए ! 'खुदा की राह पर' (काशी) ने बहुत गहरी छानी। और सबने सिर्फ रस्म अदा की।

६—हिन्दी में हास्यरस की चहल-पहल

इस समय हिन्दी में हास्यरस के पत्रों का समुद्र उमड़ चला है। केवल काशी से चार-चार पत्र निकल पड़े हैं। लखनऊ से एक, कलकत्ता से एक, आगरा से एक, इलाहाबाद से एक। मतलब यह कि सबको हरियाली ही सूझ रही है। भूख से अँतड़ियाँ कुलकुला रही हैं, जबरदस्ती गुदगुदाना ऊपर से बराबर जारी है। हास्य की चीनी में लिपटी हुई ईर्ष्या-द्वेष की 'कुनैन'-गोली, दूध के अभाव में, अपना काम कर रही है। व्यंग्य-विनोद को भी अच्छों से पाला पड़ा है।

७—हिन्दी-संसार का अँगरेजी मासिक

हिन्दी-संसार में एक अच्छे अँगरेजी मासिक पत्र की आवश्यकता है, जैसा बँगला-भाषा के लिए कलकत्ता का जगत्प्रसिद्ध 'माडर्न रिव्यू' है। 'माडर्न रिव्यू' के बल पर बँगला-साहित्य बहुत-कुछ उन्नत और लोकप्रिय हुआ है। 'राष्ट्रभाषा' हिन्दी का पृष्ठपोषक वैसा कोई प्रभावशाली पत्र नहीं है। अँगरेजी विश्वव्यापिनी भाषा है। उसके द्वारा हिन्दी

१. इस लेख के आरम्भ की पंक्तियाँ इसी विषय के दूसरे लेख से ली गई हैं। शीर्षक भी उसी लेख का है। वह लेख दैनिक 'सूर्य' (काशी) में छपा था—१९३० ई० में। उसमें भी इसीसे मिलते-जुलते भाव-विचार थे।—लेखक

का महान उपकार हो सकता है। किन्तु, हिन्दीवाले अभी उससे लाभ उठाने का सच्चा रास्ता नहीं पकड़ रहे हैं।

८—फालतू पत्रों की बाढ़

हिन्दी में बहुत-से पत्र व्यर्थ निकलते हैं। उनमें कोई विशेषता नहीं। उनकी कोई उपयोगिता नहीं। पत्र वही उपयोगी, जिसका हर-एक अंक सुरक्षित रखने योग्य हो। पढ़ लेने के बाद ही पत्र की सुधि भूल गई, तो पत्र और पाठक का जीवन निरर्थक गया। बहुत-से सम्पादक पर्याप्त परिश्रम नहीं करते—अपने पाठकों को पुष्टिकर मानसिक भोजन देने की कुछ भी चिन्ता नहीं करते—पाठकों के अमूल्य समय और द्रव्य पर छापा मारकर आलस्य में दिन काटते हैं। ऐसे 'पर-मुण्डे-फलाहार' करनेवालों के परखने में जनता को सावधान होना चाहिए। —साप्ताहिक 'नवशक्ति' (पटना); अप्रैल, १९३८ ई०

९—अँगरेजी में हिन्दी-साहित्य का इतिहास

इस समय अँगरेजी विश्वव्यापिनी भाषा समझी जाती है। भारत में तो उसका अखण्ड साम्राज्य ही है। उसमें जो रचनाएँ और पुस्तकें छपती हैं, उनका प्रचार बहुत दूर-दूर तक अनायास हो जाता है तथा वे देश-विदेश के विद्वानों की नजरों से गुजर जाती हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का जो उद्योग हो रहा है, उसकी सफलता के लिए भी यह आवश्यक है कि हिन्दी-साहित्य का विस्तृत इतिहास अँगरेजी में अच्छे ढंग से अधिकारी विद्वान द्वारा लिखा जाय, जिससे अन्य भाषा-भाषी विद्वान हिन्दी का वास्तविक महत्त्व समझें। यह इतिहास कम-से-कम दो खण्डों में हो—एक खण्ड प्राचीनकाल का, दूसरा आधुनिक काल का। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) और नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) को इधर शीघ्र ध्यान देना चाहिए। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन और बाबू श्यामसुन्दर दास चाहें तो यह काम ठीक तरह से पूरा हो सकता है। प्रयाग-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अमरनाथ झा और प्रोफेसर शिवाधार पाण्डेय को कार्यभार सौंपा जाय तो अच्छा होगा। अब तो हिन्दी-संसार में कई ऐसे विद्वान हैं जो यह उत्तरदायित्व सँभाल सकते हैं। 'मिश्रबन्धु' पर भी निगाह टिकती है। यदि कोई प्रकाशक भी इस दिशा में उत्साह दिखावेगा तो उसको यथेष्ट लाभ ही होगा। आवश्यकता तो इस बात की भी है कि अँगरेजी के प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित पत्रों में हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी गवेषणापूर्ण लेख लिखे-लिखाये जायँ। विश्वविद्यालयों के हिन्दी-प्रेमी प्रोफेसरों के लिए यह काम लाभदायक भी होगा। 'माडर्न रिव्यू' और 'अमृतबाजार-पत्रिका' (कलकत्ता), 'इलस्ट्रेटेड वीकली' और 'बाम्बे क्रॉनिकल' (बम्बई) और 'इण्डियन रिव्यू' तथा 'हिन्दू' (मद्रास) में हिन्दी-सम्बन्धी लेख छपें तो हिन्दीतर भाषाओं के अनुरागी हिन्दी की ओर आकर्षित होंगे। किन्तु, अँगरेजी की दुनिया में हिन्दी का व्यापक प्रभाव जमाने के लिए उसके साहित्य का प्रामाणिक इतिहास ही प्रकाशित करना वांछनीय और हितकारी होगा।

—साप्ताहिक 'सूर्य' (काशी); जून, सन् १९२८ ई०

१०—हिन्दी में अँगरेजी-साहित्य का इतिहास

अँगरेजों ने प्रमुख भारतीय भाषाओं के साहित्य का इतिहास अपनी अँगरेजी-भाषा में तो लिखा, पर उन भाषाओं में अँगरेजी-साहित्य का इतिहास नहीं लिखवाया। इसमें कूटनीति की चाल हो सकती है। भूमण्डल में केवल अँगरेजी की ही सत्ता-महत्ता कायम रखने के लिए उनलोगों ने ऐसा किया। उनलोगों का यही आग्रहपूर्ण सिद्धान्त है कि सब लोग सब तरह का ज्ञान अँगरेजी के ही माध्यम से प्राप्त करें। किन्तु, हमलोगों में ऐसी राष्ट्रीय भावना अथवा चेतना है ही नहीं। यदि होती तो हम भी अपनी भाषा के साहित्य-भाण्डार में संसार-भर से ज्ञान-रत्नों का संचय करने में तत्पर होते। हिन्दी संसार में आज भी कितने ही ऐसे समर्थ विद्वान हैं जो योरप की मुख्य भाषाओं के साहित्य का इतिहास हिन्दी-पाठकों के योग्य तैयार कर दे सकते हैं। अनुवाद का भी सहारा लिया जाय तो अँगरेजी मात्र से ही काम निकल सकता है; क्योंकि अँगरेजी में सब-कुछ सुलभ है। हमें तो भारत की मुख्य-मुख्य भाषाओं के साहित्य का इतिहास भी हिन्दी में प्रकाशित करना चाहिए। इससे भारत की राष्ट्रीय एकता पुष्ट होगी और भारतीय संस्कृति की व्यापकता भी सिद्ध होगी। प्रयाग के 'सम्मेलन' और काशी की 'सभा' को इस काम की ओर भी ध्यान देना उचित है। इससे राष्ट्रभाषा हिन्दी की प्रतिपत्ति बढ़ेगी, हिन्दी के साधारण पाठकों तथा लेखकों का ज्ञानक्षेत्र उर्वर और विस्तृत होगा। राष्ट्रभाषा होने योग्य हिन्दी को बनाना है तो उसके साहित्य को हर तरह से ज्ञान-विज्ञान का खजाना बनाना पड़ेगा। जिस दिन हिन्दी के जरिये से सब मनचाही बातों की जानकारी हासिल होने लगेगी, उस दिन उसके राष्ट्रभाषा-पद का सर्वत्र सम्मान होने लगेगा। तथास्तु।

—साप्ताहिक 'सूर्य' (काशी); जून, १६२८ ई०

११—व्यंग्यचित्रों का संग्रह

पत्र-पत्रिकाओं में जो व्यंग्यचित्र छपते हैं वे जनता का क्षणिक मनोरंजन करके सदा के लिए आँखों से ओझल हो जाते हैं। यदि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, व्यंग्यचित्रों का परिचय-सहित संग्रह प्रकाशित कर दिया जाय तो कला का संरक्षण तो होगा ही, समय-समय की परिस्थिति का ज्ञान भी होगा। यह काम केवल मनोविनोद के लिए ही आवश्यक नहीं, यह तो देश-दशा का इतिहास जानने में भी सहायता पहुँचावेगा। यदि हिन्दी-संसार में प्रकाशित केवल साहित्यिक व्यंग्यचित्रों का ही संग्रह प्रकाशित हो जाय तो उससे बराबर यह पता लगता रहेगा कि साहित्य-संसार की मनोवृत्ति-प्रवृत्ति कब कैसी रही। प्रायः कार्टूनों में कला, जनरुचि, सूझ-बूझ, चमत्कार, वक्रोक्ति, दूरदर्शिता या सूक्ष्मदर्शिता, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, विनोदशीलता आदि का प्रदर्शन होता है। इसलिए साहित्य के भाण्डार में उनका संग्रह रहना चाहिए। इससे हास्यरस का साहित्य शोभा-सम्पन्न होगा।

—साप्ताहिक 'सूर्य' (काशी); अगस्त, १६२८ ई०

१२—हिन्दी में संग्रहग्रन्थों की कमी

संस्कृत और ब्रजभाषा में कुछ संग्रहग्रन्थ हैं, पर आधुनिक हिन्दी में नहीं मिलते। ऐसे ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिलती है। आवश्यकता पड़ने पर तुरत लाभ होता है। समय की भी बचत होती है। नामी गद्य-लेखकों की रचनाओं में से विषयानुसार उत्तमोत्तम अंश संकलित करके एकत्रित कर दिये जाते तो गद्य-साहित्य का एक सुन्दर आकर-ग्रन्थ तैयार हो जाता। कवियों की रचनाओं से भी उसी तरह विषयानुक्रम से महत्त्वपूर्ण अंशों या पदों का चुनाव किया जाता तो एक दर्शनीय सन्दर्भग्रन्थ बन जाता। एक-एक विषय के पृथक्-पृथक् स्वतंत्र संग्रहग्रन्थ भी बन सकते हैं। मैंने अँगरेजी में दो-तीन ग्रन्थ देखे थे, जो साहित्यसागर के मन्थन से निकले अमृत के तुल्य आनन्ददायक थे। जैसे—(१) One thousand and one gems of English Prose, (२) One thousand and one gems of English Poetry, (३) Many thoughts of many minds. इनमें अँगरेजी के प्रसिद्ध लेखकों और कवियों के चुनिन्दा वाक्य विषय-विभाग करके सजाये गये थे। पर अब ये ग्रन्थ नहीं मिलते। संस्कृत का नामी ग्रन्थ 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' स्पष्ट बतलाता है कि हिन्दी में वैसा ग्रन्थ रहने से कितना लाभ और उपकार होगा। संस्कृत और ब्रजभाषा के संग्रहग्रन्थों को आदर्श मानकर हिन्दी में वैसे ग्रन्थ दो-चार वर्षों के लगातार परिश्रम से ही तैयार हो जा सकते हैं। विषयों की सूची बनाकर हिन्दी के विद्वानों में उनकी रुचि के अनुकूल विषय वितरित किये जायँ तो यह काम शीघ्र पूरा हो सकता है। साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) या नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) को यह काम अपने हाथ में लेना चाहिए। प्रतिष्ठित सार्वजनिक संस्था को साहित्य-सेवियों का सहयोग भी मिलेगा। इसके लिए एक सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तकालय की आवश्यकता होगी। अतः 'सभा' के सिवा दूसरा कोई यह काम नाधेगा तो कठिनाई हो सकती है। यों तो कोई धुन का पक्का साहित्यिक व्यक्ति सच्ची लगन से इस काम में पिल पड़े तो यह कोई असाध्य काम नहीं है। राजा-महाराजा और सेठ-रईस अगर शौक से इस काम में धन का सदुपयोग करें तो अमर हो सकते हैं। भगवान उन्हें सुबुद्धि दें। —सा० सूर्य (काशी); नवम्बर, १९२८ ई०

•

व्यंग्य-विनोद[१]

१

वसंत आ गया! हिन्दी के तुकबन्दों का मन, नई भाभी के लहुरे देवर के मन की तरह, हुलसता होगा। हिन्दी-पत्र-सम्पादकों को सँभल जाना चाहिए।

---

१. मासिक 'सरस्वती' (प्रयाग) के 'हास्य और विनोद' नामक स्तम्भ के लिए, द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-सम्पादन के निमित्त इण्डियन प्रेस की अतिथिशाला में रहते समय, ये साहित्यिक विनोद लिखे गये थे और 'सदानन्द' के कल्पित नाम से 'सरस्वती' में लगातार छपे थे। इनमें कहीं-कहीं सांकेतिक टिप्पणियाँ देने की इच्छा थी; पर साहित्यरसिकों के लिए उनकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। —लेखक

२

दुष्ट जिसके पीछे लग जाते हैं उसकी दुर्दशा कर डालते हैं। 'वसंत' कैसा सुन्दर शब्द है! किन्तु जब इसके पीछे 'उल्लू' और 'घोंघा' शब्द लग जाते हैं तब इसकी मिट्टी खराब कर देते हैं।

३

हिन्दी में भी भले आदमियों के पीछे पड़ जानेवाले बहुत हैं। जो सचमुच भले-मानुस हैं वे ऐसों को दूर ही से पहचानकर करबद्ध प्रणाम कर लेते हैं।

४

समाज की नंगी तसवीर खींचनेवाले लेखकों की कुत्सित कृति पर फोकस की रोशनी डालकर दुनिया को दिखाना ही हिन्दी में सबसे बड़ा साहित्यिक आन्दोलन है। ऐसे आन्दोलन में जो सफल हो, वही हिन्दी का सबसे बड़ा पत्रकार है।

५

साहित्य-क्षेत्र में जितने लोग बिना नकेल के दौड़े फिरते हैं, उन्हें पकड़-पकड़कर नाथना ही सफल और महान पत्रकार का लक्षण है, और सर्वश्रेष्ठ पत्र भी वही हो सकता है जो साहित्य-क्षेत्र से निरंकुशता को निर्मूल कर डालने का दावा रखता हो।

६

एक स्वनामधन्य सम्पादकाचार्य की निराली सम्मति सुनने योग्य है—"हमारे साहित्य में साहित्यिक बहुत हो रहे हैं; पर साहित्य के असली मतलब से बहुत कम लोग परिचित हैं। इसलिए, साहित्य के नाम से जो कुछ निकलता है, वह इतनी निम्न कोटि का होता है कि उसे दूसरे प्रान्त या दूसरे देश के साहित्यिकों के सामने नहीं रख सकते।" बेशक, बात पते की कही, बावन तोले पाव-रत्ती सही। सम्पादकाचार्य ही तो ठहरे।

७

सचमुच सम्पादकेन्द्रजी की यह 'सम्मति' इतनी सुन्दर है कि हम भी अपने 'ऐकमत्य' को इसके साथ सटाना चाहते हैं। भला आप ही बताइए, आजकल साहित्य के नाम से जो कुछ निकलता है वह कितनी निम्न कोटि का होता है? विश्वास न हो तो 'हिन्दी की सबसे सस्ती और सबसे सुन्दरी पत्रिका' पढ़ा कीजिए। भई, हमारा दिमाग तो जब उच्च कोटि के साहित्य से घबरा जाता है तब उसी पत्रिका में प्रकाशित साहित्य के अध्ययन में पिल पड़ते हैं।

८

अगर कोई पत्र-सम्पादक अपने पत्र को 'सर्वश्रेष्ठ' और 'सर्वाङ्गसुन्दर' प्रमाणित करना चाहे तो उसे चाहिए कि हिमालय के गौरीशंकर शिखर पर चढ़कर, 'लाउड स्पीकर' के सामने मुँह भिड़ाकर, अपने ऊँचे-से-ऊँचे साहित्यिक सिद्धान्त की घोषणा करे, और अत्यन्त सावधानतापूर्वक इस बात का ध्यान भी रक्खे कि सम्पादकीय टिप्पणियों में जिन

महत् एवं आदर्श सिद्धान्तों का डंका पीटा जाय, उनका पालन किसी तरह अन्य लेखों में न होने पावे। अगर ऐसा हुआ तो फिर सम्पादक से लेखकों का दर्जा बढ़ जायगा।

९

अब हिन्दी का उद्धार हुआ ही चाहता है। प्रमाण-स्वरूप ग्वालियर-सम्मेलन के सभापति महोदय के ये वाक्य उपस्थित हैं—"मैं सम्मेलन के लिए तन-मन-धन से काम करनेवाले मनुष्यों की एक सूची बनवाना चाहता हूँ, जिसमें मैं अपना नाम लिखाने को तैयार हूँ। जो ऐसा करना चाहें वे अपना-अपना शुभ नाम पूर्ण पते के साथ लिखकर देने की कृपा करें।" वाह! यह एक ही कही, और बड़े अच्छे ढंग से कही। आप खुद तो अभी नाम लिखाने को तैयार-भर हुए हैं—लिखाया नहीं है; मगर दूसरों के नाम पूरे पते के साथ पहले ही लिखा लेना चाहते हैं! ऐसे कप्तान की अधीनता में काम करनेवाले स्वयंसेवक निश्चय ही सम्मेलन का उद्धार कर डालेंगे।

१०

ग्वालियर में बाईसवाँ वर्ष बिताकर साहित्य-सम्मेलन अब बालिग हो गया। जब तक नाबालिग रहा, 'लखनऊ के प्रभाव' से बचा रहा; लेकिन बालिग होते ही बेचारा ऐसा पकड़ गया कि शायद ही अब कमर सलामत रहे। किसी संस्था के कमर टूटने के जितने साधन और लक्षण होते हैं, सब सम्मेलन में उपस्थित होते जा रहे हैं। सुना जाता है कि पं० पद्मकांत मालवीय शीघ्र ही कटि-कवच का प्रबन्ध करनेवाले हैं।

११

हिन्दी के सिवा संसार की किसी भाषा में ऐसा कोई कवि नहीं जो कठिन-से कठिन और सरल-से-सरल भाषा में समान रूप से कवित्व प्रदर्शित कर सके। 'शिशु' और 'खिलौना' तथा 'वानर' से लेकर 'विशाल भारत' तक के पन्ने उलट डालिए,। सर्वत्र उनकी कवित्व-शक्ति की एक सी तूती बोलती है। हिन्दी में किसी गद्यकार का इस तरह कौआ भी नहीं बोलता।

१२

कुछ लोग आचार्य द्विवेदी जी की चिट्ठियों को अपना प्रशंसापत्र समझकर उन्हें 'टेष्टिमोनियल' की तरह काम में ला रहे हैं। बेचारों को आत्मश्लाघा की धुन में आचार्य द्विवेदी जी के सर्टिफिकेट का गूढ़ाशय भी नहीं समझ पड़ता। वे समझे बैठे हैं कि आचार्य द्विवेदी जी प्रशंसापत्रों की खैरात बाँट रहे हैं और आचार्य द्विवेदी जी सोचते हैं कि थोड़ा गुड़ देकर टरकाओ इन विश्राम-बाधकों को!

१३

ग्वालियर-सम्मेलन के मंच से सभापति जी ने 'भाषा की उन्नति' के विषय में यह खूब कहा है कि "हमने सन् १९०० की सरस्वती' में एक बड़ा-सा लेख लिखा था, जिसमें हमने हिन्दी-साहित्य की त्रुटियाँ लिख दी थीं। आज ३२ वर्ष पीछे यदि देखिए तो विदित होगा कि प्रायः 'उसी मार्ग पर' उन्नति हुई है जिसका 'हमने निर्देश किया' था।" निस्सन्देह, निश्चय उसी मार्ग पर, ठीक उसी मार्ग पर, तिल-भर इधर-उधर नहीं। बस, आपही के

निर्दिष्ट मार्ग पर हिन्दी उन्नति की ओर अग्रसर हुई है। वाह! आप सच्चे भविष्यद्वक्ता हैं—आदर्श पथ-प्रदर्शक हैं। सारा श्रेय आपको, दूसरों को पासंग-बराबर भी नहीं।

१४

होली सिर पर मँड़रा रही है। 'हिन्दी-बंगवासी', 'भारत-मित्र' और 'वेंकेटेश्वर-समाचार' पुराने कार्टूनों के बासी ब्लाकों का स्टॉक सहेज रहे होंगे; 'विश्वमित्र' जोशी-बन्धु का जोशाँदा पीकर अपने जोश पर सान चढ़ाता होगा; विधुर 'विशाल-भारत' एडेन गार्डन के एकान्त कुञ्ज में 'साहित्यिक रंग की मुट्ठी मारने की ताक-झाँक' कर रहा होगा; 'गंगा' अपने रंग-बिरंगे टाइपों और बार्डरों का स्टॉक सँभाल रही होगी। 'वीणा'-विनोदी 'कुसुमाकर' जी 'सुन्दरियों' पर हाथ नचाकर 'खूँटी' ऐंठ रहे होंगे। पिचकारातङ्क से त्रस्त 'सहेली' अपने 'विजय-गर्व' को रंगीन अंचल से ढाँकने की चिन्ता कर रही होगी। 'सुधा' अपने कार्टून-अङ्क के पन्ने बड़े गौर से उलट रही होगी। 'माधुरी' कोर्ट ऑफ वार्ड्स के अफसरों को रिझाने के लिए तरह-तरह के चोंचले तजबीज रही होगी। 'चाँद' के 'जगद्गुरु' 'मतवाला' का कुण्डी-सोंटा साफ कर रहे होंगे। 'हिन्दुस्तानी' अपने उत्सुक प्रेमियों को 'लाल झण्डा' दिखाने का मन्सूबा बाँध रही होगी। 'प्रेमा' बीभत्स रस का विशेषांक निकालने का आयोजन कर रही होगी। 'कर्मवीर' अखबारी दुनिया में आनेवाली अश्लीलता की आँधी को रोकने के लिए पीठ ओड़ने का इरादा कर रहा होगा। 'आज' होली के ऐन मौके पर देश की वास्तविक दरिद्रता को अंकित करने के लिए आँकड़े जुटा रहा होगा।

१५

होली आ रही है। 'सुधा', 'गंगा' और 'विशाल-भारत' के सम्पादक सावधान हो जायँ। इस बार उन लोगों पर बड़े-बड़े हजारा-पिचकारा छूटेंगे। राजर्षि अलवरेन्द्र और बाबा ज्ञानानन्द से भी उनका दर्जा बढ़ा रहेगा। मगर वे तो शायद होली की रँगीली बौछारों की चोट सहने के आदी हो गये हैं। भला ठठेरे के घर की बिल्ली को सूप की भड़भड़ाहट का क्या डर?

१६

होली के शुभागमन से उत्साहित होकर सब लोग कुछ-न-कुछ तैयारी कर रहे होंगे। पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी अभी से अपनी लेखनी पैनाते होंगे। श्री जी० पी० श्रीवास्तव अपने कलम के निब का जंग छुड़ा रहे होंगे। श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा अपनी दावात की रोशनाई बदल रहे होंगे। श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़ भी हँसाने का कोई 'बेढब' तरीका सोच रहे होंगे। हिन्दी के परदेसी लेखक और कवि अपनी वियोगिनियों को प्रेमपत्र लिखने के लिए नये तर्ज के सम्बोधन सोच रहे होंगे। अब आप यह बताइए कि हिन्दी-संसार की कामिनियाँ क्या कर रही होंगी?

१७

कुछ लोग बे-लगाम कह दिया करते हैं कि नई रोशनी की कविताओं में कुछ तत्त्व नहीं होता। बात असल यह है कि वे डूबकर पढ़ते ही नहीं। एक वैदिक और शास्त्रीय तथा वेदान्ती पत्रिका के दिसम्बर-अङ्क में एक ऐसी तत्त्व-भरी कविता छपी है जिसकी लाइन-

लाइन बोल रही है! शब्द-शब्द फड़क रहा है! प्रतिभा गरज रही है! भाव बरस रहा है। कल्पना की क्यारी फूट चली है।

१८

आज-कल हिन्दी में गद्य-कवि बहुत पैदा हो गये हैं—रोज ही नये-नये पैदा होते जा रहे हैं। जब वे शब्दों के झुण्ड में बैठ जाते हैं तब वहाँ भगदड़ मच जाती है—जैसे मेघनाद के पहुँचने पर देवलोक में। लेकिन वे खदेड़-खदेड़ कर शब्दों को अपनी लेखनी की नोक से वैसे ही नाथते चले जाते हैं, जैसे काशिराज के कन्या-स्वयंवर में भीष्म ने सात बैलों को एक साथ ही नकेल पहनाई थी।

१९

ग्वालियर-सम्मेलन के अध्यक्ष का भाषण तो भुलाये नहीं भूलता—दिमाग में चक्कर काटता ही रहता है—आँखों के आगे नाचता ही रहता है। वाह! भाषण हो तो ऐसा हो। आज तक सम्मेलन के मंच से ऐसा भाषण न सुना गया और न आगे कभी सुनने की आशा ही है। उसके आरम्भ में जो कविता है वही तो जनाब, उसकी मुकुट-मणि है। उसका व्याकरण-सम्बन्धी अंश तो शीशे में मढ़ाकर सिरहाने टाँगने लायक है।

२०

जनवरी की 'माधुरी' में हिन्दी के धुरंधर लेखक लाला कन्नोमल, एम्० ए० ने एक ऐसा लेख लिख डाला है जैसा उन्होंने अपने जीवन में कभी लिखा ही नहीं होगा। मैंने भी अपने जीवन में आज तक वैसा महत्त्वपूर्ण लेख नहीं पढ़ा है। उसे पढ़कर आखिर जब किसी तरह न रहा गया तब बड़ी बेदर्दी से 'माधुरी' के उन पन्नों को फाड़कर रजिष्ट्री से महात्मा गाँधी के पास भेज दिया। मुझे दृढ़ विश्वास है कि महात्माजी ने जीवन-भर में वैसा दिलचस्प लेख न पढ़ा होगा। पढ़कर उनकी तो बाछें खिल जायँगी। उसकी कई लाइनें तो ताबीज मढ़ाकर गले में लटका रखने लायक हैं। जैसे—"यह कहना कि कृषि-कर्म करनेवाले बड़े दुःखी हैं, सर्वथा असत्य है।" वाह लालाजी! आपने तो जीवन-भर के अनुभवों का इत्र निकाल डाला है।

२१

लालाजी की कुछ लाइनों के पोष्टर छपवाकर नगर-नगर और गाँव-गाँव में सटवाने की जरूरत है। कुछ लाइनों के तिरंगे और आकर्षक पोष्टर छपवाये जायँ। जैसे—"आधी रात को सोना उछालते चले जाओ, कोई पूछेगा भी नहीं कि तुम कौन हो?" "रात को सड़कों पर सोना उछालते चले जाओ, क्या मजाल कि कोई आँख मिलाकर देख ले।" और, आये दिन अखबारों में जो भीषण डकैतियों के समाचार छपा करते हैं, वे सब गप्प हैं साहब! इस जमाने में लोग इतने सुखी हैं कि बकौल लालाजी, 'जो कपड़ा पहले राजा या बादशाह नहीं पहन सकते थे, वह अब सामान्य लोग पहने फिरते हैं'। इतना ही नहीं, "शेर, भेड़िये आदि डरावने जानवर जो शहर और ग्रामों की सीमा पर रात में घूमा करते थे और दावें लगाकर रास्ता चलनेवालों को खा जाते थे, सब ध्वस्त कर दिये गये हैं।

जहाँ देखो, वहाँ शान्ति!" वाह! जान पड़ता है, लालाजी भारतवर्ष में रहते ही नहीं। रहते भी हैं, तो 'हरम' से बाहर की दुनिया की खबर नहीं रखते।

२२

सुनते हैं, हिन्दी के लगभग सभी पत्र आचार्य द्विवेदीजी की सेवा में पहुँचते हैं। भेजनेवाले समझते हैं कि हमारे पत्र से आचार्य महोदय का खासा मनोरंजन होता होगा। लेकिन हमने सुना है कि आज-कल के हिन्दी-पत्रों को पढ़ते समय आचार्य के हृदय में विषम शूल उठने लगता है। जब हमने इसके कारण का पता लगाया तब असली रहस्य खुला। सचमुच बड़ा मजेदार रहस्य है। पत्र-पत्रिकावाले भी कान में तेल डालकर सुन लें—

आचार्य द्विवेदीजी अपने जीवन-भर भाषा को परिमार्जित और परिष्कृत करते रहे। अशुद्ध भाषा का संशोधन करते-करते उनका जी ऊब गया, लेखनी थक गई; आँखों का तेल निकाल डाला। अब जब विश्राम करने लगे तब चारों ओर से लोग उनके कोमल हृदय में काँटे चुभा रहे हैं। कोई 'ऐक्यता' लिखता है, कोई 'लावण्यता' लिखता है, कोई 'सौजन्यता' लिखता है। कोई 'स्वर्गीयता' और 'मानवीयता' लिखता है। गरज यह कि उनको लोग सुख की नींद सोने नहीं देना चाहते। कैसे कृतज्ञ हैं लोग!

२३

आप ही बताइए, जब आचार्य द्विवेदीजी पत्र-पत्रिकाओं को हाथ में लेकर यह देखते होंगे कि मङ्गलाप्रसाद-पारितोषिक पानेवाले सज्जन भी 'आखिर' और 'अखीर' का अन्तर नहीं जानते—'हस्ताक्षेप', 'स्वाभाविकतः' और 'दुरावस्था' लिख मारते हैं—'पंडितजी को उपाधि से विभूषित किया गया' तक लिख डालते हैं, तब उनके कलेजे में कितनी कसक पैदा होती होगी। जिस फुलवारी का झाड़-झंखाड़ साफ करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति खपा दी, उसी फुलवारी में अब गदहपुन्ने और कुकुरमुत्ते का जंगल बढ़ रहा है। अरे यारो! उन्हें टुक शान्ति से विश्राम तो लेने दो।

२४

पत्र-पत्रिकाओं की कविताएँ देखकर तो आचार्य महोदय हौलदिल होने से परेशान हो जाते होंगे। कहीं कोई कवि 'क्षितिज के छोर की लाली को अपनी प्रेयसी की चूनरी' समझता है, कहीं कोई 'बालार्क-बिम्ब को अपनी प्राणेश्वरी के ललाट का सिन्दूर-बिन्दु' बताता है! पूर्वकाल के कवि तो प्रकृति-देवी को 'माता' समझते थे और आजकल के नौजवान कवि उसे अपनी 'प्रेयसी' और 'प्राणेश्वरी' समझते हैं। अगर परम्परागत रीति के अनुसार पुराने कवियों के साथ नये कवियों का कोई नाता हो सकता है, तो फिर इनके 'सुकर्म' को देखकर आचार्य को क्यों न हौलदिल हो?

२५

साहित्य-सम्मेलन के उच्च मंच से दिया गया ग्वालियरवाला भाषण पढ़कर आचार्य द्विवेदीजी रो उठे या हँस पड़े, इसका तो हमें पता नहीं; लेकिन इतना तो हमने ठीक पता पाया है कि उक्त भाषण के पढ़ने से उनका पुराना उन्निद्र रोग फिर उभड़

आया है। जान पड़ता है, वृद्धावस्था में भी उनको लोग किसी तरह चैन न लेने देंगे। जिस साहित्य-सरोवर की रखवाली में रातों-रात जागकर उन्होंने जल को निर्मल रक्खा, उसमें अब जंगली भैंसे पैठकर कीच मथ रहे हैं!

२६

आचार्य द्विवेदीजी ने लाचार होकर अब एक बड़ा अच्छा तरीका अख्तियार किया है। भगवान आशुतोष की तरह वे औढरदानी बन गये हैं। जो कोई शरण में आ जाता है, उसके सिर पर अपने अभय-वरद पाणिपल्लव की छाया पसार देते हैं। पुस्तक भेंट कीजिए, तो आशीर्वाद लीजिए—"आपकी पुस्तक से मेरी खूब ज्ञान-वृद्धि हुई, आपकी विद्वत्ता धन्य है।" पत्र-पत्रिका का विशेषांक भेजिए, तो भी आशीर्वाद लीजिए—"आपकी पत्रिका अनुपम है, अद्वितीय है; आप ही हिन्दी-साहित्य का उद्धार कर सकेंगे।" किसी ने स्तुति-कुसुमांजलि भेज दी, तो झट आशीर्वाद मिला—"आप इस युग के रत्न हैं, आपकी प्रतिभा अभिनन्दनीय है, आपकी कवित्व-शक्ति अद्भुत है।" बस, आशीर्वाद पाते ही लोग उसका 'सदुपयोग' करने लग जाते हैं। कोई उसे अपने विज्ञापन का भड़कीला शीर्षक बना लेता है, कोई उसमें शहद मिलाकर खुले-आम चाटता फिरता है। आचार्य महोदय को किसी तरह लोग शान्ति से रहने देना नहीं चाहते। खैरियत इतनी ही है कि दौलतपुर तक बैलगाड़ी भी मुश्किल से पहुँचती है। अगर कहीं ठेलठालकर भी मोटर ले जाने योग्य सड़क होती, तो मिट्टी के देवता तिलक ही में तमाम हो जाते।

२७

कुछ महानुभाव अपने पत्र में बड़े ठाट से टिप्पणी लिखकर आचार्य द्विवेदीजी की दार्घायु-कामना करते हैं और लिखते हैं कि 'ईश्वर करें, द्विवेदीजी 'स्वस्थ्य' हों।' भगवन्! कैसे 'स्वस्थ्य' हों द्विवेदीजी? श्रीमान् उन्हें 'स्वस्थ्य' रहने दें तब तो रहें, वे तो श्रीमान् का 'स्वस्थ्य' देखकर ही अस्वस्थ हो जाते हैं—उनका डेढ़ पाव रक्त सूख जाता है!

२८

बहुत-से लोग इस कोशिश में लगे हैं कि श्रद्धेय द्विवेदी जी को हिन्दू-विश्वविद्यालय की ओर से 'डि०लिट्०' की उपाधि दी जाय; लेकिन हमने सुना है कि द्विवेदीजी अब अपने नाम के साथ 'आचार्य' लिखना भी पसन्द नहीं करते; क्योंकि हिन्दी में बहुत-से 'आचार्य पैदा हो गये हैं—'आचार्य' यहाँ तक सस्ता हो गया है कि जो लोग 'महानता' और 'अद्भुतता' लिखते हैं, 'शान्ति रस' और 'करुणा रस' तक लिख जाते हैं, उनके नाम से भी यह चिपका नजर आता है। आचार्य कहलानेवाले लोग मिश्रबन्धुओं की हिन्दी खूब लिखते हैं—"पक्की ईंटों को सीमेंट से जोड़ा जाता है", "उसको ढूँढकर समाप्त किया गया", "उसको बचाकर घर पहुँचाया गया"—इत्यादि। और 'डि० लिट्०' का तो कुछ हाल ही न पूछिए। देश-विदेश के विश्वविद्यालयों ने इसकी टकसाल खोल दी है। लिखते हैं—"उपरोक्त, आवश्यकीयता, अवतरित, विस्तरित, अचम्भित" आदि और कहलाते हैं 'डौक्टर औफ लिटारेच्योर'। अहो रूपमहो ध्वनिः!

२९

सुना है, इसी अप्रैल महीने की अठाईसवीं तारीख को श्रद्धेय द्विवेदीजी की उनहत्तरवीं जन्मतिथि-जयन्ती पड़ेगी और सत्तरवें वर्ष में उनके प्रवेश करने की खुशी में दूसरी मई को काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करेगी। तब तो हमें उन दर्शनीय सज्जनों की बाँकी झाँकी अवश्य मिलेगी, जिन्होंने आशुतोष आचार्य को सहज में ही रिझाकर अच्छे-अच्छे प्रशंसापत्र झटक लिये हैं। बड़ी अच्छी बात होती यदि प्रयाग में होनेवाले 'द्विवेदी-मेला' की प्रदर्शनी में उन सब सर्टिफिकेटों का संग्रह और प्रदर्शन किया जाता। यदि भगवत्कृपा से कहीं ऐसा संयोग हुआ तो हम उनके फोटो खींचे बिना न मानेंगे।

३०

आज से सौ वर्ष बाद भारत का क्या रूप रहेगा, यह अगर जानना हो तो मई के मासिक 'विश्वमित्र' में उसके अगड़धत सम्पादक का एक अलौकिक लेख पढ़िए। "इक्कीसवीं' सदी में भारत का नवीन रूप" कैसा होगा, इसकी घोषणा उन्होंने कल्पना के कुतुबमीनार पर चढ़कर की है। भारत-हितैषी ब्रिटिश-पार्लियामेंट की भावी सुधार-योजना की घोषणा से वह कम मनोरंजक नहीं है।

३१

इक्कीसवीं सदी के भारत में लोग भोजन नहीं करेंगे, सिर्फ गोलियाँ खाकर सौ-सवा सौ वर्ष जीयेंगे। चूल्हे-चौके का नाम-निशान न रहेगा। भर-भर थाली प्रसाद पानेवाले लोग महज़ एक छोटी-सी गोली का 'डोज' ले लिया करेंगे। उस गोली में 'विटामिन' इतना ज्यादा रहेगा कि शरीर का पोषण करने के लिए अन्न-जल की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। इस तरह, पेट की चिन्ता विटामिन की गोलियों का शिकार हो जायगी।

३२

उस समय साइकिल या मोटर की तो बात ही क्या, हवाई जहाज की भी कोई बात न पूछेगा। रेलगाड़ियों से सिर्फ ठेलों का काम लिया जायगा—माल ढोने के सिवा वे किसी मर्ज की दवा न रहेंगी। लोग पंखधारी जूते पहनकर आकाश में उड़ते फिरेंगे। राकेट के द्वारा मंगल-लोक में पहुँचना बायें हाथ का खेल हो जायगा। उस लोक के अध्यापक इस देश के विश्वविद्यालयों में आकर पढ़ाया करेंगे। बस, सत्ययुग के पहुँचने में एक सदी की कसर है।

३३

इतना ही नहीं, बिजली का व्यवहार इतना बढ़ जायगा कि इस देश के मकान 'तिलस्म' बन जायेंगे। मनुष्य बैठे-ही-बैठे बटन दबाकर 'जादू की तरह' सब सुख-सामग्री प्राप्त कर लेगा। इधर 'स्विच' दबाया, उधर सारा सामान तैयार होकर सामने मौजूद! यह 'अलादीन का चिराग' महज मामूली आदमियों के भी हाथ का खिलौना होगा! अब अन्न की तो जरूरत ही क्या रहेगी। फल-फूल भी चुटकियों में हस्तगत हो जायँगे। गमले ही 'भानमती के पिटारे' बन जायँगे। 'बिजली के प्रताप से' शाक-सब्जी

और फल-फूल बस बीज बोते ही लहलहा उठेंगे। प्रत्येक घर मदारी मियाँ की झोली बन जायगा।

३४

खेती-बारी काहे को होगी, अनाज की खपत तो रहेगी नहीं; सब लोग विटामिन का सत चखकर शतायु होंगे। खद्दर को तब कौन पूछेगा? रूई का व्यापार तब तक चौपट हो जायगा। दूसरे "नये-नये उद्योग-धन्धे खुलेंगे'—लेकिन कलकत्ता, बम्बई, कानपुर, अहमदाबाद आदि व्यापार-केन्द्रों में नहीं, 'हिमालय की तलेटी' में; क्योंकि कोयले का स्थान पहाड़ी झरने ले लेंगे"। जहाँ पहाड़ी झरने न होंगे, वहाँ सियार रोवेंगे। जहाँ जलप्रपात होंगे, वहाँ 'विश्वामित्र' की अद्भुत सृष्टि नजर आयगी।

३५

जब कलकत्ता, बम्बई आदि महानगर वीरान हो जायँगे और हिमालय तथा विन्ध्य की तराइयों में बड़े-बड़े कारखाने और महानगर उठ खड़े होंगे तब वहाँ म्युनिसिपैलिटी या कारपोरेशन की जरूरत न रहेगी। भंगी और चमार तो उस समय सर्वथा नामशेष हो जायँगे; क्योंकि इमारतों और मकानों के 'छप्पर, फर्श आदि में ऐसे अदृश्य यंत्र लगे रहेंगे कि कमरों में किसी प्रकार की गन्दगी न रहने पायगी—वे यंत्र ही गंदगी या मैल को चूर-चूरकर अदृश्य अणुओं में परिणत कर देंगे।' 'झाड़ू' केवल शब्दकोष में ही मिलेगी। जब खेती होगी ही नहीं तब खाद की क्या जरूरत रह जायगी? इसलिए, सब तरह की गन्दगी बिजली की मशीनों के द्वारा अदृश्य अणुओं के रूप में उड़ा दी जायगी।

३६

उस समय प्रत्येक घर में विश्वदर्शक यंत्र भी रहेंगे, जिनकी सहायता से मनुष्य घर-बैठे चाहे जिस देश और मनुष्य को देखेंगे। ऐसा सुभीता हो जायगा कि भारत में बैठे-बैठे न्यूयार्क में होनेवाली सभा का अधिवेशन देखेंगे और वहाँ के व्याख्यान भी सुनेंगे। मतलब यह कि उन दिनों घर-घर में गृध्रराज जटायु जन्म लेंगे, प्रत्येक मनुष्य संजय की औलाद होगा।

३७

जैसे नारदजी देवताओं के गजट थे, वैसे ही भारतवासियों के लिए रेडियो होगा। 'सब महत्त्वपूर्ण समाचार रेडियो के द्वारा घर-घर पहुँच जायँगे।' समाचारों के लिए अखबारों की बाट न देखनी पड़ेगी। अखबार तो सिर्फ मौज-बहार का मसाला जुटाया करेंगे। सिनेमा की तरह अखबार भी मनबहलाव के ही साधन रहेंगे। शिक्षा या उपदेश की तो किसी को जरूरत रहेगी नहीं; क्योंकि लक्ष्मी और सरस्वती लोगों की चेरियाँ बन जायँगी।

३८

इक्कीसवीं सदी के भारत के नवीन रूप का विशद वर्णन पढ़कर मन में कई तरह की उमंगें उठती हैं। हम तो ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो, दूसरे या तीसरे जन्म में हमें 'नेपाल की तराई' में पैदा करना या टेहरी-गढ़वाल में, या अल्मोड़े में, या जहाँ और

भी अधिक झरने हों। जहाँ पहाड़ी झरने होंगे, वहीं तो 'आनन्द के झरने' झरेंगे, वहीं सारे सुख-साधन सुलभ होंगे, वहां प्रतिक्षण इन्द्रजाल का दृश्य उपस्थित होगा।

३६

हाँ, सनातनधर्मियों से भी पूछना चाहिए कि वे इक्कीसवीं सदी में भारत के कैसे रूप की कल्पना कर रहे हैं। उन्हें उपयुक्त नवीन रूप पसन्द होगा या नहीं? यदि एक सदी तक और सनातनधर्म साँस लेता रहा तो उन्हें भी अनेक सुविधाएँ मिल जायँगी। पंखधारी जूतों की बदौलत बदरीनारायण की बीहड़ यात्रा अति सुगम हो जायगी—विश्वदर्शक यंत्र के द्वारा जगदीश, द्वारकाधीश और रामेश्वरम् के दर्शन नित्य ही होते रहेंगे। जगद्गुरु शंकराचार्य अपने मठ में स्वर्ण-सिंहासन पर बैठे-ही-बैठे धार्मिक घोषणाओं का प्रचार किया करेंगे। यदि मंगल-लोक की तरह पितृलोक का रास्ता भी खुल गया तो गया-धाम से पिण्डोदक का चालान भी धड़ल्ले से हो सकेगा। इसी प्रकार आर्य-समाज भी भजनीकों को मौकूफ करके रेडियो-द्वारा वैदिक सन्देश का प्रचार किया करेगा। हे प्रभो! वह दिन यदि हम किसी तरह न देख सकें तो हमारे नाती-पोते अवश्यमेव देखें, ऐसी दया करना।

४०

गोरखपुरिया 'कल्याण' हिन्दी पढ़नेवालों का महान् कल्याण कर रहा है। वह हर महीने हजारों आदमियों के पास वैराग्य का सन्देश पहुँचाता है। फलतः सब लोग कामिनी कांचन से विरक्त होते जा रहे हैं—इहलोक से मुँह मोड़कर परलोक के ध्यान में मग्न हो रहे हैं। अब इस लोक में उन्हें भारत के लिए स्वराज्य नहीं चाहिए, सिर्फ परलोक में वे परमात्मा का सामीप्य चाहते हैं—भगवान् 'बाँके विहारीलाल' के बगलगीर होना चाहते हैं!

४१

जो लोग आर्थिक चिन्ता में व्यस्त हों, उन्हें ध्यान से 'कल्याण' को पढ़ना चाहिए। बस एक-दो महीने के बाद ही वे अर्थ को अनर्थ का मूल समझने लगेंगे। जिस पैसे के लिए वे दिन-रात हाय-हाय करते रहते हैं उसको वे ठीकरे से भी गया-बीता समझने लगेंगे। देखते-देखते उनकी आर्थिक चिन्ता काफूर हो जायगी। ऐसी है अद्भुत महिमा 'कल्याण' की!

४२

जहाँ द्रव्य के लिए हाहाकार मचा हो, जहाँ अधिकारों के लोभ से अशान्ति बढ़ रही हो, जहाँ विलासिता का सिक्का जमा हुआ हो, वहाँ 'कल्याण' का प्रचार अत्यावश्यक है। जहाँ वह रहेगा, वहाँ के लोग द्रव्य को मिट्टी का ढेला समझने लगेंगे, अधिकारों को तुच्छ समझकर पैरों से ठुकरा देंगे, विलासिता को साँप की केंचुली की तरह छोड़ देंगे। ऐसा ही उसका अमोघ प्रभाव है! वाह रे 'कल्याण'!

४३

आज-कल व्यर्थ ही लोग व्यापार की मन्दी का रोना रोते हैं। 'कल्याण' के मतानुसार बस राम-नाम का व्यापार ही सबसे चोखा है। इसमें न मन्दी का डर है, न दिवाले का खौफ! सबसे बड़ी बात यह है कि इस व्यापार में सरकारी चुंगी या ड्यूटी या इनकम टैक्स का भी कोई खतरा नहीं है। शुद्ध स्वदेशी व्यापार है!

४४

सर्वसाधारण के हित के लिए 'कल्याण' ने राम-नाम-जप का बैंक भी खोल दिया है। यह बैंक परलोक के ईश्वरीय इम्पीरियल बैंक की शाखा है। इसमें सूद दावानल की तरह बढ़ता है!

४५

बलिहारी है 'कल्याण' के अलौकिक प्रभाव की! स्त्रियाँ गोपियाँ बन रही हैं, पुरुष सनक-सनन्दन हुए जा रहे हैं। दोनों का मन दिन-रात 'गोमुखी' में रहता है। सन्तान-निग्रह की विषम समस्याएँ यों ही हल हुई जा रही हैं। अब देश की जनसंख्या की वृद्धि से अर्थशास्त्रियों की चिन्ता नहीं बढ़ने पायगी। स्त्री-पुरुष अब सिर्फ अलख जगाया करेंगे!

४६

जून के 'कल्याण' में उड़िया बाबा ने उपदेश दिया है कि 'स्त्री को देखते ही ऐसा विचार करो कि यह मल-मूत्र का थैला है और मन से उसको चीर कर देखो, ऐसा करने से काम-विकार न होगा।' वाह रे उड़िया बाबा! आपने तो चुटकियों में माया का किला उड़ा दिया! अब ब्रह्मा दादा हाथ-पर-हाथ धरे मौज से बुढ़ापा खेपें। चित्रगुप्त चचा भी अपना दफ्तर बन्द कर दें। एक ही 'गोरखपुरिया पैसे के नुस्खे' में भू-भार भंजन कर डाला बाबा ने!

४७

जुलाई के 'कल्याण' में मनुस्मृति का हवाला देकर एक भगतजी ने लिखा है—"जो सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है और जो किसी प्रकार का मांस नहीं खाता, उन दोनों का बराबर पुण्य होता है।" वाह! युग-युग जियें भगतजी और फूली रहे फुलवारी 'कल्याण' की! बेटा जिये प्रकाशकजी का, जिन्होंने ऐसा पुण्यात्मा लेख प्रकाशित कर हिन्दू-जाति का कल्याण किया। अब मांस न खानेवाले हजारों हिन्दू खूब छूटकर दुनिया के मजे लें—दिन-रात खुल खेलें; क्योंकि सौ अश्वमेध यज्ञ का पुण्य उनके अन्य सब दोष-कलुषों को चबा जायगा।

४८

भगतजी ने मांस खाना छोड़ने का अनुरोध करते हुए बड़े मार्के की बातें लिखी हैं। आप फरमाते हैं कि "मांस-भक्षण भगवत्-प्राप्ति में बाधक है और मांस-भक्षण से ईश्वर की अप्रसन्नता प्राप्त होती है।" सच पूछिए, तो भगतजी ने बड़े अनुभव की बात लिखी है। इतिहास-पुराण भी इस बात के साक्षी हैं कि आज तक कोई मांस-भक्षी कभी किसी तरह भगवत्-प्राप्ति का अधिकारी नहीं हुआ, और ईश्वर की अप्रसन्नता तो मांस-भक्षियों की बपौती है; क्योंकि हिन्दुस्तान ही में अँगरेज और मुसलमान इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं—उनसे ईश्वर इतना अप्रसन्न रहता है कि मांस न खानेवाले हिन्दुओं की पीठ और खोपड़ी को उनके मजबूत डंडों के लिए हमेशा रिजर्व रखता है।

४९

'विशाल भारत' के जून के अंक में चतुर्वेदीजी की लेखनी से एक बड़ा कल्याणकारी प्रस्ताव प्रसूत हुआ है। वह यों 'रन' करता है—"'आचार्य' द्विवेदीजी ने जिले के अधिकारियों से लिखा-पढ़ी करके अपने गाँव दौलतपुर में एक काँजी-हाउस बनवा दिया है। क्या ही अच्छा हो, यदि द्विवेदीजी हरहट या हरहाटी लेखक-लेखिकाओं के लिए भी एक काँजी-हाउस खुलवायें।" लेकिन आचार्य द्विवेदीजी अब इस बुढ़ापे के विश्राम-काल में यह झंझट क्यों मोल लेंगे? हाँ, अगर आप काँजी-हाउस के गेटकीपर बनना पसन्द करें तो आचार्य द्विवेदीजी वैसे लेखक-लेखिकाओं की सूची तैयार कर दे सकते हैं; क्योंकि उनके पास एक 'नोटबुक' है जिसमें स्वेच्छाचारी लेखक-लेखिकाओं की नामावली दर्ज है। आप तो 'उनके साथ चार दिन रहकर' उस नामावली को और भी लम्बी कर आये हैं न?

५०

चतुर्वेदीजी भी मरकट-मुख नारदजी की तरह अपना ही प्रतिबिम्ब सर्वत्र देखा करते हैं। कैसी कलाबाजी के साथ कहते हैं—"जो जन्तु अनधिकारपूर्वक किसी क्षेत्र में प्रवेश करके उसे चरते हैं—चाहे वे साहित्य-क्षेत्र में हों या किसानों के खेत में—द्विवेदी जी उनकी खबर लिए बिना नहीं रह सकते; क्योंकि यह उनकी पुरानी आदत ठहरी!" लेकिन, आपकी भी तो पुरानी आदत यही है? न जाने कितने लेखकों का माया-महल आप ढहा चुके!

५१

मिश्र-बन्धु अपनी-अपनी दीवानी छोड़कर हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में फिर आ डटे हैं। इन बन्धुओं में से कम-से-कम एक बन्धु तो साल-भर हिन्दी-सेवा करने की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर भी कर चुके हैं। परन्तु इस समय इस बात की हमें खबर नहीं है कि वे हिन्दी की कहाँ कैसी सेवा कर रहे हैं। कश्मीर-राज्य में हिन्दू लड़कियों के लिए स्कूलों में हिन्दी द्वारा शिक्षा प्राप्त करना हराम कर दिया गया है। उक्त मिश्रबन्धु चाहें तो इस अवसर पर अपनी प्रतिज्ञा को पूरी कर सकते हैं।

५२

खैर, वे न सही, उनके दूसरे बन्धु सजग हैं। इन्होंने सम्मेलन के सभापति के पद से अपने भाषण में व्याकरण को जो गर्दनिया लगाई थी वह, हिन्दी के विद्वान् लेखक श्रीवाजपेयीजी-जैसों को ठीक न जँची और उन्होंने उसका समुचित रूप से प्रतिवाद किया। परन्तु सभापति की यह अपभावना कैसे क्षन्तव्य हो सकती थी? तुरन्त दूसरे मिश्रबन्धु मैदान में उतर पड़े और पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी तथा पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी को लताड़ना शुरू कर दिया। हिन्दी के समालोचकों को दौड़कर मिश्रबंधु का अनुकरण करना चाहिए।

५३

मई की 'माधुरी' में मिश्रबंधु महोदय ने 'भाषा और व्याकरण' पर दिल खोलकर लिख डाला है। आज तक जितना सोचा-समझा था, सब आगे 'धर' दिया है। देखिए, "प्रयोजन यह कि भाव अच्छा हो, इतना ही चाहिए। भाषा भाव का वाहन-मात्र है।"

मिश्रजी का मतलब यह कि भाव 'धोबी' है और भाषा 'गधा'। यहाँ व्याकरण के अनुसार 'गधी' करने की जरूरत नहीं; क्योंकि मिश्रजी महाराज डंके की चोट कह रहे हैं—"व्याकरण चिल्लाता रहा कि 'भाइयो, सँभलो, गलती कर रहे हो।' वहाँ सुनता कौन है! दुनिया आगे बढ़ गई, व्याकरण हाथ मलता रह गया, भाषा बदल गई।" वाह! व्याकरण की बागडोर को कैसी सफाई से काढ़ा है!

५४

मिश्रजी महाराज की एक घोषणा भी सुनने के ही लायक है—"जाने रहिये कि भारतवर्ष दासों का देश न कभी था, न आज है।" अफसोस है कि आप यह वाक्य अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' में लिखना भूल गये, नहीं तो जैसे आप हिन्दी में चोटी के समालोचक हैं वैसे ही इतिहासकारों में भी ऊँचा पीढ़ा पा जाते।

५५

'माधुरी' के उसी अंक में कविवर पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है—"कभी मैं भी दुलहिन थी।" अरे वह कौन सा स्वर्ण-युग था महाराज? सचमुच वह बड़ा रंगीन जमाना रहा होगा! दुल्हा कमबख्त तो निहाल हो गया होगा!

५६

कुछ लोगों का खयाल है कि मासिक पत्रों में प्रथम पृष्ठ पर उन कवियों की कविताएँ छपती हैं जिनमें असाधारण प्रतिभा होती है। उस दिन लाइब्रेरी में बैठे-बैठे जब मासिक पत्रिकाओं को उलटना शुरू किया तब इस खयाल का भूत मेरे सिर पर भी सवार हो गया। 'सुधा' के प्रथम पृष्ठ पर एक ऐसी कविता छपी है कि उसे एक छोटा बच्चा भी जितना चाहे बढ़ाता चला जा सकता है—

मंगलमय हे! मंगलकर हे!
मंगलमूर्त्ति अमंगल-हर हे।
नमो नमो नारायण नर हे!
विश्वम्भर हे, गंगाधर हे!

धन्य हैं आप कि कवि-कर्म को इतना आसान कर दिया! इसी लय पर इस छंद में जो चाहिए जोड़ते चले जाइए।

पेशावर हे! अमृतसर हे!
कलकत्ता, बम्बई नगर हे!
हुक्का-चिलम और अजगर हे!
तुक हो, अर्थ रहे या न रहे!

धन्य हैं 'सुधा'-सम्पादक भी, जिन्होंने पुश्त-दर-पुश्त बढ़ती चलनेवाली कवित्व-शक्ति का परिचय करा दिया!

५७

'वीणा' में भी प्रथम पृष्ठ पर कवि ललकारता है—

चलने दे सुख के दौर अरे चलने दे।
भर जाय दुःख से उर का कोना-कोना।

'सुख के दौर' चलने से 'उर का कोना-कोना' भला दुःख से कैसे भर जायगा?

५८

पाठक यह न समझें कि कवियों में 'हाला' और 'प्याला' का ही जोर बढ़ रहा है। वे 'कब्र' के लिए भी लालायित हैं! एक देवीजी 'गंगा' के प्रथम पृष्ठ पर गाती हैं—

अन्तिम विनय यही मरने पर टूटी कब्र बना देना।

धन्य हैं वेद-पुराणों का डंका पीटनेवाले 'गंगा'-सम्पादक, जिन्होंने एक हिन्दू-देवी की इच्छा को जनता के सामने रख तो दिया। 'चिता' शब्द में अब देवियाँ उतना आकर्षण नहीं देखतीं जितना 'कब्र' में! परन्तु 'देव' लोग कब्र में जाने की अपेक्षा डूब मरना अधिक पसन्द करते हैं। जैसे 'निर्मलजी' 'चाँद' के प्रथम पृष्ठ पर लिखते हैं—

वह भी डूबें मैं भी डूबूँ
अमर यही तू वर दे।

पता नहीं, यह 'वह' कौन है जिसे आप अपने साथ ले डूबना चाहते हैं।

५९

आजकल हिन्दी में 'कामा' का रोग खूब बढ़ रहा है। 'कामा' के प्रयोग में अँगरेजियत की बू इतनी भर गई है कि एक लेख या पुस्तक में शब्द-संख्या से अधिक 'कामा' की संख्या पाई जाती है। हाल यह है कि प्रेस में अक्षरों का भाण्डार भरपूर रहते हुए भी 'कामा' की कमी के कारण लेख या पुस्तक की छपाई में रुकावट पड़ जाती है। ये कुटिल 'कामा' जब से आये तब से भाषा के वाक्य टूक-टूक होकर वैसे ही बिखर गये जैसे किण्डर-गार्टन के खिलौने।

६०

'कामा' ने शब्दों की लड़ी तोड़ दी। भाषा के राज्य में ऐसी फूट फैला दी कि पग-पग पर पार्थक्य नजर आता है। आजकल की कहानियों और कविताओं में 'कामा' की करामात देखिए—बाप से बेटा अलग, माँ से बेटी अलग, भाई से भाई अलग, पति से पत्नी अलग! न बन्धुओं में एकता, न मित्रों में मैत्री। किसी से किसी का कोई नाता नहीं, कुछ सरोकार नहीं, सिर्फ दूर-ही-दूर की सलाम-बंदगी से व्यवहार चल रहा है। यह 'कामा' तो शकुनी मामा को भी मात कर रहा है।

६१

'कामा' की करतूत से भारतीय भाषाएँ गठिया से गिरफ्तार हो गईं। इसने गाँठ-गाँठ को ऐसा जकड़ा कि हिलना-डोलना दूभर हो गया। हिन्दी का तो अङ्ग-अङ्ग जकड़

गया; वह टस-से-मस नहीं हो सकती। इस 'पक्षाघात-पीड़ित' पंक्ति की नाड़ी देखकर रोग का निदान कीजिए—"तुम्हें, हाँ, हाँ, तुम्हें, प्यार करने में हृदय से, कलेजे से, अन्तस्तल से, बार-बार, लगा लेने में, अहा, कैसे कहूँ, कितना सुख, सचमुच, कितना आनन्द, है !"

६२

हिन्दी में आजकल 'हाइफन' का हैजा भी फैल रहा है। इसने तो भाषा के समाज में वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा ही चौपट कर दी है। यह विश्वबन्धुत्व—युनिवर्सल ब्रदर-हुड—का झण्डा फहराकर शब्द-संसार में अद्भुत क्रान्ति मचा रहा है। संस्कृत के वैयाकरणों को यह वैसे ही ललकारता है, जैसे मेघनाद देवताओं को ललकारता था।

६३

'जात-पाँत-तोड़क-मण्डल' की तरह 'हाइफन' ने भी हड़कम्प मचा दिया है। मालूम होता है कि 'हाइफन' का हौसला हरिजनों से कम नहीं है। हरिजन तो केवल मन्दिर-प्रवेश ही चाहते हैं और हाइफन 'अन्तःपुर-प्रवेश' की हिम्मत दिखा रहा है। भाषा के राज्य में यह ठीक वैसा ही तूफानी है, जैसा मुगल-राज्य में बन्दा बैरागी था। यह जिधर चल पड़ता है, उधर ही मटियामेट कर डालता है। 'वाह गुरु की फतह' का मंत्र पढ़कर हराम को भी हलाल बना लेता है! हाइफन ने कितने ही गंगा-मदार के जोड़े एकत्र किये हैं!

६४

'कामा' और 'हाइफन' की तरह हिन्दी में 'हलन्त' भी अब पाँव फैला रहा है। 'गत् वर्ष, दृष्टिपात्, श्रीमत्भागवत्, प्रतिष्ठित्, अधिकृत्, परिप्लुत्' आदि का व्यवहार दिन-दिन बढ़ रहा है। हिन्दी में 'जगत्, अर्थात्, किंचित्' आदि शब्दों से हलन्त हटा दिया गया है, इसलिए जान पड़ता है कि अपना पैतृक अधिकार छिन जाने से हलन्त हड़बड़ा गया है और अब जिसको सामने 'नत्-मस्तक' पाता है उसी पर चढ़ बैठता है।

६५

हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं और हिन्दी-पाठकों की संख्या का औसत निकाला जाय तो अँगरेजों और हिन्दुस्तानियों के औसत से ज्यादा न होगा। तब भी लोग कहते नजर आते हैं कि इतने कम 'पत्र' इतने अधिक 'पाठकों' के लिए काफी नहीं हैं!

६६

नये-नये पत्र और नये-नये सम्पादक हिन्दी-साहित्य में नये-नये तमाशे दिखा रहे हैं। कोई भाषा को बँदरिया की तरह इशारे पर नचा रहा है, कोई कविता को बटेर की तरह अँगूठे के अड्डे पर चहका रहा है। जिधर देखिए उधर ही डेढ़ ईंट की मसजिद नजर आती है और ऊपर से यह आर्डिनेन्स भी लगा हुआ है कि मसजिद के सामने कोई बाजा न बजाये! इसीलिए सत्समालोचक लोग अपनी-अपनी विजय-दुन्दुभी औंधा कर मुँह फुलाये बैठे हैं!

६७

यह हिन्दू-मुसलिम एकता का युग है। इस युग ने हिन्दी पर खूब प्रभाव डाला है। एक स्टेशन के 'लेडीज-वेटिङ्ग रूम' के साइनबोर्ड पर लिखा देखा—'जनाना विश्रामालय'।

एक डाक्टर के फाटक पर भी ऐसा ही मेल देखा—'दिमागी दुर्बलता की अमूल्य दवा'।

६८

स्टेशनों, दूकानों और आफिसों में हिन्दी की दशा देखकर छाती फूल उठती है। हिन्दी-प्रधान प्रान्तों के केन्द्रस्थानों में—'यात्रियों को खबरदार किया जाता है'—'ऐका गाड़ि के ठहरने की जगह'—'ऊधार मत मान्गिये'—'भितर मति आइये'—'थुकना मना है—।' देखने से खासा मनोरंजन हो जाता है!

६६

सरकारी महकमों से जितने पर्चे, नोटिस, फरमान वगैरह निकलते हैं, उनकी हिन्दी गुलाबी रेवड़ी की तरह मित्रों में बाँटने—पढ़ सुनाने—योग्य होती है। सरकार के 'फौजी अखबार' और 'मिलिटरी गजट' की हिन्दी पढ़े बिना व्याकरण का बोध होना असम्भव है। एक सरकारी अस्पताल में देखा 'सब तौर कि बिमारीयों का जड़ दान्तों कि गन्दगी है।' और सच पूछिए तो सब दुःखों की जड़ भाषा की गन्दगी है।

७०

हिन्दी में आजकल अँगरेजी के उपन्यासों के अनुवाद बहुत निकल रहे हैं। रूसी और फराँसीसी तथा जासूसी उपन्यासों के अनुवादों से किताबों का बाजार गुलजार हो रहा है। प्रकाशकों ने बँगला और गुजराती-मराठी का पिण्ड छोड़-सा दिया है, अब वे अँगरेजी गैया की पूँछ पकड़कर साहित्य-वैतरणी पार कर रहे हैं।

७१

जैसे बँगला, गुजराती और मराठी के उपन्यासों का अनुवाद सस्ते में तैयार हो जाता था, वैसे ही अँगरेजी के उपन्यासों के अनुवाद भी सस्ते में तैयार हो रहे हैं। इस तरह अगर प्रकाशकों की चाँदी है तो अनुवादकों का सोना समझिए। बँगला के अनुवादकों से अँगरेजी के अनुवादक चतुर भी हैं। वे प्रकाशकों को वैसे ही चूना लगाते हैं, जैसे भगवान विष्णु ने नारद मुनि को लगाया था।

७२

अँगरेजी के उपन्यासों के कितने ही अनुवाद इतने अच्छे निकले हैं कि मूल से भी सुन्दर बन गये हैं! मूल उपन्यास के पाठक यदि उसके अनुवाद को पढ़ें तो यह देखकर चकित हो जायँगे कि मूल लेखक को जो बात नहीं सूझी थी वह भी अनुवादक को सूझ पड़ी है। मूल लेखक ने अगर सिर्फ रसीली बातें कराई हैं तो अनुवादक ने चुम्बनालिङ्गन भी करा दिया है!

७३

अँगरेजी के उपन्यासों के कई अनुवादक कभी विलायत नहीं गये हैं। योरपीय समाज को उन्होंने अपनी आँखों से कभी नहीं देखा। सिर्फ दिमागी दूरबीन से वे काम चलाते हैं। भला फी पेज एक चवन्नी पारिश्रमिक पानेवाला अनुवादक विदेश-यात्रा का

खर्च कैसे उठा सकता है? वह तो कॉलेज से निकला और प्रकाशक की शरण में आया। प्रकाशक महाशय भी ऐसे शरणागतवत्सल कि रंगरूट को झट हेड-कान्स्टेबल बना देते हैं!

७४

अँगरेजी के मूल उपन्यासों को पढ़ लेने के बाद यदि आप उनके अनुवादों को पढ़ें तो सचमुच मजा आ जाय। बँगला के अनुवादक अगर 'हिमालयन ब्लंडर' करते थे, तो अँगरेजी के अनुवादक 'वेसूवियस ब्लंडर' करते हैं!

७५

अँगरेजी से अनुवादित उपन्यासों की भाषा देखकर ब्रह्मानन्द-सहोदर सुख प्राप्त होता है। अँगरेजी शैली की पोशाक में हिन्दी के वाक्य खूब फबते हैं। अनुवादकों की कृपा से हिन्दी अब राष्ट्रभाषा के सिंहासन से उछलकर विश्वभाषा के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो रही है।

७६

अनुवादों के प्रकाशक समझते हैं कि हमने बहुत सस्ते में विश्व-साहित्य की चीज ले ली। अनुवादक भी समझते हैं कि पान-पत्ते का खर्च आसानी से निकल आया। पाठक समझते हैं कि दो-चार रुपये में योरप के समाज की सैर तो हो गई।

७७

हर खास व आम को जाहिर हो कि शहर लखनऊ के नामी-गरामी रईस और हिन्दी की दुनिया के मशहूर पारखी मिश्रबन्धु साहब ने एक लासानी लफ़्ज 'भलमंसीपूर्वक' ईजाद किया है।

७८

हिन्दी के दैनिकों में अँगरेजी तारों का कितना अच्छा अनुवाद होता है। मक्षिका स्थाने मक्षिका चस्पाँ करने में कमाल हासिल है—"वहाँ (जंगल) के दो आदमियों को, जिनके नाम अभी तक मालूम नहीं हुए, परन्तु जो प्रमुख राजनैतिक भागे हुए अभियुक्त विश्वास किये जाते हैं, गिरफ्तार कर लिया गया।" अनुवादक महाशय ने भी अँगरेजी के शब्दों को खूब गिरफ्तार किया है!

७९

हिन्दी के दैनिक और साप्ताहिक पत्र 'अक्लमन्द' शब्द को बीच से आधा-आधा बाँटकर अलग-अलग छापते हैं। पाठक सावधान रहें, कहीं अर्थ समझने में भ्रम न हो!

८०

रेलवे-कम्पनी भी हिन्दीवालों को कौआ ही समझती है। तभी तो एक ट्रेन में यह नोटिस लगा रक्खा है—"मुसाफिरों को बोला जाता है कि जबतक गाड़ी स्टेशन पर खड़ा रहे तबतक पाखाना व्यवहार में नहीं लाओ।"

८१

सब प्रान्तों के लोग मिल-जुलकर हिन्दी की पँचमेल खिचड़ी पका रहे हैं। बंगाल के डॉक्टर साहब की दूकान पर देखिए—'दान्त का हास्पाताल'! गुजरात के सेठजी की

दूकान पर 'घी केशवचन्द्र अन्ड ब्रादर्स' के दर्शन होंगे ! पंजाब के सरदार साहब की दूकान पर जाते ही बाँछे खिल उटेंगी—"लुध्याना के वने हुवे पलङ्ग के चद्दे, लुइयाँ, दुःशाले, कन्बल, धूशे, एक-से-एक बड़ियाँ चीजें।" विश्वास न हो तो यह चेक देखिए—"दी पंजाब नेशनल बैंक लीमीटिड !"

८२

सुना है, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से, साइनबोर्ड बनानेवालों के लिए, स्कूल खोले जा रहे हैं। अब वहीं के सर्टिफिकेटयाफ्ता कारीगर चारों ओर फैल जायँगे। कुछ ही दिनों में आप ट्रेनों में ये वाक्य नहीं देखेंगे—"होशीआरी का सीगनल" और "जब गाड़ी चलता रहे तो टेक देकर बाहिर मत झूकों !"

८३

ईसाई मिशनरियों ने अगर हिन्दी का बहुत प्रचार किया है तो हिन्दी का श्राद्ध भी खूब किया है। उनके ट्रैक्टों और पैम्फलेटों में हिन्दी का साहबी ठाट देखकर दिल धड़कने लगता है। हैट-बूट और कोट-पतलून में जैसा देशी क्रिस्तान का काला-कलूटा चेहरा भोला मालूम होता है, वैसी ही हिन्दी भी बच्चों की तुतली जबान की तरह भोली और मीठी जान पड़ती है। देखिए—"प्रभु यीशु सब जीओं को मोक्ष देता है। सब पाप से छूटकारा मिलने का औव्वल रास्ता दीखाता है। वह प्रानी के दिल में शान्ती का फौव्वारा और मोहब्बत का आलिशान ईमारत खड़ा कर देता है।" लेकिन उस प्रभु के पुजारी लोग भाषाओं की मिट्टी खराब किया करते हैं।

८४

अभी उस दिन बोलपुर से कलकत्ता आते हुए ट्रेन में चतुर्वेदीजी को एक विचार सूझा—"भारत की सहस्रों ही विधवा स्वेच्छा से अपना जीवन संयम-पूर्वक व्यतीत करती हैं, उनके त्याग और तप तथा साधना के वृत्तान्त कोई नहीं लिखता; पर किसी एक विधवा से कुछ भूल हो जाय तो उसका वृत्तान्त छापनेवाले आपको बहुत-से मिल जायँगे।" यह अच्छा ही हुआ कि चतुर्वेदीजी को यह विचार देर से सूझा; क्योंकि यदि जल्दी सूझता तो उनके मित्र सत्यनारायणजी की विधवा की कहानी हमें कौन सुनाता ?[1]

—'सरस्वती' (प्रयाग), भाग ३४-३६, सं, १९९०-९२ वि० (फरवरी-जून १९३३-३५ ई०)

●

१. इसमें से कहीं-कहीं का कुछ अंश काटकर निकाल दिया गया है; क्योंकि वह अशाश्वत और असामयिक था। कुछ साहित्यिक व्यक्तियों के नाम भी हटा दिये गये हैं। नया कुछ नहीं जोड़ा गया है।—लेखक

भुक्खड़ तुक्कड़

सम्पादकजी माँग रहे हैं रचना आई है होली।
वह भी ऐसी जो भर दे परिहास-सुमन से मन-झोली॥
किन्तु न घी गेहूँ-गुड़ कुछ भी घर में पूए का सामान।
कपड़े रंग अबीर मसाले सबका टोटा कसम कुरान॥
गद्य-लेख लिखना मुश्किल है इस महँगी की होली में।
रहा न 'मतवाला' का झारन-झूरन भी अब झोली में॥
यद्यपि कविता की रचना का है कुछ भी अभ्यास नहीं।
किन्तु आपको फुसलाने में है कुछ अल्प मिठास नहीं॥
गद्य चाहिए एक पृष्ठ का, कविता दस पाँती में बस।
एक पृष्ठ की रचना में है कठिन हास्य का भरना रस॥
किन्तु नहीं कविता में झंझट, दस पाँती भी काफी है।
सम्पादक से थोड़े में ही मिलती कवि को माफी है॥
गद्य-लेख के बदले कृपया कविता पर सन्तोष करें।
भूल-चूक जो हो, सुधार लें, मन में तनिक न रोष करें॥
होली भर के लिए बना हूँ कवि-पुङ्गव अपने मन से।
यों तो केवल 'पुङ्गव' का ही बाना रहा सनातन से॥
डिंगल पिंगल नहीं जानता, तुक को टुक देता विश्राम।
जहाँ-कहीं तुक बैठ न पाता, खींचतान से लेता काम॥
पर अब सोच रहा हूँ, छेड़ूँ ऐसी मधुर निराली तान।
जिसमें रहे न थोड़ा-सा भी छन्द-बन्द का नाम-निशान॥
छोटी-बड़ी पंक्तियाँ होवें, गूढ़ रहस्य भरे उद्गार।
लच्छेदार समासों का भी हो आतंकपूर्ण विस्तार॥
यदि चितचाही हुई कहीं तो एक पृष्ठ की कौन बिसात।
अगली होली में रंग दूँगा होलिकाङ्क का सारा गात॥

—साप्ताहिक 'योगी' (पटना); होलिकाङ्क, १० मार्च, १९४४ ई०

●

कजली और बिजली

(बेतुकी)

कजली और बिजली—
दोनों ही सुहावने सावन के सोहाग हैं।
कजली कानों की राह से और बिजली आँखों की
राह से हृदय में पैठकर उत्पात मचाती है।
कजली रस बरसाती है,
बिजली हड़कंप मचाती है।

कजली और बिजली—
दोनों ही पावस के प्रसाद हैं।
कजली जब सुनहली कोयल के कंठ से निकलती है,
चित्तवृत्ति चपला बन जाती है।
बिजली जब श्याम घन के अंक में थिरकती है,
नख शिख थर्रा उठता है।
कजली सुकुमार और मधुर होती है,
बिजली चंचल और तेजस्विनी।
कजली के गर्भ में रसराज है,
बिजली के गर्भ में गाज।
कजली रसिक के उचटे चित्त में चाट जगाती है,
बिजली रूठी रमणी को भी प्रिय के अंक लगाती है।

कजली और बिजली—
दोनों ही साहित्य में लालित्य भरनेवाली हैं।
कजली-साहित्य और बिजली-साहित्य कोई प्रकाशित
करे तो अनूठी चीज हो।
ऐसा मस्ताना रसिया कोई है ही नहीं।
यहाँ तो रस का नाम लेते ही बिजली तड़प उठती है,
या गिर पड़ती है !

—साप्ताहिक 'बिजली' (पटना); वर्ष १, अंक १; २ अगस्त, १९३९ ई०

●

122364

प्रार्थना-पंचक

१

आज हम करते हैं प्रभुवर ! प्रार्थना
भेंट भावुक भक्त बनकर भक्ति से
कीजिए स्वीकार, ऐ सरकार ! अब
दीजिए वर मुक्ति, चरणासक्ति दे

२

जानते हैं योग, जप, तप कुछ नहीं
मानते हैं सौख्य विषयासक्ति में
जानते हैं कार्य पर अपकार का
है नहीं अनुरक्ति तेरी भक्ति में

३

घोर पापी हैं प्रभो ! तुम हो भले
पतित-पावन भीति-भंजन नाम है
भक्तवत्सल के चरण की शरण की
छोड़कर जग में कहाँ अब ठाम है

४

अब नहीं फिर कुछ करेंगे पाप हम
शपथ करते हैं, प्रतिज्ञा साथ ही
हिन्द-हिन्दी—ईश-सेवा कर सकें—,
शक्ति देना है तुम्हारे हाथ ही

५

याद करते नाथ ! तुमको प्रेम से
नेम से करते विमल गुणगान हैं
क्षेम से रखना प्रभो ! हमको सदा
हम तुम्हारी अवगुणी सन्तान हैं

—मासिक 'लक्ष्मी' (गया); भाग १८, अंक ८; श्रावण १९७७ वि० (अगस्त, १९२० ई०)

●